ाग ९४
ंख्या ४
माघ
२०१८ वि०
वरी '६२

अंक ४० न० पै०
र्षिक ४ रुपये

सम्पादक——डा० शिवगोपाल मिश्र

विज्ञान

विज्ञान परिषद् प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तै० उ० ।३।५।

भाग ९४ | माघ २०१८ विक्र०, १८८३ शक
जनवरी १९६२ ई० | संख्या ४

जीवन विज्ञान की आधुनिक प्रगति—अध्यक्षपदीय भाषण

डा० बी० मुकर्जी

इंडियन साइंस कांग्रेस के कटक में होने वाले इस महाधिवेशन का सभापति निर्वाचित करके आपने जो सम्मान मुझे प्रदान किया है, उसके लिये मैं आपका अत्यन्त आभारी हूँ । साइंस कांग्रेस के उनचास वर्ष के जीवनकाल में यह पहला अवसर है, कि इसका अधिवेशन उस उत्कल भूमि पर हो रहा है, जहाँ पर महाराजाधिराज **अशोक** ने इतिहास में प्रथम बार युद्ध के प्रति विरक्ति का अनुभव किया, और जहाँ उन्होंने साम्राज्यों के प्रसार की तुलना में धर्म का प्रचार और प्रसार अधिक श्रेष्ठ घोषित किया । कटक के समीप की भूमि ज्ञान का केन्द्र रही है, यहाँ पर जैन सम्राट **खरवेल** ने बहुत से आश्रम और आवासगृह विरक्त साधुओं और विद्वानों के लिए स्थापित किये थे । अनेक शतियों तक **रत्नगिरि** महाविहार के विश्वविद्यालय में बौद्ध विद्वानों का समागम रहा । यहाँ पर तिब्बत और उत्तर भारत के विद्वान् समय समय पर पर्याप्त संख्या में आते रहे । ७वीं शती में **कलिंग** में एक निजी शैली के कला और शिल्प का विकास हुआ जिसकी भव्यता का अनुमान हमें **भुवनेश्वर, कोणारक** और **पुरी** में होता है । सभ्यता और संस्कृति की अक्षुण्ण परम्परा तबसे लगभग आधुनिक समय तक बराबर यहाँ चली आ रही है । यहाँ के ज्योतिषी **चन्द्रशेखर सामन्त राय** और कलाकार **गिरधारी महापात्र** ने तो उत्कल प्रदेश के बाहर भी ख्याति पायी। इस अधिवेशन में जो वैज्ञानिक यहाँ आज एकत्रित हुए हैं, उन्हें उत्कल प्रदेश की इन पुरातन परम्पराओं से अवश्य प्रेरणा मिलेगी, ऐसी मुझे पूरी आशा है ।

इस महाधिवेशन के अध्यक्षीय भाषण का विषय क्या हो, यह बताना आसान नहीं है । जैसा **सर विलियम क्रुक्स** ने कहा था, एक समय था कि ऐसे अधिवेशनों के अध्यक्ष अपने भाषणों में उस वर्ष के भीतर होने वाले वैज्ञानिक विकास का—भौतिक और जीवविज्ञान दोनों के ही क्षेत्र का—सिंहावलोकन किया करते थे; फिर वे इन भाषणों में उन विशिष्ट विषयों का उल्लेख करने लगे जिनके क्षेत्र में उन्होंने स्वयं विशेष कार्य किया था । आज तो यह संभव नहीं है कि किसी एक व्यक्ति से आप आशा करें कि वह विज्ञान के समस्त क्षेत्रों की प्रगतियों का सिंहावलोकन करने में समर्थ हो, और न यही अच्छा है कि विभिन्न विषयों में रुचि रखने वाले इस जनसमूह के आगे किसी एक विशिष्ट विषय की गम्भीर चर्चा करके श्रोताओं को उकताया जाय । मैं इस भाषण में इन दोनों के मध्यम-मार्ग का प्रयत्न करूँगा ।

गत तीस वर्षों से मेरा सम्बन्ध इस देश के औषध-अनुसंधान से रहा है। आरंभ में मैंने स्वयं जो कार्य किया, और बाद को मेरे सम्पर्क में आने वाले अनेक सहयोगियों ने जो कार्य किया, उससे मुझे यह विश्वास होता गया कि औषध-अनुसन्धान की सफलता विज्ञान के किसी एक क्षेत्र पर निर्भर नहीं है। इसके लिए तो भौतिक और जीवविज्ञान संबंधी सभी क्षेत्रों के साहाय्य की अपेक्षा है। औषध अनुसंधान में सफलता प्राप्त करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में समन्वय स्थापित किया जाय।

औषध-अनुसन्धान का क्षेत्र भी विशद और विस्तृत है। रोग कैसे उत्पन्न होता है, किस क्रम से उसका विकास होता है, और औषध द्वारा इस पर कैसे विजय प्राप्त की जा सकती है, यह सभी बातें औषध अनुसंधान के क्षेत्र के अन्तर्गत हैं। औषध का क्रिया-कलाप जानने के लिए शरीर-क्रिया विज्ञान का समुचित परिज्ञान आवश्यक है। रोग उत्पन्न करने वाले अति सूक्ष्म जीवाणुओं की जीवनचर्या किस प्रकार की है, और उनकी चर्याओं के फलस्वरूप शरीर-क्रियाओं पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह अच्छी तरह मालूम होना चाहिए। यह जानने के लिए रोगियों की शरीर-क्रियाओं तक ही सीमित रहना चाहिए, यह भी आवश्यक है कि हम उन पशुओं की शरीर-क्रियाओं को अच्छी तरह जानने में समर्थ हों, जिनपर कि हम अपने प्रारम्भिक प्रयोग और परीक्षण करते हैं। इस क्षेत्र में भी विज्ञान के अनेक क्षेत्रों से हमें सहायता लेनी पड़ती है, और विभिन्न शाखाओं के बीच में समन्वय स्थापित करने की आवश्यकता होती है। औषध-अनुसंधान ही नहीं, प्रत्युत जीवन-विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र के अनुसंधान में इस प्रकार का समन्वय आज तो नितान्त आवश्यक माना जाने लगा है।

जीवित और जीवन रहित का विज्ञान

जड़ द्रव्य के विकास की पराकाष्ठा उस समय होती है, जब वह चेतनता का आवाहन करता है। चेतन होने पर इसमें कुछ ऐसी विशेषतायें आ जाती हैं जो जड़ों में नहीं होतीं। जीवन का [illegible], वंश परम्परा, और वंशानुगत विशिष्टताओं का आगे आने वाली पीढ़ियों में क्रमशः प्रसार, परिस्थिति की अनुकूलता के अनुसार अपनी क्रियाओं का सामंजस्य, बाह्य जगत् से प्राप्त संवेदनाओं के प्रति चेतना, बोध, स्मृति, विकल्प, विचार, और मनुष्य ऐसे प्राणी की समस्त भावनायें—ये सब ऐसे क्षेत्र हैं, जो जीवनजगत् की अपनी विलक्षणतायें हैं। इस प्रकार जीवन विज्ञान के क्षेत्र में ऐसी समस्याओं का समावेश है, जिनका अध्ययन जीवनरहित द्रव्य के विज्ञान के क्षेत्र में हमें नहीं करना पड़ता। जीवन के रहस्यों और उनसे संबंध रखने वाले नियमों को जानने के लिए हमें जड़जगत् का भी अच्छा ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि चेतनता का आविर्भाव जड़ की अपेक्षा से ही होता है। जड़ और चेतन दोनों में अटूट संबंध है।

मैं अपने इस भाषण में आज जीवन विज्ञान की कुछ आधुनिक प्रगतियों का उल्लेख करूँगा। इस जीवन विज्ञान के अन्तर्गत प्राणिविज्ञान और जीवविज्ञान के सभी विषय आ जाते हैं, और चिकित्सा विज्ञान के भी—इन सभी विज्ञानों के शास्त्रीय पक्ष भी और फलित पक्ष भी। मेरे सामने यहाँ गणित, भौतिक विज्ञान, शिल्प-शास्त्र, रसायनशास्त्र, सांख्यिकी, कृषि, प्राणिविज्ञान, चिकित्सा विज्ञान सभी के विद्वान् उपस्थित हैं। मैं कह नहीं सकता कि इनके समक्ष मैं जो कुछ रखना चाहता हूँ, उसमें सफल भी हो पाऊँगा। पर आज हम इस बात का महत्व समझने में अधिक समर्थ हुए हैं कि हम जानें कि जड़ जगत् के विषयों की क्या प्रतिक्रिया जीवन-जगत् पर होती है। भूमि की प्रदक्षिणा करने वाले कृत्रिम उपग्रह के एक कैपसूल में रखे हुए मानव के शरीर में क्या क्या चेष्टायें हो रही हैं, यह जानना हमारे लिए आज नितान्त आवश्यक हो रहा है। मानव के जीन (gene) की गूढ़ रचना किस प्रकार की है, वाइरस (virus) कण की अन्तर्रचना कैसी है, उसका रसायन और

नाड़ीतन्त्र का सम्बन्ध कैसा है, मस्तिष्क-केन्द्रों में चेतनता किस प्रकार अनुप्राणित होती है, इस सब का जानना आज अधिक महत्व का हो गया है। मनुष्य जब आज पृथ्वी से बाहर के लोकों में जाने का स्वप्न देख रहा है, तब तो उसे जड़ और चेतन के बीच में, अर्थात् जीवन द्रव्य और जीवन रहित द्रव्य के बीच में होने वाली चेष्टाओं का जानना और भी अधिक आवश्यक हो गया है।

विज्ञान और शिल्प की उन्नति को देखकर आज हम चकित हो रहे हैं, और आज के युग को हम घोर-ब्रह्मास्त्रों का युग कहते हैं। ये सब विषय भौतिक क्षेत्रों के हैं। पर मुझे तो विश्वास है कि आगे आने वाला इतिहास यह बतायेगा, कि इस युग का महत्व हम भौतिक क्षेत्र की इन प्रगतियों के नाम पर नहीं, प्रत्युत उन प्रगतियों के नाम पर स्मरण करेंगे जो जीवन विज्ञान के क्षेत्र में इस युग में हुई हैं। परमाणु की नाभि से प्राप्त ऊर्जा का जहाँ एक ओर मानव-कल्याण के लिए उपयोग हो रहा है, वहाँ दूसरी ओर इसका प्रयोग महान् विध्वंस के लिए भी है। परमाणु ऊर्जा के इन अनुसन्धानों के जिस प्रकार जनोपयोगी और विध्वंसकारी दोनों ही पहलू हैं, उसी प्रकार जीवन विज्ञान के जिन रहस्यों का इस समय उद्घाटन हो रहा है, उसके भी हितकारी और विध्वंसक दोनों ही पहलू हैं। मनुष्य को सावधान रहने की आवश्यकता है, और सबका हित इसी में है, कि इन अनुसंधानों से प्राप्त ज्ञान का उपयोग मानव कल्याण के लिए किया जाय, न कि मानव विध्वंस के लिए।

ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों का संगम

जीवन विज्ञान के क्षेत्र में लगभग गत दो दशकों में इतनी विभिन्न दिशाओं में प्रगति हुई है, कि उसका समीचीन दिग्दर्शन कराना आसान काम नहीं है। आज से एक शती पहले जीव-विज्ञान का क्षेत्र बस इतना ही था, कि विविध सामग्री का संकलन हो, और उसे सूचीबद्ध किया जाय और यह जीव-विज्ञान का एक प्रकार से विवरणात्मक युग था। अब जीव विज्ञान आज उस संकुचित परिधि से बाहर निकल आया है। यह युग विश्लेषणों और मापों का है। पहले का जीव-विज्ञानवेत्ता मापों के प्रति लज्जालु था, पर आज वह इनके प्रति श्रद्धालु है। वह प्रत्येक परिवर्तन की माप करना चाहता है। जीवन-संबंधी परिवर्तनों का वह केवल लेखा ही नहीं रखना चाहता, वह यह भी जानने की चेष्टा कर रहा है, कि जीवन क्रियाओं के प्रत्येक पद पर अणु के अन्तर्विन्यासों में किस प्रकार के नये परिवर्तन हो रहे हैं। यह सब जानने के लिए वह अनेक यंत्रों और उपकरणों का प्रयोग कर रहा है। इस सबके लिए वह दुरूह गणित का उपयोग कर रहा है। भौतिक विज्ञानों के क्षेत्र में विकसित यंत्रों के उपयोग से जीवन-अध्ययन को बड़ी सहायता मिलती है। जीवन रहस्यों के समझने में आज जीव-वैज्ञानिक को भौतिक विज्ञानवेत्ता और रसायनज्ञ दोनों का सहयोग प्राप्त है। इस क्षेत्र में इन दोनों का प्रवेश—यह इस युग की बड़ी विशेषता है। वस्तुतः यह कहना अत्युक्ति न होगा कि इस युग की यह एक बड़ी देन है कि जीवन के रहस्यों के समझने के लिए आज जीव-विज्ञानवेत्ता को रसायनज्ञों, भौतिक शास्त्रियों, शिल्पियों और गणितज्ञों का सहयोग प्राप्त है।

डि-ऑक्सिराइबो न्यूक्लीइक अम्ल (DNA) पर जो महत्वपूर्ण कार्य इस युग में हुआ है, उसका उदाहरण लेकर हम उक्त सहकारिता के महत्व को समझ सकते हैं। यह यौगिक परम्परानुगत विलक्षणताओं को क्रमशः आगे ले चलने में सहायक होता है। इसे "भाग्यदूत" या "प्रारब्ध दूत" कहा गया है। इस डी-एन-ए (DNA) की अन्तः रचना का बोध **वाटसन** (Watson) और **क्रिक** (Krick) नामक भौतिकशास्त्रियों ने कराया, और इस अन्तःरचना की पुष्टि **विलकिन्स** (Wilkins) और **फ्रैंकलिन** (Franklin) के एक्सरश्मि विश्लेषण

से हुई। अन्तःरचना ज्ञात होने पर इसका महत्वपूर्ण यशस्वी संश्लेषण जीवरसायनज्ञ **कॉर्नबर्ग** (Kornberg) ने किण्वजों (एंज़ाइमों) की सहायता से किया। इसी प्रकार एक दूसरा उदाहरण इन्सुलिन के रसायन का है। इन्सुलिन के क्षेत्र में अति पाण्डित्यपूर्ण कार्य **सैंगर** (Sanger) का है। उसके कार्य से पेप्टाइड और प्रोटीन में स्थित ऐमिनो अम्लों की विशिष्टताओं पर अति महत्व का प्रकाश पड़ा है। अणुविन्यास का जीवन प्रक्रियाओं से क्या संबंध है, इसका अच्छा ज्ञान हमें **डु-विग्ने** (Du Vigne) और उसके सहकारियों के उस कार्य से होता है, जो उन्होंने पेप्टाइड हॉरमोनों (कोर्टिकोट्रोफिन, मेलेनोट्रोफी हॉरमोन, हाइपरटेन्सिन, ऑक्सिटोसिन, वेसोप्रेसिन, आदि) पर किया। ये हॉरमोन विभिन्न पशुओं के ऊतकों से प्राप्त किये गये थे।

यदि आप किसी मस्तिष्क-क्रिया विज्ञान की प्रयोगशाला में जावें, तो आपको अद्भुत चीजें वहाँ देखने को मिलेंगी। वहाँ आपको गणितीय हिसाब लगाने की मशीन, इलेक्ट्रानीय संवेदनाप्रेरक, इनप्लाण्टेशन इलेक्ट्रोड, इलेक्ट्रो-इनसिफेलोग्राफ और इलेक्ट्रानीय नाडी उत्पादक यंत्र देखने को मिलेंगे (मस्तिष्क की चेष्टाओं का अध्ययन करने के लिए ये सब विद्युत् यंत्र हैं)। इनका प्रयोग काइमोग्राफ, स्वासमापी, और गाइगर-म्यूलर गणकों के सहयोग में होता है। अणुविन्यास में पद-पद पर क्या परिवर्तन होते हैं, यह जानने के लिए आधुनिकतम यंत्रों और विधियों का उपयोग हो रहा है, जिनकी खोज इस युग में भौतिकशास्त्रियों और रसायनज्ञों ने की है। जीव रसायनज्ञ, जीव-भौतिक शास्त्री, औषधवेत्ता, और जीव-मापवेत्ता इन सबका सहयोग इन कार्यों में आपको देखने को मिलेगा। इन सबके सहयोग के फलस्वरूप हम न्यूरोन की प्रकृति समझने में सफल हो सके हैं, जिसके द्वारा नाडी संवेदनायें एक स्थल से दूसरे स्थल तक जाने में समर्थ होती है, और जिसके द्वारा स्मृति के रूप में ये संवेदनायें संग्रह रहती हैं। यह तो मैंने सहकारिता में किये गये एक कार्य का उल्लेख किया। जीवन विज्ञान के लगभग प्रत्येक क्षेत्र में आज इसी प्रकार की सहकारिता से कार्य किया जा रहा है। सफलता प्राप्त करने के लिए सभी क्षेत्रों में आज इस प्रकार की समन्वय-पूर्ण सहकारिता की नितान्त आवश्यकता है।

रूप और आचरण

जीवन विज्ञान किन सीमान्तों में अपने चरण आगे आज बढ़ा रहा है, यह जान लेना अनुचित न होगा। पुराने जीव विज्ञान के अनुसन्धान का क्षेत्र था रूप, आचरण और दोनों के परस्पर संबंध का अध्ययन। पूरे प्राणी का अध्ययन न करके, उनकी कोशिकाओं या सेलों का अध्ययन आरंभ हुआ। इस परम्परा में ऊतक रसायन-प्रणालियों का (हिस्टोकेमिकल) विकास किया गया। पशु में रोग की ठीक अवस्था का बारम्बार उत्पन्न कर सकना एक आवश्यकीय कार्य था, क्योंकि चिकित्सा संबंधी प्रयोगों की सफलता इस पर निर्भर थी। रोगी अंग को शरीर के अन्य अंगों से पृथक् करके और तब उस रुग्ण भाग की चिकित्सा करना—यह एक नयी प्रणाली थी, जिसका इस युग में विकास किया गया। ऊतक कल्चरों में उत्पन्न कोशिकाओं में उचित रोग की अवस्था उत्पन्न कर लेने से कई लाभ हुए। अब सारी अध्ययन-चेष्टा कोशिका में केन्द्रित की जा सकती थी। कोशिका के अध्ययन के लिए अनेक प्रणालियों का विकास किया गया। ये कोशिकायें ही हमारे अध्ययन की सामग्री बन गयीं। इन कोशिकाओं में से बहुत से पदार्थ उपलब्ध किये गये। उदाहरण के लिए, स्तन पायी पशु के यकृत की कोशिका के नाभिक से मिटोकौण्ड्रिया अलग की जा सकी, और अति सूक्ष्म मात्रा में रिबोन्यूक्लीओ-प्रोटीन के कण पृथक् किये जा सके। इनकी सहायता से ऑक्सिकारक चयापचय और प्रोटीनों का जीवरासायनिक संश्लेषण किया जाना संभव हुआ। कोशिकाओं के अंगों से विभिन्न पदार्थ प्राप्त किये गये, और उनपर विभिन्न प्रकार के प्रयोग किये जा सके हैं। तात्पर्य यह है, कि अब यह आवश्यक नहीं रहा है कि बड़े रोगी प्राणी का अध्ययन किया जाय,

उसके शरीर से प्राप्त सेलों या कोशिकाओं का अध्ययन ही काफी होगा। इन कोशिकाओं पर आघात, औषध, किरणों आदि का क्या प्रभाव पड़ता है, यह अध्ययन कर लेना सुगम हो गया है। इस सूक्ष्म अध्ययन के आधार ही यह हिसाब लगाया जा सकता है कि प्राणी के समूचे शरीर पर क्या प्रभाव पड़ेगा।

अणु-जीवविज्ञान

गत कुछ वर्षों में दीर्घ अणुओं (मैक्रोमॉलिक्यूल) पर काफी काम किया जा चुका है। इस दृष्टि से प्रोटीनों, न्यूक्लीइक अम्लों और म्यूकोपोलिसैकराइड पर जो कार्य हुआ है, उसके कारण जीवन विज्ञान में एक नया युग आरंभ हो गया है। दीर्घअणुओं के अध्ययन ने जीवविज्ञान में एक नये अध्याय का आरंभ किया है। इसका शीर्षक हम अणु-जीवविज्ञान देंगे। विज्ञान के इस नवीन अंग के विकास में भी हमें विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों से सहायता मिली है। अणुजीवविज्ञान की विशेषता वस्तुतः नये ढंग के क्रिया-कलाप और प्रयोग पद्धति की विशेषता है। जीवन का आधार तो अणु ही हैं। चाहें आप बैक्टीरियों की कोशिकाओं पर काम कर रहे हों, चाहे टयूमर या मस्तिष्क की कोशिकाओं पर, अणुजीव विज्ञान ने हमें अध्ययन की एक ऐसी पद्धति दी है जिसका सर्वत्र एक सा व्यवहार किया जा सकता है। ऊतक-कल्चर कैसे बने और केमोस्टेट में कैसे अध्ययन हो, इस बात में कुशलता प्राप्त करके हम जीवन संबंधी अनेक बातों का अध्ययन कर सकते हैं। बैक्टीरिया (शाकाणु) और फफूंदियों के ऑक्सोट्रॉफ (auxotroph) का उपयोग करके हम पैतृक विलक्षणताओं और प्रजनन प्रवृत्तियों का अध्ययन कर सकते हैं। यह अध्ययन निश्चय ही हमारे लिए बड़ा उपयोगी सिद्ध होगा। इस आधार पर हम यह समझ पायेंगे कि शर्करा की किण्वन-क्षमता अथवा एण्टिबायोटिक के प्रति अवरोध-क्षमता किस प्रकार मातृकोशिका से दुहितृकोशिका तक परम्परा से आती है। न्यूक्लीओटाइड और क्रोमोसोमी डी-एन-ए संरचना में उनके विन्यास का अध्ययन करके हम यह जान सकेंगे। वाइरस संक्रमण किस प्रकार फैलता है, इसका ज्ञान भी अणुजीवविज्ञान द्वारा प्रदर्शित पद्धति पर हो सकेगा।

केवल पद्धति या शैली से कोई विज्ञान निर्मित नहीं होता, जैसे कि औजार से आदमी नहीं गढ़ा जा सकता। पर फिर भी पद्धतियों और शैलियों का महत्व है। अणु जीवविज्ञान की नवीन पद्धतियों ने हमें कैन्सर, हृदयरोग, और मस्तिष्क विकारों के अध्ययन का एक नया पथ प्रदर्शित किया है। कोशिकाओं में कैसे विभाजन होता है, और दीर्घ अणुओं की रचना किस प्रकार संभव होती है, इस अध्ययन के आधार पर ही हम जीवन के रहस्यों को समझने में समर्थ हो सकेंगे। हम एक उदाहरण लेंगे। कैन्सर की कोशिका देखने में तो साधारण कोशिका से भिन्न नहीं है, पर साधारण कोशिका की हजार गुनी गति से यह गुणित होती रहती है। इसी प्रकार एरोबिक पैथोजन अपने आश्रयदाता की कोशिका से बहुत ही अधिक मिलते-जुलते हैं, पर दोनों में कोई ऐसा सूक्ष्म अन्तर अवश्य है जिसके कारण पैथोजन आश्रयदाता के ऊतक में निवास पाता है और विष या टॉक्सिन बनाता है। हम आज यह भी जानते हैं कि किण्वज प्रोटीन की सक्रियता पोलिपेप्टाइड श्रृंखला के एमिनो अम्ल के विलक्षण अणु विन्यास पर निर्भर है। हम यह भी जानते हैं कि डी-एन-ए में न्यूक्लीओटाइडों के क्रम-विन्यास पर पैतृक लक्षणों का परम्परा द्वारा आगे बढ़ना निर्भर करता है। कैन्सर कोशिका का रहस्य भी इसके विचित्र डी-एन-ए अन्तःरचना पर निर्भर है। इस रचना के कारण ही इस कोशिका में उग्र लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। हमें इस युग में डी-एन-ए या आर-एन-ए (RNA) न्यूरोनों की जो न्यूक्लीओटाइड अन्तःरचना ज्ञात हुई है उसके आधार पर स्पष्ट है कि हम स्मृति और मस्तिष्क विकृति इन सबके रहस्यों का उद्घाटन एमिनो अम्लों की

अन्तः रचना के सूक्ष्म अन्तरों के आधार पर कर सकेंगे । यह हमारा कोरा स्वप्न ही नहीं है । निकट भविष्य में हमारा यह स्वप्न सच्चा होने जा रहा है ।

कोशिका—जीवन की प्रथमक इकाई

हमारे शरीर में भोजन और वायु के वातावरण में ये कोशिकायें ऐसी पड़ी हुई हैं मानों छोटे-छोटे जीव तरल माध्यम में डुबाकर रक्खे गये हों । जिस माध्यम में ये कोशिकायें हैं, वहीं से ये अपना आहार ग्रहण करती हैं, उसी माध्यम पर ये पूर्णतया निर्भर हैं। वे माध्यम को परिवर्तित भी करती हैं, और माध्यम द्वारा परिवर्तित भी होती हैं । छोटी सी होने से ही क्या, ये कोशिकायें जटिल रचना का पुंज है । इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी से देखने पर इस जटिल रचना का कुछ आभास मिलता है । कोशिका की भित्ति के भीतर एक नया संसार बसा हुआ है ।

कोशिका की नाभि में जो बीजाण्ड है वह तो अद्भुत है। इसी बीज भाग में साधारणतया अदृष्ट रूप से वे सब क्षमतायें केन्द्रित हैं जो आगे चलकर विकसित होकर समस्त प्राणी का रूप और प्रकृति प्राप्त करती हैं । मानव ऐसे अद्भुत प्राणी का समस्त इतिहास इसी बीज भाग में निहित है । कल्पना तो कीजिए, इस बीज भाग में ही यह प्रारब्ध लिखा हुआ है कि अमुक व्यक्ति की आँख कैसी होगी—नीली या भूरी; उसके बाल कैसे होंगे—घुँघराले या साधारण; यही नहीं, यह भी अंकित है कि ये बाल थोड़े दिनों में ही झड़कर व्यक्ति खल्वाट हो जायगा, या बुढ़ापे तक इसके बाल न झड़ेंगे । विभिन्न जातियों के मनुष्य काले रंग के होंगे या गोरे वर्ण के यह बात भी कोशिका के इसी बीजभाग पर निर्भर है । मस्तिष्क की चेतनायें और हृदय की वेदनायें, सभी इस बीजभाग में अंकित हैं । साथ ही साथ इनमें पैतृकता का इतिहास भी अंकित है, और यह बात भी कि हमारी भावी सन्तान में क्या विशिष्टतायें होंगी ।

इस कोशिका के ही भिन्न अंगों और गुण-धर्मों के समझने का प्रयत्न आज अणु-जीवविज्ञान कर रहा है । जिस प्रकार परमाणु के गर्भ में एक नवीन अद्भुत सृष्टि है, उसी प्रकार की विचित्र और अद्भुत सृष्टि कोशिका के भीतर भी है । परमाणु के भीतर की ऊर्जा की उपलब्धि हमारे लिए जितने महत्व की है, उससे कम महत्व उस चेतन ऊर्जा का नहीं है, जिसमें अपनी सी परम्परा उत्तरोत्तर उत्पन्न करने की सामर्थ्य है । यह सामर्थ्य या ऊर्जा किस प्रकार की है, हम आज पूरी तरह से नहीं जानते । इस बीज से विकसित होकर जो हमारा शरीर बनता है, उसका विकास एक सीमा तक पहुँच कर क्यों रुक जाता है, हम सब उत्तरोत्तर बढ़ते हुए दानवाकार के क्यों नहीं हो जाते हैं, मूषक और मनुष्य सब अपनी अपनी निर्धारित सीमा के ही भीतर क्यों रहते है ?

कोशिकीय व्यवस्था और वैभिन्न्य

शरीर के विभिन्न अंगों को अपना स्वरूप इन कोशिकाओं के द्वारा किस प्रकार प्राप्त होता है, यह बात आज भी हमारे लिए रहस्य है । कोशिकाओं की संस्था का प्रबन्ध सचमुच बड़ा अद्भुत है । अण्ड बीज में उत्तरोत्तर जो परिवर्त्तन होते हैं, उन सबके रहस्य का पता लगाना कठिन है । एक नियमित उद्देश्य को सामने रखकर शरीर की समस्त कोशिकायें नियंत्रित रूप से मिलजुल कर अपना काम कैसे साध लेती हैं, यह कौतूहल का विषय है । **वाइस** (Weiss) के शब्दों में, यह कुछ कम अद्भुत बात नहीं है, कि बीज या अण्डे में आगे व्यक्त होने वाले वे समस्त लक्षण निहित हैं, जो अनुकूल भोजन , जलवायु और ताप की परिस्थिति पाते ही सचेष्ट हो उठते हैं। हाँ, बाहर से आहत होने पर , अथवा आहार के अभाव में अथवा विष संक्रमण होने पर ही उनके क्रिया-कलाप में बाधा पहुँचती है ।

राकफेलर इन्स्टीटयूट, न्यूयार्क, में वाइस (Weiss) और उसके सहयोगियों ने ऊतक कल्चर पर जो महत्वपूर्ण कार्य किया है, वह उल्लेखनीय है। उन्होंने वृक्क (किड्नी) और कार्टिलेज में से एकाकी कोशिका को लेकर उचित पोषक माध्यम में रक्खा। ये कोशिकायें इस माध्यम में विकसित होकर वृक्क-ऊतक का बड़ा पिण्ड हो गयीं, और कार्टिलेज की कोशिका विकसित होकर कार्टिलेज-ऊतक का बड़ा पिण्ड बनी। शरीर से बाहर किये गये सफल प्रयोगों का यह सर्वप्रथम उदाहरण है। प्राकृतिक शरीर के भीतर जिस प्रकार के पिण्ड कोशिकाओं से बनते हैं, शरीर के बाहर भी इसी प्रकार के पिण्ड उचित परिस्थितियों में कोशिकाओं द्वारा तैयार कराये जा सकते हैं—यह सफलता हमें नयी आशायें दिला रही है। यकृत, प्लीहा, फुफ्फुस, त्वचा, नेत्र सबकी कोशिकायें पोषक माध्यम में डालकर उनके पृथक् पृथक् विकास का अध्ययन "फेज़कांट्रास्ट माइक्रोस्कोप" के साथ चल-चित्रण फोटोग्राफी द्वारा किया जा सकता है। इन एकाकी कोशिकाओं में से प्रोटोप्लाज्म की चल-जिह्वायें बाहर निकलती हैं, इनकी सहायता से ये कोशिकायें काँच के पृष्ठ पर चलती-फिरती हैं, जब तक दो कोशिकायें एक दूसरे को छू न लें, और साथ साथ थोड़ी देर तक पड़ी न रहें, तब तक न तो उनमें आकर्षण होता है, और न प्रत्याकर्षण। काफी देर में वे एक दूसरे को पहिचान पाती हैं। अगर ये दोनों एक ही प्रकार की हुईं, तो ये एक दूसरे को खींचकर चिपट कर पड़ी रहती हैं, और अगर ये विभिन्न प्रकार की हुईं तो ये अलग अलग हट जाती हैं, और जब तक उन्हें कोई स्वजातीय कोशिका न मिले, वे अलग अलग रहती हैं। इस प्रकार कई बार भूल-सुधार करती हुई ये कोशिकायें अन्त में अपनी अपनी जाति के अनुसार संघ बना लेती हैं। एक संघ में एक ही जाति की कोशिकायें रहती हैं। एक ऊतक की कोशिका दूसरे ऊतक की कोशिका के साथ संघ नहीं बनाती। यह तो अवश्य देखा गया है कि चूहे के यकृत की कोशिका मुर्गी के बच्चे के यकृत की कोशिका के साथ तो संघ बना लेती है पर एक ही प्राणी की क्यों न हो, यकृत की कोशिकायें वृक्क की कोशिकाओं के साथ संघ न बनायेंगी। संघ बनाने की इस अद्भुत प्रवृत्ति का अध्ययन करना हमारे लिए बड़े महत्व का सिद्ध होगा। इस प्रवृत्ति में किस प्रकार परिवर्तन लाये जा सकते हैं, यह अध्ययन भी हमारे लिए महत्व का होगा। कैन्सर की कोशिकायें अपना स्थान छोड़कर अन्य आश्रयदाता स्थलों पर कैसे पहुँच जाती हैं, और उनकी इस गति को कैसे नियंत्रित किया जा सकता है, यह जानना कैन्सर रोग के निदान और उपचार के लिए उपयोगी होगा।

इन्द्रियों का शरीर-क्रिया-विज्ञान और प्राणी

हमने अभी देखा कि एक एक अंग या एक एक इन्द्रिय की कोशिका अपनी जाति की दूसरी कोशिकाओं के साथ संगठन स्थापित करती है, पर अपने से भिन्न दूसरी इन्द्रिय की कोशिका को अपने संघ से बाहर रखती है। एक-कोशीय प्राणी से हम ज्यों ज्यों बहुकोशीय प्राणी की ओर जाते हैं, इन्द्रियों की विशेषतायें बढ़ती और जटिल होती जाती हैं। इस दृष्टि से इन्द्रियों के शरीर-क्रिया-विज्ञान का अध्ययन हमारे लिये आवश्यक और उपयोगी होता जा रहा है। हृदय और रुधिर संचरण का तंत्र, मस्तिष्क, मेरु रज्जु, और अन्य तंत्रिकाओं के तंत्रों का अध्ययन इस दृष्टि से महत्व का है।

(क) **हृदय और रुधिर वाहक तंत्र**—मनुष्य का हृदय अद्भुत यंत्र है, इतना विचित्र और विस्मयकारक जितना कि कोई भी मनुष्य निर्मित यंत्र नहीं है। यह दिन भर में १००,००० बार नियमित गति से स्पन्दित होता रहता है, वर्ष भर में ३ करोड़ ६० लाख बार। यह एक चेतन पेशी है, जीवित पम्प है, मनुष्य की मुट्ठी के बराबर आकृति का, लगभग ३१८ पौंड भार का। यह दिन भर में इतना काम कर डालता है,

जितना कि कोई मशीन १ टन (२८ मन) भार को हवा में ५० फुट ऊँचा उठाने में करे। प्रतिदिन यह ६०,००० मील लम्बी वाहिनियों में होकर ४,३२० गैलन रुधिर पम्प करता रहता है। और इतना भी तब, जब कि प्रत्येक दो स्पन्दनों के बीच में २/३ समय तक आराम करता रहता है। रुधिर चाप नियंत्रित करने के लिए यह विश्राम आवश्यक है। रुधिर वाहिनियों में स्थान-स्थान पर मार्ग कुछ संकीर्ण रक्खे गए हैं, जिनसे यह अवरोध संभव हो सका है। मनुष्य का हृदय इतना दृढ़ यंत्र है कि इसमें विकार कठिनता से ही उत्पन्न हो पाता है। १०० वर्ष की आयु तक यह निरन्तर नियमानुसार संकुचित और प्रसारित होता रहता है। पर आधुनिक अप्राकृतिक जीवन के कारण इस दृढ़ हृदय पर भी इतना बल पड़ रहा है, जिससे कि हृदय को भोजन पहुँचाने वाली धमनियाँ आहत हो जाती हैं। यही कारण है कि हमारे औद्योगिक समाज में इतने अधिक व्यक्तियों की मृत्यु हृदय रोग के कारण हो रही है।

(ख) **मस्तिष्क और तन्त्रिका तन्त्र**—मनुष्य ने अपने मस्तिष्क के बल पर ही संसार का रूप बदल दिया है और यह मस्तिष्कवान् मनुष्य आज स्वयं अपने ध्वंस का कारण बन रहा है। मनुष्य का यह अधिक मस्तिष्क विज्ञान के लिए एक पहेली है। ३ पौंड के इस मस्तिष्क के विकास में प्राणी ने लगभग आधा परब वर्ष लगाया। इस मस्तिष्क की रचना के संबंध में हमारा ज्ञान लगभग गत सौ वर्ष का ही है। गत बीस वर्षों के अनुसंधानों के फलस्वरूप इस ज्ञान के क्षेत्र में काफी उन्नति की जा सकी है। इलेक्ट्रानिक्स पर आधारित अनेक उपकरणों और यन्त्रों की सहायता से तंत्र-क्रिया विज्ञान और तन्त्र-मनोवैज्ञानिक चिकित्सा का अध्ययन संभव हो सका है। मस्तिष्क के शल्यकर्म में भी कुछ सफलता प्राप्त हुई है। फिर भी मस्तिष्क संबंधी हमारा ज्ञान बहुत कुछ अब भी अपूर्ण है। मन, बुद्धि या चित्त क्या है, संभव है कि इनके रहस्यों पर आगे के अनुसंधानों द्वारा कुछ प्रकाश पड़ सके। तंत्र-कोशिकाओं को **न्यूरोन** (neuron) कहा जाता है। ये न्यूरोन ही गणितज्ञों की गणना के समान उच्चतम कोटि की गणना करते हैं। ये मस्तिष्क के बाह्य स्तर या कॉर्टेक्स में नहीं (जैसा कि अबतक लोग मानते थे), प्रत्युत मस्तिष्क के अभ्यन्तर में रहते हैं (रेटिक्युलर तंत्र के भीतर, जो कि विकास की दृष्टि से हमारे शरीर का पुरातन-तम अंग है)। मस्तिष्क के कार्यस्थान में सीमाओं पर संवेदनायें बाहर से बराबर पहुँचती रहती हैं, और यह सचमुच विज्ञान के लिए आश्चर्य की बात है कि मस्तिष्क इन समस्त संवेदनाओं को किस प्रकार अपने तुरत काम के लिए चुनता है (थोड़ी सी ही ग्रहण करके अपने पास रखता है, लाखों में से केवल गिनी चुनी ही, जिनके आधार पर इसे कुछ काम करना है।) इन असंख्य संवेदनाओं में से कुछ तो सूचीबद्ध हो जाती हैं जिन्हें हम इन्द्रियों की अपेक्षा से रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श आदि कहते हैं, और जिनकी स्मृतियाँ भी हम आगे के उपयोग के लिए सँजो कर रखते हैं, कुछ संवेदनाओं को कॉर्टेक्स सम्पादित करके, संक्षेप बनाकर, या कभी-कभी उसकी टीका-अनुटीका करके रेटिक्युलर तंत्र में रख लेता है। इस तंत्र में इनका फिर समन्वय होता है। इनमें से कुछ से प्रेरित होकर हमारे शरीर की पेशियाँ फिर कुछ काम करती हैं, कुछ लगभग वैसी ही, जैसी कि उन्हीं परिस्थितियों में भूतकाल में करने के लिए अभ्यस्त की गयी हों, और कुछ के लिए मस्तिष्क में फिर से "विचार करने" के लिए कहा जाता है। मस्तिष्क-रहस्यों को हम अभी पूरी तरह तो क्या, बहुत ही कम समझ पाये हैं। ज्ञानोपार्जन, स्मृति, बुद्धि या प्रतिभा, और "सीखे हुए को भूलना सीखना" इन सब का क्या तात्पर्य है, और यह सब कैसे संभव है, वस्तुतः हम इस संबंध में कुछ भी तो नहीं जानते।

वैज्ञानिक इस बात का प्रयत्न अवश्य कर रहे हैं, कि मस्तिष्क के विभिन्न कला-कलापों का कुछ ज्ञान प्राप्त हो जाय। विचार, भावावेश, और क्रिया—इनके संबंध में जो विकार उत्पन्न हो जाते हैं, उनके कारणों

को जानने और मस्तिष्क-रोगों को दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है। थके हुए मस्तिष्क को फिर से ताजा करने के लिए विशेष ओषधियाँ भी तैयार की जाने लगी हैं। उत्तेजित मस्तिष्क को शान्त करने के लिए भी कुछ ओषधियाँ हैं। दुःख की वेदना के निवारणार्थ भी ओषधियाँ हैं। एक किण्वज या एंज़ाइम मोनो-ऐमिन-ऑक्सिडेज (MAO) (एम० ए० ओ०) है। इसकी क्रिया या चेष्टा कम हो जाय तो मनुष्य चेतना का बल प्राप्त करता है। जब यह किण्वज सचेष्ट रहता है, तो मनुष्य थका सा प्रतीत होता है। आइप्रोनिऐजाइड (iproniazid) ऐसी औषध है जो उक्त किण्वज को निश्चेष्ट करने में सहायक होती है। और भी ओषधियाँ इसी प्रकार की निकली हैं। वस्तुतः मस्तिष्क हमारे शरीर का अति रहस्यमय अंग है। इसमें १० खर्ब (१० मिलियन) के लगभग संख्या में कोशिकायें हैं। इनके रहस्यों को जानने के लिए हमें उतनी गणित, उतनी रसायन या उतनी भौतिकी पर्याप्त नहीं है, जितनी कि हम इस समय जानते हैं।

मानव विज्ञान

मनुष्य के समान विकसित प्राणी केवल विभिन्न प्रकार की कोशिकाओं, ऊतकों, इन्द्रियों और अन्य अंगों का समूह नहीं है। इसमें भौत-रासायनिक, शरीरक्रिया संबंधी एवं मनोवैज्ञानिक क्षमताओं और चेष्टाओं का अद्भुत समावेश है। इसमें एक विशेष व्यक्तित्व का विकास हुआ है, जिसकी अपेक्षा से ही शरीर की समस्त चेष्टायें नियंत्रित होती रहती हैं। समस्त चेष्टाओं में इस व्यक्तित्व के प्रति एक विशेष निष्ठा है। जब कोई विशेष ऊतक या अंग इस निष्ठा से थोड़ा सा भी उच्छृंखल हो जाता है, उसी समय जो अपसामान्य अवस्था प्रगट होती है, उसे ही हम रोग कहते हैं। मनुष्य का शरीर अत्यन्त जटिल यंत्र के समान है। किन्तु इस शरीर की यंत्र से तुलना केवल कुछ ही बातों में हो सकती है, अर्थात् वहीं तक, जहाँ तक कि भोजन की समता ईंधन से है, पाचन की दहन से, या हृदय की पम्प की क्रिया से, किन्तु आगे चलकर यह तुलना फीकी पड़ जाती है। मनुष्य के शरीर के समान कोई यन्त्र पूर्ण रूप से हो ही नहीं सकता। ज्यों-ज्यों हमारा ज्ञान बढ़ता जाता है, हमारा यह निश्चय (बाइबिल के शब्दों में) दृढ़ होता जाता है कि "मानव रचना अद्भुत चमत्कार है"। इसके शरीर की चेष्टाओं में जितना सामञ्जस्य और समन्वय है, उसका विवरण देना हमारी शक्ति से बाहर है। शरीर के सब अंग, और इसकी सभी चेष्टायें मानव व्यक्तित्व के साथ किस प्रकार समन्वित की गई हैं, इस वैचित्र्य का हम अनुमान भी नहीं लगा सकते। इन्द्रियाँ, पेशियाँ, मेरुरज्जु, मस्तिष्क का तंत्र, और फिर मस्तिष्क से प्राप्त आदेशों के अनुसार शरीर के बहिरंग व्यापार ये सब सुचारु रूप से व्यवस्थित हैं। बाहर के जगत् की संवेदना प्राप्त करने के लिए कान, आँख, रेटिना और उसके साथ मस्तिष्क या कपाल को संयुक्त करने वाली नाड़ियाँ और दूसरी तान्त्रिकायें कितनी विस्मयकारक हैं, इसका अनुमान लगाना भी कठिन है। शरीर के भीतर इस समन्वय और सामंजस्य लाने के लिए ऐड्रिनेलिन, नॉन ऐड्रिनैलिन, हिस्टैमिन, ऐसीटिलकोलिन, सेरोटोनिन, ब्रैडिकिनिन आदि रासायनिक यौगिकों का बनना और यथेष्ट मात्रा में संग्रह होते रहना, और मस्तिष्क द्वारा इनका नियन्त्रित होता रहना बस अद्भुत ही है। मनोवैज्ञानिक स्थिति के साथ रुधिर चाप का समन्वय भी हमारे लिए एक वरदान है। मुझे जो इस समय थोड़ी सी शीश-पीड़ा और उसके साथ साथ जो थोड़ा सा रुधिर चाप का आधिक्य है, वह मैं समझता हूँ, कि कल्याण के लिए ही है। रुधिर चाप पर मनःस्थिति अपना नियंत्रण इस प्रकार रख रही है।

आप सोचिये, कि हमारे शरीर में व्यवस्था किस प्रकार की है। हमारी ज्ञानेन्द्रियों ने बहिर्जगत की संवेदनायें भीतर भेजीं। इनका संबंध केन्द्रीय तन्त्रिका तंत्र से हुआ। वहाँ कुछ विद्युत् रासायनिक प्रेरणायें

उत्पन्न हुई, और उनका संबंध फिर पिट्यूटरी, ऐड्रिनल और गोनड इन तीन के सामूहिक व्यापार से हुआ। इन सब में अति सूक्ष्मता से सामंजस्य और समन्वय है। अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के शरीर-क्रिया-विज्ञान और जीवरसायन के आधुनिक विकास ने हॉरमोनों के व्यापार पर अद्भुत प्रकाश डाला है। यह हॉरमोन ही वस्तुतः हमारे समस्त चरित्र को नियंत्रित करती रहती हैं, और मनुष्य की प्रकृति को निर्धारित करती है।

मनुष्य और परिस्थिति

मनुष्य भी परिस्थिति से प्रभावित होता है, जिस प्रकार अन्य प्राणी, किन्तु परिस्थिति की अपेक्षा से मनुष्य अपने को किस प्रकार अनुकूल बनाता है, यह भी सचमुच चमत्कार है।

(क) हाइपोथर्मिआ—मनुष्य उष्णरुधिर का प्राणी है, अतः विभिन्न जलवायु में भी यह अपने शरीर का ताप स्थिर रखता है,, चाहे शीतप्रधान देश में रहे, चाहे उष्ण प्रदेश में। सन् १९४८ तक हम यह जान गये कि अ-हैमन्तिक स्तनपायि पशु एक निश्चित ताप तक के शीत का ही सहन कर सकते हैं, उससे नीचे का नहीं। कुत्ता २५° सैं० (७८° फ) तक का और चूहा १५° सैं० (५९° फ) तक का। इससे नीचे के ताप पर हृदय का स्पन्दन जो रुका तो फिर गरम किये जाने पर चालू हुआ ही नहीं। नात्सी कैदियों पर जो प्रयोग किये गये, उनसे प्रकट हुआ कि मनुष्य के लिए यह ताप २५° सैं० (७७° फ) है। इससे नीचे का यदि ताप कर दिया जायगा, तो फिर गरमाने पर भी मनुष्य के हृदय का स्पन्दन चालू नहीं होगा।

सन् १९५० में **बिगेलो** (Bigelow) और उसके सहयोगियों ने टोरण्टो में कुत्तों पर कुछ प्रयोग किए, और जानना चाहा कि शरीर का ताप कम किया जाय तो ऑक्सिजन की खपत पर क्या प्रभाव पड़ता है। पता चला कि साधारण शरीर ताप पर मस्तिष्क ऑक्सिजन का अभाव ३ मिनट से अधिक नहीं सह सकता। इस समय से अधिक यदि यह अभाव रहेगा तो मस्तिष्क में विकार उत्पन्न हो जायगा। पर यदि शरीर ताप २०° का कर दिया जाय तो ऑक्सिजन का प्रभाव कुत्ता अधिक समय तक सह सकता है। कुत्ते का हृदय १५ मिनट तक पृथक् रक्खा जा सका और कुत्ते के मस्तिष्क और ऊतकों को हानि न पहुँची। हाइपोथर्मिआ के इन फलों से शल्य कर्म में सहायता ली जा सकेगी ऐसा विश्वास है।

(ख) मृत्यु क्या है?—बेलग्रेड में सन् १९५१ में **एण्डजस** (Andjus) ने कुछ प्रयोग चूहों पर उन्हें बर्फ में ठंडा करके किये और उन्होंने देखा कि यदि उनके शरीर का भीतरी ताप २° से ऊपर रहे, तब तक तो वे फिर गरमी देकर जीवित किये जा सके, पर ०°—२° से नीचे ताप लाने पर फिर वे जिलाये न जा सके। प्रश्न यह है कि मृत्यु है क्या? मृत्यु वह अवस्था है, जिससे फिर प्राणी किसी भी विधि द्वारा सचेष्ट न किया जा सके। पुनः सचेष्टता लाने के संबंध में मास्को में **प्रो० नेगोस्की** (Negovski) ने इन दिनों विस्तृत प्रयोग किये। उन्होंने दो प्रकार की मृत्युओं का उल्लेख किया है—**चिकित्सीय मृत्यु** (क्लिनिकल), जिससे प्राणी फिर चेष्टा में लाया जा सकता हैं, और **वास्तविक मृत्यु** (बायलौजिकल) जिसमें फिर किसी भी ज्ञात विधि द्वारा चेतना लौटायी न जा सके। नेगोस्की ने यह दिखा दिया है कि रुधिर निकल जाने के कारण जो मृत्यु कुत्ते या आदमी की होती है, वह बहुत कुछ रोकी जा सकती है, यदि शरीर का आन्तरिक ताप कुछ कम कर दिया जाय (कुत्ते का २५° सैं० तक)। स्तनपायी प्राणी की कोशिकाओं और ऊतकों को अब काफी अवधि तक जीवित रखने में सफ़लता मिली है। चेतनायें सुप्त करके विषम परिस्थितियों में (अति उष्ण, या शुष्क परिस्थिति में) भी अनेक प्राणियों को सुरक्षित रक्खा जा सकता है। शायद मनुष्य और अन्य बड़े स्तनपायी प्राणियों को तो इस **समाधि या ऐनाबायोसिस** (anabiosis) की अवस्था

में रखना संभव न हो, पर निम्न जाति के जन्तुओं पर तो सफलता मिल ही सकती है। हो सकता है कि चन्द्रमा या अन्य ग्रहों पर अनेक क्षुद्र प्राणी इस समाधि की अवस्था में निश्चेतन, किन्तु जीवित, पड़े हों, और यदि वे धरती पर लाये जायें, तो फिर चेतन हो उठें।

(ग) निद्रा क्या है? —अभी हाल में लन्दन में **लार्ड ऐड्रिअन** (Adrian) ने इस पुराने प्रश्न पर अच्छा प्रकाश डाला है। सामान्य धारणा अब यह है कि रेटिक्यूला-निर्माण का कार्य जब धीमा पड़ जाता है, तो नींद आने लगती है। मस्तिष्क के विभिन्न भागों से कुछ प्रेरणायें आती हैं, जिनसे रेटिक्यूला निर्माण में शिथिलता आ जाती है। शैथिल्यदायक और उद्दीपक प्रेरणाओं का संतुलन मस्तिष्क में होता रहता है, शैथिल्य दायक प्रेरणायें जागृत अवस्था में भी रहती हैं, और सुषुप्ति में भी (नहीं तो उन्माद रोग हो जाय)। केवल संतुलन का अन्तर दोनों अवस्थाओं में है। इस संतुलन के वैभिन्न्य के आधार पर ही अनेक प्रकार की जागृतियां और अनेक प्रकार की सुषुप्तियाँ होती हैं। यह कहना गलत है कि विष या टॉक्सिनों के एकत्रित हो जाने के कारण निद्रा आती है। इसी प्रकार यह धारणा भी गलत है कि जब मस्तिष्क को रुधिर कम पहुँचता है, तब नींद आती है और न नींद का कारण प्रदत्त ऑक्सिजन की न्यूनता है। मस्तिष्क सोने की अवस्था में भी उतना ही सचेष्ट रहता है, जितना कि जागृत अवस्था में। सुषुप्ति की आवश्यकता मस्तिष्क को नहीं है, यह तो अन्यत्र ही शरीर के किसी अंग को है। वस्तुतः मस्तिष्क तो सोने की अवस्था में इन्द्रियों से संबंध रखने वाले समस्त द्वारों को खोल कर रख देता है।

(घ) वृद्धावस्था क्या है?—नयी औषधियों के आविष्कार और स्वास्थ्य संबंधी नियमों ने मृत्यु संख्या अब पहले की अपेक्षा काफी कम कर दी है। मनुष्य अब बिना बुड्ढा हुए ज्यादा उमर तक जीवित रहने की आकांक्षा कर रहा है। कोशिकाओं, तन्तुओं, ऊतकों और इन्द्रियों पर जो प्रयोग इन पिछले वर्षों में हुए हैं, उनसे स्पष्ट हो गया है कि बुढ़ापे के साथ-साथ शरीर में पानी का आयतन कम होता जाता है, कोशिकाओं के भीतर एक प्रकार की सिकुड़न आ जाती है, और कोशिकाओं की भित्ति के बाहर पानी की मात्रा बढ़ जाती है। कोशिकाओं के भीतर विद्युत्विश्लेष्यों की मात्रा भी वार्धक्य के साथ-साथ कम हो जाती है। हेक्सो-सैमीन और कौलेजन का अनुपात उमर के साथ साथ घटने लगता है। बुड्ढों की कोशिकाओं में "वृद्ध रंजक" (age pigment) कहलाने वाले रंग-पदार्थ बढ़ जाते हैं। केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र में बुढ़ापे में लिपोफ्यूचिस्म (Lipofuchism) का संग्रह भी बढ़ जाता है। शरीर के विभिन्न भागों में आयु के हिसाब से हॉर-मोनों का अन्तर भी पाया गया है। इन सबके होते हुए भी वस्तुतः हमारे लिए यह कहना कठिन है, कि आयु बढ़ने के साथ साथ क्या-क्या चीजें कम होती जाती हैं, और क्या-क्या बढ़ती जाती हैं। मस्तिष्क और तंत्रिका मंडल के न्यूरोनों में भी वृद्धावस्था के साथ साथ अन्तर आता जाता है, जैसा कि रूस देश के शरीर-क्रिया-विशेषज्ञों का विचार है।

(ङ) अन्तरिक्ष जीव-विज्ञान—अन्तरिक्ष संबंधी आधुनिक यात्राओं ने हमें यह अवसर दिया है कि जीवन संबंधी बहुत सी समस्याओं पर हम नये रूप से विचार करें। अन्तरिक्ष की उड़ान के समय नये प्रकार के ताप, जलवायु, दाब, आर्द्रता, रेडियधर्मिता आदि की समस्यायें हमारे समक्ष आ रही हैं। कुत्ते, चिम्पाञ्जी आदि प्राणी अन्तरिक्ष की सफल यात्रा करके सुरक्षित धरती पर वापस लौट भी आये हैं। अन्तरिक्ष यात्रियों में अब मनुष्य की भी गणना हो चुकी है। मनुष्य पृथ्वी के अन्तरिक्ष में परिक्रमा लगा आया, और सुरक्षित उतर कर

वापस आ गया। एक नये युग का उदय हुआ है, और मनुष्य नये ढंग से नयी परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने की चेष्टा कर रहा है।

भविष्य का दृष्टिकोण

जीवन संबंधी विज्ञान ने जिस प्रकार की उन्नति गत कुछ वर्षों में की है, उससे जीवन की नयी झाँकियाँ हमें देखने को मिल रही हैं। हम आज पैतृकता को न्यूक्लीइक अम्लों और प्रोटीनों की अपेक्षा से समझने का प्रयत्न करने लगे हैं। मस्तिष्क की चेतना पर नये रासायनिक पदार्थों और ओषधियों का प्रभाव देखा जा रहा है। न्यूरोरसायन और न्यूरोफार्मोकोलोजी के समान नवीन शास्त्रों को अब मान्यता दी जाने लगी है। हाइपोथैलमस की तन्त्रिका कोशिकाओं से स्राव के रूप में निकले हुए द्रव्य अब हॉरमोनों के पूर्वगामी माने जाने लगे हैं। केन्द्रीय तन्त्रिका तंत्र का शरीर के विभिन्न अंगों पर कितना अधिकार है, यह हम आज अपने प्रतिदिन के अनुभव से अच्छी तरह समझने लगे हैं। अक्षर संकेत हमें कितना उद्दीप्त या उत्तेजित कर सकते हैं, यह हम स्वयं देख रहे हैं। अच्छे-बुरे संवाद, अच्छे-बुरे दृश्य, और रसोत्पादक सभी साधन—शब्द, रेखा, ध्वनि, रंग, रूप, आकार और गति या चालढाल—हमारे चित्त में किस प्रकार विकार उत्पन्न कर देते हैं, यह हम सब जानते हैं, और इसी अनुभव के आधार पर कविता, संगीत, नृत्य, चित्रकला, शिल्प आदि के प्रति मनुष्य का नये प्रकार से ध्यान आकर्षित होने लगा है। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि हमारे बहुत से कलाकारों ने अपनी सर्वोत्कृष्ट कला का प्रदर्शन उन विषम और प्रतिकूल परिस्थितियों में किया, जबकि उनका जीवन भी दूभर था। उन्होंने अपने चित्त का सन्तुलन कैसे रक्खा होगा!! मनुष्य सामाजिक प्राणी है, उसे केवल स्वयं जीवित नहीं रहना है, उसमें भावुकता है, और दूसरों के प्रति प्रेम। वह कला और साहित्य का सृष्टा भी है। उसे अपनी समस्याओं के समाधान के लिए स्वयं सोचना भी पड़ता है। इसी निमित्त उसने जीवन से संबंध रखने वाले विज्ञान के अनेक अंगों का विकास किया है—वनस्पति विज्ञान, प्राणिविज्ञान, शरीरक्रिया-विज्ञान, जीवरसायन, मनोविज्ञान, ओषधि विज्ञान, चिकित्सा आदि आदि। इनके अध्ययन का उद्देश्य मानव-कल्याण की भावना है।

उपसंहार

मैंने अपनी इस वक्तृता में जीवन से संबंध रखने वाले कुछ ऐसे आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधानों का उल्लेख किया है, जिनके आधार पर हमारे भावी दृष्टिकोणों में अन्तर पड़ सकता है। हम सुन सके कि अंडे की अवस्था से लेकर स्तनपायि प्राणियों के मिटोकौण्ड्रिया की उपकोशिकाओं तक की चेष्टाओं में कितनी सुन्दर व्यवस्था है। इस सुचारु व्यवस्था की पराकाष्ठा उन्नतिशील मस्तिष्क में हमें मिलती है। यह मस्तिष्क अब तक हमारे लिए "अंधेरी कोठरी" बना हुआ था, जिसका जादू ही हम केवल देख पाते थे, पर जिसे हम समझते बहुत कम थे। आज हम जीव रसायन और जीव भौतिकी के आधार पर कुछ कुछ यह समझ सके हैं कि मस्तिष्क विद्युत्-रासायनिक यंत्र है, जो शरीर के अन्य अंगों के समान भी कई बातों में हैं, पर कुछ सूक्ष्म बातों में उनसे बिल्कुल भिन्न। यह मस्तिष्क ही विचार और विवेक का अधिष्ठान है। विचार और विवेक वाली ये क्रियायें भी आणविक या उप-आणविक ही होंगी, जैसी कि अन्य शारीरिक अंगों की क्रियायें हैं। हमने इस युग में बिजली के सिद्धान्तों के आधार पर यन्त्र-मानव (रॉबॉट) बनाये हैं, जो हमारे लिए दुरूह गणित के प्रश्नों को सरलता से हल कर देते हैं। मस्तिष्क संबंधी ज्यों ज्यों हमारा ज्ञान बढ़ता जायगा, मानव के लिए नया क्षेत्र खुलता जायगा।

तब मनुष्य वस्तुतः अपने पर अधिकार प्राप्त कर सकेगा और ज्ञान के उस क्षेत्र में प्रवेश कर सकेगा जो इस समय तक अज्ञेय बना हुआ है।

इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य का मस्तिष्क बड़ा चमत्कारपूर्ण और अद्भुत है, पर इसका क्या प्रमाण कि होमोसेपिअन मानव को जो मस्तिष्क मिला है, उसमें अब और आगे विकास हो ही नहीं सकता! प्रकृति जितना अच्छा मस्तिष्क बना सकती है, क्या यह उसकी पराकाष्ठा है? निम्न स्तर के प्राणियों के लक्षण भी शिक्षण और अभ्यास से उपार्जित किये जा सकते हैं। हमें सावधान और सतर्क रहने की भी आवश्यकता है, जैसा कि **हरमान जे० म्यूलर** (H. G. Muller) ने कहा है, एक ओर तो हम विकास की उच्च श्रेणी पर पहुँच गये हैं—हममें विवेक, प्रेम, उदारता, त्याग आदि की भावनाओं का प्रादुर्भाव हुआ है, पर साथ ही साथ सभ्यता के आधुनिक युग में उन प्रवृत्तियों के विकसित होने की भी सम्भावना है, जो मनुष्य को अधःपतन की ओर ले जावें।

मानव के "जीन" में भी एण्ट्रोपी का वैसा ही नियम लागू हो सकता है, जैसा कि अन्य प्राकृतिक द्रव्य में। कहीं धीरे धीरे हममें विध्वंसकारी परिवर्त्तन आरंभ न हो जायँ जिनसे हम स्वयं अपने नाश के कारण बनें। इस समय हमें सतर्क रहने की आवश्यकता है। हमें प्रजननशास्त्र के नियमों को अच्छी तरह समझना चाहिये, और जीवन संबंधी जो ज्ञान हमने बड़े तप से उपार्जित किया है, उसके उपयोग से हमें अपने भविष्य को अच्छा बनाना है।

मानवजीवन का उद्देश्य "सत्यं, शिवं, सुन्दरं" का उपार्जन करना है। सर्वतोन्मुखी सन्तुलित विकास में ही हमारा हित है। हमें अपने भविष्य में आस्था रखनी है। सत्, चित् और आनन्द की पूर्णता हमें **अरविन्द** के शब्दों में प्राप्त करनी है। हम इस विश्वास पर आगे बढ़ रहे हैं, कि निकट अथवा दूर भविष्य में अपने इस लक्ष्य पर हम अवश्य पहुँचेंगे।

डाइरेक्टर सेन्ट्रल ड्रग रिसर्च इन्स्टीट्यूट, लखनऊ

विकासवाद

युधिष्ठिर चतुर्वेदी

मनुष्य स्वभाव से ही जिज्ञासु है । वह अपने और अपने आस-पास की वस्तुओं के विषय में अधिक से अधिक जानना चाहता है । वह जानना चाहता है कि वह कहाँ से आया ? पृथ्वी और असंख्य जीवों, पेड़-पौदों आदि की उत्पत्ति कैसे हुई ? इस सबका उद्देश्य क्या है ? संक्षेप में, वह सदैव सृष्टि के विकास को समझने के लिए विह्वल रहता है ।

अति प्राचीन काल में केवल धर्म और धर्म-पिता ही जनता के पथ-प्रदर्शक थे । धर्म-पिताओं की बातें सब प्रश्नों का समाधान थीं । तब शंका का कोई प्रश्न नहीं था । जिन्हें अपने जीवन से शत्रुता थी, वही तर्क कर सकते थे । विश्व के प्रायः सभी धर्म सृष्टि के विषय में एक ही बात कहते हैं । सभी धर्मों का विश्वास है—सृष्टि के आदि में चारों तरफ जल ही जल दृष्टिगोचर होता था । उस महान् जल-प्लावन में एक तरफ 'मनु' एक नौका में हर जाति के जोड़ों के साथ उपस्थित हैं, तो दूसरी तरफ हम 'नूह' की नौका भी बँधी पाते हैं । तात्पर्य यह कि सभी धर्मों का विश्वास है कि सभी जातियों की उत्पत्ति एक साथ किन्तु अलग-अलग हुई है । और प्रत्येक जल-प्लावन के समय जातियों के जोड़े बीज के रूप में भावी सृष्टि के लिए सुरक्षित कर लिए जाते हैं ।

किन्तु धर्म-पिताओं के शासन की नींव हिलने लगी । लोगों का मानसिक-विकास होता गया । वे निर्भय होकर तर्क करने लगे । धर्मान्धता कम होने लगी । तर्क की कसौटी से टकरा कर 'मनु' और 'नूह' की नौकाएँ चूर-चूर हो गईं । धर्म प्रणेता जन-तर्क के सामने निरुत्तर हो गए । विश्व के महान दार्शनिक और विचारक इन समस्याओं पर नए ढंग से सोचकर नया समाधान निकालने में लग गए । उन्होंने कुछ प्रश्नों के समाधान ढूंढ़ भी निकाले । किन्तु वे विचार केवल विचार थे, और जन-समुदाय ठोस एवं प्रत्यक्ष प्रमाणों को अपनी आँखों से देखना चाहता था । आवश्यकता आविष्कार की जननी है । विज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ । वैज्ञानिकों ने दार्शनिक विचारों का परिमार्जन करके नए रूप में सामने रखा । उन्होंने कुछ ठोस प्रमाण भी प्रस्तुत किए । वैज्ञानिकों ने सृष्टि के विकास के विषय में जो कुछ कहा उसे हम 'विकास वाद' कहते हैं ।

विभिन्न वैज्ञानिकों के मतानुसार विकासवाद की विभिन्न परिभाषायें हैं किन्तु निम्न परिभाषा बहुमत से स्वीकृत है :—

"विकास एक ऐसी शृंखलाबद्ध प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई साधारण और कम योग्य वस्तु छोटे-छोटे परिवर्तनों के माध्यम से एक जटिल और योग्यतम वस्तु में परिवर्तित होती है ।"

वैज्ञानिकों की एक दूसरी श्रेणी भी है जिसके अनुसार विकास की परिभाषा उपरोक्त परिभाषा के ठीक विपरीत है । इनके अनुसार किसी जटिल वस्तु से साधारण वस्तु का निर्माण ही विकास है ।

विकास-वाद के प्रणेताओं और समर्थकों को धर्म-पिताओं एवं उनके अन्धे अनुयायियों के कारण जितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, उसकी कल्पना नहीं की जा सकती । 'हट्टन' ने पृथ्वी की आयु की गणना द्वारा बतलाया जिस पर आरोप यह लगाया गया कि उसने ईश्वर (गाड) को उसके स्थान से खदेड़ने का प्रयत्न किया है । उसे दण्ड मिलना चाहिए । हट्टन को अपनी बात में दृढ़ विश्वास होते हुए भी क्षमा माँगनी पड़ी ।

विकास-वाद अनेक वैज्ञानिकों के अनेक वर्षों के अथक परिश्रम का फल है। ईसा से ५०० वर्ष पूर्व हेराक्लीट्स ने कहा "संघर्ष ही सबका पिता या मूल है।" अलेकजेण्डर (६११-५४६ ई० पू०) का यह मत है कि सूर्य किरणों के प्रभाव से जल में कुछ मछलियों की तरह के जीव पैदा हुए। लहरों ने उनमें से कुछ को उछाल कर किनारे पर फेंक दिया। उनमें से अधिकांश मर गए। किन्तु कुछ बचे रहे, एवं कुछ परिवर्त्तनों के फलस्वरूप वे स्थल-निवास के योग्य बन गए।

इम्पेडिकल (४९०-४३० ई० पू०) का सिद्धान्त प्रेम और घृणा या आकर्षण और विलगाव पर आधारित है। उसके अनुसार विभिन्न अंग अलग-अलग पैदा हुए। प्रेम या आकर्षण की प्रक्रिया के प्रभाव से वे एक दूसरे से मिलने लगे। उनके सभी सम्भव मिश्रण तैयार हुए। तत्पश्चात् घृणा या विलगाव आरम्भ हुआ। जिन मिश्रणों के लिए परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं थीं, जीने में असमर्थ थे, वे नष्ट होने लगे। ऐसे मिश्रण ही राक्षसों के रूप थे। अभी भी कभी-कभी दो सिर, चार हाथ आदि, विचित्र बनावटों वाली सन्तानें पैदा होती सुनी जाती हैं। इसके अतिरिक्त और भी अनेक विचारकों ने अपने मत दिए; जिनमें एनाक्जिमाण्डर, एरिस्टाटिल, बेकन, डिसकार्टस, लिबनिज, काण्ट, हार्वे, रे, गेटे, हीगेल, बफन, इरेस्मसडार्विन, एवं बेलेस के नाम उल्लेखनीय हैं।

सर्व प्रथम फ्रांसीसी वैज्ञानिक लेमार्क (१७४४-१८२९) ने विकासवाद को एक ठोस सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया। इनके अनुसार "विशेष वातावरण के अनुकूल जीवन के लिए आवश्यक, वांछित गुणों की उत्पत्ति और जीवन क्रम में परम्परागत (हेरी डेटरी) गुणों के रूप में उनका स्थापित हो जाना ही प्राणियों के विकास का मूल कारण है। (Inheritance of acquired characters.).

अपने कथन की पुष्टि उसने प्रकृति में उपलब्ध अनेक उदाहरणों को देकर की। जैसे:—मरुस्थल में घास की कमी थी। अतः जिर्राफों को पेड़ों की फुनगियाँ खानी पड़ती थीं, जो अत्यधिक ऊँचाई पर स्थित थीं। अतः उन्हें गर्दन को काफी ऊँचा उठाना पड़ता था। लगातार अत्यधिक खिंचाव के कारण गर्दन लम्बी हो गई और लम्बापन कालान्तर में जिर्राफों का परम्परागत गुण बन गया। लम्बी गर्दन वाले जानवर पैदा होने लगे। मरुस्थलों में घास की कमी एवं ऊँचे पेड़ों की फुनगियाँ, ये सब मिलकर एक विशेष वातावरण का निर्माण करती हैं। घास के अभाव में पत्तियों का खाना, आवश्यकता के रूप में है और इसकी पूर्ति के हेतु लम्बी गर्दन का होना वांछित गुण था। निरन्तर प्रयास से यह गुण धीरे-धीरे विकसित हुआ और फिर लम्बी गर्दन वाले जानवर पैदा होने लगे। इस तरह लेमार्क के कथनानुसार वातावरण जन्य गुणों के कारण एक छोटी गर्दन वाले प्राणी से लम्बी गर्दन वाले प्राणी का विकास हुआ।

लेमार्क का समर्थन **निकेल, जियाफरी** आदि ने किया। किन्तु कुछ ऐसे भी उदाहरण हैं जिनकी व्याख्या लेमार्क के सिद्धान्त के प्रकाश में नहीं की जा सकती। जैसे:—चीनी स्त्रियों के जन्म होते ही पैरों में लोहे की जूतियाँ पहना दी जाती हैं ताकि पैर छोटे हो जाँय। यह प्रथा कितनी पुरानी है, ज्ञात नहीं किन्तु आज तक कोई भी लड़की जन्म से ही छोटे पैरों वाली नहीं पैदा हुई। इसी तरह हिन्दू स्त्रियाँ प्राचीन काल से ही नाक और कान में आभूषण पहनने के लिए छेद कराती हैं। किन्तु कभी कोई भी लड़की ऐसी नहीं पैदा हुई जिसके नाक या कान में पहले से ही छेद बना हो।

विकास-वाद के क्षेत्र में **चार्ल्स डारविन** (१८०९-१८८८) का अपना एक विशेष स्थान है। डारविन ने **माल्थस** (१७६६-१८३४) के जन-संख्या सम्बन्धी सिद्धान्त और वालेस की खोजों से प्रभावित होकर १९५८ में 'Origin of Species' नामक पुस्तक प्रकाशित की। डारविन के विकासवाद सम्बन्धी मुख्य तीन सिद्धान्त हैं—१-अत्यधिक प्रजनन या उत्पत्ति

२-जीवन संघर्ष ३-योग्यतम की सफलता या प्राकृतिक चुनाव ।

अधिक प्रजनन (overproduction)—प्रत्येक जीव में जिस गति से प्रजनन होता है यदि होता रहे और यदि प्रत्येक उत्पन्न जीव जीवित रहे तो शीघ्र ही पृथ्वी का कोना-कोना भर जायेगा । 'भारत की जन-संख्या-वृद्धि' इसका सर्वोत्तम उदाहरण है ।

जीवन संघर्ष (Struggle for Existence)—जीवों की संख्या, वृद्धि के फलस्वरूप स्थान, भोजन आदि की कमी पड़ती जाती है । आवास और भोजन के लिए प्रत्येक प्राणी प्रयत्न करता है और इस तरह स्वार्थों के टकराने से 'जीवन संघर्ष' का श्रीगणेश होता है । संघर्ष दो विभिन्न जाति के सदस्यों में हो सकता है, जैसे सिंह अपनी क्षुधा-पूर्ति के लिए मृग को मारता है । यह अन्तर्जातीय संघर्ष (Inter Specific-Struggle) हुआ । इसके अतिरिक्त संघर्ष एक ही जाति के विभिन्न सदस्यों में भी हो सकता है, यथा एक रोटी के लिये दो कुत्ते सजातीय होने पर भी लड़ने लगेंगे । यह जातिगत संघर्ष (Intra Specific Struggle) कहलाता है । इस प्रकार 'जीवन संघर्ष' का चक्र सदैव चलता रहता है । और पशुओं से भी अच्छा उदाहरण मनुष्यों में देखा जा सकता है ।

योग्यतम की सफलता या प्राकृतिक चुनाव(Survival of the fittest or Natural selection):—जीवन संघर्ष में वही सफल होता है जो योग्यतम है और प्रकृति भी उसी योग्यतम की सहायता करती है । जीवन संघर्ष में वही सफल होगा जिसमें वातावरण के अनुकूल गुण विद्यमान हों, अथवा अपने अन्दर उन गुणों का विकास कर अपने को अनुकूल बना ले । प्रकृति उस योग्यतम की सहायता अनुकूल विभिन्नताओं के विकसित होने का अवसर देकर करती है । यही छोटी-छोटी अनुकूल विभिन्नताएँ विकसित होकर परम्परागत गुण के रूप में स्थायित्व ग्रहण कर लेती हैं ।

लेमार्क के सिद्धान्तों को उतना महत्व नहीं दिया गया है जितना डारविन के विकासवाद को । लेमार्क की असफलता के कई कारण हैं । लेमार्क ने ऐसे समय में विकासवाद के सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया, जबकि वातावरण उन सिद्धान्तों के अनुकूल नहीं बन पाया था । यद्यपि धर्म-पिताओं का जोर कम पड़ गया था, दर्शन और विज्ञान का प्रकाश पुँज फैलने लगा था फिर भी लोगों के विचार इतने परिपक्व नहीं हुए थे जो सरलता से उन सिद्धान्तों को ग्रहण करते और इस विषय को और आगे बढ़ाने का प्रयत्न करते । फिर लेमार्क का सम्बन्ध एक साधारण परिवार से था । अन्धा व्यक्ति, उसकी एक मात्र पुत्री ही उसकी सहायक थी । फलतः प्रभाव-हीन व्यक्तित्व और समर्थकों के अभाव के कारण यह सिद्धान्त पनप न सका; पुष्पित-फलित होने की तो बात ही नहीं ।

डारविन के पितामह इरेसमस डारविन स्वयं एक वरिष्ठ विकासवादी थे । सुसम्पन्न परिवार होने के कारण समाज के नेता सहज ही प्रभावित थे । लेमार्क से अर्द्ध शताब्दी बाद लेमार्क के सिद्धान्तों के बारे में लोग सोचने को विवश हो गये । और इस तरह एक अनुकूल वातावरण तैयार हो गया । हक्सले एवं हीकेल जैसे प्रबल समर्थक इसके साथ थे । हक्सले ने स्वयं अपने को डारविन का "बुल डाग" घोषित किया है ।

डारविन की आलोचना भी खूब जोरों से हुई । कुछ विद्वान तो यहाँ तक कहते हैं कि "डारविन के पास अपना कहने को कुछ भी नहीं । मूल बातों और उदाहरणों को 'वैलेस' से ले लिया । माल्थस का 'जन संख्या सिद्धान्त', हेराक्लिटस का 'संघर्ष', इम्पीडक्लीज और लेमार्क के "वातावरण का प्रभाव", आदि का संग्रह मात्र ही डारविन का विकासवाद है । उसके सिद्धान्तों पर बहुत सी शंकाएं की गईं किन्तु उसके "बुल डागों" ने शंका करने वालों की खूब अच्छी खबर ली ।

विकासवाद के प्रमाण विभिन्न क्षेत्रों से एकत्र किए गए किन्तु परम्परागत-गुण (हेरीडिटी) का क्षेत्र सर्वाधिक ठोस प्रमाण प्रस्तुत करता है । इस क्षेत्र में मेन्डेल का नाम उल्लेखनीय है । डारविन के मता-

नुसार छोटी-छोटी विभिन्नताओं (variations) में से जो जीवन के अनुकूल होते हैं वे परम्परागत गुण बनते जाते हैं और इस तरह वे ही विकास कार्य के मुख्य स्रोत हैं। किन्तु बाद में **ह्यूगो-डी० व्रीज ने** बतलाया कि प्रकृति में बड़े-बड़े परिवर्तन भी अचानक हुआ करते हैं, जिन्हें 'म्युटेशन' कहते हैं। जैसे---चूहे साधारण भूरे रंग के होते हैं; किन्तु कभी कभी सफेद भी पैदा हो जाते हैं। ऐसे परिवर्तन जो जीवन के लिए लाभप्रद होते हैं परम्परागत गुण बन जाते हैं। आज कल बिना बीज के टमाटर, शीघ्र पकने वाले सेब, बहुत ही लम्बी और मोटी ऊख इस "म्युटेशन' के द्वारा पैदा किए जाने लगे हैं। ये 'म्युटेशन ही विकास कार्य के लिए विशेष महत्त्व के होते हैं। मान्टगोमरी, मोरगन आदि ने प्रयोगों द्वारा 'म्युटेशन' के सिद्धान्त की पुष्टि की।

'म्युटेशन' के सिद्धान्त के आविष्कार के बाद वैज्ञानिकों ने **लेमार्किज्म** और **डारविनिज्म** पर पुनः विचार करना प्रारम्भ किया। आज बीसवीं शताब्दी में भी दोनों सिद्धान्त 'नियो-लेमार्किज्म' और 'नियो-डारविनिज्म' के रूप में प्रचलित हैं। बीसवीं शताब्दी के 'नियो-लेमार्किज्म' के समर्थकों में **'रिचर्ड सीमोन'**, **'वुड जोन्स'** आदि प्रमुख हैं। दूसरी तरफ मूलर, **सिवेल,** आदि 'नियो-डारविनिज्म' के समर्थक हैं।

इस बात से सभी सहमत हैं कि पृथ्वी के समस्त जीवों का विकास बहुत ही साधारण कोटि के जीवों से हुआ है। विकास की सत्यता सभी स्वीकार करते हैं; किन्तु विकास किस तरह, किन नियमों से कार्य करता है, इस पर विभिन्न मत हैं। डारविन के समर्थक डारविन के विचारों को सत्य ठहराते हैं और लेमार्क के समर्थक उसके विचारों को। सम्प्रति काल में 'गोल्डस्मिड्ट, **'काडलेरी'**, **'जेनिंग'** आदि का कथन है कि विकासवाद के सिद्धान्तों को अन्तिम और एक रूप देने का समय नहीं आया। सम्भव है प्रकृति एक से अधिक तरीके प्रयोगों में लाती हो।

सृष्टि के उषा काल में हमारी पृथ्वी, सूर्य की तरह तप्त एक अग्नि-पिण्ड थी। किसी भी जीव का होना असम्भव था। धीरे-धीरे पृथ्वी ठण्डी हुई। कार्बन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन आदि विभिन्न तत्वों के कण चारों तरफ चक्कर लगा रहे थे। उनके विभिन्न योगों से ,विभिन्न तरह की वस्तुएँ बनती गईं। एक ऐसा भी स्वर्णिम अवसर आया जब विभिन्न तत्वों के कण एक साथ मिले। उस विशेष आनुपातिक मिश्रण से अचानक जीवन की उत्पत्ति हुई। वैज्ञानिकों ने उसे **"लकी हिट"** कहा है। अन्य तथ्यों के संग्रह से ज्ञात हुआ कि प्रथम जीवाणु समुद्र के खारे जल में उत्पन्न हुआ और उस जीवाणु से सृष्टि का विकास-क्रम चला। सर्व प्रथम एक कोशीय पौदे, फिर जानवर पैदा हुए। धीरे-धीरे बहु-कोशीय जीवों का विकास हुआ। स्पंज, हाइड्रा, केंचुए, कीट-पतंगों, शंख, सीप, तारामछली आदि का विकास हुआ। पुनः मछलियों सदृश प्राणी एवं मछलियाँ बनीं। जल में जीवन संघर्ष में सफल होना बहुत कठिन हो गया। उन्हें नए आवास की आवश्यकता हुई। जलीय जीव धीरे-धीरे पृथ्वी पर आने लगे। स्थलीय जीवन के अनुरूप उनमें परिवर्तन होने लगे। विभिन्न तरह का वातावरण मिला और विभिन्न प्रकार के परिवर्त्तनों के फलस्वरूप मेढक, सर्प वर्ग, पक्षी एवं स्तन-पोषी जीवों का विकास हुआ। विकास का अन्तिम रूप अभी तक मानव के रूप में उपस्थित हुआ है। विकास की क्रिया अभी भी अविराम गति से चल रही है। और कोई नहीं जानता इसका अन्तिम रूप क्या होगा।

विकास के सम्बन्ध में यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि यह एक नियमबद्ध प्रक्रिया है। इसका स्वभाव उच्छृंखल नहीं है। यह एक दिशा विशेष में ही कार्य करता है। यदि बन्दर से मनुष्य बनने की दिशा में विकास हो रहा है तो उसी दिशा में क्रम चलेगा। ऐसा नहीं कि बीच में ही दिशा बदल जाय और मनुष्य के स्थान पर गिलहरी बन जाय। साधारण लोग नाना तरह की शंकाएँ करते हैं। आप में से बहुत से सोचते

होंगे कि सर्प-वर्गीय जीवों से पक्षियों एवं स्तन-पोषियों का विकास कैसे हुआ ? आज भी सर्प, पक्षी, और स्तन-पोषी सभी क्यों पाए जाते हैं ? क्यों नहीं, जितने सर्प-वर्गीय थे, पक्षी या स्तन-पोषी बन गए ? उत्तर साधारण है। नए वातावरण में जो अपने को उसके अनुकूल बना सके, जीवन-संघर्ष में वे योग्यतम सिद्ध हुए। अतः प्रकृति ने उन्हें ही चुना; शेष विनष्ट हो गए, या पीछे रह गए। इस तरह से एक जाति से दूसरी जाति का विकास होने पर पहली जाति के जीवों में जीवन-संघर्ष की जटिलता जाती रही। उस वर्ग के प्राणियों को भी पुनः एक अवसर मिला और नव विकसित जाति के साथ-साथ उनका भी जीवन-क्रम चल पड़ा। कल्पना कीजिये कि किसी समय में सर्प-वर्ग के जीवों की संख्या अत्यधिक हो गई। जीवन-संघर्ष भीषण रूप धारण कर लिया। उन्हें नए आवास और भोजन आदि के नए साधनों की आवश्यकता पड़ी और इस सबके लिए वाध्य होकर उन्हें दूसरे क्षेत्रों में जाना पड़ा। पृथ्वी पर से वे आकाश और पेड़ों पर जाने लगे। जो नए वातावरण के अनुकूल गुण—पंख आदि विकसित कर सके वे नई जाति के रूप में उस स्थल में सरलतम जीवन व्यतीत करने लगे। इस तरह पक्षियों का विकास हो गया। दूसरी तरफ सर्प जाति के जीवों की संख्या कम हो गई। जीवन निर्वाह के लिए स्थान, भोजन आदि उनके लिए पर्याप्त पड़ने लगा और जीवन संघर्ष की भीषणता नहीं रही। अतः वे भी अच्छी तरह पनपने लगे।

दूसरा प्रश्न है कि हम लोग किसी एक जाति को दूसरी जाति में परिवर्तित होते क्यों नहीं देखते ? आज कल कोई बन्दर क्यों नहीं मनुष्य बनता दिखाई पड़ता ? प्रथम तो एक उद्देश्य तक पहुँचने में कितनी शृंखलाएँ आती हैं। कोई बन्दर सीधे मनुष्य नहीं बना। दूसरी तरफ विकास की प्रक्रिया बहुत धीमी है। क्या आप उस नित्य होने वाली वृद्धि का अनुभव कर पाते हैं ? साफ है —नहीं। वृद्धि का परिणाम ही हमें दिखाई देता है। ठीक उसी प्रकार विकास भी एक बहुत ही धीमी गति से होने वाली प्रक्रिया है, जिसकी गति का आभास हमें नहीं हो पाता। उसके परिणाम देख कर ही हम उसका अनुमान कर सकते हैं। सबसे उल्लेखनीय बात तो यह है कि जब कोई नई जाति बन जाती है, फिर वह अपनी जाति की वृद्धि करने में स्वयं समर्थ होती है। अतः पहली जाति से इस नई जाति का निर्माण रुक जाता है। विशेष परिस्थितियों में विशेष गुणों के उत्पन्न होने से नई जाति बनी। कोई आवश्यक नहीं वे परिस्थितियाँ फिर आवें; वे गुण फिर उत्पन्न हों।

विकास के प्रमाणों को उपस्थित करने वाली कड़ियों को जोड़ना और समझना एक सरल कार्य नहीं है। इसके लिए प्राणि शास्त्रियों और विकास-वादियों के ऊपर आपको विश्वास करना होगा। जिस तरह आपने ईश्वर का साक्षात् नहीं किया, किन्तु ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करते हैं; शास्त्रों, ऋषियों आदि की बातों पर भरोसा करते हैं उसी प्रकार विकास का भी प्रत्यक्ष दर्शन आप अध्ययन द्वारा कर सकते हैं। यह सम्भव नहीं जिन तथ्यों का आभास, एक प्राणिशास्त्री अपना सारा जीवन लगा कर करता है, उसी का दिग्दर्शन मिनटों में कराया जा सके।

जूलोजिकल सर्वे आफ इण्डिया,
इण्डियन म्यूजियम, कलकत्ता-१३

---

१. अन्तरिक्ष यान के लिए उपयोगी क्लोरेल्ला

रहस्यमय पौधे क्लोरेल्ला का पता अभी तक केवल वनस्पति तथा जीवशास्त्रियों को ही था। उसका रहस्य इस बात में है कि वह मनुष्य की दृष्टि के निकट एक ही समय में दृश्य और अदृश्य दोनों है। यदि आप कभी किसी "हरे" ताल के निकट या समुद्रतट पर गये हैं तो आपने क्लोरेल्ला देखा है। तथापि, इस पौधे के सम्बन्ध में "देखना" शब्द ही शायद उपयुक्त है। अगर आप वनस्पतियुक्त पानी उछालें तो आपकी हथेली के गड्ढे में हरे-से रंग का पानी आ जाएगा, उसकी परीक्षा करने के लिए आपको काफी शक्तिशाली अणुवीक्षण यंत्र की आवश्यकता होगी, क्योंकि इस पानी के हर घनसेंटीमीटर में दो से चार माइक्रोन की परिधि वाले क्लोरेल्ला-माइक्रोस्कोपिक जीवाणु-लाखों की संख्या में रहते हैं।

क्लोरेल्ला एक कोषीय हरे अल्गी की एक-किस्म है। सत्तर वर्ष पहले जब यह पौधा पाया गया था, तब किसी ने नहीं सोचा था कि यह एक दिन विश्वव्यापी चर्चा का विषय बन जाएगा। वैज्ञानिकों का ध्यान इसकी तरफ पहली बार उस समय आकृष्ट हुआ जब वे फोटोसिन्थसिस के सिद्धान्त का अध्ययन कर रहे थे। सौर विकिरण की शक्ति के प्रभाव से क्लोरेल्ला कार्बनडाइआक्साइड ग्रहण करता है और स्वयं अपने आयतन से २०० गुना अधिक आक्सीजन बाहर निकालता है। इस पौधे के अध्ययन के समय वैज्ञानिकों ने पाया कि यह पौधा एक ऐसे कमरे के समान है जिसमें मनुष्य और जानवरों के लिए लाभदायक खाद्य सामग्री भरी पड़ी हो। मटर की जाति के पौधे में जितना प्रोटीन होता है उसका दुगुना क्लोरेल्ला में रहता है और उसमें विटामिन-सी नींबू के बराबर होता है। जिस माध्यम में क्लोरेल्ला उगाया जाता है उसमें यदि नाइट्रोजन मिला दिया जाय तो क्लोरेल्ला में प्रोटीन की मात्रा ८८ प्रतिशत बढ़ायी जा सकती है।

प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट और वसा प्राप्त करने की दृष्टि से इस पौधे का बहुत महत्त्व है। इसीलिए इस पौधे की ओर उन देशों में विशेष ध्यान दिया जा रहा है, जहाँ मिलने वाले खाद्यपदार्थों और पशुओं के चारे में प्रोटीन की मात्रा बहुत कम है। कुछ देशों में क्लोरेल्ला खाद्य के रूप में प्रयुक्त होता है और पशुओं को चारे के साथ दिया जाता है। चूँकि चाप और गति के तेज परिवर्तनों को क्लोरेल्ला बहुत अच्छी तरह सह सकता है इसलिए वह स्वभावतः अन्तरिक्ष उड़ानों के लिए उपयुक्त है।

अन्तरिक्ष में यूरी गागारिन की अभूतपूर्व उड़ान १०८ मिनट तक रही। दूसरे अन्तरिक्ष यात्री तितोव २५ घंटे से अधिक समय तक पृथ्वी का चक्कर लगाते रहे। सोवियत नागरिक लोग निकट भविष्य में चंद्रमा, मंगल और दूसरे ग्रहों की यात्रा करेंगे। ये अन्तरिक्ष यात्राएँ कुछ घंटों और मिनटों की जगह महीनों और कदाचित् वर्षों की हो सकती हैं। अन्तरिक्ष यात्रियों को ताजी हवा, अत्यन्त पुष्टिकर भोजन और विटामिन किस प्रकार प्राप्त होंगे इस प्रश्न के संबंध में क्लोरेल्ला का उल्लेख आवश्यक है। बहुत ही सादा और संगठित ढंग अपनाने से क्लोरेल्ला कार्बनडाइआक्साइड ग्रहण कर उतनी मात्रा में आक्सिजन

बाहर निकालेगा जितनी कि अन्तरिक्ष यात्रियों को आवश्यकता पड़ेगी । वह प्रोटीन-प्रमुख भोजन तथा विटामिन भी उन्हें प्रदान करेगा ।

मल-मूत्र आदि मनुष्य की शारीरिक क्रिया से उत्पन्न होने वाले पदार्थ हानिकर न होने पायें, प्रत्युत उनसे अच्छा पीने का पानी निकाला जा सके, इसके लिए भी क्लोरेल्ला का उपयोग किया जा सकता है । मल-मूत्र में निहित नाइट्रस और अन्य खनिज पदार्थों का उपयोग अन्तरिक्ष यान में क्लोरेल्ला उपजाने के लिए किया जा सकता है ।

लेनिनग्राद के एक खूबसूरत उपनगर पीटरहाफ में लेनिनग्राद विश्वविद्यालय के जीवशास्त्र प्रतिष्ठान की प्रयोगशाला स्थित है जहाँ एककोषीय अल्गे उगाये जा रहे हैं । यहाँ पर जिस अर्द्ध-औद्योगिक अवस्था में खुली जगह में क्लोरेल्ला उगाया जा रहा है वह भविष्य की ओर इंगित करती है जब पानी की सतह पर प्रति हेक्टर ४५ टन क्लोरेल्ला उगाना सम्भव होगा ।

इसमें से एक पौधे को हम जरा समीप से देखें । एक दूसरे के बगल में और किनारों पर एक दूसरे से जुड़े दो उथले जलाशयों की कल्पना करें । उन पर पौलीथिलीन की बहुत पतली चादर है और उनमें करीब १००० लिटर पानी जमा है जिसमें नाइट्रोजन, फासफोरस और पोटैशियम तथा अन्य अणुवीक्ष्य तत्व घुले हुए हैं । फोटोसिन्थसिस की प्रक्रिया के लिए आवश्यक कार्बनडाइआक्साइड एक नलिका के द्वारा इन जलाशयों में पहुँचायी जाती है ।

क्लोरेल्लायुक्त पानी जो गाढ़े हरे रंग के शोरबा की तरह होता है, कई काँच की सुराहियों के द्वारा जलाशयों में पहुँचाया जाता है और घोल को पम्प से चक्राकार ढँग से पानी के अन्दर घुमाया जाता है । कुछ दिन बाद यही पम्प हरे, गाढ़े घोल को एक सेंट्रीफ्यूगल मशीन में पहुँचाता है जहाँ गाढ़े हरे रंग का यह घोल बैठने लगता है । अच्छी तरह सूख जाने पर इसे पीसा जाता है और इस प्रकार यह अन्तरिक्ष यात्री के भोजन में सम्मिलित होने योग्य हो जाता है ।

प्रयोगशाला के कर्मचारियों की दृष्टि में यह केवल एक अस्थायी व्यवस्था है । उनका अन्तिम लक्ष्य एक ऐसा स्वचालित यंत्र बनाना है जो सूक्ष्म क्लोरेल्ला का बड़े पैमाने पर उत्पादन कर सके और द्रव में उसके मिश्रण के आवश्यक घनत्व और जीवाणुहीनता को सुनिश्चित कर सके । इस कार्य की प्रक्रिया में एक विशेष मापक यंत्र क्लोरेल्ला के उत्पादन के लिए सबसे उपयुक्त अवस्था को निश्चित करेगा और उसे स्थिर रखेगा ।

२. भारत का पुरातत्व सर्वे विभाग

भारत में पुरातत्व और भारती विद्या संबंधी अध्ययन और संगठन का इतिहास १७८४ से आरम्भ होता है, जब सुप्रीमकोर्ट के मुख्य न्यायाधीश सर विलियम जोन्स की अध्यक्षता में एशियाटिक सोसायटी की कलकत्ता में स्थापना हुई और तत्कालीन गवर्नर जनरल हेस्टिंग्स को उसका संरक्षक बनाया गया । पुरातत्व और भारती विद्या के इतिहास में सर जेम्स प्रिंसेप का नाम भी अविस्मरणीय है, जिन्होंने १८३६-३७ में भारत की प्राचीन ब्राह्मी लिपि पढ़ने की विधि निकाली और अशोक के शिलालेख पढ़े । इसके बाद १८६१ में एक सैनिक इंजीनियर एलेक्जेंडर कनिंघम ने गवर्नर जनरल लार्ड केनिंग को देश के प्राचीन स्मारकों और खण्डहरों की जाँच करने और उनको ठीक से रखने की आवश्यकता समझाई और स्वयं को पुरातत्व सर्वेयर नियुक्त करा लिया । लेकिन १८६५ में यह पद समाप्त कर दिया गया । १८७० में कनिंघम फिर भारत लौटे और १८८५ तक इस पद पर काम करते रहे ।

लेकिन १८९९ में लार्ड कर्जन के गवर्नर जनरल होकर आने तक पुरातत्व के संबंध में कोई काम नहीं हुआ । न तो सरकार ने इसके लिए कुछ अधिक धन दिया और न किसी ने इसकी ओर विशेष ध्यान ही

दिया। लार्ड कर्जन को पुरातत्व में बहुत रुचि थी और उन्होंने पुरातत्व संगठन की दशा पर बहुत रोष प्रकट किया और पुरानी इमारतों और मूर्तियों आदि की खोज, उनको संभाल कर रखने और पुरालेख विद्या को साथ-साथ प्रोत्साहन देने के लिए शासन को कड़े आदेश दिए। फिर भी वे अपने विचारों को बहुत कम मूर्त रूप दे सके। पुरातत्व महानिदेशक का पद फिर बनाया गया और २२ फरवरी, १९०२ को युवक जान मार्शल इस पद पर नियुक्त हुए। वास्तव में तभी से भारत के पुरातत्व सर्वे विभाग का कार्य विधिवत आरम्भ हुआ और १९०४ में प्राचीन स्मारक अधिनियम बनाया गया, जिसके अधीन सरकार प्राचीन इमारतों और अवशेषों को अपने अधिकार में लेने और नयी खुदाई आदि कराने का काम कर सकती थी।

वैधानिक स्थिति

पुरातत्व सर्वे विभाग आरम्भ से आज तक सरकारी संगठन रहा है, इस कारण इसको हानि और लाभ दोनों हुए हैं। यह समस्या सामने है कि पुरातत्व संबंधी कार्य पूरी तौर से केन्द्रीय सरकार के अधीन रहे या इसका संगठन विकेन्द्रित रखा जाए और कितना काम केन्द्रीय अधिकारी करें और कितना स्थानीय अधिकारियों के हाथ में रहे। १९२१ में नया भारत सरकार कानून लागू होने से पुरातत्व केन्द्रीय सरकार का विषय घोषित कर दिया गया और १९३५ के एक कानून के अनुसार जो थोड़े बहुत अधिकार प्रान्तीय सरकारों को दिये गये थे वे भी ले लिये गये।

१९५० में स्वतंत्र भारत का जो संविधान लागू हुआ इसमें प्राचीन अवशेषों के दो भाग किये गये। राष्ट्रीय महत्त्व के प्राचीन स्मारक आदि केन्द्र के अधीन और दूसरे राज्यों के अधीन रखने की व्यवस्था की गयी। राष्ट्रीय महत्त्व के स्मारकों के बारे में संसद के आदेश देने की व्यवस्था है। १९५८ के प्राचीन स्मारक तथा पुरातत्व स्थल तथा अवशेष अधिनियम के लागू होने से १९०४ का तत्सम्बन्धी कानून प्रायः समाप्त हो गया और नये कानून में पुरानी चीजों की खोज और सँभाल-सुधार के लिए और अनुकूल तथा सहायक व्यवस्था कर दी गयी। साथ ही राज्य सरकारों को कुछ निश्चित काम दिये गये हैं, जिस कारण उन्हें भी अपने पुरातत्व विभाग रखने जरूरी हो गये हैं।

आज पुरातत्व प्रवन्ध में केन्द्रीकरण और वि-केन्द्रीकरण दोनों क्रियाएँ चल रही हैं। भारत सरकार राष्ट्रीय महत्त्व के स्मारकों और स्थलों के लिए जिम्मेदार है और राज्य सरकारें दूसरे स्मारकों और खंडरों आदि की जिम्मेदारियाँ संभाल रही हैं।

स्मारकों की सुरक्षा

१९वीं शताब्दी में पुराने स्मारकों की मरम्मत का कुछ काम हाथ में लिया गया लेकिन १९०२ से यह काम पूरे ध्यान से किया जाने लगा। आजकल केन्द्रीय सरकार के अधीन स्मारकों की संख्या ३००० से ऊपर है। इनमें से बहुतों की हर साल मरम्मत होती है। पुरानी इमारतों की मरम्मत के अलावा भित्ति चित्रों और दूसरी वस्तुओं को कीड़े-मकोड़ों और हानिकारक लवणों आदि से बचाने के लिए रसायन पदार्थों का उपयोग किया जाता है।

खोज और खुदाई

कनिंघम ने बहुत से प्राचीन स्थलों की खोज की। फाहियान की यात्रा-वर्णन को पढ़कर उन्होंने बीसियों प्राचीन स्थल, नगर और बौद्ध विहारों आदि का पता लगाया। उन्होंने और बाद में उनके साथियों ने उन दिनों जितनी खोज की उनपर निस्संदेह आश्चर्य होता है। उन दिनों में न तो आजकल के से रेल, मोटर आदि के साधन थे और न अन्य सुविधाएँ।

बीसवीं सदी के आरम्भ तक केवल बौद्ध अवशेषों और स्मारकों की खोज की ओर सबका ध्यान था किन्तु १९२० के बाद हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में सिन्धु घाटी सभ्यता के अवशेष प्राप्त होने पर सिन्धु और बिलोचिस्तान में बहुत स्थानों पर खुदाई की गयी।

इससे बीच के अज्ञात काल के बारे में खोज करने की स्वाभाविक जिज्ञासा उत्पन्न हुई और कई अन्य स्थानों पर खुदाई के फलस्वरूप यह पता चला है कि सिन्धु घाटी सभ्यता उत्तर में यमुना के ऊपरी भाग से लेकर दक्षिण में भड़ौंच तक फैली हुई थी और राजस्थान और गुजरात में भी इसके कई केन्द्र रहे होंगे। अब हम यह भी जानते हैं कि इस सभ्यता का अन्त अचानक नहीं हो गया। पूर्वी और दक्षिणी क्षेत्रों में यह अपने उत्तराधिकारी छोड़कर ही समाप्त हुई। इसके अन्त होने पर एक बिल्कुल भिन्न सभ्यता का उदय हुआ, जिसकी निशानी, भूरे रंग के पुते हुए वर्तन हैं। दक्षिण और मध्य भारत के बहुत से स्थानों की खुदाई से, ईसा से पूर्व दूसरी शताब्दी के उतरार्द्ध और पहली शताब्दी के पूर्वार्द्ध के अवशेष मिले हैं। यह युग अभी तक अंधकारमय माना जाता था। इसी प्रकार दक्षिण में लौह युग के चिह्न मिले हैं। रोम की सभ्यता से प्रभावित वर्तन भी दक्षिण में प्राप्त हुए हैं। आंध्रप्रदेश में नागार्जुनकोंडा की खुदाइयों से यह सिद्ध होता है कि यह पत्थर युग के आरम्भ से मध्य युग तक बराबर आबाद रहा। इस स्थान के नागार्जुनसागर जलाशय में डूब जाने से पुरातत्व को बड़ी हानि होगी, किन्तु काफी खुदाई होने के कारण यहाँ से पर्याप्त अवशेष प्राप्त कर लिये गये हैं।

१९४० तक पत्थर युग के बारे में पुरातत्ववेत्ता अधिक रुचि नहीं रखते थे। लेकिन अब उस युग के भी बहुत से स्थान खोदे गये हैं और मूल्यवान जानकारी प्राप्त की गई है। खुदाई के काम में कुछ विश्वविद्यालय और विद्वानों की दूसरी संस्थाएँ भी हाथ बटाने लगी हैं।

३. प्राचीन भारत में नौ-परिवहन

हाल की खोजों से यह प्रस्थापित हो गया है कि प्राचीन भारत में नौ-परिवहन बहुत उन्नत और किसी देश से पीछे नहीं था। इस बात के काफी प्रमाण मिले हैं कि भारत में आर्यों से आने के पूर्व बसने वाली जातियाँ भी नदियों और महासागरों में जहाज और नौकायें चलाने में दक्ष थीं। इतिहास के आरंभ से भारतीय छोटी-बड़ी नावें और जहाज बनाने, यात्रियों और माल को जहाजों से ढोने, तारों और हवाओं का अध्ययन करने, प्रकाश स्तम्भ खड़े करने और बन्दरगाह तथा जहाज-घाट आदि बनाने में बड़े कुशल रहे। पिछली एक शताब्दी में इतिहास और पुरातत्व के सम्बन्ध में जो अनुसंधान हुए हैं, उनके कारण भारतीयों के नौ-परिवहन का उत्कर्ष दिखाने वाली बहुत-सी सामग्री और प्रमाण मिले हैं।

अंग्रेजी का "नेवीगेशन" शब्द भी संस्कृत के 'नौ' शब्द से बना है, जिसका अर्थ जहाज या नौका होता है।

संस्कृत साहित्य में नदी और समुद्र यात्राओं, जहाजों के डूबने और टकराने इत्यादि का बड़ा सजीव वर्णन है। ऋग्वेद में अग्नि देवता से शत्रुओं को इस तरह से हटाने की प्रार्थना की गई है, जिस तरह जहाजों से दूर देशों पर लोगों को पार किया जाता है। एक और स्थल पर एक ऋषि की [illegible] महासागर की यात्रा और उनके जहाज के टकराकर चूर हो जाने तथा दूसरे लोगों द्वारा उनके बचाए जाने का उल्लेख है।

वाल्मीकि रामायण में भृगु ऋषि के आश्रम के पास गंगा में बड़ी-बड़ी नावों के आने जाने का सुन्दर वर्णन है और राम, लक्ष्मण और सीता को वन जाते हुए गंगा-पार करने के लिए गुहराज बड़ी भव्य नाव देता है। इतना ही नहीं, जब भरत और अन्य अयोध्यावासी राम को लौटाने के लिए आते हैं, तो भारत के गुहराज को भरत के मंतव्य पर सन्देह होता है और वह भरत को आगे न बढ़ने देने के लिए ५०० जहाजों को तैयार रहने का आदेश देता है। हर जहाज पर १००-१०० हृष्ट-पुष्ट तरुण मल्लाह बताए गए हैं। जब गुहराज को यह विश्वास हो जाता है कि भरत राम को सम्मान से लौटाने का आग्रह करने के लिए ही जा रहे हैं, तो वह

अपने इस बेड़े से सारे अयोध्या-वासियों को गंगा पार कराता है। भरत, शत्रुघ्न, कौशल्या, सुमित्रा और राम-परिवार की अन्य महिलाओं के लिए बहुत सुन्दर और सजे हुए जहाज दिए जाते हैं, जिन पर 'स्वास्तिक' की पताकाएँ फहरा रही हैं और जिन पर पाल तने हुए हैं।

महाभारत में जहाजों का बहुत स्थलों पर उल्लेख मिलता है। पांडवों के बच निकलने के लिए विदुर ने जो जहाज बनाया, उसमें कई तरह की मशीनें लगी हुई थीं और वह इतना मजबूत था कि भीषण से भीषण तूफान का सामना कर सकता था। इस जहाज पर झण्डे फहराने का भी उल्लेख मिलता है।

पाणिनि की अष्टाध्यायी में, जो सातवीं सदी ईस्वी पूर्व की है, एक सूत्र में उत्संग, उडुप, उद्यत, पिटक आदि छोटी-छोटी नावों के नाम मिलते हैं और उदकवाहन नामक एक बड़ी नाव का। अष्टाध्यायी में नावों और जहाजों के प्रयोग के साथ ही पास के द्वीपों से आने वाले और समुद्र-पार के दूर के द्वीपों से आने वाले माल के लिए भी अलग-अलग शब्द दिए गए हैं। तट के निकट के द्वीपों का माल 'द्वैप्य' और दूर से आने वाले माल का नाम 'द्वैपक'' मिलता है। कुछ सूत्रों में नावों के भाड़े इत्यादि का भी जिक्र आता है।

चाणक्य ने चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन में 'नौ-अध्यक्ष' के अधीन राज्य के नौ-परिवहन विभाग के बारे में पूरा एक अध्याय लिखा है। यह अधिकारी केवल समुद्री नौ-परिवहन का ही नहीं, नदियों, प्राकृतिक और कृत्रिम झीलों आदि के नौ-परिवहन का हिसाब रखता था और मछली पकड़ने, मोती निकालने, बन्दरगाहों पर सीमा-शुल्क वसूल करने, यात्री और माल जहाजों का नियंत्रण और उनकी सुरक्षा की व्यवस्था करने इत्यादि के सभी काम वही देखता था।

जैन और बौद्ध ग्रन्थों में भी संस्कृत ग्रंथों की तरह जहाजों के आकार-प्रकार, उनकी सज्जा, आयात-निर्यात, बन्दरगाहों के नामों, द्वीपों के नामों आदि का इतना प्रचुर वृत्तान्त मिलता है, जिससे पता चलता है कि उस काल में भारत में नौ-परिवहन कितना विकसित था।

'युक्तिकल्पतरु' नामक ग्रंथ में, जो राजा भोज का लिखा माना जाता है, जहाँ मणियों, हीरों, तलवारों, घोड़ों, हाथियों, गहनों, झण्डों और जहाजों आदि के बारे में विस्तृत विवरण और बारीकियाँ दी गई हैं, वहाँ जहाज-निर्माण संबंधी जो अध्याय है उसमें निर्माण विधियाँ आदि विस्तार से दी गई हैं। जहाजों के लिए कौन सी लकड़ी इस्तेमाल करनी चाहिए और यात्रियों के आराम के लिए किस तरह जहाज को सजाना चाहिए इत्यादि बातों के बारे में भी ग्रंथ में विस्तृत उल्लेख है।

पुरातत्व से भी नौ-परिवहन के बारे में साहित्यिक वर्णनों की पूरी पुष्टि होती है। हड़प्पा और मोहन-जोदड़ो की पूर्व वैदिककालीन संस्कृतियों में भी नौ-परिवहन के प्रमाण मिलते हैं। जहाज की आकृति में अंकित दो मुहरें मिली हैं। इधर अहमदाबाद जिले में लोथल में जो खुदाई हुई है, उसमें तो पूरा एक बन्दरगाह पाया गया है। लोथल के अवशेष हड़प्पा संस्कृति के हैं। इस खुदाई से यह सिद्ध होता है कि हड़प्पा के लोग भी समुद्री मार्ग से व्यापार आदि करते थे। हड़प्पा संस्कृति के बाद इतिहास की शृंखला काफी समय तक के लिए टूट जाती है और इसके बाद भारतीय इतिहास का आंध्र काल आता है। सांची और दूसरे स्थानों की मूर्तियों और चित्रों आदि से नदी और समुद्र-यात्राओं के अनेक दृश्य मिलते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि भारत में नौ-परिवहन की परम्परा बराबर चलती रही। यहाँ दक्षिण के शातवाहन वंश की जहाज की आकृति की मुद्राएँ भी उल्लेखनीय हैं।

आंध्रप्रदेश के घण्टशाला नामक स्थान पर ब्राह्मी और प्राकृत का दूसरी या तीसरी शताब्दी ईस्वी का एक शिलालेख मिलता है, जिसमें एक महानाविक

शिवक का उल्लेख है। प्राचीन काल में यह स्थान कृष्णा के मुहाने पर एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था।

४. रसायन-उद्योग के नवीन चमत्कार

अमेरिका के उद्योग-जगत में रसायन-उद्योग की गणना एक सबसे बड़े उद्योग के रूप में की जाती है और सत्य तो यह है कि अमेरिका में आज जो उद्योग तेजी से विकास के पथ पर अग्रसर हो रहे हैं, रसायन उद्योग उनमें से एक है। इस उद्योग का विकास अनुसन्धान और इस अनुसन्धान के फलस्वरूप होने वाले प्राविधिक विकास या खोजों पर बहुत अधिक निर्भर करता है।

१९६० में अमेरिका के रसायन उद्योग ने कुल मिला कर २८ अरब डालर से भी अधिक मूल्य की रासायनिक वस्तुएँ बेची थीं। पिछले कई वर्षों में रासायनिक वस्तुओं की बिक्री में औसतन ५ से लेकर ८ प्रतिशत तक की वृद्धि हुई है।

अमेरिका का रसायन उद्योग अपनी आय का ३ प्रतिशत भाग अनुसन्धान-कार्यों पर व्यय कर रहा है। यह राशि प्रतिवर्ष लगभग ८० करोड़ डालर के आस-पास बैठती है। औषधि-निर्माण कार्यों पर तो अनुसन्धान कार्यों पर ६ से लेकर ७ प्रतिशत धनराशि व्यय की जाती है और कई कम्पनियाँ तो इससे भी अधिक धन व्यय करती हैं। लेकिन दस वर्ष पूर्व अनुसन्धान कार्यों पर व्यय की जाने वाली राशि २ प्रतिशत से अधिक नहीं होती थी। अनुसन्धान को रसायन उद्योग द्वारा कितना महत्त्व प्रदान किया जाता है, यह इसी बात से स्पष्ट है कि अन्य किसी उद्योग की तुलना में रसायन उद्योग में गैर-सरकारी कम्पनियों की सहायता से संचालित अनुसंधान कार्य कहीं अधिक है।

अमेरिका का रसायन उद्योग हर वर्ष ४०० से लेकर ५०० तक नई प्रकार की वस्तुएँ तैयार करता है। इनमें पुरानी वस्तुओं के संशोधित और सुधरे हुए रूप तथा नए पदार्थ भी शामिल होते हैं।

नई-नई कृत्रिम रासायनिक प्रक्रियाओं के विकास के कारण ऐसी नई-नई वस्तुओं का विकास सम्भव हो गया है जो वर्तमान वस्तुओं से अधिक उपयोगी सिद्ध हो रही हैं और एक के बजाय नाना प्रकार के उपयोगों के लिए उपयुक्त हैं। यही नहीं, कुछ वस्तुओं का पहले से भी अधिक विशाल परिमाण पर निर्माण करना सम्भव हो गया है। प्लास्टिक, कृत्रिम सूत और कृत्रिम रबड़ इस प्रकार की वस्तुओं के कुछ उत्तम उदाहरण हैं।

यद्यपि प्राकृतिक पदार्थों के स्थान पर प्रयुक्त करने के लिए उनके समानधर्मी कृत्रिम पदार्थों का निर्माण किया जा रहा है, लेकिन इसके साथ ही साथ प्राकृतिक पदार्थों में सुधार करने की भरसक चेष्टा की जा रही है, ताकि प्रतिस्पर्धा में वे अपना स्थान बराबर बनाए रखें। प्राकृतिक पदार्थों के उत्पादन में सुधार करने के लिए रसायन उद्योग ऐसी नई किस्म की रासायनिक खादों और रसायनों का निर्माण कर रहे हैं, जिनसे रोगों और कीटाणुओं से फसलों की रक्षा की जा सके।

प्लास्टिक का संसार

प्लास्टिक के उत्पादन में सबसे विस्मयजनक सफलता पोलीथिलीन नामक प्लास्टिक का निर्माण है। पिछले १० वर्षों से पोलीथिलीन के उत्पादन में हर वर्ष २५ प्रतिशत की वृद्धि होती रही है। पोलीथिलीन का सबसे अधिक उपयोग फिल्मों तथा वस्तुओं को पैक करने वाली सामग्री का निर्माण करने के लिए किया जा रहा है। भवन-निर्माण कार्यों और कृषि-कार्यों में भी इस प्लास्टिक का उपयोग किया जा रहा है।

इसके अतिरिक्त तारों की खोल तैयार करने और पाइप बनाने के लिए भी इसका बड़े पैमाने पर उपयोग हो रहा है। कागज तथा अन्य कई प्रकार की वस्तुओं पर परत चढ़ाने के लिए भी पोलीथिलीन का उपयोग किया जाता है। यही नहीं, विभिन्न प्रकार के साँचों में तरल प्लास्टिक प्रविष्ट कर नाना प्रकार की

जो वस्तुएँ तैयार जी जाती हैं, उनमें भी पोलिथिलीन ही काम में लाई जाती है। घरेलू उपयोग की अनेक वस्तुएँ, खिलौने, बोतलें तथा इसी प्रकार की अन्य पोली प्लास्टिक-वस्तुओं को साँचों की सहायता से तैयार करने के लिए पोलीथिलीन ही प्रयुक्त होती है।

पोलीथिलीन से बहुत कुछ मिलती-जुलती, परन्तु उससे कुछ भिन्न एक और प्लास्टिक तैयार किया गया है, जो पोलीप्रापिलीन के नाम से विख्यात है। यह पेट्रोलियम से प्राप्त पदार्थ से तैयार किया जाता है। यह कई प्रकार से कार्यों में पोलीथिलीन की ही तरह इस्तेमाल किया जा सकता है।

फ्लोरीन मिश्रित अनेक प्रकार की रालें भी कई वर्षों से तैयार की जा रही हैं, लेकिन इधर कुछ वर्षों से कई प्रकार की फेब्रिकेटेड वस्तुएँ तैयार करने के लिए नई विधियाँ खोज निकाली गई हैं।

इस समय फारमल्डीहाइड नामक पदार्थ से तैयार की जाने वाली रालों में बहुत अधिक रुचि दिखाई जा रही है। व्यावसायिक पैमाने पर पहली पोलीफारमल्डीहाइड नामक राल का निर्माण ५ वर्ष पूर्व किया गया था। अब इसका उपयोग लगभग ६०० प्रकार के विभिन्न व्यवसायिक कार्यों में हो रहा है। यह आशा है कि यह कई पुरानी रालों का स्थान ग्रहण कर लेगी और कई उद्योगों में इस्पात, पीतल और डाइयों के स्थान पर प्रयुक्त की जाने लगेगी।

एक और नए पदार्थ का विकास किया गया है, जो पोलीकार्बोनेट के नाम से विख्यात है। बड़े पैमाने पर व्यवसायिक कार्यों के लिए इस का निर्माण केवल पिछले वर्ष से प्रारंभ हुआ है। इस कड़े पदार्थ का उपयोग विशेषतः टेलीफोन के पुर्जे, विद्युत उपकरण, भवन-निर्माण सामग्री तथा इसी प्रकार के अन्य कार्यों के लिए हो रहा है।

गत वर्ष एक और नए पदार्थ का विकास हुआ है, जो पोलायूथेन्स के नाम से विख्यात है। अमेरिका के बाजारों में इसकी मांग बराबर बढ़ती जा रही है। सामग्री तैयार करने में प्रयुक्त होने के साथ-साथ यह और कई प्रकार की वस्तुएँ तैयार करने के लिए भी इस्तेमाल हो रही हैं।

कृत्रिम रबड़

यद्यपि द्वितीय महायुद्ध के बाद से ही कृत्रिम रबड़ की खपत में निरन्तर वृद्धि होती रही है, परन्तु पिछले कुछ वर्षों में अनुसन्धान के फलस्वरूप इसके महत्त्व और उपयोगिता में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है।

बटैल रबड़, जो अधिक ताप सहन करने में समर्थ होने के कारण कई वर्षों तक बड़े पैमाने पर इस्तेमाल नहीं की जा सकती थी, अब इस दोष से मुक्त कर ली गई है तथा मोटर कारों के टायरों और ट्यूबों का निर्माण करने के लिए उसका बड़े पैमाने पर उपयोग किया जा रहा है।

लेकिन कृत्रिम रबड़ों के निर्माण के क्षेत्र में सम्भवतः सबसे बड़ी सफलता प्राकृतिक रबड़ जैसी कृत्रिम रबड़ का निर्माण है। कई वर्षों तक निरन्तर अनुसन्धान करने के उपरान्त, रसायनशास्त्रियों ने कृत्रिम रबड़ का निर्माण करने में सफलता प्राप्त की। और अब इस रबड़ का बड़े व्यापक पैमाने पर उपयोग किया जा रहा है।

कृत्रिम रेशों का निर्माण

गत कई वर्षों से कृत्रिम रेशों की उपयोगिता और उत्पादन में निरन्तर वृद्धि हो रही है। कृत्रिम रेशों की तुलना में प्राकृतिक रेशों की खपत अब भी दूनी है, लेकिन जैसे-जैसे नए-नए प्रकार के कृत्रिम रेशों और नई-नई विधियों का विकास होता जा रहा है, ये कृत्रिम रेशे अधिकाधिक उपयोगी होते जा रहे हैं। इन कृत्रिम रेशों में रेयन तथा सेल्यूलोज की सहायता से निर्मित अन्य कृत्रिम रेशों की ही प्रचुरता है। परन्तु अब कृत्रिम बहुलक (पोलीमर्स) से निर्मित रेशों का उत्पादन भी तेजी से बढ़ता जा रहा है।

नायलोन की गणना इस समय भी एक प्रमुख कृत्रिम रेशे के रूप में हो रही है। इसका निर्माण सेल्यूलोज की सहायता से नहीं होता। इसके अलावा अन्य नाना प्रकार के कृत्रिम रेशों जैसे ओरलोन,

डेक्रोन और पोलीप्रोपलेन का भी निर्माण हो रहा है। इसमें से अनेक अभी प्रारम्भिक विकास की अवस्था में हैं।

कृत्रिम कार्बनिक बहुलकों से बनने वाले रेशे के अलावा, वस्त्रों के निर्माण में प्रयोग में लाने के लिए कांच के रेशे बनाने की दिशा में बहुत कुछ सफलता प्राप्त की जा रही है। कांच जैसे महीन रेशे तैयार करने के लिए अब सन्तोषजनक प्रक्रियाओं का विकास कर लिया गया है, जिनके द्वारा बहुत टिकाऊ तथा आकर्षक वस्त्र बनाने के लिए कांच के रेशे से धागे तैयार किये जा सकते हैं। अनेक कम्पनियों द्वारा धातु के धागे भी तैयार किये जाते हैं।

कृत्रिम रेशे तैयार करने के सम्बन्ध में की गयी आश्चर्यजनक प्रगति को देख कर हमें यह न समझना चाहिये कि कपास के सुधार आदि के विषय में कुछ नहीं हो रहा है, और भविष्य में कपास की कोई पूछ ही नहीं रह जायेगी। सफल अनुसंधानों द्वारा ऐसे रासायनिक तत्वों तथा विधियों का विकास किया गया है, जिनसे कपास के रेशों में बहुत सुधार हो गया है और इसके फलस्वरूप अब पहले से बहुत बढ़िया सूती वस्त्र तैयार होने लगे हैं।

कृषि के लिये रासायनिक द्रव्य

गत दो दशाब्दों में अमेरिकी किसान ने अपने उत्पादन को पहले से भी अधिक बढ़ा लिया है। निश्चय ही इस आश्चर्यजनक प्रगति के लिये सारा श्रेय रासायनिक द्रव्यों को ही नहीं दिया जा सकता, किन्तु निश्चय ही कृषि उत्पादन को बढ़ाने में उन्होंने बड़ा महत्वपूर्ण योग दिया है। अनावश्यक घास-फूस, क्षति पहुँचाने वाले कीटाणुओं, पौधों तथा पशुओं के रोगों और अन्य कारणों से प्रतिवर्ष १२ अरब डालर से १५ अरब डालर तक की जो हानि पहुँचती थी, रासायनिक द्रव्यों के प्रयोग से अब वह हानि नहीं पहुँचती है।

ऐसी क्षतियों का सामना करने के लिए किसानों के बेचने के लिये ८५,००० से अधिक रासायनिक वस्तुएं सरकार से रजिस्टर कराई जा चुकी हैं। आज कृषि कार्यों में जिन रासायनिक द्रव्यों का प्रयोग किया जा रहा है, उनमें से ८० प्रतिशत ऐसी वस्तुओं से तैयार की जाती है, जो २० वर्ष पूर्व वर्तमान रूप में उपलब्ध नहीं थीं।

आधुनिक रासायनिक खादों के उत्पादन तथा प्रयोग के विषय में अनेक महत्वपूर्ण विधियों का विकास हुआ है। रासायनिक खादों में निरन्तर पौष्टिक तत्वों की वृद्धि की जा रही है। तरल रासायनिक खादों का प्रयोग भी निरन्तर बढ़ता जा रहा है। तरल रासायनिक खादों के प्रयोग के फलस्वरूप कृत्रिम नौसादर, अमोनियम नाइट्रेट तथा नाइट्रोजन युक्त अन्य रासायनिक पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि हुई है।

इन नई प्रगतियों से उन महत्वपूर्ण अनुसन्धान परिणामों का पता चलता है, जिनसे थोड़े काल के भीतर ऐसे नये उपयोगी पदार्थों के विकास की आशा की जा सकती है, जिनसे अमेरिकी रासायनिक उद्योग की प्रगति निरन्तर जारी रह सकेगी।

विज्ञान वार्ता

१. उत्तरी ध्रुव में किये गऐ प्रयोग :

यदि उत्तरी ध्रुव प्रदेश की भयंकर सर्दी में किसी व्यक्ति को अचानक आसमान से नीचे छोड़ दिया जाये और उसे अपने जीवन की रक्षा स्वयं करनी पड़े, तो उसका क्या हाल होगा ? अपनी रस्सी के छोर तक पहुँचने के पूर्व उसे किन मानसिक और शारीरिक पीड़ाओं का सामना करना पड़ेगा ? भोजन के बिना वह कब तक अपनी प्राण-रक्षा कर सकता है ?

अमेरिकी वायुसेना के लिये इन प्रश्नों का उत्तर ढूंढ़ने के प्रयास में, पिछले महीने, स्टैनफोर्ड विश्व-विद्यालय के 'स्कूल ऑव् मेडिसिन' के शरीर-विज्ञान विभाग की एक अनुसन्धान-टोली ने अलास्का की एक बर्फीली नदी पर शिविर बना कर वहाँ ५ दिन व्यतीत किया । इस टोली में चिकित्सा-विज्ञान के तीन छात्र भी सम्मिलित थे, जिन पर यह प्रयोग किया गया । उन्होंने उत्तरी ध्रुवप्रदेश में जीवित रहने विषयक स्थितियों का व्यक्तिगत अनुभव प्राप्त किया । उत्तरी ध्रुव प्रदेश के बर्फीले शीत में पृथ्वी पर उतार दिया जाये, तो दो-चार दिनों के बाद ही वह क्रोधी होने लगेगा । उसका स्वभाव इतना अधिक क्रोधी हो सकता है कि वह वृक्षों से घिरा हुआ होने पर भी, ईंधन की लकड़ी के लिए अपने अच्छे से अच्छे मित्र से झगड़ा कर सकता है । उसकी बुद्धि स्थिर नहीं रहेगी । अपने अवकाश के समय का सदुपयोग करने के लिए उत्सुक होने पर भी, वह एक के बाद दूसरे विषय पर सोचता रहेगा । वह निरर्थक और अनावश्यक कार्य करेगा । उदाहरण के लिए, आग की आवश्यकता न होने पर भी वह आग जलायेगा । (उसका वस्त्र इतना अग्नि-निरोधित होगा कि उसमें ताप प्रविष्ट नहीं हो सकेगा ।)

किन्तु, भोजन का विषय सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण है । जिन छः छात्रों पर यह प्रयोग किया गया, उन्हें कभी-कभी ऐसा अनुभव हुआ, मानो उनके पेट में गाठें पड़ गयी हों । फिर भी वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ५ दिन के उपवास से उन्हें किसी प्रकार की वास्तविक हानि नहीं हुई । उनमें से प्रत्येक का वजन औसत रूप से १२ पौण्ड घट गया, किन्तु बाद में उनका वजन फिर बड़ी शीघ्रता से बढ़ गया । उन्होंने यह अनुभव प्राप्त किया कि यदि किसी व्यक्ति में अपनी शक्ति को सुरक्षित रखने की भावना हो, तो वह एक मात्र पिघले बर्फ को पीकर भी जीवित रह सकता है।

यह प्रयोग वायुसेना की 'आर्कटिक एयरोमेडिकल लैबोरेटरी' में चेने नदी पर सम्पन्न हुआ । यह प्रयोग-शाला फेयरबैंक्स के निकट फोर्ट वेनराइट (भूतपूर्व लैंड फील्ड) में स्थित है ।

इस प्रयोग की योजना सहायक प्रोफेसर टेरेंस ए० रोजर्स ने तैयार की । इसका एक उद्देश्य इस बात का निर्धारण करना था कि इस प्रतिकूल वातावरण में 'रहन-सहन की लागत' ठीक-ठीक क्या होगी । इस प्रयोग से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर डा० रोजर्स को आशा है कि वह यह अनुमान लगा सकेंगे कि उत्तरी ध्रुव प्रदेश में निराहार रह कर मानव कितने समय तक जीवित रह सकता है । स्पष्टतः इस प्रकार की जानकारी वायुसेना के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी ।

इस प्रयोग का एक अन्य उद्देश्य शीत लगने और भूखा रहने के बाद जो शुष्कता आती है, उसके विषय में, तथा ऐसे प्रयोगगत मनुष्यों के मानसिक असन्तुलन के विषय में जानकारी प्राप्त करना था। इस योजना के अन्तर्गत प्राप्त वैज्ञानिक आंकड़ों और निष्कर्षों को अन्तिम रूप में प्रकाशित करने में अभी कुछ समय लगेगा किन्तु छात्रों ने इस क्षेत्र में किये जा रहे अनुसन्धान की कठिनाइयों और महत्त्व को समझ लिया है। यही नहीं, उन्होंने मनुष्य के शारीरिक और भावनागत तनावों को सहन करने की क्षमता के विषय में भी बहुत कुछ जानकारी प्राप्त कर ली है। उनमें से दो को तीव्र तुषार-पीड़ा का शिकार होना पड़ा और प्रयोग की कठिन परीक्षा के दो सप्ताह बाद भी उनके पाँव संज्ञाशून्य बने रहे।

२. हृदय का रक्त-प्रवाह प्रदर्शित करने वाले चलचित्र

अब पहली बार डाक्टर एक्स-रे द्वारा हृदय को रक्त पहुँचाने वाली धमनियों के सूक्ष्म संजाल का चलचित्र तैयार करने में समर्थ हुए हैं। ओहायो के क्लीवलैण्ड अस्पताल में हृदय रोग से पीड़ित ६०० रोगियों पर एक नवीन विधि का सफल परीक्षण किया गया है, जिसके अन्तर्गत हृदय में रक्त का संचार करने वाली धमनियों में एक लोचशील नलिका को सीधे प्रविष्ट कर दिया जाता है। इस विधि को उस अस्पताल के डा० एफ० मेसन सोन्स और उनके सहयोगियों ने विकसित किया था।

कई वर्षों से डाक्टर कुछ प्रकार के हृदय रोगों का विश्लेषण करने के लिए हृदय में 'कैथेटर्स' नामक नलिका प्रविष्ट करते रहे हैं। सोन्स प्रणाली के अन्तर्गत एक अत्यन्त पतली 'कैथेटर' नलिका की नोक को स्वयं धमनी में ही प्रविष्ट कर देते हैं। एक्स-रे के पट पर दिखलायी पड़ने वाले विपरीत रंग को कैथेटर द्वारा भीतर पहुँचा दिया जाता है और चलचित्र खींच लिए जाते हैं। इन चित्रों में स्पष्ट रूप से यह दिखलायी पड़ता है कि रक्त प्रवाह के साथ हृदय में यह रंग किस प्रकार संचारित होता है। उसके मार्ग में पड़ने वाली बाधाएँ भी स्पष्ट रूप से दिखलायी पड़ती हैं।

हृदय प्रदेश में धमनियों से होकर प्रवाहित रक्त के चलचित्रों की सहायता से क्लीवलैण्ड अस्पताल के डाक्टर सामान्य रक्त धमनियों की दशा का यथार्थ विश्लेषण करने में समर्थ हैं। इस विधि द्वारा वे कुछ रोगियों को यह विश्वास दिला सकते हैं कि वे बाह्य लक्षणों के बावजूद हृदय रोग से पीड़ित नहीं हैं। अन्य रोगियों के सम्बन्ध में, हृदय की गति अचानक अवरुद्ध हो जाने के बाद रक्त धमनियों के संकुचित और कड़ी हो जाने से हृदय में रक्त-संचार को जो क्षति पहुँचती है, उसका विश्लेषण भी इस विधि द्वारा हो सकता है। इस प्रकार, हृदय में अधिक रक्त का संचार करने के लिए आजकल डाक्टर जिन विधियों का प्रयोग करते हैं, उनमें सुधार करना सम्भव है।

यह भी आशा है कि आगे चल कर इस विधि द्वारा रोग का लक्षण प्रकट होने के पहले ही धमनियों के कारण उत्पन्न हृदय रोगों का पता लगाया जा सकेगा। डा० सोन्स का कहना है कि इस नवीन विधि द्वारा हृदय की प्रधान रक्त धमनी में उत्पन्न १० से २० प्रतिशत रुकावटों का पता लगाना सम्भव है। उनका कहना है कि इस प्रकार की ५० प्रतिशत बाधाएँ उत्पन्न होने पर ही हृदय की गति अवरुद्ध होने का भय उत्पन्न होता है।

हृदय शरीर के प्रत्येक अंग को रक्त पहुँचाता है किन्तु उस रक्त से यह स्वयं लाभान्वित नहीं होता। हृदय की मांसपेशियों के लिए कुछ अन्य रक्त धमनियों से रक्त प्राप्त होता है, जिन्हें 'कोरोनरी आर्टरी' कहते हैं। इनका आकार पेंसिल के बराबर होता है। धमनियाँ हृदय से बाहर भेजे जाने वाले रक्त को ग्रहण करती हैं और उसे टहनियों और शाखाओं वाले वृक्ष जैसे स्वरूप वाले रक्त शिरा संजाल के रास्ते हृदय की मांसपेशियों में प्रवाहित करती हैं। इन रक्त शिराओं के किसी अंश में बाधा उत्पन्न होने पर

'कोरोनरी आर्टरी' रोग उत्पन्न हो जाता है। जब रक्त में चकत्ता पड़ जाने के कारण 'कोरोनरी आर्टरी' के कुछ भाग में अचानक रक्त-प्रवाह रुक जाता है, तब हृदय की गति अवरुद्ध हो जाती है। इस प्रकार रक्त प्रवाह रुक जाने से हृदय की कुछ मांस पेशियाँ सदा के लिए क्षति-ग्रस्त हो सकती हैं।

३. 'धूल वलय' की खोज

अमेरिकी वैज्ञानिकों ने लगभग २०० किलोमीटर की ऊँचाई पर पृथ्वी को चारों ओर से घेर रखने वाले एक कुहांसे जैसे 'धूल वलय' की खोज की है। यह बहुत मोटा नहीं है, किन्तु इसका अस्तित्व सदैव पाया जाता है, और यह गन्धकी धूल के नन्हें कणों द्वारा निर्मित है।

अमेरिकी वायुसेना की 'कैम्ब्रिज रिसर्च लैबोरेट्रीज' (वेडफोर्ड, मैसाचूसेट्स) के भौतिक वैज्ञानिक क्रिश्चियन ई० जंग, चार्ल्स डब्ल्यू० चागनान तथा जेम्स ई० मेंशन ने इस खोज के सम्बन्ध में 'जर्नल सायंस' नामक पत्रिका के १२ अप्रैल के अंक में एक रिपोर्ट प्रकाशित की। स्ट्राटोस्फियर (पृथ्वी के ऊपर लगभग ७ मील की ऊँचाई के ऊपर वायुमण्डल का ऊपरी भाग) में पाये जाने वाले इस 'धूल वलय' की खोज १९६० में अत्यन्त ऊँचाई पर उड़ने वाले गुब्बारों और अत्यन्त ऊँचाई तक जाने वाले अनुसन्धान-विमानों पर भेजे गये विशेष यन्त्रों द्वारा की गयी। यह कार्यक्रम वायुसेना द्वारा स्ट्राटोस्फियर में किये जाने वाले मौसम सम्बन्धी अनुसन्धान के अंग के रूप में कार्यान्वित किया गया। इस प्रकार भेजे गये यन्त्रों को स्ट्राटोस्फियर में वायु-संचरण विषयक आंकड़े एकत्र करने के लिए विशेष रूप से तैयार किया गया था। इस सम्बन्ध में की गयी उड़ानें उत्तर में कनाडा की सीमा तक और दक्षिण में अर्जेण्टाइना तक सम्पन्न हुईं। इनके द्वारा प्राप्त आंकड़ों से धूल वलय के अस्तित्व की पुष्टि हुई। इस 'धूल वलय' को 'एरोसोल पट्टी' कहते हैं। वैज्ञानिकों ने अपनी रिपोर्ट में बताया कि भू-मण्डल को चारों ओर से घेर रखन वाली यह 'एरोसोल पट्टी' ही सम्भवतः सूर्योदय और सूर्यास्त के समय क्षितिज के ऊपर दिखलायी पड़ने वाले बैंगनी रंग का कारण है। यह दृश्य सैकड़ों वर्षों से देखा जा रहा है, किन्तु अभी तक इसके कारण की सही-सही खोज नहीं की जा सकी। वैज्ञानिकों का कहना है कि इस पट्टी का निर्माण करने वाले सूक्ष्म कणों के आकार और स्वरूप से यह निर्दिष्ट है कि वे उल्काओं से उत्पन्न नहीं हैं। इस प्रकार इस खोज ने 'उल्का धूल सिद्धान्त' को असत्य सिद्ध कर दिया है, जिसके अनुसार उल्काओं की वर्षा पृथ्वी की ओर आकर पानी बरसाने वाले बादलों का सृजन कर देती हैं। 'धूल वलय' के मध्य क्षेत्र में मध्यम आकार के कण तथा ऊपरी क्षेत्र में अपेक्षाकृत बड़े और भारी कण पाये जाते हैं। किन्तु इन बड़े कणों की संख्या बहुत कम है। वलय के निचले क्षेत्र में अत्यन्त नन्हें कण हैं। तीनों क्षेत्रों के कणों के आकार एक मिलीमीटर के दस हजारवें भाग से लेकर २२,००० वें भाग तक भिन्न-भिन्न हैं।

४. समुद्र के नीचे खनिज तेल की खानों का पता लगाने वाला यन्त्र

अमेरिका में एक ऐसे यन्त्र का पेटेण्ट कराया गया है, जिसके द्वारा तटवर्ती भागों से लेकर समुद्र के भीतर तक पानी के नीचे छिपे खनिज तेल की खानों का पता लगाना सम्भव हो गया है। यह यन्त्र एक भूकम्पन प्रविधि का उपयोग करता है, जिससे समुद्र के नीचे पृथ्वी की पट्टियों का क्रमबद्ध चित्र खींचा जा सकता है। चित्र खींचते समय यन्त्र से स्वरलहरियाँ निकल कर पानी के ऊपर तैरते जहाज पर पहुँचती रहती हैं। भूमि की प्रत्येक पट्टी से यन्त्र का सम्पर्क होने पर लगातार स्वरलहरियाँ निकलती और जहाज से टकराती रहती हैं। इस पेटेण्ट का स्वत्वाधिकार सोकोनी मोबिल आयल कम्पनी, न्यूयार्क सिटी, को प्रदान किया गया है।

५. घरों के लिए धुआं रहित कोक

जीलगोड़ा (बिहार) की केन्द्रीय ईंधन अनुसंधानशाला ने हाल में ही हलके ताप से कोयले को कार्बनयुक्त करने का जो यंत्र लगाया गया है, उससे घरेलू इस्तेमाल के लिए धुआँ रहित कोक तैयार करने के लिए यंत्र बनाने में बड़ी सहायता मिलेगी। जीलगोड़ा में यह यंत्र १० लाख रु० की लागत से लगाया गया है और इसमें २० से ३० टन तक कोयले को हलके ताप से कार्बनयुक्त किया जा सकता है। यह यन्त्र कोयला धोने के कारखानों के बचे हुए छोटे आकार के और अधिक राख छोड़ने वाले कोयले के लिये विशेष उपयुक्त है। घरेलू कोक के उत्पादन के अलावा इस यंत्र से लोहे की भट्टियों में काम आने वाला कोक या कार्बाइड भी तैयार किया जा सकता है।

इस यंत्र के इस्तेमाल से कोयला खानों के पास कोयला जलाने के लिए जो भट्टे बनाये जाते हैं, उनकी जरूरत नहीं रहेगी। साथ ही इस यंत्र से बढ़िया कोक मिलेगा और कोयला जलाने में कई उपयोगी उपजात भी मिल सकेंगे।

नई विधि से देश में ईंधन की स्थिति सुधारने में बड़ी मदद मिलेगी। अनुमान है कि अगले दस-पन्द्रह वर्षों में शहरों में घरेलू इस्तेमाल के लिए कोक की मांग लगभग ३ करोड़ ५० लाख टन हो जाएगी। केवल पश्चिम बंगाल की ही यह मांग २५ लाख टन और बिहार की ३ लाख ४५ हजार टन है। आजकल देश में खुले भट्टों में केवल १८ लाख टन साफ्ट-कोक ही तैयार किया जाता है। उत्तरी भारत के बहुत से शहरों में एक से डेढ़ हजार टन कोयला फूँकने के नये यंत्र लगाये जा सकते हैं, जिनसे प्रतिदिन ७५० से १००० टन तक धुआँरहित कोक तैयार हो सकता है। साथ ही इस कोयले के फूँकने में ५० से ७५ लाख घनफुट कोयला की गैस भी मिल सकती है, जो उद्योगों के काम आ सकती है। इतना ही नहीं, इस तरह के बहुत से यंत्रों से बचा हुआ कोलतार इकट्ठा करके उससे डीजल ईंधन और बहुत से रसायन बनाये जा सकते हैं।

६. भारतीय जड़ी-बूटियों के बारे में खोज

भारत में कुल ११ हजार जातियों की वनस्पतियाँ मिलती हैं। इनमें से २ हजार पौधे ऐसे हैं, जिनमें कोई न कोई औषधि गुण होता है। आयुर्वेदिक और यूनानी चिकित्सा ग्रंथों में इन पौधों और जड़ी-बूटियों का वर्णन मिलता है। आधुनिक तरीकों से सब जड़ी बूटियों का प्रभाव का पता लगाना कठिन है इसलिए भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्, भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद् तथा वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान परिषद् ने भारतीय जड़ी-बूटियों के बारे में विधिवत् खोज करने का प्रयत्न किया है और उसमें काफी प्रगति भी हुई है। बहुत-सी वनस्पतियों के औषधि गुणों का पता लगाया गया है और उनके बारे में कई प्रकाशन निकाले गये हैं। 'जर्नल आफ साइंटिफिक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च' के अगस्त के परिशिष्ट में जड़ी-बूटियों के अनुसंधान का विस्तृत वर्णन किया गया है। उक्त संस्थाओं के कार्यक्रम के अन्तर्गत आयुर्वेदिक और यूनानी चिकित्सा ग्रंथों में वर्णित १७५ जड़ी-बूटियों पर परीक्षण किये गये हैं। इनमें से कुछ का प्रभाव शरीर-क्रिया पर होता है। यह भी पता लगाया गया है कि कौन-सी बूटी या वनस्पति किस रोग में लाभ करती है।

भारत में असंख्य जातियों की जड़ी-बूटियाँ मिलती हैं और इनके बारे में सतत् अध्ययन और खोज से मूल्यवान जानकारी मिल सकती है।

७. फलों और तरकारियों को डिब्बा बंद करने के काम की प्रगति

आजकल देश में ५० हजार टन फल और तरकारियां डिब्बों में भरकर सुरक्षित की जाती हैं। १९५८ में केवल ३२ हजार टन फल और सब्जियाँ तथा रस आदि ही डिब्बों में भरे गये। तीसरी योजना में १ लाख टन फल और तरकारियाँ डिब्बों में भरने का लक्ष्य रखा गया है।

फलों और सब्जियों को सुरक्षित रखने की सुविधा न होने से लगभग २० प्रतिशत यानी ६०-६५ लाख टन ये चीजें बर्बाद होती हैं। केन्द्र और राज्यों की सरकारें फलों और तरकारियों को डिब्बा बन्द करने के उद्योगों को प्रोत्साहन देती हैं। इस उद्योग को सरकारें, बगीचे लगाने या डिब्बों में भरने के कारखाने स्थापित करने के लिए ऋण देती हैं और चीनी तथा डिब्बा आदि रियायती दाम पर देती हैं। इसके अलावा केन्द्रीय खाद्य शिल्प अनुसंधानशाला (मैसूर), जादवपुर विश्वविद्यालय (कलकत्ता), उत्तर प्रदेश फल उपयोग विभाग और अन्य राज्य सरकारों के फल विभाग इस उद्योग को आवश्यक परामर्श देते हैं। वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान परिषद, केन्द्रीय खाद्य शिल्प अनुसंधानशाला की एक योजना पर काम कर रही है, जिसके अनुसार फलों आदि के बारे में अनुसंधान के लिये क्षेत्रीय केन्द्र खोले जाएँगे। तीसरी पंचवर्षीय योजना में फलों और तरकारियों को डिब्बों में भरने की उन्नति के लिए १ करोड़ २५ लाख रु० रखा गया है। आशा है कि १९६५-६६ तक १ लाख टन तरकारियाँ और फल डिब्बों में भरे जाने लगेंगे। १५००० टन डिब्बा बंद तरकारियों और फलों के निर्यात होने की भी आशा है। यह निर्यात आजकल केवल २॥ हजार टन है।

देश में अनन्नास, आम, नीबू की जातियों के फलों और कई तरह के रसों आदि को डिब्बा बंद करने की बहुत गुँजाइश है। आम की बहुत-सी चीजें तथा अन्य पदार्थ बाहर भी भेजे जा सकते हैं।

८. शरीर से पृथक किये गये हृदय पुनः सक्रिय

वैज्ञानिकों ने बताया है कि जानवरों के शरीर से उनके हृदय को पृथक किया जा सकता है, और फिर भी उनकी मृत्यु के १५ मिनट बाद तक वे ठीक ढंग पर अपना कार्य करते रहेंगे। इस खोज से यह आशा बंध चली है कि एक दिन ऐसा आयेगा, जब डाक्टर हृदय रोग से पीड़ित रोगियों के हृदय को निकाल कर उनके स्थान पर नये हृदय स्थापित कर देने में सफल रहेंगे। न्यूयार्क अस्पताल के कोर्नेल मेडिकल सेण्टर के डा० एम० फ्रेंक रेडो तथा डा० फ्रेंक ग्लेन ने पता लगाया कि सुअरों के हृदय को पृथक करके विशेष घोलों में रख देने पर देखा गया कि वे उसी प्रकार कार्य करने में समर्थ रहे, जिस प्रकार जानवर की जीवितावस्था में कार्य कर रहे थे। उन्होंने बताया कि उनके कार्य करने की गति १५ मिनट के बाद धीमी होने लगी थी।

९. सम्वेदनशील विकिरण-गणक

एक ऐसे सम्वेदनशील विकिरण गणक-यन्त्र का निर्माण किया गया है, जो शरीर भर में उत्पन्न होने वाली प्राकृतिक रेडिय सक्रियता को नाप सकता है। आशा है कि यह गणक यन्त्र मांसपेशी सम्बन्धी पोषक तत्वों के अभाव का पता उस समय लगाने में सहायक होगा, जब रोगी को इस रोग के लक्षणों का पता भी नहीं होगा। यह यन्त्र मांसपेशियों में पोटैशियम-४० की मात्रा का आसानी से पता लगा लेता है। केलिफोर्निया विश्वविद्यालय की आणविक औषधि प्रयोगशाला में वैज्ञानिकों के अनुसार, यदि गणक-यन्त्र द्वारा जाँच करने पर मांसपेशियों में इस तत्व की मात्रा उपयुक्त स्तर से कम होगी तो वह रोग के उत्पन्न होने का सूचक होगा।

१०. अन्तरिक्ष यान के लिए बिजली

अमेरिकी अणुशक्ति आयोग के अध्यक्ष, ग्लेन सीबोर्ग, ने बताया कि १९६४-६५ की अवधि में ऐसे आणविक प्रतिक्रियावाहकों का उड़ान-गत परीक्षण किया जायेगा, जो अन्तरिक्ष यानों के लिए अत्यधिक मात्रा में बिजली प्रदान करने में समर्थ होंगे। इस समय ट्रांजिट-४ नामक भू-उपग्रह में लगे रेडियो को चालू रखने के लिए जो 'आणविक बैटरी' बिजली प्रदान कर रही है, उसकी अपेक्षा उपर्युक्त प्रतिक्रियावाहक १० हजार गुनी अधिक बिजली उत्पन्न कर सकेंगे।

१. कटक में आयोजित विज्ञान परिषद् अनुसंधान गोष्ठी

गत वर्षों की भाँति इस बार भी कटक में होने वाले साइंस कांग्रेस अधिवेशन के अवसर पर विज्ञान परिषद् अनुसन्धान गोष्ठी की आयोजना ३ जनवरी को की गई। इस गोष्ठी के अध्यक्ष श्री कैलास नाथ कौल, निदेशक, राष्ट्रीय वनस्पति उद्यान, लखनऊ थे इस गोष्ठी का सभापतित्व उड़ीसा के भूतपूर्व मुख्यमंत्री डा० हरेकृष्ण महताब ने किया।

श्री कौल ने अध्यक्षपदीय भाषण में भारत के सांस्कृतिक उत्थान में वनस्पति उद्यानों की उपयोगिता पर विस्तार से प्रकाश डाला। डा० हरेकृष्ण महताब ने अपने भाषण में विज्ञान परिषद् के इस प्रयास की सराहना की और यह प्रस्ताव रक्खा कि भविष्य में साइंस कांग्रेस की समस्त कार्यवाही इस परिषद् के द्वारा हिन्दी माध्यम से की जाय।

इस अवसर पर विज्ञान परिषद् की ओर से डा० बी० मुकर्जी, अध्यक्ष साइंस कांग्रेस के भाषण का हिन्दी अनुवाद भी वितरित किया गया। प्रधानमंत्री पं० नेहरू इस प्रयास से बहुत प्रसन्न हुये।

विज्ञान परिषद् अनुसन्धान गोष्ठी में कई शोध निबन्ध भी पढ़े गये और उन पर देर तक विचार विनिमय भी हुआ।

विज्ञान के विभिन्न अंगों में हिन्दी के क्रमिक प्रवेश से अब वैज्ञानिकों को विश्वास होने लगा है कि वह दिन दूर नहीं जब हमारे देश में राष्ट्र भाषा हिन्दी के माध्यम से समस्त प्रकार की वैज्ञानिक शिक्षा-दीक्षा सम्भव हो सकेगी।

२. हरिशरणानन्द विज्ञान पुरस्कार : सन् १९६१ का दो हजार रुपये का हरिशरणानन्द पुरस्कार प्रयाग विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध रसायनवेत्ता डा० सत्य प्रकाश को प्रदत्त हुआ है। यह पुरस्कार उनकी मौलिक वैज्ञानिक कृति, "प्राचीन भारत में रसायन का विकास" पर मिला है। यह कृति हिन्दी समिति उत्तर प्रदेश द्वारा १९६० ई० में प्रकाशित हुई है और इसका मूल्य १४ रुपये है। इसमें लगभग ८५० पृष्ठ हैं इसका मूल्य १४ रुपये है। यह कृति ३९ अध्यायों में विभक्त है। भारत में रसायन शास्त्र के विकास पर विस्तार से विवरण प्रस्तुत करने वाली यह प्रथम पुस्तक है जिसमें प्राचीन ग्रंथों के आधार पर प्रामाणिक सामग्री का संचयन बड़े यत्न से किया गया है।

डा० सत्यप्रकाश जी 'विज्ञान' के सम्पादक रह चुके हैं। हिन्दी के माध्यम से उन्होंने जो वैज्ञानिक साहित्य हिन्दी जगत के समक्ष रखा है, वह अभूतपूर्व है। उनकी विद्वता एवं विज्ञान सेवा के अनुरूप ही यह पुरस्कार है। हम 'विज्ञान' परिवार की ओर से उन्हें बधाई देने का लोभ संवरण नहीं कर सकते।

ग ९४
ख्या ५
फाल्गुन
०१८ वि०
वरी '६२

विज्ञान

ज्ञान
रिषद्
याग
का
ख
त्र

पृष्ठ

ंक ४० न० पै०
क ४ रुपये

सम्पादक—डा० शिवगोपाल मिश्र

विज्ञान

विज्ञान परिषद् प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तै० उ० ।३।५।

भाग ९४ | फाल्गुन २०१८ विक्र०, १८८३ शक | फरवरी १९६२ ई० | संख्या ५

प्राचीन धातु प्राविधिकी और हथियार

डा० रमाशंकर राय

धातुओं तथा धातु की बनी वस्तुओं का उपयोग सभ्यता के विकास में सहायक सिद्ध हुआ। इस चमत्कारपूर्ण अभिनव अनुसंधान द्वारा मानव जीवन में एक नवीन युग का सूत्रपात हुआ। यद्यपि इस समय में बने पत्थर के हथियारों की संख्या कम नहीं है, तथापि अत्यधिक प्रयत्न करने पर भी अभीष्ट आकार के उपकरणों का निर्माण होना नितांत असम्भव था। इस विकास में बाधक थे - पाषाण कालीन अस्त्रों की भंगुरता जन्य निराशा तथा कुशलतम प्रविधिज्ञों का अभाव। पत्थरों की खोज करते समय अकस्मात मनुष्य ने धातुओं को पहचाना। इस गवेषणा की ओर ध्यान आकृष्ट होना स्वाभाविक था। उसकी मेधावी शक्तियाँ यद्यपि इतनी विकसित न थीं कि वह इनकी उपयोगिता को समझता फिर भी इनकी संवर्द्धनशीलता, दृढ़ता और भिन्न-भिन्न आकारों में बदलने की क्षमता ने भंगुरता का भय समाप्त कर दिया। यह वैज्ञानिक गवेषणा विज्ञान की अपरिमेय शक्तियों को विकसित न कर सकी और संयंत्रीकरण न होने के कारण धातुएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध न थीं और साथ ही साथ महँगी भी थी। अतएव पाषाण की बनी वस्तुओं की इतिश्री न हो सकी, और पत्थर के हथियारों का निर्माण कई शताब्दियों तक होता रहा।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि मनुष्य का ध्यान सर्वप्रथम पृथ्वी से धरातल पर पाए जाने वाले प्राकृतिक ताँबे की ओर आकृष्ट हुआ। उच्च ताप पर अग्नि शिखा में गरम करने की विधि ज्ञात न थी, तथापि प्राकृतिक ताँबें का उपयोग होने लगा था। मृदुल होने के कारण शुद्ध ताँबा हथियारों की रचना में उपयोगी सिद्ध न हुआ। हथौड़े से पीटने पर निर्तप्त ताँबा कड़ा हो जाता था। फिर इसे ५००° सेन्टीग्रेड तक गरम करके ठंडा किया जाता था। इस विधि की पुनरावृत्ति द्वारा अनेक प्रकार के हथियार तथा अन्य धातु की वस्तुएँ बनाई जाती थीं। मिश्र के बादरी (Badari) नामक स्थान पर इस प्रकार बनाए गए ताँबे के छोटे-छोटे हथियारों के ढेर मिले हैं। इनको बने हुए साढ़े सात हजार वर्ष बीत गए। इसी के समकालीन कतिपय ढालकर बनाए गए हथियार भी पाए गए हैं। गहरे कटे हुए पाषाण खंडों अथवा पकाकर बनाए गए मिट्टी के साँचों में ढलाई की जाती थी। इस प्रकार बनाए गए अस्त्र चिपटे होते थे। वक्राकार अस्त्रों

को बन्द साँचों में ढाला जाता था। कभी-कभी यह साँचे दो भागों में विभक्त होते थे। शुद्ध ताँबे को बन्द साँचों में ढालकर हथियार बनाना अत्यंत दुष्कर कार्य था क्योंकि शुद्ध ताँबा सरलता से वायु को अधिशोषित कर लेता है और ठंडा होने पर वायु के निस्सरण के कारण अनेक छिद्र बन जाते थे। यही कारण है कि प्रागैतिहासिक काल में ढाल कर बनाए गए शुद्ध ताँबे के हथियारों का अभ.व है। इस समय के बने हथियारों में से केवल सूचिकाएँ तथा परशु ही उपलब्ध हैं। इनकी तुलना पाषाण-कालीन कुल्हाड़ियों तथा परशु से की जा सकती है। पत्थर के हथियारों की अपेक्षा धातु के हथियारों की चौड़.ई तथा मोटाई कम होने लगी। मोड़ देने पर टूट जाने की आशंका प्रायः समाप्त हो गई और तीव्र-धार वाले अस्त्रों का निर्माण सफलतापूर्वक होने लगा। इस प्रकार सर्वप्रथम बनाए गए हथियारों का प्रयोग काटने के लिए किया गया। लेकिन इन अस्त्रों में मूठ लगाने के छिद्र न बने थे। कालान्तर में उक्त अस्त्रों के एक ओर बड़ा छेद किया गया, जिसमें लकड़ी का टुकड़ा लगा कर वर्तमान कुल्हाड़ियों का रूप दिया गया। इस प्रकार की आकृति वाले हथियार सुमेर सभ्यताकाल में बनने लगे और उत्तरी यूरोप में इनका प्रसार आज से लगभग चार हजार वर्ष पूर्व हुआ। ताम्रकाल के प्रारम्भ से ही काटने के लिए रुखानियों का उपयोग होने लगा था। इस प्रकार के हथियारों के चिन्ह मिश्र में राज्यवंशों के समय से भी पूर्व पाए गए हैं किन्तु इनमें मूठ नहीं लगी है और यह आकार में भी छोटे हैं। यद्यपि इस प्रकार के हथियारों का निर्माण लगभग तीन सहस्राब्द ई० पू० में होने लगा था, तथापि यह उपयोगी सिद्ध न हुए, क्योंकि पत्थरों के काटने की क्षमता इसमें न थी। त.म्रकाल में दाँतवाले आरे भी बनने लगे थे।

ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि ताँबे के हथियारों का निर्माण मिश्र, सुमेर तथा सिन्ध घाटी की सभ्यताओं में होता था, किन्तु इनकी आकृति तथा रचना-विधि एक दूसरे से भिन्न हैं। मिश्र में ताँबे की कटारें ढाल कर बनाई जाती थीं। यह आकार में चपटी तथा त्रिभुजाकार होती थीं। इस प्रकार की कटारें कुठारों से मिलती-जुलती हैं। इनके किनारों को सुदृढ़ा बनाने के लिए इसे टेढ़ा कर देते थे। कालान्तर में इन वक्राकार कटारों का मध्य भाग मोटा होने लगा और इस क.रण इनकी धार पहले से अधिक तीव्र हो गई। इस प्रकार बनी कटारों का प्रचलन मिश्र के तृतीय राजवंश काल में हुआ। लगभग इसी समय धातु की कुल्हाड़ियाँ भी बनने लगीं। इनकी आकृति गोल होती थी और इनके पीछे बेलनाकार हत्था लगा रहता था। इसमें बड़ा छेद होता था। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि दस प्रक.र की कुल्हाड़ियाँ शुद्ध ताँबे को ढाल कर बनाई गई। यह कार्य अत्यंत कठिन था। साथ ही साथ इसमें ध तु का उचित वितरण होता था। इस प्रकार की कुल्हाड़ियाँ युद्ध के लिए प्रयुक्त होती थीं। इनका पिछला भाग भारी होने के कारण यह हथौड़े का भी काम देती थीं। बड़ी बड़ी मूठ वाली कटारों ने बर्छो को जन्म दिया। ताँबे के बने बर्छे एक बड़े डंडे में लगाए जाते थे। कभी कभी सुदृढ़ता तथा रक्षा के लिए इनमें ताँबे की टोपियाँ भी लगा दी जाती थीं। मिनोअन काल के बर्छों के पीछे ताँबे को मोड़ कर एक बड़ा छेद कर दिया जाता था और इसी में एक बड़ा डंडा लगा दिया जाता था।

ताम्रकाल के उपरान्त कांस्य की बनी वस्तुओं का प्रचलन होने लगा। तांबे की अपेक्षा कांस्य को अधिक सरलता से ढाला जा सकता था। यह भौतिक गुणों में तांबे से उत्तम है। प्रागैतिहासिक कांस्य से हमारा अभिप्राय उन तांबे तथा टिन के यौगिकों से है, जिनमें टिन की मात्रा ५ से १५ प्रतिशत मिलती है। धीरे-धीरे जब कांस्य की धातुकला विशेष रूप से विकसित हो गई तब कारीगरों ने १० प्रतिशत

टिन मिलाना प्रारम्भ किया। तांबे के विपरीत कांस्य को पीटने पर इसका कड़ापन बढ़ जाता था तथा ढालने में सरलता होती थी। कांस्य की धातुकला के विकास के साथ-साथ हथियारों की संख्या तथा प्रकारों में भी वृद्धि हुई। वर्तमानकालीन अनेक हथियारों का उद्गम इन कांस्यकालीन हथियारों में मिलता है। मनुष्य का प्राचीनतम हथियार हथौड़ा है। इसके चिह्न पाषाण काल में पाए गए हैं किन्तु धातु के बने हथौड़ों के चिह्न यूरोप में १५०० ई० पू० के लगभग मिले हैं और आकृति भी लगभग वर्तमान हथौड़ों सी ही है। आस्ट्रिया के मिटरबर्ग स्थान पर एक हथौड़ा मिला है, जिसमें बीचोबीच छेद है। हथौड़े के अतिरिक्त धातु शिल्पी को अन्य हथियारों की आवश्यकता पड़ती है। इनमें निहाई अत्यावश्यक है। कांस्यकाल के प्रारम्भ में अधिकतर पाषाण-निर्मित निहाइयों से कार्य लिया जाता था। कांस्य के प्रचुर मात्रा में उत्पादन होने के साथ ही पत्थर के स्थान पर कांस्य की छोटी-छोटी निहाइयाँ बनने लगीं। उत्तरी फ्रांस के फ्रेसने लामेर नामक स्थान पर कांस्य की एक प्राचीन निहाई मिली है। इसमें अनेक छिद्र हैं। इन छिद्रों की सहायता से सूचिकाएँ तथा तार बनाए गए। निहाई तथा हथौड़े के अतिरिक्त मूषा तथा साँचों की आवश्यकता होती हैं। कांस्यकालीन प्रारम्भिक मूषाएँ मिट्टी की बनी होती थीं। इन मृण्मूषाओं में कांस्य गलाया जाता था। मिश्र में राज्यवंश काल के पूर्व की छिछली तथा गहरी बेलनाकार मिट्टी की बनी दो प्रकार की मूषाएँ पाई गई हैं। कांस्य की वस्तुएँ खुले तथा बन्द दोनों प्रकार की साँचों में ढाली जाती थीं। बन्द साँचे दो भागों में विभक्त होते थे। कभी-कभी इनके अन्दर पकाए गए मिट्टी के साँचे रख दिए जाते थे। कांस्य के बने साँचे यूरोप, अनातोलिया तथा मेसोपोटामिया में पाए गए हैं। ऐसे साँचे बड़े मूल्यवान समझे जाते थे और बड़ी कठिनाई से बनते थे। इस प्रकार के साँचों की उपयोगिता इसलिए बढ़ गई कि अच्छे आकार के अनेक हथियार एक ही साँचे से बनने लगे।

कांस्य के चपटे कुठार खुले साँचे में ताम्रकालीन विधि से बनने लगे। कांस्य काल के प्रारम्भ में बने यह हथियार प्रायः चिपटे होते थे। इनके किनारे प्रायः समानान्तर होते थे। साधारण ताप पर ठंडी धातु को हथौड़ों से पीटने पर इसके किनारे अधिक नहीं बढ़ते थे। कालान्तर में इनके कुन्दे पतले तथा फल चौड़े बनने लगे। किनारों को दृढ़ तथा सुन्दर बनाने के लिए धारदार किनारों के दोनों ओर गोल अथवा उभड़े हुए किनारे बनाए गए। इस प्रकार के कोर (उत्तट) काफी बड़े आकार से बनने लगे। ढलाई में निपुणता प्राप्त कर लेने पर गहरे कोर अथवा पक्ष ढालने के उपरान्त ही टेड़े किए जा सकते थे। धीरे-धीरे इस प्रकार के कुठार में एक छल्ला भी ढाला जाने लगा, जिसके द्वारा इसे अच्छी तरह से पकड़ा जा सकता था। उत्तर-कांस्य-काल में कुल्हाड़ियाँ भी बनने लगीं। इसके किनारों पर पकड़ने की मूठ डालने के लिए गोल या अंडाकार छेद किए गए, किन्तु आगे चलकर इस प्रकार के छेदों का आकार वर्गाकार या आयताकार होने लगा। इस प्रकार की कांस्य की बनी २००० ई० पू० की एक कुल्हाड़ी सीरिया में पाई गई है। इस प्रकार की कुल्हाड़ियाँ इसलिए अधिक उपयोगी सिद्ध हुईं कि काटते सयम दाएँ, बाँएँ तथा सामने से निकल कर गिर जाने का भय कम हो गया। वर्तमानकालीन कुल्हाड़ियाँ उन हथियारों के विकसित रूप हैं, जो ५००० वर्ष पूर्व बने थे और इनकी रचना सर्वप्रथम सुमेर काल में हुई और फिर यह कला एजिएन सागर के तटवर्ती देशों में फैली, इनमें न तो मुड़े हुए छल्ले लगे थे और न तो मूठ लगाने के गढ़े बल्कि इनमें आर-पार छेद था।

काष्ठ वस्तुओं को बनाने में रुखानियों का प्रयोग कांस्यकाल में बहुतायत से होता था। इस समय अनेक आकार वाली कांस्य की रुखानियों का

निर्माण हुआ। ये हथियार केवल लकड़ी पर कार्य करने के लिए उपयुक्त थे। पत्थर तथा ताँबे को काटने की क्षमता इसके कड़ापन पर निर्भर थी। वर्तमान तथा प्रचीन कालीन रुखानियों में केवल धातु की विभिन्नता है। इनका प्रचलन यूरुप में बहुत बाद को हुआ। मिश्र में लगभग ३००० ई० पू० में छेद करने के लिए बर्मों का उपयोग किया गया। किन्तु इस हथियार का प्राचीनतम चिह्न हड़प्पा में पाया गया है। यहाँ पर धातु के बने नलियों के आकार के बर्मे पाए गए हैं। रुखानियों तथा बर्मों के अतिरिक्त कांस्यकाल में काष्ठ शिल्प के लिए आरों का प्रचलन अधिक संख्या में हो गया था। मिश्र के इन प्राचीन कालीन हथियारों तथा वर्तमान काल के हथियारों में कोई अन्तर नहीं है। बारहवें राज्य वंश के समय में इन हथियारों को पकड़ने के लिए पिस्टनदार हत्था भी बनने लगा था। इसकी लम्बाई साधारणतया सामान्य ही थी। इसकी अपेक्षा क्रीट में मिनोअन काल के बने पाँच फीट लम्बे आरे भी पाए गए हैं। आरे के दाँतों को तीक्ष्ण करने के लिए रेतियों का आविष्कार भी मिश्र में हुआ। मिश्र में उपलब्ध रेतियों में टिन की मात्रा १८ से ३१ प्रतिशत है। मध्य यूरोप में इनका समावेश कांस्य काल के प्रारम्भ होने के समय न होकर बहुत विलम्ब से हुआ।

त्रिकोण के आकार वाली प्राचीन कटारों का स्थान पतली तथा लम्बी कटारों ने ले लिया। इनका मध्यवर्ती भाग स्थूल हो जाने के कारण इनकी उपादेयता और भी बढ़ गई। मेसोपोटामिया के उर नामक स्थान पर पाई गई कटारों में पतली मूठ लगी रहती थी। यूरोप में पाई जाने वाली कांस्य कालीन कटारों के पिछले भाग में लकड़ी की मूठें लगी रहती थीं। भिन्न भिन्न आकार की तलवारों का निर्माण कांस्य काल के प्रारम्भ होने पर ही सम्भव हो सका। सर्वप्रथम त्रिभुजाकार पैनी तथा ढले मूठ वाली तलवारों का निर्माण हुआ। कालांतर में इन तलवारों की लम्बाई में भी वृद्धि हुई। अच्छी तलवारें बनाने के लिए उपयुक्त कांस्य में टिन की मात्रा दस प्रतिशत से कम नहीं होती थी। तलवारों को ढालते समय अधिक सावधानी रखी जाती थी, जिससे हथियार साँचे में से सरलता पूर्वक निकल सके और अधिक सुदृढ़ हो। यह साँचे या तो लकड़ी के बनते थे अथवा मिट्टी पकाकर बनाए जाते थे। इसके उपरान्त इन तलवारों को पीटकर कड़ा कर दिया जाता था।

कांस्य का स्थान धीरे-धीरे लोहे ने लेना प्रारम्भ किया। पूर्वी भूमध्यसागर के प्रदेशों में कतिपय उत्खनन से प्राप्त लोहे के मनकों के निरीक्षण से पता चला है कि इस लोहे का उद्‌गम उल्काएँ हैं। यह धारणा इस तथ्य पर आधारित है कि इनमें निकेल की मात्रा अधिक है। पहले लोहे को पीटकर जो हथियार बनाए वह व्यांगारित लोहे के बनते थे। यह लोहा संधानित तथा पीटकर हथियार बनाने के काम आता था, किन्तु इतना कड़ा न था कि इससे काटने के हथियार अथवा तलवारें बन सकें। हथियारों का निर्माण हो जाने के उपरान्त उनको सुदृढ बनाने के लिए लोहे को लकड़ी के कोयले के साथ गरम किया जाता था। इस क्रिया द्वारा लकड़ी के कोयले का लोहे पर अवशोषण होने के कारण हथियार का ऊपरी तल इस्पात में परिवर्तित हो जाता था। इसके अतिरिक्त गरम लोहे को एकदम ठंढा कर देने के उपरान्त उसे फिर से गरम किया जाता था और धीरे-धीरे ठंढा किया जाता था। इस प्रकार लोहे का कड़ापन विशेषतया बढ़ जाता था। प्रारम्भ में लोहे के अयस्कों से अनभिज्ञ होने के कारण इसका उत्पादन अधिक मात्रा में न हो सका। अतएव धातु के भाव तथा मँहगाई के कारण प्रारम्भ में लोहे का उपयोग प्रसाधन तथा जादू की वस्तुएँ बनाने में होता था। क्रमशः यह धातु पहले से अधिक मात्रा में उपलब्ध होती गई, फलस्वरूप कांस्य के हथियारों का कतिपय भाग लोहे का बनने लगा। उदाहरण के लिए एक कटार का फल लोहे का तथा

मूठ कांस्य की बनी हुई पाई गई है। कांस्यकालीन तलवारों की कार्यक्षमता कांस्य के फाल पर आधारित थी, किन्तु लोहे का उपयोग होने पर उसकी उपादेयता बाहुबल पर आधारित होने लगी। आस्ट्रिया के हैलस्टैट नामक नगर की कब्रों से अनेक तलवारें मिली हैं, जो लौह युग के प्रारम्भ की बनी हुई हैं और इनके पर्यवेक्षण द्वारा तलवारों के क्रमिक विकास का बोध होता है। धीरे धीरे कांस्य की बनी मूठें समाप्त हो गईं और सम्पूर्ण भाग लोहे का बनने लगा। मूठों की बनावट तथा सजावट का विकास यूरोप की ला तेन (La Tene) सभ्यता काल में हुआ। लौहकाल के प्रारम्भ की एक तलवार तुतखमेन के मकबरे में पाई गई है, जिसका समय १३५० ई० पू० निर्धारित किया गया है। यह तलवार राकक्रिस्टल तथा सोने की मूठ से सजाई गई है। प्राचीन संसार में युद्ध करने वाली कुल्हाड़ियाँ साधारणतया उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु सीरिया के रास सामरा नामक स्थान पर एक लोहे की कुल्हाड़ी मिली है, जिसका समय १३०० ई० पू० निश्चित किया गया है। इसके फाल में निकेल की प्रचुर मात्रा पाई गई है। इसके अतिरिक्त इसके छिद्र में ताँबा तथा सोने का मिश्रण भी मिला है। धीरे धीरे इन हथियारों के साथ-साथ लोहे के कब्जे लगे चिमटे, आरियाँ, कील बनाने तथा तार खीचने की निहाइयाँ भी बनने लगीं। धीरे धीरे Carburisation क्रिया का ज्ञान होने पर वर्तमान लौह हथियारों की रचना प्रारम्भ हुई, और लगभग एक सहस्राब्द ई० पू० में कांस्य की कुल्हाड़ियों तथा कटारों का स्थान भारी तथा चौड़ी धार वाले लौह उपकरणों ने ले लिया। मिश्र के थीबेस (Thebes) नामक स्थान पर S के आकार की लोहे की बर्मी मिली है, जिसका रूप वर्तमान बर्मी से मिलता है और यह घुमाने पर दोनों किनारों से काटती है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि लकड़ी काटने वाली आरियों की रचना भी लौह काल में प्रारम्भ हुई, किन्तु इन आरियों के दाँत एक ही दिशा में थे।

मृत्तिका खनिज (१)

रमेशचन्द्र तिवारी

मृत्तिका खनिज भूमि का वह महत्त्वपूर्ण अंश है, जिस पर भूमि का विकास तथा पौधों की सामान्य वृद्धि के माध्यम के रूप में, मिट्टी को क्रियाशील बनाने वाली असंख्य भौतिक और रसायनिक प्रतिक्रियायें निर्भर हैं। जल, पौधों के अवशेष, भूमि सुधारकों, जीवाणुओं द्वारा विसर्जित पदार्थों अथवा कार्बनिक पदार्थों के विघटन और शैल अपक्षरण के फलस्वरूप निर्मुक्त विलेय तत्वों के सम्पर्क में आने पर मृत्तिका के सक्रिय खनिज का परिवर्तन होता रहता है। इन खनिजों से जब कुछ खाद्य तत्व तथा जल पृथक कर लिया जाता है तो इनके रूप रंग और गुण में भी परिवर्तन आ जाता है।

परिभाषा :—सामान्यतः मृत्तिका खनिज का आशय मिट्टी के उन मटियाले सूक्ष्म कणों से है जो एक निश्चित जल की मात्रा के साथ सुघट्यता प्रदान करते हैं। परन्तु उपरोक्त परिभाषा कुछ मृत्तिका खनिजों के लिए खरी नहीं उतरती, जैसे "चकमक मृत्तिका"। यह पानी के साथ सुघट्यता नहीं देती अतः यह शब्द hydrothermal क्रिया से निर्मित

अथवा तलछटी के रूप में निक्षिप्त अपक्षरण फलों के लिये भी प्रयुक्त होता है।

कुछ मृत्तिका विशेषज्ञों ने मृत्तिका खनिज को कणों के आकार के अनुसार इस प्रकार परिभाषित किया है:—"मृत्तिका खनिज" उन छोटे से छोटे कणों का संगठन है जिनके आकार की अधिकतम सीमा दो माइक्रॉन (१ माइक्रॉन=१/१००० मिमी०) हों।

मृत्तिकाखनिजी अध्ययन—ऐतिहासिक विकास

लगभग एक शताब्दी पूर्व **थामसन** तथा **वे** (१८५०) ने मृत्तिका खनिजों के द्वारा, लवणों के जलीय विलयनों से धनायनों के शोषण का अध्ययन किया। थामसन ने **हक्ससारिणी** की सहायता से यह बताया कि NH_4^+ आयन मृत्तिका द्वारा शोषित हो जाते हैं। **वे** ने इस कथन की पुष्टि करते हुये यह घोषित किया कि Na^+ और K^+ आयन भी इसी प्रकार मृत्तिका द्वारा शोषित किये जाते हैं जिसके फलस्वरूप Ca^{++} आयन मुक्त होते हैं और सोडियम तथा पोटैसियम विलयन में बचे लवणों के ऋणायनों से संयोग कर तत्सम्बन्धी कैलसियम लवणों का निर्माण कर देते हैं जो विलयन के रूप में आ जाते हैं। **वे** ने यह भी बताया कि अग्नि द्वारा जलाई गई मृत्तिका में ऐसी कोई क्रिया नहीं होती।

सूक्ष्मातिसूक्ष्म कणों का मिश्रण होने के कारण पूर्वकाल में मृत्तिका के प्रायोगिक विधियों से उसके अवयवों का अध्ययन असंभव था। चीनी मृत्तिका जैसे शुद्ध रूपों में प्राप्त कुछ खनिजों से तुलना करके मृत्तिका का न्यूनाधिक अध्ययन किया जाता था। कुछ काल पश्चात् उच्च धनायन-विनियम क्षमता वाली केओलिनाइट तथा जीवोलाइट (zeolite) मृत्तिका की खोज की गई।

जब यह ज्ञात हो गया कि मृत्तिकाओं में धनायन विनिमय क्षमता होती है तभी से उनको जीवोलाइट (zeolite) का संगठन कहा जाने लगा। **मैटसन** ने १९३० में मृत्तिका को जलीय सेस्क्वी-आक्साइड एवं सिलिसिक अम्ल का अमणिभीय अवक्षेप बताया।

मृत्तिका खनिजों की वास्तविक प्रकृति का ज्ञान १९३० ई० में **पॉलिंग** के एक्सरे विवर्तन विधि से अभ्रक के अध्ययन के फलस्वरूप हुआ। इस विधि द्वारा, खनिजों के सूक्ष्म-विभव मिश्रणों की सहायता से चूर्ण खनिजों के विभिन्न समूहों का अध्ययन किया गया। **हेंड्रिक्स** तथा **फ्राई** (१९३०) और **केली** (१९३१) ने इस विधि का प्रयोग करके यह प्रदर्शित किया कि मृत्तिका कलिल, पूर्व धारणा की भांति अमणिभीय न होकर मणिभीय पदार्थों का मिश्रण है। **ग्रूनर** (१९३२) तथा **हॉफमैन** (१९३३) ने इसी विधि से क्रमश: केओलिनाइट और मान्ट-मॉरिलोनाइट मृत्तिकाओं की मणिभीय संरचना का विस्तृत अध्ययन किया। तत्पश्चात् अन्वेषकों के द्वारा एक्सरे विवर्तन, रासायनिक, प्रकाशीय तथा अवकलन, तापज, आर्द्रीकरण विधियों की सहायता से यह ज्ञात हुआ कि मॉन्टमॉरिलोनाइट तथा इससे मिलते-जुलते अन्य खनिज और केओलिनाइट सामान्यतया संसार के शीतोष्ण क्षेत्रों की मिट्टियों में पाये जाते हैं। बहुत से अन्वेषकों ने अभ्रक जैसे मृत्तिका खनिजों का ज्ञान प्राप्त किया तथा इसको जलीय अभ्रक (hydrous mica) के नाम से पुकारा। **मेगडेफ्रौ** तथा **हॉफमैन** ने १९२७ में इसे सेक्रिसाइट प्रकार का मृत्तिका खनिज तथा **ग्रिम** ने (१९३५) इसे पोटास युक्त मृत्तिका खनिज बताया। ग्रिम ने इस खनिज की मणिभीय संरचना के पश्चात् इसका नाम **इलाइट** रक्खा जबकि अब भी तमाम मृत्तिका खनिज विशेषज्ञ इसे जलीय अभ्रक ही कहते हैं।

ग्रूनर (१९३४), **ब्रे** (१९३७) **हेंनाड्रिक्स** और **जेकरसन** (१९३८) **हेनड्रिक्स** और **ऐलिक-जैन्डर** (१९३९) तथा **ग्रिम** (१९५२) इत्यादि ने

अपने अन्वेषणों से यह निकाला की विभिन्न खनिजों का C–अक्षिपर स्थित तमाम मिश्रित मणिभों की पर्तों में होना संभव है। **जेफ्रीस** तथा **येरिक ने** (१९४८) क्लोराइड को अन्तः परतों के रूप में संरचित मृत्तिका खनिजों की श्रेणी में रक्खा तथा **रोलैन्ड, मार्शल** तथा **बर्गमैन** एवं ब्रेडली (१९४२) ने मान्टमॉरिलोनाइट तथा इलाइट को भी अन्तः परतों में संरचित मृत्तिका खनिजों की श्रेणी में वर्गीकृत किया।

मृत्तिका खनिजों का वर्गीकरण तथा नामकरण :

विभिन्न मृत्तिका खनिजों की संरचना एवं संगठन सम्बन्धी नवीनतम खोजों से प्राप्त आंकड़ों के अनुसार उनका वर्गीकरण किया गया है :

वर्गीकरण

(१) **अमणिभीय**

(क) ऐलोफेन समूह

(२) **मणिभीय**

(क) **दो परत वाले** एक (सिलिका टेट्राहेड्रान परत तथा एक एल्यूमिना अष्टपरत की इकाइयों से संगठित चादर की तरह संरचना)

(अ) **समविमितीय** (केओलीनाइट तथा नैक्राइट समूह)

(आ) **लम्बमान** (हेलोइसाइट समूह)

(ख) **तीन परत वाले** (दो सिलिका टेट्राहेड्रान तथा एक एल्युमिना अष्टपरत की इकाइयों से संगठित चादर की तरह की संरचना)

(अ) **प्रसरित जाल**

समविमितीय (मान्टमॉरिलोनाइट, सौकोनाइट तथा वर्मीकुलाइट समूह)

लम्बमान (नांट्रोनाइट, सेपोनाइट, हेक्टोराइट समूह)

(आ) **अप्रसरित** (इलाइट समूह)

(ग) **नियमित मिश्रित परत वाले :** (उपरोक्त विभिन्न समूहों की तमाम परतों की इकाइयाँ) क्लोराइट समूह

(घ) **शृंखला संरचना वाले :—**(सिलिका चतुष्फलकीय हार्नब्लैंड की सी शृंखला का एल्यूमिनियम तथा मैगनीसियम परमाणु धारित आक्सिजन एवं हाइड्राक्सिल समूह के अष्टफलकीय से संयोगित संगठन) एतापलगाइट, सेपियोलाइट, पैलीगारिकाइट।

नामकरण

"एलोफेन' नाम सर्वप्रथम **स्ट्रोनर** और **हॉसमैन** के द्वारा १८१६ में रक्खा गया था। यह नाम ग्रीक शब्दों से, जिनके अर्थ "दृष्टिगोचर होना" एवं 'अन्य' हैं, बना है। **रॉस** और **केर** के अनुसार यह मणिभीय तथा अमणिभीय दोनों रूपों में पाया जाता है। **रॉस** और **केर** ने केओलीनाइट को चीन की विख्यात पहाड़ी **कौलिंग** (Kauling) के पास पाया और उसी के आधार पर इसका नामकरण किया।

एनाक्साइट नाम ब्रीथौट के द्वारा १८३८ में रक्खा गया। यह खनिज सर्वप्रथम जेकोस्लोवाकिया के **बिलिन** नामक स्थान से प्राप्त हुआ। यह गुण में केओलिन से मिलता है परन्तु अन्तर यही है कि इसका सिलिका-एल्यूमिना अनुपात अधिक तथा यह द्विसिलिका का अन्तर्पर्तीय मिश्रण है। हेलोइसाइट नाम बर्थिर के द्वारा १८२६ में दिया गया था। यह खनिज **बेलजियम** के पुराने जस्ते और लोहे की खान के जिले के पास लेग में मिला था। यह नाम उस समय के एक मृत्तिका विशेषज्ञ **ओमेलियस हेलाई** के नाम पर रक्खा गया था। १९३४ में **रॉस तथा केर** ने हेलोइसाइट के दो रूप बताये।

(१) यह सफेद, अथवा हल्का रंगीन सरन्ध्र तथा गठन में रूई जैसा होता है तथा (२) घना, रन्ध्रों में कम तथा चीनी मिट्टी की भांति होता है।

डामर तथा **साल्वेतात** ने १८४७ में **मान्टमॉरिलोनाइट** खनिज का नाम फ्रांस के मान्टमॉरिलान नामक स्थान से प्राप्त एक खनिज के आधार पर रक्खा। यह खनिज जलीय एल्यूमिनियम सिलिकेट है जिसका SiO_2/R_2O_3 $(F_2O_3+Al_2O_3)$ अनुपात लगभग ४ है तथा इसमें क्षार की कुछ मात्रा विद्यमान है। **लचैलियर** ने इसका अध्ययन किया तथा इसका सूत्र $4SiO_2Al_2O_3 \cdot H_2O$ दिया। **रास** और उनके सहयोगियों ने (१९२६-१९४५) यह घोषित किया कि मैगनीसियम और लोहा के द्वारा एल्यूमिनियम पूर्ण रूप से हटाया जा सकता है। **सेपोनाइट** खनिज का नाम १८४० में स्वानवर्ग द्वारा प्रकाशित किया गया। इसका मतलब सेपो=सोप=साबुन से है, तथा यह जलीय मैगनीसियम सिलिकेट है। यह मानमॉरिलोनाइट से मिलता-जुलता है, किन्तु इसमें एल्यूमिनियम के स्थान पर Mg अधिक पाया जाता है।

वर्मीकुलाइट नाम लैटिन शब्द **वर्मीकुलेर** (Vermiculair) जिसका अर्थ "कीट वृद्धि करना" से है के अनुसार रक्खा गया। यह नाम १८२४ में सर्वप्रथम मिलवरी के द्वारा दिया गया। यह संगठन में मान्टमॉरिलोनाइट से मिलता है, अन्तर यही है कि वर्मीकुलेर के कण बड़े होते हैं, तथा इसमें एल्यूमिनियम की अपेक्षा MgO तथा Fe आदि पाया जाता है। **इलाइट** शब्द सर्वप्रथम **ग्रिम**, ब्रे तथा ब्रेडली के द्वारा (१९३७) प्रस्तावित किया गया जो **इलिन्वाय** में पाये जाने वाले इसी प्रकार के एक खनिज से सम्बन्धित है। इन्होंने इसका सामान्य सूत्र $(OH)_4 Ky(SiO_3-yAly)$ $(Al_4 Fe_4 Mg_4 Mg_6)O_2$ के रूप में दिया जिसको एक स्वर से स्वीकृति प्राप्त है। इलाइट में $y<2$ जब कि मस्कोवाइट में $y>2$ होता है।

लगभग १८०० में वर्नर ने सर्वप्रथम **क्लोराइट** शब्द का प्रयोग किया। यह मुख्यरूप से जलीय सिलिकेट का मिश्रण है जिसमें लोहा, Fe^{++}, भी पाया जाता है तथा यह अभ्रक के समान होता है। संरचना के अनुसार क्लोराइट खनिज **ब्रायोनाइट** अभ्रक तथा **ब्रूसाइट** परतों का **अन्तःस्तरीकरण** है। यह तमाम मृतिका खनिजों का मुख्य अंश है। **पालीगोक्साइट** नाम का प्रयोग सर्वप्रथम **फरमैन** के द्वारा किया गया। यह सूत्रवत् जलीय सिलिकामय खनिज समूह का एक सदस्य है जो एल्यूमिनियम युक्त खनिज **पैरामान्टमॉरिलोनाइट** तथा मैगनीसियम युत खनिज सेपियोलाइट के निर्माण में सहायक होता है। १९३५ में **डी लेप्परेन्ट** ने **एट्टापल्गाइट** शब्द का प्रयोग **एट्टापुल्गस, जार्जिया, क्विन्की, फ्लोरिडा,** तथा फ्रांस से प्राप्त एक खनिज के लिए किया। **ब्रैडली** ने इसका एक पूर्ण सूत्र $(OH_2)_4(OH)_2Mg_5Si_8C_{20}$ दिया, जिसमें कभी-कभी एल्यूमिनियम के द्वारा मैगनीसियम, पूर्ण रूप से स्थानान्तरित होता है।

सेपियोलाइट, एट्टापल्गाइट तथा पालीगार्कसाइट, खनिज अम्ल में घुलनशील हैं तथा चूना युक्त मिट्टियों में पाये जाते हैं। टर्मेर ने १८९० में **लेवेरियराइट** शब्द का प्रयोग फ्रांस में पाये जाने वाले एक काले चूने से युक्त पदार्थ के लिये किया। यह नाम खानों के विख्यात अभियन्ता **लीवेरियर** की स्मृति में रक्खा गया। **बीडलाइट** शब्द का प्रयोग १९२५ में **लार्शन** तथा **व्हैरी** के द्वारा **कोलेरेडो** के **बीडेल** खान में पाये गये एक खनिज के लिये किया गया। **मानोथर्माइट** शब्द १९३८ में **बेलियांकिन** के द्वारा रूस के **कारसोयार** नामक स्थान से प्राप्त एक खनिज के लिए दिया गया था। इसका संगठन $2RO\ Al_2O_3\ 2SiO_2\ 1{\cdot}5\ H_2O\ 0{\cdot}5\ Ag$ है। **गेडरोजाइट** खनिज का नाम **सेडलेस्की** ने (१९३८) रक्खा। इसका नामकरण **गेड्रवॉ** (एक विख्यात भूमि विशेषज्ञ) के नाम पर रक्खा गया। सेडेलस्की ने इसका सूत्र $6(K.Na)_2$

$O_5Al_2O_3.14SiO_2.12H_2O$ दिया और इसे वर्मी-कुलाइट समूह का एक सदस्य बताया।

कोलेराइट नाम प्रारम्भ में (१८२५) **गोलेमिन** के द्वारा दिया गया। यह केओलीन खनिज से मिलता है (रास और केर)। **लिन्डग्रेन** और **हिलेब्रान्ड** ने १९०४ में **एरीजोनिया के मोरेन्की** नामक स्थान से प्राप्त लोहे, मैगनीसियम, कैलसियम तथा एल्यूमिनियम के भूरे-पीले जलीय सिलिकेट को **मोरेनसाइट** खनिज का नाम दिया। यह संरचना में **नान्ट्रोनाइट** खनिज की तरह होता है। **सेलाडोनाइट** खनिज का नाम १८४७ में लोहे, मैगनीसियम तथा पोटैसियम के भूरे हरे जलीय सिलिकेट के लिये **ग्लाकर के** द्वारा प्रस्तावित किया गया था। इसका अर्थ फ्रान्सीसी शब्द **सी-ग्रीन** से है जिसका सम्बन्ध खनिज के रंग से है। **मेडागास्कर** के **फेरासियो** नामक स्थान से प्राप्त एल्यूमीनियम तथा लोहे के एक पीले जलीय सिलिकेट खनिज का वर्णन १९१४ में **लाराक्स** के द्वारा **फरासीआइट** के नाम से किया गया। **हेंड्रिक्स** तथा **ग्रनर** के अनुसार यह खनिज संरचना तथा गुण में नान्ट्रोनाइट तथा केओलिनाइट के समान है। **एब्लीकाइट** खनिज का नाम सर्वप्रथम **सेडलेस्की** तथा **यूसूपोआ** के द्वारा १९४० में रूस के तासकन्द स्थान से जुरासिक संस्तर से प्राप्त खनिज के लिए दिया गया था।

रिसर्चस्कालर, रसायन विभाग,
प्रयाग विश्वविद्यालय

[क्रमशः]

अन्तरिक्ष विजय की कुछ वैज्ञानिक समस्याएं

प्रोफेसर डी० वाई० मार्तिनोव

विश्व का पहला कृत्रिम उपग्रह ४ अक्टूबर १९५७ को सोवियत संघ में छोड़ा गया था। मानवजाति के इतिहास में पहली बार पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के विरुद्ध एक मानव-निर्मित यान अन्तरिक्ष में उड़ने में सफल हुआ। इस दिन जो सफलता मिली, उसके साथ अन्तरिक्ष उड़ान का युग प्रारम्भ हुआ। इस उल्लेखनीय वैज्ञानिक और तकनीकी कौशल के बाद कई भू-उपग्रह छोड़े गये और अन्तरिक्ष की टोह लेने के उपाय किये गये जिनकी सर्वोच्च परिणति १२ अप्रैल को वोस्तोक प्रथम में यूरी गागारिन की और ६-७ अगस्त, १९६१ को वोस्तोक द्वितीय में घेर्मान तितोव की ऐतिहासिक उड़ानें हैं।

इन उड़ानों ने विज्ञान को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण जानकारियों से समृद्ध किया है। इन उड़ानों के फलस्वरूप वैज्ञानिकों ने पृथ्वी के चिपटेपन और उसके वायुमंडल के घनत्व सम्बन्धी प्रयोगात्मक आँकड़े हासिल किये हैं। वायुमण्डल की ऊपरी तहों की रचना, स्वरूप, और घनत्व के बारे में, पृथ्वी के विकिरण पट्टों की रचना और सीमा-रेखाओं के बारे में और सूर्य द्वारा निस्सारित विद्युन्मय कणों के बारे में महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त की गयी है। सूर्य के लघुतरंग विकिरण और प्राथमिक ब्रह्माण्ड विकिरण का भी अध्ययन किया गया है।

इसी प्रकार पशु तथा मानव यात्रियों के शारीरिक ताप, हृदय की धड़कन और श्वास-गति और उपग्रह के भीतर और बाहर ताप से सम्बन्धित जानकारी भी प्राप्त की गयी है। चन्द्रमा के छिपे हुए बड़े भाग के फोटो लिये जा चुके हैं और यह स्थापित किया जा चुका है कि चन्द्रमा में कोई चुम्बकीय क्षेत्र नहीं है।

सोवियत वैज्ञानिकों और तकनीशियनों ने अब मनुष्य को चन्द्रमा तक भेजने का उद्देश्य अपने सामने रक्खा है। तथापि, इसके पहले कि मनुष्य का चन्द्रमा या दूसरे ग्रहों पर पहुँचाना यथार्थ हो जाय, अभी बहुत सी महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक समस्याएँ हल करनी होंगी।

किसी ग्रह से अन्तरिक्ष यान को लौटाने की समस्या एक महत्त्वपूर्ण अवरोध है, जिसे पार करना है। ज्ञान की वर्तमान स्थिति को देखते हुए अभी इतना ही सम्भव है कि हम अन्तरिक्ष यान को चन्द्रमा के निकट के क्षेत्र तक इस प्रकार भेज सकें कि वह अपने आप पृथ्वी के आसपास लौट आये। अन्तरिक्ष यान को यदि भू-चन्द्र मण्डल के आगे भेज दिया जाए तो इस तकनीक के प्रयोग का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी स्थिति में अन्तरिक्ष यान को या तो उसके भीतर से या पृथ्वी पर से निर्देशित करना पड़ेगा।

एक मनोरंजक प्रयोग

पिछले वसन्त में, अत्यधिक दीर्घ दूरी पर अन्तरिक्ष यान की निर्देशन और नियंत्रण प्रणाली की जाँच का एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग किया गया था। अन्तरिक्ष यान को अन्य ग्रह की तरफ भेजने और उसे निर्देशित करने के लिए इस सम्भावना की जाँच की गयी थी जिससे वह अपेक्षित ग्रह पर पहुँच जाए, या उस ग्रह की पकड़ में आकर उसका कृत्रिम उपग्रह बन जाए।

ऐसा प्रतीत होता है कि अब अगली अवस्था स्वयंचालित अन्तरिक्ष यान को जमीन से नियंत्रित कर सुदूर ग्रहों से वापस पृथ्वी पर लौटाने की होगी। इसके लिए अन्तरिक्ष यान को पर्याप्त मात्रा में ईंधन साथ रखना होगा। ऐसा अन्तरिक्ष यान भारी होगा, लेकिन उतना भारी नहीं जितना मानव-यात्री ले चलने वाला यान।

अन्तरिक्ष उड़ान की ठीक-ठीक गणना करने में अन्तरग्रहीय दूरियों की माप एक गम्भीर अड़चन है। हम इन तमाम सापेक्ष दूरियों को बहुत अंश तक सही-सही जानते हैं, लेकिन इन दूरियों की माप उतनी सूक्ष्मता के साथ अभी भी निश्चित नहीं हुई है जितनी होनी चाहिए। अन्तरग्रहीय दूरियों की यह माप ज्योतिषियों की इकाई है पृथ्वी और सूर्य के बीच की दूरी, अर्थात् १४९,५००,००० किलोमीटर। इस संख्या में ३०,००० किलोमीटर का अन्तर हो सकता है।

इसके विपरीत अन्तरिक्ष में घूमते अन्तरिक्ष यानों के रेडियो निरीक्षण से जो तथ्य प्राप्त होते हैं वे अधिक सही हैं। इसलिए जब तक एक अन्तरिक्ष-भेदी यान, उदाहरण के लिए, शुक्र के निकट पहुँचे, तब तक हम उसके द्वारा तय की गई दूरी को, अत्यन्त सूक्ष्मता से निश्चित कर चुके होते हैं। रेडियो का प्रयोग न करें तो खगोल-यंत्र से यही दूरी ज्योतिष इकाई के आधार पर पायी जा सकती है। एक ही दूरी के दो यानों के तुलना से, किलोमीटरों में वर्णित ज्योतिष इकाई का सही मान मिल जाएगा। इससे सौरमण्डल की माप अधिक परिष्कृत हो सकेगी जो किसी भी उद्देश्यपूर्ण उड़ान के लिए बहुत आवश्यक है, क्योंकि यदि हम ३०,००० किलोमीटर से अधिक अनिश्चितता वाली ज्योतिष इकाई को ही जानते हैं तो केवल ज्योतिष इकाई के बारे में हमारी त्रुटिपूर्ण जानकारी के कारण पृथ्वी से २७ करोड़ किलोमीटर दूर शुक्र की तरफ उड़ता हुआ एक यान अपने लक्ष्य से ५०,००० किलोमीटर से भी दूर भटक जा सकता है।

चन्द्रमा पर उतरना

चन्द्रमा पर या किसी भी दूसरे ग्रह पर उतरने की समस्या का हल करना अन्तरिक्ष-उड़ान की पूर्ण सार्थकता के लिए बहुत आवश्यक है। वायुमण्डल-रहित चन्द्रमा पर या क्षणिक वायुमण्डल वाले मंगल पर उतरना उतना कठिन नहीं होगा, लेकिन शुक्र पर जहाँ बहुत ही घना वायुमण्डल है, उतरने में विशेष कठिनाई होगी।

मान लीजिए कि अन्तरिक्ष यात्रा में आने वाली सभी कठिनाइयाँ हमने पार कर ली हैं, और एक अन्तरिक्ष यात्री किसी अन्य ग्रह पर उतरता है। कुछ समय बाद उसे वापसी यात्रा पर निकल पड़ना होगा। ऐसा करने के लिए, उसे उन्हीं अवस्थाओं से, लेकिन उलटे क्रम में, गुजरना होगा। उसे ग्रह से उड़ना होगा जिसके लिए उसके पास सौ टन ईंधन

होगा और उसे पुनः प्रवेश के समय अपने अन्तरिक्ष यान में ब्रेक लगाना होगा।

इस तरह, मनुष्य की अन्तरिक्ष उड़ान एक अत्यन्त पेचीदी तकनीकी समस्या है। जब तक यह समस्या हल नहीं हो जाती, तब तक इंजीनियर और वैज्ञानिक स्वचालित उपग्रहों और अन्तरिक्ष-भेदी यानों की सज्जा तथा वैज्ञानिक संचार साधनों को निर्दोष बनाने की ओर ध्यान केन्द्रित किये रहेंगे, ताकि उनसे अधिक से अधिक जानकारी मिल सके।

समीप से ग्रहों का, उदाहरणार्थ मंगल ग्रह का, चित्र खींचने के लिए स्वचालित कैमरों का आविष्कार एक तत्काल ध्येय है। उपर्युक्त पात्रों में बन्द उसकी फिल्में पैराशूट के द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं। उपग्रहों और अन्तरिक्ष-भेदी यानों में लगाये गये टेलीविजन के निरंतर उन्नत होते हुए साधनों का और उनके साथ दूरवीक्षण यंत्रों का भी इस्तेमाल किया जाएगा। विज्ञान की प्रगति के फलस्वरूप उपलब्ध अन्य सुविधाएँ भी कई जगह काम आयेंगी। इस तरह हम भूमि-स्थित दूरवीक्षण यंत्रों की अपेक्षा और अच्छी तरह से चन्द्रमा और अन्य ग्रहों की भौतिक अवस्थाओं की खोज करने में समर्थ होंगे।

आक्सिजन और पानी की उपलब्धि

सांस लेने के लिए ऑक्सिजन की और पीने के लिए पानी की यथेष्ट उपलब्धि सबसे बड़ी समस्या होगी। बात यह है कि चन्द्रमा और बुध सर्वथा वायुमण्डलरहित हैं, जबकि मंगल के वायुमण्डल में ऑक्सिजन और पानी की भाप की मात्रा इतनी कम है कि अभी तक सन्देह है कि वहाँ ऑक्सिजन है भी या नहीं। जहाँ तक शुक्र ग्रह का सवाल है, पानी की भाप की उपस्थिति वहाँ सिद्ध हो चुकी है, जबकि ऑक्सिजन के बारे में निश्चित सूचना नहीं है। जो भी हो, अन्तरिक्ष यात्री को हर हालत में विशेष प्रकार के वस्त्र पहनने होंगे।

दूसरी समस्या तापमान की है। चन्द्रमा का तापमान २९·५ दिनों तक −१००° सेंटीग्रेड और +१२०° सेंटीग्रेड के बीच घटता-बढ़ता रहता है इसलिए, अन्तरिक्ष यात्री के वस्त्रों का तापीय संवाहन बहुत अच्छा होना चाहिए। मंगल ग्रह पर तापमान रात में —६०° सेंटीग्रेड से दिन में +२०° सेंटीग्रेड, जो कि भूमध्यरेखा पर सर्वाधिक तापमान है, तक बदलता रहता है। बुध ग्रह पर दिन के समय का तापमान +४००° सेंटीग्रेड तक ऊँचा हो सकता है। ऐसा ज्ञात होता है कि शुक्र का जलवायु अधिक समशीतोष्ण है, लेकिन उसके घने बादलों के आवरण के नीचे क्या हो रहा है, यह हम अभी निश्चित रूप से नहीं बता सकते। गत वर्ष किये गये रेडियो-निरीक्षण बतलाते हैं कि शुक्र ग्रह की सतह का तापमान +३००° सेंटीग्रेड के लगभग है। हमें शुक्र ग्रह के एक दिन की लम्बाई ही के बारे में पता नहीं है, जो हमारी पृथ्वी के समय की तुलना में कई हफ्तों या महीनों के बराबर हो सकती है।

वृहस्पति, शनि, इत्यादि बड़े ग्रहों को अभी अन्तरिक्ष यात्रा की दृष्टि से सुविधाजनक नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि अन्तरिक्ष यात्री को वहाँ प्रमुखतया अमोनिया और मीथेन मिले सर्वथा विपरीत वायुमण्डल और —१२०° सेंटीग्रेड या उसके भी कम तापमान वाली अन्तहीन शीत का सामना करना पड़ेगा।

अन्तरिक्ष यात्री को क्या कहीं जीवन के लक्षण मिलेंगे ? कदाचित मंगल ग्रह पर। लेकिन उस ग्रह पर जीवन, जिसके हम अभ्यस्त हैं, उससे भिन्न हो सकता है। वह एक दूसरी दुनिया का जीवन होगा।

अध्यक्ष, स्टर्नबर्ग ज्योतिष प्रतिष्ठान
मास्को विश्वविद्यालय

———

भारतवर्ष में भेड़-पालन का महत्त्व

देवीप्रसाद तिवारी

रेशे कई प्रकार के होते हैं किन्तु रेशों को साधारणतया दो प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है—(१) प्राकृतिक रेशे (२) कृत्रिम रेशे। कृत्रिम रेशे वे रेशे हैं जो रासायनिक क्रियाओं के द्वारा लकड़ी के गूदे आदि से बनाये जाते हैं। इन रेशों से बने हुये कपड़ों को बनावटी सिल्क या आर्ट सिल्क के नाम से पुकारते हैं।

प्राकृतिक रेशों को पुनः तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) वनस्पति रेशे, (२) खनिज रेशे तथा (३) पशु रेशे।

(१) **वनस्पति रेशेः**—वे रेशे हैं जो पौधों के फूल अथवा तनों से प्राप्त होते हैं यथा कपास, जूट, मनिला हेम्प, सिसल हेम्प, नारियल का रेशा आदि।

(२) **खनिज रेशेः**—वे रेशे जो खनिज पदार्थों से प्राप्त होते हैं जैसे सोना, चाँदी, ताँबा आदि।

(३) **पशु रेशेः**—पशुओं के बालों से प्राप्त रेशे हैं जैसे भेड़, ऊँट, अल्पाका, विकुना आदि के बाल। टेक्सटाइल रेशों में ऊनी रेशों का एक विशेष स्थान है। ऊन भी एक प्रकार का बाल है जो भेड़ों से प्राप्त होता है किन्तु यह अन्य पशुओं से प्राप्त बालों से एकदम भिन्न होता है। कृत्रिम रेशों का प्रयोग लगभग अर्ध शताब्दी से प्रारम्भ हुआ है जब कि ऊनी रेशों का प्रयोग मानव जाति ने आदि काल से करना प्रारम्भ किया था जिसके प्रमाण सिन्धु नदी की घाटी की सभ्यता के अर्न्तगत मिलते हैं। ऊन को न केवल व्यापार एवं उद्योग में ही स्थान प्राप्त है वरन् धार्मिक क्रियाओं में भी स्थान प्राप्त है। ऊनी कपड़ों को पवित्र माना जाता है।

ऊन का महत्त्व टेक्सटाइल रेशों में से अधिक है, जिसका कारण उसकी कुछ निम्नांकित विशेषतायें हैं जो कि अन्य रेशों में नहीं पाई जाती हैं :—

(१) **लोच**—ऊनी रेशों में टेक्सटाइल रेशों में से सर्वाधिक लोच पाया जाता है। ऊनी रेशों को यदि पानी के अन्दर धीरे धीरे खींचा जाय तो वे २५ से ३०% तक बढ़ जाते हैं और छोड़ देने पर वे फिर उसी अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं। ऊनी कपड़ों में अधिक दिनों तक क्रीज (तह) रहने का श्रेय ऊनी रेशे की इस विशेषता के कारण है।

(२) **कुचालकताः**—ऊनी रेशे ऊष्मा के अधम चालक होते हैं अर्थात् यदि ऊनी रेशों से बने हुये कपड़ों को पहना जाय तो ऊनी वस्त्र शीत काल में गर्मी प्राप्त करते हैं। इसके साथ ही साथ यदि ऐसा ऊनी कपड़ा पहना जाये जिससे हवा शरीर तक जा सके तो ग्रीष्म काल में वह ठंडक पहुँचाता है। इसका कारण यह है कि ऊनी रेशों में पानी सोखने की शक्ति होती है जिसके कारण वह पसीने को सोख लेते हैं।

(३) **लहरेंः**—ऊनी रेशों में लहर होती है जो कि अन्य किसी टेक्सटाइल रेशों में नहीं पाई जाती। यह ऊन की एक विशेषता है। ऊन में लोच का कम या अधिक होना इसी पर निर्भर रहता है। ऊनी रेशे में एक इंच में जितनी लहरें पाई जाती हैं वे लहर कहलाती है।

(४) **संकोचनः**—ऊनी रेशे के अलावा यह किसी अन्य टेक्सटाइल रेशे में नहीं पाया जाता। ऊनी रेशे की संकुचन शक्ति रेशों में लहर पर किसी हद तक

निर्भर है। इसी विशेषता के आधार पर ऊनी कपड़े की लम्बाई चाही हुई लम्बाई से २५ से ५०% अधिक बना कर मिलिंग करके प्राप्त कर लेते हैं। इस विशेषता का लाभ सबसे अधिक कम्बल निर्माण में किया जाता है।

(५) **चिकनाहटः—**ऊनी रेशों में चिकनाहट (वसा) होती है जो कि भेड़ों के शरीर से प्राप्त होती है। यह भी ऊन की विशेषता है जो अन्य रेशों में नहीं पायी जाती। उसके कारण ऊनी रेशा मुलायम होता है। इस चिकनाहट या ऊन मोम के कारण ऊन की रक्षा होती है।

(६) **अदह्यताः—**ऊनी रेशा सूती रेशे की तुलना में अधिक देर में जलता है। सूती रेशे तुरन्त जल जाते हैं जब कि ऊनी रेशा जरा सा गल कर मुरझा जाता है। आजकल बच्चों को अधिकतर ऊनी वस्त्र पहिनाये जाते हैं जिससे जलने का भय कम हो सके।

भेड़ों की संख्या के अनुसार भारतवर्ष का विश्व में पाँचवा स्थान है। भारतवर्ष को ४ करोड़ भेड़ों से प्रति वर्ष ६ करोड़ ८० लाख पौंड से लेकर ७ करोड़ पौंड तक ऊन प्राप्त होता है। इसमें से लगभग ५ करोड़ ९० लाख पौंड ऊन मोटी किस्म का होता है जो कि गलीचे आदि बनाने के काम में आता है। लगभग १ करोड़ १० लाख पौंड ऊन अच्छी किस्म का होता है जिसका प्रयोग कपड़ा, कम्बल, लोई आदि तैयार करने में होता है। मोटी ऊन का ५० से ६०% तक विदेशों को निर्यात किया जाता है जिससे भारतवर्ष को लगभग ९ करोड़ रुपये की प्रति वर्ष आय होती है। देश को लगभग ६ करोड़ रुपये खालों से और ३० करोड़ रुपये माँस के निर्यात से भी प्राप्त होते हैं। इस प्रकार भारतवर्ष को प्रति वर्ष ४५ करोड़ रुपये की आय केवल भेड़ों से होती है।

भारतवर्ष प्रति वर्ष लगभग १ करोड़ ८० लाख पौंड अच्छी ऊन विदेशों से मँगाता है, इस प्रकार अभी भी देश में अच्छी ऊन के उत्पादन क्षेत्र में बड़ी गुंजाइश है।

भेड़ पालन का उद्योग भारतवर्ष में लगभग ९०% गड़रिया जाति के हाथों में है जो भेड़ पालन के साथ साथ अन्य कार्य भी करते हैं। शिक्षा तथा आर्थिक कठिनाइयों और भेड़ पालन के नये और वैज्ञानिक तरीकों से अनभिज्ञ होने के कारण वह पूर्ण रूप से भेड़ पालन का कार्य सुचारु रूप से नहीं कर पाते हैं जिसके कारण उन्हें कम लाभ होता है। भारतवर्ष में प्रति वर्ष भेड़ से जितना ऊन प्राप्त होता है वह विदेशों में पाली जाने वाली भेड़ों से बहुत कम है। विदेशों में प्रति भेड़ से ६ पौंड से लेकर ३० पौंड तक ऊन प्राप्त होता है जब कि भारतवर्ष में प्रति भेड़ से ३ पौंड से से लेकर ४ पौंड तक ऊन प्राप्त होता है। भारतीय ऊन भी विदेशी ऊन से किस्म में घटिया होती है। भारत को बढ़िया ऊन विदेशों से मँगानी पड़ती है जिसके कारण देश की मुद्रा विदेशों को जाती है।

ऊन का अच्छी किस्म का होना या न होना उन तमाम दशाओं पर निर्भर रहता है जिसमें भेड़ पलती है। भेड़ों की आय का केवल $\frac{1}{3}$ या $\frac{1}{2}$ भाग ऊन से प्राप्त होता है। अतः अधिक और अच्छी किस्म का ऊन किस प्रकार प्राप्त किया जाय, यह भेड़ों के उचित प्रजनन, रख-रखाव और उनके आहार पर निर्भर है।

भेड़ों का चुनावः—भेड़ पालकों को इस विषय पर अधिक ध्यान देना चाहिये। भेड़ प्रजनन कार्य चाहे मैदानों पर हो या पहाड़ी क्षेत्रों में हो, अधिक और अच्छा ऊन प्राप्त करने के लिये अच्छे झुंड का होना अति आवश्यक है। ऐसी भेड़ जिनके ऐन खराब हों वर्ष भर बराबर छांट कर अलग करते रहना चाहिये। उनके स्थान पर मेमनों का चुनाव दूध छुड़ाते समय ही कर लेना चाहिये।

प्रजनन के लिये भेड़ों का चुनाव करते समय निम्नांकित बातों पर अवश्य ही ध्यान देना चाहिये:—

(१) **उम्र:—**भेड़े साधारणतः १५ माह बाद प्रजनन योग्य हो जाती हैं और ६ वर्ष तक प्रजनन कार्य के लिये उपयुक्त होती हैं। इसके बाद उनको हटा देना चाहिये। भेड़ की उम्र दाँतों द्वारा जानी जा सकती है। एक वर्ष बाद भेड़ के दो दाँत निकल आते है जो कि दूध के दाँतों से बड़े तथा बीच में होते हैं। २ वर्ष बाद ४ दाँत तथा ३-४ वर्ष बाद क्रमशः ६ व ८ दाँत हो जाते हैं। ४ वर्ष बाद दाँतों का गिरना प्रारम्भ हो जाता है।

(२) **आकार:—**अच्छी प्रजनन योग्य भेड़ों का सीना, मध्य भाग तथा पिछला भाग गहरा तथा चौड़ा होता है। उनका शरीर गठा होता है तथा सिर की बनावट सुन्दर होती है। उनके पैर छोटे तथा कुछ झुके हुये होते हैं। भेड़ का निचला जबड़ा न तो बाहर निकलता हो न बहुत अन्दर धँसा हो। अच्छी भेड़ शान्त तथा सीधे स्वभाव की होती हैं।

(३) **ऐन:—**अच्छी नस्ल के मेमनों की माँ बनने के लिये यह अति आवश्यक है कि भेड़ का ऐन स्वस्थ, कोमल तथा लचीला हो जिससे उसमें अधिक दूध आ सके। इसमें तनिक भी कठोरता नहीं होनी चाहिये। थनों में किसी भी प्रकार की चोट या घाव आदि न हो। यदि किसी भेड़ के ऐन में कुछ असाधारण बात हो तो उसको नहीं चुनना चाहिये।

(४) **ऊन:—**चुनाव करते समय प्रजनन योग्य भेड़ के ऊन को अच्छी तरह जाँच लेना चाहिये। भेड़ का शरीर अच्छी तथा लम्बी ऊन से अच्छी तरह ढका होना चाहिये। ऊन कम से कम भेड़ के घुटनों तक होना चाहिये। अच्छा ऊन हर स्थान पर एक सा, चमकदार और घुँघराला होता है।

अच्छे प्रजनन योग्य मेढ़े के लक्षण

प्रजनन कार्य के लिये भेड़ों का चुनाव जितना महत्त्वपूर्ण है उससे अधिक महत्त्वपूर्ण भेड़े (नर भेड़) का चुनाव होता है। प्रजनन कार्य के लिये मेढ़ा बहुत अच्छा तथा शुद्ध वंश का होना चाहिये। अच्छे मेढ़े के द्वारा मामूली भेड़ों का झुंड भी सुधारा जा सकता है किन्तु जरा भी असावधानी से अच्छी तरह नस्ल की भेड़ों का भी झुंड खराब हो जाता है।

(१) मेढ़ा स्वस्थ और रोगमुक्त होना चाहिये।

(२) मेढ़े की उम्र १½ वर्ष से लेकर ३ वर्ष तक की होनी चाहिये।

(३) मेढ़े के शरीर के सब भाग सानुपात तथा समान ढंग से विकसित हों।

(४) उसका शरीर माँस से भरा तथा कसा हो किन्तु उसमें चर्बी न हो।

(५) मेढ़े की टाँगें सीधी तथा मजबूत हो तथा उसका शरीर गहरा, चौड़ा और शरीर की रेखायें सीधी हो।

(६) मेढ़े के शरीर पर अच्छे किस्म का तथा चमकदार ऊन हो।

(७) मेढ़े का प्रजनन अंग स्वस्थ तथा पूर्ण विकसित होना चाहिये।

(८) मेढ़े के प्रजनन अंगों में किसी प्रकार की चोट न हो।

ऋतुकाल

भेड़ों का गर्भकाल १४० से १५० दिन का होता है अतः भेड़ों के गाभिन होने का समय इस प्रकार से नियोजित करना चाहिये कि नवजात मेमनों को चरने के लिये पर्याप्त मात्रा में घास मिल सके।

एक मेढ़ा ४० से ५० भेड़ों के प्रजनन कार्य के लिये पर्याप्त है किन्तु यह उत्तम होगा कि एक १०० भेड़ों के झुंड पर ३ भेड़ें रखी जायँ जिससे मेढ़ों को आराम मिल सके। ऋतुकाल के प्रारम्भ होने से पहिले मेढ़ों की देखभाल पर अधिक ध्यान देना चाहिये। ऋतुकाल के आने पर मेढ़े के प्रजनन अंगों के पास के बाल बना देना चाहिये। प्रजनन कार्य के लिये मेढ़ों को रात्रि में भेड़ों के झुंड में छोड़ना चाहिये जिससे भेड़ें दिन में चर सकें। मेढ़े की छाती पर तेल में मिला हरा रंग

लगा देना चाहिये जिससे यह पता चलता रहे कि कौन भेड़ किस दिन गाभिन हुई। रंग को हर दो सप्ताह बाद गहरा करते रहना चाहिये। प्रजनन कार्य से पूर्व मेढ़े के वीर्य की जाँच कर लेनी चाहिये कि उसके कोई रोग तो नहीं है। यदि भेड़ों की जगह की बदली हो तो उनको आराम देना चाहिये और उनसे प्रजनन कार्य नहीं लेना चाहिये।

प्रसव के पूर्व भेड़ों की देख रेख

ऋतुकाल के प्रारम्भ होने से पहिले भेड़ें स्वस्थ होनी चाहिये। इसका फल यह होगा कि वे समय पर तथा शीघ्र गरम हो जायेंगी तथा ३ या ४ सप्ताह में सब गाभिन हो जायेंगी। यदि झुंड की भेड़ें स्वस्थ तथा एक नस्ल की हैं तो मेमने भी एक ही तरह के होंगे। हो सकता है कि एक भेड़ के दो मेमने भी हो जायँ। यदि भेड़ें कमजोर हैं तो ऋतुकाल से १½ माह पहिले अच्छी खुराक दे देना चाहिये। भेड़ों को फिनोथयाजीन साल्ट (नमक) का मिश्रण देना चाहिये तथा इसके साथ साथ उबली हड्डी का चूर्ण भी देना चाहिये।

प्रसव

प्रसव काल भेड़-पालकों के लिये सबसे कठिन होता है। जरा भी असावधानी के कारण बड़ी हानि हो जाती है अतः भेड़ों को प्रसव के समय सर्दी तथा गन्दे स्थानों से अलग रखना चाहिये। यदि प्रसव प्राकृतिक रूप से न हो रहा हो तो हाथ को कीटाण नाशक दवा से शुद्ध करके जरा चिकनई लगा कर योनि में डाल कर निकाल लेना चाहिये किन्तु ध्यान रहे कि मेमना स्वाभाविक स्थिति में रहे। प्रसव के बाद नाभि को किसी तेज धार वाले औजार से काट कर नाभि में टिंचर आयोडीन लगा देना चाहिये। मेमने को उस समय तक ठंड से बचाना चाहिये जब तक उसका ऊन सूख न जाय। प्रसव के बाद भेड़ों की देख-भाल करना चाहिये जिससे उनमें दूध अधिक मात्रा में हों।

मेमने की देख-रेख

साधारणतया मेमना प्रसव के कुछ ही मिनट बाद खड़ा हो जाता है। स्वस्थ मेमने का भार पैदा होने के बाद ५ से १० पौंड तक का होता है। मेमने एक सप्ताह से लेकर दो सप्ताह के अन्दर दाना व घास खाने लग जाते हैं। जब तक मेमना १½ माह का न हो जाय दाना तोड़ कर देना चाहिये। उसके उपरान्त खड़ा दाना भी दिया जा सकता है। यदि किसी मेमने को भेड़ छोड़ देती है तो उसको उसके पास बार-बार ले जाना चाहिये। यदि भेड़ फिर भी न ले तो उसको बाँध कर ४-५ दिन तक दूध पिलाना चाहिये। इससे भेड़ मेमने को ले लेगी। यदि किसी भेड़ का मेमना मर गया हो तो उसकी खाल निकला कर उस पर रखना चाहिये। इससे जिस भेड़ का मेमना मर गया है वह भेड़ उसको ले लेगी।

भेड़ों से उसी अवस्था में अधिक लाभ उठाया जा सकता है जब कि भेड़ें स्वस्थ हों। भारतवर्ष में भेड़ों की लगभग ७०% मृत्यु परजीवी रोगों से होती है। यह परजीवी कीटाणु दो प्रकार के होते हैं—(१) जो भेड़ों के अन्दर होते हैं (२) जो भेड़ों की खालों के ऊपर रहते हैं।

शरीर के अन्दर रहने वाले परजीवी रोगों की रोकथाम

इसके लिये भेड़ों को माह में एक बार अवश्य दवा पिलानी चाहिये। यह दवा १५ सेर पानी में ४ छटांक नीला थोथा और २ छटांक राई का चूर्ण मिला कर बनाई जा सकती है। उसके साथ भेड़ों को ऐसे चरागाहों में जहाँ पर परजीवी कीटाणुओं का भय न हो चरने देना चाहिये। बाड़ों को साफ रखना चाहिये। बाड़ों में नमी न हो। यह देखा गया है कि भेड़ें अधिकतर जनवरी, मार्च, जुलाई, अगस्त, सितम्बर व नवम्बर में बीमार होती हैं। अतः भेड़ों को उपरोक्त महीनों में निम्नांकित दवायें देना चाहिये :—

१. जनवरी, सितम्बर व नवम्बर	१५ बूँद कार्बन टेट्राक्लोराइड आधा तोला पैराफीन के साथ माह में एक बार प्रति भेड़
२. मार्च, जुलाई तथा अगस्त	आधा तोला फेनोथायाजीन १ छटांक पानी के साथ साथ माह में २ बार प्रति भेड़

इसके साथ साथ राज्य पशु चिकित्सक से परामर्श लेना चाहिये।

शरीर के ऊपर रहने वाले परजीवी कीड़ों की रोकथाम—

इन कीड़ों से भेड़े अधिक परेशान हो जाती हैं। ये कीटाणु भेड़ों के खून को चूसते हैं। भेड़े अपना शरीर पेड़ों में या किसी कड़ी चीज से रगड़ती हैं तथा ऊन को मुँह से नोचती हैं जिससे ऊन टूट कर गिरने लग जाता है। ऐसी परिस्थिति में भेड़ों को कीटाणुनाशक घोल बनाकर ऊन काटने के एक सप्ताह बाद मैक्डूगल सीप डिप पाउडर (McDougall's Sheep Dip Powder) या कूपर के आरसेनिक रहित डिप या १% गैमेक्सीन या डी०डी०टी० के घोल से किन्हीं एक से नहलाना चाहिए।

भेड़ों को हर माह में एक बार नहलाते रहने से कीटाणु नहीं सताते हैं किन्तु नहलाते समय बालों को बुरी तरह नहीं मलना चाहिए।

आहार

उत्तम आहार ही भेड़ पालन को सफल बना सकता है। भेड़ों को केवल अच्छी चराई पर ही नहीं रखना चाहिये, हर भेड़ को आधा सेर पौष्टिक पदार्थ देना आवश्यक है। पौष्टिक पदार्थ में २ भाग चना, १ भाग चोकर गेहूँ का तथा १ प्रतिशत नमक होना चाहिये। यदि हो सके तो जाड़ों के दिनों में चने के स्थान पर गुवार की फली दें। इसके अलावा प्रतिदिन एक भेड़ को निम्नांकित राशन और देना चाहिये:—

१. चावल की भूसी	२ छटाँक
२. उबले चने	४ ,,
३. अण्डी की खल	२ ,,
४. नमक	१ तोला
५. हड्डी का चूरा	१ ,,

जब चारा पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध न हो तो चना, गेहूँ के चोकर की मात्रा को दुगुना कर देना चाहिये।

ऊन कतरना

ऊन ही भेड़पालक की आय का प्रमुख साधन है। यदि उसने ऊन को ठीक प्रकार से नहीं काटा तो उसको ऊन की कम कीमत मिलेगी।

ऊन को वर्ष में दो बार मार्च और अक्टूबर में काटना चाहिये। ऊन काटने के प्रथम एक सप्ताह पूर्व भेड़ को नहला देना चाहिये जिससे ऊन साफ व चमकदार हो जाये। ऊन कतरने के लिये उन्नतिशील कैंचियों का प्रयोग करना चाहिये। ऊन को साफ स्थान पर काटना चाहिये। स्थान पक्का, छायादार तथा रोशनी से युक्त हो। ऊन कतरने से पहिले भेड़ों को १२ से १८ घंटे तक भूखा रखना चाहिये। ऊन सावधानी से काटना चाहिये जिससे भेड़ को चोट न लगे। सर्वप्रथम पैर, पेट और शिर का ऊन कतरना चाहिये। इसके बाद गर्दन, बगल या पीठ से ऊन कतरने का कार्य करना चाहिये। इसके बाद फिर शरीर के अन्य भागों का ऊन कतरना चाहिये। ऊन को रंग के अनुसार तथा शरीर के अंगों के अनुसार अलग रखना चाहिये।

केन्द्रीय सरकार ने ऊन तथा भेड़ों का महत्त्व देख कर उसकी उन्नति के हेतु तृतीय पंचवर्षीय योजना में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में ४ भेड़ प्रजनन केन्द्र तथा ३८० प्रसार केन्द्र खोले गये। इन केन्द्रों के द्वारा उन्नतिशील मेढ़े, अच्छी नस्ल के संकर प्रजनन द्वारा तथा चुनी हुई देशी नस्ल से उत्पन्न किये जाते हैं। इन मेढ़ों को भेड़ पालकों को दिया जाता है। जिन स्थानों पर २००० से ३००० भेड़ें है, प्रसार केन्द्र खोले गये हैं। इन केन्द्रों के द्वारा समय-समय पर अच्छी ऊन तथा भेड़ किस प्रकार से उत्पन्न की जाय, इसके प्रदर्शन किये जाते हैं। तृतीय योजना के अंतर्गत ऐसे २ भेड़ प्रजनन फार्म तथा ४००० ऊन प्रसार केन्द्र खोले जायेंगे। इसके साथ ही साथ ऊन की बिक्री सम्बन्धी सभी सहायताओं के लिये ३०० बिक्री केन्द्र खोले जायेंगे।

———

संक्षिप्त जीवन परिचय माला—५

एल्यूमीनियम के अन्वेषक चार्ल्स मार्टिन हाल

जूलिया, जूलिया, आखिर मैंने इसे खोज ही लिया !

ये हर्षपूर्ण उद्‌गार चार्ल्स मार्टिन हाल ने १८८६ में वुडशेड परीक्षणशाला में अपनी सहायक भगिनी जूलिया को सम्बोधित करते हुए प्रकट किए थे। उनके ये शब्द इस बात के संकेत थे कि बॉक्साइट से एल्यूमिनियम को अलग करने की विधि आखिर उन्होंने खोज निकाली।

प्रारम्भ में एल्यूमीनियम की गणना एक अत्यधिक दुर्लभ खनिज के रूप में की जाती थी, परन्तु अब अमेरिका में इसका इतना विस्तृत पैमाने पर उपयोग हो रहा है कि वहाँ विविध कार्यों में प्रयुक्त होने वाली धातुओं में इसे दूसरा स्थान प्राप्त है।

श्री हाल ने विद्युद्वैश्लेषिक विधि द्वारा एल्यूमिनियम के उत्पादन की जो विधि खोज निकाली उसके पीछे इस दिशा में मनुष्य द्वारा हजारों वर्षों से किए जा रहे प्रयत्नों की कहानी निहित है। मनुष्य हजारों वर्षों से मिट्टी में निहित इस धातु को मिट्टी से अलग करने के लिए प्रयत्न करता रहा है। जिस समय श्री हाल ने उक्त खोज की, लगभग उसी समय एक फ्रांसीसी पाल हैरोल्ट ने भी इसी विधि द्वारा एल्यूमीनियम को अलग करने में सफलता प्राप्त की। इस सम्बन्ध में एक सबसे अधिक दिलचस्प बात यह थी कि जब उन्होंने यह खोज की, उनकी आयु बराबर थी। दोनों की ही आयु २३ वर्ष थी और दोनों ही १९१४ में मृत्यु को प्राप्त हुए।

विज्ञान के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति बहुधा अनायास ही नहीं होती। उसके पिता ओवरलीन (औहायो) में धर्मोपदेशक थे और चार्ल्स मार्टिन दिन में कुछ समय कार्य कर परिवार की आय बढ़ाने में सहायता करते थे।

प्रारम्भ से ही रसायन-विज्ञान में श्री मार्टिन की विशेष रुचि थी और इस विषय में वह काफी प्रतिभा-सम्पन्न छात्र माने जाते थे। यह पढ़ कर कि हर मिट्टी के ढूहे एक प्रकार से एल्यूमीनियम की खान के समान हैं, मार्टिन की कल्पनाशक्ति जाग उठी। चूँकि उस समय एल्यूमिनियम का मूल्य चांदी के मूल्य से अधिक था, अतएव श्री मार्टिन संसार भर के मिट्टी के ढूहों को चांदी की खानों में परिणत करने के स्वप्न देखने लगे। ओवरलिन कालेज में अध्ययन करते समय उन्होंने इस दिशा में अपना परीक्षण कार्य प्रारम्भ कर दिया और इसके लिए उन्होंने अपने घर के पीछे स्थित लकड़ी के बाड़े में एक कामचलाऊ परीक्षणशाला भी खड़ी कर ली।

फरवरी, १८८६ तक हाल ने यह अनुभव कर लिया कि यदि वह किसी ऐसे द्रव की सहायता से एल्यूमीनियम का मिश्रण तैयार कर सकें, जिसमें जल का अंश न हो और जो जल से अधिक टिकाऊ हो तो इस विधि द्वारा एक ऐसा मिश्रण तैयार हो सकता है, जिससे विद्युद्विश्लेषण विधि द्वारा एल्यूमीनियम प्राप्त किया जा सके।

इस सम्बन्ध में उन्होंने कई प्रकार के द्रवों पर परीक्षण किए। १०-वें परीक्षण में उन्होनें क्रायोलाइट नामक द्रव का उपयोग किया। इस परीक्षण

की क्रिया का श्री मार्टिन और उनकी बहन ने अत्यधिक उत्सुकता से निरीक्षण किया। अन्त में जब श्री मार्टिन और अधिक धैर्य नहीं रख सके तो उन्होंने गरम तरल पदार्थ को एक पुराने वर्तन में ठंडा होने के लिए डाल दिया। जब उन्होंने ठंडे हुए टुकड़े को हथौड़ी से तोड़ा तो उसमें उन्हें चाँदी जैसे सफेद रंग के टुकड़े दृष्टिगोचर हुए। ये टुकड़े और कुछ नहीं, बल्कि एल्यूमीनियम था।

श्री मार्टिन हाल ने अपने आविष्कार को पेटेण्ट करा लिया। इसी समय उन्हें यह भी पता चला कि पाल हैरोल्ट ने भी उक्त विधि खोज निकाली है। लेकिन चूँकि हेरोल्ट ने २३ अप्रैल, १८८६ तक अपने आविष्कार का पेटेण्ट नहीं कराया था और चार्ल्स हाल के पास इस बात का लिखित प्रमाण था कि उन्होंने यह खोज २३ फरवरी, १८८६ को कर ली थी, अतएव आविष्कार का श्रेय उन्हें ही प्राप्त हुआ। लेकिन एक साथ खोज होने की बात स्वीकार कर लिए जाने के कारण यह विधि आजकल हाल-हैरोल्ट विधि के नाम से विख्यात है।

अपने आविष्कार को मूर्त रूप देने के सम्बन्ध में श्री हाल की भेंट एक प्रसिद्ध धातुशास्त्री कैप्टन एल्फ्रेड ई० हण्ट से हुई, जो पिट्सवर्ग टेस्टिंग लेबोरेटरी का एक सह-मालिक भी था। १८८६ में पिट्सवर्ग-रिडम्शन कम्पनी की स्थापना की गई और इस प्रकार एल्यूमीनियम युग का सूत्रपात हुआ।

अमेरिका में जितना बॉक्साइट खपता है, उसका केवल १/५ भाग वहाँ से प्राप्त होता है। बॉक्साइट के ये भण्डार मुख्यतः अरकन्सास में हैं। शेष बॉक्साइट केरेबिअन प्रदेश (जमाइका, हैटी) हालैण्ड और ब्रिटिश गाइना से आता है। चूँकि हाल द्वारा आविष्कृत विधि निर्वाध चालू रहती है, अतएव एल्यूमीनियम उत्पादक हर दिन २४ घण्टे तथा सप्ताह में सातों दिन स्वनियंत्रित ढंग पर एल्यूमीनियम का उत्पादन-कार्य चालू रख सकते हैं।

एल्यूमीनियम उद्योग पर श्री हाल के उक्त आविष्कार का क्या चमत्कारिक प्रभाव पड़ा है, इसका निम्न तथ्यों से सहज ही आभास हो जाता है। १८८६ में संसार में एल्यूमीनियम का कुल उत्पादन केवल १६ टन था, १९६० में अकेले अमेरिका में २० लाख टन एल्यूमीनियम का उत्पादन हुआ। हलका होने के साथ-साथ अब एल्यूमीनियम में कुछ और विशिष्ट गुणों का भी समावेश हो गया है। धातु-वैज्ञानिक उसे अधिकाधिक मजबूत बनाते जा रहे हैं तथा क्षारण और मोरचे प्रभाव से भी अब वह मुक्त रह सकता है। अपने इन गुणों के कारण अब लगभग सभी क्षेत्रों में पुरानी धातुओं के स्थान पर एल्यूमीनियम का बड़े पैमाने पर उपयोग होने लगा है। व्यावसायिक पैमाने पर एल्यूमीनियम का उद्योग सर्वप्रथम १८९० में रसोई घर के बर्तन तैयार करने के लिए किया गया। इसके बाद ही बिजली सप्लाई करने के लिए एल्यूमीनियम कण्डक्टरों का निर्माण प्रारम्भ हुआ।

१८८४ में जब वाशिंगटन स्मारक का निर्माण हो रहा था, तब कैपस्टोन के सिरे पर एल्यूमीनियम का १०० औंस भार का एक-एक पिरामिडनुमा-ढांचा लगाया गया। इस पर कुल २२५ डालर की लागत बैठी थी। यह उस समय तक निर्मित सबसे बड़ा ढांचा था। अतएव, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं, यदि स्मारक पर लगाने के पूर्व न्यूयार्क में इसका सार्वजनिक प्रदर्शन किया गया। ५० वर्ष बाद, जब स्मारक की सफाई हुई तो ऊपर के एल्यूमीनियम ढांचे की धातु विशेषज्ञों ने जाँच की और यह पाया कि ५० वर्षों की लम्बी अवधि में भी ढांचे पर मौसम का विशेष प्रभाव नहीं पड़ा था।

परिवहन उद्योग में एल्यूमीनियम की बहुत बड़े पैमाने पर खपत है। विशेषतः हवाई जहाजों, स्ट्रीट-कारों, रेल के यात्री-डिब्बों और माल के डिब्बों, इंजनों, ट्रकों, ट्रेलरों, बाइसिकिलों और मोटर साइकिलों के निर्माण में एल्यूमीनियम का व्यापक उपयोग

किया जा रहा है। कम घनत्व सम्बन्धी विशेष गुण के कारण वाहन के भार में काफी कमी करना सम्भव हो गया है, जिसके फलस्वरूप उसके संचालन के लिए अब अपेक्षाकृत कम शक्ति खर्च होती है। इसी गुण के कारण पुलों के निर्माण के लिए भी यह धातु विशेष उपयुक्त पाई गई है। लम्बे पुलों के निर्माण में पुल के कुल भार का ८० प्रतिशत भाग उन वस्तुओं का होता है जो स्वयं पुल के भार को संहन करने के लिए इस्तेमाल की जाती हैं। यदि पुल का फर्श हल्की धातु का बना हो तो खम्भों पर आने वाले भार को कम किया जा सकता है।

दैनिक उपयोग की बहुत सी वस्तुओं को एल्यूमीनियम के बने डिब्बों और डिब्बियों में पैक किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त टूथ पेस्ट, शेविंग क्रीम, रंग-रोगन तथा पेट्रोलियम जनित वस्तुओं को रखने के लिए भी एल्यूमीनियम के बने ट्यूबों का उपयोग किया जाता है। यही नहीं, खाद्य-पदार्थों, सौन्दर्य-प्रसाधन सामग्रियों और गव्यशाला जनित वस्तुओं का निर्माण करने वाले उद्योगों के उपयोगार्थ एल्यूमीनियम की सीलें और कैपें लाखों की संख्या में तैयार की जाती हैं।

श्री हाल और श्री हैरोल्ट, दोनों की ही मृत्यु १९१४ में हो गई थी। इस समय तक एल्यूमीनियम युग का सूत्रपात पूरी तरह नहीं हुआ था। यदि वे आज जीवित होते तो यह देखते कि लगभग सभी उद्योगों में किसी न किसी रूप में एल्यूमीनियम का उपयोग किया जा रहा है।

रेडिय-सक्रिय अवपात और मनुष्य जाति

आर० के० मण्डल (अनुवादक-जटाशंकर द्विवेदी)

रूस के मेगाटन बमों के विस्फोटन से उत्पन्न रेडिय सक्रिय अवपात (Radioactive fallout) की आशंका ने संसार भर के जीवशास्त्रियों को व्याकुल और जन साधारण को भयभीत कर दिया है। वैज्ञानिकों की उत्कंठा तो स्वाभाविक और न्यायसंगत है क्योंकि अभीतक यह ज्ञात नहीं है कि इस अवपात की दीर्घकालीन अवधि और मात्रा क्या होगी? मनुष्य जाति और जीव-जगत पर इसका हानिकारक परिणाम क्या होगा, इस सम्बन्ध में हम अभी अन्धकार में हैं। किन्तु जनसाधारण में उत्पन्न भय का मूल कारण है रेडिय-सक्रियता और उससे उत्पन्न खतरे की पूर्ण अज्ञानता। इसलिये यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि वे बाज़ार से तरकारियाँ ख़रीदने में भय खाने लगे हैं। एक दिन मेरे एक मित्र ने प्रश्न किया कि क्या रेडियसक्रिय भोजन के प्रयोग से उसे उदर रोग हो जावेगा? इस भय की जड़ें ऐसी जम गई हैं कि लोगों ने जीवित रहने की आशायें त्याग दी हैं। इसलिये यह आवश्यक हो गया है कि हम देखें कि हमारे आजतक के ज्ञान के आधार पर इस रेडिय-सक्रिय अवपात से कितना खतरा हो सकता है।

रेडिय-सक्रियता

मुख्य विषय के सम्बन्ध में विवरण देने के पूर्व हम देखें कि रेडिय-सक्रियता क्या है? हम जानते हैं कि किसी भी तत्व के अणु के नाभिक में प्रोटान और न्यूट्रान होते हैं और इस नाभिक के चारों ओर इलेक्ट्रान चक्कर लगाते हैं। जब नाभिक

में प्रोटानों की संख्या अत्यधिक हो या किसी प्रकार से प्रोटान-न्यूट्रान का संतुलन नष्ट हो जाय तो आण्विक नाभिक अस्थिर या उत्तेजित हो जाता है। इस उत्तेजित या रेडिय-सक्रिय अणु की कुछ शक्ति इलेक्ट्रानों या बीटा किरणें, न्यूट्रानों, प्रोटानों और अलफा आदि कणों में या गामा किरणों के समान लघु विद्युत्चुम्बकीय तरंगों के रूप में नष्ट हो जाती है। चिकित्सा क्षेत्र में जिन एक्स-किरणों का उपयोग किया जाता है, वे भी गामा-किरणों की भांति की ही विद्युत-चुम्वकीय तरंगे हैं। हाँ, गामा किरणों का तरंगदैर्ध्य इन किरणों की अपेक्षा बहुत कम होता है। ये कण जितनी अधिक गति से विसर्जित होते हैं और इनका तरंगदैर्ध्य जितना ही कम होता है उनकी बेधनशक्ति भी उसी प्रकार अधिक होती है।

अवपात की प्रकृति

रेडियम, यूरेनियम और थोरियम के अणु स्वभाव से रेडिय-सक्रिय होते हैं। कुछ ऐसे भी तत्व हैं जो कृत्रिम रूप से रेडिय-सक्रिय बनाये जा सकते हैं, उदाहरण के लिये साधारण फासफोरस जिसका अणुभार ३१ है रेडिय-सक्रिय नहीं होता किन्तु इसका दूसरा समस्थानिक जिसका अणुभार ३२ हैं कृत्रिम रेडिम-सक्रिय फासफोरस है। जब किसी आण्विक अस्त्र का विस्फोट होता है कि तो उससें दीर्घ मात्रा में ऊर्जा तो उत्पन्न होती ही है, साथ ही यूरेनियम और प्लुटोनियम के खंडन के फलस्वरूप सौ से अधिक रेडिय-सक्रिय समस्थानिक भी उत्पन्न होते हैं। तत्वों के ये समस्थानिक बादलों के रूप में आकाश में ऊपर चढ़ जाते हैं और विभिन्न कालावधियों में फिर पृथ्वी पर उतर आते हैं। **इन कृत्रिम रेडियम-सक्रिय समस्थानिकों का पृथ्वी पर अवपात का यह रूप ही रेडिय-सक्रिय अवपात कहलाता है।** जैविकीय दृष्टिकोण से सभी रेडियम-सक्रिय समस्थानिक समान रूप से हानिकारक नहीं होते। जिन समस्थानिकों की रेडिय-सक्रियता का जीवन काल दीर्घ होता है (वर्षो का) वे उन समस्थानिकों की तुलना में जो केवल थोडे समय के लिये ही रेडिय-सक्रिय रहते हैं अधिक हानिकारक होते हैं। इन रेडिय-सक्रिय समस्थानिकों में स्ट्रॉन्शियम ९०, आयोडीन-१३१ और सीजियम-१३७ विशेष रूप में खतरनाक हैं। रेडिय-सक्रिय स्ट्रॉन्शियम से मृदु गामा किरणें विसर्जित होती हैं और इसका अर्ध जीवन काल २८ वर्ष है। इसी प्रकार रेडिय-सक्रिय सीज़ियम से बीटा किरणें और बेधक गामा किरणें विसर्जित होती हैं और इसका अर्धजीवन काल २७ वर्ष है। रेडिय-सक्रिय आयोडीन से भी बीटा किरणें और गामा-किरणें निकलती हैं किन्तु इसका अर्धजीवन काल केवल ८ दिन है इससे सीजियम-१३१ की तुलना में इससे विशेष भय नहीं है।

स्रोत और मात्रा

आण्विक विस्फोट का अवपात तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। पहला है स्थानीय या समीपवर्ती या तात्कालिक अवपात का क्षेत्र जो केवल कुछ ही मील होता है। किन्तु आण्विक परीक्षण ऐसे क्षेत्रों में किये जाते हैं जो बीरान और जनशून्य होते हैं। इससे हम पर यह कुप्रभाव विशेष नहीं हो पाता। दूसरा वर्ग है माध्यमिक या वायुमंडलीय अवपात। यह उन रेडिय-सक्रिय कणों के कारण होता है जो वायुमंडल में ५ से १० मील की ऊँचाई के बीच की परतों में स्थित हो जाते हैं। यह अवपतन दिनों या महीनों में हो पाता है और अवपतन की कालावधि वायु तरंगों के मिश्रित होने पर निर्भर होती है। तीसरे वर्ग का अवपात अधिक विस्तृत और समतापमंडलीय (स्ट्रेटोस्फेरीय) होता है। यह अवपात वर्षों तक चलता है। अनुमान लगाया जाता है कि रूस के मेगाटन बमों द्वारा विसर्जित यह अवपातन १० से १५ वर्ष तक होता रहेगा।

मनुष्य और अन्य जीव तीन प्रकार के विकिरणों से प्रभावित होते हैं। **पहले** प्रकार का विकिरण प्रत्येक स्थान पर होता है। इसके स्रोत मिट्टी और चट्टानों में स्थित यूरेनियम या थोरियम के समान तत्व हैं जो प्राकृतिक अवस्था में पाये जाते हैं। **दूसरे** प्रकार के विकिरण का स्रोत ब्रह्माण्ड किरणें हैं जो बाह्य अन्तरिक्ष से आवेशित कणों की धारायें पृथ्वी पर फेंकती रहती हैं। जिस प्रकार भूतल पर स्थित चट्टानों में रेडियसक्रिय तत्वों की मात्रा के अनुसार स्थान-स्थान पर विकिरण की मात्रा भिन्न-भिन्न होती है उसी प्रकार ब्रह्माण्ड किरणों का विकिरण भी भिन्न-भिन्न स्तरों पर भिन्न-भिन्न होता है। जैसे जैसे हम पृथ्वी से दूर बढ़ते जायें, विकिरण भी मात्रा में बढ़ता जाता है। सूर्य प्रदीप्ति या किसी तारे के विस्फोट के कारण से भी इस प्रकार के विकिरण की मात्रा में वृद्धि होती है। इन दोनों स्रोतों से किसी स्थान पर जो विकिरण होता है उसे पृष्ठभूमि विकिरण कहते हैं। **तीसरे** प्रकार के विकिरण वे हैं जिन्हें मनुष्य उत्पन्न करता है। इन विकिरणों के मुख्य स्रोत हैं चिकित्सा के लिये उपयोग की जाने वाली एक्स-किरणें, रेडिय-सक्रिय तत्वों का अवपात, आण्विक-शक्ति-उत्पादक प्रयोजनाओं के रेडियसक्रिय अवशेष आदि। विभिन्न पुरुषों में इन तीनों प्रकार के विकिरणों की मात्रा भी विभिन्न होती है। इसलिये विकिरण का साधारण अनुमान लगाना बड़ा कठिन है किन्तु फिर भी संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की राष्ट्रीय-अनुसंधान-समिति की आण्विक विकिरण के जैविकीय प्रभावों वाली शाखा के प्रतिवेदन से इसका कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। सन् १९५६ ई० में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में औसत व्यक्ति के प्रजनन अंगो पर ३० वर्ष के इन विकिरणों के प्रभाव की गणना की गई। गणना करते समय प्रजनन अंगों पर विकिरण का प्रभाव देखा गया क्योंकि ये अंग विकिरण के लिये सर्वाधिक संवदेनशील होते हैं। गणना में जिस इकाई का प्रयोग किया गया वह **रॉण्टजन** है। रॉण्टजन का अनुमान हम इस प्रकार लगा सकते हैं :—एक साधारण एक्स-किरण नली रोगी के खुले भाग पर ५ से ८ रॉण्टजन का विकिरण देती है। किन्तु जनन ग्रन्थि के समान आन्तरिक भागों पर विकिरण की मात्रा एक रॉण्टजन के पाँच हजारवें के दस हजारवें भाग तक ही होती है।

यह देखा गया कि पृष्ठ भूमि से ४·३ रॉण्टजन, चिकित्सा के लिये उपयुक्त एक्स-किरण आदि से ३ रॉण्टजन और रेडिय-सक्रिय तत्वों के अवपात के ०·१ से ०·५ रॉण्टजन विकिरण के रूप में प्रति औसत व्यक्ति के हिसाब से ३० वर्ष की अवधि में एकत्र हो गया है। हाल में किये गये रूसी परीक्षणों से अवपात की मात्रा दो गुनी से दस गुनी तक बढ़ जावेगी। इस प्रकार से अब तक औसत व्यक्ति पर मनुष्य निर्मित विकिरण का प्रभाव पृष्ठ भूमि से प्राप्त विकिरण से कम है और यदि पृष्ठ भूमि-विकिरण में चिकित्सा में उपयुक्त होने वाली एक्स-किरणों आदि का विकिरण भी सम्मिलित कर लिया जाय तो इसके अनुपात में आण्विक विस्फोटों द्वारा उत्पन्न विकिरण की मात्रा और भी कम हो जावेगी।

मनुष्यों पर प्रभाव

मनुष्य जाति पर रेडिय-सक्रियता से जो हानियाँ सम्भव है उन्हें तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है :—

(क) **व्यक्तिगत क्षति** :—किसी व्यक्ति विशेष पर यदि कुछ सैकड़ा रांण्टजन के विकिरण का प्रभाव पड़े तो वह जिन प्रभावों से पीडित होगा वे ये हैं:— जीवन-अवधि कम होना, कैन्सर, ल्यूकेमिया, जल जाना, चमड़ी पर दाह और सूजन उत्पन्न होना, प्रजनन सामर्थ्य का नाश, आन्तरिक रक्त स्राव। आण्विक युद्ध या आण्विक प्रयोजनाओं की किसी दुर्घटना को छोड़कर अन्य अवसरों पर यह सम्भव नही जान पड़ता कि विकिरण इतनी अधिक मात्रा में हो और बहुत से व्यक्ति इतने उच्च विकाश से प्रभावित हो सकें। व्याधि विज्ञान के अनुसार विकरण

की वह अधिकतम मात्रा ज्ञात की जा सकती है जो किसी व्यक्ति को एक बार में बिना विशेष हानि पहुँचाये दी जा सकती है। चूँकि मनुष्य का शरीर अपनी क्षतियों को समाप्त करके निर्माण में समर्थ है इससे कई बार दी गई विकिरण की छोटी-छोटी मात्रायें एक बार दी गई उच्च मात्रा के अनुपात में कम हानिकारक सिद्ध होंगी। किन्तु विभिन्न समास्थानिकों के शरीर में एकत्रीकरण की विधियाँ भिन्न-भिन्न हैं। उदाहरणार्थ, रेडिय-सक्रिय आयोडीन दूषित चरागाहों से पशु के दूध में होकर बच्चों की गल-ग्रन्थियों में एकत्र हो जाता है। इसी प्रकार से रेडिय-स्ट्रांशियम अन्न या समुद्री मछलियों से शरीर में एकत्र हो जाता है। परन्तु रेडिय-आयोडीन की आयु स्वल्प है और रेडिय स्ट्रांशियम की मात्रा जो अबतक एक औसत व्यक्ति में एकत्रित हो सकी है अनुज्ञेय मात्रा के कुछ हजारवें भाग से अधिक नहीं है।

(ख) **प्रजनन सम्बन्धी क्षति :**—सभी जीवों की प्रजनन विधि रेडियम सक्रियता के लिये विशेष संवेदनशील है। जब विकिरण प्रजनन अंगो तक पहुँचता है तो वह इन अंगों (बच्चादानी और अंड-कोषों) में परिवर्तन लाता है या विकार उत्पन्न कर देता है। ये प्रभाव आने वाली पीढियाँ अपने पूर्वजों से विरासत में पाती हैं। प्रजनन अंगों का यह परि-वर्तन या क्षति छोटी से छोटी विकिरण की मात्रा से ही हो जाता है। फिर यह प्रजनन विकृति विकिरण की मात्रा के साथ संचलित होती रहती है। १५ वर्ष की आयु से ४५ वर्ष तक की आयु तक व्यक्तियों में प्रजनन क्रियायें सर्वाधिक सक्रिय अवस्था में रहती हैं। राष्ट्रीय अनुसंधान समिति के निरीक्षणों के अनु-सार इन अवस्थाओं के मध्य के ३० वर्ष की अवधि के बीच की विकृति ऐंद्रिय या मानसिक अस्वा-भाविकता या वन्ध्यत्व के रूप में प्रकट होती है।

मनुष्य जाति की विकिरण द्वारा प्रजनन सम्बन्धी हानि का ठीक अनुमान लगाना अत्यन्त कठिन है। इस समय स्वाभाविक प्रजनन सम्बन्धी विकृति और विकिरण से उत्पन्न इसी प्रकार की विकृति की गतियों का अनुमापन सम्भव नहीं है। संयुक्त राष्ट्रीय अनुसन्धान समिति के निरीक्षण चूहों आदि पर किये गये परीक्षणों पर आधारित हैं जो पूर्ण विश्वसनीय नहीं कहे जा सकते। आजकल संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में उत्पन्न लगभग दो प्रतिशत बालक प्रजनन सम्बन्धी विकृतियों के शिकार होते हैं। यदि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की सब आबादी कई पीढ़ियों तक तीस या ४० रॉण्टजन विकिरण से प्रभावित कर दी जाय तो नवजात शिशुओं में ४ प्रतिशत प्रजनन विकृतियों से पीड़ित प्राप्त होंगे। संयुक्त राष्ट्रीय वैज्ञानिक समिति का यह मत है कि यदि आण्विक परीक्षण सन् १९५८ ई० में बन्द कर दिये गये होते तो कई पीढियों तक के लोगों में २५०० से लेकर १,००,००० व्यक्ति प्रजनन विकृतियों से पीड़ित होते। इसके अतिरिक्त २५,००० से १,५०,००० लोग ल्यूकेमिया के शिकार हुये होते। किन्तु अब इस समय की रेडिय-सक्रियता सन् १९५८ की रेडिय-सक्रियता से ७५ प्रतिशत बढ़ गई है। इसका अभिप्राय है कि अब विश्व की आबादी का खतरा सन् १९५८ ई० का लगभग दूना हो गया है। यद्यपि ये संख्यायें बहुत बड़ी ज्ञात होती हैं फिर भी संसार की पूरी आबादी को देखते हुये जो तीन और ५ अरब के बीच में है, अधिक नहीं हैं।

(ग) **भोजन शृंखला में व्याघात :**—मनुष्य अपने चारों ओर की सभी जीवित वस्तुओं पर निर्भर हुये बिना जीवित नहीं रह सकता। कुछ पौदे या पशु हमें भोजन देते हैं। सियार के समान पशु या गिद्धों और कौओं के समान कुछ पक्षी सफाई का काम करते हैं। कुछ छोटे कीड़े या प्लैंकटन के समान कुछ समुद्री पदार्थ यद्यपि हमसे सीधा सम्बन्ध नहीं रखते फिर भी वे उन चिड़ियों और मछलियों के

[शेषांश पृ० १३५ पर]

१. सिलिकोन—रेत से चमत्कार

विज्ञान ने पहले ही एक बहुत ही सस्ती और प्रचुर परिमाण में सुलभ रेत और पत्थर से 'सिलिकोन' नामक ऐसी चमत्कारी वस्तु तैयार करना सम्भव कर दिया है, जिसके द्वारा मानव की प्राणों की रक्षा करना तथा जल, ताप और क्षरण के प्रभावों से वस्तुओं को सुरक्षित करना सम्भव हो गया है। यही नहीं, इनसे निर्मित कृत्रिम मानव अवयवों का उपयोग असली मानव-अवयवों के स्थान पर किया जा सकता है।

इस वर्ष दिल्ली में आयोजित औद्योगिक प्रदर्शनी में जो अमेरिकी मण्डप खड़ा किया गया, उसमें दिखाई जा रही अनेक दिलचस्प वस्तुओं से एक वह प्रदर्शन भी रहा, जिसमें सिलिकोन के औद्योगिक, वैज्ञानिक और चिकित्सा-सम्बधी उपयोगों पर प्रकाश डाला जाता है।

सिलिकोन का निर्माण विशेष प्रकार की रेत या पत्थर से होता है। ये एक विशिष्ट प्रकार के ऐसे पदार्थ होते हैं जिन पर आसपास के वातावरण का कोई असर नहीं पड़ता। समान्य तौर पर अन्य भौतिक पदार्थ कठोर और विषम वातावरण और जलवायु को सहन करने में समर्थ नहीं होते। उदाहरणार्थ, वह सिलिकोन निर्मित वस्तु जो शून्य डिग्री तापमान से नीचे तापमान पर पूर्ण विश्वसनीयता से अपना कार्य करती है, वही काफी ऊँचे तापमान पर भी बिना किसी कठिनाई के इस्तेमाल की जा सकती है। इस प्रकार की विशेषता का अनेक क्षेत्रों, विशेषतया अन्तरिक्ष-टेकनॉलॉजी में बहुत बड़ा महत्त्व है।

इसके अतिरिक्त सिलिकोन में विद्युतनिरोध क्षमता भी विद्यमान है। इस पर जल की आर्द्रता और मौसम का भी प्रभाव नहीं होता। इन गुणों के कारण सिलिकोन की ओर चिकित्साशास्त्रियों का ध्यान भी विशेष रूप से आकर्षित हुआ है। सिलिकोन का निर्माण एक विशेष प्रकार की रेत या पत्थर की विद्युत् भट्टियों में गला कर किया जाता है। इसके बाद उनको कई रासायनिक पदार्थों के सम्पर्क में लाया जाता है ताकि नाना प्रकार के सिलिकोन क्लोराइडों का उत्पादन किया जा सके। इसके उपरान्त इन्हें अलग और शुद्ध किया जाता है और तदुपरान्त पुनः इन पर रासायनिक प्रयोग किया जाता है जिससे सिलिकोन-रबर, राल, रबर-ट्यूबों का निर्माण किया जा सके।

चिकित्सा और शल्यचिकित्सा में सिलिकोन का उपयोग इस चमत्कारी पदार्थ का नवीनतम प्रयोग है। उदाहरणार्थ, सिलिकोन निर्मित रबर का उपयोग आजकल उन नवजात शिशुओं की जीवन-रक्षा करने के लिए किया जाता है, जिनके मस्तिष्क में पानी पहुँच जाता है। सिलिकोन ट्यूब से उन शिशुओं के मस्तिष्क से पानी निकाल लिया जाता है, जिनका प्राकृतिक नली का मार्ग अवरुद्ध रहता है। यदि वह पानी न निकाला जाए तो अन्दर दबाव बढ़ जाता है और अन्त में रोगी की मृत्यु हो जाती है। सिलिकोन के अतिरिक्त अभी तक अन्य कोई पदार्थ नहीं है

जिस पर आसपास की परिस्थितियों का कोई प्रभाव न पड़ता हो और जिस पर शरीर के अन्दर उपस्थित रहने पर किसी प्रकार की प्रतिक्रिया न होती हो ! यह भी उल्लेखनीय है कि वस्तुओं को कीटाणुरहित करने के लिए जिस तापमान की आवश्यकता पड़ती है, उसे वह सहज ही सहन कर सकते हैं।

सिलिकोन रबर का उपयोग प्लास्टिक शल्य-चिकित्सा में व्यापक रूप से होने लगा है। शरीर के अवयवों के स्वरूप में उत्पन्न दोषों को ठीक करने के लिए भी इसका उपयोग होता है। चिकित्सा-कार्य के लिए सिलिकोन रबर एक बहुत ही उपयुक्त पदार्थ है, क्योंकि इसे सुगमता से कोई भी आकार प्रदान किया जा सकता है। यह शरीर के स्वस्थ तन्तुओं के सदृश दीखता है और सफलतापूर्वक तथा सुगमता के साथ मानव शरीर में प्रयोग किया जा सकता है। इसके कारण अब दुर्घटनाग्रस्त व्यक्तियों के क्षतिग्रस्त कान और नाक के स्थान पर प्लास्टिक निर्मित नाक और कान लगाए जा सकते हैं। इस पदार्थ का उपयोग हृदय के कृत्रिम वाल्व तैयार करने के लिए किया जा सकता है। इस प्रकार निर्मित वाल्वों को उन हृदय-रोगियों के हृदयों में फिट किया जा सकता है, जिनके हृदयों में इस प्रकार के दोष रहते हैं। बहुत से हृदय-रोगी इस प्रकार की शल्य-चिकित्सा से पूर्ण स्वास्थ्य लाभ कर सक्रिय जीवन व्यतीत करने में समर्थ हो जाते हैं।

सिलिकोन का एक सबसे नवीनतम और चमत्कार-पूर्ण उपयोग 'हार्ट स्टिमुलेटर' नामक एक विलक्षण यंत्र का निर्माण है, जिसका कार्य हृदय की धड़कन को जारी रखने में सहायता पहुँचाना है। इससे विद्युत तरंगें हृदय तक पहुँचाई जाती है, प्रत्येक तरंग के फलस्वरूप हृदय में धड़कन की क्रिया होती रहती है। 'हार्ट स्टिमुलेटर' नामक यन्त्र ऐसी सूक्ष्म बैटरियों से युक्त होता है जो पाँच वर्ष तक कार्य कर सकती हैं। इन्हें सिलैस्टिक सिलिकोन के अन्दर रखकर शरीर के अन्दर इस प्रकार लगाया जा सकता है कि शरीर में उनके होने का किसी को आभास तक नहीं हो सकता है।

सिलिकोन का उपयोग बड़े पैमाने पर वार्निश और रंग-रोगन उद्योग में भी होता है। इसके अतिरिक्त बेकारियों, रबर कम्पनियों और ढलाई-घरों में भी उनका उपयोग किया जाता है। इनमें जल निरोधक क्षमता होती है, अतएव भवन निर्माण के लिए प्रयुक्त की जाने वाली बहुत सी वस्तुओं पर भी इसकी परत की जाती है जिसमें नमी इत्यादि से उनकी रक्षा हो सके।

२. प्लास्टिक के मकान

भवन निर्माण के कार्यों में प्लास्टिक के प्रयोग का उल्लेख करते समय हम 'कल' तथा 'भविष्य' इन शब्दों का बहुत प्रयोग करते हैं। कैलिफोर्निया के डिजनीलैण्ड में 'हाउस औव् टुमारो' नामक एक ऐसे भवन का प्रदर्शन किया जा रहा है, जो प्लास्टिक से निर्मित किया गया है। कुछ वर्षों में बच्चे केवल प्लास्टिक से निर्मित स्कूलों में अध्ययन कर सकेंगे। अभी हाल में प्लास्टिक से एक स्कूल भवन तैयार किया गया है। यह ढांचा प्लास्टिक के हल्के वजन के तख्तों को जोड़ कर तैयार किया गया है। आवश्यकता पड़ने पर श्रेणी-कक्षों को सुगमता से छोटा-बड़ा किया जा सकता है।

किन्तु, यहाँ तो अब विविध कार्यों में प्रयोग में आने वाले प्लास्टिकों का बनना प्रारम्भ हो गया है। अब ऐसे प्लास्टिक भविष्य की वस्तु नहीं रह गये हैं। अब इनका भवन निर्माण सम्बन्धी कार्यों में अधिकाधिक प्रयोग होने लगा है। इनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण प्लास्टिक की दीवार, विद्युत अवरोधक सामग्री, लकड़ी तथा धातुओं जैसी विविध सामग्री की रक्षा करने के लिये टिकाऊ पलस्तर तथा रंग-रोगन आदि सम्मिलित हैं। यह प्लास्टिक-झाग अभी अपनी स्थिति में हैं, तो भी उनको अनेक कार्यों में प्रयोग

में लाया जाने लगा है। प्लास्टिक झागों से स्वयं दीवारें भी तैयार की जा सकती हैं।

ऐसे नये पदार्थ कितने समय तक भवन निर्माण कार्यों में व्यापक रूप में प्रयोग में आने लगेंगे ? जब तक दो विशाल उद्योग—भवन निर्माण सम्बन्धी सामग्री तैयार करने वाले तथा रसायन द्रव्य तैयार करने वाले-एक-दूसरे उद्योग के विषय में पूरी जानकारी प्राप्त नहीं कर लेंगे, तब तक सम्भवतः यह कार्य सम्भव नहीं हो सकेगा। इस विषय में कहीं-कहीं कुछ परीक्षण देखने में आने लगे हैं।

कुछ वर्ष पूर्व, प्लास्टिक-झाग बड़े आशाजनक समझे जाते थे। उस समय उनके विषय में परीक्षण किये जा रहे थे। अगले वर्ष तक ४ करोड़ घनफुट में उनका प्रयोग किया जायेगा। कुछ प्लास्टिक-झागों का व्यापार के लिये भारी मात्रा में उत्पादन किया जा सकेगा। उनमें से दो पदार्थों—पोलिस्टिरेन तथा यूरेथेन—का पहले से उत्पादन हो रहा है। यदि रसायनशास्त्री फेनोलिक नामक पदार्थ को टूटने से बचाने की विधि मालूम कर लें, तो फिर उसका उत्पादन प्रारम्भ हो जायेगा।

सर्व प्रथम पुरानी किस्म का पोलिस्टिरेन भवन निर्माण के कार्यों में प्रयोग में आने लगा था। यह कड़े गत्तों की शक्ल में तैयार किया जाता था। नई प्लास्टिक-झागों, पोलिस्टिरेन तथा युरेथेन, एक महत्त्वपूर्ण दृष्टि से एक-दूसरे से भिन्न हैं। वे फैक्टरी में तैयार किये गये चौखटों तथा भवनों तथा भवनों की दीवारों में भरे जा सकते है।

यूरेथेन एक नया पदार्थ है। यह अपेक्षाकृत अधिक मँहगा भी है। अतः इसमें कुछ विशेष गुणों का होना आवश्यक है, तभी लोग इसको प्रयोग में लाने लगेंगे। यूरेथेन में ऐसे गुण हैं। पोलिस्टिरेन में चिपकने का गुण नहीं है, किन्तु इसके विपरीत यूरेथेन में चिपकने का गुण विद्यमान हैं। यह पदार्थ दूसरे वस्तुओं को जोड़ने के लिये प्रयोग में लाया जा सकता है। अपने चिपकने के गुण के कारण यूरेथेन को आसानी से वर्तमान दीवारों में भरा जा सकता है।

यूरेथेन झाग विद्युत अवरोधक के रूप में भी पोलिस्टिरेन से उत्तम है। वैसे ये दोनों पदार्थ बहुत अच्छे विद्युत अवरोधक हैं। आजकल यूरेथेन का रेफ्रिजेटरों में प्रयोग किया जा रहा है। इसमें अत्यधिक विद्युत-अवरोधक गुण होने के कारण यह बड़ा ही उपयोगी सिद्ध हो रहा है। यह बहुत कम स्थान घेरता है। यूरेथेन का प्रयोग करने से १२ घनफुट के रेफ्रिजरेटर में बाहरी लम्बाई, चौड़ाई तथा ऊँचाई बढाये बिना ४ घनफुट रिक्त स्थान बढ़ जाता है।

इन रासायनिक पलस्तरों तथा रंग-रोगनों में इपोक्सीज, विनाइल्स, एक्रिलेट, तथा यूरेथेन सब से महत्त्वपूर्ण हैं। उनके कारण ऐसे कार्यों में परिवर्तन आ रहा है, जिनमें चिरकाल से अलसी का तेल, बिनौले का तेल, सोयाबीन का तेल, राल आदि का प्रयोग किया जा रहा है। रंग-रोगन के रूप में ये नये रासायनिक पदार्थ प्राकृतिक तेलों से उत्तम हैं। श्वेत एक्रिलिक, एल्फाइड, तथा विनाइल पेंट पीले नहीं पड़ते हैं, तथा इपोक्सी पेंटों में बहुत अधिक चेप होता है और वे काफी टिकाऊ होते हैं। किन्तु प्रत्येक रासायनिक पेंट में कुछ दोष भी होते हैं। उदाहरण के तौर पर इपोक्सी पेंट बहुत मँहगे हैं और एक्रिलिक नर्म हो जाता है और उस पर शीघ्र धूल जम जाती है। कहीं-कहीं नये यौगिकों को रासायनिक तरीकों से प्राकृतिक तेलों के साथ मिलाया जाता है। कहीं-कहीं वे प्रचलित पलस्तरों तथा रंग-रोगनों के स्थान पर प्रयोग में आने लगे हैं। उनमें ऋतु सम्बन्धी प्रभावों को रोकने की क्षमता है और उन पर धूल आदि का बहुत कम प्रभाव पड़ता है।

इनमें सबसे प्रसिद्ध तथा सबसे नये यूरेथेन पलस्तर हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय जर्मनी में इनका विकास हुआ था। गत वर्षों में अमेरिका में भी इनके विषय में परीक्षण किये गये हैं। यूरेथेन

पेंट सम्भवतः सबसे उत्तम रासायनिक पेंट हैं। इन पर देर तक ऋतु सम्बन्धी प्रभाव नहीं होता है। इस समय इनके प्रयोग के विषय में सबसे बड़ी बाधा यह है कि ये बहुत मँहगे हैं और इनके प्रयोग करने में काफी कठिनाई होती है। ये पीपे में पड़े-पड़े गाढ़े हो जाते हैं।

भवन निर्माण के क्षेत्र में यूरेथेनों ने बहुत अच्छे परिणाम दिखाये हैं। ये फर्शों पर पलस्तर करने के लिये बहुत उपयोगी सिद्ध हुए हैं। आशा है कि मकानों के भीतर पलस्तर करने तथा रंग-रोगन करने आदि के लिये इनका व्यापक प्रयोग किया जाने लगेगा। सबसे बड़ी बाधा यह है कि अब तक जो रंग-रोगन उपलब्ध हैं वे धूप के प्रभाव से पीले अथवा काले पड़ जाते हैं। रसायनशास्त्री इस समस्या को हल करने के लिये प्रयत्नशील हैं। वे रासायनिक रंग-रोगनों का सुधार करने के लिये प्राकृतिक तेलों का प्रयोग कर रहे हैं।

३. कृषि में अणुशक्ति की सहायता

ऐसा प्रतीत होता है कि अणु का सबसे छोटा आकार होते हुए भी वह खेती की पैदावार बढ़ाने में सबसे बड़ा किसान सिद्ध होगा। अणुशक्ति से अमेरिका की खेती में अब भी तरह-तरह के चमत्कारी उपयोग लिये जा रहे हैं। अणुशक्ति-उद्योग का क्षेत्र निरन्तर बढ़ता जा रहा है और खेतीवारी में उसके तरह-तरह के उपयोगी पदार्थ दिखाई दे रहे हैं। उससे कृत्रिम वर्षा कराने से लेकर घास-फूस को नष्ट करने तक और वनस्पतियों के रोगों का पता लगाने से लेकर नई किस्म के संकर पेड़-पौधे तैयार करने तक खेतीबारी में तरह-तरह के विचित्र उपयोग लिये जा रहे हैं।

अब अणुशक्ति से विशेष रूप में आहार और पोषणतत्वों के अध्ययन में लाभदायक काम लिया जा रहा है। परीक्षणात्मक फार्मों पर पौधों की खूराक में और मवेशियों के चारे में रेडियधर्मी आइसोटोप प्रविष्ट कर दिये जाते हैं। फिर उन रेडियधर्मी किरणों पर निगरानी रखते हुए यह पता लगाने का प्रयत्न किया जाता है कि मवेशियों की हड्डियों व माँसपेशियों को मजबूत बनाने तथा रोगों का प्रतिरोध करने के लिए किस प्रकार के और कितनी मात्रा में खनिज लवणों की आवश्यकता होती है। आइसोटोप किसी रासायनिक तत्व के असामान्य स्वरूप को कहते हैं। किसी तत्व के सामान्य असामान्य स्वरूप में रासायनिक घटक तो एक जैसे ही होते हैं, पर उनके भार में कुछ अन्तर होता है। उदाहरणार्थ सामान्य प्रकार के यूरेनियम का आणविक भार २३८ होता है; पर यूरेनियम-२३५ आइसोटोप का नाम है, जिसका अणविक भार २३५ होता है।

बहुत से तत्व अपने सामान्य रूप में रेडियोधर्मी नहीं होते, पर उनके आइसोटोप रेडियोधर्मी होते हैं। इस प्रकार एल्यूमीनियम का अपने सामान्य रूप में आणविक भार २७ होता है, पर उसका आइसोटोप एल्यूमीनियम-२६ कहलाता है और वह रेडियोधर्मी होता है। आईसोटोपों से होने वाले विकिरण को, अन्य किसी प्रकार के विकिरण की भाँति, उपकरणों से मापा जा सकता है।

जब रेडियोधर्मी कण किसी जानवर के शरीर में या किसी वनस्पति के भीतर गति करते हैं तो उनका पता लगाया जा सकता है, इस प्रकार किसान को उनसे बड़ी उपयोगी जानकारी प्राप्त होती है। अमेरिका में खेती, उद्योग और चिकित्सा-क्षेत्र के लिए रेडियो-आइसोटोपों का उत्पादन किया जाता है और इसमें करोड़ों डालर की पूँजी लगी हुई है।

रेडियोधर्मी आइसोटोपों का उपयोग खेती में विविध प्रयोजनों से किया जाता है। मुर्गियों को रेडियोधर्मी आइसोटोप मिलाकर दाना दिया जाता है और इस प्रकार यह जानने का यत्न किया जाता है कि कौन सा दाना उनके लिए सबसे पुष्टिकर है।

आइसोटोपों से निकलने वाली किरणों को देख कर अनुसन्धानकर्ताओं को पता चलता है कि वह दाना शरीर में और अंडों में कहाँ और कितनी मात्रा में पहुँचा है। इससे मुर्गी-पालक यह जान सकते हैं कि अंडों का अधिक और बढ़िया उत्पादन कैसे किया जाये।

रेडियोधर्मी अणुओं से अनुसन्धानकर्ता इस बात का अध्ययन करते हैं कि पौधे किस प्रकार भूमि से अपना आहार ग्रहण करते हैं। रेडियो-आइसोटोप इतने सूक्ष्म होते हैं कि उनके कारण वनस्पतियों को अपना आहार लेने में कोई रुकावट नहीं होती और उनके मार्ग का सुगमता से और सही प्रकार से विकिरण सूचक यन्त्रों से पता लग जाता है। इस प्रकार के परीक्षणों से वैज्ञानिकों को रासायनिक खादों की प्रभाव-क्षमता का निश्चय हो जाता है। उदाहरणार्थ, अनुसन्धानकर्ताओं ने यह पता लगाया है कि मक्का की फसल को प्रारम्भ में फासफोरस की अधिकता वाली खाद की जरूरत होती है।

जांच पड़ताल के इन कार्यों के फलस्वरूप पैदावार अधिक होने के अतिरिक्त पौधों के बढ़ाव में भी इतनी शीघ्रता आ जायगी कि एक ही मौसम में एक से अधिक फसल प्राप्त की जा सकेगी। अन्वेषण के काम आने वाले रेडियोधर्मी आइसोटोपों से वैज्ञानिकों को वनस्पतियों के रोगों का पता लगाने में, उनके बढ़ाव में रुकावट डालने वाले घास-फूस को नष्ट करने वाले तथा पौधों के भीतर के अन्य रासायनिक तत्वों के कार्यों के देखने में भी शायद मदद मिलेगी।

वनस्पतियों के रचना-तत्वों को बदलने के लिए विकिरण का प्रयोग किया जाता है और उन नये स्वरूपों से नई किस्में तैयार की जाती हैं। सामान्यतः जिस काल के लिए सैकड़ों साल लग जायें उसे इस प्रकार कुछ ही मिनटों में कर लिया जाता है। इस विधि से वैज्ञानिकों ने रतुआ न लगने वाले अनाज और मजबूत डंठल वाले गेहूं की नई किस्म तैयार कर ली है। इस प्रक्रिया से जो सबसे प्रसिद्ध किस्म पैदा की गई है वह है और मूंगफली की 'एन-सी ४ ऐक्स'। यह पहले की सब किस्मों से बढ़िया है और अमरीकी किसानों द्वारा बड़े पैमाने पर पैदा की जा रही है।

जानवरों की बीमारियों की चिकित्सा करने में भी रेडियो-आइसोटोप का खूब उपयोग किया जा रहा है। उदाहरणार्थ, उनसे यह पता चला है कि किस प्रकार बढ़िया दीखने वाले चरागाह के मवेशी विटामिन बी-१२ की कमी होने से मर जाते हैं। मच्छरों के एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचने और किसानों के काम-काज में बाधा में डालने वाली टिड्डियों व अन्य कीड़ों की आदतों का पता भी रेडियोधर्मी आइसोटोपों से लगाया जाता है। मच्छरों व टिड्डियों आदि कीट-पतंगों के भीतर रेडियोधर्मी फासफोरस पहुँचा दिया जाता है और फिर काफी दूर-दूर पर उन्हें पकड़ने के जाल आदि लगा दिये जाते हैं। इस प्रकार उनके स्थानान्तरण की प्रवृत्तियों का पता लगाया जाता है। कुछ साल पहले तक अमेरिका में स्क्रू वर्म नामक कीड़ों से प्रतिवर्ष ९॥ करोड़ रु० की हानि हो जाती थी। अब प्रजनन-शक्ति के विनाश के लिए विकिरण का प्रयोग करके इस नस्ल के सभी कीड़ों को नष्ट कर दिया गया है।

एक मनोरंजक खोज यह की गई है कि विकिरण-क्रिया द्वारा वस्तुओं को सुरक्षित रखा जा सकता है। आइसोटोपों से निकलने वाली निरापद किरणों से मांस, शाक-सब्जियों और अन्य खाद्य-वस्तुओं के अधिकांश जीवाणुओं को नष्ट कर दिया जाता है। इस प्रकार यह संभव हो गया है कि विकिरण क्रिया से प्रभावित खाद्य-पदार्थों को शीतागारों या ठंडी जगहों में रखे बिना भी चिरकाल तक अच्छी दशा में सुरक्षित रखा जा सके।

यह पता लगाया गया है कि यदि आलुओं पर थोड़ी देर तक विकिरण-क्रिया का प्रभाव डाला जाये तो वे सड़े-गले या अंकुरित हुए बिना दो साल या

उससे अधिक समय तक रखे रह सकते हैं। आशा है कि खाद्य-वस्तुओं को सुरक्षित रखने के आलावा रेडियोधर्मी आइसोटोपों से खाद्य-पदार्थों, दवाओं और जल्दी बिगड़ने वाली दूसरी डाक्टरी चीजों को कीटाणु-विहीन बनाने में भी बहुत उपयोगी काम लिया जायेगा।

अब वह समय बहुत दूर नहीं दीखता जब उन देशों में भी सहाँ रेफ्रिजरेटरों और शीतागारों का उपयोग फिजूलखर्ची माना जाता है, गृहिणियाँ फलों, सब्जियों और अन्य खाद्य-वस्तुओं को सुरक्षित और पुष्टिकर हालत में रखने का यह कारनामा अणुशक्ति का ही चमत्कार होगा।

४. 'सर्वज्ञ' विद्युदणु मस्तिष्क

मानव-मस्तिष्क में इतनी क्षमता नहीं कि वह सब कुछ याद रख सके अथवा संसार में इस समय सुलभ अधिकांश सूचना और जानकारी को ग्रहण कर सके। लेकिन एक ऐसी मशीन का निर्माण करने की दिशा में मनुष्य ने उल्लेखनीय प्रगति कर ली हैं, जो संसार में सुलभ समस्त ज्ञान और जानकारी को ग्रहण करने में समर्थ हो।

पिछले वर्ष शिकागो में एक ऐसी मशीन का प्रदर्शन किया गया, जो विशिष्ट क्षेत्रों में सुलभ समस्त सूचना को ग्रहण करने में पूरी तरह समर्थ थी। 'इन्फार्मेशन स्टोरेज एण्ड रिट्रिवल सिस्टम और लिटरेचर' नामक यह विद्युदणु मस्तिष्क सूचना ग्रहण कर सकता है और आश्चर्यजनक शीघ्रता से जटिल-तम प्रश्नों के सही उत्तर दे सकता है। इतनी शीघ्रता से इतने सही उत्तर दे पाना कई हजार मानव-मस्तिष्कों के वश की भी बात नहीं है।

यह मशीन और कुछ नहीं एक विद्युदणु गणक यन्त्र है, जो अपनी क्षमता में सर्वथा अनूठा है। इस विद्युदणु गणक यन्त्र (यान्त्रिक-मस्तिष्क) का उपयोग चन्द्रमा की उड़ान सम्बन्धी गणना करने से लेकर अमेरिकी चुनावों के परिणाम जानने तक के लिए किया जा सकता है। जनरल इलेक्ट्रिक कम्पनी द्वारा निर्मित २२५ ट्रांजिस्टरों से युक्त यह विद्युदणु-यन्त्र अपने चुम्बकीय स्मृति-फीते में ८१९२ शब्दों को संग्रह कर सकता है और इसके साथ ही साहित्य सम्बंधी शोध-कार्य में भी सहायक सिद्ध हो सकता है।

यह अनुमान है कि संसार में प्रत्येक २४ घण्टों में हर ६० सेकेण्ड बाद [illegible] हजार पृष्ठों का—इसमें पुस्तकें, समाचारपत्र और रिपोर्ट शामिल रहती हैं प्रकाशन होता है। यदि एक व्यक्ति एक वर्ष तक अपना सारा समय केवल प्रकाशित सामग्री को पढ़ने पर ही लगा दे तो वह १,५०,१२,००,००० पृष्ठ पीछे रह जायेगा। जैसे-जैसे संसार का स्वरूप अधि-काधिक जटिल होता जाता है, प्रकाशित साहित्य की विषय-वस्तु के सम्बन्ध में लोगों का ज्ञान बराबर पीछे पड़ता जा रहा है। लेकिन, यह नया विद्युदणु मस्तिष्क 'आइ० एस० आर० एल०' एक वर्ष की अवधि में प्रकाशित समस्त टैक्निकल सामग्री को कुछ ही घण्टे में पढ़ सकता है और किसी भी प्रश्न का, चाहे वह सामान्य हो या विशिष्ट, सरल हो या क्लिष्ट, तुरत-फुरत बिल्कुल सही उत्तर दे सकता है।

यदि इस विद्युदणु मस्तिष्क से यह प्रश्न पूछा जाए कि अभी साल में मस्तिष्क कैंसर की शल्य-चिकित्सा के बारे में क्या साहित्य प्रकाशित हुआ है, तो प्रश्न पूछने के बाद कुछ ही मिनिटों में यह विद्यु-दणु-मस्तिष्क उस समस्त साहित्य का विवरण छाप कर आपके समक्ष प्रस्तुत कर देगा जो पिछले दो सप्ताहों में पिछले वर्ष, अथवा किसी विशिष्ट अवधि में इस विषय पर प्रकाशित हुआ हो। यह विद्युदणु मस्तिष्क टैक्निकल लेखों, सरकारी रिपोर्टों के सूचीवद्ध उद्धरणों की १ लाख प्रतिघण्टे की गति से खोज कर सकता है। एक ही समय पर यह यन्त्र १० सर्वथा भिन्न प्रश्नों के उत्तर दे सकता है।

लेकिन, इस जटिल विद्युदणु मशीन को चलाने के लिए अब भी मनुष्यों की आवश्यकता पड़ती है।

इस विद्युदणु यन्त्र पर कार्य करने वाले ५० विशेषज्ञों को सम्बन्धित विषय पर विश्व में प्रकाशित हुए समस्त साहित्य की जानकारी होनी चाहिए। लेखों का विश्लेषण ऐसे वैज्ञानिकों द्वारा किया जाना चाहिए, जिन्हें विषय-सामग्री के साथ-साथ उस भाषा की भी जानकारी हो जिसमें वे प्रकाशित हुए हों। इसके अतिरिक्त दो प्रकार के डाइजेस्ट अवश्य तैयार किए जाने चहिए, एक तो सामान्य अंग्रेजी भाषा में और दूसरा उस सांकेतिक शब्दावली में जो विद्युदणु मस्तिष्क में इस्तेमाल की जाती हो।

विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त होने वाले प्रश्नों को विद्युदणु मस्तिष्क की भाषा में अनूदित करना आवश्यक रहता है। जब प्रश्नों के उत्तर प्राप्त होते हैं तो मशीन पर कार्य करने वाले विशेषज्ञों को अंग्रेजी भाषा में उनके उद्धरण तैयार करने पड़ते हैं।

इस विद्युदणु-मस्तिष्क के आविष्कार से खर्च में काफी बचत होने की सम्भावना है। यही नहीं, वैज्ञानिकों को अनुसंधान के क्षेत्र में दोहरा प्रयत्न करने से मुक्ति मिल जाएगी। विज्ञान और प्रविधि के क्षेत्र में प्रगति की गति इतनी तेज रही है कि बिना किसी यान्त्रिक-प्रणाली का सहारा लिए किसी विषय के बारे में पूर्ण और आधुनिकतम जानकारी रख पाना बड़ा कठिन हो गया है। 'आई एस० आर० एल०' नामक यह विद्युदणु यन्त्र किसी भी विषय के किसी भी विशिष्ट अंग के बारे में नवीनतम जानकारी, उसके प्रकाशित होने के दो या तीन सप्ताह बाद ही, सुलभ कर सकता है।

———

[पृ० १२८ का शेषांश]

भोजन के आम आते हैं जो हमें भोजन देती हैं। इस प्रकार मनुष्य इनके प्राकृतिक भोजन श्रृंखला से सम्बद्ध है। अथवा यों कहें कि मनुष्य और उसके चारों ओर के जीव जगत में एक संतुलन आवश्यक है। सभी जीवित वस्तु पर विकिरण द्वारा परिवर्तन या विकृतियाँ समान जीवनमय रूप से नहीं होते। इससे यह सम्भव है, कि अधिक विकिरण से मनुष्य और उससे चारों ओर के जीवनमय पदार्थों का संतुलन बिगड़ जाय। इस संतुलन के बिगड़ने से सम्भव है कि खाद्यों की उत्पत्ति घट जाय, अनावश्यक घासों की मात्रा बढ़ जावे और विद्यमान भोजन श्रृंखला में व्याघात पड़ जाय।

बोस इन्टिट्यूट, कलकत्ता

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि रेडिय सक्रिय-अवपात से एक निश्चित भय उत्पन्न हो गया है मनुष्य जाति को इससे कितनी क्षति पहुँचेगी इसका मामूली अनुमान लगाना भी इस समय अत्यन्त कठिन है। सम्भवतः क्षति का अनुमान जितना होना चाहिये उससे अधिक लगाया जा रहा है और जनसाधारण का भय न्यायसंगत नहीं मालूम पड़ता। किन्तु राजनीतिज्ञों और वैज्ञानिकों को वास्तविक खतरे को समझना चाहिये और समय रहते आण्विक अस्त्रों के भयावह खेलों से दूर हट जाना चाहिये। यदि वे इस ओर से सावधान न हुये तो विश्व का अनिष्ट हुये बिना न रहेगा।

—नार्दर्न इण्डिया पत्रिका से साभार

———

विज्ञान वार्ता

१. मेगाटन बम से उत्पन्न संकट

रूस द्वारा किये गये मेगाटन बमों के परीक्षण से यह ज्ञात होता है कि इनकी विस्फोट शक्ति आज से कोई १७ साल पूर्व हिरोशिमा पर किये गये अणुबम परीक्षण की विस्फोट शक्ति से कई हजार गुना अधिक है। हिरोशिमा बम की विस्फोट शक्ति २० किलो-टन थी। एक मेगाटन बम की विस्फोट शक्ति १०,००,००० टन है (१००० टन की विस्फोट शक्ति =१ किलोटन इकाई)। रूस ने कुल १७० मेगाटन बमों के परीक्षण किये हैं। इन मेगाटन बमों के विस्फोट के फलस्वरूप मानव, पशु-पक्षी तथा अन्य जीव-जन्तुओं का जीवन संकटमय बन जायेगा। इनके परीक्षण के परिणामतः बम गिरने वाले स्थान से सैकड़ों मील दूर तक भीषणतम गर्मी का कष्टदायक प्रभाव पड़ेगा और उसके साथ ही साथ एक चकाचौंध करने वाली चमक भी उत्पन्न होगी। इसकी गर्मी से लाखों लोग मौत के घाट उतर जायेंगे और तमाम अधमरे हो जायेंगे। शहर क्षण भर में उड़ जायेंगे। इतना ही नहीं, इस भीषण गर्मी से उत्पन्न ज्वाला के साथ वायुमंडल की सम्पूर्ण आक्सीजन प्रयुक्त हो जावेगी और बचे-खुचे जीवजन्तु भी दम घुटने से मर जावेंगे।

हम यह जानते हैं कि सभी तत्वों की परमाणु रचना न्यूक्लियस, प्रोटान, न्यूट्रान तथा इलेक्ट्रान से होती है। न्यूक्लियस में प्रोटान-न्यूट्रान के असंतुलन के फलस्वरूप न्यूक्लियस अस्थिर हो जाता है जिसके कारण रेडियो सक्रिय परमाणु से शक्ति का ह्रास होने लगता है। यह ह्रास या तो कणों के रूप में होता है (इलेक्ट्रान या बीटाकिरणों या न्यूट्रान, प्रोट्रान और अल्फाकणों के रूप में) अथवा सूक्ष्म विद्युद्‌चुम्बकीय तरंगों के रूप में होता है। इनका तरंगदैर्ध्य एक्स-किरणों की अपेक्षा अत्यन्त अधिक होता है क्योंकि ह्रास गति जितनी ही अधिक होगी उनका तरंग दैर्ध्य भी उतना ही कम होगा और शरीर में प्रवेश करने की शक्ति उतनी ही अधिक होगी।

इन बमों के विस्फोट से एक प्रकार की धूल वायु-मडंल में छिटक जावेगी। इसे रेडियोधर्मी धूल कहते हैं। इनमें तमाम ऐसे रेडियोधर्मी कण होते हैं जो शरीर के बाहरी एवं भीतरी संस्थानों के सम्पर्क में आकर जीवन की यात्रा सदा के लिए समाप्त कर देंगे। सबसे ज्यादा घातक प्रभाव इन्हीं रेडियोधर्मी कणों का ही होगा। इनका प्रभाव न केवल बम गिरने वाले स्थान पर ही होगा बल्कि कुछ सप्ताह बाद सम्पूर्ण संसार इनके दुष्परिणामों से नष्ट होने लगेगा। रेडियो धर्मी धूल के कण वर्षा के साथ एवं स्वयंमेव ही पृथ्वी की सतह पर गिरते रहेंगे। रेडियो आयोडीन, स्ट्रांशि-यम तथा कुछ अन्य रेडियोधर्मी कण बहुत ही खतरनाक होंगे। इनसे उत्पन्न बीटा और गामा किरणों के प्रभाव से रक्त कैंसर, हड्डी का ट्यूमर, लूला लंगड़ा होना इत्यादि बीमारियाँ आरम्भ हो जावेंगी। इसका प्रभाव न केवल वर्तमान मानव जीवन पर होगा बल्कि आने वाली कई पीढ़ियों तक चलता रहेगा। इसके अतिरिक्त, अगर मानव अपनी कुशलता से बच भी जाय तो भी उसका रहना कठिन हो जायेगा क्योंकि उसे संतुलित भोजन के लिए मछलियों, मुर्गी

के अन्डों, दूध तथा अन्य खाद्यान्य आदि पर निर्भर रहना पडेगा। ये सभी वस्तुएँ रेडियोधर्मी धूल के प्रभाव से दूषित हुई रहेंगी और इनके प्रयोग करने से मनुष्य भी प्रभावित होगा।

मेगाटन बमों के दुष्परिणामों से बचने के लिए विश्व के कई राष्ट्रों में अनुसंधान कार्य किये जा रहे हैं। इनमें संयुक्तराज्य अमेरिका उत्तरोत्तर सफलता प्राप्त कर रहा है। वहां के वैज्ञानिकों ने जमीन के अन्दर विशिष्ट क्षेत्रफल के **आश्रम.थल** बनाने की योजना बनाई है। ये आश्रमस्थल चारों तरफ से एक सी एक मजबूत तथा जलरुद्ध दीवालों से सुरक्षित रहेंगे। इसमें मनुष्य लगभग एक माह तक सुगमता से आश्रय ले सकेगा। ये आश्रय स्थल शौचालय के सामान, नींद की गोलियों तथा काम चलाऊ अन्य भोजन सामग्री से परिपूर्ण होंगे। ऐसे एक आश्रय स्थल बनाने की लागत प्राय: २००० डालर होगी। इन आश्रय स्थलों पर बम की रेडियोधर्मी धूल, धमाके तथा ज्वालाओं आदि का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

२. मानसिक विकार के उपचार के लिए नयी औषधियाँ

स्टर्लिग-विन्थ्रौप रिसर्च इन्स्टिट्यूट के एक रसायन-शास्त्री ने ऐसी नयी औषधियों के निर्माण की सूचना दी है, जिनका उपयोग मानसिक विकारों में लाभ के साथ किया जा सकता है। इनके उपयोग से मस्तिष्क में घबड़ाहट, मूर्च्छा आदि जैसी उप-प्रतिक्रियाएं नहीं उत्पन्न होतीं। इनका उपयोग अभी चूहों पर किया गया है। परीक्षण के बाद अब इन्हें मनुष्य पर प्रयुक्त करने की तैयारी हो रही है। इन्स्टिट्यूट के डा० राबर्ट एल० क्लार्क ने बताया कि आशा है कि यह मनुष्य के लिए अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होगी।

३. एक्स-किरणों द्वारा अंगूर की किस्म में सुधार

अंगूर की लताओं की किस्म परिवर्तित करने के लिए एक्स-किरणों का उपयोग करके कैलिफोर्निया विश्व-विद्यालय के एक वैज्ञानिक ने अधिक अच्छी किस्म के अंगूर उत्पन्न करने में सफलता पायी है। आशा है कि उसकी विधि न केवल अंगूर की खेती करने वालों के लिए, बल्कि अन्य पौध उत्पादकों के लिए भी उपयोगी सिद्ध होगी।

विश्वविद्यालय के **विटिकल्चर** एण्ड इनोलोजी विभाग के डा० हरोल्ड सी० ओल्प ने इस विधि का प्रयोग किया है। शीघ्र ही इस विधि का प्रयोग कैलिफोर्निया के अंगूर-उत्पादक क्षेत्र में किया जायगा। इसके प्रयोग से अंगूर की किस्म में सुधार होता है, उत्पादन मात्रा में वृद्धि होती है और उत्पादन-व्यय कम पड़ता है।

इस विधि के अन्तर्गत अंगूर कलियों को विकिरण सक्रिय किया जाता है, जिससे उसमें अनेक अच्छे अंगूर उत्पन्न होने लगते हैं।

४. नये हार्मोनों से पौधों का विकास

मेडिसौन (विस्कोन्सिन) में जो परीक्षण किये जा रहे हैं, उनसे यह आशा की जा सकती है कि अब मनुष्य को पौधों के विकास पर अधिक नियन्त्रण प्राप्त हो सकेगा। आशा है कि इस प्रकार फसलों तथा फलों के उत्पादन में भी वृद्धि की जा सकेगी। विस्कोन्सिन विश्वविद्यालय के कृषि कालेज के कृषि विशेषज्ञों ने ७० प्रकार के पौधों पर ऐसे हार्मोनों का प्रयोग किया है जिनके कारण पौधों के विकास में वृद्धि की जा सकती है। ये नये हार्मोन एन्थोजेन्स अथवा ब्लोसम स्टिम्यूलेटर्स के नाम से पुकारे जाते हैं। इन हार्मोनों की खोज तथा इनका विकास १९६१ की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सफलता समझी जाती है।

वैज्ञानिकों ने इन नये हार्मोनों का प्रयोग करके बहुत ही कम समय में पौधों को विकसित करने में बड़ी महत्त्वपूर्ण सफलता प्राप्त की है। वैज्ञानिकों का कहना है कि इसके प्रयोग से समय, धन तथा परिश्रम की काफी बचत की जा सकती है। वैज्ञानिकों

ने बताया है कि इन हार्मोनों के प्रयोग से पौधों में शीघ्र फूल ही नहीं लग जाते है बल्कि पौधों में पत्तियाँ भी बहुत शीघ्र लग जाती है।

५. अनाज को सुखाने वाले प्लास्टिक उपकरण

अमेरिकी कृषि विभाग तथा मनहटन (कैंसास) में स्थित कैंसास विश्वविद्यालय के कृषि सम्बन्धी परीक्षण केन्द्र के इन्जीनियरों द्वारा एक ऐसी योजना पूर्ण की गयी है, जिसके परिणामस्वरूप अनाजों को सुखाने के सस्ते तथा उत्तम उपकरणों का विकास किया जा सकेगा। आशा है कि इससे खद्यान्नों के उत्पादन को बढ़ाने में सहायता मिल सकेगी। इस सम्बन्ध में इस समय नए प्रकार के दो उपकरणों के विषय में विस्तृत परीक्षण किये जा रहे हैं, जिनमें सूर्य के ताप को संचित करके अनाजों को सुखाया जा सकता है।

सूर्य के ताप को प्राप्त करने के लिये पारदर्शी प्लास्टिक का प्रयोग किया जाता है ताकि छत तथा पार्श्वों से सूर्य का प्रकाश यन्त्र में प्रवेश कर सके। ताप-शक्ति को संचित करने के लिये तथा पृथ्वी की नमी को रोकने के लिये यन्त्र के पेंदे में काले रंग का प्लास्टिक लगाया जाता है। उपकरण में संचित सूर्य-ताप से गर्म की गयी वायु को एक पंखे द्वारा अन्न को सुखाने वाली खेती में प्रविष्ट किया जाता है और वे तेज धूप के समय बहुत अच्छा कार्य करते हैं।

अनाजों को सुखाने के लिये सूर्य की शक्ति के प्रयोग के सम्बन्ध में अनुसन्धान द्वारा जो अनेक सफलताएं प्राप्त की गयी हैं, उनमें ताप को संचित करने वाला यह उपकरण भी सम्मिलित है। इस सम्बन्ध में गत वर्ष एक अन्य उपकरण के विषय में परीक्षण किये गये थे। इससे यह ज्ञात हुआ कि गोदामों की क्षतों पर धातु तथा प्लास्टिक की सतह बनाना बड़ा लाभदायक है।

इस समय ताप संचित करने के जिन नये उपकरणों के विषय में जाँच की जा रही है, वे पशुशालाओं तथा फार्मों पर निर्मित घरों को गर्म वायु उपलब्ध करने के सम्बन्ध में भी उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

इस समय जिन दो उपकरणों के विषय में जाँच की जा रही है, उनमें से एक कम ऊँचा, समतल उपकरण है, जो सूर्य के ताप को संचित करके एक तम्बू के आकार के वायु खींचने वाले यन्त्र में गर्म वायु को पहुँचाता है। ताप संचित करने वाले इस यन्त्र में लगे हुए पारदर्शी तथा काले प्लास्टिक के मध्य लकड़ी के एक फ्रेम द्वारा लगभग ४ इंच का अन्तर रखा गया है। यह उपकरण लगभग ८०० वर्गफुट स्थान घेरता है।

दूसरे उपकरण में पारदर्शक प्लास्टिक का एक ऐसा थैला है, जिसमें हवा भरी हुई है। छत तथा पार्श्वों में पारदर्शक तथा पेंदे में काला प्लास्टिक है। उस थैले में आन्तरिक हवा के दबाव द्वारा आसपास से थोड़ा सा अधिक तापमान रखा जाता है। हवा भर देने पर यह उपकरण १०० वर्गफुट स्थान घेरता है। इसका वजन भी कम है। इसे आसानी में इधर-उधर ले जाया जा सकता है और जब इसका प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं होती है तो इसे आसानी से सुरक्षित स्थान में रखा जा सकता है।

अनाज सुखाने के लिए इन दोनों उपकरणों का आसानी से प्रयोग किया जा सकता है। परीक्षणों से यह सिद्ध हो गया है कि इनके द्वारा बड़ी शीघ्रता के साथ अनाज सुखाये जा सकते हैं।

परीक्षणों से यह भी सिद्ध हो गया है कि इन नये उपकरणों के पंखों को चलाने में बहुत बिजली खर्च होती है। ये उपकरण उन छोटे फार्मों के लिये बड़े उपयोगी है, जहाँ बहुत अधिक मात्रा में अनाज उत्पन्न नहीं किये जाते हैं। इनके द्वारा बहुत कम खर्च पर अनाज सुखाये जा सकते हैं।

६. नये प्रभावशाली रसायन की खोज

अमेरिकी कृषि-विभाग तथा कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय की लोसएन्जलेस शाखा के वैज्ञानिकों ने

एक ऐसे रासायनिक पदार्थ की खोज की है जिसकी सहायता से कपास की पत्तियों को अलग करने के लिए अधिक प्रभावशाली रासायनिक द्रवों का विकास करने में सहायता मिल सकेगी। यह नया पदार्थ **एब्ससिसिन** है, जो पत्तियों एवं डोडों को गिराने में सहायक होने वाला प्रथम प्राकृतिक नियामक है। वैज्ञानिकों का विश्वास है कि इस द्रव की सहायता से इस कार्य के लिए अधिक प्रभावशाली रासायनिक द्रव तैयार किये जा सकेंगे। ऐसे दो अन्य पदार्थ जिबरेलिन्स तथा ऑक्सिन्स हैं किन्तु वे पत्तियों तथा डोडों को पृथक करने से सहायता देने के बजाय पौधों की वृद्धि में सहायता करते हैं। अतः वे कपास की फसलों को काटने के सम्बन्ध में उपयोगी नहीं हैं।

अमेरिका में यन्त्रों की सहायता से कपास की फसलें उठाने का आम चलन हो गया है। अन्य देशों में भी यन्त्रों द्वारा कपास की फसलें उठाने का चलन बढ़ता जा रहा है। इस के लिए यह आवश्यक है कि कपास की फसल उठाने से पूर्व पौधों को पत्तियों से रहित कर दिया जाये। गत वर्षों में इस कार्य के लिए जो रासायनिक द्रव प्रयोग में लाये जाते थे वे सदैव प्रभावशाली सिद्ध नहीं होते रहे हैं। कभी-कभी उन का दो अथवा तीन बार प्रयोग करना पड़ता था। विशेष रूप से कपास के उन पौधों की पत्तियों तथा डोडों को पृथक करने के लिए उक्त रासायनिक द्रव उपयोगी सिद्ध नहीं होते थे जो अच्छी प्रकार से सिंचाई करके तथा पर्याप्त मात्रा में रासायनिक खाद प्रयोग करके उत्पन्न किये जाते हैं।

कपास के पौधों से पत्तियाँ पृथक करने के लिए कपास की एक पत्ती के लिए एक ग्राम एब्ससिसिन का एक लाखवां भाग पर्याप्त है। कपास की कुछ किस्मों के पौधों से समय से पूर्व भारी मात्रा में डोडों के गिरने को देख कर अनुसन्धान दल ने पत्तियों के झाडने के विषय में अध्ययन करने के लिए डोडों के सत्व के विषय में परीक्षण किये। उन्होंने यह पाया कि यू०ए० ७-९ नामक कपास के सत्व में वेस्ट टैक्साज रफ काटन के सत्व की तुलना में ऐसा पदार्थ अधिक है जो पौधों की पत्तियों के झड़ने में सहायता करता है।

उक्त नया द्रव एब्ससिसिन प्राप्त करने के लिए अनुसन्धानकर्ताओं ने व्यापक रूप में उत्पन्न की जाने वाली स्काला४-४२ नामक कपास की ८०० पौण्ड से अधिक सूखे डोडों का प्रयोग किया। डोडों से एक ग्राम एब्स-सिसिन का एक हजारवां भाग प्राप्त हुआ। वैज्ञानिक लोग रासायनिक विधियों से ऐसे सस्ते द्रव तैयार करने का प्रयत्न कर रहे हैं, जिनसे कपास के पौधों की पत्तियाँ पृथक की जा सकें।

७. चीनी वैज्ञानिकों द्वारा वार्धक्य प्रक्रिया का अध्ययन

पेकिंग चीनी विज्ञान अकादमी के प्राणि-विज्ञान संस्थान के वार्धक्य-विज्ञान के विशेषज्ञ सदस्य मनुष्यों और जानवरों में वार्धक्य की जीवशास्त्रीय समस्याओं का अध्ययन कर रहे हैं। उन्होंने उत्तर-पश्चिम चीन के सिंक्यांग में १०० से १२० वर्ष तक के शतायु लोगों का एक सातमाही सर्वेक्षण पूरा किया है। सिंक्यांग दीर्घायु लोगों की अपनी बहुत बड़ी संख्या के लिए विख्यात है। वैज्ञानिकों ने उत्तर और दक्षिण सिंक्यांग के १९ इलाकों के ४१ लोककम्यूनों के इन बूढ़ों की विस्तृत शारीरिक जांच-पड़ताल की तथा उनकी पारिवारिक पृष्ठभूमि, स्वास्थ्य, कार्य, खान-पान और रहन-सहन की आदतों का अध्ययन किया।

निरीक्षणाधीन ५५ शतायुओं में से ५४ उइगुर हैं और एक कजाख है। इनमें से ५० पुरुष और ५ स्त्रियां हैं। मुक्ति के पहले इनमें से ७२ प्रतिशत गरीब किसान, खेतिहर मजदूर या मझोले किसान थे। इनसे अधिकांश ने १६ साल की उम्र के आसपास खेतीबारी शुरू की। १८ व्यक्ति अब भी किसी न किसी प्रकार का शारीरिक काम करते हैं, जिसमें खोदाई, तरबूज के खेतों की रखवाली, जलाने की लकड़ी चीरना, बच्चों की देखभाल और सफाई का काम सम्मिलित है। शेष ३७ में से २७ व्यक्तियों ने ९० साल की उम्र तक काम किया और अन्य १० ने ८० साल की उम्र तक।

इन वृद्धों में से अधिकांश जल्दी सोते हैं और जल्दी उठते हैं तथा भोजन के नियमित कार्यक्रम का पालन करते हैं, और मर्यादित खान-पान वाले हैं। इनमें से अधिकांश गोमांस और बकरे का मांस, हर तरह के मौसमी फल और तरबूज खाते हैं, और दूध, खट्टा दूध और क्रीम-चाय पीते हैं, इनमें से अधिकांश न तो धूम्र-पान करते हैं और न ही शराब पीते हैं। इनमें से दो-एक ने अपनी जवानी में कभी-कभी शराब पी है। इन्हें अपनी चाय में कुछ जड़ी-बूटियाँ मिलाने का शौक है। इनमें से अधिकांश खुशदिल और धैर्यवान प्रकृति के हैं। वार्धक्य-विज्ञान के विशेषज्ञ वैज्ञानिकों का मत है कि रहन-सहन की ये आदतें, दीर्घायु के लिए लाभप्रद हैं, यद्यपि दीर्घायु के मुख्य कारण का अब भी गहरा अध्ययन आवश्यक है। वैज्ञानिकों ने बृद्ध व्यक्तियों और जानवरों के शरीरिक व जीव-रासायनिक पहलुओं का भी अध्ययन किया है। उन्होंने ८० साल से ऊपर की उम्र के ४२ व्यक्तियों की, जिनमें से एक १०९ साल का है, हृदय प्रणाली, रक्तव्राहिनियों और स्नायुओं की परीक्षा की है। रासायनिक विश्लेषण से उन्हें पास चला है कि नौजवानों के वजाय बूढ़ों के खून में बेटाग्लोब्युलिन अधिक मात्रा में होती है जो चर्बी के साथ आसानी से मिल जाती है। संभव है कि इसका कुछ सम्बन्ध इस तथ्य से हो कि वृद्धि व्यक्तियों में आर्टेरियो स्क्लेरोसिस से ग्रस्त होने की ओर विशेष झुकाव होता है।

वार्धक्य-विज्ञान के विशेषज्ञ चीनी वैज्ञानिकों ने सफेद चूहों और हिम-वानरों के तंतु-जाल और अंगों की बनावट के परिवर्तन सम्बन्धी वार्धक्य-प्रक्रिया का भी अध्ययन किया है। उन्हें पता चला है कि छोटे चूहों में रक्तवाहिनियों के आसपास के आपस में जोड़ने वाले तंतु बहुत पतले होते हैं, जबकि बूढ़े चूहों में उनकी मोटाई बढ़ जाती है। उन्होंने हिम-वानरों की हृत्पेशी में 'टूट-फूट' के रंगाणुओं की काफी बड़ी मात्रा पायी है।

६० से ९० वर्ष तक की आयु के बृद्धों तथा जन्म से आठ वर्ष तक की आयु के हृदय रोग से मरने वाले बच्चों की उनकी मृत्यु के बाद पेकिंग मेडिकल कालेज के व्याधि-विज्ञान विभाग द्वारा तैयार की गयी छेदन स्लाइडों के निरीक्षण से वैज्ञानिकों को इन वृद्ध व्यक्यिों की हृत्पेशी में "टूट फूट" के रंगाणुओं की भी काफी बड़ी मात्रा मिली है। रंगाणुओं के जमा होने का हृदय रोगों से कोई प्रकट सम्बन्ध नहीं है, लेकिन इसकी प्रवृत्ति आयु के साथ बढ़ने की है।

वैज्ञानिकों का अनुमान है कि सम्बन्ध जोड़ने वाले तंतुओं की वृद्धि और चयापचय से उत्पन्न होने वाली (मेटाबोलिक) वस्तुओं के जमा हो जाने का वृद्ध मनुष्यों और पशुओं के अंगों के कार्यों पर कुछ प्रभाव पड़ सकता है।

वैज्ञानिक साहित्य में हिन्दी

कुछ वर्षों से सामान्य पाठक के समक्ष यह समस्या आ खड़ी हुई है कि वह हिन्दी के माध्यम से विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करे अथवा विदेशी भाषाओं को सीख करके। सचमुच ही इस द्विधामूलक स्थिति के लिये हमारे देश के राजनीतिज्ञ अधिक उत्तरदायी हैं। एकबार हिन्दी को राष्ट्र भाषा स्वीकार करने के पश्चात् उसकी उपयोगिता एवं उसके व्यवहार के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की शिथिलता या शंका राष्ट्र के लिये घातक सिद्ध होगी। यह भलीभाँति ज्ञात है कि कालेजों तक विज्ञान का पठन-पाठन हिन्दी के द्वारा होने लगा है। जितनी भी पाठ्यपुस्तकें हैं, वे हिन्दी में हैं और पहले जो अंग्रेजी में लिखी होने से लोकप्रिय थीं वे हिन्दी में अनूदित होकर सम्मान्य हैं। परन्तु अश्चर्यजनक एवं भयावह परिस्थिति है विश्व-विद्यालयों की, जहाँ इतने वर्षों के संघर्ष के बाद भी हिन्दी की पैठ नहीं हो पाई। आखिर इसका क्या कारण हो सकता है? या तो यह कि शिक्षा स्तर में उच्चासन प्राप्त होने के कारण विश्वविद्यालय के अध्यापक उपदेश देना मात्र जानते हैं अथवा यह कि वे अनेक पाठ्य पुस्तकें जो उन्होंने अंग्रेजी में विश्वविद्यालयों के लिये लिख रखी हैं बेकार हो जवेंगी तथा दूसरे नवीन लेखक क्षेत्र में आ जावेंगे। परन्तु ठीक से ध्यान देने पर पता चलेगा कि इनमें कोई भी कारण नहीं है। बात यह है कि अब हमारी राष्ट्रीयता सुप्त होती जा रही है, हमारे ही मध्य से यह आवाज आने लगी है कि बिना अंग्रेजी के उच्चस्तरीय ज्ञानार्जन सम्भव नहीं।

यदि यह तथ्य है तो कहना न होगा कि हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाते समय यथेष्ठ सावधानी नहीं बरती गई। किसी भी देश की भाषा सभी प्रकार के भावों को व्यक्त करने में समर्थ हो, इसके लिये यह आवश्यक है कि सभी क्षेत्रों के लोग परस्पर सहयोग की भावना से कार्य करें और उन समस्त अभावों के प्रति जागरूक रहें जो पुष्ट साहित्य-सृजन में बाधक हो सकते हैं।

हमारी प्रादेशिक सरकार ने हिन्दी समिति के द्वारा वैज्ञानिक विषयों पर कुछ अनूदित एवं मौलिक ग्रंथों के लिखे जाने की जो योजना बनाई थी वह बहुत अंशों तक सफल रही है और संतोष की बात है कि निकट भविष्य में वह ऐसे ग्रंथों के लेखन को प्रोत्साहन देने जा रही है जो विश्वविद्यालय-स्तर की पाठ्यपुस्तकों की पूर्ति करने में समर्थ हो सकेगा।

यही नहीं, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय भी इस ओर क्रियाशील है परन्तु इसकी कार्य-प्रणाली है अत्यन्त मन्द है। विकसमान राष्ट्र के लिये ऐसी कार्य प्रणाली श्रेयस्कर नहीं।

अतः भारतीय वैज्ञानिकों का परम कर्तव्य है कि वे राष्ट्र के उन्नयन में अपना बौद्धिक योग दें जो साम-यिक एवं उच्चस्तरीय मौलिक-सहित्य के सृजन द्वारा ही सम्भव है। जनता को अपने वैज्ञानिकों से यही कामना भी है। राजनीतिज्ञों के बहकावे में आने से किसी कार्य की सिद्धि न हो सकेगी।

९४
ा ६
ा
१९ वि०
'६२

पृष्ठ

०न०पै०
८ रुपये

सम्पादक—डा० शिवगोपाल मिश्र

विज्ञान

विज्ञान परिषद् प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञान ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञान जानेताति जीवन्ति विज्ञान प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तै० उ० ।३।५।

भाग ९४ | चैत्र २०१९ विक्र०, १८८४ शक
मार्च १९६२ ई० | संख्या ६

सक्रिय लावा की प्रकृति

प्रमोद कुमार वर्मा

आग्नेय चट्टानों की उत्पत्ति जानने से पहले यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि हम जानें कि लावा के क्या क्या गुण हैं जिससे ये चट्टानें बनती हैं और उन परिस्थितियों का भी अध्ययन करें जो उसके निष्कासन एवं मणिभीकरण में सहायक होती हैं।

लावा निकलने का एक मात्र स्थान ज्वालामुखी है। अधिकतर ज्वालामुखी अति प्राचीन हैं जिनकी संख्या ४०० के है। कुछ नये ज्वालामुखियों का भी पता चला है जो या तो ज्वालामुखीय क्षेत्रों अथवा पुराने क्षेत्रों के पास पाये गये हैं। ज्वालामुखी कार्यों में गैसों का महत्व बहुत पहले से ज्ञात था। यही गैसें सक्रिय लावा की प्रकृति जानने में लाभदायक सिद्ध हो सकती हैं ऐसा विचार सदियों से रहा है, पर उनको एकत्र करना बड़ा ही कठिन कार्य है।

सन् १९१२ से पहले कोई भी इन गैसों को एकत्र करने के काम में सफल नहीं हुआ परन्तु सन् १९१२ से १९१९ तक कई प्रयास हुये। प्रयासकर्त्ताओं के नाम थे—ए० एल० डे, ई० एस० शैफर्ड तथा टी० ए० जेगर; उनका स्थान था किलुआ (हवाईद्वीप) की अग्नि गुहा (Fire-pit)। इसको हैलेमोस्म नाम से पुकारा जाता है। यह उस समय द्रव लावा से भरपूर था तथा गैसें हमेशा बुलबुले के रूप में निकलती रहती थीं। रात्रि को लावा की नीली रोशनी से, जो गैसों के जलने से पैदा होती हैं, जगमगाहट रहती थी। मई सन् १९१२ में डे व शैफर्ड को ज्ञात हुआ कि कड़ी लावा की परत में से द्रव लावा गैसों का एक फव्वारा फूटा है। इस निकलने वाले लावा ने पहले चारों ओर एक दीवार सी बनाई। अन्त में एक पूरे गुम्बज की शकल बना ली। तब केवल एक छिद्र रह गया जिसमें से अत्यधिक दबाव के कारण गर्म गैसें निकल रही थीं। वैज्ञानिकों ने इस गुम्बज के ऊपर एक लौह नली लगा दी। यह पाइप लाइन द्वारा कई नलियों व पिस्टन-पम्प से जुड़ी थी। पन्द्रह मिनट गैस को पम्प करने के बाद उन नलियों को बन्द कर दिया गया। विश्लेषण करने पर उनमें पानी का अधिक भाग पाया गया। उनके पास वाष्प को इकट्ठा करने का कोई साधन न था इसलिए उसका कोई निश्चित अनुमान नहीं लग सका। केवल कुछ विश्लेषण प्राप्त हो सके:—

	नली१	नली२	नली८	नली१०	नली१७
कार्बन डाइ आक्साइड %	२३·८	५८·०	६२·३	५९·२	७३·९
कार्बन मोनाक्साइड	५·६	३·९	३·५	४.६	४·०
हाइड्रोजन	७·२	६·७	७·५	७·०	१०·२
नाइट्रोजन	६३·३	२९·८	१३·८	२९·२	११·८
सल्फर डाइ-आक्साइड	×	१·५	१२·८	×	×

सन् १९१७-१९१९ में एक नई विधि अपनाई गई। इसमें निर्वातिकृत अर्थात् वायुशून्य नलिकाओं को सीधे ही लौ में डाल दिया गया। हर एक नलिका का सिरा अत्यधिक गर्मी के कारण पिघल गया व गैसें उसमें भीतर चली गयीं तो लौ के द्वारा उन नलिकाओं का मुँह बन्द कर दिया गया। सन् १९१९ में टी० ए० जैगर ने जो गैसें एकत्र की थीं उनका विवरण नीचे दिया जाता है। अंक आयतन प्रतिशत में १२००° सें० तथा ७६० मि०मी० पर निकाले गये हैं।

कार्बन डाइआक्साइड भी मुख्य होते हैं। लावा के कई अवयवों का पता चूना-पत्थरों तथा डोलोमाइट चट्टानों के विघटन से भी लगता है। कार्बन डाइआक्साइड तथा आर्गन आदि गैसों का पता इसी तरह चला। दबी हुई वनस्पति से भी सहायता मिल सकती है। टी०ए०जैगर के कथनानुसार हवाई टापू के जंगलों में अवशिष्ट कोयला उस लावा में जिन पर ये बने हैं अत्यधिक मात्रा में पड़ा हुआ है। गन्धक, क्लोरीन, बोरिक अम्ल की उत्पत्ति के विषय में ठीक ठीक पता नहीं चल पाया है।

लावा के ताप का ठीक-ठीक माप करना उसकी गैसों को इकट्ठा करने से भी अधिक कठिन कार्य है। कई वैज्ञानिकों ने भिन्न-भिन्न धातुओं की छड़ों को बहते हुये लावा में रक्खा ताकि उनके पिघलने से ताप का अनुमान हो सके। पर आक्सीकरण (oxidation) व अम्ल के धूम्र के साथ प्रतिक्रिया होने से

जल	न्यूनतम	३६·२	अधिकतम	९७·१	मध्यमान १४ विश्लेषणों का	=७१·२३
कार्बन डाइ आक्साइड	,,	०·९	,,	४७·७	,,	१८·०८
कार्बन मोनाक्साइड						
हाइड्रोजन	,,	०·०	,,	०·९६	,,	०·३३
नाइड्रोजन	,,	०·७	,,	२०·०	,,	५·४४
सल्फर डाइ आक्साइड	,,	०·०	,,	०·२५	,,	०·१०
सल्फर ट्राइ आक्साइड	,,	०·०	,,	५·५	,,	१·९२
क्लोरीन	,,	०·०	,,	४०·०८	,,	०·४६

इस तालिका को देखने से पता चलता है कि इन गैसों में कोई विशिष्ट पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है। यह एक ऐसा मिश्रण नहीं है जिसके तत्व किसी निश्चित संयोजन के हों। गैस के हर बुलबुले का स्वयं का एक संयोजन है (शैफर्ड)। हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ज्वालामुखीय अध्ययन से अच्छा प्रमाण मिल जाता है कि जल भी लावा का प्राथमिक अवयव है। कभी कभी नाइट्रोजन तथा

परिणाम विश्वास योग्य नहीं रहे। सन् १९१७ में टी०ए०जैगर ने हवाई टापू की लावा झील में यह प्रयोग किया। कई सेगरकोन्स (cones) के जोड़े को इस्पात के लम्बे लम्बे नलों में रक्खा। इन नलों का मुँह लोहे की टोपियों से बन्द था तथा इनके मुँह को लावा झील में जमाया गया। इसके बाद हर नल को ५ फीट तक की गहराई तक लगभग ६-७ मिनट तक उसी में रक्खा गया। इससे यह पाया

गया कि यदि नल को अधिक गहराई में रक्खा जाय या अधिक समय तक रक्खा जाय तो वह जम जाते हैं तथा वाहर नहीं निकाले जा सकते हैं। एक प्रयोग में एक कोन, जिसका द्रवणांक ११३०° था पिघल गया। एक दूसरा कोन जिसका द्रवणांक ९२०° था एक मीटर गहराई पर ५ मिनट में पिघल सका।

चूंकि शक्तिशाली संवाहन धारायें लावा झील पर प्रभाव डालती हैं इसलिये माप नहीं हो सकती परन्तु प्रयोगों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि लावा की ऊपरी सतह में अत्यधिक गर्मी का कारण गैसों का जलना है। कुछ ही फीट नीचे का लावा ऊपरी सतह से ठंडा है।

लावा की भौतिक अवस्थाओं के बारे में कई लोगों की भ्रान्त धारणायें हैं। उनके अनुसार लावा एक समांग द्रव है। जी० पी० स्कोर्पे कदाचित पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इस तथ्य को गलत बताया। उनके अनुसार लावा का द्रवत्व छिद्र से निकलते समय भी अपूर्ण है। हमारे पास ऐसा कोई तर्क नहीं कि जिसके बल पर हम कहें कि वह पानी की तरह द्रव है बल्कि प्रत्येक दशा यह बतलाती है कि लावा शहद की भाँति एक पदार्थ है। इसमें ठोस कण होते हैं जो एक या अधिक द्रव पदार्थ के अन्दर होते हैं। यह कोई द्रव पदार्थ नहीं है बल्कि कई मणिभीय (दानेदार) कणों का एक समूह है जिसमें पृथक-पृथक रवों व दानों के बीच में थोड़ा-थोड़ा द्रव पदार्थ होने से द्रवत्व का रूप हो जाता है।

कई पर्यवेक्षकों ने ओलीवीन (olivine), औगाइट (augite), लियोसाइट (leucite) या प्लेगियोक्लेज़ (plagioclase) के मणिभ विसूवियस तथा अन्य स्थानों के लावों में देखा है। विस्फोटक के ज्वालामुखी के फूटने के बाद क्रेटर के पास ज्वालामुखीय राख के साथ कई सुस्पष्ट मणिभ एकत्र हो जाते हैं। विसूवियस की चोटी इसी तरह के मणिभ से ढकी हुई है।

इस तरह का लावा भी मिलना संभव है जिसमें कोई भी मणिभ न हों व समान जातीय द्रव से बना हो। इस तरह के लावा को काँचसम लावा कहा जाता है। इसके सूक्ष्म निरीक्षण करने से कई छितरे हुये मणिभ मिलते हैं। एक उदाहरण (Pcle's Hair) "पैले का केश" का है जो कि बहुत पतले पतले तारों का बना होता है। ये हवाई टापू में पाये जाते हैं। जब किसी अग्नि स्रोत (fire-fountain) से लावा की कोई बूंद आकर गिरती है तो वह एकदम ठंडी हो जाती है। इस समय वह किसी कारण-वश खिंच जाती है तव इन 'पैले का केश' की उत्पत्ति होती है। इन बालों में कई जगह फुलाव होता है। इसको अगर अणुवीक्षण यन्त्र से देखा जाय तो कई छोटे-छोटे ओलवीन, औगाइट, मैगनेटाइट व प्लेगियोक्लेज के मणिभ मिलेंगे। इस तरह अग्नि-स्रोत के अत्यधिक ताप में भी (जो १३५०° सैं० का लावा है) पहले ही से कुछ मणिभ रहते हैं। चट्टानों के अध्ययन से—विशेष रूप से डाइक चट्टानों के अध्ययन से—यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनकी उत्पत्ति से पहले ही बड़े बड़े मणिभ वर्तमान थे।

पहले लावा का घनत्व व श्यानता इसी सिद्धान्त पर ज्ञात होती थी कि वह एक समान जातीय द्रव है, जबकि वह वास्तव में वह एक मणिभ व द्रवों का मिश्रण है जिसमें घनत्व व श्यानता इनके अनुपात के कारण बदलती रहती है। लावा का अधिकतम द्रवत्व शहद के बराबर ही होता है। अभी तक के अनुमान से पता चलता है कि वहनशील लावा की श्यानता पानी की अपेक्षा $१०^४$ से $१०^७$ तक आँकी जा सकती है।

द्वारा, प्रेमबहादुर
२२५, सरदारपुरा, ४-बी० रोड, जोधपुर

नाभिकीय प्रतिकारी

विष्णु कुमार श्रीवास्तव

['विज्ञान' के अक्टूबर १९६१ अंक में भूल से पृष्ठ १४ पर दायें स्तम्भ की २०वीं पंक्ति में कण के स्थान पर 'कोण' छप गया था तथा पृष्ठ १६ पर दायें स्तम्भ की ३१वीं पंक्ति में 'और' तथा 'ईंधन' के बीच में 'ईंधन के पिंड से बाहर जाने वाले न्यूट्रानों की संख्या' छूट गया था अतः पाठक कृपया उसे सही कर लें। यह लेख उसी शृंखला की द्वितीय कड़ी है।]

—सम्पादक

१. रूसी प्रतिकारी :

पनडुब्बी प्रतिकारी के सिद्धान्त पर आधारित प्रतिकारी रूस तथा कैनाडा में भी काम में लाये जाते हैं। रूसी प्रतिकारी में ५% U^{235} सान्द्रीकृत-यूरेनियम ईंधन के रूप में व्यवहृत होता है। यूरेनियम की छड़ों पर निष्कलंक इस्पात का पतला आवरण होता है जो यूरेनियम को जल द्वारा होने वाले क्षय से बचाता है। ये छड़ें ऐसी चौड़ी खोखली नलियों में रख दी जाती हैं जिनके अन्दर रखी गई घुमावदार पतली नलियों (चित्र में नहीं दिखाई गई हैं) से होकर दाबयुक्त जल प्रवाहित होता रहता है जो प्रतिक्रिया में उत्पन्न उष्मा को टर्बोजनित्र (टर्बाइन तथा विद्युत्जनित्र अर्थात् Turbogenerator) तक पहुँचाता है। यूरेनियम छड़ सहित ये नलियाँ ग्रेफाइट में रखी होती हैं जो मन्दक का कार्य करता है। इसमें बोरन कार्बाइड की छड़ें नियंत्रक के रूप में काम में लायी जाती हैं। इसमें एक नियंत्रक छड़ बहुत मोटी होती है जिसे प्रतिक्रिया-गर्भ (Reactor core) में डालने पर प्रतिक्रिया तुरन्त रुक जाती है क्योंकि मोटी होने के कारण यह बहुत अधिक न्यूट्रान अवशोषित कर लेती है। जब प्रतिक्रिया इतनी तीव्र हो जाती है कि उससे विस्फोट होने का भय हो जाता है तब इस मोटी छड़ को प्रति-
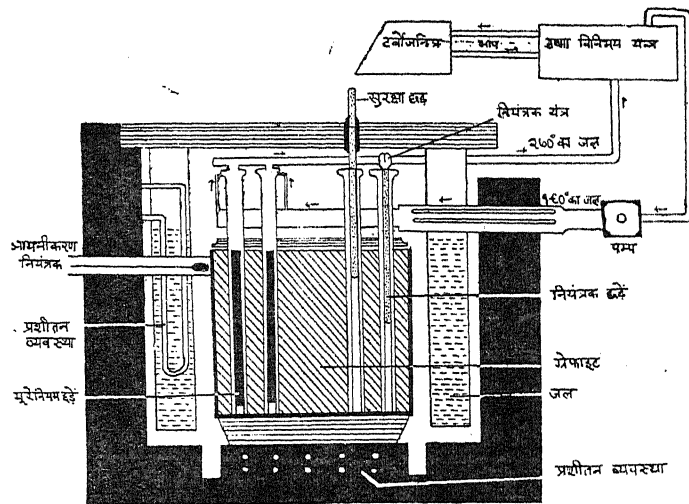
(चित्र ३)
रूस का दाबयुक्त जलप्रतिकारी

कारी गर्भ में डालकर प्रतिक्रिया तुरन्त वन्द कर दी जाती है। यह छड़ सुरक्षा-छड़ कहलाती है। इस प्रतिकारी में भी आयनीकरण-कक्षों द्वारा प्रतिक्रिया पर स्वतः नियंत्रण होता है। प्रतिकारी-गर्भ का आधार तथा ऊपरी भाग कार्बन इस्पात की मोटी चकतियों से ढका होता है तथा गर्भ के चारों ओर ठंडा पानी भरा रहता है जिससे प्रतिकारी के पास काम करने वाले कर्मचारियों तक उष्मा न्यूट्रान तथा गामा रश्मियों के विकिरण नहीं पहुँच पाते। इस प्रतिकारी में लगभग १५०० पाउन्ड प्रति वर्ग इंच के दाब का जल प्रयुक्त होता है जो अधिक दाब के कारण लगभग २७०° सें० तक नहीं उबलता। उष्मा-विनिमय-यंत्र में उष्मा अवशोषण होने के बाद इसका ताप १९०° सें० के लगभग रह जाता है।

बॉयलर में उत्पन्न भाप टर्बोजनित्र में जाकर विद्युत्-शक्ति उत्पादित करती है। इस प्रतिकारी से ५००० किलोवाट विद्युत्-शक्ति उत्पन्न होती है। जेनेवा सम्मेलन में रूस ने १००,००० किलोवाट शक्ति का ऐसा ही प्रतिकारी भविष्य में बनाने की घोषणा की है। एक बार नए ईंधन भरे जाने पर यह प्रतिकारी लगभग ढाई महीने तक कार्य करता है। इसके बाद ईंधन में U^{235} की मात्रा ४·२% ही रह जाती है तथा छड़ों को बदल दिया जाता है।

२. कैनाडियन प्रतिकारी :

कनाडियन प्रतिकारी रूसी प्रतिकारी से अधिक श्रेष्ठ है। इसमें साधारण जल के स्थान पर दाब-युक्त भारीजल (Heavy water) प्रयुक्त होता है क्योंकि यह साधारण जल की तरह न्यूट्रान नहीं अवशोषित करता है। इससे न्यूट्रान की बचत होती है फलतः चरम आयतन कम हो जाता है। इसमें भारी जल शीतलक तथा मन्दक दोनों का ही कार्य करता है। प्रतिकारी-गर्भ में U^{235} सान्द्रीकृत यूरेनियम छड़ें नलियों में रखी होती है जिनमें भारी जल प्रवाहित होता रहता है जो प्रतिक्रिया में उत्पन्न उष्मा को उष्मा विनिमय यंत्र तक पहुँचाता है। इसमें प्रतिक्रिया के नियंत्रण की रीति बड़ी सुन्दर है। प्रतिकारी-गर्भ के नीचे एक लगभग अर्धगोलाकार पात्र होता है जिसमें हीलियम गैस भरी होती है। इस पात्र से
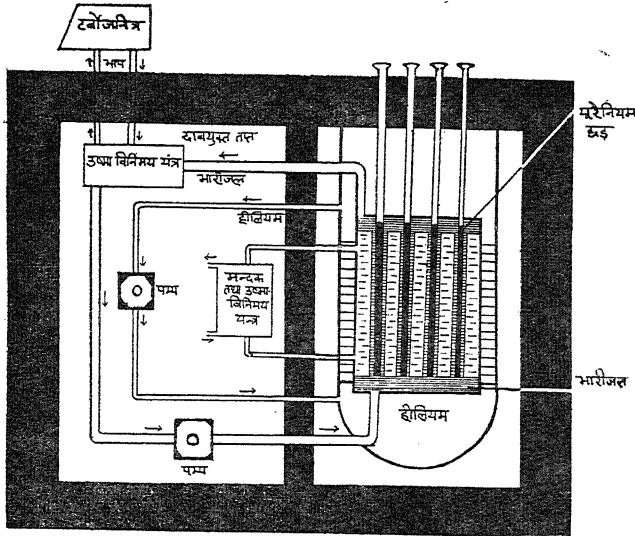
(चित्र ४)

कैनाडियन दाब-युक्त भारीजल प्रतिकारी

सम्बन्धित पम्प द्वारा हीलियम का दाब परिवर्तित किया जा सकता है। हीलियम के दाब को कम करने से मन्दक पात्र में आ जाता है तथा प्रतिकारी गर्भ में मन्दक के न होने से मन्द न्यूट्रानों का अभाव हो जाता है; फलतः प्रतिक्रिया भी बन्द हो जाती है। इस प्रकार हीलियम चक्र द्वारा गैस के दाब को घटा कर प्रतिक्रिया पर नियंत्रण किया जाता है। प्रतिक्रिया-गर्भ के चारों ओर भी भारीजल (कम दाब) भरा होता है जो मन्दक के ताप को नियंत्रित रखता है। यह जल एक छोटे चक्र से होकर एक उष्मा विनिमय यन्त्र से गुजरता रहता है जहाँ यह अपनी उष्मा खो देता है। अन्य प्रतिकारियों की भाँति इसमें भी वॉयलर में उत्पन्न भाप द्वारा टर्बोजनित्र में विद्युत् उत्पन्न होती है। इसमें १०,००० से लेकर है २०,००० किलोवाट तक विद्युत् शक्ति उत्पन्न होती है।

अन्य प्रतिकारियों की भाँति यह प्रतिकारी भी उष्मा, न्यूट्रान तथा गामा विकिरण युक्त होने के कारण कार्बन-इस्पात की दीवारों से घिरा होता है। कैनाडा की सरकार के सहयोग से भारत सरकार ने भी ट्राॅम्बे में इसी प्रकार के प्रतिकारी का निर्माण किया है। कैनाडियन प्रतिकारी संसार के आधुनिकतम प्रतिकारियों में से एक है।

३. क्वथित-जल प्रतिकारी (Boiling Water Reactor)

दाब-युक्त प्रतिकारियों में उच्च दाब प्रयुक्त होने के कारण प्रतिकारी-गर्भ में बहुत अधिक दाब रहता है; अतः इसके निर्माण में बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है ताकि प्रतिकारी गर्भ में विस्फोट न होने पाये। प्रतिकारी गर्भ में ही जल को वाष्प बनाकर उसे सीधे टर्बाइन में भेज कर प्रतिकारी गर्भ के अन्दर का दाब कम किया जा सकता है क्योंकि ऐसा करने से जल के क्वथन रोकने की आवश्यकता नहीं होती फलतः अधिक दाब की भी आवश्यकता नहीं होती है। इसमें प्रतिकारी गर्भ में उतना ही दाब रहता
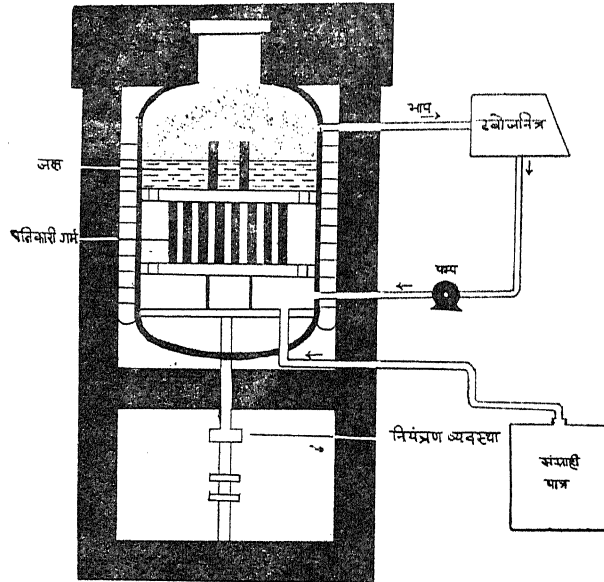
(चित्र ५)
क्वथित जल प्रतिकारी

है जितना की टर्बाइन में। पीछे दिए गए प्रतिकारी E.B.W.R. (Experi. Boiling Water Reactor) में प्रतिकारी-गर्भ में ही विखण्डन-क्रिया जनित उष्मा से जल वाष्प में परिवर्तित किया जाता है। यह वाष्प प्रतिकारी गर्भ में बनने के कारण रेडियम-धर्मी होती है। यहाँ से यह वाष्प सीधे टर्बाइन में भेजी जाती है। इसमें U^{235} सान्द्रीकृत यूरेनियम छड़ें ईंधन के रूप में व्यवहृत होती हैं। इसमें भी जल मन्दक तथा शीतलक दोनों का ही कार्य करता है। साधारण जल के स्थान पर भारी जल (D_2O) को प्रयुक्त करके इसकी क्षमता बढ़ाई जा सकती है परन्तु ऐसा करने के लिए यह आवश्यक है कि ऐसी टर्बाइन बनाई जाय जिनसे होकर महँगे भारीजल की भाप बाहर न निकल सके। ऐसी टर्बाइन न होने के कारण आर्थिक कठिनाई की वजह से साधारण जल ही काम में लाया जाता है।

इस प्रतिकारी में कुछ दोष भी हैं। उबलने के कारण जल में भाप के बुलबुले बनते हैं फलतः मन्दक के घनत्व के एक से न रहने के कारण प्रतिक्रिया एक सी नहीं होती। अतः इसमें उत्पादित शक्ति की दर भी एक-सी नहीं रह जाती। इसमें उत्पादित भाप बहुत ही रेडियमधर्मी होती है जिसके निष्कासन के समुचित प्रबन्ध करने में बहुत कठिनाई होती है।

अभी तक वर्णित समस्त प्रतिकारियों में दो प्रमुख दोष हैं; (१) प्रतिक्रिया होते रहने के कारण प्रतिकारी गर्भ से ईंधन, U^{235}, की मात्रा कम हो जाती है जिससे कुछ समय पश्चात् सभी ईंधन की छड़ों को बदलना पड़ता है (२) प्रतिक्रिया में उत्पादित उपफल प्रतिक्रिया गर्भ में ही पड़ रहते हैं। ये उपफल बहुत से न्यूट्रान अवशोषित कर लेते हैं। ऐसे प्रतिकारी जिनमें ईंधन तथा मन्दक और शीतलक अलग-अलग होते हैं विषमांगी प्रतिकारी (Heterogeneous Reactor) कहलाते हैं।

४. समांगी प्रतिकारी (Homogeneous Reactor)

इन कठिनाइयों को दूर करन के लिए समांगी प्रतिकारी बनाए गए हैं। समांगी प्रतिकारियों में ईंधन तथा मन्दक शीतलक मिलकर समांगी मिश्रण बनाते हैं। चित्र में दिखाए गए समांगी प्रतिकारी में यूरेनाइल सलफेट का जलीय विलयन प्रस्तुत होता है। इसमें यूरेनाइल सलफेट का यूरेनियम ईंधन तथा जल मन्दक, शीतलक तथा स्वतः नियंत्रक का कार्य करता है। इसमें प्रतिकारी गर्भ का आकार तथा विलयन की सान्द्रता इस प्रकार रखी जाती है कि यूरेनियम के
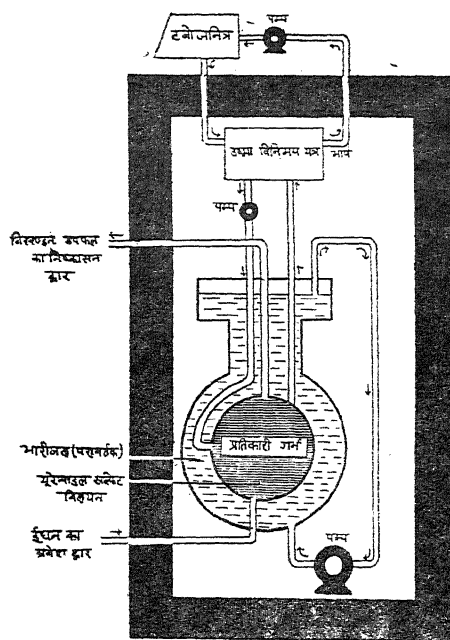
(चित्र ६)
समांगी प्रतिकारी

चरम आयतन में उपस्थित यूरेनियम की मात्रा से कुछ अधिक यूरेनियम की मात्रा प्रतिकारी गर्भ में रहे। एक नली द्वारा समय समय पर यूरेनाइल सलफेट प्रतिकारी गर्भ में भेजा जाता है। एक नली से उत्पादित उपफलों का विलयन प्रतिक्रिया गर्भ से निकाल लिया

जाता है जिसमें से उपफल रासायनिक विधियों द्वारा अलग कर लिए जाते हैं। प्रतिकारी-गर्भ एक बड़े गोलाकार पात्र में रखा होता है जिसमें भारीजल भरा होता है जो बाहर निकलते हुए न्यूट्रानों को पुनः प्रतिकारी गर्भ में परावर्तित कर देता है तथा एक उष्मा विनिमय यंत्र (जो चित्र में नहीं दिखाया गया है) से गुजरता और इस प्रकार प्रतिकारी के ताप को नियंत्रित करता है। तप्त समांगी मिश्रण उष्मा-विनिमय यंत्र से होकर प्रवाहित होता रहता है जहाँ यह अपनी उष्मा को खो देता है जो बॉयलर में जल को रेडियम-धर्मिताहीन वाष्प में बदल देती है जो टर्बो-जनित्र में जाकर विद्युत् शक्ति उत्पादित करती है।

यह प्रतिकारी बहुत ही सरल होता है तथा इसमें बिना किसी यन्त्र की सहायता के स्वतः नियंत्रण होता है। अमेरिका में इस प्रकार का एक ६५,००० किलोवाट शक्ति का एक प्रतिकारी बनवाया जा रहा है तथा ऐसे समांगी प्रतिकारी बनाने पर विचार किया जा रहा है जिनमें प्रतिकारी गर्भ में ही जल को वाष्प में परिवर्तित कर लिया जा सके जिससे गर्भ में दाब कम किया जा सकेगा।

जल या भारीजल को शीतलक के रूप में प्रस्तुत करने में दो असुविधाएँ होती हैं—(१) उष्मा का बुरा चालक होने के कारण जल में उष्मा-विनिमय की क्षमता कम होती है (२) उच्च ताप पर विकिरणों द्वारा जल आक्सीजन तथा हाइड्रोजन गैसों में विच्छेदित हो जाता है जिसके कारण कभी-कभी प्रतिक्रिया गर्भ में एकाएक दाब बहुत बढ़ जाता है जिससे विस्फोट होने का भी खतरा हो सकता है। विखण्डन द्वारा उत्पादित उपफल तथा घुलित आयनयुक्त पदार्थ जल विच्छेदन की प्रतिक्रिया बढ़ा देते हैं। इन्हीं कारणों से कुछ प्रतिकारियों में पिघले हुए धातुओं को शीतलक के रूप में व्यवहार में लाते हैं। इसके अतिरिक्त क्वथनांक अधिक होने के कारण धातुओं को जल की अपेक्षा अधिक ऊँचे ताप पर भी बिना दाब बढ़ाए काम में लाया जा सकता है जिससे तापीय क्षमता बढ़ जाती है।
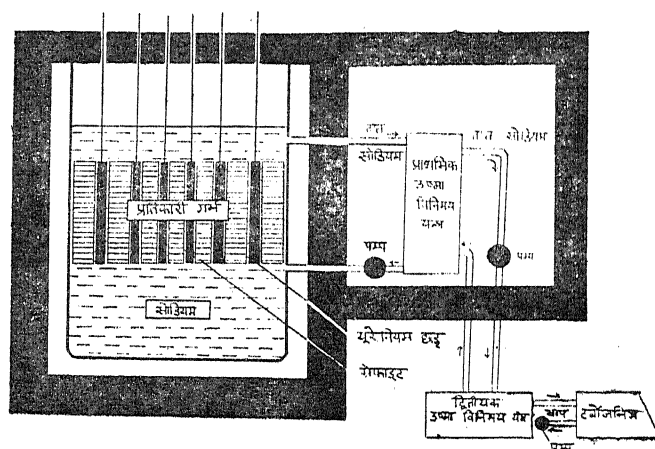
(चित्र ७)

सोडियम प्रतिकारी, कैलीफोर्निया, य०एस०ए०

५. सोडियम प्रतिकारी

चित्र में दिखाए गए सोडियम प्रतिकारी में U^{235} सान्द्रीकृत यूरेनियम ईंधन के रूप में, ग्रेफाइट मन्दक के रूप में तथा द्रव सोडियम धातु शीतलक के रूप में व्यवहृत होता है। प्रतिक्रिया-गर्भ का सोडियम रेडियम-धर्मित हो जाता है अतः जल को रेडियम-

धर्मी होने से बचाने के लिए रेडियमधर्मी सोडियम को एक प्राथमिक उष्मा-विनिमय यन्त्र से प्रवाहित करते हैं जहाँ यह अपनी उष्मा एक दूसरी नली में प्रवाहित सोडियम को दे देता है। यह दूसरे चक्र का सोडियम रेडियमधर्मी नहीं होता अतः यह द्वितीयक उष्मा-विनिमय यन्त्र में जाकर जल को अपनी उष्मा देता है तथा रेडियम-धर्मिताहीन भाप बनाता है। अमेरिका में कलीफोर्निया का सोडियम प्रतिकारी २०,००० किलोवाट शक्ति उत्पादित करता है। इसमें भी बोरन अथवा कैडमियम छड़ों द्वारा प्रतिक्रिया पर स्वतः नियंत्रण होता है जिसे चित्र में नहीं दिखाया गया है।

निष्क्रिय गैसों को शीतलक के रूप में प्रयुक्त करने से रेडिय-धर्मिता द्वारा उत्पन्न कठिनाइयों को कम किया जा सकता है। उष्मा की अच्छी चालक होने के कारण गैसों में उष्मा-विनिमय की क्षमता भी अधिक होती है। इन्हें ऊँचे से ऊँचे ताप पर भी काम में लाया जा सकता है। हीलियम गैस एक आदर्श शीतलक है क्योंकि यह न्यूट्रान भी अवशोषित नहीं करती। परन्तु जहाँ यह आसानी से उपलब्ध नहीं होती है वहाँ कार्बनडाइआक्साइड आदि अन्य अक्रिय गैसें ही प्रयुक्त होती हैं। शीतलक के रूप में गैसों में जल में उपस्थित दोष भी नहीं होते तथा धातुओं की अपेक्षा प्रायः सस्ती भी होती है।

६. काल्डर-हाल का प्रतिकारी

काल्डर हाल के ब्रिटिश नाभिकीय प्रतिकारी में कार्बनडाइआक्साइड गैस शीतलक के रूप में व्यवहृत होती है (क्योंकि हीलियम ब्रिटेन में महँगी पड़ती है) जो प्रतिकारी-गर्भ से होकर एक चक्र में प्रवाहित होती रहती है तथा प्रतिक्रिया में उत्पन्न उष्मा लेकर सीधे बॉयलर (उष्मा विनिमय यन्त्र) में जाती है जहाँ वह जल को अपनी उष्मा देकर वाष्प बनाती है जो टर्बोजनित्र में जाकर विद्युत उत्पन्न करती
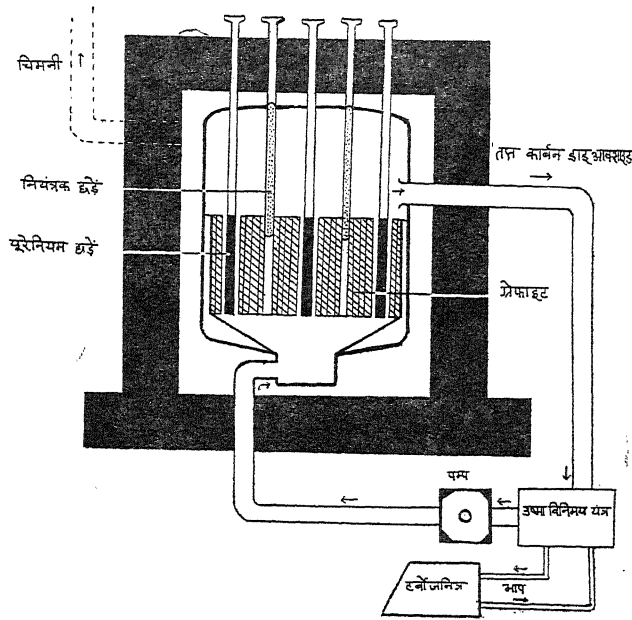
(चित्र ८)

ब्रिटिश नाभिकीय प्रतिकारी (काल्डरहाल)

है। इसमें U^{235} सान्द्रीकृत यूरेनियम छड़ें ईंधन के रूप में तथा ग्रेफाइट मन्दक के रूप में व्यवहृत होते हैं। कैडमियम छड़ों द्वारा स्वतः नियंत्रण होता है। प्रतिकारी-गर्भ के आवरण को ठंडा रखने के लिए गर्भ के बाहर भी गैसें प्रवाहित की जाती हैं (चित्र में नहीं दिखाया गया है) जो एक चिमनी द्वारा बाहर निकल जाती हैं। प्रतिकारी गर्भ के घेरे तथा पेंदे के पास कुछ अधिक U^{235} सान्द्रीकृत यूरेनियम रखने से प्रतिकारी गर्भ में न्यूट्रान घनत्व तथा उष्मा एक सी रह सकती है।

ब्रिटन में और भी गैस शीतलीकृत प्रतिकारी बनाए जा रहे हैं जिनमें से ब्रैडवेल प्रतिकारी भी एक है। इसका सिद्धान्त काल्डरहाल प्रतिकारी की ही भाँति है परन्तु इसमें काल्डरहाल प्रतिकारी की अपेक्षा अधिक शक्ति का उत्पादन होता है। काल्डर प्रतिकारी संसार का सबसे सरल तथा सर्वश्रेष्ठ प्रतिकारी माना जाता है। परमाणु-शक्ति के शांतिपूर्ण उपयोग करने में ब्रिटेन सबसे आगे है।

ब्रह्माण्ड प्रसरण

शमीम अहमद

पृथ्वी, सूर्य, नक्षत्र, ग्रह तथा उपग्रहों के सम्पूर्ण झुण्ड को ब्रह्माण्ड के नाम से पुकारते हैं। हमारा चिरपरिचित सूर्य एक नक्षत्र तथा पृथ्वी उसका एक ग्रह है। इसी प्रकार सूर्य के और अन्य ग्रह हैं। ग्रह अपने जनक नक्षत्र के चारों तरफ चक्कर लगाते रहते हैं। उपग्रह नामक रचना अपने जनक ग्रह के चारों ओर चक्कर लगाती है। रात्रि के समय यदि हम निर्मल आकाश का निरीक्षण करें तो उस समय हमें मुख्यतः दो प्रकार के प्रकाश-विन्दु दृष्टिगत होते हैं—प्रथम तो ऐसे होते हैं जिनसे समान रूप से प्रकाश प्रस्फुटित होता रहता है और इनका आकार अन्य की अपेक्षा बड़ा मालूम पड़ता है। दूसरे प्रकार के प्रकाश विन्दुओं से टिमटिमाता हुआ प्रकाश निकलता है। इस टिमटिमाते हुए प्रकाश वाली रचना को नक्षत्र कहते हैं (तथा चमकीले और बड़े प्रतीत होने वाले प्रकाश-कणों को नक्षत्र कहते हैं)। नक्षत्रों की द्युति स्वयं की होती है, आकार बहुत विशाल होता है तथा उनकी दूरी पृथ्वी से बहुत अधिक होती है। यही कारण है कि उनका आकार छोटा प्रतीत होता है। ग्रहों की द्युति नक्षत्रों के कारण होती है और आकार नक्षत्रों की अपेक्षा बहुत छोटा होता है तथा ये बड़े निकट विद्यमान हैं। उदाहरणार्थ, सूर्य जो कि एक नक्षत्र है हमसे इतनी अधिक दूरी पर स्थित है कि उसके तथा चन्द्रमा के द्वारा हमारे आँख पर समान बिम्ब बनता है और इसी कारण हमें सूर्य-ग्रहण पूर्ण रूप में भी दिखाई देता है।

रात्रि के धवल चन्द्र दीप्ति पूर्ण निर्मल आकाश में नक्षत्र, ग्रह तथा उपग्रहों के अतिरिक्त एक शुभ्र अथवा श्वेत चादर के समान फैली हुई रचना प्रतीत होती है जिसे हम आकाश-गंगा, (अंग्रजी में गैलेक्सी अथवा ग्रामीण बोलचाल में डँहर) के नाम से सम्बोधित करते हैं। इसकी रचना का ज्ञान हमें तब तक नहीं हो सका जब तक हमारे पास शक्तिशाली दूरवीक्षण यन्त्र नहीं सुलभ हो गए। शक्तिशाली दूरबीनों से देखने पर वैज्ञानिक इस तथ्य पर पहुँचे कि इसकी रचना एक लेंस या ताल के समान है जिसका बीच का भाग मोटा है और किनारे पतले हैं। मूलतः इसमें हमारे सौर-मंडल के समान अनेक नक्षत्रों के परिवार विद्यमान हैं। इस ताल का व्यास १००,००० प्रकाश

वर्ष* तथा मध्य भाग की मोटाई १०००० प्रकाश वर्ष है। **प्रो० कैपटिन** ने यह भी बताया कि आकाश गंगा में लगभग ४००,०००,०००,००० नक्षत्र विद्यमान हैं। हमारा सूर्य इस रचना के केन्द्र से लगभग ३०००० प्रकाश वर्ष दूर है। आकाश गंगा का मध्य भाग घनत्व में सीमावर्तीय भागों से अधिक है। इसकी कोई सूक्ष्म सीमा नहीं है। इसका केन्द्र सैगटीरियस नामक नक्षत्र से होकर जाता हुआ माना जाता है। परन्तु इस महान रचना में केवल २००० प्रदीप्त प्रकाश बिन्दु एक स्थान से दिखाई देते हैं। जब धुँधले प्रकाश-बिन्दुओं को भी गणना में ले लिया जाता है तो संख्या ६००० तक पहुँच जाती है। कैपटिन ने तो समस्त प्रकाश-कणों की गणना करके लगभग ४०००००००००० संख्या बताई। कैपटिन के अनुसंधानों ने आकाश-गंगा तथा अन्य नीहारिकाओं की रचना को सुलझाने में बहुत योगदान दिया है।

ब्रह्माण्ड की रचना

जिस प्रकार हमने देखा कि आकाश गंगा एक धवल चादर मात्र न होकर असंख्य नक्षत्रों का एक भण्डार है, उसी प्रकार इस आकाश में और भी रचनाएँ विद्यमान हैं जिनको हम उस समय तक अकेली पिण्ड रचनाएँ मानते थे, जब तक आज से २०० वर्ष पहले "लैम्बर्ट" तथा 'काण्ट' ने यह प्रमाणित नहीं कर दिया कि वास्तव में ये रचनाएँ हमारी आकाश-गंगा के समान असंख्य सूर्य तथा नक्षत्रों के समूह को धारण करने वाली हैं तथा इन रचनाओं में जीवन-अस्तित्व सम्भव है। इस गवेषणा ने ब्रह्माण्ड रचना को समझने में बहुत योग दिया। यह गवेषणा एक अद्भुत यंत्र 'स्पेक्ट्रोग्राफ' के द्वारा सम्पन्न की गई। स्पेक्ट्रोग्राफ के द्वारा ही हम 'नीहारिकाओं' की रचना, विस्तार एवं अन्य जानकारियों के बारे में अनुसन्धान करने में सफल हुए। हमारी आकाश गंगा भी उन्हीं नीहारिकाओं में से एक है।

---

*प्रकाश वर्ष वह दूरी है जो प्रकाश की किरणें एक वर्ष में चलती हैं।

विशालकाय दूरबीनों की सहायता से निरीक्षण करने पर यह पता चलता है कि कुछ नीहारिकाओं में पंख जैसा कोई भाग मालूम पड़ता है, कुछ की रचना सर्पिल, कुछ की गोलाकार तथा कुछ की अन्य विचित्र प्रतिमूर्तियाँ प्रतीत होती हैं। यह सब रचनात्मक भेद भिन्न-भिन्न नीहारिकाओं की आन्तरिक गतियों का परिचय देते हैं। उदाहरणस्वरूप हमारी आकाश गंगा अपनी कल्पित धुरी पर चक्कर लगाती है तथा सूर्य इसके साथ-साथ २२५०००००० वर्ष में अपना एक चक्कर पूरा कर लेता है। अब प्रश्न उठता है कि उपरोक्त तथ्य को प्राप्त कैसे किया गया तथा इसकी सत्यता की जाँच कैसे की गई? इस प्रश्न का उत्तर पाने के पहले एक अत्यन्त रोचक सिद्धान्त को समझना आवश्यक है और तब उसके बाद उपरोक्त कथन की पुष्टि अपने आप की जा सकेगी।

इस रोचक तथा उपयोगी सिद्धान्त का नाम **'डाप्लर सिद्धान्त'** है। यह सिद्धान्त हमें बताता है कि कोई प्रदीप्त पिण्ड पर्यवेक्षक से एक समान वेग से दूर जा रहा हो तो पर्यवेक्षक द्वारा प्राप्त उस पिण्ड के वर्णक्रम (स्पेक्ट्रम) में लाल रंग की वर्ण रेखाएँ अपने स्थान से विचलित प्रतीत होंगी और यदि पिण्ड पर्यवेक्षक के निकट आता होगा तो बैंगनी रंग की वर्ण रेखाएँ विचलित प्रतीत होंगी। इस विचलन की मात्रा उस वेग के अनुसार होगी जिससे पिण्ड गतिमान होता है। इस विचलन का ज्ञान हमें दो समय के अथवा दो प्रदीप्त पिंडों के वर्णक्रम से प्राप्त हो सकता है। इस सिद्धान्त की सहायता से अब वैज्ञानिक इस योग्य हो गए कि किसी आकाशीय रचना की सापेक्ष गति का ज्ञान प्राप्त कर सकें। जब 'डाप्लर प्रभाव' मालूम हो गया तो अब हम पहले के प्रश्नों का उत्तर सरलता से प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् विचलन का पा जाना हमारी आकाश-गंगा की गति का पूर्ण परिचायक है। 'स्पेक्ट्रोग्राफीय' अध्ययन के पश्चात् यह विदित हुआ कि हमारी आकाश गंगा में वर्तमान नक्षत्रों में दोनों प्रकार की गतियों का होना आवश्यक है जो यह

प्रमाणित करता है कि कुछ नक्षत्र हमारी ओर अग्रसर हैं और कुछ हमसे दूर। अर्थात् आकाश गंगा अपनी धुरी पर घूम रही है। अन्य नीहारिकाओं के वर्णक्रम की परीक्षा करने पर यह ज्ञात हुआ कि वे भिन्न-भिन्न गतियों से हमारी आकाश गंगा से दूर जा रही हैं। इस महान आविष्कार का जन्म सन् १९४२ ई० में **हबुल** नामक खगोलवेत्ता ने किया। इस सिद्धान्त की सहायता से किए गए अनुसन्धानों के आधार पर आज हम कह सकते हैं कि ब्रह्माण्ड में विद्यमान विभिन्न रचनाएँ ठीक उसी प्रकार गतिमान हैं जिस प्रकार एक कोष में रखे हुए गैसीय अणु तथा परमाणु। अन्तर केवल आकार एवं दूरी का है।

अब प्रश्न उठता है कि इन नीहारिकाओं के अन्तःकरण में कौन-कौन से पदार्थ विद्यमान हैं? इसका उत्तर देना उतना आसान नहीं क्योंकि ये नीहारिकाएँ हमसे इतनी अधिक दूरी पर हैं कि प्रकाश को चलने में लाखों वर्ष लग जाते हैं। इसलिए हमें किसी अन्य माध्यम का सहारा लेना पड़ेगा। जैसा कि हम जानते हैं कि जब किसी प्रदीप्त वस्तु से प्राप्त किरण पुंज को त्रिपार्श्व पर डाला जाता है तो उसके द्वारा एक स्पेक्ट्रम प्राप्त होता है जिसमें विद्यमान रेखाएँ उस पिण्ड के आन्तरिक पदार्थों को उपस्थिति की परिचायक होती हैं। इस सिद्धान्त का आश्रय लेकर वैज्ञानिकों ने अनुसन्धान कार्य प्रारम्भ किया।

ब्रह्माण्ड रचना का अध्ययन सर्वप्रथम सन् १९१२ ई० में प्रारम्भ हुआ क्योंकि इसी वर्ष डा० **वी० एम० स्लीफर**', 'फ्लैगस्टाफ' और 'अरिजोना ने प्रथम प्रयत्न 'सर्पिल नीहारिका' की गति सम्बन्धी गवेषणा करने में सफल किया था। उस समय इसकी रचना, गति, आकार तथा दूरी के बारे में कोई ज्ञान नहीं प्राप्त था। कुछ लोगों का अनुमान था कि ये हमारी आकाश गंगा के अन्दर विद्यमान हैं पर कुछ लोगों का कहना था कि ये आकाश गंगा से बाहर की ही रचनाएँ हैं। किसी का कथन प्रामाणिक नहीं था, केवल कल्पनाएँ मात्र थी। इनकी क्षीण दीप्ति के कारण वर्णक्रम का फोटो लेना भी एक दुरूह कार्य था अतः डा० स्लीफर ने लावेल की वेधशाला में एक न्यून-विस्तरण-स्पेक्ट्रोग्राफ की रचना करके जिसके साथ एक न्यून फोकस का तीक्ष्ण केमरा भी था, एक २४ इंच के परावर्तक के साथ जोड़ दिया। इस प्रकार उपरोक्त यंत्र की सहायता से सन् १९२४ ई० तक १३ तथा सन् १९२५ ई० तक २५ नीहारिकाओं की गतियों को डा० स्लीफर ने मालूम किया। इसी विधि से यह भी मालूम किया गया कि नीहारिकाओं की दूर जाने की सबसे अधिक गति ११२५ मील प्रति सेकण्ड है। इसी बीच उच्च परावर्तक दूरबीनों की रचना के फलस्वरूप नीहारिकाओं की दूरी के बारे में भी अध्ययन किया गया। सन् १९०९ ई० में ६० इंच परावर्तक की दूरबीन काम में लाई गई तथा सन् १९१८ ई० में माउण्ट विल्सन पर १०० इंच परावर्तक की विशालकाय दूरबीन स्थापित की गई। जुलाई सन् १९१७ ई० में 'रिशी' नामक वैज्ञानिक ने ६० इंच दूरबीन की सहायता से एक नवीन नक्षत्र का दर्शन NGC 6946 नामक नीहारिका में किया जिसके प्रकाश में क्रमशः परिवर्तन होता रहता है और उसे 'नोवा' कहा। इसी प्रकार 'एन्ड्रोमीडा' नामक नीहारिका में भी दो 'नोवा' का पता 'रिशी' ने लगाया। तत्पश्चात् १४ और 'नोवा' इसी संस्थान में पाए गए। इन 'नोवा' का प्रकाश आँखों से देखे गए सबसे धुँधले नक्षत्र से २५००० गुना और धुँधला होता है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि ये नीहारिकाएँ हमसे बहुत दूर स्थित हैं।

अब दूसरा प्रश्न यह है कि ये हमारी आकाशगंगा के अन्दर या बाहर विद्यमान हैं। इसका उत्तर १०० इंच की दूरबीन से हुआ। इस विशाल दूरबीन से 'ऐन्ड्रोमीडा' नामक नीहारिका का निरीक्षण करने पर नोवा के अतिरिक्त एक ऐसा नवीन नक्षत्र मिला जो आवर्तनीय क्रम से अपनी द्युति बदलता रहता है। इस नक्षत्र का नाम 'सेफिड वैरियेबुल' रखा गया।

वैज्ञानिकों के प्रयास से एक ऐसा सूत्र प्राप्त हुआ जिसके द्वारा इस नक्षत्र के आवर्तन काल (दीप्यमानता का आवर्तन काल) तथा इसकी दूरी में एक निश्चित सम्बन्ध मालूम हुआ। इस प्रकार दूरी की गणना करने पर ९००००० प्रकाश वर्ष प्राप्त हुआ जो यह प्रमाणित करता है कि ये रचनाएँ हमारी आकाश गंगा से बहुत दूर स्थित हैं। तत्पश्चात् गणितीय विधियों से जब इसका विस्तार मालूम किया तो उसका मान लगभग हमारी आकाश गंगा के विस्तार के बराबर आया। इसी प्रकार अन्य नीहारिकाओं के अध्ययन से फल प्राप्त हुए जो यह प्रमाणित करते हैं कि अन्य नीहारिकाएँ भी हमारी आकाश गंगा के समान शून्य में विद्यमान हैं। उनके भिन्न-भिन्न रूप केवल उनकी आन्तरिक गतियों की भिन्नता के कारण दिखाई पड़ते हैं।

रचना सम्बन्धी अन्तिम प्रश्न यह हुआ कि नीहारिकाओं का सृजन करने वाले नक्षत्रों तथा उनके किनारे के रिक्त स्थान की क्या रचना है? कौन-कौन से तत्व कितनी मात्रा में विद्यमान हैं? इनका उत्तर भी इसी विशालकाय दूरबीन के पर्यवेक्षणों से प्राप्त हुआ। पर्यवेक्षणों के आधार पर वैज्ञानिकों के अनुमान हैं कि नक्षत्रों के बीच के रिक्त स्थान में विभिन्न आकार की ब्रह्माण्डीय-धूल (कास्मिक डस्ट) विद्यमान है जिसके कारण प्रकाश का विकीर्णन होता है और विभिन्न नक्षत्रों के रंग भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। यदि सम्पूर्ण तत्वों की आपेक्षिक विद्यमानता को एकत्र किया जाय तो निम्न तालिका प्राप्त होती है—

हाइड्रोजन	१·००००	आक्सीजन	०·०१००	कार्बन	०·००१०	सिलिकन	०·०००५
हीलियम	०·५४००	नाइट्रोजन	०·००४०	मैगनीशियम	०·००१०	सल्फर	०·०००५
नियान	०·०१००	आर्सेनिक	०·००२०	आयरन	०·००१०	योग =	१·५७००

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्माण्ड की रचना क्या है और उसके अन्दर कौन से तत्व किस अनुपात से विद्यमान हैं। परन्तु अब प्रश्न उठता है कि आकार कैसा है?

ब्रह्माण्ड का आकार

ब्रह्माण्ड के आकार को समझने का सर्वप्रथम गणितीय प्रयत्न **आइन्स्टाइन** के सापेक्षवाद सिद्धान्त द्वारा सम्पन्न हुआ। इसके पहले केवल 'पालोमर' वेधशाला की २०० इंच दूरबीन के द्वारा देखा जाने वाला ब्रह्माण्ड ही केवल हमें मालूम था जिसमें अनेक नीहारिकाओं का विस्तरण माना जाता है। परन्तु जब हबुल गवेषणा से यह प्रमाणित हो गया कि ब्रह्माण्ड प्रसारित अवस्था में है तो सापेक्षवाद ने दो सुझाव हमारे सम्मुख उपस्थित किये।

आइन्स्टाइन की गणना के आधार पर ब्रह्माण्ड का वक्र होना निश्चय पाया गया। परन्तु वक्रता दो प्रकार की होती है। एक उन्नतोदर तथा दूसरी नतोदर। यदि ब्रह्माण्ड की वक्रता उन्नतोदर है तो यह संभव है कि हम कुछ अरब वर्षों के बाद अपने पीठ पीछे सर के कटे बाल को बिना दर्पण की सहायता के देखने में सफल हो जाएँगे। क्योंकि प्रकाश की किरणें कुछ अरब वर्षों के बाद अवश्य ब्रह्माण्ड का चक्कर लगाकर जहाँ से चली थीं वहीं फिर आ पहुँचेंगी। परन्तु कौन सी वक्रता ब्रह्माण्ड की है इसका उत्तर दृष्टिगत पर्यवेक्षणों के द्वारा ही पुष्ट किया जा सकता है। उन्नतोदर वक्रता का अर्थ यह होता है कि ब्रह्माण्ड का आयतन सीमित होगा इसलिए इसका प्रसरण एवं संकुचन आवर्तनीय रूप से घटित होगा तथा आवर्तन-काल भी एक सीमा पर निश्चित होगा। अर्थात् समस्त विशेषताएँ सीमा के अन्तर्गत होंगी जैसे एक गोलाकार पिण्ड। नतोदर वक्रता वाले ब्रह्माण्ड का आयतन असीम होगा, प्रसरण की सीमा तथा काल असीम

होगा अर्थात् सारी विशेषताएँ अनन्त होंगी। परीक्षणों तथा गणितीय कलनों से ब्रह्माण्ड की वक्रता का रूप नतोदर ही आता है। परन्तु उपरोक्त कथन तभी तक सत्य है जब तक हमारी धारणा के मौलिक सूत्र सत्य हैं अन्यथा इनकी सत्यता का कोई दूसरा आधार नहीं है। इस अवसर पर स्वीडेन के खगोल-वेत्ता 'चार्लियर' की 'असीम जटिलता की परिकल्पना' का उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। इस परिकल्पना के अनुसार हमारी आकाश गंगा तथा अन्य नीहारिकाएँ एक समूह बनाती हैं, इसी प्रकार शून्य में लाखों-अरबों समूह मिलकर अन्य एक विशाल समूह की रचना करते हैं तथा इसी प्रकार जटिलता का क्रम बढ़ता जाता है जिसको हमारी सबसे बड़ी आँख भी देखने में असमर्थ है।

प्रसरण

'हबुल' की महान् खोज तथा अन्य वैज्ञानिकों के प्रयत्न से यह पूर्ण रूप से प्रमाणित हो गया कि अन्य नीहारिकाएँ अधिकांशतः हमसे दूर जा रही हैं। उनके दूर जाने के वेग की गणना करने पर बीच की दूरी का समानुपाती पाया गया। गणितीय विधियों द्वारा गणना से यह प्राप्त हुआ कि इन नीहारिकाओं पर मुख्यतः दो प्रकार का बल लगता है—प्रथम आपस में आकर्षण, द्वितीय अटपटी गति के कारण। इन दोनों बलों के लब्ध की दिशा में नीहारिका गतिमान होती है। ज्यों-ज्यों दो नीहारिकाओं के बीच की दूरी बढ़ती जाती है वेग बढ़ता जाता है। परन्तु किसी नीहारिका पर आकर्षण अधिक होता है इसलिए उसके वर्णक्रम में बैंगनी विचलन पाया जाता है। 'सांख्यकीय यांत्रिकी' से गणना करने पर नीहारिकाओं की गति ठीक गैसीय प्रकोष्ट में विद्यमान अणुओं की सी पाई गई है। उपरोक्त प्रसरण को समझने के लिए एक सरल उदाहरण पर्याप्त होगा। यदि एक गुब्बारे पर विभिन्न निशान बना दिए जाएँ और गुब्बारे को फुलाया जाय तो प्रत्येक चिह्न एक दूसरे से दूर भागता हुआ दिखाई देगा। ठीक इसी प्रकार नीहारिकाएँ एक दूसरे से दूर भागती हैं।

'फ्रीडमैन' आदि वैज्ञानिकों ने आइन्स्टाइन के टेन्सरीय समीकरणों को हल करके यह प्रमाणित कर दिया है कि ब्रह्माण्ड का प्रसरण एवं संकुचन दोनों संभव हैं। प्रसरण हुआ क्यों इसके उत्तर में उनका अनुमान है कि ब्रह्माण्ड की आरंभिक अवस्था इतनी अस्थिर थी कि जिसका अनुमान उस समय के भयंकर घनत्व (१०००,०००,०००,० टन प्र०घन सेमी०) से किया जा सकता है। क्योंकि ज्यों-ज्यों पदार्थ का घनत्व बढ़ता जाता है उसका नाभिक अस्थिर होता जाता है।

प्रसरण सान्त या अनान्तः—उपग्रह सम्बन्धी 'स्केप वेलासिटी' का अध्ययन नीहारिकाओं के वेग के ऊपर करने पर गणितज्ञों ने गणना द्वारा प्रमाणित किया है कि ब्रह्माण्ड के संकुचन की कल्पना निरर्थक है। क्योंकि गुरुत्व अवरोध नीहारिकाओं के वेग की अपेक्षा बहुत कम है इसलिए फिर नीहारिकाओं का इकट्ठा होना संभव नहीं प्रतीत होता।

ब्रह्माण्ड की आयुः—हबुल के समीकरणों का अध्ययन करने पर यह विदित होता है कि जब अवगमन वेग की बीच की दूरी से भाग दिया जाता है तो एक अचर राशि प्राप्त होती है जिसका मान हर नीहारिका की गणना में $१\cdot७ \times १०^{९}$ वर्ष आता है जिसको हम ब्रह्माण्ड की आयु मान सकते हैं परन्तु रेडियोसक्रियता सम्बन्धी गणना द्वारा प्राप्त फल से मेल नहीं खाता। इसका कारण लेमैत्र नामक वैज्ञानिक ने बताया कि उपरोक्त संख्या को 'कास्मोलाजिकल कान्सटेण्ट' से गुणा कर देने पर सही मान प्राप्त हो जाता है। परन्तु होयल 'सतत रचना' के अनुसार ब्रह्माण्ड की आयु तथा सब विशेषताएँ अनन्त हैं।

पृथ्वी का उपग्रह चन्द्रमा

एन० स्लोवोखोतोवा

चन्द्रमा पृथ्वी का उपग्रह कहलाता है। इसमें सन्देह नहीं कि सूर्य के चारों ओर पृथ्वी की अनन्त यात्रा में वह उसका चिरसंगी है? चन्द्रमा ही रात में सबसे अधिक प्रकाश विखेरता है। उसकी आकृति, अन्धकारपूर्ण क्षेत्र तथा विशाल आलोकित मैदान, प्रत्यक्ष आँखों से दिखायी देते रहते हैं। फिर भी दीर्घ-काल तक चन्द्रमा की प्रकृति मनुष्य के लिए एक रहस्य बनी रही।

१६१० ई० में जब प्रसिद्ध इटालियन वैज्ञानिक गैलीलियो ने अपने आविष्कार, प्रथम दूरबीन से चन्द्रमा को देखना आरम्भ किया तो उसकी आँखों के सामने एक विचित्र संसार खुल गया। लम्बी-लम्बी पर्वत श्रेणियाँ, विशाल मैदान तथा अनेक वृत्ताकार संरचनाएँ, सब कुछ पृथ्वी के समान था, लेकिन इसके साथ ही साथ उसे कुछ ऐसी बातें भी दिखायी दीं जो पूर्णतया नई तथा असाधारण थीं। यह घटना साढ़े तीन सौ वर्ष पुरानी है। तबसे चन्द्रमा के दिखायी देने वाले भाग का भली प्रकार परीक्षण किया जा चुका है, उसका मानचित्र बनाया गया है और विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। पर्यवेक्षण की अनुकूल परिस्थितियों में आधुनिकतम दूरबीनों के द्वारा चन्द्रमा पर २०० मीटर या इससे भी कम व्यास का क्षेत्र देखा जा सकता है।

सत्रहवीं शती के आरम्भ तक चन्द्रमा के गोले पर दिखायी देने वाले अन्धकारपूर्ण क्षेत्रों को चन्द्र-सागर अथवा मारिया के नाम से पुकारा जाता रहा। कम क्षेत्र के मारिया को सिनुस (खाड़ी), लाकुस (झील) तथा पालुस (दलदल) कहा जाता था। आलोकित क्षेत्र महाद्वीप कहलाते थे।

चन्द्रमा के प्रत्येक स्वरूप का एक विशिष्ट नाम है। चन्द्रमा के मानचित्र पर शान्ति का सागर, नम्रता का सागर, वर्षा का सागर, तूफानों का सागर, ओस की खाड़ी, आदि दिखाये गये हैं। ये नाम आज भी प्रयोग में लाये जाते हैं, यद्यपि हम जानते हैं कि समुद्र और सागर की कौन कहे, चन्द्रमा पर पानी की एक बूंद भी नहीं है। इस प्राकृतिक उपग्रह पर यथेष्ट वायु-मण्डल भी नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि चन्द्रमा जल, वायु या जीवन से रहित एक 'मृत संसार' है।

जहाँ तक हमें ज्ञात है, चन्द्रमा के सागर विशाल-काय ज्वालामुखी-विवर हैं। उनका धरातल आस-पास के महाद्वीप से नीचे है तथा मारिया और महाद्वीप के बीच प्रायः एक तीव्र ढाल है। सागरों का धरातल चौरस भी नहीं है। वह दरारों, चक्करों तथा ऊँचे-नीचे लहरदार स्तरों से आच्छादित है।

ऊँचे पर्वत शिखर

चन्द्रमा के सागरों के चारों ओर तथा मैदानों के बीच ठीक पृथ्वी की ही भाँति पर्वत श्रेणियाँ हैं। इनमें से बहुतों का नामकरण पृथ्वी के पर्वतों के नाम पर किया गया है: उदाहरण के लिए उन्हें भी अपेनाइन, कारेथियन, काकेशस, अल्ताई तथा कोर्डिलेर के नाम से पुकारा जाता है। चन्द्रमा के पर्वत काफी ऊँचे हैं। उनमें से कुछ तो ७ या ८ हजार मीटर ऊँचे, अर्थात् हमारी पृथ्वी की कुछ सबसे ऊँची चोटियों के बराबर हैं। उनकी सापेक्षिक ऊँचाई तो और भी अधिक है,

क्योंकि चन्द्रमा का व्यास पृथ्वी का केवल एक चौथाई है।

चन्द्रमा के धरातल पर बिखरे हुए पर्वतों का रूप अंगूठी जैसा है। अंगूठी के बीच का भाग दीवाल-मैदान अथवा अंगूठीदार मैदान कहलाता है। मैदान भी उतने ही अन्धकारपूर्ण हैं जितने कि **मारिया**। इन गोलाकार मैदानों से विवर इस बात में भिन्न हैं कि उनमें एक केन्द्रीय शंकु है। अंगूठी जैसे पर्वतों का नामकरण प्रमुख वैज्ञानिकों तथा विचारकों के नाम पर किया गया है। जैसे टालमी, आर्किमेडीस, अरस्तू, कोपरनिकस, केप्लर, न्यूटन तथा अन्य। चन्द्रमा पर बहुत से अंगूठी के समान पर्वत हैं। कुछ तो पूरे महाद्वीप में फैले हुए हैं। **मारिया** के भीतर विवर हैं। बहुत से विवरों की चौड़ाई तो सैकड़ों किलोमीटर है। चन्द्रमा पर ऐसी कन्दरायें, घाटियाँ तथा नाले हैं जो सैकड़ों मीटर चौड़े तथा गहरे और सैकड़ों किलोमीटर लम्बे हैं।

चन्द्रमा का अदृश्य भाग

पृथ्वी के चारों ओर चक्कर लगाते समय चन्द्रमा का एक ही भाग सदा पृथ्वी की ओर होता है अतएव पृथ्वी से हम केवल चन्द्रमा का गोलार्द्ध ही देख सकते हैं। अभी कुछ समय पूर्व तक चन्द्रमा का भाग हमारे लिए अज्ञात था। यह सच है कि चन्द्रमा के अदृश्य भाग के बारे में कभी किसी ने यह नहीं सोचा था कि वह दृश्य भाग से वस्तुतः भिन्न होगा। फिर भी चन्द्रमा के अदृश्य भाग के विषय में यह पता लगाना अभी शेष है कि वह दृश्य भाग के समान है या भिन्न। इस बात का प्रमाण अक्टूबर १९५९ में प्राप्त हुआ जबकि एक स्वचालित अन्वेषक ने चन्द्रमा की दूसरी ओर जाकर छिपे हुए भाग के चित्र लिये। टेलीविजन द्वारा जब ये चित्र पृथ्वी पर पहुँचे तो पता चला कि अदृश्य भाग के स्वरूप परिचित हैं। वहाँ भी पृथ्वी के सामने वाले भाग की ही तरह सागर, मैदान, खड्ड, तथा पर्वत श्रेणियाँ हैं। अन्तर केवल इतना है कि अदृश्य भाग में सागरों तथा बड़े खड्डों की संख्या अपेक्षाकृत कम है।

चन्द्रमा का धरातल असमतल तथा स्पंजी है। उसकी संरचना ज्वालामुखी के लावा, पोले पत्थरों अथवा राख से मिलती जुलती है। सम्भवतः चन्द्रमा का बहुत सा भाग चट्टानों के टूटे-फूटे टुकड़ों से ढका हुआ है। ज्वालामुखियों से निकलने वाली चमकती हुई धारियाँ अथवा किरणें तथा उनके चारों ओर की वर्षा में सम्भवतः ऐसे पदार्थ हैं जो आसपास के क्षेत्र से अधिक ऊबड़-खाबड़ तथा स्पंजी हैं। ऐसा सोचा जाता है कि यह सारा पदार्थ ज्वालामुखियों से निकला है और वहाँ उसकी एक पतली परत जम गयी है।

चन्द्रमा के धरातल के स्वरूप तथा उसकी संरचना पर दृष्टि डालने से स्पंजी आवरण तथा ज्वालामुखी विवर की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जानने की जिज्ञासा होती है। आखिर चन्द्रमा पर ही अंगूठी जैसे इतने पर्वत क्यों हैं? पृथ्वी पर ऐसे पर्वत क्यों नहीं हैं? अभी इस प्रश्न का उत्तर केवल परिकल्पना मात्र होगा। कुछ लोगों का मत है कि चन्द्रमा के वृत्त तथा विवर वास्तव में ज्वालामुखियों के ही परिणाम हैं। एक दूसरा मत यह है कि चन्द्रमा पर विशालकाय उल्कापात होता रहा है, उल्काओं की बमबारी से होने वाले विस्फोटों से ही ये विवर तथा वृत्त बने हैं। इस परिकल्पना के अनुसार छोटी-छोटी उल्काओं की संख्या इतनी अधिक है कि उनके टकराने से चन्द्रमा का धरातल ज्वालामुखी की राख की तरह सरन्ध्र हो गया है। अभी तक पर्यवेक्षण से प्रतीत होता है कि चन्द्रमा के धरातल पर कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता। लेकिन यह पूर्णतया मृत भी नहीं है। कुछ पर्यवेक्षकों ने विवरों तथा कुछ आलोकित तथा अन्धकारमय क्षेत्रों के रूपों और आकार में परिवर्तन होते तथा नई-नई दरारें प्रकट होते देखा है। इन परिवर्तनों के कारण आज भी अज्ञात हैं।

एक ऐन्द्रजालिक तथा आश्चर्यजनक दृश्य

सोवियत ज्योतिषी **कोजीरेव** ने चन्द्रमा पर एक दिलचस्प प्रक्रिया देखी है। ३ नवम्बर, १९५८ को उन्होंने एक चन्द्रमा-विवर में एक अत्यन्त आलोक-पूर्ण स्थान प्रकट होते देखा। उनका विचार है कि यह ज्वालामुखी हो सकता है। यदि यह बात सच है तो चन्द्रमा कोई जमा हुआ तथा निर्जीव पदार्थ नहीं है। आज भी पृथ्वी की तरह चन्द्रमा पर भी पर्वतों का निर्माण होता जा रहा है।

मनुष्य अभी तक चन्द्रमा पर नहीं पहुँच सका है लेकिन पृथ्वी के एकमात्र प्राकृतिक उपग्रह, चन्द्रमा के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान निरंतर बढ़ता जा रहा है। हम उस दिन की परिकल्पना कर सकते हैं, जब प्रथम अन्तरिक्ष यात्री चन्द्रमा पर पाँव रखेगा। वहाँ पहुँचने पर उसे एक ऐन्द्रजालिक, आश्चर्यजनक दृश्य दिखाई देगा—उसे अन्धकारपूर्ण आकाश में तेज चमकते हुए स्थिर तारे दिखाई देंगे, रजत आभामण्डल से घिरा हुआ, चमकता हुआ सूर्य दृष्टिगोचर होगा। चन्द्रमा का आकाश सदैव काला रहता है। भले ही यहाँ से यह बात कल्पनातीत लगे। वहाँ रात-दिन तारे चमकते रहते हैं। चन्द्रमा के पास अपना वायु-मण्डल नहीं है जो सूर्य का प्रकाश बिखेर सके और आकाश में नीलिमा ला सके। चन्द्रमा के आकाश में एक और भी आश्चर्यजनक वस्तु—आकाश में जड़ा हुआ एक विशाल नीला गेंद दिखायी देगा। यह गेंद पृथ्वी है।

दूसरी ओर चन्द्रमा के यात्री को न तो कहीं बादल दिखाई देगा, न पानी, न हवा और न कुहासा। जिन बातों को हम मौसम कहते हैं, उनका चन्द्रमा पर अस्तित्व ही नहीं है। उसे गहरी परछाइयाँ देखने को मिलेंगी, लेकिन कहीं कोई आवाज नहीं सुनायी देगी। इसका कारण यह है कि एक तो वहाँ वायुमण्डल का सर्वथा अभाव है साथ ही ताप में तीव्र चढ़ाव तथा उतार होता रहता है। चन्द्रमा पर दिन में शून्य से १३०° सेंटीग्रेड ऊपर ताप होता है, लेकिन रात में वह शून्य से १५०° सेंटीग्रेड नीचे गिर जाता है। यह बात और है—चन्द्रमा पर रात और दिन दोनों ही ३३६ घंटे से अधिक लम्बे होते हैं। चन्द्रमा पर हर वस्तु का भार पृथ्वी की अपेक्षा $\frac{1}{6}$ होता है इसलिए चन्द्रमा पर कोई भी व्यक्ति आसानी से १०० किलो-ग्राम का वजन उठा लेगा अथवा ६ या ८ मीटर चौड़ी खाई कूद जाएगा।

शीघ्र ही निकट भविष्य में हम सुनेंगे कि मनुष्य के साथ कोई व्योमयान चन्द्रमा पर सुरक्षित उतर गया और इस प्रकार मनुष्य का एक चिर-स्वप्न सत्य बन गया। इसमें सन्देह नहीं कि चन्द्रमा वह पहला ग्रह होगा जिस पर मनुष्य के पाँव पड़ेंगे, क्योंकि चन्द्रमा ही पृथ्वी के सबसे अधिक निकट है। फल-स्वरूप नक्षत्रलोक का विज्ञान, ज्योतिष, अनेक विलक्षण अन्वेषणों से समृद्ध हो जाएगा।

संक्षिप्त जीवन परिचय माला—६

अमेरिकी नोबेल पुरस्कार विजेता मेलविन काल्विन

रसायन-विज्ञान में १९६१ का नोबेल पुरस्कार प्राप्त करने का सौभाग्य कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के डा० मेलविन काल्विन को प्राप्त हुआ है। यह सम्मान उन्हें प्रकृति के एक सबसे महत्वपूर्ण और आधारभूत सिद्धान्त 'प्रकाश संश्लेषण प्रक्रिया' (फोटोसेनथिसिस) के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण अनुसन्धान करने के लिए प्राप्त हुआ है।

प्रकाश संश्लेषण प्रक्रिया के अभाव में पृथ्वी पर किसी प्रकार के प्राणी जीवन का अस्तित्व सम्भव न होता। यह वह रहस्यपूर्ण प्राकृतिक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा हरे पौधे सूर्य के प्रकाश की सहायता से पृथ्वी से खींचे गए जल और वायु से ली गई कार्बन डाइ-ऑक्साइड से शर्करा, स्टार्च, प्रोटीन तथा अन्य पोषक तत्वों का निर्माण करते हैं।

पौधों की हरी पत्तियों का रंग (जिसे क्लोरोफिल कहते हैं) सूर्य रश्मियों का उपयोग कर जल को उसके दो निर्माता तत्वों में परिणत कर देती है—ये तत्व हैं हाइड्रोजन और ऑक्सीजन। ऑक्सीजन पौधों द्वारा वायुमण्डल में छोड़ दी जाती है, और इस प्रकार पशुओं और मनुष्यों को साँस लेने के लिए निरन्तर शुद्ध और ताजी प्राणवायु प्राप्त होती रहती है। लेकिन हाइड्रोजन का उपयोग, कार्बन डाइ-ऑक्साइड के साथ कई अत्यन्त जटिल प्रक्रियाओं की सहायता से कई प्रकार के स्टार्च, शर्करा तथा अन्य पोषक तत्वों के निर्माण के लिए होता है। सूर्य प्रकाश में निहित शक्ति को रासायनिक शक्ति में परिवर्तित करने की क्षमता के कारण ही ऐसा सम्भव हो सका है। इस प्रकार इस प्रक्रिया द्वारा न केवल पौधों को आवश्यक पोषण तत्व प्राप्त होते हैं, बल्कि अप्रत्यक्ष रूप से पशुओं और मनुष्य को भी खाद्य पदार्थ प्राप्त होते हैं।

डा० काल्विन को पौधों में कार्बन डाइ-ऑक्साइड के उपयोग के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण अनुसन्धान करने के लिए सम्मानित किया गया है। डा० काल्विन ने उन जटिल और द्रुतगामी रासायनिक परिवर्तनों का पता लगाया है, जो जल के कण से हाइड्रोजन तत्व के विलग होने और सूर्य शक्ति के रासायनिक शक्ति में परिणत होने के बाद शर्करा और स्टार्चों के निर्माण की प्रक्रिया में घटित होते हैं। अपने अनुसन्धानकार्य को पूरा करने में उन्हें दस वर्ष लगे हैं।

रेडियोसक्रिय कार्बन का उपयोग कर डा० काल्विन और उनके सहयोगियों ने पौधों द्वारा वायु में कार्बन डाइ-ऑक्साइड के ग्रहण किए जाने से लेकर शर्करा तैयार होने तक की सम्पूर्ण प्रक्रिया की जानकारी प्राप्त की है।

इस सम्बन्ध में किए गए परीक्षणों में डा० काल्विन ने हरी एल्गा, क्लोरेला के एक पौधे को जल में लटकाया और ऐसी व्यवस्था की जिससे उस पर बराबर प्रकाश पड़ता रहे। इसके बाद उन्होंने एल्गा पर ऐसी कार्बन डाइ-ऑक्साइड प्रवाहित की जिसमें रेडियोसक्रिय कार्बन-१४ का भी कुछ अंश था। इसके बाद 'प्रकाशसंश्लेषण प्रक्रिया' के विभिन्न चरणों में पौधों के तत्वों का विश्लेषण कर, वह निर्माण की प्रक्रिया में ही प्रत्येक पदार्थ को पहचान लेने में समर्थ हो गए।

उन्हें तथा उनके सहयोगियों को यह विदित हुआ कि कार्बन डाइआक्साइड पौधे में पहले से वर्तमान शर्करा से मिलती है और इस संयोग से एक प्रकार के अम्ल का निर्माण होता है। इसके वाद कई जटिल टेढ़ी-मेढ़ी रासायनिक प्रक्रियाओं का आविर्भाव होता है, जिनके फलस्वरूप अन्त में अन्य वस्तु का सृजन होता है।

'प्रकाश संश्लेषण प्रक्रिया' में रुचि रखने वाले अन्य विशेषज्ञों के अनुसार डा० काल्विन ही वह पहले वैज्ञानिक हैं, जिन्होंने उस प्रक्रिया सम्बन्धी सिद्धान्त को प्रस्तुत किया, जिसके द्वारा कार्वन डाइआक्साइड शर्करा में परिणत होती है। डा० स्फ़ीम (पब्लिक हेल्थ इन्स्टिट्यूट, न्यूयार्क) का कहना है कि अन्य लोगों ने सहायता तो अवश्य की, परन्तु समस्या पर पूरे जोर-शोर से कार्य करने का कार्य डा० काल्विन ने ही किया। इस सिद्धान्त की खोज करने तथा उसे विकसित और स्पष्ट रूप देने का श्रेय उनकी सूझ-बूझ और कल्पनाशक्ति को ही है।

डा० काल्विन एक अत्यन्त सूझ-बूझ वाले और मेधावी व्यक्ति हैं। उन्होंने इस सम्बन्ध में स्वयं लिखा है कि 'प्रकाश संश्लेषण प्रक्रिया' की एक अज्ञात रासायनिक कड़ी को जोड़ने में वे किस प्रकार सफल हुए। उन्होंने लिखा है: एक दिन मैं कार में बैठा अपनी पत्नी की प्रतीक्षा कर रहा था, जो किसी कार्यवश कहीं गई थी। पिछले कुछ महीनों से परीक्षणशाला से मुझे कुछ ऐसी आधारभूत सूचनाएँ मिली थीं, जो उस समय तक मुझे प्राप्त जानकारी और तथ्यों से मेल नहीं खाती थीं। मैं कार की स्टियरिंग पकड़े पत्नी की प्रतीक्षा कर रहा था ......जबकि वह अज्ञात तत्व एकाएक मेरे मस्तिष्क में कौंध गया। इस तत्व की अनुभूति मुझे सहसा कुछ सेकेण्डों के अन्दर ही हुई और उसका पता लगते ही मुझे यह पूरी तरह समझ में आ गया कि कार्बन डाइआक्साइड किस मार्ग का अनुसरण करती है।

डा० काल्विन द्वारा की गई खोज का घनिष्ठ सम्बन्ध कुछ वर्ष पूर्व डा० विलर्ड लिबी द्वारा की गई खोज से है। डा० लिबी को १९६० में रसायन-विज्ञान में उल्लेखनीय योगदान करने के लिए नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया था। डा० लिबी वे अमेरिकी वैज्ञानिक हैं जिन्होंने 'आणविक घड़ी' अथवा किसी पदार्थ के काल का पता लगाने के लिए प्रयुक्त की जाने वाली 'रेडियोसक्रिय कार्बन विधि' की खोज की थी। उनके द्वारा खोजी गई उक्त विधि का उपयोग आजकल प्रागैतिहासिक अवशेषों एवं प्राचीन स्मारकों का काल निश्चित करने के लिए किया जाता है।

संक्षिप्त जीवन परिचय

डा० काल्विन का जन्म ७ अप्रैल, १९११ को सेंट पाल मरकरी में हुआ था। उन्होंन १९३५ में मिनसोटा विश्वविद्यालय से रसायन-विज्ञान में डाक्टर की डिग्री प्राप्त की और दो वर्षों तक मैनचैस्टर यूनिवर्सिटी (इंगलैण्ड) में अनुसन्धान करने के उपरान्त वह कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय (वर्कली) के अध्यापक हो गए। द्वितीय महायुद्ध में उन्होंने अणु-बम के विकास में संलग्न वैज्ञानिकों के सलाहकार के रूप में कार्य किया। १९५५ में डा० काल्विन ने अणुशक्ति के कल्याणकारी उपयोगों पर विचार करने के लिए जेनेवा में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में अमेरिकी प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया।

डा० काल्विन ने कुछ अन्य वैज्ञानिकों के साथ मिलकर रसायन शास्त्र पर कई पुस्तकें भी लिखी हैं। रासायनिक और वैज्ञानिक पत्रिकाओं में उनके लेख भी समय-समय पर प्रकाशित होते रहते हैं। अपने सहयोगी डा० जेम्स ए० बाशम के साथ मिलकर उन्होंने १९५७ में 'पाथ औव् कार्बन इन फोटोसिनथेसिस' नामक पुस्तक भी लिखी।

हाल के वर्षों में प्राणी जीवन के उद्भव के बारे में डा० काल्विन ने विशेष दिलचस्पी लेनी प्रारम्भ

की और रासायनिक तत्वों के संयोग से जीवित तत्वों का निर्माण करने की सम्भावना की खोज करने के लिए उन्होंने व्यापक परीक्षण और अनुसन्धान भी किए हैं। उल्कापिण्डों में 'न्यूक्लिइक एसिड' से युक्त कणों की जो नई खोज उन्होंने की है, उससे इस विचार की पहली बार पुष्टि हुई है कि अन्तरिक्ष में भी रासायनिक विकास की प्रक्रिया कार्य कर रही है।

१९४७ से डा० काल्विन कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय में रसायन-विज्ञान के प्रोफेसर के पद पर कार्य कर रहे हैं।

उनका कहना है कि जो रसायनशास्त्री केवल रसायनशास्त्र में दिलचस्पी रखता हो, उससे प्रकाश संश्लेषण प्रक्रिया के विश्लेषण की आशा नहीं की जा सकती। उनका यह भी कथन है कि प्रकृति ने विज्ञान को भौतिक विज्ञान, रसायन और जीव-विज्ञान में नहीं बाँटा है। यह तो मनुष्य द्वारा किया गया कृत्रिम विभाजन है।

सार संकलन

१. रक्तचाप

संसार के सभी भागों में करोड़ों व्यक्ति रक्त-चाप की अधिकता से पीड़ित हैं, किन्तु उन्हें इसका तनिक भी ज्ञान नहीं है। चिकित्सक लोग इसे एक अत्यन्त गम्भीर स्थिति समझते हैं। इस विषय में हाल में जो समाचार प्राप्त हुए हैं उनसे यह प्रकट होता है कि रक्तचाप की थोड़ी सी अधिकता भी, जो प्रायः **हाइपरटेंशन** के नाम से पुकारी जाती है, यदि उपचार न किया जाय, तो रोगी की आयु कम कर सकती है।

कुछ ही वर्ष पूर्व तक, चिकित्सक इस रोग का उपचार करने में असमर्थ थे। वे रोगियों को कम नमक वाला आहार खाने का सुझाव दिया करते थे। इसका कारण यह है कि अधिक नमक लेने से रक्त-चाप का दबाव बढ़ जाता है। इसके साथ-साथ वे यह भी परामर्श देते थे कि रक्तचाप से पीड़ित रोगियों को पर्याप्त विश्राम करना चाहिए और उन्हें कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए जिससे रक्त का दबाव बढ़ने की आशंका हो।

परन्तु अब स्थिति बिलकुल बदल गई है। जब रक्तचाप घातक रोक नहीं रह गया है। इस रोग के उपचार के लिए अनेक प्रभावशाली औषधियाँ उपलब्ध हैं। रक्तचाप के उपचार के लिए अमेरिका की औषधियाँ बनाने वाली कम्पनियों ने **हेक्सामेथोनियम** तथा उससे सम्बन्ध रखने वाली जिन औषधियों का विकास किया है, वे बड़ी ही प्रभावशाली सिद्ध हुई हैं। इसके अतिरिक्त और भी अनेक ऐसी औषधियाँ उपलब्ध हैं जो रक्तचाप के लिए बड़ी ही लाभदायक हैं। इनमें मुख्यतः वे औषधियाँ सम्मिलित हैं जो अमेरिकी फर्मों द्वारा **रोवोल्फिया** अथवा भारतीय जड़ी **सर्पगन्धा,** से तैयार की गई हैं। भारत में सैकड़ों वर्षों से यह औषधि प्रयोग में लायी जा रही है।

इन औषधियों के गुणों की जाँच करने के लिए हाल में एक परीक्षण किया गया है। दो औषधियों —एक हेक्सामेथोनियम वर्ग से तथा दूसरी रोवोल्फिया वर्ग से—को मिला कर उनसे ४ रोगियों का उपचार किया गया और उनमें से दो रोगियों का घातक रक्तचाप कम हो गया।

हेक्सामेथोनियम, मेकामाइलेमीन तथा **ग्वानेथेडीन** रक्त के दबाव को कम करके रक्त धमनियों को आराम देती हैं। रोवोल्फिया तथा उससे तैयार होने वाली अन्य औषधियाँ, जैसे **रेसरपाइन,** मस्तिष्क को बड़ा लाभ पहुँचाती हैं। उनसे मस्तिष्क की शिराओं में तनाव कम हो जाता है और इस प्रकार रक्त चाप कम हो जाता है।

अमेरिकी स्वास्थ्य विभाग के वैज्ञानिक आजकल ऐसे नए मिश्रणों के सम्बन्ध में परीक्षण कर रहे हैं जो एक **डेकारबोक्सिलेस** नामक एक प्रकिन्व (इन्जाइम) के प्रभाव को समाप्त कर देता है। ऐसा समझा

जाता है कि इस रस के कारण रक्तचाप की उत्पत्ति होती है। वाशिंगटन के समीप, वैथेस्डा (मेरीलैण्ड) नामक स्थान पर स्थित **यू० एस० नेशनल इन्स्टिट्यूट ऑव् हेल्थ क्लिनिकल सेण्टर** में जिन रोगियों को एल्फामथाइलडोपा नामक एक नया मिश्रण दिया गया उनमें ८० प्रतिशत रोगियों की रक्तचाप की अधिकता कम हो गयी है।

पता चला है कि अक्तूबर १९६१ में, केपला नामक एक नई औषधि के सेवन से रक्तचाप की अधिकता कम हो गयी है और उससे रोगी के स्वास्थ्य पर किसी भी प्रकार का दूषित प्रभाव नहीं हुआ है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि केपला मस्तिष्क तथा रीढ़ की हड्डी पर तनाव को कम कर देती है। रक्तचाप बढ़ जाने से वे दोनों अंग प्रभावित हो जाते हैं। क्रेनवरी (न्यूजर्सी) की वालैस प्रयोगशालाओं द्वारा इस नई औषधि का विकास किया गया है। अनुसन्धान कार्यों के अध्यक्ष एवं निर्देशक डा० फ्रैंक एम० बर्जर ने बताया है कि यह ऐसी प्रथम औषधि है जो रक्तचाप की अधिकता को कम कर देती है और जिसका शरीर के नियन्त्रण करने वाले आन्तरिक अवयवों पर कोई दूषित प्रभाव नहीं पड़ता है। चिकित्सा सम्बन्धी प्रारम्भिक परीक्षणों में विविध प्रकार से रक्तचाप से पीड़ित १०० रोगियों का उपचार करने के लिए केपला का प्रयोग किया गया था। उनमें से ७० प्रतिशत रोगियों को इस औषधि से बहुत लाभ पहुँचा है। ९३ रोगियों के एक दल में से ८४ प्रतिशत रोगियों का केपला के सेवन से रक्तचाप ठीक हो गया था।

२. प्रथम अमेरिकी अन्तरिक्ष यात्री—जोन एच० ग्लेन जूनियर

श्री ग्लेन का जन्म ओहायो राज्य के एक छोटे से कस्बे 'केम्ब्रिज' में १८ जुलाई, १९२१ को हुआ था। ६ वर्ष की आयु से ही हरी आँखों वाले बालक ग्लेन के हृदय में हवाबाज बनने की अभिलाषा जाग उठी थी।

स्कूल तथा मस्किंगम कालेज में अध्ययन करने के समय भी ग्लेन में हवाबाज बनने की अभिलाषा बराबर बनी रही। अन्त में द्वितीय महायुद्ध के दौरान उसे मेरीन कोर के हवाबाज के रूप में अपने जीवन के प्रिय स्वप्न को साकार करने का अवसर मिला। प्रशान्त महासागर और तदुपरान्त कोरिया पर दर्जनों साहसिक उड़ानें भरने के लिए ग्लेन को 'डिस्टिंगिश्ड फ्लाइंग क्रोस' तथा १६ पदक प्राप्त हुए। शान्ति स्थापित होने के बाद श्री ग्लेन 'एडवांस फ्लाइंग ट्रेनिंग' में एक प्रशिक्षक के रूप में कार्य करने लगे और नए-नए प्रकार के यानों के विकास में भी उनका काफी हाथ रहा। वह अमेरिकी नौसेना के 'टेस्ट पायलिट स्कूल' के स्नातक हैं और उन्होंने मेरीलैण्ड विश्वविद्यालय तथा अन्य स्कूलों में भी प्रशिक्षण प्राप्त किया है। १९५७ में उन्हें ध्वनि की गति से भी अधिक तेजी से उड़ने वाले पहले अमेरिकी हवाबाज होने का गौरव प्राप्त हुआ। इस अवसर पर उन्होंने जेट यान द्वारा लॉस एंजेल्स से न्यूयार्क तक की दूरी ३ घंटे २३ मिनट में पूरी कर दिखाई। इसके बाद उन्हें मैरीन कोर में लेफ्टिनेण्ट कर्नल का पद प्राप्त हो गया। उन्हें इस अवधि में विभिन्न प्रकार के यानों पर सभी प्रकार के मौसमों में लगभग ५ हजार घण्टे की उड़ान करने का अवसर प्राप्त हो चुका है। उनका कहना है कि अन्तरिक्ष यात्री को जिस प्रकार के आत्म-विश्वास की आवश्यकता है वह केवल अनुभव से ही प्राप्त होता है।

१९५९ में अमेरिका के राष्ट्रीय उड्डयन एवं अन्तरिक्ष प्रशासन ने अन्तरिक्ष उड़ान के लिए प्रशिक्षित करने के हेतु जिन सात अमेरिकी हवाबाजों को चुना, उनमें श्री ग्लेन भी एक थे। अमेरिकी कक्षागत उड़ान के लिए अमेरिका जो तैयारी कर रहा था, उसमें उन्हें महत्वपूर्ण भूमिका प्राप्त थी।

दो वर्षों तक इस कार्य के लिए उन्होंने सभी प्रकार की विषम और कठोर परिस्थितियों में आवश्यक प्रशिक्षण प्राप्त किया। स्लेन वी० शेपर्ड जूनियर और केप्टन वर्जिल एल० ग्रिसम की अन्तरिक्ष यात्राओं के अवसर पर उन्हें भी तैयार रखा गया था ताकि इनमें से किसी के जाने में बाधा उपस्थित होने पर उन्हें उड़ान पर भेजा जा सके। वस्तुतः पृथ्वी की कक्षागत उड़ान भरने के इस ऐतिहासिक साहसिक प्रयास के लिए तैयारी करने के हेतु श्री ग्लेन ४ दिसम्बर, १९६१ से ही इस कार्य के लिए विशेष रूप से तैयार किए गए स्थान 'रेडी रूम' में जा कर रहने लगे थे।

यद्यपि श्री ग्लेन बहुत विनम्र रहते हैं, परन्तु इतनी क्षमता पर उन्हें पूरा विश्वास है और इसे प्रकट करने से वे हिचकते भी नहीं। वह इस बात से भी अत्यधिक प्रमुदित हैं कि यह महत्वपूर्ण अवसर प्राप्त करने का सम्मान उन्हें मिला। उनका कहना है कि 'मरकरी कार्यक्रम' की तुलना कई प्रकार से हवाई जहाज का आविष्कार करने वाले राइट बन्धुओं के उड्डयन सम्बन्धी प्रारम्भिक प्रयत्नों से की जा सकती है।

श्री ग्लेन अमरीका की अन्तरिक्ष यात्री टोली में सबसे अधिक आयु वाले हवाबाज हैं। लाल केशों तथा गम्भीर मुद्रा वाला यह अमेरिकी हवाबाज अपने को शारीरिक दृष्टि से पूरी तरह चुस्त रखने के लिए रोज प्रातः काल नाश्ते के पूर्व दो मील की दौड़ लगाता है। उसे सभी प्रकार के हवाई जहाजों को उड़ाने का अनुभव प्राप्त है और इस अनुभव के कारण उन्हें इस क्षेत्र में व्यापक टैक्निकल क्षमता प्राप्त है। उसे इस बात का पूर्ण विश्वास है कि वे अनायास कोई भी संकट उपस्थित होने पर उसका सामना कर सकते हैं।

उसे अपने परिवार से अत्यधिक लगाव है और वह दो बच्चों का पिता भी है। अमेरिका का अन्तरिक्ष यात्री नम्बर १ एक अत्यधिक धार्मिक व्यक्ति है और उसने अपने पेशे के धार्मिक पहलू और सिद्धान्तों पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया है।

यह जानते हुए भी कि उनको प्रथम कक्षागत उड़ान के लिए चुन लिया गया है और इस प्रकार वह एक महान साहसिक कार्य करने वाले हैं, श्री ग्लेन ने किसी प्रकार का गर्व अनुभव नहीं किया और सामान्य रूप से अपना कार्य करते रहे, यद्यपि इस बीच देश भर के समाचारपत्रों में उनके नाम का खूब प्रचार हुआ।

श्री ग्लेन ने विज्ञान विषयों के एक प्रसिद्ध लेखक से अपनी एक भेंट के दौरान (कक्षागत उड़ान पर जाने के पूर्व) बताया था कि प्रोजक्ट मरकरी योजना के अन्तर्गत कार्य करने वाले सभी व्यक्तियों को दिन में काफी देर तक (८ घण्टे से कहीं अधिक) कार्य करना पड़ता है तथा अन्तरिक्ष यात्रियों को अन्य कार्यों के अतिरिक्त शाम को कुछ देर तक अध्ययन करना पड़ता है।

पिछली अन्तरिक्ष उड़ानों की तुलना में इस कक्षागत उड़ान के उपरान्त अन्तरिक्ष यान के पृथ्वी पर वापस लौटने पर उसे सफलतापूर्वक पुनः प्राप्त करने का कार्य बहुत अधिक कठिन था, क्योंकि इस अवसर पर अन्तरिक्ष यान की गति ५ मील प्रति सेकेण्ड तक पहुँची थी। इस दशा में समय का हिसाब लगाने में यदि जरा सी चूक हो जाती तो अन्तरिक्ष यान निर्दिष्ट स्थान से कई सौ मील दूर जा कर उतर सकता था।

नवम्बर २९ की परीक्षणात्मक उड़ान में जो मामूली कठिनाइयाँ सामने आयीं थीं, उनके बारे में श्री ग्लेन तनिक भी चिन्तित नहीं प्रतीत होते थे। इस परीक्षणात्मक उड़ान में अन्तरिक्ष यान को दो परिक्रमाओं के बाद ही उतार लिया गया। योजनानुसार चिम्पाजी इनोस को इस अन्तरिक्ष यान में बैठ कर तीन परिक्रमाएँ करनी थीं। उनका विश्वास

है कि अन्तरिक्ष यान में अन्दर के स्थान पर जब मनुष्य बैठेगा तो वह संकट आने पर उचित कार्यवाही कर सकेगा।

अन्तरिक्ष यान के नियन्त्रण के सम्बन्ध में श्री ग्लेन को विशेष जानकारी और अनुभव प्राप्त है, क्योंकि १९५९ में अन्तरिक्ष यान के कैबिन के भीतरी भाग की रूपरेखा तैयार करने का दायित्व उन्हीं को सौंपा गया था।

अपनी ऐतिहासिक उड़ान के कुछ समय पूर्व ग्लेन ने कुल समय लैंग्लेफील्ड और केप केनवरल स्थित 'प्रोसीजर्स ट्रेनर्स' में व्यतीत किया। यहाँ पर उसने अन्तरिक्ष यान के पूरे आकार के नमूने में नकली अन्तरिक्ष उड़ान सम्बन्धी कार्यों का अभ्यास किया। उसके अभ्यास में तापमान पर नियन्त्रण करने का प्रश्न विशेष महत्वपूर्ण था। श्री ग्लेन ने बताया कि सामान्य अन्तरिक्ष उड़ानों की तुलना में कक्षागत उड़ान के दौरान अन्तरिक्ष यान को काफी अधिक ताप का सामना करना पड़ता है। कक्षा में पृथ्वी की परिक्रमा करते हुए अन्तरिक्ष यात्रा १८ हजार मील प्रति घण्टे की गति से उड़ता है और वातावरण में प्रवेश करते समय अणुओं से जो घर्षण होता है, उस के फलस्वरूप पुनः प्रवेश के समय कठिन समस्याएँ उपस्थित होती हैं।

३. मरकरी योजना के अन्तरिक्ष यान की जटिलता

अमरिका के प्रथम हवाबाज ने जिस अन्तरिक्ष-यान द्वारा कक्षागत उड़ान सम्पन्न की, उसकी बनावट और यन्त्र-सज्जा अत्यन्त जटिल है। इसका भार लगभग एक टन है आकार कुप्पीनुमा तथा इसकी लम्बाई ९ फुट और तले के आरपार चौड़ाई ६ फुट है।

इस अन्तरिक्ष-यान को जिन यन्त्रों और उपकरणों से सुसज्जित किया गया है, उन सबका निर्माण हवाबाज की सुरक्षा और कार्यक्षमता को दृष्टिगत रख कर किया गया है। अन्तरिक्षीय कक्षा में पृथ्वी के चारों ओर सम्पन्न इस ऐतिहासिक यात्रा के दौरान, हवाबाज को एक पूरे आकार की गद्दी पर, जिसके सहारे उसकी पीठ उसके पैर और उसका सिर टिके हुए थे, सुरक्षा-पट्टियों द्वारा आबद्ध करके सुरक्षित रखा गया था। उसके हाथ में दस्ताने थे। दस्तानेयुक्त उसके हाथ दो नियन्त्रण-उपकरणों—दिशा निर्देशक हेण्डिल तथा यान से बाहर निकलने के लिए प्रयुक्त हो सकने वाले उपकरण—पर टिके थे। किन्तु वह प्रायः अपने हाथ को बढ़ा कर अन्य यन्त्रों को भी चालू करता रहता था। हवाबाज के चेहरे के सामने उपकरण-पट्टिका थी, जो कुछ दृष्टियों से वैसी ही थी, जैसी आधुनिक वायुयान की उपकरण-पट्टिका होती है।

हवाबाज की आँखें इस पट्टिका पर बराबर चक्कर काटती रहती थीं। इस प्रकार वह अपने कक्ष के ताप और आक्सीजन चाप, पृथ्वी के सम्बन्ध में अन्तरिक्ष-यान की दिशा, ईंधन की मात्रा, तथा बैटरियों और अन्य उपकरणों की स्थिति का बराबर निरीक्षण करता जा रहा था। सरलता की दृष्टि से, बहुत सी ऐसी रोशनियाँ लगा दी गयी थीं, जो उड़ान के किसी विशेष क्षण पर सबसे महत्वपूर्ण यन्त्रों की स्थिति का निर्देश करती रहती थीं। हरी रोशनी इस बात की सूचक थी कि यंत्र ठीक ढंग से कार्य कर रहा है, जबकि लाल रोशनी यह सूचित करती थी कि यन्त्र ठीक ढंग से काम नहीं कर रहा है। प्रत्यक रोशनी की बगल में एक हत्था लगा था, जिसे घुमा कर हवाबाज यन्त्र की गड़बड़ी को ठीक कर सकता था। यदि किसी यन्त्र में कोई विशेष गड़बड़ी उत्पन्न हुई होती तो ये सूचक रोशनियाँ चमक उठी होतीं और आगाह करने वाली घण्टी बज उठी होती। इस प्रकार हवाबाज किसी सम्भाव्य खतरे के सम्बन्ध में सावधान हो जाता। उसका अन्तरिक्ष यान वायुनिरुद्ध, तथा जलनिरुद्ध है और उस पर ध्वनि का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। उसकी दीवारें इतनी मजबूत हैं कि अन्तरिक्ष की भयावह स्थितियाँ हवाबाज को कोई क्षति नहीं पहुँचा सकती। इस प्रकार वह वायुमण्डल तथा अतिशीत से पूर्णतया

सुरक्षित रहता है। अन्तरिक्ष-यान में कुल १० हजार से अधिक पुर्जे थे, और उसमें लगे तारों की कुल लम्बाई ७ मील थी।

बैठने की सामान्य स्थिति में, हवाबाज अपने सिर के ऊपर लगे एक वातायन से और अपनी उपकरण पट्टिका के तले के मध्य में लगे पेरिस्कोप से, बाहर का दृश्य देख रहा था। १६ मिलीमीटर व्यास के दो स्वतः संचालित कैमरे उसकी गतिविधियों के तथा डायलों और उपकरणों के सूचकांकों के चित्र अंकित करते जा रहे थे। एक अन्य कैमरा, जिसका व्यास ७० मिलीमीटर था, पृथ्वी और आकाश के चित्र खींच रहा था। हवाबाज के नीचे उसकी वातावरण-नियन्त्रण यन्त्र-प्रणाली थी। इसके अन्तर्गत हवाबाज के लिए ऑक्सीजन, एक ताप नियन्त्रक उपकरण तथा एक ऐसा यन्त्र शामिल था, जो हवाबाज की सांस के साथ बाहर निकली कार्बन डाइआक्साइड और कक्ष की दूषित हवा को बाहर निकालता था। हवाबाज के संचार-उपकरणों के अन्तर्गत उच्च आवृत्ति (एच-एफ) तथा अति-उच्च आवृत्ति (यू० एच-एफ) के रेडियो ट्रांसमिटर तथा रिसीवर और एक अविच्छिन्न-लहरी (सी० डब्ल्यू०) रेडियो के अतिरिक्त, एक ऐसा विशेष ट्रांसमिटर सम्मिलित था, जो अपने आप पृथ्वी के धरातल पर स्थित केन्द्रों को सूचनाएँ भेजता रहता था। सामान्य स्थितियों के अन्तर्गत, उसके उच्च आवृत्ति रेडियो के संकेत १२,५०० मील की दूरी तक सुने जा सकते थे। यह दूरी भूमण्डल के चारों ओर की आधी दूरी के बराबर है।

एक असामान्य प्रकार का रेडियो रिसीवर सीधे हवाबाज के नियन्त्रण-उपकरणों से ही सम्बद्ध था। इस रिसीवर द्वारा पृथ्वी पर स्थित निर्देश-नियन्त्रक केन्द्र हवाबाज के अन्तरिक्ष यान को पृथ्वी पर वापिस आने के लिए निर्दिष्ट कर सकता था। इसका उपयोग किसी संकटकाल में, उदाहरण के लिए हवाबाज के मूर्च्छित हो जाने पर, किया जाता। हवाबाज के नियन्त्रण-उपकरणों के अन्तर्गत, अन्तरिक्ष यान की सतह पर लगे दबी गैस वाले जेट सम्मिलित थे, जिन का कार्य उड़ान के दौरान अन्तरिक्ष यान की चक्कर काटने, अचानक ऊपर उठने या लुढकने सम्बन्धी क्रियाओं को दुरुस्त करना था।

कभी-कभी तो हवाबाज ने इन जेटों को स्वयं घुमाया-फिराया; किन्तु कभी-कभी उसने स्वतः-संचालित दिशा-निर्देशक नियन्त्रण यन्त्र द्वारा ही इन जेटों को चालू होने दिया। इन जेटों का प्रयोग सब से पहले उस समय हुआ, जब हवाबाज कक्षा में पहुँच गया। उस समय इनका प्रयोग अन्तरिक्ष यान के कुन्द सिरे को पीछे से सामने की ओर फेरने के लिए किया गया। इस प्रकार, अन्तरिक्ष यान को हर समय उतारने के उद्देश्य से सही दिशा में निर्दिष्ट रखा गया।

'काले डिब्बों' (ब्लैक बाक्स) में अन्तरिक्ष-यान को स्वतः संचालित रखने के लिए लघु आकार का जटिल विद्युदाणविक गियर रखा गया था। यह स्वतःचालित चालक (आटोपाइलट) यन्त्र चालू हो कर हवाबाज को इतनी फुर्सत दे देता है था कि वह वैज्ञानिक पर्यवेक्षण कर सके और अपने रेडियो पर व्यक्तिगत विचार व्यक्त कर सके। अन्तरिक्ष यान के कुन्द या अगले सिरे पर एक ताप-निरोधक ढाल थी, जो वायुमण्डल में पुनः प्रवेश करते समय अन्तरिक्ष-यान के सामने आने वाले तीव्र ताप को रोकती थी। ढाल और यान के बीच दबा कर रखी गयी एक ४ फुट मोटी रबरयुक्त कपड़े की घँघरी थी। वायुमण्डल में पुनः प्रविष्ट होने के बाद यह घँघरी फैल गयी और यान के उतार के समय उस की गद्दी का कार्य किया।

घण्टी के आकार वाले अन्तरिक्ष यान के छोटे छोर के छोटे भाग में हवाई छतरी तथा पुनर्ग्रहण और सुरक्षा में सहायता पहुँचाने वाले अन्य उपकरण शामिल थे। इनमें एक छोटी छतरी एक बड़ी

हवाई छतरी तथा संकट-काल में प्रयुक्त होने के लिए एक सुरक्षित छतरी शामिल थीं।

अन्तरिक्ष यान में धूम्र बम तथा रंग अंकित करने वाले उपकरण भी लगे थे। वे अन्तरिक्ष यान के भूमि पर उतरते ही अपने-आप फूट पड़े। इनके अतिरिक्त, धातु के टुकड़ों की एक थैली भी थी, जो अन्तरिक्ष-यान के भूमि पर उतरने के ठीक पहले खुल गयी। ऐसा होने से पुनर्ग्रहण के लिए तैयार वायुयान के लिए राडार द्वारा अन्तरिक्ष यान का पता लगा लेना आसान हो गया।

अन्तरिक्ष यान के सिरे पर एक बड़ी धात्विक मुद्रिका थी जिसका उपयोग हैलिकाप्टर ने तार से पकड़ कर उसे ऊपर उठाने के लिए किया। यह मुद्रिका केन्द्र भाग से दूरी पर लगी थी, जिसके कारण उठाते समय अन्तरिक्ष यान ने चक्कर नहीं खाये। इसके विपरीत, वह हैलिकाप्टर के नीचे थोड़ा तिरछा लटका रहा।

अन्तरिक्ष यान में एक छोटी फूल सकने वाली रबर की पट्टी भी थी। यदि अन्तरिक्ष यान पानी में डूब गया होता, तो उस दशा में हवाबाज इस पट्टी के सहारे बच निकलता।

मूल अन्तरिक्ष यान की रूपरेखा किसी एक व्यक्ति ने या किसी एक टोली ने नहीं तैयार की थी। फिर भी, राष्ट्रीय उड्डयन एवं अन्तरिक्ष प्रशासन के उड्डयन प्रणाली विभाग के प्रधान श्री मैक्सिम ए० फैगेट ने इसके सम्बन्ध में पर्याप्त मौलिक कार्य किया। उन्होंने सबसे पहले एक ऐसे कुन्द शंकु भाग की रूप-रेखा तैयार की, जो वायुमण्डल में अन्तरिक्ष यान के पुनः प्रवेश करने पर सामने आने वाले तीव्र ताप को सहन करने में समर्थ हो सके। फैगेट तथा उनकी इंजिनियर टोली ने नियन्त्रण-प्रणाली, प्रतिक्रिया जेट तथा स्वतःचालित चालक को विकसित करने में योग दिया।

सेण्ट लुई, मिसौरी के मैक्डोनाल्ड एयर क्रैफ्ट कार्पोरेशन ने राष्ट्रीय उड्डयन एवं अन्तरिक्ष प्रशासन से मरकरी अन्तरिक्ष यान विकसित और निर्मित करने का ठेका लिया। परीक्षण के दौरान अन्तरिक्ष यान के ४,००० पौण्ड वजनी नमूनों को विमान द्वारा अत्यन्त ऊँचाई से गिराया गया और अन्तरिक्ष में प्रक्षिप्त किया गया।

इन नमूनों में से कुछ को बिना हवाई छतरी के नीचे गिराया गया, ताकि इस बात का पता लगाया जा सके कि वे कितने प्रताड़न का सामना करने में समर्थ हैं। कुछ अन्य नमूनों में बहुत से उपकरण भेजे गये, जिनके द्वारा इस बात का पता लगाया गया कि हवाबाज को अपनी कक्षागत उड़ान के दौरान कितने दबाव या चाप का सामना करना पड़ेगा। इनके अतिरिक्त, इस बात की जाँच करने के लिए भी परीक्षण किये गये कि अन्तरिक्ष यान को ऊपर ले जाने वाले नकली राकेट से उस यान को पृथक करने के लिए सुरक्षा राकेटों को दागने के बाद भी अन्तरिक्ष यान अच्छी हालत में बना रहेगा।

जब सारे परीक्षण सफलतापूर्वक पूरे हो गये, तो उसके बाद अन्तिम नमूनों में से दो का उपयोग हवाबाज एलन वी० शेपर्ड तथा हवाबाज वर्जिल ग्रिसम ने अपनी उप-कक्षागत उड़ानों के लिए किया।

१. न टूटने वाला काँच

अखिल संघ काँच अनुसंधान संस्थान की सारातौव शाखा में काँच की शक्ति वढ़ाने का एक वड़ा प्रभावशाली ढंग निकाला गया है। जब एक किलोग्राम वजन का धातुमण्डल काँच के टुकड़े के ऊपर फेंका जाता है, तब वह टूटता नहीं, बिल्कुल ज्यों का त्यों बना रहता है। संस्थान के एक अनुसन्धानकर्ता ए० वावानोव ने काँच पर कील रखकर हथौड़ी से ठोंकी। कील काँच में धँस गयी, परन्तु उसके आसपास कुछ नहीं टूटा।

इस नये पदार्थ का उपयोग नदियों और सागरों में चलने वाले जहाज बनाने, यंत्र बनाने, मोटरगाड़ियाँ बनाने तथा इस उद्योग की अन्य शाखाओं में किया जायगा।

२. काँच ऐजबेस्टस का स्थान ले सकता है

काँच के रेशों का वना तीन सेंटीमीटर मोटा तख्ता एक मीटर मोटी कंक्रीट की दीवाल का स्थान ले सकता है। सोवियत संघ ने यह अनोखा निर्माण सम्बन्धी पदार्थ वनाना आरम्भ कर दिया है जिस पर आग का प्रभाव नहीं पड़ता। यह ऐजवेस्टस की अपेक्षा २० गुना अधिक मजबूत होता है।

इस रेशे का विकास सोवियत संघ के काँच रेशा अनुसन्धान संस्थान में किया गया था। जहाजनिर्माण, विमानों तथा मोटर उद्योगों और रेलवे यातायात में इस नये निर्माण सम्बन्धी पदार्थ को स्थान मिलेगा।

३. भूगर्भ-स्थित गन्दी नालियों की सफाई में कीटाणु का प्रयोग

वश्कीरिया के तेलशोधक कारखानों की गन्दी नालियों की सफाई मुख्यतः यांत्रिक पद्धतियों द्वारा होती थी जो निश्चित रूप से कारगर नहीं थीं। इसलिए एक नई जीव-वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग अनिवार्य हो गया।

ऐसा देखा गया है कि अनेक सूक्ष्म जैवावयव खाद्य के रूप में निशास्ते का उपयोग कर सकते हैं। उनमें कुछ तो फीनोल जैसे तत्वों को भी "खा" सकते हैं।

चेर्नीकोव्स्की तेलशोधक कारखाने में भूगर्भ-स्थित गन्दी नालियों की जीव वैज्ञानिक 'सफाई' के लिए एक नयी यांत्रिक-सज्जा चालू की गयी है। कुछ खास किस्म के कीटाणुओं के लिए नालियों के पानी मिले "खाद्य पदार्थ" अत्यन्त रुचिकर सिद्ध हुए।

४. कपास के पौधों में लगने वाले कीड़े मारने का प्रभावशाली रसायन

मास्को के वैज्ञानिकों ने कपास के पौधों के कीड़ों को मारने के लिए एक प्रभावशाली रसायन खोज निकाला है। यह नया रसायन ३० दिनों में या इससे कुछ अधिक समय के भीतर कीड़ों को मार डालता है। परीक्षणों से पता चला है कि कभी-कभी तो कीड़ों को नष्ट करने के लिए गर्मियों में सिर्फ एक वार इसका छिड़काव काफी होता है। पशुओं के लिए यह रसायन सर्वथा हानिरहित है।

५. कृत्रिम रत्न

अमेरिका में प्रकाशित एक रिपोर्ट 'इण्डस्ट्रियल एण्ड इंजिनियरिंग कैमिस्ट्री', में बताया गया है कि कृत्रिम ढंग पर तैयार किये गये नीलम और माणिक के पत्थर प्राकृतिक नीलम और माणिक के पत्थरों से अधिक शुद्ध, स्वच्छ, बड़े तथा अपनी भौतिक एवं विद्युदाणविक विशेषताओं की दृष्टि से अधिक उपयोगी सिद्ध होते हैं।

साथ ही, कृत्रिम नीलम और माणिक मणियाँ आभूषण के रूप में अधिक मूल्यवान मानी जाती हैं, क्योंकि उनकी चमक प्राकृतिक रत्नों और मणियों से अधिक स्पष्ट होती है।

इस समय कृत्रिम नीलम का सबसे अधिक प्रयोग चश्मों के उद्योग में होता है। कृत्रिम माणिक की सहायता से वैज्ञानिक 'मेसर' के नवीन संसार में पहुँचने में सफल हुए हैं। मूलतः, 'मेसर' ऊर्जा-लहरियों को विस्तारित करने में बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ है। ये लहरियाँ रेडियो या प्रकाश लहरियाँ हो सकती हैं। मेसर का उपयोग रेडियो-विज्ञान के अन्तर्गत दूरवर्ती नक्षत्रावलियों से सम्पर्क स्थापित करने में भी किया जाता है।

कृत्रिम रत्न बनाने की विधि का प्रारम्भ १९०४ से हुआ, जब आगस्ट विक्टर लुई नामक एक फ्रांसीसी रसायनशास्त्री ने ऐल्यूमिनियम आक्साइड और क्रोमियम आक्साइड के प्रकाश पुंजों को सम्मिलित करके कृत्रिम माणिक का निर्माण किया। आजकल यूनियन कारबाइड की लिण्डे कम्पनी एक जटिलतर विधि का प्रयोग करके विद्युदाणविक उपकरणों, चश्मों और आभूषणों के लिए नीलम के बड़े-बड़े मनके तैयार करती है।

६. दक्षिणी ध्रुव में स्वचालित मौसम-केन्द्र

आजकल दक्षिणी ध्रुव क्षेत्र में एक ऐसा स्वचालित नया मौसम-केन्द्र कार्य कर रहा है, जिसका अणुशक्ति से संचालन होता है। यह केन्द्र दक्षिणी ध्रुव के निकट मौसम सम्बन्धी स्थितियों के विषय में समाचार देता रहता है।

उक्त स्वचालित केन्द्र ने तापमान, वायु के दबाव तथा वायु की दशाओं के सम्बन्ध में नियमित रूप से समाचार देने प्रारम्भ कर दिये हैं। यह मौसम केन्द्र, जो धातु के बने एक सिलण्डर के रूप में है, बर्फ के नीचे दबा हुआ है। केवल इसका एण्टिना बर्फ के ऊपर दिखाई देती है। यह केन्द्र मैक्मर्डो साउण्ड के दक्षिण में 'रोज आइस शेल्फ' पर स्थित है।

यह केन्द्र मौसम विभाग कर्मचारियों को उन तूफानों के सम्बन्ध में ठीक-ठीक समाचार दे सकता है, जो दक्षिणी ध्रुव को निरन्तर घेरे रहते हैं।

केन्द्र के मध्य भाग में एक आणविक जेनरेटर है जिसमें रेडियो-सक्रियता की रक्षा के लिए एक कड़े खोल में स्ट्रांशियम-९० रखा हुआ है। रेडियो-सक्रिय सामग्री से जो ऊर्जा निकलती है वह केन्द्र के ऋतु सम्बन्धी उपकरणों तथा रेडियो के संचालन के लिए सीधे बिजली में परिणत होती रहती है।

अमेरिका द्वारा स्थापित किया जाने वाला यह दूसरा आणविक मौसम-केन्द्र है। ऐसा ही एक अन्य यन्त्र, जो संसार का इस प्रकार का पहला केन्द्र है, उत्तरी ध्रुव में मौसम सम्बन्धी समाचार दे रहा है। वह उत्तरी ध्रुव से ७५० मील दूर कनाडियन दक्षिणी क्षेत्र में स्थित है।

७. अमेरिकी मिट्टी एवं जल संरक्षण अनुसन्धान

नियन्त्रित आणविक विकिरण के नये प्रयोगों से कृषि के और अधिक लाभान्वित होने की सम्भावना बढ़ गयी है। अमेरिकी कृषि विभाग के वैज्ञानिक मिट्टी एवं जल साधनों के संरक्षण विषयक अनुसन्धान की सत्यता को बढ़ाने तथा उसके क्षेत्र को विस्तृत करने के लिए विकिरण के प्रयोग सम्बन्धी दो नवीन अनुसन्धान विधियों का प्रयोग कर रहे हैं। एक विधि का सम्बन्ध जलाशयों की तलहटियों की मिट्टी

के घनत्व को नापने से है, जबकि दूसरी विधि का सम्बन्ध मिट्टी की आर्द्रता का माप करने से है।

नवीन विधियों के अन्तर्गत, 'विकिरण-शोधक' नामक दो व्यापारिक स्तर पर उपलब्ध उपकरणों का उपयोग सम्मिलित है। परम्परागत परीक्षण-विधियों की तुलना में इन विधियों के दो प्रमुख लाभ हैं। प्रथम लाभ यह है कि विकिरण-शोधक यन्त्र मिट्टी को उसके मूल स्थान पर ही अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में नापते हैं। पुरानी परीक्षण विधि के अन्तर्गत, मिट्टी के छोटे ढोकों को एकत्र करके बाद में प्रयोग-शाला के भीतर जाँचा जाता है। इसमें न केवल समय बहुत लगता है बल्कि परिश्रम भी अधिक करना पड़ता है। दूसरा लाभ यह है कि विकिरण शोधक उपकरण द्वारा किया गया माप लगभग ९९ प्रतिशत सही और शुद्ध होता है, जबकि प्रयोगशाला के भीतर प्रयुक्त पुरानी विधि के परिणाम कम सही होते हैं।

अमेरिकी कृषि विभाग के वैज्ञानिकों ने अपने अनुसन्धानकार्य के अन्तर्गत, एक 'गामा' किरण उपकरण का उपयोग करके किसी जलाशय या झील की तलहटी की मिट्टी के घनत्व की नाप की। इस माप से न केवल इस बात की जानकारी प्राप्त हुई कि कितना उपलब्ध बल सुरक्षित है, बल्कि उसने मिट्टी के ढोंके के कुल भार की गणना करने के लिए आँकड़े भी प्रस्तुत किये। इससे प्राप्त जानकारी इस बात की सूचक होती है कि जलाशय से जल स्रोत तक के मार्ग में कितना क्षरण हुआ है। इस विधि के अन्तर्गत मिट्टी के नमूनों की समय-समय पर जाँच की जा सकती है और मिट्टी के एकत्र होने की दर और उसके स्थान का निर्धारण किया जा सकता है।

इस प्रकार के माप के लिए जिस शोधक उपकरण का प्रयोग किया जाता है, उसमें एक धात्विक बेलन सम्मिलित है जिसके अन्तर्गत, थोड़ी मात्रा में रेडियम २२६ तथा एक गामा-किरण शोधक यन्त्र सम्मिलित है। उपकरण को एक लम्बी धात्विक नलिका में प्रविष्ट कर दिया जाता है और नलिका को परीक्षण के लिए मिट्टी के नमूने में प्रविष्ट कर दिया जाता है। यदि शोधक उपकरण के चारों ओर मिट्टी के कण घने हों तो वे अधिकांश विकिरण को आत्मसात कर लेंगे। इस प्रकार उस पर अंकित न्यून अंक मिट्टी के अधिक घनत्व के तथा ऊंचे अंक कम घनत्व के सूचक होंगे।

मिट्टी की आर्द्रता को नापने के लिए वैज्ञानिक एक न्यूट्रॉन शोधक उपकरण का प्रयोग करते हैं। विकिरण के स्रोत के रूप में, इसके अन्तर्गत 'रेडियम-बेलिरियम' का प्रयोग किया जाता है। इसे एक विशेष नलिका के भीतर रख दिया जाता है और इस रूप में उसे जमीन के नीचे प्रविष्ट कर दिया जाता है। फिर नलिका को वहीं पर छोड़ दिया जाता है, जहाँ पर अनुसन्धानकर्ता अनेक बार उस पर अंकित आँकड़ों को एकत्र कर सकता है।

मिट्टी के नमूनों को लेकर जाँचने की परम्परागत प्रविधि के अन्तर्गत, मिट्टी के नमूनों को प्रयोगशाला में लाने के लिए एकत्र किया जाता है। अतः इस विधि के अन्तर्गत अनुसन्धानकर्ता एक ही मिट्टी को दो बार एकत्र नहीं कर सकता। साथ ही किसी विशेष क्षेत्र से कुछ इनेगिने नमूने ही एकत्र किये जा सकते हैं। पुरानी विधि में एक दोष यह भी है कि उसका परिणाम दोषपूर्ण हो सकता है।

दोनों ही, गामा किरण तथा न्यूट्रॉन उपकरण, अमेरिका में मिट्टी और पानी के परीक्षण के लिए व्यापक रूप में प्रयुक्त हो रहे हैं। उनके परिणाम बहुत ही सन्तोषजनक सिद्ध हुए हैं। इनमें मुख्य दोष केवल यह है कि ये उपकरण जटिल किस्म के हैं और इनका उपयोग केवल प्रशिक्षित और कुशल टेक्नीशियन ही कर सकते हैं।

८. भू-उपग्रह द्वारा विकिरण पट्टियों का नवीन दृश्य

अमेरिका के भू-उपग्रह एक्सप्लोरर-१२ ने पृथ्वी पर जो सूचनाएँ भेजी हैं, उनसे सम्भवतः एक क्षेत्र के रूप में दोनों वान स्लेन विकिरण पट्टियों की नवीन व्याख्या हो सकेगी।

इस भू-उपग्रह ने इस बात के परोक्ष प्रमाण भी प्रस्तुत किये हैं कि सूर्य की सतह से एक 'सौर आँधी' निरन्तर प्रवाहित हो रही है।

अमेरिका के राष्ट्रीय उड्डयन एवं अन्तरिक्ष प्रशासन ने इन नवीन खोजों पर प्रकाश डालते हुए हाल में बताया है कि इस ८३ पौण्ड वज़नी भू-उपग्रह ने पृथ्वी पर जितने आँकड़े भेजे हैं, उतने आँकड़े इस के पूर्व अन्तरिक्ष में भेजे गये सब भू-उपग्रहों ने भी नहीं भेजे हैं।

इस भू-उपग्रह द्वारा भेजे गये चित्र से पता चलता है कि दोनों विकिरण पट्टियाँ एक ही क्षेत्र का निर्माण करती हैं, जो सूर्य द्वारा बाहर की ओर फेंके गये विभिन्न क्षमता और घनत्व वाले कणों को अपने अंचल में समेट लेता है।

इस के पहले जो चित्र मिले थे, उनसे यह आभास मिला था कि इन दोनों विकिरण पट्टियों का अस्तित्व पृथक-पृथक है, तथा नीचे की पट्टी में इलेक्ट्रोन का तथा ऊपर की पट्टी में प्रोटोनों का बाहुल्य है।

नवीनतम जानकारी के अनुसार, इन दोनों ही पट्टियों में न्यूट्रॉन और प्रोट्रोन प्रायः समान मात्रा में विद्यमान हैं।

इन सूचनाओं को प्रेषित करने वाला भू-उपग्रह एक्सप्लोरर-१२, एक अष्ठकोणीय यन्त्र है जिसमें ४ सौर पैडिलह्वील भुजाएँ हैं। इसे केप केनेवेरल, फ्लोरिडा, से १५ अगस्त १९६१ को अन्तरिक्ष में प्रक्षिप्त किया गया था। इसमें विकिरण पट्टियों तथा उसके आगे के अन्तरिक्ष की शोध करने वाले १० यन्त्र लगे हुए हैं।

राष्ट्रीय उड्डयन एवं अन्तरिक्ष प्रशासन के गोडार्ड अन्तरिक्ष केन्द्र के डा० फ्रैंक मैक्डोनाल्ड ने बताया कि ये निष्कर्ष अभी 'प्रारम्भिक' हैं और एक्सप्लोरर-१२ द्वारा भेजे गये केवल १० प्रतिशत आँकड़ो पर ही आधारित हैं।

सम्पादकीय

१. पिम्परी का स्ट्रेप्टोमाइसीन कारखाना

पूना के पास पिम्परी नामक स्थान पर २९ मार्च को २१५ करोड़ की लागत से बनाये गये जीवाणु-नाशक औषधि, स्ट्रेप्टोमाइसीन, के कारखाने का उद्घाटन प्रधानमन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने किया। यह कारखाना अमेरिका की मर्क एण्ड कम्पनी की सहायता से बनाया गया है। हिन्दुस्तान एण्टीबायोटिक लिमिटेड (एच०ए०एस०) ने नवीन जीवाणुनाशक औषधि स्ट्रेप्टोमाइसीन के निर्माण की इस योजना के द्वारा औषधियों में एक नये युग का सूत्रपात किया है। इसके पूर्व से ही पेनिसिलिन निर्माण का कारखाना चालू है। इस कम्पनी ने देश में नवीन जीवाणुनाशक औषधियों के निर्माण को प्रगति प्रदान की है। इसके द्वारा विटामिन-सी तथा एक कवक विनाशक हैमाइसिन भी निर्मित होंगे।

इस उद्घाटन समारोह में भाग लेने के लिये अमरीका के सुप्रसिद्ध जीवाणुशास्त्री **डा० सेल्स ए० वैक्समैन** भारत आये। इन्होंने ही स्ट्रेप्टोमाइसीन का अविष्कार किया था जिसके उपलक्ष में सन् १९५२ में इन्हें नोबेल पुरस्कार भी प्रदान हो चुका है। इन्होंने अपने संक्षिप्त भाषण में जीवाणु-नाशक औषधियों के द्वारा मृत्युसंख्या में परिलक्षित ह्रास का उल्लेख करते हुये बताया कि २० वर्ष पूर्व विभिन्न देशों में प्रति वर्ष प्रति लाख पीछे ३०० व्यक्तियों की मृत्यु तपेदिक (टी० बी०) से होती थी। परन्तु आज यह संख्या किन्हीं किन्हीं देशों में घट कर प्रति लाख पीछे ५ हो गई है। अतः यह कहा जा सकता है कि शीघ्र ही वह समय आने वाला है जब तपेदिक से एक भी व्यक्ति की मृत्यु नहीं हो पावेगी। उन्होंने अमरीकी कम्पनी, जिसे नर्कशार्प तथा डोमे के भी नाम से पुकारा जाता है, द्वारा दिये जाने वाली सहायता की प्रशंसा करते हुये बताया कि इसी कम्पनी ने ही उन्हें स्ट्रेप्टोमाइसीन के पता लगाने में सहायता की थी।

प्रशंसनीय बात यह है कि पिम्परी का यह स्ट्रेप्टोमासीन कारखाना भारतीय वैज्ञानिकों के ही परिश्रम का परिणाम है। आशा है कि अब भारत से तपेदिक रोग का उन्मूलन शीघ्रता से हो जायगा। इसी मास रूसी सहयोग से ऋषीकेष में एक जीवाणु-नाशक औषधियों का कारखाना १ करोड़ रुपया की लागत से निर्मित होना प्रारम्भ हो गया है। इस के द्वारा प्रति वर्ष ३०० टन जीवाणुनाशक औषधियाँ निर्मित होंगी।

२. डा० बी०सी० गुहा की मृत्यु

कलकत्ता विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध जैवरसायन वेत्ता डाक्टर बीरेशचन्द्र गुहा की मृत्यु लखनऊ में २० मार्च की रात्रि में हृदय गति के रुक जाने के कारण हो गई। डा० गुहा की इस मृत्यु से वैज्ञानिक जगत को एक गहरा धक्का लगा है। वे देश की राष्ट्रीय वैज्ञानिक एंव औद्योगिक परिषद के रसायन प्रभाग के अध्यक्ष थे। सन् १९६४ में होने वाले साइंस-कांग्रेस के अध्यक्ष के रूप में भी उनका नाम प्रस्तावित हुआ था। डा० गुहा अपने क्षेत्र में अत्यन्त ख्यातिप्राप्त रसायन थे। वे ५८ वर्ष के थे।

'विज्ञान' के सम्बन्ध में वक्तव्य

प्रेस एण्ड रजिस्ट्रेशन आफ बुक्स एक्ट, १८६७ (१९५६ में संशोधित) की धारा १९ डी० के अनुसार।

"विज्ञान" मासिक के स्वामित्व तथा अन्य तथ्यों के सम्बन्ध में निम्नलिखित विवरण प्रकाशित किया जा रहा है—

रूप चार

(देखिये नियम ८)

१. प्रकाशन की स्थान	विज्ञान परिषद्, विज्ञान परिषद् भवन, थार्नहिल रोड, इलाहाबाद—२
२. प्रकाशन का अवधि	मासिक
३. मुद्रक का नाम	अरुण कुमार राय
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	टेकनिकल प्रेस प्रा० लि०, लाजपत रोड, इलाहाबाद
४. प्रकाशक का नाम	डा० रमेशचन्द्र कपूर
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	प्रधान मंत्री, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद
५. सम्पादक का नाम	डा० शिव गोपाल मिश्र
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद
६. पत्रिका का स्वामित्व इत्यादि	विज्ञान परिषद् विज्ञान परिषद् भवन, थार्नहिल रोड, इलाहाबाद (विज्ञान परिषद् संस्था द्वारा प्रकाशित मासिक पत्र "विज्ञान")

मैं, रमेशचन्द्र कपूर यह घोषणा करता हूँ कि उपर्युक्त विवरण मेरे ज्ञान और विश्वास के आधार पर पूर्णतः सत्य है।

दिनांक २०–४–६२

रमेशचन्द्र कपूर

प्रकाशक के हस्ताक्षर

९५
ा १
ख
१९ वि०
'६२

०न०पै०
रुपये

सम्पादक—डा० शिवगोपाल मिश्र

विज्ञान

विज्ञान परिषद् प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञान ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञान जानेताति जीवन्ति विज्ञान प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तै० उ० ।३।५।

भाग ९५ | बैशाख २०१९ विक्र०, १८८४ शक
अप्रैल १९६२ ई० | संख्या १

कुछ सपने

डा० मदनलाल महता

स्कूल में दुनिया का नकशा देखकर किस महत्वाकांक्षी बालक के मन में उसे अपनी इच्छानुसार बदल डालने की न आई होगी। जलडमरूमध्यों को पुलों द्वारा जोड़ देने या पाट देने, थलडमरूमध्यों को काटकर जहाजों का मार्ग खोल देने, नदियों को इधर-उधर मोड़ कर रेगिस्तानों में पहुँचा देने, समुद्र के अमुक हिस्सों को सुखाकर कृषि लायक बना लेने, गहरी समुद्री सतहों के नीचे दबे पेट्रोल, लोहा, कोयला आदि खनिजों को प्राप्त करने के लिए कृत्रिम तैरते द्वीप बना डालने, बर्फीले पर्वतों के नीचे से सुरंग द्वारा रेल या मोटर में निकल जाने, जमीन के गर्भ में क्या है, यह देखने के लिये १५-२० किलोमीटर गहरा कुआँ खोद डालने आदि कल्पनाओं ने केवल किशोरों के मन को ही लोरी दी हो सो बात नहीं। कई वैज्ञानिकों और यांत्रिकों ने भी इस तरह के सपने देखे व देखते हैं, जिनमें से छोटे पैमाने के अधिकांश जैसे नदियों पर बने बाँध, आल्पस के नीचे दौड़ने वाली विद्युत-गाड़ियाँ, स्वेज, पनामा, हॉलैंड के पोल्डर आदि पूरे होकर हमारे जीवन में (या दुर्भाग्य से अधिकांश भारतीय छात्रों के केवल अध्ययन में) इतने घुल-मिल गये कि हम उन्हें सनातन समझने लगे हैं। कुछ पर काम शुरू हुआ या होने वाला है और कई अन्य अभी सपनों की ही श्रेणी में हैं यद्यपि उन्हें यथार्थ का रूप निस्संदेह दिया जा सकता है।

श्वेत-पर्वत (मों ब्लां, आल्पस की सबसे ऊँची चोटी) फ्रांस व इटली के बीच का सीधा मार्ग अब तक रोके खड़ा है, पर पिछले दो वर्षों से मानव उसके नीचे सुरंग खोदने में लगा है और अगली जुलाई या अगस्त तक धुँआ फेंकती कारें व ट्रकें उससे होकर निकलना आरंभ कर देंगी। इंगलिश चैनल पार करने हेतु अब तक रेल व मोटर को जलयान की शरण लेनी पड़ती थी, पर उसके नीचे से भी सुरंग निकालने की बात चल रही है। कुछ दिन हुए जर्मन इंजीनियरों ने मिश्र को 'कतारा' के गड्ढे के विद्युत उत्पादन में उपयोग की योजना पेश की है। इसी तरह इज़रायल में 'मरा-सागर-योजना' का अध्ययन चालू है।

जिन योजनाओं की बात हम यहाँ करने वाले हैं वे सभी भूमध्य-सागर के निकटवर्ती देशों से संबंधित हैं। बात यह है कि इस भूभाग में उपलब्ध विशेष परिस्थितियों का विस्तृत अध्ययन किया गया है। दूसरे भूभागों और विशेष कर दक्षिण-पूर्वी एशिया और दक्षिणी अमेरिका में भी कई विशेष परिस्थितियाँ उपस्थित हैं, जिनका अध्ययन कर सपने देखे जा सकते हैं।

तो आइये, भूमध्य सागर से ही शुरू करें। इस सब ओर से घिरी जलराशि का अन्य समुद्री जलों से मिलन केवल तीन स्थानों पर होता है—जिब्राल्टर (चौड़ाई १४ किलोमीटर), बास्फर (चौड़ाई ६३० मीटर) और पिछले कुछ वर्षों से स्वेज।

इस जल-समूह का आय-व्यय का लेखा क्या है? इसकी २५ लाख वर्ग किलोमीटर सतह काफी तेज धूप में सूखती है और यह हिसाब लगाया गया है कि यदि उड़े हुए जल की पूर्ति अंध-महासागर व नदियों आदि से न हो तो इसका तल एक वर्ष में १·६५ मीटर नीचे बैठ जायगा। प्रति वर्ष उड़ने वाले पानी का घनफल ४१४४ घन किलोमीटर कूता गया है।

आय का लेखा इस प्रकार है—नदियों में से कोई भी बहुत बड़ी नहीं है। उत्तर से रोन, पो और एब्रे प्रमुख हैं व दक्षिण से आने वाली केवल नील है जिसका पानी मिश्र की वृहत सिंचाई योजनाओं के मारे वर्ष के अधिकांश महीने तो समुद्र तक पहुँच भी नहीं पाता। नदियों की कुल आय २३० घन किलोमीटर है। आकाश से टपकी वर्षा की आय १००० घन किलोमीटर और बाकी के २९१४ घन किलोमीटर घाटे में से २७६२ घन किलोमीटर अंध महासागर पूरा करता है। यदि जिब्राल्टर को बांध दिया जाय तो भूमध्य-सागर का तल एक वर्ष में ०·८० मीटर नीचे बैठेगा। वास्तव में जिब्राल्टर के जलडमरूमध्य से प्रति सेकंड ९०,००० घन मीटर पानी भूमध्य सागर में बहता है।

दूसरे महायुद्ध के कुछ पहले से ये अंक ज्ञात थे और तभी से कुछ लोगों ने सपने देखना शुरू किया। इनमें से जर्मन इंजीनियर हर्मान स्योरगल की योजना सबसे भव्य थी। "जिब्राल्टर को बांध दिया जाय और पोर्ट सईद व डार्डेनल्स पर फाटक लगा दिये जायँ...." इस तरह वह भूमध्य सागर का तल १०० मीटर नीचा कर देना चाहता था। तब उसमें कई द्वीप-समूह आपस में मिलकर एक हो जाते। सिसली इटली से जुड़ जाती और ट्यूनीसिया की भूमि से कुछ ही किलोमीटर दूर रह जाती।

स्योरगल योजना का दूसरा कदम इन्हें बांध द्वारा मिला देने का था ताकि भूमध्य सागर दो वृहत् खारी झीलों में बंट जाता; पूर्वी झील का तल पश्चिमी झील के तल से अधिक नीचा होता। इस प्रकार उबरी हजारों वर्ग किलोमीटर धरती खेती व पशु पालन के काम आती और जिब्राल्टर व सिसली के शक्तिघर अटूट मात्रा में बिजली उपलब्ध कर देते।

पर जल-जहाजों को भी तो रास्ता चाहिये न? पर वह काम आजकल लौह फाटकों द्वारा आसान है। बड़े से बड़े जलयान को १०० मीटर ऊँचे उठाना या नीचे उतारना कुछ कठिन नहीं। फिर मार्सेल्ज, नेपल्स, बेरूत, सिकंदरिया जैसे बंदरगाहों का क्या होगा? क्या उन्हें नीचे जाकर फिर से बनाना पड़ेगा और वेनिस की सुंदरता? कुछ लोगों ने इसीलिये भूमध्य सागर का तल केवल १० या १५ ही मीटर नीचे करने के सपने देखे। पर ये बातें छोटी-छोटी और विस्तार की हैं।

लेकिन यदि बंदरगाहों से भरेपुरे भूमध्य सागर के लिये कुछ हिचक हो तो उसके पड़ोसी लाल सागर पर निगाह दौड़ाइये। यह भूमध्य सागर से अधिक गरम है; कोई नदी इसमें नहीं गिरती; चारों ओर रेगिस्तान होने से पानी बड़ी तेजी से उड़ता है और बाहरी जल समूहों से केवल स्वेज और बाबुल-मंदब द्वारा मिला है। बाबुल-मंदब एक छोटे द्वीप द्वारा दो हिस्सों में बँटा है, चौड़ाई द्वीप के पूरब में ३

किलोमीटर व पश्चिम में २६ किलोमीटर; गहराई कहीं-कहीं तो केवल ५ से १० मीटर और अधिकतम १०० मीटर तक।

इतनी आदर्श परिस्थितियों में सपने न देखना वास्तव में कृतघ्नता होगी। यदि बाबुल-मंदब को बांध दिया जाय और स्वेज पर भी फाटक लगा दिये जाएँ तो यह हिसाब लगाया गया है कि लाल सागर का तल प्रतिवर्ष ७ मीटर नीचे बैठेगा। इस प्रकार बांध बंद कर देने के चार या पाँच वर्ष बाद ही ३० मीटर की ऊँचाई से पानी गिराकर विद्युत -उत्पादन शुरू किया जा सकता है, जिसकी मात्रा २४ करोड़ यूनिट (किलोवाट घंटा) प्रतिदिन कूती गई है।

स्वेज के पूरब व पश्चिम में थोड़ी थोड़ी दूर दो योजनाएँ केवल पूर्ति की राह देख रही हैं। पहली है, इजरायल में स्थित मरा सागर की समुद्रतल से लगभग ४०० मीटर नीची भट्टी। उद्देश्य है भूमध्य सागर के पानी को मरा सागर में गिराकर बिजली प्राप्त करना। सूखा व गरम होने से मरा-सागर के तल में विशेष अंतर नहीं पड़ेगा।

भूमध्यसागर से पानी थोड़ी दूर नहर व फिर पंप द्वारा हैफा की कृत्रिम झील में पहुँचाया जायगा जो समुद्र तल से ८० मीटर ऊँची है। वहाँ से यह बंबे द्वारा जोर्डन की घाटी में ३०० मीटर नीचे के बिजली-घर में उंड़ेला जायगा। तब मरा सागर के किनारे तक यह नहर में बहेगा जहाँ एक बार फिर १४६ मीटर नीचे स्थित दूसरे बिजली घर के डाइनुमो को घुमाता हुआ मरा सागर में मिल जायगा। जोर्डन नदी के पानी को बांध द्वारा रोक कर पूरा का पूरा सिंचाई के काम में ले लेने के सपने भी कुछ लोगों ने देखे हैं, जिनमें अमेरिकन डॉ० लॉडरमिल्क का नाम उल्लेखनीय है। पर इस योजना की पूर्ति में सबसे बड़ी बाधा इजरायल और पड़ोसी अरब देशों की सनातन शत्रुता है। जोर्डन नदी पूरी न तो इजरायल में बहती है और न जोर्डन में।

स्वेज के दूसरी ओर की योजना मिश्र में 'कतारा' के गड्ढे से संबंधित है। यह गड्ढा समुद्र से ६० किलोमीटर दूर लगभग सवा सौ मीटर गहरा और १०,००० वर्ग किलोमीटर में फैला हुआ है। केवल महायुद्ध के समय इसका मूल्य कई हजार सिपाहियों के बराबर आंका गया था; वरना इसकी तप्त वीरान-गी का मुकाबला संसार के अन्य भूभागों में केवल 'मृत्यु-घाटी' (डेथ-वेली, केलिफोर्निया) ही कर सकती है। तो जर्मन इंजीनियरों द्वारा प्रस्तुत योजना के अनुसार नहर व एक छोटी सुरंग द्वारा भूमध्य सागर का पानी ६० किलोमीटर चलने के बाद इस गड्ढे के उत्तरी किनारों पर गिरकर डाइनुमों के चक्कों को घुमायेगा। कुछ वर्षों में यहाँ १०,००० वर्ग किलोमीटर की एक झील बन जायगी जिसका पानी सूखकर प्रति वर्ष कम से कम भी ३ मीटर तो नीचे बैठगा ही और समुद्र तल से झील का तल कम से काम भी ५० मीटर नीचे रखा जा सकेगा। इस प्रकार ४५ मीटर के प्रपात से प्रति वर्ष कम से कम ३ अरब यूनिट (कि० वाट-घंटा) बिजली तो मिलेगी ही। प्रारंभिक वर्षों में झील में मत्स्य-पालन उद्योग बड़े पैमाने पर किया जा सकेगा और ५०-६० वर्षों बाद जब पानी इतना खारा हो जायगा कि मछलियाँ न जी सकें तो नीचे तलहटी में जमा नमक खोद खोद कर निकाला जायगा। अब तक एकमात्र 'नील' पर टिके मिश्र की हालत शक्ति और उद्यम के इस दूसरे श्रोत के हाथ लगने पर कितनी बदल जायगी यह अनुमान लगाया जा सकता है।

पर इस लंबे-चौड़े सूखे सहारा का क्या करें? कभी यहाँ भूमध्य-सागरीय वनस्पति, फलदार वृक्ष आदि होने के चिह्न मिलते हैं। जमीन तो इतनी नहीं बदली। यदि कहीं से थोड़ा पानी मिल जाय तो....। विषुवत-रेखीय अफ्रीका में बाढें आती रहती हैं और पानी की प्रचुरता व दलदल से लोग

परेशान हैं तो सहारा बूंद को भी तरसे। प्रकृति के इस अन्याय को सुधारना संभव है।

यहाँ भी सबसे तगड़ा स्वप्न दर्शक हर्मान स्योरगल ही है। कांगो मध्य अफ्रीका का सारा पानी अंधमहासागर में निरुपयोग ही फेंक देती है; यह प्रवाह लगभग ४०,००० घन मीटर प्रति सेकंड है जिसका धक्का समुद्र में मुहाने से ८० किलोमीटर दूर तक महसूस किया जाता है। निकास-स्थान के पास यह बहुत सपाट है, कई उपशाखाएँ हैं जिनका पानी कोसों तक फैला रहता है; पर समुद्र में गिरने से पहले इसे किनारे की ऊँची चट्टानी जमीन को एक संकरे दर्रे द्वारा पार करना पड़ता है। लियोपोल्ड-वील के पास इसकी चौड़ाई इसलिये अपेक्षतया कम है। दूसरी ओर चाड के गड्ढे और कांगो की उत्तरी शाखाओं के बीच की जमीन केवल एक स्थान पर थोड़ी ऊँची हो गई है जिसे डाइनामाइट (या आजकल छोटे-छोटे परमाणु बमों) से खोद फेंकना कुछ कठिन नहीं।

स्योरगल का सपना इस प्रकार चलता है—लियोपोल्डवील से कुछ अंदर की तरफ कांगो को जहाँ वह दर्रे में प्रवेश करती है एक बांध बनाकर रोक दिया जाय। इससे वर्तमान कांगो प्रदेश के उत्तरी और उत्तरी-पूर्वी अधिकांश भाग एक विशाल जलाशय में परिवर्तित हो जायँगे। उत्तरी कांगो और चाड को एक चौड़ी नहर द्वारा मिला दिया जाय, इससे चाड के आसपास का गहरा गड्ढा मीठे पानी की झील में बदल जायगा। स्योरगल यहीं नहीं रुकना चाहता, वह तो कांगो के इस विशाल जल रूपी वरदान को सहारा के अधिकाधिक क्षेत्र तक पहुँचाना चाहता है। उसकी नहर नाइजीरिया की उत्तरी सीमाओं और वर्तमान फ्रेंच पश्चिमी सहारा में बहती हुई अल्जीरिया तक को सींचेगी। यदि पानी बचा तो वह ट्यूनीसिया के 'शोत' नामक निचले हिस्सों से बहता हुआ भूमध्य सागर में आ गिरेगा! वर्तमान कांगो और चाड के बीच वाले उठे हिस्से के अलावा इस नहर के निर्माण में केवल एक और जगह थोड़ा खोदना (या सुरंग बैठाना) पड़ेगा जो चाड और नाइजर नदी के पूर्वी उठे किनारों के बीच 'जिंडर' नामक नगर के आसपास पड़ता है। इस प्रकार स्योरगल की योजना सहारा के बीच से होकर बहने वाली दूसरी नील बना डालने से किसी भाँति कम नहीं है।

तिब्बत में ही ब्रह्मपुत्र को बाँधकर सुरंग द्वारा नैपाल के नीचे से होते हुए बिहार में ला गिराने; पंजाब की नदियों को मोड़कर थार में पहुँचा देने ताकि सिंध की एक बूंद भी अरब सागर में न पहुँचे; कच्छ के रन से अरावली पर्वत-माला के पश्चिम पश्चिम समानान्तर चलते हुए समुद्री पानी को नहर द्वारा सांभर या आगे तक पहुँचा कर नये बंदरगाह बनाने; नर्मदा और महानदी को गहरा कर और बिलासपुर के आसपास भीमकाय क्रेनों से संबंध जोड़ या ताप्ती और गोदावरी की सहायक वर्धा को गहरा कर नागपुर के आसपास क्रेनों से संबंध जोड़ कर नये जहाजी मार्ग खोलने, ज्वार-भाटे में दैनिक रूप में चार-पाँच मीटर ऊपर नीचे होती विशाल जल राशि को खंभात की खाड़ी जैसे स्थानों में बंद कर विद्युत-उत्पादन के काम लेने; हिमालय के नीचे से ल्हासा और कैलाश तक दौड़ने वाली विद्युत् गाड़ियों और सड़क-मार्गों आदि के सपने देने वालों और उन्हें पूरा करने की हिम्मत रखने वालों की भारत जैसे पिछड़े देशों को आज सबसे बड़ी आवश्यकता है। महत्वाकांक्षा और उसके पीछे लगन, परिश्रम और अध्ययन प्रगति के लिये अत्यंत आवश्यक हैं। आदमी का दिमाग और उसके दो हाथ आज क्या नहीं कर सकते!

चित्रः १—स्योरगल की योजना की झाँकी

चित्रः २—मरा सागर योजना (इज़रायल)

चित्र—३

चित्रः ४—सहारा को उपजाऊ बनाने के स्वप्न

पालतू लपटें

वाई० निकोलायेव
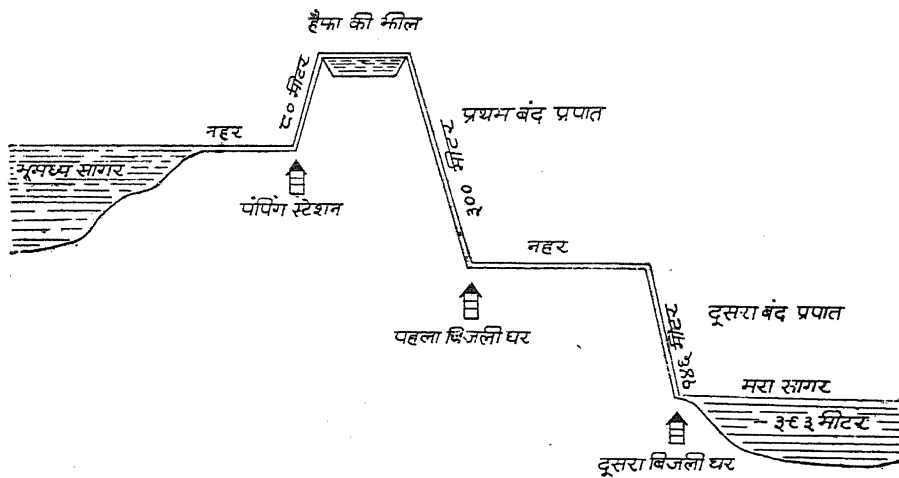
किसी अन्तरिक्ष यान को उसके परिक्रमा पथ में पहुँचने के लिये यह आवश्यक है कि उसकी रफ्तार कम से कम परिक्रमा-पथ की गतिशीलता के बराबर, अर्थात् कम से कम ८ किलोमीटर प्रति सेकण्ड हो। इतनी तीव्र गति से यात्रा करने वाले किसी यान में गत्यात्मक शक्ति का अपार भण्डार होता है। इस प्रकार, उदाहरणार्थ सोवियत अन्तरिक्ष यान वोस्तोक-२ की गत्यात्मक शक्ति लगभग १५ अरब किलोमीटर के बराबर थी। यदि इसे ताप-शक्ति में बदल दिया जाय तो यह एक पोत के वजन के ढले इस्पात के पिण्ड को गलाने, उसे भाप कर देने और दसियों हजार सेण्टीग्रेड तापमान तक गर्म कर देने के लिए काफी होगा। यह १,५०० से २,००० तक पीपे पानी उबालने के लिए काफी होगी। यदि इन पीपों को एक तार में खड़ा किया जाय, तो ये एक किलोमीटर से भी ज्यादा जगह में रखे जा सकेंगे।

तब फिर यह शक्ति कहाँ से प्राप्त की जाती है? और इसे स्पुतनिक तक कैसे पहुँचाया जाता है?

आज के अन्तरिक्ष विज्ञान के इस अभूतपूर्व विकास के युग में यह सर्वविदित है कि राकेट ही अन्तरिक्ष तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं। इन अन्तरिक्षगामी राकेटों के इंजनों की शक्ति करोड़ों अश्वों की शक्ति के बराबर होती है। तो ये सोवियत वैज्ञानिक इन करोड़ों 'अश्वों' को इन राकेटों में 'जोतने' में सफल कैसे हो पाये? विज्ञान के लाभ के लिए वे इन अश्वों से काम कैसे ले सकें?

राकेटों के इंजनों में जलने वाले ईंधन की शक्ति से गुरुत्वाकर्षण शक्ति पर विजय प्राप्त करके अन्तरिक्ष यान गति पकड़ता है। तरल परिचालक में प्रस्फोट कक्ष के आयतन के प्रत्येक लिटर से हर सेकेण्ड में ४,७०० विशाल कैलोरी उष्मा पैदा होती है। यह शक्ति पिस्टन वाले इंजनों से चलने वाले विमानों के सिलिण्डरों में उत्पन्न होने वाली शक्ति से १५० गुना और भाप से चलने वाले रेलवे इंजनों के 'फायर बॉक्स' में पैदा होने वाली शक्ति से ३०० गुना अधिक होती है। एक शक्तिशाली राकेट के इंजन के प्रस्फोट-कक्ष में हर सेकेण्ड में इतनी उष्मा पैदा होती है जितना ३०-४० पीपे पानी को उबालने या १० टन लोहे को तपाने या गलाने के लिए काफी होती है। इसलिए यदि राकेटों के इंजनों में गैसों का तापमान ३,००० डिग्री सेण्टीग्रेड तक पहुँच जाता है तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

तब फिर यह क्या बात है कि प्रस्फोट-कक्ष की दीवारें, जो कुछ विशेष मोटी भी नहीं होतीं, ऐसी हालत में भी पिघल नहीं जातीं?

इसका रहस्य यह है कि राकेट के इंजन में जितना भी ताप पैदा होता है प्रायः वह सभी गैसों के साथ बाहर चला जाता है। इसका कुछ अंश तो राकेट को आगे धकेलने के उपयोगी काम में आ जाता है और शेष अंश पार्श्व के अन्तरिक्ष में फैल जाता है। फिर भी प्रस्फोट कक्ष में पैदा होने वाली उष्मा का १ या २ प्रतिशत उसकी दीवारों में भी प्रवेश करता है। प्रथम दृष्टि में तो ऐसा लगेगा कि इतनी उष्मा कोई ज्यादा थोड़े ही होगी। परन्तु यदि प्रस्फोट कक्ष को ठंडा करने की व्यवस्था न की जाय तो इंजन चालू होने के कुछ सेकेण्डों के भीतर ही उसकी दीवारें पिघल जायँगी। यही कारण है कि सभी आधुनिक तरल

परिचालकों में ठंडा करने की विशेष व्यवस्था रहती है।

सोवियत वैज्ञानिकों और इंजीनियरों ने राकेटों के लिए बड़े विश्वसनीय इंजन बना लिये हैं। उन्होंने राकेटों के प्रस्फोट कक्षों में धधकन वाली लपटों को पालतू बना लिया है और उनसे कई-कई टन वजन वाले अन्तरिक्ष यानों को उठाकर ब्रह्माण्ड में भेजने का काम लेने लगे हैं।

राकेट ट्रेनें

परिचालक पदार्थ काम आ जाने के पश्चात् राकेट जो गति पकड़ता है वह इस बात पर निर्भर करती है कि जेट-इंजनों से निकलने वाली गैसों की बाहर निकलने की गति कितनी है और ईंधन कितना है। आधुनिक राकेटों में उनके कुल भार के ८० से ८५ प्रतिशत तक भार के बराबर ही ईंधन रखा जा सकता है। शेष ले जाये जाने वाले भार, उसके ढाँचे और नियंत्रक यंत्रों का भार होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि ईंधन के इस रूप में मिट्टी के तेल का और आक्सीकारकों के रूप में नाइट्रिक अम्ल का उपयोग करने वाला राकेट लगभग ४ किलोमीटर प्रति सेकेण्ड की गति प्राप्त कर सकता है। परन्तु परिक्रमा पथ का वेग तो आपको ज्ञात ही है। यह इससे दूना होता है तब फिर अन्तरिक्ष उड़ानों के लिए राकेट किस प्रकार काम आ सकते हैं?

अन्तरिक्ष विज्ञान के जनक, रूसी वैज्ञानिक **कांस्टेंटिन एडुअर्डोविच त्सिओल्कोव्स्की** ने इस समस्या का हल निकाला था: उनके विचार के अनुसार सभी आधुनिक राकेट कई अवस्थाओं का समेकित रूप होते हैं। उनकी सबसे पहली अवस्था ही सबसे बड़ी होती है और वही दूसरी अवस्था को ढोने का काम भी करती है।

पहली अवस्था का परिचालक पदार्थ काम आ जाने के बाद वह पूरे राकेट के शरीर से अलग होकर पृथ्वी पर गिर जाता है। इसके अलग होते ही, या कुछ ही समय बाद दूसरी अवस्था वाले राकेट का इंजन चालू हो जाता है। इससे राकेट को और भी अधिक वेग प्राप्त होता है। उसके बाद अगली अवस्था राकेट के शरीर से अलग हो जाती है। अन्तिम अवस्था को पिछली अनेक अवस्थाओं का वेग प्राप्त करने के बाद अपने तमाम ईंधन को काम में लाने के पश्चात् अन्तरिक्ष में उड़ान भरने योग्य गति प्राप्त कर सकने का अवसर मिल पाता है। जब यह अन्तिम अवस्था अपने निर्धारित परिक्रमा पथ पर पहुँच जाती है तब अन्तरिक्ष यान उससे अलग हो जाता है और स्वतंत्र रूप से अपनी यात्रा चालू रखता है।

पृथ्वी पर वापसी

अन्तरिक्ष यान को सुरक्षित पृथ्वी पर लौटा कर सोवियत वैज्ञानिकों ने अद्भुत सफलता पायी है। अन्तरिक्ष यान को वापस बुलाकर धरती पर उतारने में क्या कठिनाई है? अभी कुछ दिनों पहले तक पृथ्वी के कृत्रिम ग्रह-उपग्रह क्यों जल जाते और विध्वस्त हो जाते थे?

पृथ्वी पर वापस लौटने वाला स्पुतनिक लगभग ८ किलोमीटर प्रति सेकेण्ड की गति से वातावरण की अति घनी परतों में फिर से प्रवेश करता है। हवा को इतना समय नहीं मिलता कि वह इस अन्तरिक्ष यान के लिये मार्ग दे दे और इसीलिए आगे बढते हुए अन्तरिक्ष यान के समक्ष अत्यधिक दबाव वाली और इसीलिए बड़ी गर्म गैसों का गद्दा सा बन जाता है। गैसों के इस गद्दे का तापमान हजारों डिगरी सेण्टीग्रेड पहुँच जाता है।

इस प्रकार दबी हुई हवा से निकलने वाली ऊष्मा तो निकटवर्ती वायुमण्डल में फैल जाती है और कुछ अन्तरिक्ष यान में पहुँच जाती है। यदि अन्तरिक्ष यान के सामने की सतह को गर्मी से बचाने के लिए विशेष उपाय न किए जाएँ तो वह तप कर एकदम सफेद पड़ जाती है, पिघल जाती है और कभी-कभी तो जलना भी प्रारम्भ कर देती है। अन्तरिक्ष यान के मस्तक पर पड़ने वाला हवा का अत्यधिक दबाव जगह-जगह पिघले ढाँचे को विदीर्ण कर देता है और

पृथ्वी पर स्पुतनिक के केवल वही टुकड़े पहुँच पाते हैं जो जल्दी में जल नहीं गये होते।

इस प्रकार वायुमण्डल की अति घनी परतों में पुनः प्रवेश करने पर अन्तरिक्ष यान जिस प्रकार अत्यधिक तप जाता है वही उसकी पृथ्वी पर वापसी में मुख्य रूप से बाधक होता है। हवा की रगड़ के कारण अन्तरिक्ष यान की गति जिस प्रकार कम होती जाती है हमें उसका भी ध्यान रखना है। उसके साथ-साथ जो 'अति भार' पैदा होता है—जो देखने में वजन बढ़ जाने जैसा लगता है—वह इतना अधिक बढ़ सकता है कि अन्तरिक्ष यान चालक के लिए ही खतरा बन सकता है।

यदि वायुमण्डल की अति घनी परतों तक पहुँच सकने के पहले ही अन्तरिक्ष यान का वेग काफी कम कर दिया जाय तो उसके अत्यधिक तप जाने या छिन्न-भिन्न हो जाने का भय मिट जायगा। इसलिए अन्तरिक्ष यान को सुरक्षित रूप में पृथ्वी पर उतारने की समस्या में यह प्रश्न भी है कि जब वह अन्तरिक्ष यान क्षीण-वायु में ही हो उस समय उसके वेग को सहज ढंग से और क्रमशः किस प्रकार कम किया जाए।

तब फिर स्पुतनिक का वेग किस प्रकार घटाया जाए? यह काम एक राकेट इंजन की मदद से अन्तरिक्ष यान के आगे बढ़ने की दिशा से उल्टी दिशा में धकेलने की ताकत पैदा करके किया जाता है। इससे अन्तरिक्ष यान की गति मन्द हो जाती है और वह सुगम प्रवेश मार्ग से नीचे उतरने लगता है। अब वायुमण्डल की क्षीण परतों के अवरोधक प्रभाव का उपयोग अन्तरिक्ष यान की गति को और भी घटाने में किया जा सकता है। स्पुतनिक जैसे-जैसे वायुमण्डल की और भी घनी परतों में प्रवेश करता जाता है, वैसे ही वैसे हवा से उसकी रगड़ और उसके फलस्वरूप उसका अति भार बढ़ता जाता है। यदि उतरने के प्रवेश मार्ग का चुनाव गलत हुआ तो उस अन्तरिक्ष यान का वेग कम करने वाली शक्ति बहुत अधिक बढ़ सकती है। सोवियत अन्तरिक्ष यानों के सुरक्षित पृथ्वी पर आ उतरने से यह भली प्रकार सिद्ध हो गया है कि अन्तरिक्ष में से उनको पृथ्वी पर सुरक्षित रूप में उतार लेने की समस्या को सोवियत वैज्ञानिकों ने बड़ी ही सफलता के साथ हल कर लिया है।

ऐसा अन्तरिक्ष यान बनाना, जो स्वचालित यंत्रों से लैस हो और जिसमें 'इलेक्ट्रानिक मस्तिष्क' वाला उसे ले जाने वाला राकेट लगा हो, बड़ा ही जटिल कार्य है। परन्तु इस बात की व्यवस्था करना तो और भी कठिन है कि छोड़े जाते समय, परिक्रमा-पथ पर उड़ान के समय और पृथ्वी पर उतरने के समय सभी यंत्रादि निर्दोष ढंग से काम करते रहें।

विज्ञान और इंजीनियरी के विकास के साथ-साथ मशीनों, यंत्रों और अन्य उपकरणों की जटिलता बढ़ती जा रही है और इन्हें बनाने में अन्तःसम्बन्धित पुर्जों और यूनिटों का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। ऐसे उपकरणों में यदि एक हिस्सा भी बिगड़ जाये तो उसके कारण प्रायः पूरा उपकरण ही काम करना बन्द कर देता है। इसीलिए जटिल टेकनिकल यंत्रोपकरणों के संचालन में और अन्तरिक्ष सम्बन्धी प्रयोगों में तो विशेष रूप से उनके कार्य की विश्वसनीयता का सर्वाधिक महत्त्व होता है।

यदि हिसाब लगाने वाली बिजली की मशीन का कोई वैकुअम ट्यूब बिगड़ जाय तो उससे अधिक से अधिक किसी समस्या का हल रुक जायेगा। परन्तु यदि किसी अन्तरिक्ष यान को अन्तरिक्ष के परिक्रमा पथ पर पहुँचाने के कार्य का नियंत्रण करने वाली बिजली की मशीन में भी वैसा ही कोई दोष हो जाय तो उसके परिणाम बड़े ही गम्भीर हो जाएँगे और हो सकता है कि अन्तरिक्ष यान को अन्तरिक्ष में भेजने का पूरा कार्य ही असफल हो जाय।

स्पष्ट ही है कि अन्तरिक्ष यान सम्बन्धी यंत्रोपकरणों में जो पुर्जे व हिस्से काम में लाये जाएँ वे बड़े ही विश्वसनीय होने चाहिए। परीक्षण के लिए जो लाखों पुर्जे व हिस्से लिए जाएँ उनमें से घंटों के कार्य में एक या दो से अधिक खराब न निकलें। यह तो बिलकुल

ही नगण्य है लेकिन फिर भी इसका ध्यान रखा जाता है। अत्यधिक विश्वसनीय पुर्जे-हिस्से काम में लाने के अलावा प्रत्येक सम्पूर्ण अन्तरिक्ष यान और राकेट-यूनिट की विश्वसनीयता और भी बढ़ा देने के उपाय काम में लाये जाते हैं।

किसी भी टेकनिकल यंत्रोपकरण की विश्वसनीयता बढ़ाने का सबसे सरल उपाय यह है कि वैसे ही दोहरे यंत्रोपकरण लगाये जाएँ। रेडियो सम्पर्क के लिए एक स्थान पर कई-कई सम्पर्क-यंत्र लगाने पर अन्तरिक्ष यान से रेडियो सम्पर्क की विश्वसनीयता बढ़ जाती है इसलिए इस उपाय के ठीक होने के सम्बन्ध में कोई सन्देह मन में नहीं उठता।

रिहण्ड योजना

अनुवादक—जटाशंकर द्विवेदी

सन् १९१९ और सन् १९२३ ई० के बीच किये गये पर्यवेक्षणों से यह अनुभव हुआ कि दक्षिण पूर्व उत्तर प्रदेश में सोनघाटी से जलविद्युत उत्पन्न की जा सकती है किन्तु उस समय न तो इस योजना के लिये कोई उपयुक्त स्थान ही चुना जा सका और न यह योजना कार्यान्वित ही की जा सकी। बांध और बिजलीघर के निर्माण के लिए उपयुक्त स्थल की खोज श्री ए० पी० वातल ने की। इन्होंने सन् १९३७-३८ में रिहण्ड नदी का पर्यवेक्षण किया और रिहण्ड घाटी में रिहण्ड और सोन के संगम से २० मील दूर के एक स्थान पर एक संकीर्ण द्रोणि को खोज निकाला। इस द्रोणि की और समीप के जल धरातल की भूमि दृढ़ ग्रेनाइट की चट्टान से बनी है। द्रोणि के ऊपर नदी के बहाव की विपरीत दिशा में घाटी काफी चौड़ी है और कम ऊँचाई के बाँध द्वारा भी पर्याप्त जल एकत्र कर लेने की सुविधा है। साथ ही यह स्थान ऊँचा बांध बनाने के लिए भी आदर्श स्थल है।

इस खोज के पश्चात् ही द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ हो गया और योजना के लिये आवश्यक खोज और पर्यवेक्षण का कार्य बन्द कर देना पड़ा। सन् १९४४ में ये खोजें पुनः की गईं और सन् १९४८ ई० में एक ३०० फीट ऊँचे बांध की प्रारंभिक योजना बनाई गई। फिर भी बांध निर्माण का कार्य अर्थ-संकट के कारण स्थगित कर देना पड़ा। उस समय देश के हित के लिये थोड़े समय चलने वाली योजनाओं, जैसे "अधिक अन्न उपजाओ" को प्राथमिकता दी गई जिससे खाद्य संकट से मुक्ति मिल सके।

वास्तविक निर्माण कार्य सन् १९५४ में प्रारम्भ किया जा सका जब भारत सरकार और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के तकनीकी सहयोग मिशन के द्वारा आवश्यक धन प्राप्त करने की सुविधा हो गई।

इसी समय हमारे प्रिय प्रधान मन्त्री ने तैयार होने और आगे बढ़ने का संकेत दिया। १३ जुलाई, १९५४ को इस स्थल का निरीक्षण करते समय उन्होंने निम्न-लिखित संदेश दिया :—

"इस सुन्दर स्थान को जिसकी बड़ी चर्चा थी देखने का मेरा यह प्रथम अवसर है। यह बांध इस क्षेत्र, उत्तरप्रदेश के एक विशाल भू भाग, बिहार और विन्ध्य प्रदेश की प्रगति का सन्देश दे रही है। इस प्रकार से नवीन भारत और उसके निवासियों की सम्पन्नता की दिशा में एक स्वप्न साकार हो रहा है। इस क्षेत्र के लोग अत्यन्त गरीब हैं। उनके प्रति हम

अब तक उदासीन रहे हैं। उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति जैसी हम करना चाहते हैं हो सके और रिहण्ड के चारों ओर के क्षेत्र का विकास हो सके यही मेरी अभिलाषा है।"

"हमारे इंजीनियरों तथा अन्य लोगों को इस योजना को आगे बढ़ाने का कार्य दे दिया गया है। वे अपना कार्य शीघ्र और भली-भांति सम्पन्न कर सकें और आज के और भविष्य की पीढ़ियों के लिये एक स्मारक निर्माण कर सकें।"

राबर्ट्सगंज से बांध स्थल तक ५० मील लम्बी सड़क बनाई गई और सोन नदी पर चोपन नाम के स्थान पर एक पुल बनाया गया जिससे योजना स्थल पर कामगर, सामान और मशीनें पहुँच सकें। साथ ही देश भर से बांध निर्माण और अन्य सम्बन्धित कार्यों के लिय टेण्डर मांगे गये। अप्रैल, १९५५ में निर्माण कार्य का ठेका बम्बई के मेसर्स हिन्दुस्तान कान्सट्रक्शन कम्पनी लिमिटेड को दे दिया गया।

जिस समय नींव और जलावरोधी जल के नीचे रहने वाले भागों का निर्माण हो रहा था निर्माण संयन्त्र भी मंगवा कर लगा लिया गया। निर्माण कार्य की स्पष्ट दशा तब आई जब ५ अप्रैल, १९५७ ई० को बांध में कंकरीट की पहली बाल्टी डाली गई।

बांध तथा तत्सम्बन्धित निर्माण के लिये ६ करोड़ घनफुट कंकरीट की आवश्यकता थी। कंकरीट का यह आयतन मिश्र देश के सातों पिरामिडों के आयतन से भी अधिक है। इतने बड़े कार्य को उचित समय में पूर्ण करने के लिये मशीनों का उपयोग अत्यन्त आवश्यक था। इसके लिये रिहण्ड पर एक निर्माण संयन्त्र बनाया गया जिससे औसतन ८०,००० घनफुट कंकरीट प्रतिदिन डाली जा सकती है और अधिकतम कंकरीट की मात्रा, जो एक दिन में डाल सकना संभव है, १ लाख २० हजार घनफुट अनुमानित की गई है। वास्तविक कार्यकाल में एक दिन में डाली गई अधिकतम कंकरीट का आयतन १ लाख २६ हजार घनफुट रहा है।

कंकरीट के लिये आवश्यक सीमेण्ट को गवर्नमेण्ट सीमेण्ट फैक्टरी, चुर्क से प्राप्त किया गया। मकरा पहाड़ी से ग्रेनाइट खोदकर तोड़ा गया। यह मकरा पहाड़ी निर्माण स्थल से ३ मील पश्चिम की ओर है। कंकरीट को १ हजार टन धारिता के प्रशीतक संयन्त्र में ठंडा किया गया। इस प्रकार ठंडी की गई कंकरीट को मशीन द्वारा मिलाया गया और तारों पर दौड़ने वाली बाल्टियों की सहायता से बांध में डाला गया। इस कार्य के लिये दो दस-दस टन भार वाहन करने वाले और दो बीस-बीस टन भार वहन करने वाले तार मार्गों का प्रयोग किया गया। बीस-बीस टन भार वहन करने वाले इन मार्गों की लम्बाई के तार संसार में इसके पहले अन्यत्र प्रयोग में नहीं लाये गये। कंकरीट को इतना ठंडा किया गया था कि कंकरीट का ताप अपने स्थान पर गिरने पर ६० फारेनहाइट से अधिक न हो सके। ऐसा इसलिये किया गया जिससे असुविधा पहुँचाने वाली दरारें कंकरीट में न पड़ सकें।

बांध में ६१ अलग-अलग खण्ड हैं जिसकी चौड़ाई ५० से ६० फीट है। बांध की चोटी पर उनकी अधिकतम लम्बाई ३०६५ फीट है। ब्लाकों की अधिकतम ऊँचाई ३०४ फीट और अधिकतम चौड़ाई २२७ फीट है। बांध के मध्य भाग में प्लवन मार्ग है जिसमें ४० फीट × ३१०५ फीट के अर्धवृत्ताकार १३ निर्गत द्वार हैं। इस प्लवन मार्ग से ४ लाख ७१ हजार घनफुट जल प्रति सेकण्ड निकल सकता है।

दक्षिण पार्श्व में बांध के नीचे की ओर बिजली घर है। इस यंत्र में पचास-पचास हजार किलोवाट इकाइयों के पांच संयन्त्र लगे हैं। इस प्रकार इस यंत्र की क्षमता इस समय २ लाख पचास हजार किलोवाट है। एक छुटे सन्यत्र के लगाये जाने की भी व्यवस्था है जो ५० हजार किलोवाट की क्षमता का होगा। प्रत्येक जलचक्र में १६ फीट अर्धव्यास के निर्गमद्वार (मोरी) से जल जाता है। ये निर्गमद्वार निर्माण स्थल पर ही बनाये गये हैं और कंकरीट में खचित है।

जलचक्र और जनित्र इंगलैण्ड के मेसर्स इंग्लिश इलैक्ट्रिक कम्पनी से प्राप्त किये गये हैं। विद्युत जनित्रों को लगाने का कार्य बिजलीघर के निर्माण के साथ साथ सन् १९५९ से प्रारम्भ हुआ। सितम्बर, १९६१ में पहले जलचक्र को चलाया गया। बाहरी नियंत्रक (स्विचयार्ड) और रूपान्तरण और नियन्त्रण कार्य में समन्वय स्थापित करने वाले संयन्त्रों को दस विभिन्न एजन्सियों से प्राप्त किया गया। इन्हें सुनियोजित रूप से लगाने का कार्य विशेष निरीक्षण और नियोजन द्वारा ही सम्पन्न किया जा सकता था। इस योजना से पर्याप्त वैदेशिक मुद्रा की वचत हुई है।

इस कार्य में देश के प्रत्येक भाग के कामगरों ने हाथ बटाया। १२० इंजीनियर, ७००० कुशल और अकुशल कामगरों ने दिन रात काम करके इस योजना को सफल बनाया। विशेष रूप से कंकरीट और साधारण रूप से अन्य पदार्थों और विधियों में वैज्ञानिक नियंत्रण का ध्यान रखा गया। इस कार्य के लिये निर्माण स्थल पर ही एक परीक्षण और अनुसन्धान प्रयोगशाला थी। साधारण परीक्षणों के साथ ही साथ यहाँ प्रारम्भिक अनुसन्धान कार्य भी चलता रहा जिससे वस्तुओं के गुणधर्म पर नियंत्रण किया जा सके। इन अनुसन्धानों के फलस्वरूप एक सस्ता वायु संवाहक अभिकारक ज्ञात हो गया जिसके उपयोग से कम सीमेण्ट और कम पानी की मात्रा द्वारा ही ऐसी कंकरीट प्राप्त की जा सकती है जो शक्ति में बढ़िया कंकरीट से किसी प्रकार कम नहीं। यह वायु संवाहक अभिकारक अब देश की अन्य योजनाओं में लाभदायक सिद्ध हो रहा है। इस योजना की एक अन्य उल्लेखनीय उपलब्धि है ज्वालामुखी वज्रचूर्ण में सीमेण्ट कंकरीट के स्थान पर बोकारो फलाई ऐश का उपयोग। जैसा कि भली-भांति ज्ञात है ज्वालामुखी वज्रचूर्ण से कंकरीट अधिक उत्तम बन जाती है।

रिहण्ड बांध और बिजली घर के निर्माण से रिहण्ड का जल जो अब तक बर्बाद हो जाता था अब गोविन्द वल्लभ पन्त सागर में एकत्र हो जाया करेगा। इस सागर की धारिता ८६ लाख एकड़ फीट है जो १८० वर्ग मील के क्षेत्रफल में फैली हुई है। इस क्षेत्र के जल विलीन हो जाने से लगभग ४०,००० व्यक्ति बेघरबार हो गये। राज्य के नियमों के अनुसार इन विस्थापित व्यक्तियों को धन के रूप में पूरा हरजाना दे दिया गया है। साथ ही इन लोगों के पुनर्वास के लिये ऐसे क्षत्रों में स्थान देने का प्रयत्न किया जा रहा है जो जंगल काटकर बसाये गये हैं और जहां शिक्षा, स्वास्थ्य-सेवा, जल तथा अन्य सुविधायें उपलब्ध हैं। वास्तव में इन विस्थापित व्यक्तियों ने राज्य के लिये अपना घरबार छोड़कर जो त्याग किया है उसका पूरा मूल्य उन्हें चुकाना असम्भव है।

गोविन्द वल्लभ पन्त सागर में जो जल एकत्र होता है उससे प्रतिवर्ष एक अरब इकाई बिजली उत्पन्न की जा सकती है। यह जलविद्युत शक्ति उत्तर प्रदेश के दक्षिणी पूर्वी भाग और समीपवर्ती क्षेत्रों के औद्योगिक विकास के लिये उपयोग में लाई जावेगी। बांध-स्थल पर ही इस समय एक ऐल्यूमिनियम फैक्ट्री निर्मित की जा रही है जिसकी क्षमता बीस हजार टन प्रति वर्ष होगी।

रिहण्ड के चारों ओर का क्षेत्र खनिजों से भरा पड़ा है। इन खनिजों की प्राप्ति यातायात की असुविधाओं और बिजली की शक्ति के न होने के कारण सम्भव नहीं थी। रिहण्ड योजना के कार्यान्वित होने से अब ये दोनों सुविधायें प्राप्त हो गई हैं। सड़कें बन गई हैं और सस्ती बिजली मिलने की सुविधा हो गई है। जैसे जैसे अधिक मात्रा में सस्ती बिजली मिलती जावेगी इस क्षेत्र का औद्योगीकरण बढ़ता जावेगा और इस क्षेत्र का आर्थिक विकास होता जावेगा। रिहण्ड योजना से प्राप्त होने वाली लगभग पूरी बिजली की शक्ति का उपयोग किन-किन औद्योगिक कार्यों में होगा इसका निश्चय कर लिया गया है। आवश्यक अधिक बिजली शक्ति की पूर्ति के लिये तृतीय पंचवर्षीय योजना में ओबरा में एक लाख किलोवाट के बिजलीघर बनाने की योजना है। रिहण्ड के बिजली

घर से छोड़ा गया जल ओबरा बांध पर फिर बिजली बनाने के काम में लाया जावेगा। एक थर्मल स्टेशन जिसकी क्षमता २५० मैगावाट होगी तृतीय और चतुर्थ पंचवर्षीय योजनाओं में बन जावेगा। इस थर्मल स्टेशन के लिये कोयला सिंगरौली कोयला खानों से प्राप्त किया जावेगा जो रिहण्ड से लगभग ३० मील दूर है।

गोविन्द वल्लभ पन्त सागर से रिहण्ड बिजलीघर पर कम से कम ६००० घनफुट प्रति सेकंड जल निरन्तर प्रवाहित होता रहेगा। यह जल बिहार में डहरी ओन सोन पर सिंचाई के कार्य के लिये उपलब्ध हो सकेगा। इस प्रकार बिहार प्रदेश में सिंचाई के लिये सूखे मौसम में १५ लाख एकड़ फीट जल प्राप्त हो सकेगा जो बड़ा उपयोगी सिद्ध होगा।

साथ के चारों ओर के उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश के क्षेत्रों में मत्स्य व्यवसाय, जलक्रीड़ा, पर्यटन तथा अन्य सहायक उद्योगों के विकास से लोगों को विशेष लाभ होगा।

उत्तर प्रदेश में यह कंकरीट का पहला बांध निर्मित हुआ है जो भारतीयों ने डिजाइन किया और बनाया है। उत्तर प्रदेश के दक्षिण-पूर्व के गरीबी से त्रसित क्षेत्र के लिये यह आशा और सम्पन्न .ा का प्रतीक बनकर खड़ा हो गया है। यह क्षेत्र जो पहले दुर्गम और पिछड़ा हुआ था अब उत्तर प्रदेश का सम्भावित रूर बनने जा रहा है।

हमको सिंचाई के लिए पानी कैसा चाहिए?

युगुल किशोर अग्निहोत्री

इसकी जानकारी 'पानी कैसा है' किसान को पानी सींचने से पहिले करनी आवश्यक है। किसान को पानी को देखने या चखने से ही यह अन्दाज न लगा लेना चाहिये कि पानी सिंचाई के योग्य है किन्तु सिंचाई के लिये प्रयोग में लाने वाले पानी की परीक्षा रासायनिक क्रिया द्वारा किसी भी कृषि विभाग से सम्बन्धित रसायन अनुसन्धानशाला भेजकर करानी चाहिये।

पानी को चखने से यह पता चलता है कि नदी या तालाब या बांध का पानी जिसे हम सिंचाई के लिये प्रयोग करेंगे 'भारी' है अथवा 'हलका' है; खारी है या मीठा है। हाथ में लेने से चिपचिपा है या नहीं? साबुन लगाने से फेन उठता है या नहीं? जिस पानी में फेन कम उठता है वह भारी होता है और प्रायः कैलसियम या मैगनीशियम अधिक मात्रा में होते हैं। ऐसे पानी का प्रयोग सिंचाई के लिए कर सकते हैं और जो पानी हाथ में लेने से चिपचिपा मालूम पड़ता है उससे अधिक सिंचाई के लिये उपयोगी होते हैं। अधिक दिन तक हम ऐसी साधारण परीक्षा पर निर्भर नहीं रह सकते और जब हमें कोई स्थाई सींचने के लिये पानी का स्रोत मिल जाता है तो उस पानी का नमूना निम्नलिखित ढंग से लेना चाहिये और उसकी जाँच करवानी चाहिये :—

(१) किसी स्वच्छ बोतल में आधा सेर या सेर भर के लगभग पानी भर लेना चाहिये।

(२) पानी को भरने के बाद स्वच्छ कार्क लगा देना चाहिये।

(३) बोतल के ऊपर एक लेबिल चिपका देना चाहिये जिसमें जहाँ से नमूना लिया गया है वहाँ का विवरण लिखा होना चाहिये।

यदि पानी का नमूना किसी कुयें से लिया गया है तो कुयें की गहराई तथा भूमि से कितनी गहराई में

पानी निकला है और गर्मी और वर्षा में भूमि से कितनी गहराई में रहता है इसकी सूचना भी भेजनी चाहिये।

जहाँ पर पानी सींचना है वह खेत समतल हैं या ढालू हैं ?

खेतों में पिछले तीन वर्षों में कौन-कौन सी फसलें बोई गई थीं और प्रति एकड़ क्या पैदावार थी। कब और कितनी कौन सी खाद खेतों में दी गई थी ?

उक्त सूचना के साथ ही किसान को पानी का नमूना भेजना चाहिये। पानी की जांच करने के बाद रसायन अनुसन्धान शाला पानी सींचने के लिये उपयोगी है या नहीं, यह किसान को सूचित कर सकती है। अधिक अन्न पदा करने के लिये किस प्रकार और कितने पानी का प्रयोग किसान करे तथा कौन कौन सी खादें और फसलें बोवें इसकी भी ठीक ठीक सलाह दी जा सकती है।

यदि खेतों में सिंचाई के लिये पानी का प्रयोग करने के पहिले किसान ने पानी की जाँच नहीं करवाई तो कभी-कभी किसान को सिंचाई से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है और यदि पानी में विलेय लवण अधिक हुये तो खेत ऊसर ही हो जाते हैं।

सिंचाई के पानी की जानकारी कैसे करें

फसलों के लिये हानिकर तत्व सोडियम और बोरन हैं अतः रासायनिक क्रियाओं द्वारा यह जानकारी प्राप्त करना कि सोडियम और बोरन सिंचाई के पानी में कितनी मात्रा में उपस्थित हैं परम आवश्यक है। यदि सोडियम और बोरन की मात्रा सींचने के पानी में पर्याप्त है तो ऐसे पानी को न सीचना ही ठीक होगा।

सोडियम की मात्राके आधार पर वर्गीकरण

प्रथम श्रेणी—सिंचाई के लिये उपयोगी ०—१० मिली समतुल्य सोडियम/लीटर।

द्वितीय श्रेणी—सिंचाई के लिये उपयोगी १०–१५ मिली समतुल्य/सोडियम लीटर।

तृतीय श्रेणी—(सर्वथा अनुपयुक्त) १५ मिली समतुल्य सोडियम के ऊपर।

बोरन—बोरन की मात्रा सिंचाई के पानी में होने के आधार पर भी निम्नलिखित कक्षा पानी की उपयुक्तता के आधार पर हो सकती है :—

(१) पानी जिसमें बोरन की मात्रा ०·० से ०·३ अंश प्रति दशलाख अंश हो।

(२) पानी जिसमें बोरन की मात्रा ०.३ से १.० अंश प्रति दशलाख अंश हो।

(३) पानी जिसमें बोरन की मात्रा १ से २ अंश प्रति दशलाख अंश हो।

(४) पानी जिसमें बोरन की मात्रा २ से ४ अंश प्रति दशलाख अंश हो।

प्रथम दो तक पानी सिंचाई के योग्य होगा किन्तु तीसरी और चौथी श्रेणी के पानी का प्रयोग करने से खेत बहुत सी फसलों के लिये अयोग्य हो जावेंगे।

इसके अतिरिक्त यह जानकारी करनी भी आवश्यक है कि सिंचाई के पानी में (१) विलेय लवण कितनी मात्रा में हैं, (२) कैलसियम और मैगनीसियम की मात्रा प्रति लीटर क्या है और बाईकार्बोनेट तथा कार्बोनेट की क्या मात्रा है ? इसके आधार पर **विलकाक्स** ने एक लेखाचित्र प्रकाशित किया है जिसे "सोडियम ग्राफ" कहते हैं। इसके अनुसार सिंचाई के पानी को चार कक्षाओं में विभाजित किया गया है :—

(१) प्रथम श्रेणी का पानी सभी प्रकार की भूमि को सींचने के काम में ला सकते हैं। इससे भूमि को कोई हानि नहीं हो सकती है।

(२) इस प्रकार का पानी भी सभी प्रकार की भूमि के लिये उपयोगी है। केवल बहुत चिकनी मिट्टी में इसका प्रयोग करने से यदि कैलसियम की मात्रा पर्याप्त न हुई तो भूमि की भौतिक दशा बिगड़ सकती है।

(३) ऐसे पानी का प्रयोग न करना हितकर होगा और यदि करना ही पड़े तो जल-निकासी की पूर्ण व्यवस्था होनी चाहिये। भूमि में अधिक से अधिक कार्बोनिक तत्व या जीवांश डालना चाहिये।

(४) ऐसे पानी का सिंचाई के लिये कदापि प्रयोग नहीं करना चाहिये।
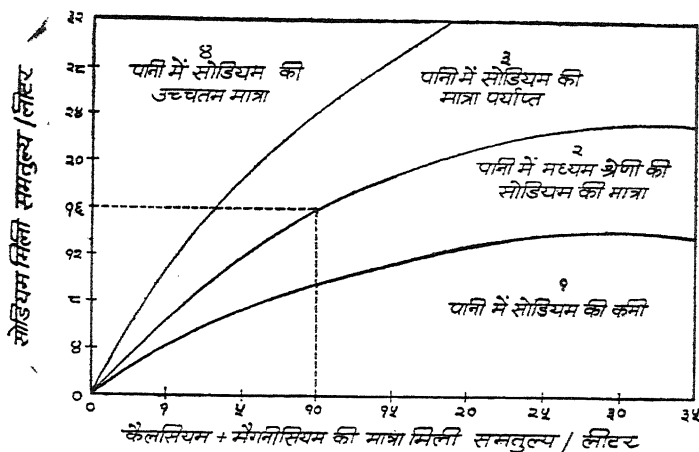
बाईकार्बोनेट

परीक्षण के द्वारा कैलसियम, मैगनीसियम, कार्बोनट, बाईकार्बोनेट की मात्रा मिली समतुल्य प्रति एकड़ की जानकारी प्राप्त करने के बाद (१) कैलसियम और मैग्नीसियम की मात्रा जोड़ लेनी चाहिये और (२) कार्बोनेट, बाईकार्बोनेट साथ जोड़कर दोनों को घटा देना चाहिये। घटाने के बाद यदि

(१) ० से १·२५ शेष रहे तो पानी सिंचाई के लिये उत्तम रहेगा।

(२) १·२५ से २·५० शेष रहे तो पानी सिंचाई के लिये अच्छा न होगा।

(३) २·५० से अधिक शेष रहे तो पानी सिंचाई के योग्य है।

इसके अतिरिक्त पानी के नमूने की जाँच विद्युच्चालकता सेतु "कंडक्टिविटी ब्रिज" द्वारा की जाती है। यदि विद्युच्चालकता

(१) २५° पर ० से २५० माइक्रोमहोज प्रति सेन्टीमीटर है तो पानी सिंचाई के लिये सर्वश्रेष्ठ है।

(२) २५° पर २५० से ७५० माइक्रोमहोज प्रति सेन्टीमीटर है तो पानी सिंचाई के लिये प्रयुक्त किया जा सकता है।

(३) २५° पर ७५० से २,२५० माइक्रोमहोज प्रति सेन्टीमीटर है तो पानी सिंचाई के लिये योग्य नहीं है।

(४) २५° पर २२५० से ५,००० माइक्रोमहोज प्रति सेन्टीमीटर है तो पानी सिंचाई के सर्वथा अयोग्य है।

सहायक मृत्तिका सर्वेक्षण अधिकारी
एग्रिकल्चर रिसर्च इंस्टीट्यूट, ग्वालियर

धारवाड़ क्रम की चट्टानें

रामशंकर दीक्षित

किसी भी देश की उन्नति और अवनति वहाँ पाई जाने वाली चट्टानों पर ही आधारित रहती है। हम लोगों के जीवनाधार कृषि का भी सम्बन्ध मिट्टी से होता और मिट्टी का निर्माण चट्टानों से ही होता है। फलतः हम कह सकते हैं कि चट्टानों से ही देश के आर्थिक एवं औद्योगिक जीवन का उन्नयन होता है। भारत इस दृष्टिकोण से भाग्यशाली है, क्योंकि प्राचीनतम चट्टानों से लेकर नवीनतम् चट्टानें भारत में परिलक्षित होती हैं।

अति प्राचीन काल में सल्लाखा, जुतोघ व चैल समुदाय, नीस व शिस्त की आधार भूत चट्टानों का निर्माण हुआ। बहुत ही प्राचीन एवं अत्यधिक रूपान्तरण के कारण ये अपने आदि स्वरूप को नष्ट कर चुकी हैं। इसी समय, जो अपेक्षाकृत पश्चात् की हैं, दक्षिणी पठार में धारवाड़ क्रम की चट्टानों का निर्माण हुआ। इनका निर्माण पदार्थ उषःकल्प समूह (Archean system) की चट्टानों से प्राप्त हुआ। इसके तदुपरान्त कुदप्पा, विन्धियन आदि चट्टानों की रचना हुई। भूगोल वेत्ताओं के अनुसार मुख्यतः चट्टानों की रचना दो प्रकार से हुई:—

(१) भूगर्भ में आन्तरिक शक्तियों के हलचल के फलस्वरूप प्रारम्भिक चट्टानों का निर्माण हुआ जो प्राथमिक (Primary) या आग्नेय (Igneous Rocks) चट्टानें कहलाती हैं।

(२) प्रारम्भिक चट्टानों के रूपान्तरित अथवा परिवर्तित या उनके छिन्न-भिन्न होकर पुनः एकत्र होने के फलस्वरूप निर्माण होता है।

इन चट्टानों को क्रमों (System) में विभक्त किया गया है। कई एक क्रमों को मिलाकर वर्गों (Group) का निर्माण होता है। भारतीय चट्टानों का वर्गकिरण इस प्रकार से किया गया है:—

(१) उषः कल्प समूह
(२) पुराना समूह
(३) द्राविणीय समूह
(४) आर्य समूह

निर्माण काल

प्रायद्वीप पठार के विशाल क्षेत्र में उषः कल्प की नीस चट्टानों पर विषम क्रमीय तह के रूप में एक रवेदार चट्टानों का समूह फैला हुआ है जिनका विकास पूर्वरूपेण मैसूर राज्य के धारवाड़ जिले में अधिक हुआ। इसी कारण इन चट्टानों का नाम भी **धारवाड़ चट्टान** पड़ा।

मुख्यतः धारवाड़ समूह की चट्टानों का निर्माण आद्य कल्प में माना जाता है। किन्तु कुछ विद्वान इससे सहमत नहीं। वे इन्हें उषः कल्प की चट्टानों का एक भाग ही मानते हैं। पृथ्वी के जन्म के साथ ही साथ विशाल सागरों एवं भूखंडो की रचना हुई। आन्तरिक भूगर्भिक शक्तियों के कारण इन भूखंडों एवं सागरों में परिवर्तन होने लगा। पृथ्वी के ठंडी होने के साथ ही साथ भूपर्पटी पर सिकुड़ने पड़ने लगीं जिससे पर्वत बने। नीस, शिष्ट एवं ग्रेनाइट आदि से बने भूखंडों के क्षरण एवं निक्षेपण के द्वारा ही प्राचीन पर्तदार धारवाड़ चट्टानों का जन्म हुआ। अब ये चट्टानें अत्यधिक रूपान्तरित हो चुकी हैं। इन चट्टानों ने अपना आदि

रूप पूर्णतया छोड़ दिया जिसके कारण इन्हें सरलता से पहचाना नहीं जा सकता। कहीं-कहीं पर तो धारवाड़ चट्टानें शिष्ट से भी पुरानी लगने लगी हैं।

संरचना

धारवाड़ की पर्तदार चट्टानें नई पर्तदार चट्टानों से भिन्न हैं। इनमें जीवावशेषों (Fossils) का अभाव है एवं रूपान्तरण क्रिया की अधिकता है। जीवावशेषों का अभाव शायद दो कारणों से ही हुआ हो। प्रथम तो यह कि इनके निर्माण के समय पृथ्वी पर सम्भवत: जीवन ही न रहा हो और दूसरे यह कि रूपान्तरण क्रिया के प्रभाव से यदि वह रहा हो तो अदृष्ट हो गया हो। धारवाड़ चट्टान में नीस की अपेक्षा शिष्ट की मात्रा अधिक है। सभी प्रकार की चट्टानों के मिश्रण के कारण अब इस क्रम की चट्टानों में भूखंडीय (lithological) भिन्नता अधिक हो गई है।

धारवाड़ क्रम की चट्टानें मैसूर राज्य में ६००० वर्ग मील में फैली हैं। डा० डब्लू० एफ० ने इन चट्टानों को आग्नेय माना है, पर्तदार नहीं। इस प्रकार से हम मैसूर राज्य की चट्टानों का वर्गीकरण निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं :—

(१) ज्वालामुखी चट्टानें जो अम्लीय और वेसिल लावा से बनी हैं।

(२) रवेदार शिष्ट और ग्रेनूलाइट (Granulites) जो कि मैसूर के अधिकांश भागों में फैली हुई हैं।

(३) अविकसित पर्तदार चट्टानें जिनमें कांगलोमरेट, (Conglomerate) क्वार्ट्ज (Quartzites), लौहयुक्त क्वार्ट्ज (Ferruginous Quartzites), फाइलाइट्स (Phyllites) और चूना पत्थर प्रमुख हैं।

(४) क्षारीय एवं अतिक्षारीय अन्त:निर्मित चट्टानें।

प्रायद्वीप में धारवाड़ क्रम की चट्टानें गहरे गर्तों व घाटियों में मिलती हैं जबकि प्रायद्वीप के बाहर ऐसा नहीं है। प्रायद्वीप की चट्टानों में रूपान्तरण भी अपेक्षाकृत वाह्य प्रायद्वीपीय धारवाड़ की चट्टानों से अधिक हुआ है। खनिज पदार्थ की दृष्टि से प्रायद्वीप के बाहर पाई जाने वाली चट्टानें अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं क्योंकि वह सीमित क्षेत्रों में छोटे-छोटे टुकड़ों में मिलती हैं। एक विशेषता यह भी है कि बाहर की धारवाड़ क्रम की चट्टानें प्राय: ऊँचे भागों में मिलती हैं क्योंकि इन भूभागों का धरातल बाद में बना।

धारवाड़ समूह की चट्टानों के निर्माण के पश्चात् काफी समय तक कोई तलघटीय क्रिया नहीं हुई। कुछ समय बाद समुद्र का अतिक्रामथ कुछ स्थानों पर होने के फलस्वरूप विषम क्रमीय स्तर की संरचना हुई जिसे कुडप्पा समूह की संज्ञा दी गई।

वर्गीकरण

रचनाकाल एवं खनिजों की भिन्नता को दृष्टि में रखते हुए धारवाड़ क्रम की चट्टानों को कई भागों में विभक्त किया जा सकता है। यदि हम खनिजों को ही ध्यान में रक्खें तो इस क्रम की चट्टानों का वर्गीकरण निम्नलिखित होगा :—

(क) निचली या अन्त:निर्मित चट्टानें:—

इसमें हार्नब्लैन्डे (Hornblende) एवं शिष्ट (schists) की मात्रा अधिक परिलक्षित होती है। अति प्राचीन होने के कारण इनमें जीवावशेषों का पूर्णत: अभाव है और ये सबसे अधिक रूपान्तरित भी हुईं।

(ख) ऊपरी चट्टानें :—

इनका निर्माण बाद में हुआ। क्रोलाराइट, शिष्ट, संगमरमर और क्वार्ट्ज आदि विपुल मात्रा में विद्यमान हैं।

वितरण

धारवाड़ चट्टानों का जन्म मैसूर राज्य के धारवाड़ जिले में हुआ। इसके पास ये चट्टानें अधिक क्षेत्र में फैली हुई हैं। कुमारी अन्तरीप से लेकर पूर्वी घाटों से होती हुई मध्य भारत में फैली हुई हैं। साधारणतया इन चट्टानों के क्षेत्रों को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम तो वह जो प्रायद्वीप स्थल हैं और दूसरे जो इसके बाहर हैं जैसे आसाम, काश्मीर-जम्मू आदि।

प्रायद्वीपीय धारवाड़ चट्टानें

धारवाड़ चट्टानों का पूर्ण विकास प्रायद्वीप में ही हुआ है। दक्षिणी दकन प्रदेश में उत्तरी मैसूर से कावेरी, नर्मदा नदियों तक ये चट्टानें मिलती हैं। मैसूर के उत्तरी एवं मध्य भाग में ये चट्टानें डिओराइट और ऐपीडीओराइट के रुक्ष ढेर शिष्ट में पाये जाते हैं। जब से कांगलोमरेट (Conglomerates) का उद्भव हुआ तभी से ये दो तहों में विभक्त हो गईं।

प्राचीन युग के धारवाड़ काल में इसका कुछ भाग समुद्र में चला गया और उस पर नदियों द्वारा तलछट का भारी बोझ होने से इनमें रूपान्तरण हुआ और यत्र-तत्र रूपान्तरित चट्टानें बनीं। धारवाड़ की ऐसी चट्टानों का विकास विशेषत: तीन क्षेत्रों में हुआ है:—

(१) मैसूर-धारवाड़ बिलारी क्षेत्र

(२) छोटा नागपुर पठार का उत्तरी भाग

(३) अरावली पर्वत क्षेत्र

प्रायद्वीप के बाहर की धारवाड़ चट्टानें

धारवाड़ क्रम की चट्टानें आसाम तथा बाहरी प्रायद्वीप के कई भागों में पाई जाती हैं, जैसे गढ़वाल, कुमायूं, लद्दाख, दार्जिलिंग आदि। पश्चिमी हिमालय प्रदेश की कुछ निचली घाटियां भी धारक्रम चट्टानों से ओत-प्रोत हैं।

बिहार के उत्तर में धारवाड़ चट्टानें राँची, गया, हजारीबाग जिलों में भी मिलती हैं। उत्तर भारत का यह क्षेत्र अभ्रक (Mica) उत्पादन में अग्रणी है।

आर्थिक महत्त्व

भारत में पाई जाने वाली अन्य चट्टानों में धारवाड़ क्रम की चट्टानें आर्थिक दृष्टिकोण से सर्वश्रेष्ठ हैं। उत्तम प्रकार का लोहा, सोना, हीरा, ताँबा, सीसा, मैंगनीज, अभ्रक, सुरमा, आदि खनिज पदार्थों की भरमार हैं। अन्य खनिज पदार्थों में फ्लूराइट, इल्मैनाइट, क्रोमाइट, कोबाल्ट, वूल्फ्राम, संखिया, कोरडम, गार्नेट, टूर्मलीन, घीया पत्थर, रवेदार चूने के पत्थर, संगमरमर आदि मुख्य हैं। जबलपुर में बहुमूल्य संगमरमर इन्हीं चट्टानों से पाया जाता है जिसमें से नर्मदा नदी की अति प्रसिद्धि है। उत्तम प्रकार के भवनों के निर्माण हेतु इन संगमरमरीय चट्टानों का उपयोग होता है। भारत का ९९% सोना इन्हीं चट्टानों से प्राप्त होता है जिसमें मैसूर स्थित कोलार मुख्य है। इसके अलावा तुमकुर, हुट्टी व धारवाड़ में भी सोना मिलता है। धारवाड़ क्रम की चट्टानें ताँबा में एकाधिकार ग्रहण किये हुए हैं। इस समय बिहार की मोसाबानी क्षेत्र की खानें "भारतीय ताँबा निगम" (Indian Copper corporation) के अधिकार में हैं। इसके अतिरिक्त ताँबा नीलौर, राजपूताना और सिक्कम स्थित धारवाड़ क्रम की चट्टानों से निकाला जाता है। नागपुर, छिन्दवाड़ा, बालाघाट, विशाखापतनम्, मैसूर एवं विलासपुर आदि स्थानों पर स्थित गोन्डाइट और कोडूराइट में मैगनीज धातु की मात्रा अधिक परिलक्षित हुई है। भारत का प्राय: समस्त मैंगनीज धारवाड़ की चट्टानों में मिलता है। अभ्रक के उत्पादन में भी धारवाड़ क्रम की चट्टानें अग्रणी हैं। श्रेष्ठ प्रकार की अभ्रक बिहार में स्थित ६० मील लम्बी तथा १४ मील चौड़ी अभ्रक मेखला में मिलती है जिसके अन्तर्गत हजारी

बाग, गया, मुंगेर जिले सम्मिलित किए जाते हैं। राजस्थान के कुछ भूभागों में धारवाड़ क्रम की चट्टानों में भी अभ्रक पाई जाती है।

मध्यभारत, बम्बई, मद्रास, मैसूर एवं उड़ीसा राज्यों की आद्य कल्प की चट्टानों में कच्चे लोहे की अधिक मात्रा विद्यमान है। सिंहभूमि और उड़ीसा की अतिक्षारीय चट्टानों में क्रोमाइट पाया जाता है। ग्रफाइट भी उड़ीसा, त्रावनकोर और काश्मीर में परिलक्षित हुआ है। मध्य प्रदेश से हीरे व जवाहरात धारवाड़ क्रम की चट्टानों से ही प्राप्त होते हैं।

४४२, ममफोर्डगंज,
इलाहाबाद

मृतिका खनिज—२

रमेशचन्द्र तिवारी

मृत्तिका खनिजों की मणिभीय संरचना

सामान्य मृत्तिका खनिजों की प्रकृति परमाणु संरचना के विस्तृत अध्ययन के अनुसार मृत्तिका खनिज, क्रियाशील मणिभीय ठोस पदार्थ हैं। खनिजों की प्रकृति तथा क्रियाशीलता उनकी मणिभ संरचना, उनकी सतह संख्या तथा प्रकार पर निर्भर करती है। **मार्शल** (१९३६-३७) तथा **वीयर** (१९४८) ने भूमि में पाये जाने वाले सामान्य मृत्तिका खनिजों के विभिन्न आयनों के संस्थापन का एक स्पष्ट चित्र प्रकाशित किया। **ग्रिम** (१९४२) ने ज्ञात मृत्तिका खनिजों के आयनों के संस्थापन का रेखाचित्र प्रदर्शित किया।

मृत्तिका खनिजों के मणिभों के चित्रों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि मणिभ O^{--} और OH^{-} के सम-आकार के आयनों के मिश्रण का स्तरीकृत रूप है। इसमें दो प्रकार के स्तर पाये जाते हैं :—

(१) **प्रथम स्तर**—इसमें केवल O^{--} आयन होते हैं तथा प्रत्येक O^{--} आयन का मध्यविन्दु ६ O^{--} निर्मित दो षटफलक के कोनों को मिलाने वाले स्थान पर रहता है। अतः इन षटफलों के मध्य में O^{--} आयन के बराबर स्थान रिक्त रह जाता है। इस स्तर को छिद्रमय आक्सीजन स्तर कहते हैं।

(२) **दूसरा स्तर**—यह O^{--} तथा OH आयनों के मिश्रणों के संगठन से या केवल OH आयन के स्तरीकरण के फलस्वरूप बन जाता है। इसको ठोस आक्सीजन हाइड्राक्सिल स्तर कहते हैं। मृत्तिका खनिजों के मणिभों के एक परीक्षण से यह देखा गया है कि O^{--} तथा OH आयनों के नियमित अन्तःस्तरों के संस्थापन के फलस्वरूप बने रिक्त स्थानों में सूक्ष्म Si^{++++} तथा कुछ बड़े Al^{+++}, Fe^{+++} तथा Mg^{++} आयन होते हैं। परन्तु ये धनायन मृत्तिका खनिज मणिभों की विमिति पर कोई प्रभाव नहीं डालते। यह ध्यान देने योग्य बात है कि ये छोटे-छोटे धनायन एक निश्चित त्रिविमितीय प्रणाली में संस्थापित रहते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि मृत्तिका खनिज मणिभ आसपास के दो विभिन्न स्तरों में उपस्थित धनायनों एवं ऋणायनों के मध्य उत्पन्न आकर्षण के फलस्वरूप संस्थापित हो जाते हैं। इन आयनों तथा इनके स्तरों के मध्य कर्षण से उत्पन्न बल तथा मणिभों के चारों ओर की असंन्तुलित दशाओं पर ही मृत्तिका खनिजों की सतह की

भौतिक रासायनिक क्रियायें आधारित हैं।

कुछ मुख्य मृत्तिका खनिजों की मणिभ संरचनायें:—

(क) मॉन्टमॉरिलोनाइट मृत्तिका खनिज

मॉन्टमॉरिलोनाइट के O^{--} निम्न प्रकार संस्थापित रहते हैं : —— एक छिद्रमय स्तर, दो ठोस स्तर, दूसरा छिद्रमय स्तर तथा सचल अन्तराल (variable spacing) जिसमें शोषित विनिमय आयन और जल के अणु अथवा अन्य ध्रुवीय अणु रहते हैं। इस पूर्ण इकाई के असंख्य संगठन से इस मृत्तिका का निर्माण होता है (चित्रसंख्या १)। इसकी एक इकाई की मोटाई ९·६ A° से २१·४ A° होती है।
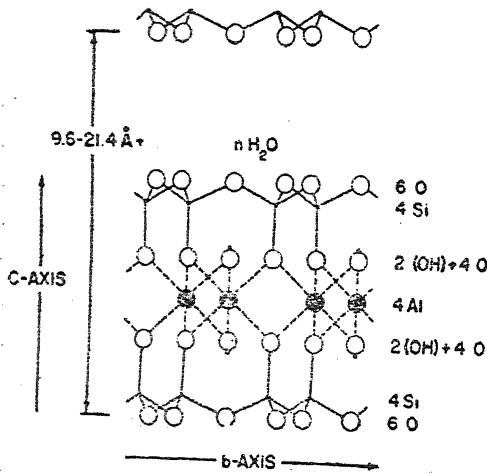
चित्र १

मॉण्टमॉरिलोनाइट मृत्तिका खनिज की संरचना

मॉन्टमॉरिलोनाइट मणिभ की सूक्ष्मतम इकाई निम्न आयनों के संस्थापन से बनती है (होफमैन १९३३):—

(१) आयन तथा अणु शोषित एक परिवर्तनशील रिक्त स्थान।

(२) ६O^{--}

(३) ४Si^{++++} (अन्तः स्तरीय)

(४) ४O^{--} तथा २OH^{-}

(५) ४Al^{+++} (अन्तः स्तरी)

(६) ४O^{--} ओर २OH^{-}

(७) ४Si^{++++} (अन्तः स्तरीय)

(८) ६O^{--}

यह इकाई जल के अनियमित अणुओं के संयोग के फलस्वरूप एक मणिभ को जन्म देती है तथा जब तक एक समतल पृष्ठ नहीं प्राप्त हो जाता, स्तर के पश्चात् स्तर बनता रहता है।

(ख) इलाइट खनिज

इलाइट की मणिभ संरचना के अध्ययन के जन्मदाता **ग्रिम** हैं। मॉन्टमॉरिलोनाइट की तरह यह खनिज भी एक सिलिका टेट्राहेड्रल स्तर, एक ऐल्यूमिनियम आक्टाहेड्रल स्तर तथा दूसरा सिलिका टेट्राहेड्रल स्तर के संगठन से निर्मित है परन्तु इनमें विनिमय रिक्त स्थानों पर K^{+} आयन स्थित रहते हैं। स्तरों के संयोग से C–अक्षि पर छोटी-छोटी मणिभीय इकाइयों के स्थापन के फलस्वरूप मणिभों के समतल स्तर का निर्माण हो जाता है। विभिन्न परतों में Al^{+++}के द्वारा Si^{++++} तथा Mg^{++}के द्वारा Al^{+++} का विस्थापन हो जाता है। इलाइट खनिज के स्तरों में विभिन्न आयनों का अनुपात निम्न प्रकार है (ग्रिम १९३७):—

(१) ६O^{--}

(२) ४-ySi^{++++} और yAl^{+++} (अन्त स्तरीय)

(३) ४O^{--} तथा २ OH^{-}

(४) ४Al^{+++} (अन्तः स्तरीय), कभी कभी Mg^{+-} एवं Fe^{+++} के सम्भाव्य विस्थापन।

(५) ४O^{--} तथा २OH^{-}

(६) ४-ySi^{++++} तथा yAl^{+++} (अन्त
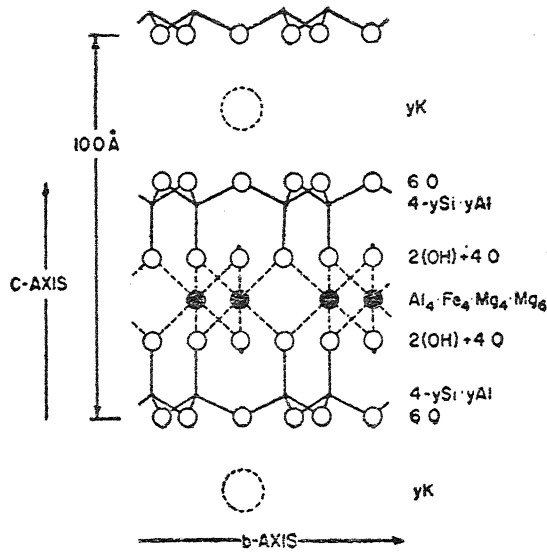
चित्र २—इलाइट खनिज की मणिभ संरचना (ग्रिम१९३७)

स्तरीय)

(७) ६O^{--}

(८) yK^{+}

इलाइट मृत्तिका खनिज का निर्माण इन्ही इकाइयों के त्रिविमितीय संस्थापन से प्राप्त मणिभों के विस्तार के कारण होता है।

(ग) केओलिनाइट खनिज

केओलिनाइट खनिज का मणिभ, एक सिलिका टेट्राहेड्रल स्तर, तथा एक एल्युमिना आक्टाहेड्रल स्तर का संगठन है। इसके आक्टाहेड्रल स्तर के **इकाई** मणिभ में, मॉन्टमॉरिलोइट एवं इलाइट की अपेक्षा ४ अधिक OH^{-} आयन तथा ४ कम O^{--} आयन पाये जाते हैं। केओलिनाइट की विभिन्न परतों के इकाई मणिभ में भिन्न-भिन्न आयनों का अनुपात निम्नलिखित हैं:—

(१) ६ O^{--}

(२) ४Si^{++++} (अन्तस्तरीय)

(३) ४ O^{--} और २ OH^{-}

(४) ४ Al^{+++} (अन्तः स्तरीय)

(५) ६OH^{-}
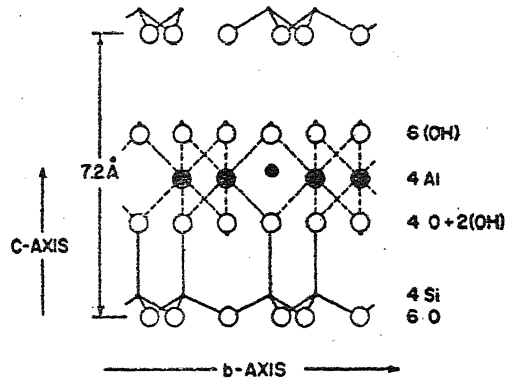
चित्र ३

केओलिनाइट खनिज की मणिभ संरचना (ग्रूनर-१९३२)

केओलिनाइट मणिभ भी इन्हीं इकाइयों के त्रिविमितीय प्रसार की देन है।

मृत्तिका खनिजों के मुख्य गुण

मृत्तिका खनिज के मणिभों का अकार्बनिक रसायन शास्त्र में वही स्थान है जो कार्बनिक रसायन शास्त्र में प्रोटीन का। मृत्तिका खनिज के जितने ही सूक्ष्म कण होते हैं, पृष्ठ क्षेत्रफल उतना ही अधिक होता है जिससे उनकी जलधारण आदि क्षमतायें अधिक हो जाती हैं। **स्कोफील्ड** (१९४०) ने यह बताया कि मृत्तिका खनिज व्यवहार में उभयगुण-वाले होते हैं तथा इन पर धन तथा ऋण दोनों बिन्दु होते हैं जिसके कारण ये धनायन और ऋणायन दोनों का शोषण करते हैं।

मृत्तिका खनिजों के मणिभ लचीले, पतले, सूक्ष्म भुरभुरे तथा नम्र होते हैं। यदि इन मणिभों को पानी में विलेय करके मिट्टी के साथ रिसने के लिए छोड़ दिया जाय तो यह रन्ध्रकूपों एवं सूक्ष्म केशिकाओं के छिद्रों को बन्द कर देते हैं। मृत्तिका खनिजों के मणिभों की चादरी- प्रकृति के कारण भूमि संस्तरों में इनके द्वारा मृदास्तर निर्मित हो जाते हैं।

मृत्तिका खनिज पर्याप्त मात्रा के जल के सम्पर्क में आने पर तनु विलयनों में भी एक श्लिषी का निर्माण करते हैं। बेन्टोनाइट जिसका मुख्य अंश मॉन्टमॉरिलोनाइट है १-२% न्यूनतम सान्द्रता पर भी श्लिषी का निर्माण करता है। कभी-कभी इसके स्तरों के अन्दर बर्फ जम जाती है तथा द्रवणांक के कारण मणिभों का पुनर्संस्थापन होता रहता है। मृत्तिका खनिज सूखने पर एक कठोर तथा चिकना चमकीला स्तर बना देता है।

मृत्तिका खनिजों की भौतिक रासायनिक प्रति-क्रियायें:— मृत्तिका खनिज के अत्यधिक पृष्ठ क्षेत्र फल के कारण इनकी जल, कार्बनिक यौगिक तथा पौधों के भोज्य तत्वों की शोषण क्षमता अधिक होती है। मृत्तिकाओं के स्पष्ट अध्ययन के लिए इनके शोषण प्रतिक्रियाओं को दो मुख्य भागों में विभक्त किया गया है।:—

(१) ध्रुवीय अणुओं के साथ साहचर्य:—

देबे (१९२९) के अनुसार एक विशिष्ट अणु में इलेक्ट्रानों के अनियमित वितरण के कारण, तमाम अनायनिक अकार्बनिक तथा कार्बनिक परमाणु द्विध्रुवीय होते हैं। इन परमाणुओं पर धन तथा ऋण दोनों आवेश पाये जाते हैं। मृत्तिका खनिजी मणिभ भी इसी कोटि के होते हैं। जब ये ध्रुवीय मणिभ दूसरे ध्रुवीय पदार्थों के तरल विलयन अथवा श्लेषाभ के सम्पर्क में आते हैं तो मृत्तिका खनिज के ऋणात्मक केन्द्र, ध्रुवीय पदार्थों के विलयन में उपस्थित धनायनों को तथा धनात्मक केन्द्र ध्रुवीय पदार्थों के ऋणायनों को आकर्षित कर लेते हैं। इस आकर्षण से उत्पन्न बल के फलस्वरूप ही मृत्तिका खनिज के द्वारा ध्रुवीय पदार्थों का शोषण होता है।

(२) आयनिक शोषण प्रतिक्रियाएँ:—

मृत्तिका खनिजों में विनियम प्रतिक्रियाओं के द्वारा धनायनों तथा ऋणायनों को शोषित करने का एक महत्त्वपूर्ण गुण होता है। ये प्रतिक्रियायें पौधों की उत्तरोत्तर वृद्धि के लिए आवश्यक भोज्य तत्वों की पूर्ति में अधिकाधिक सहायता पहुँचाती हैं। इनकी अनुपस्थिति में पौधों के भोज्य तत्वों की पूर्ति केवल कार्बनिक विघटन तथा खनिजों के अपक्षरण से प्राप्त पदार्थों से ही हो सकती है।

मृत्तिका खनिज, तमाम अपक्षरणों से मुक्त खाद्य तत्वों को अवशोषित कर लेते हैं और पौधों की जैविक चक्र की विभिन्न अवस्थाओं पर इनकी पूर्ति करते हैं। इस प्रकार मृत्तिका खनिज को पौधों के भोज्य तत्वों का भंडार कहा जाता है।

आयनिक शोषण भी दो प्रकार का हो सकता है:—

(१) धनायन शोषण या धनायन विनिमय :— मृत्तिका खनिज के मणिभ में टेट्राहेड्रल एवं ऑक्टा-हेड्रल स्तरों के संस्थापन में परिवर्तन होने के कारण मणिभों की सतह पर तमाम ऋणात्मक आवेश स्वतंत्र हो जाते हैं तथा उच्चतम पी–एच मानों

पर हाइड्रावसी आयनों के पारस्परिक बन्धों के टूटने के फलस्वरूप हाइड्रोजन आयन आयनित होकर ऋणात्मक आवेश उत्पन्न कर देते हैं। इन्हीं ऋणात्मक आवेशों की मात्रा तथा प्रकृति के आधार पर विशिष्ट मृत्तिका खनिज की आंशिक धनायन विनिमय क्षमता निर्धारित होती है।

मृत्तिका खनिज के मणिभों पर उपस्थित प्रत्येक ऋणात्मक आवेश एक धनायन को आकर्षित करता है तथा दो ऋणात्मक आवेश मिलकर एक द्विसंयोजी धनायन का शोषण करते हैं। हाइड्रोजन से संतृप्त मृत्तिका खनिज एक अकार्बनिक अम्ल का सा व्यवहार करता है और जब हाइड्रोजन किसी अन्य धनायन से विस्थापित कर दिया जाता है तो इस संयोग से प्राप्त पदार्थ एक अकार्बनिक लवण का सा गुण प्रदर्शित करता है। कुछ क्षारीय, अम्लीय एवं साधारण मिट्टियों में निम्न प्रकार का धनायन विनिमय होता है:—

$$2H\text{-clay} + Ca(OH)_2 \rightarrow Ca\text{-clay} + 2H_2O$$

$$2H\text{-clay} + Mg(OH)_2 \rightarrow Mg\text{-clay} + 2H_2O$$

$$H\text{-clay} + KOH \rightarrow K\text{-clay} + H_2O$$

$$H\text{-clay} + NaOH \rightarrow Na\text{-clay} + H_2O$$

$$H\text{-clay} + NH_4OH \rightarrow NH_4\text{-clay} + H_2O$$
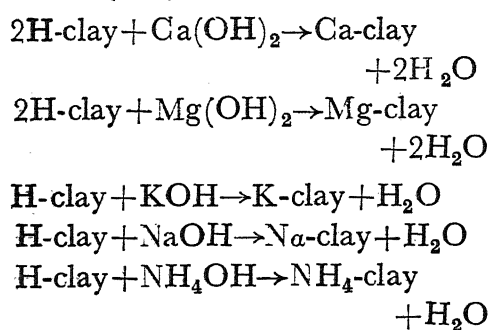
एक ही मृत्तिका खनिज मणिभ पर कई विनिमय आयन पाये जाते हैं। क्षारीय भूमियों में Na^+ की बहुतायत के अतिरिक्त सभी मिट्टियों में Ca^{++}, Mg^{++}, H^+, K^+, NH^{4+} एवं सूक्ष्म मात्रा में Na^+ आयन उपस्थित रहते हैं। विभिन्न मृदाओं की विनिमय धनायनों की मात्रा, उसमें उपस्थित मृत्तिका खनिज की मात्रा तथा प्रकृति, उसके पार्श्व खनिज, तथा उनकी उत्पत्ति और इतिहास पर निर्भर करती है। कुछ मुख्य मृदाओं में विनिमय धनायनों की मात्रा निम्नलिखित है (विनिमय धनायन प्रति १०० ग्राम उत्पादनशील मृदा):—

Ca^{++} — १५ मिली समतुल्य
Mg^{++} — ५ ,, ,,
H^+ — ५ ,, ,,
K^+ — ०.२५ ,, ,,
NH_4^+ — सूक्ष्म मात्रा
Na^+ → सूक्ष्म मात्रा ,, ,,

सभी मृदाओं की धनायन विनिमय क्षमता मुख्य रूप से मृत्तिका खनिज पर आश्रित है। **ग्रिम** ने (१९४२) में कुछ मुख्य मृत्तिका खनिजों की विनिमय क्षमता इस प्रकार घोषित की:—

मॉन्टमॉरिलोनाइट ६०-१०० मिली समतुल्य/१०० ग्राम
इलाइट २०-४० ,, ,, / ,,
केओलिनाइट ३-१५ ,, ,, / ,,

गेसेकिन्ग तथा **जेनी** (१९३६) में विभिन्न मृदाओं तथा मृत्तिका खनिजों पर भिन्न-भिन्न लवणों की विलयन सांद्रता के साथ विनिमय अध्ययन के पश्चात् यह घोषित किया कि प्रत्येक धनायन की मुक्त होने की सुगमता भिन्न होती है। कुछ कृषीय महत्त्व के धनायनों की एक विशिष्ट मृदा से मुक्त होने की सुगमता इस प्रकार होती है:—

$$Na > K > NH_4 > Mg > Ca > H.$$
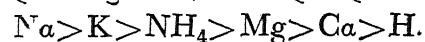
इसके अतिरिक्त मृत्तिका खनिज कार्बनिक धनायनों का भी शोषण करते हैं। मुख्यतया शोषित कार्बनिक धनायनों में भस्मीय ऐमिनो-समूह एक है।

अनुपलब्ध अवस्था में धनायनों का स्थिरीकरण:—

मृत्तिका खनिजों के द्वारा मृदाओं में उपस्थित तमाम विनिमेय धनायनों को अनुपलब्ध अवस्था में शोषित करने का भी विस्तृत अध्ययन किया गया है। पोटास उर्वरीकरण में पोटैसियम के उपरोक्त अवस्था में स्थिरीकरण का अध्ययन आर्थिक महत्व का है।

विकलैंडर तथा **गसेकिन्ग** के अनुसार मॉन्टमॉरिलोनाइट तथा इलाइट मृत्तिका खनिज में केओलिनाइट की अपेक्षा पोटास स्थिरीकरण अधिक होता है। **स्टेनफोर्ड** ने १९४७ में यह बताया कि इलाइट तथा मॉन्टमॉरिलोनाइट द्वारा भीगी अवस्था तथा उच्चतर पी-एच पोटास पर पोटास का स्थिरीकरण साधारणतया सूखी अवस्था की अपेक्षा अधिक होता है। **ब्रे** तथा **डी टर्क** के मतानुसार भूमि में विनिमेय तथा अविनिमेय पोटैसियम के विभिन्न भागों में सन्तुलन होता है।

(२) **ऋणायन विनिमयः** —भूमि एवं मृत्तिका खनिजों में ऋणायन विनिमय का अन्वेषण फासफेट आयन की शोषण प्रतिक्रिया की सहायता से किया गया है। १९३१ से १९५० तक कार्य करने वाले भूमि विशेषज्ञों के अध्ययन ने यह स्पष्ट कर दिया है कि भूमि तथा खनिजों में ऋणायन विनिमय प्रतिक्रियायें होती हैं। इनमें से कुछ अन्वेषकों ने यह बताया कि जलीय सेस्क्वीआक्साइड से हाइड्रॉक्साइड समूह अन्य ऋणायन विनिमय प्रतिक्रियाओं की तरह फासफेट के द्वारा विस्थापित हो जाता है।

पृथक्करण (Dispersion), **अवसादन** (Flocculation) **तथा शिलषी निर्माण**

जब कोई मृत्तिका खनिज पानी में पूर्ण रूप से अव्यवस्थित हो जाता है तब इसका प्रत्येक मणिभ पानी के द्वारा घेर लिया जाता है तथा विक्षुब्ध मृत्तिका खनिज, पानी के साथ-साथ मिट्टी की रन्ध्र केशिकाओं से होकर रिसने लगते हैं जिसके फलस्वरूप आस-पास के मृदाकण आपस में बँध जाते हैं। इस दशा में भूमि, पानी तथा हवा के प्रसार के लिए अपारगम्य हो जाती है तथा पौधों तथा जीवाणुओं के वृद्धि के लिए हानिकारक माध्यम बन जाती है।

१९२७ में **केली** ने बताया कि यदि मृत्तिका खनिजों पर सोडियम डाला जाता है तो यह अवसादित हो जाती है। यह सोडियम मृत्तिका खनिज, क्षारीय भूमि के कणों के बन्धक के रूप में प्रयुक्त होती है। ऋणात्मक आवेश धारण करने वाला मृत्तिका खनिज, बहुसंयोजी धनायनों, धन आवेशित जलीय सेस्क्वीआक्साइड तथा कार्बनिक आयनों के द्वारा अवसादित हो जाता है।

जब मृत्तिका खनिज श्लिषी निर्माण करता है तो इसके मणिभों का त्रिविमितीय अन्तः ग्रथित जाल बन जाता है जिसपर जल के तमाम अणु अवशोषित हो जाते हैं। **हाँसर** (१९३९) के अनुसार ये जलीय अणु इस तन्त्र के समाकलनीय भाग हैं। मृत्तिका श्लिषी भूमि में पानी तथा हवा का संचार बन्द कर देते हैं। जलीय सेस्क्वीआक्साइड तथा विभिन्न कार्बनिक यौगिकों से मुक्त मॉन्टमॉरिलोनाइट की श्लिषी निर्माण प्रवृत्ति अन्य मृत्तिका खनिजों की अपेक्षा तीव्र होती है। केओलिनाइट मृत्तिका खनिज श्लिषी निर्माण नहीं कर सकता तथा इलाइट खनिज में मॉन्टमॉरिलोनाइट तथा केओलिनाइट के मध्य की प्रवृत्ति होती है।

मृत्तिका खनिजों की विलेयताः—

मृत्तिका खनिजों की अम्ल तथा क्षार में विलेयता विलायकों की सान्द्रता, मात्रा, व्यवहार, ताप, सम्पर्क की अवधि, तथा मृत्तिका और विलायकों के अनुपात पर निर्भर करती है। अम्लीय विलायकों में मृत्तिका खनिजों के क्षारीय पदार्थ, रेह, लोहा तथा ऐल्यूमिनियम मुक्त हो जाते हैं तथा क्षारीय माध्यम में सिलिका विलयन के रूप में आ जाता है। **पास्क और हेवीज** के अन्वेषणों के फलों के अनुसार, जब ०·५ ग्राम मृत्तिका को ३० मिली० २०% गन्धकाम्ल के साथ आधे घंटे तक १३०° पर सुखाया जाता है तो केओलिनाइट से ३०%, आनावसाइट से ९%' हेलोइसाइट से ५०-९०%, इलाइट से ११% तथा मॉन्टमॉरिलोनाइट से ३३-८७% ऐल्यूमिनियम विलेय अवस्था में आ जाता है। परन्तु जब उपरोक्त सभी दशाओं के अतिरिक्त उसी नमूने को १५५° सें० पर दाब के अन्दर सुखाया जाता है तो

लगभग सम्पूर्ण Al_2O_3 विलयन के रूप में आ जाता है।

वोल्फ ने १० ग्राम ज्योलाइट केओलीन मृत्तिका खनिज को १०० मिली० ०·०२ नार्मल हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के साथ २ घंटे तक उबाला तो ३·१ मिलीग्राम, उसी मात्रा के 0·५ नार्मल हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के साथ ५३·५ मिलीग्राम तथा ५N हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के साथ १२४·४ मिलीग्राम Al_2O_3 विलयन रूप में आ गया।

नटिंग ने मॉन्टनॉरिलोनाइट तथा हेलोइसाइट मृत्तिका खनिज को सोडियम बाइकार्बोनेट के साथ क्रिया करने के बाद यह घोषित किया कि ०·०२५% सान्द्रता तक ज्यों ज्यों सोडियम बाइकार्बोनेट की सान्द्रता में वृद्धि की जाती है सिलिका की विलेय मात्रा बढ़ती जाती है तथा ०·०५% पर बिलकुल घट जाती है और पुनः २% सान्द्रता पर ०·७ ग्राम प्रति लीटर बढ़ जाती है। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि तनु बाइकार्बोनेट विलयन को ज्यादा समय तक मृत्तिका खनिजों के साथ रखने पर सम्पूर्ण सिलिका विलेय हो जाता है।

मृत्तिका खनिजों का घनत्वः—

मृत्तिका खनिजों की घनत्व परिगणना उनके सूक्ष्म कणों के समूह से की जाती है। प्राकृतिक रूप में इनकी घनत्व गणना नहीं की जा सकती क्योंकि मॉन्टमॉरिलोनाइट तथा हेलोइसाइट खनिज पानी के साथ अपने संरचना को परिवर्तित कर देते हैं।

ग्रूनर के अनुसार केओलिनाइट का घनत्व २·६०-२·६८, मॉन्टमॉरिलोनाइट का १·७७२—२·३४८, इलाइट का २·१२८—२·६४९, मस्कोवाइट का २·७६—३·०, तथा बायोटाइट का २·७—३·१ देखा गया है।

मृत्तिका खनिजों का रासायनिक संगठनः—

मॉन्टमॉरिलोनाइट में सबसे अधिक तथा क्लोराइट में सबसे कम सिलिका पाया जाता है। एल्यूमिना की मात्रा केओलिनाइट में सर्वाधिक तथा वर्मीकुलाइट में न्यूनतम होती है। Fe_2O_3, मॉन्टमॉरिलोनाइट में उच्चतम मात्रा में तथा केओलीनाइट में सूक्ष्मतम मात्रा में पाया जाता है।

मृत्तिका खनिजों के महत्त्वपूर्ण कार्य

मृत्तिका खनिज पौधों की वृद्धि के सभी आवश्यक भोज्य तत्वों के भंडार का कार्य करते हैं। इनका अनवसादित रूप तथा श्लिषी निर्माण मिट्टी के कणों को बाँधने में सहायक होता है अतः क्षारीय तथा बलुई मिट्टियों में मृत्तिका खनिज का प्रयोग उनकी कणों की रचना को सफल फसलोत्पादन के योग्य बना देता है।

इसके अतिरिक्त मृत्तिका खनिज विभिन्न भूमि सुधारकों के मिश्रण के रूप में प्रयुक्त होते हैं। इनके प्रयोग से भूमि की धनायन तथा ऋणायन विनिमय क्षमता में वृद्धि हो जाती है जो भूमि के रासायनिक तथा भौतिक गुणों को सुधार कर उनकी रासायनिक तथा भौतिक प्रतिक्रियाओं को परिवर्तित करके एक अच्छी भूमि को जन्म देते हैं। इन महत्त्व के साथ इनका औद्योगिक महत्त्व बहुत ही वृहत् है।

अतः एक सुधरी भूमि को प्राप्त करने तथा उसके विस्तृत अध्ययन के लिए मृत्तिका खनिजों का पूर्ण ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

सारिणी (न. १)

मृत्तिका खनिज	SiO_2	Al_2O_3	Fe_2O_3	FeO	MgO	CaO	K_2O	Na_2O	TiO_2	H_2O^-	H_2O^+	योग
मॉण्टमोरिलोनाइट (मिसीसिपी)	५७·५५	१९·९३	६·३५	०·९५	३·९२	१·९४	०·५९	०·३३	०·३२	...	८·५३	१००·४१
केओलिनाइट (जियोलाइट)	४५·२०	३७·०२	०·२७	०·०६	०·४७	०·५२	०·४९	०·३६	१·२७	१·५५	१३·२७	१००·४७
इलाइट (स्काटलैंड)	४९·२६	२८·९७	२·२७	०·५७	१·३२	०·६७	७·४७	०·१३	०·०५	३·२२	६·०३	९९·९६
हेलोइसाइट (इन्डियाना)	४४·९६	३६·५८	०·३६	०·०७	०·१८	०·१९	०·५१	०·०१	०·१५	४·०५	१३·३८	९९·९४
वर्मीकुलाइट (मेरीलैंड)	३६·९२	१३·९०	४·२४	०·६८	२४·८४	०·१८	...	...	...	१८·९४	...	९९·१४
क्लोराइट (पेनसिल्वेनिया)	२९·८७	१४·४८	१·४३	०·३५	३२·७१	सूक्ष्म	...	...	...	१·५६	...	१००·४०
सेपियोसाइट (मेक्सिको)	५५·३४	१·८१	०·४३	—	२२·९५	०·२४	...	...	...	८·६०	१०·२०	९९·५७

मुख्य मृत्तिका खनिजों का रासायनिक संगठन

संक्षिप्त जीवन परिचय माला–७

श्लेषाभ रसायन के जन्मदाता थामस ग्राहम

नंदलाल जैन

शैक्षणिक और तकनीकी प्रगति के क्षेत्र में ग्रेट ब्रिटेन के स्काटलेंड प्रदेश में ग्लास्गो का महत्त्वपूर्ण स्थान है। लोहा, कोयला, जहाजरानी आदि उद्योगों के कारण यांत्रिकीय उपयोजित रसायन की शिक्षा व शोध का यह संस्थान आज भी अपना अमूल्य योगदान दे रहा है। यदि हम उन्नीसवीं सदी के ग्लास्गो की जानकारी करें, तो हमें पता चलता है कि यहाँ वैज्ञानिक विकास के इतिहास की अग्रणी प्रतिभायें उस समय काम कर रही थीं। वाष्प-यान के आविष्कर्ता श्री जेम्स वाट, अक्रिय गैसों के ज्ञाता श्री रेमजे, ब्रिटेन के राजनीतिक सूत्रधार श्री ग्लेडस्टेन और श्री पीले, प्रमुख लेखक श्री वाल्टर स्काट व श्री थामस कैंपबेल इनमें प्रमुख हैं। श्री थामस ग्राहम भी इसी सदी के प्रमुख रसायनज्ञों में से हैं, जिन्होंने न केवल रसायन-शास्त्र को ही अपना योगदान किया है, अपितु अपने जीवन के अन्तिम १४ वर्षों में वे ब्रिटेन के 'मास्टर आव दि मिंट' भी रहे, जहाँ उन्होंने नये सिक्कों का चलन और विभिन्न सुधार की योजनायें चालू कीं। यद्यपि श्री ग्राहम इस सार्वजनिक पद पर काम कर रहे थे, फिर भी उनका शोधकार्य चालू था। इसी काल में ही उनका वह प्रमुख शोधनिबंध प्रकाशित हुआ जिसमें उन्होंने पदार्थों की श्लेषाभ अवस्था का विवरण प्रस्तुत किया। यह १८६१ के जून मास की बात है। तब से सौ वर्षों में श्लेषाभ रसायन की कितनी प्रगति हुई है, यह किसी से छिपा नहीं है। अब तो वह अपना स्वतंत्र स्थान ले रहा है : कुछ विश्वविद्यालयों में तो उसके विशिष्ट पाठ्यक्रम चालू हो गये हैं। इस विषय के स्वतंत्र शोधपत्र निकलते हैं। और अब हमारे दैनिक उपयोगों में आने वाले पदार्थों में शायद ही कोई ऐसा हो, जहाँ किसी न किसी रूप में 'श्लेषाभ-रसायन' का उपयोग न हुआ हो। यह सही है कि अब श्लेषाभ अवस्था को उस रूप से नहीं माना जाता, जो ग्राहम के समय में था। उक्त शोधपत्र के समय से ही वैज्ञानिक श्लेषाभ-रसायन का जन्म मानते हैं। इसीलिये जून माह में ग्लास्गो के रॉयल कालेज में, जहाँ श्री ग्राहम ने काम किया था, इस शाखा के विकास के सौ वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष में एक 'ग्राहम शताब्दि समारोह' का आयोजन किया था। इसमें ब्रिटेन के प्रमुख श्लेषाभ-रसायनज्ञों ने भाग लिया और एक परिसंवाद आयोजित किया जिसमें इस शाखा के इतिहास, नवीन अनुसंधान और भावी रूपों के विषय में भाषण व शोध निबंध पढ़े गये। निबंध पढ़ने वालों में डा० रीडल, डा० बटलर (दोनों एफ० आर० एस०), डा० हाइड, डा० प्रोसर, डा० लॉरेंस व प्रो० ओवर वेक हैं। आयोजन में प्रस्तुत उनका विवरण यहाँ दिया जा रहा है।

संक्षिप्त जीवनी—श्री थामस ग्राहम का जन्म गारगड, ग्लास्गो में २१ दिसंबर १८०५ में हुआ था। इनके पिता सूती व केलिको वस्त्रों के निर्माता थे। वे ग्राहम को धर्मशास्त्र पढ़ाना चाहते थे, पर उनकी मां ने उन्हें प्राथमिक शिक्षा के बाद विज्ञान के अध्ययन के लिये प्रेरित किया। उस समय रसायन का अध्ययन स्वतंत्र विषय के रूप में नहीं होता था, वह चिकित्सा-विज्ञान का एक अंग मात्र था। वे २१ वर्ष की अवस्था

में ग्लास्गो विश्वविद्यालय से श्री थामस थामसन जैसे प्रसिद्ध रसायनज्ञ के शिष्य बनकर एम० ए० हो गये और फिर एडिनबरा में उन्होंने अपनी चिकित्सा-शिक्षा पूरी की। वहाँ उन्होंने कुछ दिनों काम भी किया और अपनी प्रयोग कुशलता और शोध क्षमता से वे शीघ्र ही वहां की रॉयल सोसायटी के सदस्य चुने गये। अध्ययन के लिये उनमें कितना अनुराग था, यह इस बात से जाना जा सकता है कि वे अपने पूर्व-विश्वविद्यालीन शिक्षा-काल में एक दिन भी अनुपस्थित नहीं रहे।

कुछ विषम परिस्थितियों के कारण वे १८२८ में ग्लास्गो आ गये और मेकेनिक संस्थान में रसायन पढ़ाने लगे। उन्होंने ग्लास्गो के उत्तरी पोर्टलेंड स्ट्रीट में अपनी एक व्यक्तिगत प्रयोगशाला खोली जिसमें वे रासायनिक विश्लेषक व सलाहकार का काम करते थे। सन् १८३० में वे चिकित्सा-विभागमें रसायन के प्रोफेसर के रूप में वर्तमान रॉयल कालेज में १८३७ तक सात वर्ष रहे। यहाँ उन्हें कई अच्छे स्नातक मिले जिनमें श्री लिविंग्स्टन, श्री प्लेफेयर, श्री गिलबर्ट और श्री यंग जैसे भावी रसायनिक प्रमुख थे। यहाँ इन्होंने शोधकार्य भी किया, जो गैसीय विसरण एवं फास्फोरस-युक्त लवणों के विषय से संबंधित है। यह कहा जाता है कि उनके आधे से अधिक शोधपत्र इन लवणों पर ही हैं, जिनमें उन्होंने एक नया लवण, 'ग्राहम लवण' भी प्राप्त किया। ग्लास्गो के कार्यकाल में उनके शोध की ख्याति वैज्ञानिक जगत में फैल गई। इसी के परिणाम स्वरूप जब लंदन के विश्वविद्यालय में रसायन का अध्यक्ष पद रिक्त हुआ, तो श्री फेराडे, श्री लीबिग, श्री डालटन जैसे व्यक्तियों की शिफारिश पर वे लंदन आये। यहाँ वे १८ वर्ष तक रहे और कुछ ही समय में ग्लास्गो की उनकी शिष्टमंडली भी वहीं आ गई। लंदन में रहकर उन्होंने विभागीय कार्य तो दक्षता के साथ किया ही, रसायन विद्या की प्रगति के लिये उन्होंने कई काम किये। ब्रिटेन की प्रसिद्ध 'केमिकल सोसाइटी' की स्थापना में १८४१ में उनका प्रमुख हाथ रहा है। वे १८३९ में ब्रिटिश असोशियेशन के रसायन विभाग के अध्यक्ष भी हुए। यही नहीं, ३१ वर्ष की आयु में ही वे रॉयल सोसायटी के फेलो (FRS) भी चुने गये। ये सभी सम्मान, जो आजकल प्रायः साठ वर्ष की आयु के लगभग प्राप्त होते हैं, वे उन्हें अपनी युवावस्था में ही मिल गये थे। यह उनकी योग्यता का परिचायक है। इनकी प्रगति का श्रेय उनके श्री होप, श्री लेसली व श्री था० थामसन जैसे गुरुजनों के आदर्श शिक्षण को ही देना चाहिये। अपनी वैज्ञानिक विद्वत्ता के कारण १८५५ में उन्हें वह राजकीय पद मिला जिसे श्री न्यूटन ने सुशोभित किया था। ब्रिटेन के आर्थिक क्षेत्र में 'मास्टर आव दि मिंट' का पद उस समय बड़ा महत्त्वपूर्ण पद रहा है, यह पद किसी वैज्ञानिक को ही मिलता था। पर वे इस पद पर रहने वाले अन्तिम वैज्ञानिक थे, जिन्होंने १४ वर्ष रहकर राजकीय आर्थिक स्थिति में काफी परिवर्तन और सुधार किया। उन्होंने नये धातु के सिक्के भी चलाये। अपने सुधारों के कारण तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री ग्लेडस्टन उनसे बहुत प्रसन्न थे। यही कारण है कि अपने इस पद के अतिरिक्त भी उन्हें कई महत्त्वपूर्ण सरकारी काम और कमेटियों का निरीक्षण करना पड़ता था। इसी पद पर काम करते हुए दिसंबर, १८६९ में ६४ वर्ष की आयु में उनकी मृत्यु हुई। उनके शिष्य यंग ने अपने कार्यकाल में ग्लास्गो के प्रमुख केन्द्रस्थान जार्ज स्क्वायर में उनकी एक प्रतिमा स्थापित की।

व्यक्तिगत जीवन—श्री ग्राहम 'सादा जीवन, उच्च विचार' की प्रकृति के व्यक्ति थे। यद्यपि वे अपने समय के अच्छे वैज्ञानिक माने जाने लगे थे, पर उनका युवाकाल तक का जीवन आर्थिक कष्ट में ही बीता। उस समय ब्रिटेन में अध्यापकों का वेतन बहुत कम होता था। इसके बावजूद भी चूंकि वे एक अच्छे लेखक थे और व्यक्तिगत सलाहकार का काम भी कर लेते थे, अतः उन्हें कुछ अतिरिक्त आय हो

जाती थी। इससे वे अपने छह भाई बहनों के लिए उपहार आदि देते रहते थे। वे हृदय के बहुत उदार थे। जब कभी अवसर आता, वे विद्यार्थियों की भी सहायता किया करते थे। वे हर वर्ष अपने माँ-बाप को देखने जाते थे। उनका भरापुरा स्नेह भी उन्हें प्राप्त था। उन्हें संपति से कोई मोह नहीं था। यही कारण है कि जब उनके संरक्षकों की मृत्यु हुई, तो उन्होंने सारी संपति अपने संबंधियों में वितरित कर दी। लेखक होकर उन्होंने सबसे पहले एडिनबरा में छह पाउंड कमाये थे, जिनके उपहार उन्होंने वितरित किये। उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'इलीमेंट्स आव केमिस्ट्री' कई भाषाओं में निकली। वे एक आदर्श अध्यापक थे। जो विद्यार्थी अपने विषय में अभिरुचि रखते, उनका निर्देशन करना वे अच्छी तरह जानते थे। वैसे यह कहा जाता है कि वे अच्छे व्याख्याता नहीं थे, उनकी कक्षाओं में गड़बड़ी भी मचती थी, इसका कारण यह था कि एक तो उनका भौतिक व्यक्तित्व प्रभावशाली नहीं था, दूसरे वे विद्यार्थियों से यह आशा करते थे कि वे अध्ययनशील व परिश्रमी रहें। इसलिये मनोरंजक उपाख्यानों द्वारा वे अपने पाठों को तनु नहीं बनाते थे। अध्ययन संबंधी अन्य बातों में भी वे सामान्यतः कठोर अनुशासक थे, अतः वे केवल उन लोगों में ही लोकप्रिय हो सके, जो प्रवीण व बुद्धिमान विद्यार्थी थे। ऐसे लोगों ने उनके निर्देशन व प्रेणा की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है और अपने जीवन का निर्माण किया है। उनके समय में रसायन की प्रयोगकला का अभ्यास विद्यार्थियों को नहीं कराया जाता था। इस शिक्षण की कमी को दूर करने का और प्रयोगात्मक रसायन को अपनाने का सर्वप्रथम श्रेय श्री ग्राहम को ही प्राप्त है। वे सदैव अपने विद्यार्थियों को स्वयं प्रयोग कराया करते थे।

रासायनिक अनुसंधान---श्री ग्राहम के समय में अनुसंधान कला प्रारंभ ही हो रही थी। कुछ लोग दो चार प्रयोगों के आधार पर ही निष्कर्ष प्रस्तुत कर देते थे। यह बात श्री ग्राहम को पसंद नहीं थी। वे किसी भी निष्कर्ष को प्रकट करने के पूर्व तत्संबंधी प्रयोगों की एक नियमित परंपरा अपनाते थे, जिनमें प्रायोगिक अवस्था के विभिन्न उपादानों व परिवर्तनकारी अवयवों के प्रभावों की अच्छी तरह जांच करते थे। इस प्रकार प्रयोग-परंपरा से प्राप्त परिणामों के आधार पर वे न्यूनतम साधारण निष्कर्ष प्राप्त करते थे। इसलिये उनके प्रयोग और परिणाम प्रामाणिक माने जाते थे और यही कारण है कि वे शीघ्र ही अन्तर्राष्ट्रीय जगत में ख्याति प्राप्त कर सके। वे एक प्रयोगकुशल रसायनिक थे।

उन्होंने अपना शोधकार्य एडिनबरा से प्रारंभ किया था, जहाँ २ वर्ष के अल्प काल में ही गैसों की विलेयता व विसरणशीलता संबंधी विविध प्रयोग किये थे। इन प्रयोगों को उन्होंने ग्लास्गो में भी जारी रखा, और अपना प्रसिद्ध गैसीय विसरण-नियम प्रस्तुत किया, जो आज भी मान्य है। ग्लास्गो में उन्होंने लवणों की रचनाओं पर भी काम किया। विभिन्न लवणों के हाइड्रेट व अलकोहलेट यौगिकों पर उनका काफी कार्य रहा है जो अकार्बनिक रसायन के क्षेत्र में आता है। आजकल इस काम की महत्ता कुछ नहीं प्रतीत होती, पर उन दिनों यह नवीन ही था। फास्फेट और ग्राहम-लवण पर काम भी यहीं किया गया था। उन्होंने बताया कि फास्फोरिक अम्ल तीन होते हैं और पानी की भिन्न-भिन्न मात्रा से बनते हैं। उन्होंने फास्फोरस के ऑक्सीकरण और फास्फीन पर भी काम किया है और उनकी ज्वलनशीलता के कारणों की जाँच की। स्फटिक जल की प्रकृति का भी उन्होंने अध्ययन किया और बताया कि यह तो भौतिक संयोगमात्र है।

लंदन में उन्होंने गैसों व द्रवों की प्रकृति पर काम किया। उनके प्रवाह के संबंध में विभिन्न प्रयोग किये। 'मास्टर आव दि मिंट' के कार्यकाल में उन्होंने गैसों के विसरण के काम को आगे बढ़ाने के साथ ही

[शेषांश पृष्ठ ३६ पर]

सार संकलन

१. सूर्य के ताप से चलने वाली भट्ठी

हाल में गुडइयर एयरक्राफ्ट कार्पोरेशन की एरिजोना स्थित शाखा में एक ऐसी भट्ठी तैयार की गयी है, जो सूर्य के ताप से कार्य करती है। उसको देखने से यह आशा की जा सकती है कि भविष्य में सूर्य के ताप से बड़े महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हो सकेंगे। हो सकता है कि यह भट्ठी भावी जैनरेटरों, पम्पिंग स्टेशनों, ताप तथा शीतलता उत्पन्न करने वाले संयंत्रों के लिये शक्ति का मुख्य स्रोत बन सके। यदि सूर्य के ताप से कार्य करने वाली उक्त भट्ठी के निर्माण के खर्च को कम किया जा सके, तो बिना खर्च किये शक्ति प्राप्त करने का चिरकालीन स्वप्न पूरा हो सकता है।

उपरोक्त सूर्यतापी भट्ठी अथवा सूर्य की किरणों को घनीभूत करने वाले यन्त्र का निर्माण होने पर भी इस स्वप्न के पूरा होने में बहुत समय लग जायेगा। किन्तु बिजली उत्पादन में काम आने वाली विविध धातुओं का विकास तथा मूल्यांकन करने विषयका परीक्षणों में ताप के एक साधन के रूप में इसक वर्तमान प्रयोग व्यावहारिक तथा उपयोगी है।

सूर्य के ताप से चलने वाली भट्ठी दो अश्वों जितनी शक्ति उत्पन्न करती है। ग्रीष्म ऋतु में यह तीन अश्वों जितनी शक्ति पैदा कर सकती है। यद्यपि यह शक्ति एक घास काटने वाले यन्त्र के संचालन के लिये कठिनता से पर्याप्त होती है, किन्तु इसे एक छोटे से क्षेत्र में संकेन्द्रित करके १/२ इंच की परिधि वाले किसी स्थान का तापमान ५,००० अंश से ऊपर ले जाया जा सकता है। इस प्रकार अधिक तापमान वाले रक्षात्मक पलस्तरों के लिए प्रयोग में लाये जाने वाले प्लास्टिकों की जाँच करने के लिये इसका प्रयोग किया जा सकता है।

यह ऐसे स्थान पर धातुओं की जाँच करने के लिये बहुत ही उपयोगी है, जहाँ हवा के झोंकों से हानि पहुँचने की आशंका हो। वहाँ इन्सुलेटिंग की समस्या भी उत्पन्न नहीं होती है। वायु के झोंके को रोकने के लिए किसी पदार्थ के आसपास रक्षा की व्यवस्था किये बिना ही परीक्षण किये जा सकते हैं।

सूर्य की किरणों का संकेन्द्रण करना कोई नई बात नहीं है। प्रत्येक बालचर तथा लकड़हारा यह जानता है कि एक आतशी शीशे पर सूर्य की किरणों का संकेन्द्रण करके सूखी पत्तियों अथवा तिनकों में आग लगाई जा सकती है। १८८४ में, पेरिस (फ्रांस) में एक ऐसा मुद्रणालय लगाया गया था जो सूर्यतापी इंजन से चलता था। उस इंजन में शीशों द्वारा सूर्य की किरणों का संकेन्द्रण किया जाता था। २१२ ई० पूर्व के लगभग सिराक्यूज (ग्रीस) के लिये लड़े गये एक युद्ध में आर्किमेड्ज ने आतशी शीशों द्वारा रोमनों के जहाजों के पालों में आग लगा कर उनके जहाजी बेड़े को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था।

भविष्य को दृष्टि में रखकर, वैज्ञानिक तथा इंजीनियर शक्ति के एक साधन के रूप में सूर्य के प्रकाश का प्रयोग करने में अधिकाधिक रुचि प्रदर्शित कर रहे हैं, ताकि जब प्राकृतिक ईंधनों के भण्डार समाप्त हो जायँ तब लोगों को किसी प्रकार का कष्ट न हो।

जिन देशों में बिजली आदि के लिये प्रर्याप्त साधन नहीं हैं, वहाँ इस संबंध में काफी कार्य किया जा रहा है।

२. **मौसम-उपग्रह द्वारा नये युग का सूत्रपात**

अमेरिका की ओर से टाइरोस नामक जो मौसम सम्बन्धी कृत्रिम उपग्रह छोड़े गये हैं, उन्होंने मौसम के सम्बन्ध में अध्ययन करने के लिये एक नये युग का श्रीगणेश कर दिया है।

हाल में होनोलूलू में हुए एक वैज्ञानिक सम्मेलन में मौसम विशेषज्ञों ने बताया कि किस प्रकार मौसम विषयक कृत्रिम उपग्रह वायुयानों की सहायता करेंगे और मौसम के विषय में भविष्यवाणियाँ करने के लिये क्रान्तिकारी नई घटनाएँ सम्भव बना सकेंगे। भविष्य में जो मौसम सम्बन्धी उपग्रह तैयार होंगे, वे व्यापारी वायुयानों की गति को अधिक तेज बनाने, तेजगति से चलने वाली अनुकूल वायुधाराओं का पता लगाने में उनकी सहायता करके अधिक दूरी सम्बन्धी उड़ानों को हिचकों से रहित बनाने तथा बहुत अधिक ऊँचाई पर आने वाले तूफानों से बचने में सहायता कर सकेंगे। पृथ्वी के ऊपर बहुत अधिक ऊँचाई पर पश्चिम से पूर्व की ओर अत्यधिक गति से वायुधाराएँ चलती रहती हैं। **हवाई** के भौतिक संस्थान के मौसम विशेषज्ञ **डा० कोलिन एस० रेमेज** के कथनानुसार टाइरोस मौसम उपग्रह द्वारा जो चित्र लिये गये हैं, उनमें तीव्रगति से चलने वाली वायु तरंगें तथा तूफान बिल्कुल दिखाई पड़ते हैं।

डा० रेमेज कुछ समय से टाइरोस उपग्रह द्वारा लिये गये चित्रों का विश्लेषण कर रहे हैं। वे अत्यधिक ऊँचाई पर आने वाले झंझावातों की उत्पत्ति तथा गतिविधियों आदि के विषय में अनुसंधान कर रहे हैं। उनके अध्ययन से पता चलता है कि पश्चिमी प्रशान्त की सतह पर ये तूफान बहुत ही कम दिखाई पड़ते हैं, किन्तु ४०,००० फुट की ऊँचाई पर वे बहुत तीव्र गति से चलते हैं और बहुत ऊँचाई पर उड़ने वाले यात्री वायुयानों को उनसे बचाना चाहिये।

अमेरिका के मौसम सम्बन्धी कार्यालय के मौसम उपग्रह प्रयोगशाला के **डा० लेस्टर एफ० ह्यूबर्ट** के कथनानुसार, जब अमेरिका १९६२ के अन्त में 'निम्बस' नामक मौसम उपग्रह प्रक्षिप्त करेगा, तब सभी देशों के मौसम-विशेषज्ञों को अपने झंझावात सम्बन्धी अनुसन्धान के लिये महत्त्वपूर्ण सहायता मिलेगी। उन्होंने बताया कि 'निम्बस' ध्रुव-कक्षा में स्थापित होकर उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुव के ऊपर से गुजरेगा। इस कक्षा में 'निम्बस' उपग्रह पृथ्वी से ऊपर आच्छादित बादलों की परतों के चित्र ले सकेगा। ध्रुव-कक्षा में स्थापित किये जाने के अतिरिक्त 'निम्बस' उपग्रह में रडार की व्यवस्था की जायेगी। रडार की सहायता से कैमरों द्वारा मौसम सम्बन्धी अधिक स्पष्ट चित्र लिये जा सकेंगे।

अमेरिकी वायुसेना के कैम्ब्रिज मौसम अनुसन्धान केन्द्र के **कर्नल जेम्स सी० सेडलर** ने होनोलूलू सम्मेलन में वैज्ञानिकों को बताया कि उन्हें यह आशा है कि मौसम उपग्रह मौसम सम्बन्धी जानकारी प्राप्त करने के लिये बड़े ही उपयोगी सिद्ध होंगे। इनकी सहायता से तीव्र गति से चलने वाली वायुधाराओं एवं अंधड़ों आदि के विषय में मनुष्य के ज्ञान में वृद्धि हो सकेगी।

कर्नल सेडलर ने कहा है कि मौसम विशेषज्ञों को आशा है कि उपग्रहों द्वारा लिये गये चित्रों की सहायता से प्रशान्त में आने वाले तूफानों एवं अंधड़ों के रहस्य का पता लग सकेगा। क्या कारण है जो हवाई तथा पूर्वी प्रशान्त सागर के अन्य द्वीपों में बहुत कम तूफान आते हैं, हालांकि संसार के किसी भी अन्य भाग की तुलना में प्रशान्त सागर के इस भाग में सबसे अधिक तूफान उठते हैं? वहाँ प्रति वर्ष जून से सितम्बर तक हर सप्ताह एक तूफान अवश्य आता है, किन्तु उनमें से बहुत कम बड़े तूफान का रूप धारण करते हैं। उन्होंने बताया कि इसके विपरीत प्रशान्त सागर के दूसरी ओर, ग्वान तथा मार्शल द्वीपों में

संसार के अन्य भागों की तुलना में सबसे प्रचण्ड तूफ़ान आते हैं।

३. दमे का इलाज

दमे की बीमारी फेफड़े के उन रोगों में से हैं जो दुनिया में सबसे अधिक फैले हुए हैं। सोवियत डाक्टरों के अनुसार, इस बीमारी की बाढ़ मौसम संबंधी दशाओं पर नहीं निर्भर करती, यद्यपि कुछ मामलों में, इन अवस्थाओं का बीमारी के रुख पर स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। यह बात निश्चित हो चुकी है कि समुद्र तट से १,२००-१,५०० मीटर की ऊँचाई पर पहाड़ों में आवास का रोगियों पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है और उन्हें यह जलवायु सर्वाधिक रास आता है। फलतः सोवियत संघ में क्रीमिया के दक्षिणी तट पर और किस्लोवोद्स्क जैसे स्वास्थ्य-केन्द्रों में दमे के इलाज में अच्छे परिणाम प्राप्त होते हैं। साइबेरिया में दमे का विस्तार सोवियत संघ के अन्य भागों से न कम है और न अधिक।

दमे का मुख्य लक्षण दम घुटने जैसा दौरा है, जो समय-समय पर पड़ता रहा है। दौरा पड़ने पर रोगी को तात्कालिक डाक्टरी सहायता प्रदान की जानी चाहिये। ऐसे मौकों पर सोवियत डाक्टर या तो **एड्रेनालीन** का प्रयोग करते हैं या **इजेड्रीन** का, जो कि एक संश्लिष्ट औषधि है। इन दवाओं से श्रेष्ठतम परिणाम तब प्राप्त होते हैं जब उन्हें इस रूप में दिया जाए कि रोगी इन्हें साँस के साथ अंदर खींच सके। कुछ चिकित्सालय **यूफिलीन** और **एफड्रीन** और **थियोफेड्रीन** जैसी अन्य दवाइयाँ इस्तेमाल करते हैं।

किन्तु, दौरों का इलाज वस्तुतः दमे के रोगी का इलाज करने में डाक्टर का केवल तात्कालिक कार्य ही होता है। दूसरा और अधिक महत्वपूर्ण ध्येय इन दौरों की रोकथाम करना है।

बहुत काल तक दमे को एक शुद्धतया अति-संवेदनात्मक रोग ही समझा जाता रहा। दम घुटने जैसे दौरों के पड़ने को मात्र तथाकथित बाह्य उत्तेजक तत्व (शरीर में बारंबार प्रवेश करने वाले विभिन्न बाह्य विजातीय प्रोटीन) के प्रभाव के आधार पर ही समझा जाता था—इसे ही उन दौरों का एकमात्र कारण समझा जाता था। **इवान पावलोव** की शिक्षाओं के आधार पर, सोवियत डाक्टरों ने सिद्ध कर दिया है कि दमे के दौरों के पड़ने में केन्द्रीय स्नायुमण्डल एक बड़ी भूमिका अदा करता है। इस कारण दमें के दौरों के इलाज और रोकथाम दोनों ही में वे तरीके विशेष महत्वपूर्ण हो जाते हैं जो मनोवैज्ञानिक-चिकित्सा का (विशेषकर सम्मोहन-चिकित्सा अथवा हिपनोथैरेपी का) सहारा लेते हैं, और उन शांतिकर दवाइयों का इस्तेमाल भी जो केन्द्रीय स्नायुमंडल को सामान्य अवस्था में लाती हैं।

सोवियत डाक्टरों ने दमे के इलाज में **नोवोकेन** के इस्तेमाल द्वारा अच्छे परिणाम प्राप्त किये हैं। इधर हाल के वर्षों में नोवोकेन का व्यापक प्रयोग किया गया है। इसका इंजेक्शन नाड़ियों में भी लगाया जा सकता है और धमनियों में भी। सोवियत सर्जन **अलेक्जांडर विश्नेव्स्की** द्वारा प्रयुक्त विधि से भी गुणात्मक परिणाम प्राप्त किये गए हैं। इस विधि में रोगी की गर्दन में निश्चित स्थानों पर नोवोकेन के इंजेक्शन दिये जाते हैं। लेकिन, पिछले कुछ वर्षों में दमे का सर्वाधिक प्रचलित इलाज **एड्रेनोकोर्टि-कोट्रोफिक हार्मोन** (ए० सी० टी० एच०) द्वारा और **कौर्टिसोन** द्वारा रहा है। साथ ही साथ रोगियों को कैलसियम क्लोराइड और सीमित मात्रा में नमक वाला आहार दिया जाता है, जो मेडिकल आहार नं० ७ कहलाता है। **ए०सी०टी०** एच० का प्रयोग उन उपेक्षित दशाओं में विशेष प्रभावशाली होता है जबकि रोगी को प्रतिदिन अनेकों दौरे पड़ते हैं। कौर्टिसोन के बजाय सोवियत डाक्टर **हाइड्रोकोर्टीसोन, प्रेडनी-सोलोन**, तथा अन्य **कौर्टीसौइड हार्मोनों** का भी प्रयोग कर रहे हैं। जहाँ दमे के साथ-साथ

ऊपरी श्वास-नलिका में सूजन (गले की गिल्टियों की सूजन, श्वासनलिका-प्रदाह) की जटिलतायें पैदा हो जाती है तो एंटीबायोटिक औषधियाँ भी दी जाती हैं।

दमे के इलाज में "**औटोहिमोथेरेपी**" का भी व्यापक प्रयोग किया जाता है, और एक सोवियत नेत्र रोग-चिकित्सक ब्लादिमीर फिलातोव के नाम पर नामकरण की गई एक तंतु चिकित्सा विधि का भी इस्तेमाल काफी प्रचलित है। कुछ दशाओं में मास्को के प्रोफेसर बोरिस कोगान द्वारा प्रयुक्त विधि से **हिस्टेमाइन** और **एस्कॉबिक** अम्ल (विटामिन सी) के उपयोग से भी अच्छे परिणाम प्राप्त होते हैं। अनेक डाक्टर **एम्बिकाइन** और **नोवोएम्बिकाइन** (क्लोरामाइन) का प्रयोग करते हैं, जो कि प्रोटीन चयापचय पर गुणकारी प्रभाव डालने वाली एक जैवकीय रूप से सक्रिय औषधि है।

सोवियत डाक्टर अनुभूत प्राचीन विधियों की उपेक्षा नहीं करते। उदाहरणार्थ, पोटैसियम आयोडाइड का भी प्रयोग किया जाता है और पोटैसियम आयोडाइड तथा सोडियम आयोडाइड मिश्रित एक विशेष दमा-नाशक मिश्रण का भी। सोवियत डाक्टर आरोग्यकारी व्यायाम को दमे के इलाज का एक गुणकारी साधन मानते हैं। रोगियों को पेट तक गहरी साँस खींचने की गुणकारी प्रक्रिया का उपयोग सिखलाने में श्वास-प्रश्वास व्यायामों को महत्त्वपूर्ण साधन माना जाता है। 'वायु के विटामिनों' द्वारा भी दमे का इलाज किया जाता है। इस वायु-चिकित्सा प्रणाली में एक विशेष प्रकार के सोवियत-निर्मित यंत्र को इस्तेमाल किया जाता है।

जी० बी० गुरगेनिद्जे ने ज्ञात किया है कि दमे में नाइट्रोजन चयापचय में यकृत का काम गड़बड़ा जाता है। फलस्वरूप जार्जियाई डाक्टर विटामिन बी-६ का और **सिस्टीन** नामक एमिनो अम्ल का प्रयोग कर रहे हैं जो कि प्रोटीन चयापचय का प्रतिफल है। उनके द्वारा प्राप्त किये गए परिणाम इतने गुणकारी रहे हैं कि अब इस विधि का व्यापक परीक्षण किया जा रहा है। इन परीक्षणों के फलस्वरूप चिकित्सकगण इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि इस विधि को दमे के मिलेजुले इलाज के एक सम्मिलित अंग के रूप में सफलतापूर्वक प्रयुक्त किया जा सकता है।

४. सोवियत संघ में कृत्रिम रबड़ का उत्पादन

अक्टूबर १९१७ की क्रान्ति से पहले रूस का रबड़ उद्योग केवल आयात की हुई प्राकृतिक रबड़ पर ही चलता था क्योंकि देश के पास कच्चे माल के अपने साधन नहीं थे। क्रान्ति के बाद सोवियत रूस ने अपने को एक बड़ी कठिन परिस्थिति में पाया। रबड़ का सर्वप्रथम अर्थ है, मोटर टायर, परिवहन के 'पैर' अतः किशोर सोवियत राज्य के सामने इस स्थिति से निकलने के दो ही उपाय थे : प्राकृतिक रबड़ के अपने बागान लगाये या इसे कृत्रिम रूप से पैदा करे। आरम्भ में सोवियत रबड़ उद्योग ने पहला मार्ग अपनाया और मध्य एशिया में पाये जाने वाले दो जंगली पौधों **कोक-साघिज** और **तौ-साहिज** को उगाया जिनमें प्राकृतिक रबड़ होती है। लेकिन यह विधि अलाभदायक सिद्ध हुई तो सोवियत वैज्ञानिकों ने अपने प्रयास मुख्यतः कृत्रिम रूप से रबड़ के उत्पादन की ओर केन्द्रित किये।

कृत्रिम रबड़ के उत्पादन के लिये एक ऐसा बहुरूपज प्राप्त करना आवश्यक नहीं है जो अपने तत्वों और बनावट में बिलकुल प्राकृतिक रबड़ के ही समान हो। परन्तु महत्वपूर्ण है मौलिक बनावट को बनाये रखना। निःसन्देह यह अन्तर उत्पादित माल के गुणों को भी अवश्य ही प्रभावित करता है। लेकिन, जैसा कि दुनिया में प्रथम व्यावसायिक कृत्रिम रबड़ के निर्माता अकादमीशियन एस० लेबेदेव ने कहा था, वही वह चीज है जो 'अनन्त नानारूपता का स्रोत है'।

ब्यूटेडीन

आज इनका एक विशाल "परिवार" है, जिसके हर सदस्य की अपनी जीवनी है, अपना "स्वरूप" है,

और अपना 'कार्य-स्थान' है। लेकिन इस परिवार के इतिहास का आरम्भ सभी कृत्रिम रबड़ों के पूर्वज **ब्यूटेडीन** या, संक्षेप में, **एसकेबी** से होता है, जिसका जन्म निम्नलिखित परिस्थितियों में १९२८ में हुआ था।

१९२६ में, राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की सर्वोच्च परिषद् ने कृत्रिम रबड़ के उत्पादन के श्रेष्ठ औद्योगिक तरीके के लिए एक देशव्यापी प्रतियोगिता की घोषणा की। अनेक वैज्ञानिकों, प्रयोगशालाओं और इंस्टीच्यूटों ने इसमें भाग लिया। दो वर्ष बाद एस० बी० लेबेदेव ने निर्णायक मण्डल के सामने कृत्रिम सोडियम ब्यूटेडीन रबड़ के प्रथम दो किलोग्राम प्रस्तुत किये, जो उन्होंने सामान्य मद्यसार से प्राप्त की थी। ७ जुलाई १९३२ को यारोस्लाव्ल के एक कारखाने ने लेबेदेव विधि से सोवियत संघ की औद्योगिक रूप से प्राप्त प्रथम कृत्रिम रबड़ की ४०० किलोग्राम मात्रा का उत्पादन किया।

रासायनिक दृष्टि से यह विधि सारतः यह है कि मद्यसार से पानी और हाइड्रोजन को निकाल कर ब्यूटेडीन (कृत्रिम रबड़ के उत्पादन में काम आने वाला पदार्थ, जिसमें कार्बन और हाइड्रोजन गैस का ४ व ६ का मिश्रण होता है) प्राप्त किया जाता है, जो कि कृत्रिम रबड़ के उत्पादन के लिए आरम्भिक पदार्थ है। लेकिन इतनी सरल यह केवल कागज पर ही प्रतीत होती है। रासायनिक पात्र में यह कहीं अधिक जटिल है और इस प्रक्रिया को औद्योगिक अवस्थाओं में सम्पन्न करना और भी अधिक कठिन है—और वह भी एक ही पद में, ताकि कृत्रिम रबड़ के उत्पादन को अधिकतम सीमा तक सरल बनाया जा सके। लेकिन एस० बी० लेबेदेव एक उत्प्रेरक पदार्थ और उच्च तापमान की सहायता से ऐसा करने में सफल हो गये।

आरम्भ में इस उत्पादन प्रक्रिया के लिए मद्यसार कच्ची खाद्य समग्रियों —अन्न या आलुओं से प्राप्त किया गया। स्वभावतः, ज्यों-ज्यों उत्पादन बढ़ता गया, त्यों-त्यों यह समस्या उठती गयी कि खाद्य कच्चे माल (जिसकी यों भी कमी थी) के स्थान पर ऐसा कच्चा माल प्रयुक्त हो जो भोजन के रूप में काम नहीं आता।

पहले पहल आलुओं और अन्न का स्थान लकड़ी ने ग्रहण किया। गन्धकाम्ल के क्रियान्तर्गत, इस सूक्ष्म कोष्ठकों में पानी का मिश्रण हो जाता है और वह ग्लूकोज में परिवर्तित हो जाता है, और ग्लकोज से अन्ततः मद्यसार प्राप्त किया जाता है। इस तरीके से एक टन लकड़ी के बुरादे से २०० किलोग्राम तक मद्यसार प्राप्त किया जा सकता है।

इस प्रकार आलुओं तथा अन्न की जगह लकड़ी का बुरादा कच्चा माल बन गया। यह सब बहुत अच्छा था, लेकिन रसायनशास्त्रियों ने मद्यसार प्राप्त करने का एक और भी सुविधापूर्ण तरीका ढूंढ़ लिया: अर्थात् पेट्रोलियम से जो कि सबसे सस्ता कच्चा माल है। एक टन मद्यसार प्राप्त करने के लिए १२ टन आलू या ९ टन लकड़ी इस्तेमाल करनी पड़ती थी, लेकिन मद्यसार की यही मात्रा ०·७ टन एथिलीन गैसों से या ३-३.५ टन पेट्रोलियम गैसों से भी प्राप्त की जा सकती है। एथिल मद्यसार की दशा को छोड़ते हुए ब्यूटेडीन को सीधे पेट्रोलियम गैसों से भी प्राप्त किया जा सकता है और अन्त में, ब्यूटेडीन को इसी प्रकार कोयले तथा चूने जैसे साधारण और सुगमता से प्राप्त पदार्थ से भी प्राप्त किया जा सकता है।

किन्तु अन्तिम उत्पादन—कृत्रिम रबड़, से इसे अलग करने वाली एक और भी दशा है, अर्थात् बहुरूपता की मंजिल, जिसमें एकरूपज के लघु अणु लम्बी सह-बहुरूपज शृंखलाओं में आबद्ध हो जाते हैं।

बहुरूपकता को सामान्यता एक जलीय माध्यम में—एक घोल में सम्पन्न किया जाता है। यदि इस प्रक्रिया में दो भिन्न एकरूपज तत्काल सम्मिश्रित कर दिये जाते हैं तो नये गुणों से सम्पन्न बिलकुल नयी रबड़ प्राप्त होती है, जिन्हें सम्मिलित बहुरूपज या संक्षप में सह-बहुरूपज कहा जाता है। उदाहरणार्थ, दो एकरूपजों—ब्यूटेडीन और स्टाइरीन—की एक घोल में सम्मिलित बहुरूपता, ब्यूटेडीन-स्टाइरीन रबड़ प्रदान करती है। ब्यूटेडीन और स्टाइरीन के अनुपातों में परिवर्तन करके सह-बहुरूपज के गुणों में भी परिवर्तन किया जा सकता है। जब अंगभूत भागों का अनुपात ब्यूटेडीन ७० प्रतिशत और स्टाइरीन ३० प्रतिशत होता है तो सह-बहुरूपज रबड़ के समान होता है। विपरीत अनुपात में, उत्पादन प्लास्टिक से अधिक मिलता है।

ब्यूटेडीन आरम्भिक कृत्रिम रबड़ों में से एक है। यह और इसके सह-बहुरूपज दुनिया भर में निर्मित विभिन्न प्रकार की रबड़ों के लगभग ९० प्रतिशत हैं, और विश्व के कुल रबड़ उत्पादन का ८० प्रतिशत अंश ब्यूटेडीन-स्टाइरीन सह-बहुरूपज, संक्षेप में एस० के० एस० के रूप में है।

इसका कारण यह है कि **एस० के० एस०** और **एस० के० बी०** से निर्मित चीजें अच्छी सेवायें देती हैं। **एस० के० एस०** एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तकनीकी समस्या के हल में, अर्थात पूर्णतया कृत्रिम रबड़ से ही लारी के टायर बनाने में, सहायक हुआ है। एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कार्यक्षमता में ये टायर उन टायरों से किसी भी तरह कम नहीं होते जिनमें ४५ प्रतिशत तक प्राकृतिक रबड़ होती है।

कृत्रिम आइसोप्रीन रबड़

कुछ वर्षों में प्राकृतिक रबड़ के ही समरूप—कृत्रिम आइसोप्रीन रबड़—एस० के० एस० के बाद सबसे अधिक उत्पादित कृत्रिम रबड़ हो जायगी। प्राकृतिक रबड़ आइसोप्रीन का ही एकरूपज है, और इसलिए स्वभावतः ही इस बात का काफी प्रलोभन रहा है कि इस प्राकृतिक एकरूपज को कृत्रिम रूप से तैयार किया जा सके। पिछले कुछ वर्षों में अनुसंधानकर्ताओं के प्रयास सफल हुए हैं: वे **थिअम** (धातुओं में सबसे हलकी) उत्प्रेरकों की उपस्थिति में आइसोप्रीन से कृत्रिम रूप से एक ऐसा एकरूपज तैयार करने में सफल हो गये हैं, जो अपने लोचशील गुणों तथा टिकाऊपन में प्राकृतिक रबड़ से लगभग पूर्णतया समान है। आइसोप्रीन का संश्लेषण प्रकृति के साथ अपनी प्रतियोगिता में रसायन विज्ञान की एक महान् सफलता है।

कृत्रिम आइसोप्रीन रबड़ सभी जगहों पर प्राकृतिक रबड़ का स्थान ग्रहण कर लेगी—व्यवहारिक परीक्षणों ने दिखलाया है कि कृत्रिम आइसोप्रीन रबड़ से बने टायर १०० प्रतिशत रबड़ से बने टायरों से किसी प्रकार भी हीन नहीं होते।

नायराइट

भविष्य की तीसरी रबड़ होगी नायराइट—जो क्लोरोप्रीन की बहुरूपता का एक उत्पादन है, क्लोरोप्रीन एक मिश्रण है जो एक द्विविनिल कण में एक उद्जन परमाणु के लिए क्लोरीन के प्रतिस्थापन से प्राप्त किया जाता है। ऐसा प्रकट होता है कि प्रारम्भिक पदार्थ, एकरूपज, की रचना में हलका सा परिवर्तन इसके बहुरूपज उत्पादन क्लोरोप्रीन रबड़ के गुणों को स्पष्ट रूप से बदल देता है। यह रबड़ केवल लोचशील ही नहीं होती, यह केवल अत्यधिक मजबूत, रगड़-प्रतिरोधक और 'शाक-प्रूफ' की भारी क्षमता से ही सम्पन्न नहीं होती। मुख्य बात यह है कि इसमें प्रकाश, हवा में वर्तमान ओजोन, तेल और ईंधन के विनाशकारी या क्षयकारी प्रभावों एवं क्रियाओं का प्रतिरोध करने की अत्यधिक क्षमता है, और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह रबड़ अदाह्य या अप्रज्वलनशील है।

क्लोरोप्रीन रबड़ों का व्यापक प्रयोग इंजन-चालन पेटियों, कनवेयर पेटियों और केबिल उद्योग में विसंवाही या असंचारी पदार्थों के निर्माण के लिए किया जाता है। विद्युत् तारों के रक्षात्मक आवरण के लिए ६ किलोग्राम सीसे का स्थान एक किलोग्राम नायराइट द्वारा आसानी से ग्रहण किया जा सकता है।

ब्यूटिल रबड़

और अन्त में, विशाल पैमाने पर उत्पादित निकट भविष्य की कृत्रिम रबड़ों में सबसे अन्तिम होगी ब्यूटिल रबड़। यह उत्पादन आइसोब्यूटिलीन और लघु मात्रा में आइसोप्रीन के सम्मिलित बहुरूपजीकरण के समय प्राप्त होता है। इसका मुख्य विशिष्ट गुण इसका गैसटाइट होना है। अतः इसे मोटर-टायरों की अन्दरूनी ट्यूबों, ट्यूबरहित टायरों की हवा रोकने वाली लाइनिंग, और रबड़ के ऐसे अन्य सामानों के बनाने में इस्तेमाल किया जा सकता है जिन्हें गैसटाइट होने चाहिए।

[पृष्ठ २९ का शेषांश]

उनके शोषण पर भी काम किया। द्रव के प्रवाह का भी सैद्धान्तिक अध्ययन किया। उन्होंने लंदन की जलपूर्ति समस्या पर एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया। उन्होंने बन्दूकों के ढालने की क्रिया पर भी शोध की। भीमकाय मकानों में वायु-प्रवाह की समस्या भी उन्होंने जाँची। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्री ग्राहम को विभिन्न समयों पर भिन्न-भिन्न दिशा में काम करने पड़े जिन्हें उन्होंने दक्षता पूर्वक किया। वे सदैव शिक्षा और विद्वत्ता के धनी रहे। वे उसे व्यापारिक रूप देकर अर्थलाभ कर सकते थे, पर इससे उन्हें वह गौरव न मिलता, जो उन्हें अपने जीवन में मिला। उनके शोधकार्यों के कारण न केवल ब्रिटेन के विश्वविद्यालयों ने ही उन्हें सम्मानित उपाधियाँ प्रदान कीं, अपितु विदेश के कई विश्वविद्यालयों से भी ऐसी ही उपाधियाँ प्राप्त करने का उन्हें गौरव प्राप्त है।

ग्लास्गो,
ग्रेट ब्रिटेन।

१. अमेरिकी मौसम परिषद

अमेरिकी मौसम परिषद की ओर से शीघ्र ही अमेरिका के ८ बड़े क्षेत्रों में कृषि के लाभार्थ नवीन मौसम सेवाओं की व्यवस्था की जायेगी। मौसम परिषद के प्रधान, डा० एफ० डब्ल्यू० रीशेलडर्फर, ने बताया कि नवीन कार्यक्रम के अन्तर्गत, प्रत्येक क्षेत्र में प्रसारित एक टेलिटाइपराइटर सरकिट द्वारा समय-समय पर मौसम सम्बन्धी अनुकूल भविष्य-वाणियाँ प्रदान की जायेंगी। टेलिटाइपराइटर संजाल द्वारा स्थानीय रेडियो और टेलिविजन केन्द्रों तथा कृषि विषयक पत्र-पत्रिकाओं को सम्बद्ध कर दिया जायेगा। मौसम सम्बन्धी इन भविष्यवाणियों की सहायता से किसान फसल बोने, निराने, काटने तथा कृषि विषयक अन्य कार्य करने के लिए सर्वश्रेष्ठ समय का चुनाव कर सकेंगे।

प्रतिदिन की जाने वाली तीन विशेष भविष्य-वाणियों और तीन बार प्रसारित मौसम सम्बन्धी संक्षिप्त समाचारों के अतिरिक्त, टेलिप्रिण्टर संजाल ५ दिन और ३० दिन पहले मौसम विषयक समीक्षाएँ भी प्रदान करेगा।

इस कार्यक्रम का प्रथम चरण मिसिसिपी के डेल्टा-क्षेत्र में फसली मौसम समाप्त होने के पूर्व, अक्टूबर में प्रारम्भ हो जायेगा। इस दिशा में एक अग्रगामी योजना अक्टूबर, १९५८ में प्रारम्भ हुई थी, जिसे विस्तृत करके उसके अंचल में दक्षिणी और पूर्वी अरकंसास, पश्चिमी टेनेसी, दक्षिणी-पूर्वी मिसौरी तथा उत्तरी-पूर्वी मिसिसिपी क्षेत्रों को भी ला दिया गया है। मिसिसिपी डेल्टा अग्रगामी योजना के फलस्वरूप, इस क्षेत्र के किसानों को करोड़ों डालर की बचत हुई है।

१९६२ के बसन्त तक, इस कार्यक्रम को विस्तृत करके, उसके अंचल में सात अन्य क्षेत्रों—निचली रायोग्रैण्ड घाटी; दक्षिण-पश्चिमी ज्यार्जिया, दक्षिण-पूर्वी अलाबामा तथा मध्य उत्तर-पश्चिमी फ्लोरिडा के बीच वाला क्षेत्र; पश्चिमी और मध्य मेरीलैण्ड; दक्षिणी-मध्य पैन्सिल्वेनिया; उत्तरी वर्जिनिया के बीच के क्षेत्र; ओरेगान तथा दक्षिणी इडाहो—को भी शामिल कर लिया जायगा।

मौसम परिषद द्वारा स्थापित होने वाले मौसम-पर्यवेक्षण केन्द्र फसली मौसम के दौरान प्रतिदिन भविष्यवाणी करने वाले केन्द्रों को मौसम विषयक सूचना देते रहेंगे।

उन स्थानों पर, जहाँ हवाई जहाजों द्वारा फसलों पर धूल उड़ाई जाती है, जैसे मिसिसिपी के डेल्टा क्षेत्र में, कृषि सम्बन्धी विशेष वैज्ञानिक भविष्यवाणी की व्यवस्था की जायेगी।

इस नवीन सेवा की प्रमुख विशेषता यह है कि इसके अन्तर्गत किसानों, कृषि वैज्ञानिकों, विस्तार कार्यकर्त्ताओं, मौसम वैज्ञानिकों तथा मौसम भविष्य-वक्ताओं के बीच एक प्रकार का सम्पर्क स्थापित होगा। इस सहयोग द्वारा मौसम भविष्यवक्ता यह जानने में समर्थ होंगे कि किसी विशेष समय पर किसानों के लिये मौसम सम्बन्धी कौन सी सूचना सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी। साथ ही, कृषि विशेषज्ञ ऋतु विज्ञान के विस्तृत उपयोग से अधिक परिचित हो जायेंगे। विशेष प्रशिक्षण कार्यक्रमों के फलस्वरूप

किसान भी यह जान जायेंगे कि वे मौसम विषयक सूचना का समुचित सदुपयोग किस प्रकार कर सकते हैं।

२. फुएल सेल से भविष्य में बिजली

फुएल सेल एक नये प्रकार की बैटरी है, जो रासायनिक घोलों को सीधे बिजली में परिवर्तित कर सकती है। आशा है कि यह अणुशक्ति की क्रान्तिकारी क्षमता के साथ गहरी प्रतियोगिता कर सकती है।

फुएल सेल उन क्षेत्रों के लिए विशेष रूप से सम्भाव्यतापूर्ण है, जिनमें बिजली की कमी है। फुएल सेल के निर्माणकारी तत्व—रासायनिक घोल, विषाणु और समुद्र का खारा पानी—विश्व भर में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं।

अभी हाल में वाशिंगटन से एक ऐसे प्रयोगात्मक फुएल सेल का प्रदर्शन किया गया, जो १५ मील से अधिक दूरी तक रेडियो संकेत भेज सकता है। इस की बिजली ऐसे अहानिकारक जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न होती है, जो खारे पानी से और चीनी से युक्त ७ इंच लम्बे ट्यूब में बन्द होकर पलते हैं।

यह उपकरण एक वर्ष पूर्व अमेरिकी आन्तरिक विभाग के डा० फ्रेडरिक डी० सीसलर द्वारा संचालित अनुसंधान का परिणाम है। उन्होंने देखा कि समुद्री कीचड़ में लगाये गये इलेक्ट्रोड, तले की कीचड़ के नीचे विद्यमान सूक्ष्म जीवाणुओं से बिजली की शक्ति प्राप्त करते हैं। वैज्ञानिकों का कहना है कि गन्दगी कीचड़ आदि में, पाये जाने वाले कीटाणुओं से साधारण रासायनिक घोलों द्वारा उत्पन्न बिजली से, अन्ततः, शहरों की बिजली सम्बन्धी सभी आवश्यकताएँ उस लागत से कम लागत पर पूरी की जा सकेंगी, जो परम्परागत साधनों और आणविक प्रतिक्रियावाहकों से उत्पन्न बिजली के सम्बन्ध में पड़ती है। उससे धातुओं को प्राप्त करने, सौर ऊर्जा को बिजली में परिणत करने और पानी को पेय जल में परिवर्तित करने तथा अन्तरिक्ष यानों में उड़ने वाले हवाबाजों के लिए पानी और आक्सीजन उत्पन्न करने में भी सहायता मिल सकती है। साथ ही वायुमण्डल के नाइट्रोजन तथा समुद्र के फासफोरस को खाद्य पदार्थ तथा उर्वरक जैसे उपयोगी पदार्थों में परिणत करने में भी इससे सहायता मिलेगी।

३. सोवियत संघ ने एक और स्पुतनिक छोड़ा

सोवियत संघ में १६ मार्च १९६२ को पृथ्वी का एक और कृत्रिम उपग्रह सफलतापूर्वक छोड़ा गया। आरम्भिक अनुमानों के अनुसार इस स्पुतनिक की परिक्रमा कक्षा की पृथ्वी से अधिकतम दूरी ९८० किलोमीटर की है और लघुतम दूरी २१७ किलोमीटर की। पृथ्वी के चतुर्दिक स्पुतनिक की परिक्रमा का समय ९६. ३५ मिनट है। भूमध्य रेखाई समतल से इसके कक्षाई समतल का कोण ४९ अंश है।

इस स्पुतनिक के अन्दर वैज्ञानिक यंत्र हैं, यह एक रेडियो टेलीमापीय व्यवस्था और एक ट्रांसमीटर से लैस है जो २०·००३ तथा ९०·०१८ मैगासाइकिलों पर सन्देश प्रसारित करता है।

इस कृत्रिम उपग्रह का छोड़ा जाना, वातावरण की ऊपरी परतों और बाह्य अवकाश के अध्ययन के चालू कार्यक्रम की ही एक अगली कड़ी है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत १९६२ के दौरान सोवियत संघ के विभिन्न अन्तरिक्ष उड़ान केन्द्रों से अनेक कृत्रिम उपग्रह छोड़े जाएँगे।

१. अपनी बात :

"विज्ञान" के पाठकों को भलीभाँति ज्ञात है कि पिछले एक वर्ष से हमने विज्ञान पत्रिका से पृष्ठों में वृद्धि की थी परन्तु उसके वार्षिक मूल्य में कोई परिवर्तन नहीं किया गया था। इस प्रयोग के फलस्वरूप विगत वर्ष विज्ञान परिषद को अधिक कागज, छपाई एवं अन्य व्यय करने पड़े। यही नहीं लेखकों को पारिश्रमिक दिये जाने की जो नवीन व्यवस्था चालू की गई उसमें भी प्रचुर व्यय हुआ। इन सब कारणों से "विज्ञान" पर खर्च की जाने वाली राशि प्रायः दुगुनी हो गई। कागज की मँहगाई तथा मोनोटाइप में छपाने के कारण बढ़ी हुई छपाई की दरें—ये भी कारण उसी दिशा में गिने जाने चाहिए।

आर्थिक संकटों के ही कारण वाध्य हो कर हमें अब "विज्ञान" की पृष्ठ संख्या अगले अंक से ४० से ३२ करनी पड़ रही है। इसके लिये हम पाठकों से क्षमा चाहेंगे।

ग्राहकों से निवेदन है कि वे अपना अपना वार्षिक शुल्क यथासमय भेज दें अन्यथा वाध्य होकर हमें उनके नाम काट देने पड़ेंगे।

लेखकों से निवेदन है कि वे अपनी अमूल्य रचनायें इस पत्रिका में प्रकाशनार्थ भेजते रहें। यथाशक्ति उन्हें पारिश्रमिक दिये जाने की व्यवस्था की जावेगी। साथ ही साथ अनुरोध है कि वे अपनी मौलिक रचनायें ही प्रकाशनार्थ भेजें। दूसरे पत्र-पत्रिकाओं में छपी रचनाओं को कोई स्थान नहीं दिया जावेगा। रचनाओं के साथ आवश्यक चित्र भी भेजे जाने चाहिये। ऐसा होने से लेखों का मूल्य बढ़ जाता है और वे पाठकों के लिये सुबोध हो हो जाते हैं।

२. कानूनी परीक्षाओं में हिन्दी का प्रयोग :

प्रयाग विश्वविद्यालय की कार्यकारिणी समिति ने सर्वसम्मत से यह प्रस्ताव पारित किया है अगले वर्ष से कानून की परीक्षाओं में सम्मिलित होने वाले विद्यार्थी प्रश्न- पत्रों के उत्तर हिन्दी में लिख सकेंगे। ऐसा करने का मुख्य उद्देश्य है हिन्दी को प्रोत्साहन देना और विश्वविद्यालय की अधिकाधिक परीक्षाओं में उसे मान्यता प्रदान करना।

सचमुच यह प्रसन्नता की बात है परन्तु इसके पूर्व कि विद्यार्थी हिन्दी में उत्तर लिखना प्रारम्भ करें आवश्यक होगा कि कानूनी पुस्तकें हिन्दी में लिखी जायें या अनूदित हों। ऐसा न होने से विद्यार्थी आधी हिन्दी और आधी अंग्रेजी लिखेंगे। ऐसी खिचड़ी शैली के द्वारा हिन्दी का हित न होकर अहित होगा।

दूसरी बात यह है कि केवल प्रस्ताव के स्वीकृत हो जाने से हिन्दी को मान्यता नहीं मिल जावेगी। कानून के अध्यापकों के लिये यह आवश्यक कर दिया जाय कि वे हिन्दी में ही पढ़ाने का कार्य करें।

३. अमेरिका द्वारा नाभिकीय परीक्षण

२५ अप्रैल से संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने नाभिकीय परीक्षणों की नवीन योजना प्रारम्भ कर दी है जिसके अन्तर्गत अब तक कई परीक्षण हो चुके हैं।

यहीं नहीं, निकट भविष्य में इन परीक्षणों के बन्द होने की कोई सम्भावना भी नहीं है।

ऐसे सन्धिकाल में, जब रूस तथा अमेरिका-इन दो राष्ट्रों के मध्य शान्ति वार्ता चल रही थी, अचानक ही अमरिका द्वारा नाभिकीय परीक्षणों की पुनरावृति ने न केवल शान्ति वार्ता की सफलता को अनिश्चित बना दिया है वरन् समस्त विश्व के समक्ष मानव संहार की विभीषिका को पुनः ताजा कर दिया है। सभी लोग सशंकित हो उठे हैं और उनमें अविश्वास भर गया है कि हो न हो अमेरिका द्वारा नृसंहार का ताण्डव प्रारम्भ ही होने वाला है।

इन दो राष्ट्रों के बीच बहुत काल से चली आती प्रतिस्पर्धा के कारण सम्पूर्ण विश्व की शान्ति खतरे में है, यह कितना बड़ी विडम्बना है। आधुनिक पारमाणविक युग में ऐसी होड किसी प्रगति की सूचिका न होकर उसकी अधोगति को प्रदर्शित करती है। भारत शान्तिप्रिय देश है अतः उसके समस्त निवासियों द्वारा ऐसे परीक्षणों का जो जनता एवं उसकी शान्ति को भंग करने वाले हों, विरोध, स्वाभाविक है।

भाग ९५
संख्या २-३
२०१९ वि०
ई-जून '६२

ज्ञान
रिषद्
याग
का
/
ुख
पत्र

ंक ४० न० पै०
क ४ रुपये

विज्ञान

पृष्ठ

सम्पादक—डा० शिवगोपाल मिश्र

विज्ञान परिषद्, प्रयाग

विज्ञान

विज्ञान परिषद् प्रयाग का प्रमुख-पत्र

विज्ञान ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
विज्ञान जानेतानि जीवन्ति विज्ञान प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तै० उ० ।३।५।

भाग ६५ | चैत्र २०१६ विक्र०, १८८४ शक
मई-जून १९६२ ई० | संख्या २-३

अन्तरिक्ष अभियान की समस्याएँ

वाहन का चुनाव

अशोक शर्मा तथा विजेन्द्र पाल सिंह सैंगर

यात्रा के गन्तव्य निर्धारण के पश्चात् दूसरी प्रमुख समस्या वाहन का चुनाव ही है। वाहन के चुनाव के लिये मार्ग के प्रकार तथा प्राप्य वाहनों की क्रिया-पद्धति पर विचार करना आवश्यक है; इसीके आधार पर उपयुक्त वाहन का चुनाव सम्भव है। यह आश्चर्य नहीं कि प्रचलित वाहन अन्तरिक्ष-यात्रा के लिये सर्वथा अनुपयुक्त सिद्ध हों। यह स्पष्ट है कि इस यात्रा का प्रारम्भिक मार्ग पृथ्वी के वायु-मंडल में से ही होकर है अतः हमको पृथ्वी के वायु-मंडल तथा उसके निकटतम अन्तरिक्ष की अवस्था का ज्ञान आवश्यक है। वर्तमान शताब्दी के पूर्वार्द्ध में की गई खोजों के फलस्वरूप इस सम्बन्ध में काफ़ी जानकारी प्राप्त कर ली गई है—जैसे कि वायु-मंडल की ऊँचाई के साथ उसका घनत्व, ताप, दबाव तथा रासायनिक विन्यास का परिवर्तन इत्यादि। पिछले दस वर्षों में राकेट-प्रयोगों के आधार पर तथा हाल ही में उप-ग्रहों से प्राप्त सूचनाओं के द्वारा इन जानकारियों को प्रामाणिक रूप दिया जा चुका है। सारणी १ में इस प्रकार की सूचनायें संग्रहीत है।

उपरोक्त सारणी से हमको मार्ग के प्रारम्भिक प्रकार का अनुमान हो सकता है। अब हम प्रचलित वाहनों के क्रिया-सिद्धान्तों के आधार पर उनके उपरोक्त प्रकार के मार्ग की यात्रा की उपयोगिता पर विचार करेंगे।

यदि हम प्रचलित वाहनों की क्रिया-पद्धति पर ध्यान दें तो यह पाते हैं कि उनकी गति किसी न किसी प्रकार की प्रतिक्रिया पर निर्भर करती है। वाहन का शक्ति-स्रोत किसी नैसर्गिक अवरोध के विरुद्ध क्रिया करता है तथा उसी की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वाहन गतिशील होता है। उदाहरण के लिये, सरलतम जलयान नाव को ही ले सकते हैं। इसको कई प्रकार से चलाया जा सकता है, जैसे बल्ली के सहारे अथवा पतवार से। नाव को बल्ली से ढकेलने में नाविक पृथ्वी तल के विरुद्ध क्रिया करता है, जिसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप नाव गतिशील होती है। खेते समय प्रारम्भिक क्रिया

जल के अवरोध के विरुद्ध की जाती है और उसी की प्रतिक्रिया नाव को गति प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त नाव को खेने की एक और अनोखी निम्न विधि हो सकती है। इस विधि के अनुसार हम नाव में बहुत से पत्थर के टुकड़े भर लें तथा उनको एक-एक कर जोर से फेंके तो भी नाव चल सकती है। नाव की गति की दिशा पत्थर फेंकने की दिशा के विरुद्ध होगी। इस प्रकार का अनुभव नाव से उतरते समय सभी को हुआ होगा; क्योंकि जब भी कोई नाव से किनारे पर कूदता है तो नाव पीछे की ओर खिसक जाती है। इस विधि में प्रारम्भिक क्रिया रोड़ों की अवस्थिति के विरुद्ध उनको गति देने में की जाती है जिसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप नाव विरुद्ध दिशा में चलने लगती है। इस प्रकार से सभी वाहनों की क्रिया प्रणालियों का विश्लेषण किया जा सकता है। चूँकि अन्तरिक्ष यात्रा का प्रारम्भिक मार्ग वायु-मंडल में ही होकर है, इसलिये हम वायुयानों की किया प्रणाली का विशेष रूप से विश्लेषण करेंगे।

वायुयानों के प्रारम्भिक रूप में उनके मुखाग्र पर पंखे होते थे। वायुयान की गति इन पंखों की गति पर ही निर्भर करती है। यान की मोटरें इन पंखों को चलाती हैं। इन पंखों की पत्तियाँ इस प्रकार की बनी होती हैं कि वे वायु को नीचे तथा पीछे की ओर फेकें, जिसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वायुयान ऊपर की ओर उठते तथा आगे की ओर बढ़ते हैं। न्यूटन के गतीय नियमों के अनुसार प्रतिक्रिया का परिमाण क्रिया के बराबर परन्तु विरुद्ध दिशा में होता है। अतः वायु की प्रतिक्रिया जो कि वायुयान को गति देती है प्रारम्भिक क्रिया पर निर्भर करेगी। इन यानों के पंखे वायु-अवरोध के विरुद्ध घूमने में प्रारम्भिक क्रिया करते हैं, जिसका कि परिमाण वायु के घनत्व पर निर्भर करता है। वायु की सघनत जितनी ही अधिक होगी, प्रारम्भिक क्रिया का परिमाण भी उतना ही अधिक होगा। यदि वायु अधिक विरल हो तो यह भी सम्भव हो सकता है कि प्रारम्भिक क्रिया का परिमाण इतना कम हो जावे कि वह वायु के घर्षण अवरोध के विरुद्ध यान को गति देने में तथा गुरुत्वाकर्षण के विरुद्ध उसके भार को भी सँभालने में असमर्थ हो। अतः इतने विरल वायु-मंडल में इस विधि से चलने वाला वायुयान गतिशील नहीं हो सकता। गतिकी के नियमों के आधार पर वायुयान की गति के लिये आवश्यक न्यूनतम वायु-घनत्व को ज्ञात किया जा समता है।

सारणी १ से यह भी स्पष्ट है कि वायु का घनत्व वायुमंडल की ऊँचाई के साथ-साथ कम होता जाता है। यही कारण है कि इस प्रकार के वायुयान पृथ्वी से एक निश्चित ऊँचाई से ऊपर नहीं जा सकते। अतः उपरोक्त सिद्धान्त पर कार्य करने वाले यान अन्तरिक्ष अभियान के लिये सर्वथा अनुपयुक्त हैं।

आधुनिक वायुयानों में उपरोक्त प्रकार के पंखे नहीं होते हैं तथा इनकी क्रिया का सिद्धान्त भी पहले प्रकार के वायुयानों से भिन्न होता है। जेट इंजनों में ईंधन को जलाने से ऊँचे ताप (२५००° A) पर गैसें प्राप्त की जाती हैं, जो छोटी-छोटी नलिकाओं द्वारा तेजी से यान के पीछे तथा नीचे की ओर निकलती हैं। इसी की प्रतिक्रिया वायुयान को गति देती है। ईंधन को जलाने के लिये आवश्यक आक्सीजन वायु मंडल से प्राप्त होती रहती है। इस विधि में प्रारम्भिक क्रिया का परिमाण ईंधन के जलने की दर पर निर्भर करता है। जेट इंजन में ईंधन के जलने की दर को ईंधन प्रवेश की दर के अनुसार नियंत्रित किया जा सकता है, परन्तु वायु-मंडल से प्राप्य ऑक्सीजन का परिमाण

वायु-मंडल के घनत्व पर ही निर्भर करता है। वायुयान की गति के लिये आवश्यक न्यूनतम वायु-मंडलीय घनत्व का अनुमान जेट इंजनों के क्रिया सिद्धान्तों के आधार पर किया जा सकता है। अतः ये वायुयान वायु-मंडल के केवल उतनी ही ऊँचाई तक जा सकते हैं जहाँ तक वायु-मंडल का घनत्व उपरोक्त न्यूनतम घनत्व के बराबर हो। क्योंकि जेट विमानों के लिये आवश्यक न्यूनतम घनत्व पुराने प्रकार के वायुयानों से कम होता है यही कारण है कि ये अधिक ऊँचाई तक उड़ सकते हैं। फिर भी इनकी गति के लिये वायु-मंडल आवश्यक है, अतः इस सिद्धान्त पर आधारित यान भी अन्तरिक्ष यात्रा के लिये अनुपयुक्त ही हैं। नाव के उदाहरण से यदि उपरोक्त दोनों प्रकार के वायुयानों की क्रिया-पद्धति की तुलना करें तो उनमें हम कुछ साम्य पायेंगे।

प्रारम्भिक प्रकार के वायुयान का पंखा नाव के पतवारों के समान है जो कि वायु-समुद्र में यान को खेकर गति प्रदान करता है। दूसरी ओर जेट-विमानों से निकलने वाली गैस नाव से फेंके गये रोड़ों के समान है जिसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वायुयान चलता है।

यद्यपि जेट विमान प्राचीन प्रकार के विमानों से अधिक ऊँचाई तक उड़ सकते हैं तथापि अत्यधिक ऊँचाई पर ऑक्सीजन की कमी के कारण लगभग २० किलोमीटर से अधिक ऊँचाई पर उड़ने में असमर्थ हैं। यदि ईंधन के साथ-साथ जेट इंजनों में ऑक्सीजन या अन्य कोई ऑक्सीकारक भी हो तो इस प्रकार के विमान उपरोक्त सिद्धान्त के अनुसार कितनी भी ऊँचाई तक ले जाये जा सकते हैं। जेट इंजन के इस परिवर्धित रूप को ही राकेट-इंजन कहते हैं। उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि राकेट इंजनों द्वारा संचालित यान ही अन्तरिक्ष अभियान के लिये उपयुक्त साधन है।

प्रज्वलन कक्ष में ऑक्सीकारक तथा ईंधन को पम्प के द्वारा तेजी से भेजते हैं। ऑक्सीकारक की उपस्थिति में जब ईंधन जलता है तो उससे ३०००° से० ताप पर गैसें उत्पन्न होती हैं। यह ताप आक्सीकारक तथा ईंधन के प्रकार पर निर्भर करता है। इतने अधिक ताप पर उत्पन्न हुई गैसें तीव्र वेग से राकेट मोटर के मुँह से निकलती हैं। इन गैसों के परमाणु भार ज्ञात होने पर निकलने वाली गैस का संवेग ज्ञात किया जाता है। यही संवेग गैसों के विरुद्ध दिशा में राकेट को गतिशील बनाता है। अतः राकेट की वेग वृद्धि ईंधन के जलने की दर पर निर्भर करती है।

राकेट की वेग-वृद्धि ज्ञात करने के लिये संवेग अविनाशिता के सिद्धान्त को प्रयोग में लाना होगा। यह मान लेते हैं कि राकेट के पिछले भाग से गैसें राकेट के सापेक्ष V वेग से निकलती हैं।

अतः यदि dt समय में ईंधन तथा ऑक्सीकारक की dm मात्रा जलाते हैं तो उनकी ज्वलित गैसें इसी वेग V से बाहर निकलती हैं। dt समय के प्रारम्भ में यदि राकेट का वेग V तथा ईंधन सहित राकेट का भार M हो तो सम्पूर्ण राकेट का संवेग MV होगा। यदि dt समय से पहले जले हुये ईंधन की मात्रा m हो तो dt समय के अन्त में राकेट का निम्न संवेग होता है।

$$(M - dm)(V + dv)$$

जबकि dv, dt समय में राकेट के वेग V में वृद्धि है। इसी समय में जले हुये ईंधन का संवेग परिवर्तन $(V - v)\, dm$ होगा।

संवेग-अविनाशिता के सिद्धान्त के अनुसार राकेट तथा ज्वलित गैसों का संवेग अपरिवर्तित रहना चाहिये, अर्थात्

$$MV = (M - dm)(V + dv) + (V - v)dm$$

इससे निम्न समीकरण प्राप्त होता है;

$$vdm = Mdv - dm\, dv$$

इसको dt से विभाजित करने पर तथा dm को M की तुलना में उपेक्षणीय मानने हम निम्न समीकरण पाते हैं :—

$$M \frac{dv}{dt} = \frac{dm.}{dt} v \ldots\ldots\ldots\ldots (१)$$

इससे dt समय में उत्पन्न राकेट की वेग वृद्धि ज्ञात हो जाती है। राकेट का सम्पूर्ण भार M ईंधन के जलने साथ साथ कम होता जाता है। यदि dt समय में ईंधन के जलने की मात्रा dm हो तथा राकेट के भार में कमी dM हो तो दोनों में निम्न सम्बन्ध होता है :—

$$dm = -dM,$$

अर्थात् $\frac{dm}{dt} = -\frac{dM}{dt}$ ....(२)

समीकरण (२) से $\frac{dm}{dt}$ के मान को समी० (१) में स्थानापन्न करने पर हम निम्न पदसंहति पाते हैं :—

$$M. \frac{dV}{dt} = -\frac{dM}{dt}. v$$

$$\text{या} \quad dV = -v. \frac{dM}{M}$$

यदि प्रारम्भ में राकेट तथा ईंधन का सम्मिलित भार Mi हो तथा सम्पूर्ण ईंधन के जल जाने के बाद राकेट का भार Mf हो तथा अन्तिम वेग Vf हो तो उपरोक्त समीकरण को अवकलित करने पर निम्न समीकरण प्राप्त होगा :—

$$\int_{O}^{Vf} dV = -v \int_{Mi}^{Mf} \frac{dM}{M}$$

$$\text{अर्थात्} \quad Vf = v. \text{ लघु } \frac{Mi}{Mf}$$

उपरोक्त अवकलन में यह मान लिया गया है कि राकेट की प्रारम्भिक गति शून्य है।

उपरोक्त समीकरण* से पूरे ईंधन के जलने के उपरान्त राकेट का वेग Vf, निकलने वाले गैस परमाणुओं के वेग v, तथा राकेट के भार अनुपात $\frac{Mi}{Mf}$ पर निर्भर करता है। v का परिमाण प्रज्वलित गैसों के परमाणु भार तथा प्रज्वलन कक्ष के ताप से निकाला जा सकता है। विभिन्न ईंधनों के लिये प्रज्वलन कक्ष का ताप, प्रज्वलित गैसों का औसत अणुभार तथा इनका निकास-वेग सारणी २ में प्रदर्शित किया गया है।

यह स्मरण रखना चाहिये कि निकास वेग मैक्सवैल बोल्ट्ज़मान नियम के औसत तापीय वेग के सूत्र द्वारा निकाले जाते हैं।

राकेट का भार-अनुपात उसकी रचना प्रकार पर निर्भर करता है। अतः राकेट की रचना का प्रकार तथा ईंधन का चुनाव इस बात को ध्यान में रख कर किया जाता है कि इस अभियान के लिये राकेट के कितने वेग की आवश्यकता है तथा पार्थिव वायु मंडल में इतने वेग से चलने वाले यान को किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा।

---

* उपरोक्त व्युत्पन्न में निम्न प्रभावों की जिनका कि परिमाण बहुत कम होता है, उपेक्षा की गई है।

प्रज्वलन कक्ष की गैसों का विकास-वेग v मान लिया गया है, जबकि उनके परमाणुओं की गति मैक्सवैल-वोल्ट्ज़मान नियम के अनुसार भिन्न-भिन्न होगी

सारणी १

	समुद्र तल से ऊँचाई	ताप (u=28·166°k`	दबाव लघु १० डायन/सें०मी०^{2}	घनत्व लघु १० (ग्राम/सें०मी०^{2}
१.	१·२१६	२६१.०	५·६५४	— २·६७७
२.	२०	२१२·८	४·७५५	— ४·०३०
३.	४०	२६२·५	३·४६७	— ५·३८०
४.	६०	२५२·८	२·४०४	— ६·४५७
५.	८०	२०५·०	१·०६४	— ७·६७६
६·	१००	२४०·०	—०·२२७	— ६·०६५
७.	१२०	३३०·६	—१·२७३	—१०·२४६
८.	१४०	४४७·०	—२·००६	—११·११६
६.	१६०	५६०·०	—२·५७४	—११·७८१
१०.	१८०	६७६·६	—३·०३०	—१२·३१८
११.	२००	७६२·५	—३·४११	—१२·७६८
१२.	२२०	६०६·६	—३·७३८	—१३·१५४

सारणी २

नोदक	(°सें०)	m	ve कि० मी०/सें०
हाइड्रोजन परॉक्साइड एक नोदक	६००	२२	१·२५
विशेष ठोस नोदक	२५००	२२	२·२५
नाइट्रिक अम्ल/एनिलीन	२७००	२४	२·५
द्रव ऑक्सीजन/पैट्रोल	३०००	२३	२·७५
द्रव ऑक्सीजन/द्रव हाइड्रोजन	२५००	६	३·७५
द्रव फ्लोरीन/द्रव हाइड्रोजन	३६००	१२	४·००
एक परमाणुक हाइड्रोजन	४७००	१·६	११·००

विज्ञान की न्यूनताएँ

मनमोहन लाल बाला

विज्ञान की न्यूनताओं पर लिखने से पूर्व ही मैं यह बता देना चाहता हूँ कि मैं एक ऐसे विषय के बारे में लिखने जा रहा हूँ जो कि न्यूनताओं के रहते हुए भी, मुझे प्रिय है। यदि मुझे अपने लेख को एक उपशीर्षक देना पड़े तो वह होगा "प्रयोगशाला की कुरूप देवी।"

अपने इस लेख में मैं दो प्रश्नों का प्रतिपादन करना चाहता हूँ। एक तो यह कि क्या विज्ञान वास्तव में उस आदर के योग्य है जो उसे वैज्ञानिकों और सामान्यजनों, द्वारा समान रूप से प्राप्त है ! और दूसरा यह कि क्या विज्ञान के प्रति एक ऐसा दृष्टिकोण सम्भव नहीं है जो कुछ अधिक नियंत्रित, खरा और यथार्थ हो और जो निष्कपट रूप से विज्ञान का एक प्रतिबन्ध स्वीकार कर ले ?

ऐसा प्रश्न बहुत आश्चर्यजनक, और शायद तुच्छ भी लगे कि आखिर विज्ञान को इतना आदर क्यों प्राप्त हैं। आज हम अपने को चारों ओर से टेक्नालॉजी की निष्पत्तियों से घिरा हुआ पाते हैं और ये निष्पत्तियाँ विज्ञान ने ही सम्भव की हैं। हमारा जीवन इस शक्तिशाली सहचर से ही सहायता प्राप्त करता है। आज इस शक्तिशाली सहचरत्व से ही हम अपने आराम के लिए क्या-क्या नहीं प्राप्त करते हैं ? निश्चित रूप से अभी बहुत कमियाँ भी हैं पर यह भी निश्चित है कि विज्ञान शीघ्र ही इन्हें दूर कर देगा।

वस्तुतः, यह स्पष्ट कि यदि विज्ञान एक बार भी अज्ञान के निर्जन प्रदेश की ओर अग्रसर हो जाए तो इस बात की कोई सीमा नहीं है कि वह उस पथ पर कितनी दूर तक धावा बोल सकता है। बिना इस बात को सोचे-विचारे कि वह पथ उसे कहाँ ले जाकर छोड़ सकता है। भौतिक शास्त्र के क्षेत्र में लगातार सफलताओं का मिलना इस बात का प्रमाण है। आज हम एक आधुनिक भौतिक प्रयोगशाला में तत्वों का रूपान्तरण कर सकते हैं यथा सोने को प्लेटिनम में बदल देते हैं और द्रव्यमान (mass) को शक्ति (energy) में में परिवर्तित कर सकते हैं। इस प्रगतिशील युग में हम एक विलक्षण 'वास्तविक वस्तु' (entity) पर प्रयोग कर रहे हैं और मजे की बात यह है कि उन्हें हम मूलभूत कण (elementary prticles) कह कर पुकारते हैं। इनमें से सबसे शीघ्र लुप्त होने वाले मूलभूत कण की आयु एक सेकेन्ड के एक अरब भाग के एक लाखवें भाग के बराबर है। आज एक उच्च बहुलक (हाई पालीमर) रसायनज्ञ एक निपुण परमाणविक शिल्पकार है, परमाणुओं की सहायता से अणु बनाता है। इन और ऐसी अनेक बातों की शायद प्रकृति ने कभी कल्पना भी न की होगी।

हाँ, विज्ञान की ये विजयें वस्तुतः बहुत प्रभावशाली हैं और सम्भवतः विज्ञान की सफलता और उसके द्वारा प्राप्त गौरव और आदर का रहस्य बतला सकतीं हैं। विज्ञान का यह आदर और गौरव सम्भवतः और भी बढ़ जाता है। अथवा यों कहिए कि और भी अधिक विघ्नकारी है, जब उसकी प्रतिक्षण होने वाली सफलताएँ इस बात की ओर संकेत करती हैं कि एक दिन जीवन

सम्बन्धी अनेकों केन्द्रवर्ती और बहुमूल्य प्राकृतिक घटनाएँ भौतिक शास्त्र और रसायनिक शास्त्र के सूत्रों द्वारा ही समझा दी जा सकेंगी और स्वयं जीवन का द्रव्य भी नापा और तौला जाकर अंकित बोतलों में भरा हुआ रखा होगा।

डार्विन के सिद्धान्त के अनुसार "मनुष्य एक उन्नत और सुधरा हुआ पशु है।" आज के मशीन युग की प्रगति देखते हुए ऐसा लगता है कि वह दिन दूर नहीं हैं जब मनुष्य स्वयं एक मशीन-मात्र रह जायगा। यहाँ तक तो ठीक है कि मनुष्य एक परमाणु के नाभिक पर नियन्त्रण कर लेता है लेकिन विज्ञान के प्रति मनुष्य की उस दिन क्या भावनाएँ रहेंगी और मनुष्य अपने जीवन की व्यवस्था किस प्रकार करेगा जब एक प्राणि-शास्त्री स्वयं पित्र्यसूत्र (जीन) पर नियन्त्रण करना सीख लेगा। उस दिन सम्भवतः मनुष्य को सबसे दुर्दान्त मानसिक और नैतिक चुनौती का सामना करना पड़ेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विज्ञान सर्व शक्तिमान होता जा रहा है। विज्ञान के जन्मदाता वैज्ञानिक हैं, इसलिए सम्भवतः ये वैज्ञानिक इतने चतुर और बुद्धिमान हैं कि "वे" सब कुछ कर सकते हैं। इसलिए कदाचित् संसार को इस श्रेष्ठतम जाति (?) के हाथों में सौंप देना ही उचित हो! कदाचित् ये वैज्ञानिक मानवीय भाई-चारे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और आर्थिक स्थिरता की समस्याओं का कोई हल निकाल सकें! सम्भवतः ये वैज्ञानिक देव स्थान ही नहीं, धार्मिक श्रद्धा का निर्माण भी करा सकें? खेद की बात यह है कि कुछ वैज्ञानिक स्वयं भी इन सम्भावनाओं पर विश्वास करते हैं और उनका यह दम्भी भाव स्वभावतः ही सामाजिक शास्त्रियों, मनुष्य सेवा सिद्धान्त के अनुयायियों और नीति शास्त्रियों को उत्तेजित करता है। नीचे लिखी पंक्तियों में कवि कीट्स का ऐसे वैज्ञानिकों के प्रति स्पष्ट विरोध प्रकट होता है—

"While you and I have lips and voices which are for kissing and to sing with,

Who cares if some one-eyed son of-a-bitch invents an instrument to measure spring with"

इस प्रकार हमें अपने प्रथम प्रश्न का उत्तर मिल जाता है। निर्जीव प्रकृति के अन्तराल के शोध कार्यों में विज्ञान की सफलताओं और जीवन सम्बन्धी प्राकृतिक घटनाओं को समझने और नियन्त्रण करने में विज्ञान की प्रगति ने विज्ञान को बहुत प्रतिष्ठा और आदर प्रदान किया है। इन सफलताओं ने, जहाँ कुछ लोगों से प्रशंसा प्राप्त की, वहीं दूसरे लोगों के क्रोध, भय और विरोध के भाव भी उत्पन्न किए। सबसे खेदजनक बात यह रही कि इन सफलताओं ने वैज्ञानिकों को सामान्य जीवन से बहुत दूर हटाकर उनकी एक अलग जाति ही बना डाली और इस प्रकार वैज्ञानिक विचारों और सामान्य ज्ञान के बीच की खाईं को पाटने के स्थान पर उसे और अधिक विस्तृत कर दिया।

अपने दूसरे प्रश्न का उत्तर देते समय हम आमूल विचारों को ध्यान में रखेंगे। जब एक मनुष्य, जो कि विज्ञान के क्षेत्र से तनिक भी परिचित है, किसी वस्तु या किसी प्राकृतिक घटना को अपने सम्मुख पाता है तो उसे उस वस्तु या घटना को "समझने" की एक तीव्र इच्छा होती है। एक वैज्ञानिक जब उस घटना के घटित होने में किसी 'सिद्धान्त' का प्रतिपादन कर लेता है तो वह कहता है कि उसने वह घटना "समझ" ली है। भौतिक शास्त्र में यह सिद्धान्त गणित के बहुत से समीकरणों का समुदाय होता है और इन समीकरणों के समु-

दाय से सम्बन्धित विधिवत् नियमों का एक वर्ग होता है। वास्तव में ये विधियाँ प्रायः बहुत ही कठिन होती हैं। फिर इन विधियों को "समझना" तो और कठिन होता है। इसलिए इन घटनाओं के समझने का एक आसान तरीका भी है।

मान लीजिए कि एक सामान्य मनुष्य कहता है "मैं जातक विद्या (genetics) के सम्बन्ध में कोरा हूँ और पित्र्यसूत्र (gene) शब्दों की व्याख्या मेरे लिए बहुत कठिन है।" तो उसे इस प्रकार बताया जाता है पित्र्यसूत्र मोतियों के एक माले के समान है जिसका हर एक मोती एक वंश है। प्रत्येक वंश की अपनी एक विशेषता होती है जो कि उस मनुष्य की विशेषता स्थापित करते हैं। उदाहरण स्वरूप उनसे मनुष्य की नीली आँखों या उसके जाति का वर्गीकरण होता है।' और तब वह सामान्य मनुष्य कहता है "मैं समझ सकता हूँ।"

इस प्रकार हमारे सम्मुख दो उदाहरण हैं। एक बहुत निगूढ़ और नियमबद्ध सिद्धान्त पर अधारित और दूसरा अव्यवस्थित और अधूरा किन्तु उपयोगी सादृश्य पर आधारित। लेकिन यह अत्यन्त आश्चर्यजनक है कि इन उदाहरणों द्वारा भी विज्ञान किसी घटना की एक संतोषजनक व्याख्या नहीं प्रस्तुत कर सका। विज्ञान की इस न्यूनता को देखते ही मस्तिष्क में यह प्रश्न कौंध जाता है कि क्या विज्ञान में और भी न्यूनताएँ हैं? और इसका उत्तर है: हाँ, और भी हैं।

वैसे तो धरातल पर ऐसा मालूम पड़ता है कि विज्ञान को आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त हुई है पर तार्किक, दार्शनिक और कलात्मक दृष्टि से विज्ञान के बहुत से बन्धन हैं जिन्हें हम उसकी न्यूनताएँ कह सकते हैं। लेकिन साथ ही साथ विज्ञान के ये दोष उसे मानुषिक योजना प्रदान करते हैं जिससे कि विज्ञान, कला, धर्म और दर्शन एक दूसरे को बल प्रदान करते हैं। और विज्ञान की यही न्यूनताएँ उसे जीवन से दूर करने के स्थान पर उन्हें आपस में जोड़ती हैं।

यह विज्ञान की एक न्यूनता ही है कि स्वयं वैज्ञानिक ही किसी विषय पर आपस में मतैक्य नहीं और न हो सकते हैं। आइन्सटाइन, बोहर, प्लान्क और डाइरक जैसे विज्ञान के स्तम्भ भी इस विषय में भिन्न विचारों का प्रतिपादन करते हैं कि विज्ञान क्यों और कैसे किसी चीज की व्याख्या करता है। लेकिन विज्ञान की यही न्यूनता इस बात की द्योतक है कि विज्ञान विलक्षण नहीं अपितु एक अतिमानवीय योजना है और इसमें भी वही उत्साह, वही उपयोगी असमानताएँ हैं जो दर्शन, धर्म, कला और संगीत आदि में हैं।

विज्ञान की तीसरी न्यूनता यह है कि यह मुख्य रूप से सांख्यिकीय है और इसलिए किसी माप तौल में पूर्ण शुद्धता लाना या किसी भविष्य-वाणी को निश्चित रूप से कहना सर्वथा असम्भव है। पर विज्ञान की यही न्यूनता उसे आकर्षक बनाती है। क्या आप किसी ऐसी स्त्री से विवाह करने की कल्पना भी कर सकते हैं जो हर प्रकार से पूर्ण हो!

विज्ञान की चौथी न्यूनता यह है कि वह किसी भी मानसिक कार्यक्रम से कहीं अधिक तार्किक है और तर्कशास्त्र स्वयं में एक शान्त और निष्ठुर स्वामी के समान है। डा० केटेरिंग का कथन है—"तर्कशास्त्र से सावधान रहो। यह विश्वास खोने का एक व्यवस्थित साधन है।"

विज्ञान की पाँचवीं न्यूनता यह है कि इसमें एक पहले से माना हुआ लक्ष्य होता है। इस कारण विज्ञान जीवन के बीच एक भयंकर खाई बढ़ती ही जा रही है। सी० पी० स्नो के शब्दों में "This is the tragedy of Two cultures—on one hand, of those who

have bothered to understand science and its role in modern life and on the other hand, of the humanity.'

वास्तव में एक दूसरे को दोष देना कोई रचनात्मक कार्य नहीं है। विज्ञान से सम्बन्धित अथवा असम्बन्धित प्रत्येक मनुष्य का ध्येय इस खाईं को पाटने का होना चाहिए। हमारा कर्त्तव्य है कि हम विज्ञान को जीवन के बीच में एक मानवीय योजना के रूप में लाएँ—एक ऐसी योजना जिसके अन्तर में अनिश्चितिता, काल्पनिकता, लचीलापन हो, जो निर्माण पर निर्भर हो और जिसका आधार विश्वास हो ताकि यह प्रत्येक मनुष्य के जीवन में एक मित्र के रूप में रहे।

भारतीय अंक विज्ञान

केदारदत्त जोशी

प्रकृति हमारी जननी है और वह हमारा भरण पोषण के साथ-साथ अपनी प्राकृतावस्था में हमें ले जाती हुई स्वभावतः वह हमें बल बुद्धि और ज्ञान आदि को प्रदान करके सुखी भी रखती है। प्रकृति ही मातृत्व की सर्वोत्कृष्ट मूर्त्ति है। अनन्त भेद युक्त विज्ञान के ज्ञान की भी अनेक कसौटियाँ हैं—इन कसौटियों में एक मुख्य कसौटी गणित विज्ञान भी है।

आदिम काल में मानव गणना करने लग गया था, इस गणना क्रम से वह समग्र लोक व्यवहार को चलाने में समर्थ भी हो गया था। इस गणना के लिये उसे मुख्य कुछ संकेतों को भी अङ्कित करना पड़ा होगा, उसने गणना के लिये जो संकेत नियत किये, उनका क्या आधार था और आज दिन तक इन अंक संकेतों का यह रूप अवाध गति से सारे विश्व में चला आ रहा है इससे यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है कि इस अङ्क-कल्पना का अवश्य कोई वैज्ञानिक आधार रहा होगा। इस गणना को हम अङ्क संकेत से समझते हैं। हमारे सर्वप्राचीन सर्वमान्य **वेद** ग्रन्थों में अंकविद्या का भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है। **पाणिनीय व्याकरण** से "अकि लक्षणे" (चिन्ह) "पुंसि समायाम्" घः······घञर्थे को वा" "अंकयते ऽ लक्षते येन सो ऽङ्क", "अक् इदितोधातोः·········नुमागमः" अ न् क् अङ्क पश्चात् घ प्रत्यय के अकार से संयोग होने पर उक्त प्रकार से '**अंक**' शब्द की सिद्धि होती है। **जिस चिन्ह से एकत्व, द्वित्व, त्रित्व, चतुष्ट्व, पञ्चत्वः इत्यादि की व्यावृत्ति होती है उसे ही अङ्क कहते हैं।**

व्यामोह में जन सम्पर्क से हीन अरण्यादि में भटकते हुए मानव की आकाश की ओर की स्वाभाविक दृष्टि सान्त्वना के लिये होती है। उसे केवल एक शून्य O का आकार दृष्टिगोचार होता है जिसे वह अपने मुट्ठी का रूप समझते हुये एक तर्जनी को उठाता है तो शून्य में एक लकीर सी लगती है। यही धीरे-धीरे गणना का १ यह एक चिन्ह एक अंक का रूप हो जाता है। इसी प्रकार मुट्ठी बंधे हुये दाहिने हाथ की दो अंगुलियों से v

दो अंक एवं तीन अँगुलियों से w तीन का अंक बन कर, चारों अँगुलियाँ उठाने से vv w ४ ऐसा स्वरूप बनता गया। पाँच अङ्क (५) का प्रत्यक्ष स्वरूप समग्र हाथ है। ३ का विपरीत ६ एवं १ का पूर्ण घुमाव ७ तथा २ का विलोम ८ एवं १ का अर्घ घुमाव ६ इस प्रकार एक से नौ तक, १ से ६ तक, के अङ्कों का सार्थक रूप सामने आया।

सब से छोटी संख्या १ है। इससे छोटा $\frac{१}{२}$ है इससे भी छोटी संख्या क्रमश $\frac{१}{१०}$, $\frac{१}{१००}$, $\frac{१}{१०००}$, $\frac{१}{१००००}$ सर्वाल्प संख्याएँ अनन्त होती हुई ऐसा रूप लेती हैं कि कोई माप बुद्धि में नहीं बैठ पाती। अन्त में "सर्व शून्यम्" यही कहना पड़ता है। इस शून्य का बड़ा माहात्म्य है। यह शून्य किसी भी विकार से रहित है या यही शून्य, सत्व, रज, तम, जड़, चेतन या समग्र विश्व के विकारों का अत्यन्त अनिवार्य सूक्ष्म अणु है। या इसे निम्न भाँति भी समझा जा सकता है :—जैसे ४ में एक का भाग देने से लब्धि ४ होगी, २ का भाग देने से लब्धि २, तीन से $\frac{४}{३}$, चार से $\frac{४}{४}$, एवं $\frac{४}{५}$, $\frac{४}{१०}$, $\frac{४}{१००}$, $\frac{४}{१०००}$, ...अनन्त अथवा $\frac{४}{०}$= ०)४(००० लब्धियां

$$\frac{०}{४}$$
$$\frac{०}{४}$$
$$\frac{०}{४}$$

अनन्त और भाज्य का छोटा रूप शेष होता है जो भाजक से सर्वदा कम होना चाहिए किन्तु यहाँ तो अनन्त बार भाग देने से भी लब्धियाँ अनन्त और शेष भी भाज्य के तुल्य होने से इस शून्य भाग हार राशि का कोई भी अन्त नहीं है। जैसे सृष्टि के अन्त में सब प्राणियों का ब्रह्म में समावेश से ब्रह्म की स्थूलता एवं समग्र प्राणियों के प्रादुर्भाव के समय ब्रह्म का संकुचन नहीं होता ठीक इसी प्रकार गुण के अधिक और गुण के ह्रास से भी इस महत्तम शून्य ब्रह्म में कोई विकार नहीं होता, वह यथावत् अखण्ड रहता है।

इसी आशय को भास्कराचार्य ने विशेष स्पष्ट किया है—अपने बीज गणित में "अस्मिन्विकारः खहरेन राशावपि प्रविष्टेष्वपि निःसृतेसु।
बहुष्वपि स्याल्लय सृष्टिकालेऽनन्तेऽच्युते भूत गणेषु तद्वत्॥"

इस शून्य भगवान् के और भी अनेक माहात्म्य हैं। १×१०=१० १×१००=१००, एवं १×१०... ×१००, ×१००००, ×१००००० अनन्त का प्रत्येक पृष्ठीय गुणनफल अग्रिम गुणनफल का दशमांश है या प्रत्येक अग्रिम गुणनफल पृष्ठीय गुणनफल का दशगुना है। ज्यों-ज्यों संख्या दशगुणित हो रही है त्यों-त्यों एक अंक बांये बढ़ रहा है, यही सिद्ध हो रहा है कि "अङ्कानां वामतो गतिः" अपने गणित ज्योतिष में वसु-द्वि-अष्ट-अद्रि रूप-अङ्क-सप्त-अद्रि तिथयः इस कथन में वसुओं की संख्या ८, २ प्रसिद्ध है, फिर ८, अद्रि (पर्वत, सप्त पर्वताः) ७ रूप १ ही है, अङ्क ६ हैं, सप्त प्रसिद्ध ७ है, अद्रि ७ हैं, तिथयः प्रतिपदा से पूर्णिमा या अमावाश्या तक १५ हैं—इनको क्रमशः बायीं तरफ बढ़ते हुये लिखने से १५७७६१७८२८ यह एक विशाल अङ्क होगा अर्थात् एक महायुग में सूर्य के उदयों की संख्या १ अरब ५७ करोड़ ७६ लाख १७ हजार ८ सौ अट्ठाईस होती है। आचार्य को यही कहना है जिसे उन्होंने वसु-द्वयष्टादि...से कहा है।

इसी अभिप्राय को लेकर हमारे आचार्यों ने सुन्दर जाति, सुन्दर गुण और सुन्दर वर्ग को धर्म-माया का स्थान पुरुष के बांये कहा है क्योंकि बांये अंक का मूल्य उत्तरोत्तर जैसे दश गुणित है तैसे ही इस धर्मभार्या की कीमत भी पुत्र पौत्रादि से विभूषित है, वह वामा है; बायीं है, पुरुष की सर्वेसर्वा है, सहृदया है और सहचारी है। अतः प्राणिमात्र के

बाम भाग में रहने वाला समग्र शरीर का सञ्चालक यह हृदय यन्त्र स्त्री की तरह सुखद है इत्यादि। इस पर अनेक वैज्ञानिक विचारों का यथासमय प्रदर्शन किया जावेगा।

इसी अभिप्राय को लेकर खगोलीय आकाश में भ्रमणशील ग्रहों के १ ब्रह्म दिन में जो ४३२०००००००० इतने सौर वर्षों का है उसमें अपने-अपने वृत्तों में भ्रमण संख्या के मान हमारे प्रागाचार्यों ने कहे हैं। जैसे पृथ्वी राशि वृत्त में एक ब्रह्म दिन में ४३२०००००००, चन्द्रमा ५७७५३-३०००० एवं मंगल बुध प्रभृति ग्रह भी अपने वृत्तों में उक्त अपने-अपने चक्करों की पूर्ति करते हैं। इसी भाँति ४३२००००००० × २ = ८६४०००-०००० सौर वर्षों का १ ब्रह्मा का अहोरात्र है—८६४०००००००×३०×१२=३११०४००००००००० सौर वर्षों में ब्रह्मा का एक वर्ष होगा। इस प्रकार के १०० वर्ष पूरे होने पर ब्रह्मा की आयु पूर्ण होती है क्योंकि ब्रह्मा शतायु कहा गया है। एक सौर वर्ष में ३६० सौर दिन होते हैं अतः ३११०४०००००००००० × ३६० = १११९७४४-०००००००००००० यह एक १८ स्थानों की संख्या हो रही है जिसे एकदश शत सहस्र लक्षप्रयुत—इत्यादि से या इकाई दहाई सैकड़े आदि से कहने की प्रथा अनवरत आज तक चली आ रही है। कृष्ण यजुर्वेद में उक्त इस अभिप्राय का मन्त्र निम्न भाँति है :—

एका च दश शतञ्च सहस्रायुतञ्च नियुतञ्च प्रयुतञ्च अर्बुदञ्च न्यर्बुदञ्च समुद्रश्चान्तश्च परार्धश्च तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु।

अब हम अपने प्राचीन गणिताचार्यों के इस अङ्क सम्बन्धी विनोदमय अङ्कजाल के दो एक और उदाहरणों का प्रदर्शन करते हैं। जैसे एक प्रश्न है—शङ्ख चक्र गदा और पद्म धारण किये हुये चतुर्भुज भगवान् विष्णु के उक्त प्रत्येक आभूषणों को हाथों में बराबर परिवर्तन कर दें तो उसके कितने रूप होंगे ? और इस प्रकार के भेद और भेदों के अङ्कों का योगफल क्या होगा ? इस गणित के हल का कोई सिद्धान्त होना चाहिए वह कैसे होगा ? इसे समझना है। जैसे १, २, ३, ४ यह क्रमशः शंख चक्र गदा और पद्म हैं। अन्योन्य हाथों में धारण करते समय निम्न प्रकार के विभिन्न स्वरूप भगवान् के हो सकेंगे—

भेद :—शंख के साथ गदा पद्म		भेद :—चक्र के साथ		भेद :—गदा के साथ		भेद :—पद्म के साथ	
१—	१ २ ३ ४	७—	२ १ ३ ४	१३—	३ ४ २ १	१९—	४ ३ २ १
२—	१ २ ४ ३	८—	२ १ ४ ३	१४—	३ ४ १ २	२०—	४ ३ १ २
३—	१ ३ ४ २	९—	२ ३ ४ १	१५—	३ १ ४ २	२१—	४ १ २ ३
४—	१ ३ २ ४	१०—	२ ३ १ ४	१६—	३ १ २ ४	२२—	४ १ ३ २
५—	१ ४ ३ २	११—	२ ४ ३ १	१७—	३ २ १ ४	२३—	४ २ ३ १
६—	१ ४ २ ३	१२—	२ ४ १ ३	१८	३ २ ४ १	२४—	४ २ १ ३
	७९९८		१३७७६		१९५५४		२५३३२

इस प्रकार ये २४ प्रकार की भगवान की आकृति हो सकती है। प्रत्येक आकृतियों के अङ्कों का योग होगा— २५३३२+१९५५७+१३७७६+७९९८=६६६६०=(अ)

शंख के साथ भेद ६ होंगे, शंख को १, गदा को ३, चक्र को २, पद्म को ४ मानना चाहिए।

(१) चक्र गदा और पद्म — १ २ ३ ४

(२) चक्र पद्म और गदा — १ ३ ४ २

(३) पद्म चक्र और गदा	—	१ ४ २ ३
(४) पद्म गदा और चक्र	—	१ ४ ३ २
(५) गदा पद्म और चक्र	—	१ ३ ४ २
(६) गदा चक्र और पद्म	—	१ ३ २ ४
		७ ६ ६ ८

चक्र के साथ भी ६ भेद होंगे		गदा के साथ		पद्म के साथ	
(७)	२ १ ३ ४	(१३)	३ ४ २ १	(१९)	४ ३ २ १
(८)	२ १ ४ ३	(१४)	३ ४ १ २	(२०)	४ ३ १ २
(९)	२ ३ ४ १	(१५)	३ १ ४ २	(२१)	४ १ २ ३
(१०)	२ ३ १ ४	(१६)	३ १ २ ४	(२२)	४ १ ३ २
(११)	२ ४ ३ १	(१७)	३ २ १ ४	(२३)	४ २ ३ १
(१२)	२ ४ १ ३	(१८)	३ २ ४ १	(२४)	४ २ १ ३
जोड़	१ ३ ७ ७ ६	जोड़	१ ९ ५ ५ ४	जोड़	२ ५ ३ ३ २

इस प्रकार ये २४ प्रकार की भगवान् की आकृति हो सकती हैं। प्रत्येक आकृतियों के अङ्कों का योग होगा = २५३३२ + १९५५४ + १३७७६ + ७६६८ = ६६६६० = (अ) अब यदि कोई पूछे, चाप अंकुश सर्प डमरू कपाल त्रिशूल खट, शक्ति, शर और चन्द्रमा आदि १० आभूषणों को एक को दूसरे के साथ अलग-अलग मिलाने से भगवान् शङ्कर के कितने भेद होंगे और इस प्रकार भेदों के सब अङ्कों का योग क्या होगा? यह प्रश्न और कठिन है; इससे भी और अधिक संख्याओं का भेद और भेदाङ्क योग निकालना कठिन ही नहीं असंभव भी होगा। तब क्या करना? समाधान—भगवान् विष्णु के भेदों के गणित से एक सिद्धान्त स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है वह है—चार आभूषण के अंकों का गुणनफल = १ × २ × ३ × ४ = २४ यह भेद हो गये। इस गुणनफल को इन चार अंकों के योग १ + २ + ३ + ४ = १० से गुणा कर इसमें अंकों की जो संख्या ४ है इससे भाग देकर जो लब्धि आवे एक-एक स्थान हटाकर उसे ४ स्थान तक लिखिये फिर जोड़ दीजिये तो प्रश्न का सुन्दर हल प्रत्यक्ष से मिलाकर समझ लीजिये। जैसे—

अब इस साठ को एक से एक वाम वृद्धि से ४ जगह रखिये।

$$\frac{२४ \times १०}{४} = ६०$$

```
    ६०
   ६०
  ६०
 ६०
-----
६६६६०
```

तो ठीक (अ) पूर्व संकेत तुल्य हो जाता है।

इसलिये भगवान शङ्कर सम्बन्धी १० आभूषणों का गणित भी १×२×३×४×५×६×७× ८×१०=३६२८८०० इतने भेद होंगे। १.. १०...तक की संख्याओं का अङ्क योग=५५ होगा। उक्त भेदों को अंक योग से गुणा करने पर तथा अंक संख्या १० से भाग देने पर

$$\frac{३६२८८००\times ५५}{१०}$$ = १९९५८४०० इस संख्या को क्रमशः

```
१९९५८४००
 १९९५८४००
  १९९५८४००
```

इस प्रकार १० स्थानों में रखकर जोड़ने से २११७९९९९९९७७८२४०० इस अंक संख्या के तुल्य भगवान शङ्कर के अनेक स्वरूपों के अंकों का योग होगा।

इस प्रकार यदि जैसे ४४२२५५, इस प्रकार के समान अंकों का उक्त गणित करना हो तो वहाँ पर समान अंकों के पृथक-पृथक भेद बनाकर पूर्व भेदों में भाग देने से समान अंक सम्बन्धी गणित भेद भी निकाला जायगा, इत्यादि अनेक चमत्कारों से युक्त अपना यह पाटीगणित अत्यन्त प्राचीन है। जिस पर इस समय के गणित विज्ञान को भी अपनी प्राचीन अंक गणित विद्या का गर्व करना चाहिये? इसी तरह हमारे ग्रह गणित ज्योतिष ग्रन्थों में कुट्टक और वर्ग प्रकृति तथा चक्रवाल सदृश ऐसे गणित हैं जो शायद आज के विकसित गणित जगत् में भी न होंगे?

उक्त गणित को भास्कराचार्य अंकपाश गणित नाम से कहा है। प्राचीन भवन निर्माण में बहुविध मसाला रंग सीमेन्ट चूना आदि के जोड़ में या राज भवनों में अनेक प्रकार की खिड़कियों के खोलने बन्द करने तथा अनेक तरह की पुरवा, पछुआ, उत्तरा, दक्षिण हवाओं से राज परिवार के सुखानुभव के लिये, शीत और ताप नियंत्रण के उपयोग के लिये भी कहा है।

परमाणु और उनकी शक्ति—परमाणु के अविष्कार का इतिहास और उनके मूल तत्त्व

डा० सत्य प्रकाश

द्रव्य परमाणुओं से मिलकर बना हुआ है, यह कल्पना बहुत पुरानी है। भारतवर्ष में परमाणु-वाद का आरम्भ वैशेषिक दर्शन के रचयिता कणाद मुनि ने किया। द्रव्य छोटे-छोटे कणों से मिलकर बना है और वे कण जो और आगे खण्डित न किये जा सकें, अणु या परमाणु कहलाये। बन्द अंधेरे कमरे में सूर्य की किरण के मार्ग में चमकते हुए जो धूल के कण दिखाई देते हैं, उनसे भी कई गुना (लगभग ३० गुना) सूक्ष्म ये परमाणु हैं, ऐसी कल्पना भारतवासियों ने की। तत्त्व पांच माने

जाते थे – क्षिति जल पावक गगन समीरा तुलसीदास जी के शब्दों में ये सभी तत्त्व परमाणु से मिलकर बने माने गये। ऐसा तो कहीं स्पष्ट पता नहीं चलता, कि प्रत्येक तत्त्व के परमाणु अलग-अलग गुणधर्म के माने जाते थे, अथवा एक ही प्रकार के थे। परमाणु की आकृति गोल-परिमण्डलाकार-मानी जाती थी। भारतवर्ष का परमाणुवाद धीरे-धीरे यूनान देश में पहुँचा। डिमोक्रिटस ने भी कणाद मुनि के विचारों की पुष्टि की। उसने भी कहा कि सम्पूर्ण भौतिक वस्तुयें सूक्ष्म इकाइयों की बनी हुई हैं। इन इकाइयों के और टुकड़े नहीं किये जा सकते। इनका नाम यूनानियों ने एटम रक्खा। एटम शब्द का अर्थ भी यही है, कि जिसके टुकड़े न किये जा सकें।

यूरोप में भौतिक और रसायन विज्ञान का विकास तेजी से तब हुआ जब बॉयल ने तत्त्व की व्यावहारिक परिभाषा दी और जब डाल्टन ने परमाणुवाद को नये प्रकार से जनता के समक्ष रक्खा। बायल की परिभाषा के आधार पर आगे चलकर न तो पानी तत्त्व रह गया और न वायु ही तत्त्व रहा। तत्त्व पाँच ही हैं, ऐसी भी धारणा न रही। धीरे-धीरे तत्त्वों की संख्या बढ़ने लगी। प्रकृति में प्राप्त सबसे हल्का तत्त्व हाइड्रोजन पाया गया और सबसे भारी तत्त्व यूरेनियम। आपको यह जान कर आश्चर्य होगा कि आज के युग में जो सबसे भयानक विस्फोट हुए हैं, वे भी हाइड्रोजन बमों और यूरेनियम बमों के हैं। मोसले नामक वैज्ञानिक ने बताया कि प्रकृति में हाइड्रोजन से लेकर यूरेनियम तक तत्त्वों की संख्या ९२ है, न कम, न अधिक। गत पन्द्रह बीस वर्षों में यूरेनियम से भी भारी तत्त्व खोज निकाले गये हैं। ईश्वर की भू प्रदेश की सृष्टि में तो ९२ ही तत्त्व है, अर्थात् हाइड्रोजन से लेकर यूरेनियम तक के, यह मनुष्य ने अपने पुरुषार्थ से कृत्रिम विधि द्वारा यूरेनियम से भी भारी ८-१० तत्त्व और बना लिए। परमाणु बमों के इतिहास में नप्च्यूनियम और प्लूटोनियम तत्त्वों का निर्माण बड़े महत्त्व का है। ये तत्त्व हम लोगों के देखते ही देखते अमरीका के वैज्ञानिकों ने काफी मात्रा में तैयार किए।

१९वीं शती के अन्त में जब यूरेनियम और रेडियम तत्त्वों के गुणधर्म पर वैज्ञानिकों का ध्यान गया। लोगों की परमाणुओं के सम्बन्ध में वह धारणा बदल गयी जो डाल्टन ने दी थी। जिनको हम परमाणु समझते थे वे अब अटूट कण न रह गये। रेडियम, थोरियम और यूरेनियम तत्त्वों के परमाणुओं के नाभिक स्वतः टूट-टूट कर एलफा और बीटा कण देने लगे। एलफा कणों का भार हीलियम परमाणु के भार के बराबर था और बीटा कण का भार इलेक्ट्रान के भार के बराबर था। बीसवीं शती के आरंभ से ही लार्ड रथरफोर्ड ने परमाणुओं के नाभिकों को विखण्डित करने का काम हाथ में लिया। धीरे-धीरे वैज्ञानिक इस कार्य में सफल हो गये। परमाणु टूटकर तरह-तरह के कणों में बिखरने लगे। इनसे प्रोटान, पोज़िट्रान, और न्यूट्रान निकले। १९३० के बाद का इतिहास बड़ी क्रान्ति का रहा। १९३२ ई० में चैडविक ने परमाणु के नाभिक विखण्डित करके न्यूट्रान तैयार किये। न्यूट्रान की सहायता से ही तरह-तरह के विखण्डन आरम्भ हो गये। १९३८ में हान और स्ट्रासमान ने न्यूट्रान के प्रहार से यूरेनियम के नाभिक के दो टुकड़े कर डाले। यही नहीं, इन लोगों के प्रयोगों ने एक और अद्भुत बात देखी। वह बात यह थी, कि विखण्डन के परिणामस्वरूप न केवल नाभिक के दो टुकड़े ही होते हैं, कुछ द्रव्य ऊर्जा में परिणत भी हो जाता है। बहुत दिनों से रसायनशास्त्र में यह सिद्धान्त सर्वसम्मत माना जाता रहा है कि द्रव्य अविनाशी है और भौतिकी के आचार्य भी यह मानते रहे हैं कि ऊर्जा

अविनाशी है। पर आइन्सटाइन ने अपने सापेक्ष-वाद सिद्धान्त के आधार पर यह १६०५ के लगभग सिद्ध किया कि द्रव्य और ऊर्जा में भी परस्पर संबंध है। द्रव्य लुप्त होकर ऊर्जा बन सकता है। यूरेनियम का कुछ द्रव्य विखण्डन के समय लुप्त हुआ, और ऊर्जा में परिवर्त्तित हो गया। हिरोशिमा में जो गत महायुद्ध के अन्त में विस्फोट किया गया था, वह इसी प्रकार उत्पन्न ऊर्जा के कारण था।

हाइड्रोजन बमों की शक्ति भी इसी प्रकार की ऊर्जा से अर्थात् द्रव्य के विलोप से प्राप्त होती है। हाइड्रोजन के परमाणुओं को जब हीलियम के परमाणुओं में परिवर्त्तित किया जाता है, तो कुछ द्रव्य विलुप्त हो जाता है। मोटी तरह से इस प्रकार समझिये: ४ ग्राम हीलियम बनाने के लिए लगभग २ ग्राम हाइड्रोजन और २ ग्राम न्यूट्रान का व्यय होगा। इसमें ०.०३०५ ग्राम भार का द्रव्य ऊर्जा में परिणत हो जायगा। इतने द्रव्य के विलोप होने पर ६.५×१०^११ कैलरी ऊर्जा बनेगी अर्थात् उतनी ऊर्जा जो लगभग १ लाख किलोग्राम कोयला जलाने से बनती।

परमाणुओं की शक्ति का प्रादुर्भाव तभी होता है, जब द्रव्य का विलोप होता है। शक्ति प्राप्त करने का यह नये प्रकार का साधन है। सूर्य अपनी गरमी इसी प्रकार की क्रियाओं द्वारा सुरक्षित रख सका है, नहीं तो यह आज तक कभी का ठंडा हो गया होता।

परमाणुओं के नाभिकों को उसी प्रकार का समझना चाहिये जैसे फलों के भीतर बहुत छोटी सी गुठली। परमाणुओं के केन्द्र में स्थित ये नाभिक नाप में तो शून्य के आकार के ही हैं पर, परमाणुओं का समस्त भार इन्हीं नाभिकों में सीमित है। ये बड़े सघन हैं। इनके टुकड़े करना आसान काम न था पर गत २०-२५ वर्ष के भीतर परमाणुओं के नाभिकों में से अनेक प्रकार के सूक्ष्मतर कण प्राप्त किए जा सके हैं। हम कह चुके हैं कि रेडियधर्मी नाभिकों में से एलफा और बीटा कण स्वतः निकलते हैं। प्रो० चैडविक ने इन नाभिकों से न्यूट्रान निकाले। न्यूट्रान भी कोई अभेद्य कण नहीं है। इसे प्रोटान, इलेक्ट्रान और न्यूट्रिनों नामक कणों से मिलकर बना माना जाता है। न्यूट्रिनों कणों में न तो विद्युत् आवेश है और न द्रव्यमान। सूर्य में नाभिक प्रतिक्रिया द्वारा विशाल मात्रा में न्यूट्रिनो मुक्त होते रहते हैं। ये न्यूट्रिनो पृथ्वी के आरपार बिना प्रतिक्रिया किए चले जाते हैं। प्रतिक्षण अरबों न्यूट्रिनों हमारे शरीर को बेधते रहते हैं।

१६३५ में जापानी वैज्ञानिक युकावा ने एक ऐसे कण की कल्पना की जिसका भार इलेक्ट्रान के भार का २०० गुना अधिक हो। अन्तरिक्ष में जो विश्वव्याप्त किरणें आती रहती हैं, उनमें भी इन कणों की विद्यमानता पायी गयी। इन्हें मेसान नाम दिया गया है। मेसान अनेक प्रकार के पाये गये हैं—पाई-मेसान, म्यू-मेसान इत्यादि इनके नाम रक्खे गये हैं।

१६४६ में कुछ ऐसे कणों के पथों का भी परिचय प्राप्त हुआ जो प्रोटान से अधिक भारी थे। ब्रिटेन में राचेस्टर ए० बटलर ने इनकी खोज की थी। इन्हे हाइपेरान कहा गया। इनकी जीवन अवधि बहुत कम है, लगभग १०-२३ सेकंड मात्र। हाइपेरान परिवार में भी लगभग ७ प्रकार के कणों की खोज हो चुकी है। ये कण मेसान और नाभिकों की परस्पर क्रिया द्वारा उत्पन्न होते हैं।

परमाणु कितना विचित्र है, कितना कौतूहलपूर्ण और कितना रहस्यमय। ज्यों-ज्यों इसका ज्ञान और परिचय बढ़ता जायगा, हमें नयी शक्ति भी प्राप्त होती जायगी। परमाणु का अस्तित्व आज कोरी कल्पना नहीं है। अब तो यह सभ्यता, संस्कृति, उद्योग और व्यवसाय का भी केन्द्र बन गया है।

[आकाशवाणी इलाहाबाद के सौजन्य से]

एञ्जाइम—रोगों के विरुद्ध एक नवीन अस्त्र

इस समय चिकित्सा के क्षेत्र में अनुसंधान करने वाले अमेरिकी वैज्ञानिक जिन प्रमुख विषयों का अध्ययन कर रहे हैं, उनमें से एक विषय है रोगों के निदान में प्रकिण्व या एञ्जाइमों (विशिष्ट रासायनिक रूपान्तरण, जैसे भोजन की पाचनक्रिया में तीव्रता लाने वाले एक प्रकार के सजीव पदार्थ) का उपयोग। अमेरिका के औषधि-निर्माताओं ने चिकित्सकों के उपयोग के लिए कुछ एञ्जाइमों का उत्पादन प्रारम्भ भी कर दिया है। ये एञ्जाइम बहुत ही उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं। प्रकिण्व (एञ्जाइम) प्रोटीन के बड़े व्यूहाणु हैं, जो कीटाणुओं से लेकर पौधों, पशुओं और मानव प्राणियों तक, सभी सजीव वस्तुओं में विद्यमान हैं। हाल के अनुसंधान के फलस्वरूप, यह पता चला है कि वे जीवन की सभी प्रक्रियाओं जैसे—पाचन-क्रिया, विकास, मांसपेशियों की सिकुड़न आदि में प्रमुख भूमिका अदा करते हैं।

शरीर के कोष्ठों में उत्पन्न एञ्जाइम ऐसी रासायनिक प्रतिक्रियाओं को जन्म देते हैं, जो उनकी अनुपस्थिति में कदापि उत्पन्न न होतीं। इन प्रतिक्रियाओं द्वारा ये एञ्जाइम व्यूहाणुओं को संयुक्त करके उन्हें नवीन पदार्थों में परिणत कर देते हैं। उदाहरण के लिये, हम जितनी वस्तुएँ खाते हैं, वे सबकी सब तब तक पच नहीं सकतीं, जब तक की एञ्जाइम उन पर क्रियाशील होकर उन्हें छोटे-छोटे ऐसे सरल तत्वों में विभाजित न कर दें, जो रक्त की धारा में मिल कर विलीन हो जाएँ। यदि एञ्जाइम यह क्रिया सम्पन्न न करते, तो चाहे हम कितना भी भोजन क्यों न करते, उसमें हमें लेशमात्र भी पोषक तत्व प्राप्त न होते।

एञ्जाइम की भूमिका

जीवन सम्बन्धी अन्य प्रतिक्रियाओं की भांति ही पाचन-प्रक्रिया के अन्तर्गत भी, एञ्जाइम प्राणिमात्र में हजारों रासायनिक रूपान्तरण सम्पन्न करते हैं। इनमें से कितने रूपान्तरण तो ऐसे हैं, जिन्हें किसी प्रयोगशाला में सम्पन्न करने में कई घण्टे श्रम करने पड़ते।

एञ्जाइम केवल पदार्थों को तोड़ कर विभाजित ही नहीं करते, वे नये प्रकार के पदार्थों का सृजन भी करते हैं। उदाहरण के लिये, वे रक्त-प्रवाह से उन 'एमिनो' अम्लों को खींच लेते हैं, जो मांस की बोटियों से प्राप्त होती हैं। फिर हम अम्लो का का उपयोग वे मानवीय शरीर की मांसपेशियों का, जो सर्वथा भिन्न पदार्थ होती हैं, निर्माण करने में करते हैं। इसी प्रकार वे चीनी को 'ग्लाइकोजेन' में परिणत कर देते हैं, जिन्हें यकृत या गुर्दा आवश्यकतानुसार शक्ति संचार करने के लिये अपने में संग्रहीत कर सकता है।

विभिन्न प्रकार के एञ्जाइम

अनुसंधानकर्ताओं ने इस धारणा का प्रतिपादन किया है कि मनुष्य के शरीर में विभिन्न प्रकार के कई हजार एञ्जाइम होने चाहिये। विसकोंसिन एञ्जाइम इन्स्टिट्यूट के **डा० डेविड ई० ग्रीन** का कथन है, "स्पष्टतः शरीर सम्बन्धी प्रायः प्रत्येक प्रतिक्रिया के लिये एक भिन्न एञ्जाइम होता है।"

एञ्जाइम की अत्यन्त न्यून मात्रा में भी अपार क्षमता निहित होती है। 'राकफेलर इस्टिट्यूट फॉर मेडिकल रिसर्च' के एक अनुसंधानकर्ता ने 'पेप्सिन' नामक पेट के एक एञ्जाइम को पृथक करने में सफलता पायी। यह एञ्जाइम मांस को पचाता है। इन्स्टिट्यूट का कहना है कि एक पौंड पेप्सिन लगभग दो घन्टे में ३० टन मांस को पचा सकता है। उसका यह भी कहना है कि एक पौंड पेप्सिन एञ्जाइम कुछ ही समय में १० लाख गैलन दूध को सुखा कर ढोके या चकत्तों में परिणत कर सकता है।

कुछ एञ्जाइम आक्सीकारक अथवा ईंधन-प्रदाहक होते हैं। वे खाद्य पदार्थ के एक नन्हें से टुकड़े को लेकर उसे अनेक प्रतिक्रियाओं द्वारा एक अत्यन्त असाधारण पदार्थ में परिणत कर देते हैं। यह पदार्थ है 'एडेनोसिन त्रिफास्फेट' अथवा संक्षेप में ए० टी० पी०। ए० टी० पी०, वस्तुतः, एक नन्हीं स्टोरेज बैटरी होती है, जो मांस-पेशियों के तन्तुओं को संकुचित करने के लिये संग्रहीत शक्ति या ऊर्जा को उन्मुक्त करती है। जब भी किसी व्यक्ति का हृदय धड़कता है, या उसके आंख की पलकें ढँकती हैं अथवा वह साँस लेता है, तब इन क्रियाओं के लिये आवश्यक ऊर्जा ए० टी० पी० द्वारा ही प्राप्त होती है।

एञ्जाइमों का उत्पादन

इस समय अमेरिका के औषधि-निर्माता पौधों, फंफूदों, जीवाणुओं और मानवीय रक्त के एञ्जाइम निकाल रहे हैं और उन्हे व्यवहारिक रूपों में चिकित्सकों को प्रदान कर रहे हैं। अमेरिका की लीडरले प्रयोगशाला एक ऐसे एञ्जाइम का निर्माण करके बाजार में भेज रही है, जो रक्त के चकत्तों को घुला देने में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है। रक्त-प्रवाह में इन चकत्तों के कारण हृदय की गति अचानक अवरुद्ध हो जाती है जिससे रोगी प्रायः मृत्यु का ग्रास बन जाता है। इसी प्रकार, रैरिटन, न्यूजर्सी के आर्थो रिसर्च फाउण्डेशन के वैज्ञानिकों ने मनुष्य के रक्त से एक ऐसे एञ्जाइम को पृथक करने में सफलता प्राप्त की है, जो पाँव की रक्त-स्नायुवों में पड़ जाने वाले चकत्तों को घुलाने में अत्यन्त प्रभावकारी सिद्ध हो रहा है। न्यूयार्क विश्वविद्यालय तथा सेण्टलुई के वाशिंगटन विश्वविद्यालय में किये गये प्रयोगों से यह संकेत मिलता है कि इन एञ्जाइमों में अपार सम्भाव्यता निहित है।

औषधि के क्षेत्र में एञ्जाइमों के उपयोग

अनुसंधानकर्ताओं ने यह खोज की है कि कितने ही प्रकार के एञ्जाइमों से उन औषधियों की उपयोगिता बढ़ जाती है, जिनका उपयोग दमा, निमोनिया तथा फेफड़े की अन्य बीमारियों में किया जाता है। आजकल शल्य-चिकित्सक एक अन्य प्रकार के एञ्जाइम का प्रयोग आँख से मोतियाबिन्द को निकालने वाली चिकित्सा में व्यापक रूप से कर रहे हैं। इसके उपयोग से शल्य-क्रिया अत्यन्त आसान हो जाती है। 'हियालुरोनाइडेस' नामक एञ्जाइम का एक ही बार टीका देने से घुटने के जोड़ में होने वाली पीड़ा को कम करने में भारी सफलता मिली है। इस टीके से घुटने की सूजन उसके साथ ही साथ पीड़ा भी कम हो जाती है। यह एञ्जाइम तिल्ली सम्बन्धी उपचार में भी उपयोगी सिद्ध हुआ है। इसके कारण तिल्ली के आपरेशन की आवश्यकता नहीं पड़ती।

एञ्जाइम का अभाव और रोग

आजकल अनेक चिकित्सा-अनुसंधानकर्ताओं का विश्वास है कि प्रायः सभी रोगों का मूल कारण यही होता है कि रोगी के शरीर में या तो आवश्यक एञ्जाइम का अभाव होता है, या वह ठीक ढंग पर क्रियाशील नहीं होता। उन्होंने इस सिद्धान्त का

प्रतिपादन किया है कि शरीर में प्रत्येक प्रकार के एन्जाइम को जन्म देने वाला एक विशिष्ट वंश तत्व होता है। जब यह तत्व अनुपस्थित या विकारग्रस्त होता है, तो शरीर में एञ्जाइम भी विकारग्रस्त या अनुपस्थित होता है।

अनेक अनुसंधानकर्ताओं का मत है कि मधुमेह का कारण अंशतः एक एञ्जाइम का अभाव है, जो पेट की पाचक रस की थैली में इन्सुलिन के उत्पादन को अनुशासित करता है। अब इस बात के भी अधिकाधिक प्रमाण उपलब्ध हैं कि ल्यूकेमिया अथवा अन्य प्रकार के कैंसर रोगों का कारण भी सम्भवतः एञ्जाइमों का अभाव ही होता है।

कृत्रिम एञ्जाइम

यदि किसी व्यक्ति के शरीर में एञ्जाइमों का अभाव है, अथवा वे विकारग्रस्त हैं, तो उनके स्थान पर कृत्रिम एञ्जाइमों का प्रयोग करना अन्ततः सम्भव होना चाहिये। अथवा, यदि एक प्रकार के एञ्जाइम अत्यधिक सक्रिय हों तो उनके प्रभाव को रासायनिक नियन्त्रण द्वारा निर्मूल करना सम्भव होना चाहिये। अमेरिकन मेडिकल एसोसियेशन द्वारा प्रकाशित पत्रिका 'टुडेज़ हेल्थ' में जे० डी० रैडक्लिफ ने लिखा है, इससे कुछ असाधारण निष्कर्ष प्राप्त होते हैं। शरीर के स्वस्थ कोष्ठों की भांति कैंसरग्रस्त कोष्ठ भी एञ्जाइमों पर निर्भर होते हैं। यदि यह पता चल जाय कि उन्हें किस प्रकार के एञ्जाइमों की आवश्यकता होती है, तो ऐसे साधन ढूंढ़े जा सकते हैं, जो कैंसरग्रस्त कोष्ठों को बढ़ावा देने वाले एञ्जाइमों को विनष्ट कर सकते हैं। ऐसी दशा में कैंसर रोग का विनाश करने वाली औषधि को ढूंढ़ निकालना आसान होगा।

उन्होंने आगे कहा है कि अब तक इस दिशा में जो सफलताएँ प्राप्त हो चुकी हैं, उन्हें देखते हुये तथा आगे के लक्ष्य को दृष्टिगत रखते हुये, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि चिकित्सा अनुसन्धान के क्षेत्र में एञ्जाइम के अन्तर्गत मानव की महान आशाओं के बीज निहित हैं।

पशु एवं कुक्कुट उत्पादन

जिन प्रौद्योगिक सुधारों के फलस्वरूप आधुनिक अमेरिकी कृषि में गहन उत्पादन को प्रश्रय मिला है, वे अब पशु-पालन के क्षेत्र में भी लागू हो रहे हैं। पोषण एवं चारे की समुचित व्यवस्था तथा प्रजनन सम्बन्धी सावधानी के कारण पशुओं की किस्म में अत्यधिक सुधार हुआ है। जिस प्रकार पादप-विज्ञान के अन्तर्गत मक्का, गेहूँ, जई तथा पौधों की ऐसी नस्लें तैयार की जाने लगी हैं, जो एक विशेष जलवायु और क्षेत्र में बढ़ने, फलने-फूलने तथा विशेष रोगों का सामना करने में समर्थ हो सकें, उसी प्रकार पशुओं के प्रजनन में भी नस्ल-सुधार के निरोधक सिद्धान्तों का अनुशीलन करके ऐसे पशु तैयार किये जाते हैं, जो अमेरिका के अपने विशिष्ट क्षेत्रों में अच्छी तरह विकसित हो सकें और अपने वातावरण में बीमारियों और रोगाणुओं का सामना करने में समर्थ हों। दुधारू

पशुओं की नस्ल के परिवर्तन उनके विकास की दर, चारा-दाना की क्षमता, किस्म और प्रजनन-क्षमता आदि के विषय में गहन अनुसन्धान हो रहे हैं।

पशुपालन के क्षेत्र में क्रान्ति

पशुओं के विकास सम्बन्धी यह प्रगति अधिकांशतः प्राकृतिक प्रजनन द्वारा सम्पन्न **हो रही है,** किन्तु दुग्धोत्पादन-उद्योग में पशुओं के कृत्रिम प्रजनन ने एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी है। (दुग्ध विषयक आंकड़ों में इसके परिणाम पूर्णतया स्पष्ट हैं। १९५८ में दूध देने वाली गायों की कुल संख्या २,०५,००,००० थी, जो अब तक के इतिहास में ऐसी गायों की सबसे कम संख्या थी। किन्तु उन्होंने लगभग १,२६,४०,००,००,००० पौण्ड दूध दिया, जो उसके पूर्व की अधिकतम मात्रा से १० लाख पौण्ड अधिक था।)

१८ वीं शताब्दी के एक अंग्रेज किसान, राबर्ट बैकवेल की गणना, विश्व के सबसे बड़े पशुपालकों की कोटि में होती है। इस प्रकार इंग्लैण्ड से आकर अमेरिका में बसने वाले प्रारम्भिक लोगों को सावधानी के साथ पशुपालन का धन्धा चलाने की सम्भावनाएँ ज्ञात थीं। इस प्रकार, आधुनिक कृषि में गहन-उत्पादन की दिशा में अग्रसर होने की सामान्य प्रवृत्ति के साथ-साथ पशु-उत्पादन का भी विकास होता रहा। किन्तु पशु-उत्पादन के लिए पौधों की नस्ल में सुधार के महत्त्व पर बल दिया जाने लगा। स्वस्थ पशुओं के विकास के लिए चारे की समुचित व्यवस्था के महत्त्व ने पशुओं के लिए पोषक तत्व की समस्या उत्पन्न कर दी है।

पशुओं के लिए पोषक आहार

अनुमान लगाया गया है कि पशुओं के लिए आवश्यक पोषक तत्वों में से लगभग ८० से ८५ प्रतिशत तक चारे से प्राप्त हो सकते हैं। शेष पोषक तत्वों की पूर्त्ति दाने, खली आदि जैसी वस्तुओं से की जानी चाहिए। बुद्धिमान किसान जानता है कि मनुष्यों की तरह ही पशुओं के लिए भी ऐसा आहार आवश्यक होता है, जिसमें प्रोटीन की मात्रा अधिक हो। वह जानता है कि आहारों के लिए कुछ खनिज तत्व आवश्यक होते हैं। वह जानता है कि हरे चारे से ही पशुओं का आहार सन्तुलित नहीं हो सकता। उसे चारे की जाँच कर इस बात का पता लगाना पड़ता है कि उसके चारे में उपर्युक्त तत्वों का अभाव तो नहीं है। यदि अभाव है, तो वह जानता है कि चारे वाली फसलों में किस फसल की पैदावार बढ़ा कर वह कमी पूरी की जा सकती है। उसने यह सीख लिया है कि घास को कुछ पहले काटकर रख लेने से उसके पोषक तत्व उसमें सुरक्षित रहते हैं। उसने यह भी जान लिया है कि पशु किसी एक समय केवल एक घण्टे तक ही खाते हैं, अतः वह दिन में सिर्फ ३ बार अपने पशुओं को चरने के लिए घास के मैदान में छोड़कर अपने चारे की फसल को सुरक्षित रख सकता है।

आज का किसान यह भी जानता है कि उसके पशु अपने प्रति १,००० पौण्ड औसत वजन पर कितने चारे का प्रतिदिन उपयोग कर सकते हैं। इस प्रकार वह इस बात का निर्धारण कर सकता है कि उसे कितने दाने-चारे की व्यवस्था करनी चाहिए। उसने यह भी जान लिया है कि कुछ पशुओं को सूखे के बजाय हरे चारे अधिक प्रिय होते हैं। उसे यह भी ज्ञात है कि कुछ पशुओं को विकसित करने के लिए 'गर्म चारा' आवश्यक होता है।

चारे को 'गर्म' इसलिए कहा जाता है कि उसमें कैलारी की मात्रा अधिक होती है। उसमें जई, बिनौला, अल्फाल्फा, घास, गुड़, खनिज तत्व

तथा वनस्पति तेल के रूप में चर्बी मिली-जुली होती है।

पशुओं के आहार सम्बन्धी परीक्षण

अमेरिकी किसान को इस प्रकार के सभी परीक्षणों में अमेरिकी कृषि विभाग और राज्य, काउण्टी तथा विश्वविद्यालयों की कृषि सेवाओं से सहायता प्राप्त होती है। यदि वह अपने लिए स्वयं प्रयोग न कर रहा हो, तो उसके लिए इन सेवाओं द्वारा तैयार प्रतिमान तालिकाएँ होती हैं, जिनकी सहायता से वह अपना काम चला सकता है।

विशिष्टीकरण की प्रवृत्ति

पशु-पालन के सम्बन्ध में इस नये दृष्टिकोण के कारण वह धन्धा अधिकाधिक विशिष्टीकृत होता जा रहा है। दुधारू गायों के विशेषज्ञ बछड़े खरीदते हैं, उन्हें पाल-पोस कर बढ़ाते हैं और फिर गायों की नस्ल सुधारने के लिए किसानों के हाथ उन्हें बेच देते हैं। इस प्रकार दूध वाले पशुओं को पालने-पोसने और बड़ा करने की समस्या से मुक्त होकर किसान केवल दुग्ध व्यवसाय को ही उन्नत करने की दिशा में प्रयत्नशील होता है।

इसी प्रकार, पशुओं के 'आहार-गिरोह' स्थापित कर दिये गये हैं, जो उनके लिए उचित आहार-व्यवस्था का दायित्व सँभालते हैं। इस समय ४,००० गायों के 'आहार गिरोह' संचालित हैं। उनके आकार को बढ़ाया जा सकता है। गायों को अलग-अलग गिरोहों से सम्बद्ध कर दिया जाता है, और गिरोहों के संचाचक उनके वजन की जांच-पड़ताल करके यह पता लगाते रहते हैं कि उन्हें सन्तुलित आहार प्राप्त हो रहा है या नहीं। आहार की स्वतःचालित व्यवस्था और विद्युदाणविक गणक-यन्त्रों की सहायता से केवल ३० गिरोह-संचालक ४,००० के गायों के गिरोह का प्रबन्ध कर सकते हैं।

पशुओं का पालन-पोषण और उनकी आहार-व्यवस्था का महत्त्व वैज्ञानिक दृष्टि से प्रमाणित हो चुका है। शोर-गुल और दुर्व्यवहार से पशुओं और कुक्कुटों के वजन और उत्पादन पर बुरा प्रभाव पड़ सकता है।

पशुओं के रोग

मनुष्य प्राचीन काल से अपने भोजन, वस्त्र और आवास के लिए अपने घरेलू पशुओं पर निर्भर रहा है। अतः वह सदैव जंगली पशुओं से उनकी रक्षा करता आ रहा है। किन्तु रोगों से पशुओं की रक्षा करने में वह उतना तत्पर नहीं रहा है। पशुओं के रोग सदैव उसे भारी क्षति पहुँचाते रहे हैं। इससे कृषि को भी हानि पहुँची है। साथ ही, मनुष्य छूत के ८० ऐसे रोगों का शिकार होता रहा है, जो पशुओं से मनुष्यों के पास आ सकते हैं।

ऐसा माना जाता है कि 'एन्थरोक्स' मिश्र का पांचवां प्लेग था जो ईसा से लगभग १,४५१ वर्ष पूर्व फैला था। इसी प्रकार, जहां १३४८-४९ में यूरोप के असंख्य व्यक्ति 'ब्लैक डैथ' नामक रोग के शिकार हुए, वहाँ उनके अगणित पशु 'रिण्डर-पेस्ट' नामक रोग से मृत्यु के मुख में समा गये। १८६३ में तो मिश्र के पशुओं का प्रायः सर्वनाश ही हो गया था। कई शताब्दियों तक लगातार हो रहे मंगोलों और हूणों के आक्रमणों के साथ 'रिण्डरपेस्ट' का रोग रूस में पहुँच गया और वहाँ प्रथम विश्वयुद्ध के समय रूमानिया, बुलगेरिया, पोलैण्ड और यूनान में फैल गया। जब द्वितीय विश्वयुद्ध के समय रोग से बहुत बड़ी संख्या में गायों और अन्य पालतू पशुओं का विनाश होने लगा, तो फिलिपीन, इण्डोनेशिया, बर्मा और मलाया के किसानों को अपनी फसलों वाली बहुत

सी जमीनें छोड़ देनी पड़ीं। इससे उन्हें घोर खाद्याभाव का सामना करना पड़ा। एशिया के एक गाँव में तो एक ही भैंस की मृत्यु हो जाने से सारे गाँव को भुखमरी का सामना करना पड़ा, क्योंकि उसकी मृत्यु से चावल की भारी फसल ही मारी गयी।

अमेरिका में प्रारम्भ में आकर बसने वाले लोगों ने बाहर से बढ़िया पशु-पक्षी मँगाकर अपने पशु-पक्षियों की नस्ल को सुधारने का बराबर प्रयत्न किया, किन्तु पशु-पक्षियों की होने वाली बीमारियों से इतना अधिक नुकसान हो रहा था कि उसका मांस, मुर्गे-मुर्गियों तथा मवेशियों के निर्यात पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा।

न्यूयार्क के पीटर डन नामक एक दूधिये ने १८४३ में ब्रिटिश जहाज 'वाशिंगटन' के कप्तान से एक दुधारू गाय खरीदी। पीटर डन का विचार था कि उससे गाय बहुत सस्ती खरीदी है लेकिन वह गाय उतनी ही महगी साबित हुई जितनी कि श्रीमती औलेरी की वह गाय, जिसके शायद जलती हुई लालटेन पर पैर मारने से १८७१ में एक-तिहाई शिकागो जल कर राख हो गया था। डन की गाय से अमेरिका में प्लूरोनमोनिया (जिसमें प्लूरिसी और निमोनिया दोनों एक साथ हो जाते हैं) की बीमारी फैल गई और उससे पशु-पालकों को हजारों डालर की क्षति उठानी पड़ी।

पशु रोगों पर काबू पाने का पहला प्रयत्न

अमेरिका में पशु-रोगों पर काबू पाने का प्रयत्न पहले-पहल १८८३ में कृषि-विभाग के अधीन पशु-चिकित्सा सम्बन्धी विभाग की स्थापना द्वारा किया गया। उसके बाद १८८४ में 'ब्यूरो ऑफ एनिमल इण्डस्ट्री' की स्थापना की गई।

'टिक' बुखार (यह बुखार किलनी नामक कीड़ों के शरीर से चिमटकर खून को चूसने से होता है) के उन्मूलन के लिए अनुसन्धान की योजना को सबसे पहले हाथ में लिया गया। इस अनुसन्धान पर केवल ६५,००० डालर खर्च हुए, पर इससे अमेरिकी किसानों की प्रतिवर्ष कम से कम ६०० लाख डालर की बचत हो जाती है। 'टिक' बुखार के अनुसन्धान के दौरान जो दूसरी खोजें की गईं उनसे यह भी पता चला कि मनुष्य को पीतज्वर, जूड़ीताप और बबौनिक प्लेग (प्लेग रोग में कांख में गिल्टी निकलना) आदि रोग क्यों होते हैं।

तभी से, पशु-चिकित्सा सम्बन्धी ज्ञान तेजी से बढ़ रहा है। पशु-चिकित्सकों को यह बात जल्दी ही मालूम हो गई कि छूत की बीमारी किसी एक देश तक सीमित नहीं रहती, किन्तु लापरवाह पड़ोसी के कारण अच्छे पशुपालन का साफ-सुथरा पशु भी बीमार पड़ सकता है, और बस्ती, राज्य, संघ तथा संसार के देशों द्वारा मिल कर किये गये प्रयत्नों से ही किसी हद तक सुरक्षा प्राप्त की जा सकती है।

पेस्टर की खोजों के बाद से, पशु-चिकित्सा के क्षेत्र में निरन्तर ऐसी खोजें हुई हैं जिनसे पशु-रोगों में बहुत कमी हो गई है—और मनुष्य भी छूत की बीमारियों से होने वाले रोगों से अपेक्षाकृत कम ग्रस्त रहने लगा है।

किन्तु, पशु-पालकों के समक्ष आज ऐसे कितने ही रोगों से निबटने की समस्या उपस्थित है, जिनका पहले पशु-पक्षियों को शिकार नहीं होना पड़ता था। बिक्री और परिवहन की आधुनिक व्यवस्था के कारण, रोग पहले से कहीं अधिक तेजी से और दूर तक फैल सकते हैं। तथापि, आधुनिक संचार-व्यवस्था के कारण वह इन रोगों पर काबू पाने में समर्थ है। अब पशु-पालक को तुरन्त इस बात का पता चल सकता है कि कौन बीमारी कहाँ फैली है और उसे रोकने के लिये क्या उपाय बरते जा सकते हैं। किसी पशु या मुर्गे-मुर्गी को खरीदने से पूर्व ग्राहक को उसके

स्वास्थ्य का प्रमाणपत्र मिल जाता है। पशुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने के समय उन्हें जो चारा और पानी दिया जाता है उसके सम्बन्ध में आवश्यक कानून बना दिये गये हैं। इससे ग्राहक उनके बारे में निःशंक रहते हैं।

स्वस्थ पशु और मुर्गे-मुर्गियाँ पालने में नई रोगाणुनाशक औषधियाँ छिड़कने और बुरकने की दवाओं तथा आहार और पालन सम्बन्धी नई विधियों से किसान को बड़ी मदद मिलती है, लेकिन जब तक किसान अपने खलिहान, सायवान और आसपास के क्षेत्र को साफ नहीं रखता तब तक बीमारी को समाप्त नहीं किया जा सकता।

आधुनिक किसान ने शायद सबसे महत्वपूर्ण बात यही सीखी है। परीक्षणों से यह सिद्ध हो गया है कि अच्छी तरह सफाई करके ही इमारत को रोग-प्रसारक कीटाणुओं से मुक्त किया जा सकता है, वरना केवल सामने आने वाले कीटाणु ही मरते हैं। जगह को किसी शोधक दवा से खूब अच्छी तरह रगड़ना चाहिए, और फिर पानी से धोने के बाद ही कीटाणुनाशक दवा का प्रयोग किया जाना चाहिए। नाँद और पानी के बर्तनों की भी इसी तरह सफाई की जानी चाहिए।

आदर्श पशुशाला

इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर मवेशियों के लिये नये डिजाइन के मकान तैयार किये गये हैं। सुअरों को कुछ तिरछे ढंग से बने बाड़ों में रखा जाता है, जिससे उनके मल को आसानी से बार-बार किसी गढ़हे में बहाया जा सके और वहाँ उस पर दवा छिड़की जा सके। मुर्गियों को गरम सायवान में कम संख्या में रखा जाता है और उनके चारे और पानी के पात्र इस ढंग से रखे जाते हैं कि वे दूषित न हो सकें। विस्कान्सिन विश्वविद्यालय ने अभी हाल में एक आदर्श पशुशाला का डिजाइन तैयार किया है। इसमें गायों का दूध दुहने के लिए अलग-अलग कठघरे बने हुए हैं। प्रत्येक कठघरे में पानी पीने के लिए अलग-अलग पात्र हैं। कठघरे में गाय हिल-डुल तो सकती है पर वह वहाँ से दूसरी जगह नहीं जा सकती। वहाँ यान्त्रिक विधि द्वारा चारा पहुँचाया जाता है। अमेरिका के पशु-उद्योग को पशु-रोगों पर काबू पाने और उनके उन्मूलन में जो भारी सफलताएँ प्राप्त हुई हैं वे उपर्युक्त व्यवस्थाओं के बिना सम्भव नहीं थीं।

१ जनवरी, १९६० को अमेरिका में पशुओं की कुल अनुमानित संख्या इस प्रकार थी—९७,१३९,००० मवेशी; १९५,२७,००० दुधारू गायें; २८,६७७,००० भेड़ें; ५५,३०५,००० सुअर। १८९० की तुलना में ये संख्याएँ दूनी से भी अधिक हैं।

उत्पादन में भारी वृद्धि

१९६० में कुल १२,५०,००,००० डालर मूल्य के मांस १७,६०,००,००० डालर मूल्य की चर्बी और तेल ७,६४,००,००० डालर मूल्य के चमड़े २,४५,००,००० मूल्य के मवेशी १०,५०,००,००० डालर मूल्य के अण्डों तथा डेयरी-जनित पदार्थों का उत्पादन हुआ।

पशु-रोगों, परजीवियों और कीड़ों से वर्ष में लगभग २ अरब ७० करोड़ डालर का नुकसान हुआ, लेकिन रोग-उन्मूलन कार्य-क्रमों पर अमल न किये जाने से जो नुकसान होता, उसका यह बहुत थोड़ा अंश है। पशु-चिकित्सा के अनुसन्धान के क्षेत्र में यद्यपि अभी बहुत कुछ करना बाकी है, पर पशु रोगों पर काबू पाने के प्रयत्नों में हर साल प्रगति हो रही है।

विज्ञान परिषद्, प्रयाग

वार्षिक रिपोर्ट १९६१-६२

१९६१-६२ का वर्ष विज्ञान परिषद् के लिये ऐतिहासिक महत्व का रहा। परिषद् के सभी कार्य सन्तोषजनक रहे।

इस वर्ष परिषद् के निम्नलिखित सभ्य नये बने :—

१—श्री मुरारी प्रसाद शर्मा, उदयपुर, २—श्री तेजेश्वर दयाल सेठ, इलाहाबाद, ३—श्रीमती रानी चन्द्रावती, पीलीभीत, ४—(डा०) कु० कृष्ण कामिनी रोहतगी, कलकत्ता, ५—डा० राम लखन द्विवेदी, इलाहाबाद, ६—श्री उमाशंकर सिंह, लखनऊ, ७—डा० राजेन्द्र सिंह मित्तल, रुड़की, ८—श्री रमेश अवस्थी, दिल्ली, ९—डा० गोपाल सिंह पुरी, १०—श्री शिव कुमार तिवारी, ११—डा० जगदीश सिंह चौहान, १२—डा० बजरंग प्रसाद सिन्हा, १३—श्री कालिका प्रसाद मोहिले, सभी इलाहाबाद के १४—कैप्टेन एस० के० खन्ना, दिल्ली के १५—प्रो० के० एन० कौल, लखनऊ।

इस वर्ष के अन्त तक आजीवन सभ्यों, सभ्यों तथा ग्राहकों की संख्या निम्न रही :—

आजीवन सभ्य ७०

सभ्य १००

ग्राहक ४९५

१९६१ हरिशरणानन्द विज्ञान पुरस्कार प्रतियोगिता में निम्न तीन पुरस्कार घोषित किये गये :—

(१) उच्चतर विज्ञान साहित्य—२,०००)—डा० सत्य प्रकाश कृत "प्राचीन भारत में रसायन की परम्परा" पर

(२) जनोपयोगी विज्ञान साहित्य—१,०००)—डा० शिवगोपाल मिश्र कृत "भारतीय कृषि का विकास" पर

३) बालोपयोगी विज्ञान साहित्य—५००)—श्री रमेश वर्मा कृत "झिलमिलाते सितारे" पर।

स्वामी हरिशरणानन्द जी ने पिछले वर्ष की भाँति १,५००) "विज्ञान" मासिक पत्रिका के स्तर को ऊँचा करने के हेतु विज्ञान परिषद् को दिये जिसके लिये परिषद् उनका आभारी है।

२२ जुलाई, १९६१ का दिन परिषद् के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखा जायगा। उस दिन परिषद् के वार्षिक उत्सव के अवसर पर उत्तर प्रदेश के मुख्य मन्त्री, श्री चन्द्रभानु गुप्त जी परिषद् भवन में पधारे। प्रो० सत्येश्वर घोष ने परिषद् की ओर से उनका स्वागत किया। मुख्य मन्त्री जी ने १९६० के हरिशरणानन्द विज्ञान पुरस्कारों का वितरण किया और परिषद् के कार्यों की प्रशंसा की। अन्त में उन्होंने परिषद् के भवन निर्माण हेतु बीस सहस्र रुपये (२०,००० रु०) के अनुदान की घोषणा की। इस अवसर पर प्रो० जमुना दत्त तिवारी जी का वैज्ञानिक अनुसन्धान पर भाषण हुआ। मुख्य मन्त्री जी ने अपने भाषण में तिवारी जी के विचारों की अनेक बार प्रशंसा की और अपनी सहमति प्रकट की।

विज्ञान परिषद् के तत्त्वावधान में ३ जनवरी, १९६२ को कटक में साइंस कांग्रेस के अवसर पर चतुर्थ विज्ञान परिषद् अनुसन्धान गोष्ठी का आयोजन हुआ। इसकी अध्यक्षता राष्ट्रीय वनस्पति

उद्यान के अध्यक्ष प्रो० कैलाश नाथ कौल ने की। अधिवेशन का उद्घाटन श्री हरे कृष्ण मेहताब जी ने किया। प्रो० कौल ने "वनस्पति उद्यान का भारतवर्ष में उदय और विकास" पर अध्यक्षपदीय भाषण दिया। तत्पश्चात् अनेक वैज्ञानिक विषयों पर अनुसन्धान लेख पढ़े गये। अधिवेशन के अन्त में प्रयाग विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री बलभद्र प्रसाद जी ने सभा अध्यक्ष तथा अन्य उपस्थित सज्जनों को धन्यवाद दिया। १९६२ के साइंस कांग्रेस के अध्यक्ष डा० बी० मुकर्जी के भाषण को हिन्दी माध्यम में विज्ञान परिषद् की ओर से प्रकाशित किया गया तथा अधिवेशन में वितरित किया गया।

विज्ञान परिषद् अनुसन्धान पत्रिका का प्रकाशन डा० सत्यप्रकाश जी की अध्यक्षता में होता रहा। इस सम्बन्ध में पत्रिका के प्रबन्ध सम्पादक डा० शिवगोपाल मिश्र जी सराहनीय कार्य कर रहे हैं। पत्रिका में प्रकाशित शोध लेखों की संक्षिप्तियों का प्रकाशन विश्व की संक्षिप्तीकरण पत्रिकाओं में हो रहा है। अनुसन्धान पत्रिका के प्रकाशन के हेतु उत्तर प्रदेश साइंटिफिक रिसर्च कमेटी से पाँच सहस्र रुपये का अनुदान प्राप्त हुआ और केन्द्रीय सरकार के वैज्ञानिक अनुसन्धान तथा सांस्कृतिक मन्त्रालय की ओर से तीन सहस्र पाँच सौ रुपये का अनावर्त्तक अनुदान प्राप्त हुआ।

हर वर्ष की भाँति उत्तर प्रदेश सरकार से "विज्ञान" के प्रकाशन के लिये दो सहस्र रुपये का आवर्त्तक अनुदान प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त एक सहस्र रुपये का अनावर्त्तक अनुदान भी प्राप्त हुआ। विज्ञान के प्रकाशन का व्यय, सभ्यों तथा ग्राहकों से आय तथा सरकार के वर्तमान अनुदान से नहीं चल पाता है। सरकार से हमारी प्रार्थना है कि विज्ञान के प्रकाशनार्थ आवर्त्तक अनुदान पाँच सहस्र रुपये कर दे जिससे यह कार्य सुचारु रूप से हो सके।

इस वर्ष बीस सहस्र रुपये का अनुदान प्राप्त होने पर भवन निर्माण का कार्य द्रुत गति से चलता रहा। भवन की छत के दो कमरे, फर्श, तथा बारामदे का कार्य पूरा हो गया है तथा हाल की नींव और कुछ दीवारों का कार्य पूर्ण हो गया है। जब हमें हाल बनाने के लिये लगभग एक लाख रुपये की और आवश्यकता है। भवन निर्माण कार्य में उत्तर प्रदेश के अवकाश प्राप्त चीफ इन्जीनियर श्री बलवीर सिंह जी ने परिषद् को विशेष सहायता दी है उसके लिए परिषद् उनका आभारी है। इसके अतिरिक्त इसमें भवन निर्माण मंत्री तथा परिषद् के कोषाध्यक्ष डा० रामदास तिवारी एवं परिषद् के इन्जीनियर श्री संतोष कुमार मुकर्जी का सरहानीय कार्य रहा।

इस वर्ष नगर महापालिका की ओर से परिषद् को केवल २५०) का अनुदान प्राप्त हुआ। अपने नये नगर प्रमुख, श्री जुल्फीकार उल्ला जी से बहुत आशायें हैं और हम उम्मीद करते है कि परिषद् के लिए कम से कम एक सहस्र रुपये के आवर्तक अनुदान की व्यवस्था कर देंगे।

केन्द्रीय सरकार के शिक्षा मंत्रालय द्वारा परिषद् को कुछ विशिष्ट वैज्ञानिक विषयों की पुस्तकों के अनुवाद का कार्य सौंपा गया है। इस कार्य को प्रारम्भ करने के हेतु पाँच सहस्र का एक अनुदान भी परिषद् को दिया गया है। परिषद् की कार्यकारिणी ने यह निश्चय किया है कि भविष्य में इस कार्य के लिये राशियों का व्यय हमारे अध्यक्ष, डा० सत्य प्रकाश जी स्वयं अपनी देख-रेख में करें। हमें आशा है कि डा० सत्यप्रकाश जी के नेतृत्व में यह कार्य परिषद् द्वारा सुचारु रूप से होगा और हिन्दी में विज्ञान प्रचार एवं प्रसार के कार्य में विज्ञान परिषद् का मुख्य स्थान होगा।

परिषद् के लिये बड़े शोक का विषय है कि उसके तत्कालीन सभापति डा० गोरख प्रसाद जी

का ५ मई, १९६१ को वाराणसी में अपने सेवक के प्राण बचाने के प्रयत्न मे नदी में डूब जाने से देहांत हो गया। डा० गोरख प्रसाद जी का परिषद् से बहुत पुराना सम्बन्ध रहा है। उनसे परिषद् के अन्य कार्यकर्त्ताओं को सदा प्रेरणा मिलती रही और १९६० में वे परिषद् के अध्यक्ष भी निर्वाचित हुए थे। उनके निधन से हमें बहुत बड़ी क्षति हुई है। परिषद् को उनकी सेवाएं सदा याद रहेंगी।

उनकी स्मृति में १३ मई, १९६१ को परिषद् भवन में प्रयाग विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री पी० के० कौल की अध्यक्षता में एक शोक सभा हुई जिसमें प्रयाग के प्रमुख नागरिकों ने अपनी श्रद्धाँजलियाँ भेंट कीं। १९६१ का विज्ञान का 'जून-जुलाई' अंक डा० गोरख प्रसाद स्मृति अंक के रूप में निकालने का आयोजन हुआ।

१. सोवियत संघ में तपेदिक के विरुद्ध संघर्ष

सोवियत सरकार जनता के स्वास्थ्य के प्रति नित्य सतत चिन्ता रखती है। उसने तपेदिक से लड़ने के लिए एक ठोस कार्यक्रम तैयार किया है और इस महत्वपूर्ण अभियान के लिए वह काफी बड़ी-बड़ी रकमें निश्चित करती है।

सोवियत संघ में ६००० से अधिक तपेदिक विरोधी केन्द्र हैं इस रोग की रोकथाम तथा इलाज के लिए आवश्यक समस्त आधुनिक सुविधाओं से लैस हैं। यह बात उल्लेखनीय है कि पिछले आठ वर्षों में तपेदिक से पीड़ित होने वाले रोगियों की संख्या में कमी हुई है। सामूहिक पैमाने पर आबादी की विशेष डाक्टरी जाँचें इस रोग के प्रारम्भिक निदान में अत्यधिक सहायक होती हैं। सोवियत संघ में समस्त नवजात शिशुओं को अनिवार्य रूप से बी० सी० जी० के टीके लगाये जाते है और तदुपरान्त इन शिशुओं को बाल्य-काल तथा तरुणावस्था में पुनः ये टीके अनिवार्यतः लगाये जाते हैं। इसके फलस्वरूप आश्चर्यजनक परिणाम प्राप्त हुए हैं। सोवियत संघ में हर साल औसतन एक करोड़ या इससे कुछ अधिक लोगों को बी० सी० जी० के टीके लगाये जाते है। इस संख्या में नवजात शिशु माध्यमिक स्कूलों तथा कालेजों के छात्र और ३० वर्ष से कम आयु के आबादी के अन्य वर्ग शामिल हैं। इस व्यवस्था के लाभदायक परिणाम हुए हैं। तपेदिक की दर में स्पष्ट कमी हुई है और इस रोग से बच्चों की मृत्यु की दर में कई गुनी कमी हुई है।

तपेदिक के विरुद्ध अभियान में सफलता का श्रेय एक बड़ी हद तक इस प्रकार की नयी सुविधाओं को है जैसे क्षय रोग के रोगी को एक लम्बी अवधि (दस महीने या अधिक) के लिए काम से छुट्टी मिलना और उसकी नौकरी सुरक्षित बनी रहना, पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ तक सेनेटोरियम में मुफ्त इलाज, उसे अच्छा आवास स्थान और अन्य अनेक सुविधाएँ उपलब्ध करना। रोगी के लिए इस प्रकार की समस्त देखभाल राज्य की जिम्मेदारी है। जिन बच्चों के इस रोग से पीड़ित होने का भय होता है उनकी ओर विशेषतः अधिक ध्यान दिया जाता है। इस बात की पूरी व्यवस्था कर दी गयी है कि क्षय से पीड़ित तमाम बच्चों को अस्पताल में रखकर पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ कराया जा सके। क्षय-पीड़ित बच्चों के लिए वन, स्कूलों और सेनेटोरियमों के अतिरिक्त अब विशेष बोर्डिंग स्कूल भी खोले जा रहे है।

रोकथाम

क्षय-चिकित्सकों के पास अनेक प्रभावशाली क्षय-विरोधी औषधियां है। ये औषधियाँ क्षय के कीटाणुओं को नष्ट ही नहीं कर देतीं, बल्कि इस रोग का प्रतिरोध करने की शरीर की क्षमता को

बढ़ाने में भी सहायता करती हैं। अनेक कीटाणु-नाशक औषधियों का सम्मिश्रित प्रयोग अत्यन्त प्रभावशाली होता है।

तपेदिक के इलाज में, विशेषकर फेफड़ों के तपेदिक के इलाज में शल्य-चिकित्सा के उपयोग में सोवियत चिकित्सा ने उल्लेखनीय सफलताएँ प्राप्त की हैं। फेफड़े के रुग्ण अंश को शल्य-क्रिया द्वारा हटा देने से अत्यन्त आरोग्यकारी प्रभाव उत्पन्न होता है। फेफड़ों की इस बारीक काँट-छाँट से श्वास प्रक्रिया में कोई विशेष बाधा नहीं उत्पन्न होती। अग्रणी सर्जन और क्षय-चिकित्सक अब श्वासनली की आंशिक काटछाँट की विधि विकसित करने में व्यस्त हैं।

२. खेती के लिए अच्छे औजार

योजना आयोग ने मत प्रकट किया है कि भारत में खेती में काम आने वाले औजार और अन्य मशीनें अधिकांश रूप में देश में ही बनने लगे हैं। ट्रैक्टरों के अलावा अन्य चीजों का भारी मात्रा में आयात करने का कोई विचार नहीं है। बिजली से चलने वाले पम्पों और डीजल इंजनों के निर्माण में लगभग आत्मनिर्भरता हो गई है। खेती के औजार 'संगठित' क्षेत्र और छोटे कारखानों में बनाये जा रहे हैं। दूसरी योजना के अन्त में 'संगठित क्षेत्र' में ६० कारखाने थे, जिनमें हल, फावड़े, खुरपे, पत्ते-टहनियाँ आदि काटने के कैंचे, ठेले, हाथ से पानी खींचने के पम्प, तेल निकालने की घानियाँ, मुर्गी पालने के उपकरण, पौधों पर कीड़े मारने की दवाएँ आदि छिड़कने के औजार आदि बन रहे थे। इनमें से बड़े कारखानों में प्रति वर्ष कुल ३०,९०० टन तक इस्पात काम में आ रहा था। १९६० में १७,४०० टन इस्पात के बराबर खेती के औजार आदि बने। छोटे कारखाने देश के कोने-कोने में फैले हुए हैं। अनुमान है कि दूसरी योजना के अंतिम साल में इन कारखानों में ७-८ करोड़ रु० के खेती के औजार आदि बनाये गये।

भारत में खेती के कुछ औजार बाहर से मंगाये जा रहे हैं और कुछ का यहाँ से निर्यात भी हो रहा है। १९६० में ३९ लाख रु० के उपकरण आदि आयात हुए और केवल ७० हजार रु० के निर्यात हुए। यह निर्यात मुख्यतः दक्षिण-पूर्व एशिया, मध्य एशिया और अफ्रीकी देशों को हुआ। इन देशों को खेती के उपकरणों का निर्यात बढ़ाने की काफी गुंजाइश है।

तीसरी योजना में देश में खेती के कितने उपकरणों की माँग होगी, इसका अभी अनुमान लगाया जा रहा है। किन्तु यह अवश्य है कि भविष्य में इन औजारों का निर्माण काफी बढ़ाना होगा।

बिजली के पम्प

देश में सिंचाई सुविधाओं और रासायनिक पदार्थों, कागज, चीनी आदि के कारखानों के विस्तार के फलस्वरूप बिजली से चलने वाले पम्पों की माँग भी काफी बढ़ रही है। दूसरी योजना के प्रारम्भ में देश में २७ कारखाने थे जहाँ प्रति वर्ष लगभग ६७,५०० पम्प बन सकते थे। योजना के अन्त में इन कारखानों की संख्या ४८ हो गई, जिनमें प्रति वर्ष १,२७,६६६ पम्प बन सकते थे। इनमें से अकेले मद्रास राज्य में २२ कारखाने थे, जिनमें ६६,९९२ पम्प बन सकते थे।

दूसरी योजना के अन्त में देश को ८६ हजार पम्पों की आवश्यकता थी। वास्तविक उत्पादन इससे कहीं अधिक हुआ। १९५५-५६ में ३७ हजार पम्प बने थे, जबकि १९६०-६१ में १ लाख ५ हजार पम्प बने। आजकल देश में लगभग सभी आकार-प्रकार के पम्प बन रहे हैं। किन्तु अब भी कुछ

पम्प थोड़ी मात्रा में आयात किए जा रहे हैं। १९६० में १२६ लाख रु० के २७३२ पम्प आयात किए गये जबकि ५ लाख रु० के १०३६ पम्प निर्यात भी हुए।

तीसरी योजना में डेढ़ लाख पम्पों की माँग होने का अनुमान है। १४ नये कारखानों को पम्प बनाने के लाइसेन्स दिये जा चुके हैं। इन्हें मिलाकर देश भर में प्रति वर्ष कुल १,४७,६०१ पम्प बनने लगेंगे। एक से अधिक पारियों में यह उत्पादन और काफी बढ़ाया सकता है। पम्प बनाने में लोहा, इस्पात, एक खास किस्म की मिश्रित धातु और कोक लगता है। यह सब देश में ही मिल जाता है। कुछ समान बाहर से मँगाना पड़ता है। कुछ साल में यह भी देश में ही बनने लगेगा।

डीजल इंजन

डीजल इंजन सिंचाई के बहुत काम आते हैं। दूसरी योजना में इनका निर्माण काफी तेजी से बढ़ा। १९६०-६१ तक लगभग २१ हजार डीजल इंजन बनाने का लक्ष्य था, जब कि वास्तव में इससे दुगुने से भी ज्यादा—४३,२१५ बने। दूसरी योजना के अन्त में २३ कारखाने थे, जिनमें ४७,६८० डीजल इंजन बन सकते थे। अकेले महाराष्ट्र राज्य में ३३,९७० इंजन बनाने वाले ९ कारखाने थे। तीसरी योजना में ६६ हजार डीजल इंजनों का लक्ष्य रखा गया है।

ट्रैक्टर

खेती में ट्रैक्टरों का उपयोग धीरे-धीरे बढ़ रहा है। बस दो दिक्कतें हैं। एक तो यह मँहगा पड़ता है और दूसरे, कुछ क्षेत्रों में यह आसानी से काम नहीं लाया जा सकता।

सन् १९६० तक देश में ट्रैक्टर बनाने का कोई कारखाना न था। कुछ फर्म विदेशी सहायता से देशों में पुर्जे आदि जोड़कर ट्रैक्टर बना रहे थे।

अनुमान है कि दूसरी योजना के शुरू में देश में लगभग बीस हजार ट्रैक्टर काम में लाये जा रहे थे। योजना के अन्त में इनकी संख्या लगभग ३५ हजार हो गई। १९६० में ३ करोड़ ३३ लाख रु० के ३,८४३ ट्रैक्टर बाहर से मँगाये गये। १९६० में ही एक भारतीय फर्म ने ट्रैक्टरों का निर्माण शुरू किया। यह साल में लगभग ६ हजार ट्रैक्टर बना सकती है। तीसरी योजना में १९६५-६६ तक प्रति वर्ष १० हजार ट्रैक्टर बनाने का लक्ष्य है। अब तक ५ कारखानों को लाइसेन्स दिये जा चुके हैं, जो १९६५-६६ तक १४,५०० ट्रैक्टर बना सकेंगे।

———

विज्ञान वार्ता

१. टाँके लगाने के लिए रासायनिक तागा

यह कल्पना करना भी कठिन है कि यदि संश्लिष्ट पदार्थ धरती से कुछ क्षण के लिए भी लुप्त हो जायं, तो हमारी कितनी क्षति होगी। राष्ट्रीय अर्थतंत्र में उनका महत्व तो सारी दुनिया मानती है, लेकिन पोलीमरों का औषधि के क्षेत्र में उपयोग कम आकर्षक नहीं।

पहले शल्य चिकित्सा में टाँके लगाने के लिए खास तरह के तागे काम में आते थे। आज पोलीविनाइल एलकोहल से रसायनज्ञ जो तागे बनाते हैं, वे बड़े ही उपयोगी होते हैं। वह ऐसे बनाये जा सकते है कि एक निश्चित समय के भीतर शरीर में घुलमिल जायं। उन्हें कतिपय दवाओं और छूतनाशक उपकरणों से युक्त भी किया जा सकता है। उनमें ऐसे मिश्रण भी मिलाये जा सकते हैं कि तागे एक्स-रे के प्रकाश में देखे जा सकें। इससे यह पता चलता रहता है कि घाव कितना भर गया है।

२. पोलीमर रक्त का स्थान ले रहे हैं

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय संश्लिष्ट रक्त का उपयोग बड़े पैमाने पर किया गया था। आज गुण और परिमाण दोनों ही दृष्टियों से इसमें वृद्धि हुई है। लेनिनग्राद के उच्च अणु मिश्रण संस्थान की प्रो० बगोमोलोवा ने पशुओं पर जो परीक्षण किये हैं, उनसे पता चलता है कि शरीर के दो-तिहाई रक्त के स्थान में संश्लिष्ट रक्त पहुँचाया जा सकता है। जिन पशुओं के शरीर से इतना रक्त निकाल लिया गया, उनका रक्त चाप तेजी से कम हो गया और हृदय की क्रिया भी मन्द पड़ गयी। संश्लिष्ट रक्त पहुँचाने के बाद हृदय की धड़कन बढ़ गयी और रक्तचाप भी पहली अवस्था में आ गया तथा उतना ही बना भी रहा।

प्राप्त आंकड़ों से पता चलता है कि संश्लिष्ट रक्त के औषधि के रूप में अनेक उपयोग हो सकते हैं।

३. प्लास्टिक लेन्स से दृष्टि दान

चुवाश स्वायत्तशासी जनतंत्र के एक गाँव की लड़की लेना पेत्रोवा जब दो साल की थी, तभी से उसे दाहिनी आँख से कुछ न दिखायी पड़ता था। उसकी आँख का आपरेशन करके उसकी आँख के लेन्स के स्थान पर प्लास्टिक कणों का विशेष लेन्स लगा दिया गया। अब वह लड़की दोनों आँखों से बराबर देखती है तथा स्कूल में मजे में पढ़ती है।

४. कृत्रिम आवाज

यदि शल्यक्रिया के फलस्वरूप या कंठनली में किसी प्रकार की चोट लगने या सूजन वाली बीमारी के कारण किसी व्यक्ति का स्वर नष्ट हो जाए तो अब उसे चिन्ता करने की जरूरत नहीं है। कजा-

स्तान के 'इलेक्ट्रो ऐपारात' कारखाने ने एक ऐसा यंत्र तैयार किया है जिसके मुँह में लगा लेने से स्वरविहीन व्यक्ति बिलकुल अच्छी तरह बोल सकता है। इस यंत्र के निर्माण में प्लास्टिक का प्रयोग किया गया हैं और इसमें ५० ग्राम भार की एक नली लगी रहती है। इसमें सूक्ष्म स्पन्दक लगा रहता है जो ट्रंजीस्टर जेनरेटर के साथ जुड़ा रहता है जिसे टार्च की मामूली बैटरियों से विद्युत् शक्ति प्राप्त होती है।

५. रक्ताल्पता की अक्सीर दवा ताँबा

उजबेकिस्तान के समरकन्द औषधि विज्ञान संस्थान के जैव-रसायनविद् आहार में विद्यमान विभिन्न अति सूक्ष्म तत्वों के शरीर पर पड़ने वाले प्रभाव के बारे में अनुसन्धान कर रहे हैं। अब तक के परीक्षणों से वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि बच्चों के मुख्य भोजन-सामान्य दूध में अपर्याप्त परिमाण में ताँबा, कोबाल्ट, मेंगनीज़ तथा अन्य आवश्यक तत्व पाये जाते हैं। सोवियत डाक्टरों का कहना है कि इन तत्वों में तांबा विशेष रूप से महत्वपूर्ण है।

समरकन्द के क्लिनिक में रक्ताल्पता के मरीजों को प्रतिदिन दो से ढाई मिलीग्राम तांबा युक्त एक गिलास दूध पीने को दिया जाता हैं।

इस प्रकार रक्ताल्पता के मरीज बहुत जल्दी स्वास्थ्य लाभ करते हैं।

६. मिट्टी के तेल से विद्युत शक्ति का उत्पादन

अमेरिका की एक कम्पनी ने एक ऐसी विधि विकसित की है, जिसके द्वारा मिट्टी के तेल से जलने वाले एक छोटे दीपक से बिजली उत्पन्न की जा सकती है। यह विधि व्यावहारिक होने के साथ-साथ कम खर्चीली है।

सेण्ट पाल, मिनेसोटा, की मिनेसोटा माइनिंग एण्ड मैन्युफैक्चरिंग कम्पनी ने मैक्सिको सरकार के लिए मिट्टी के तेल से चलने वाले इन अद्भुत जेनरेटरों का निर्माण किया है। मैक्सिको सरकार इन जेनरेटरों का प्रयोग राज्य के भीतरी भागों में, जहां बिजली नहीं है, स्थित स्कूलों में बिजली की व्यवस्था करने के लिए कर रही है। इस बिजली की सहायता से शिक्षा सम्बन्धी रेडियो-कार्यक्रम चलाये जाते हैं।

यह 'थर्मो-इलक्ट्रिक जेनरेटर' विभिन्न विद्युत वाहक पदार्थों की 'थर्मोकपुल' नामक पट्टियों का प्रयोग करके उष्मा को बिजली में परिणत कर देता है। इस प्रकार का एक 'तत्व' सक्रिय तथा दूसरा निष्क्रिय होता है। पदार्थों के इस युग्म के किसी जोड़ पर मिट्टी के तेल का उष्मा लगाया जाता है। उसके पृष्ठ भाग के खुले जोड़ को ठण्डा रखा जाता है, जिससे एक छोर से दूसरे छोर तक बिजली संचालित हो जाती है।

बिजली उत्पन्न करने के लिए 'थर्मो-कपुल' नामक बहुत से युग्मों को क्रम से एक में सम्बद्ध कर दिया जाता है। जेनरेटर के आधार के भीतर एक छोटा सा उपकरण लगा होता है, जो रेडियो तक बिजली के परिपथ को पूरा कर देता है।

कम्पनी का कहना है कि इस प्रकार के वायु निरुद्ध मुहरबन्द जेनरेटर ५ वर्ष से अधिक समय तक सफलतापूर्वक चालू रहे हैं। इसमें कोई सचल पुर्जा नहीं होता है। अतः इसके रखरखाव के लिए कोई प्रबन्ध नहीं करना पड़ता। ठण्डे मौसम में भी यह आसानी से चालू हो जाता है। यह एक पिण्ट (आधा लिटर) मिट्टी के तेल या इसी प्रकार के तरल ईंधन से २४ घण्टे तक चालू रह सकता है। आवश्यकता पड़ने पर उष्मा उत्पन्न करने के लिए दो मोमबत्तियों का भी प्रयोग किया

जा सकता है। अप्रयुक्त होने पर इसे जब तक चाहें सुरक्षित रख सकते हैं।

इस जेनरेटर के दो अन्य लाभ भी हैं। यह छोटी-छोटी खिड़कियों के रास्ते रोशनी प्रदान करता है, जिसकी सहायता से लोग तूफानी वातावरण में भी अपनी शरणस्थली को ढूँढ़ सकते हैं। साथ ही इसके ताप से आसपास का वातावरण कुछ-कुछ गर्म हो जाता है। इसका निर्माण करने वाली कम्पनी का कहना है कि इसका प्रयोग नौकाओं पर, मौसम-अनुसन्धान केन्द्रों पर तथा खानों में किया जा सकता है।

७. चन्द्रमा पर प्रयोग के लिए अणुशक्ति से चालित बिजलीघर

अमेरिका के वेस्टिंग हाउस कम्पनी के इंजीनियरों ने अणुशक्ति से चालित एक ऐसे हल्के बिजलीघर का आविष्कार किया है जिसका चन्द्रमा पर प्रयोग किया जा सकेगा। इस विषय में प्रदर्शन के लिए एक छोटा सा माडल तैयार किया गया है जिससे लगभग ६० वाट बिजली उत्पन्न होती है।

इस प्लाट में ताप के स्रोत के रूप में रेडियो आइसोटोप क्यूरियम—२४२ का प्रयोग किया जायेगा। क्यूरियम से जो उष्मा पैदा होगी वह उक्त यन्त्र में सीधे बिजली में परिणत हो जायेगी।

८. छोटे रेडियो द्वारा पेट की दशा की जानकारी

अमेरिका में टेनेसी विश्वविद्यालय के चिकित्सा कालेज के चिकित्सकों ने एक ऐसे लघु यन्त्र (केपस्यूल रेडियो) का आविष्कार किया है जिसको निगलने से पेट की अम्लता के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की जा सकती है। उस केपस्यूल रेडियो के साथ एक ऐसी इलेक्ट्रोड जोड दी जाती है जिस पर अम्लता का तुरन्त प्रभाव मालूम हो जाता है। टेनेसी विश्वविद्यालय के डाक्टरों के कथनानुसार, ९०६ मैगासाइकिल पर संकेत भेजा जाता है। संकेत की शार्टेज होने के कारण उस व्यक्ति को एक वृत्ताकार स्पर्शदण्ड (ऐंटेना) पेटी के रूप में पहना दिया जाता है, जिसकी जाँच की जानी होती है। एण्टेना से तीन फुट दूर तक उपयुक्त रिसीवर द्वारा संकेत ग्रहण किया जा सकता है।

इस समय जो यन्त्र प्रयोग में लाया जा रहा है, उसमें अभी काफी सुधार किये जाने की आवश्यकता है, फिर भी अनुसन्धानकर्त्ताओं का कथन है कि उस यन्त्र ने यह सिद्ध कर दिया है कि सिद्धान्त बिल्कुल ठोस है। पेट की अम्लता का पता लगाने के लिये यह यन्त्र तैयार किया गया है।

———

१. प्रोफेसर हाल्डेन द्वारा पदत्याग

सुप्रसिद्ध जीव वैज्ञानिक जे० बी० एस० हाल्डेन ने कौंसिल आफ साइंटिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च की कलकत्ता स्थित जेनेटिक्स तथा बायोमीटरी रिसर्च यूनिट के अध्यक्षपद से जून माह के मध्य में पदत्याग कर दिया है।

इस पदत्याग का कारण साइंटिक रिसर्च तथा कल्चरल अफेयर्स के मन्त्री प्रोफेसर हुमायूँ कबीर के संसद में दिये गये भाषण की प्रतिक्रिया बताई गई है। प्रो० कबीर ने यह सूचित किया था कि हाल्डेन को कलकत्ता में सभी सुविधायें प्रदान की जा रही हैं। इसके प्रत्युत्तर में हाल्डेन ने वास्तविक स्थित पर प्रकाश डालते हुये यह कहा है कि ऐसी दशा में मैं शोधकार्य नहीं कर सकता।

प्रोफेसर हाल्डेन की नियुक्ति नवम्बर १९६१ में हुई थी। इनका मुख्य आक्रोश एवं आरोप भारतीय सरकार के ऊपर यह है कि इस के अधिकारी वैज्ञानिकों पर रोब दिखाना चाहते हैं। यही कारण है कि भारतवर्ष की वैज्ञानिक प्रतिभा दबी पड़ी है।

हम प्रोफेसर हाल्डेन के निर्भीक विचारों का स्वागत करते हैं। एक विदेशी वैज्ञानिक द्वारा भारत में वैज्ञानिक वातावरण का चित्रण यथार्थता से पूर्ण है। आज हमारी वैज्ञानिक अधोगति के मूल में सरकारी नियंत्रण कार्य कर रहा है। डा० हाल्डेन से इन अधिकारियों ने अस्थायी पद पर होते हुये भी अनुचित प्रकार से हस्ताक्षर माँगे थे। यह लज्जा का विषय है।

पाठकों का ध्यान हम हाल्डेन द्वारा विगत साइंस कांग्रेस के अवसर पर ऐसे ही निर्भीक विचारों को प्रकाशित करने के सम्बन्ध में आकृष्ट करना चाहते हैं जिसकी चर्चा हमने अपने सम्पादकीय में की थी।

२. जय अंग्रेजी, जिन्दाबाद !!!

पिछले दिनों राष्ट्रीय एकता परिषद्, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा एवं भारत के गृहमन्त्री द्वारा अंग्रेजी के बनाये रखने और हिन्दी के सरलीकरण की बातें दोहराई गई हैं। गृहमन्त्री ने प्रधान मंत्री नेहरू की उस इच्छा का भी उल्लेख किया है जिसमें वे अंग्रेजी को १९६५ के पश्चात् सहायक भाषा (एशोसिएट लैंग्वेज) के रूप में अनन्त काल तक भारत भूमि में पल्लवित रखना चाहते हैं।

रेडियो ने भी भाषा सम्बन्धी अपनी नीति में परिवर्तन का नारा बुलन्द करना प्रारम्भ कर दिया है।

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि स्वाधीनता के १५ वर्ष बाद राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति अनास्था प्रकट करना देश ही नहीं बल्कि अपनी स्वाधीनता के प्रति अनास्था है। अभी तक वैज्ञानिक विषयों के लिये हिन्दी को अशक्त माना जाता रहा किन्तु एकाएक समूची विचार धारा में यह आमूल परिवर्तन हमें सतर्क होने के लिये मानों आह्वान कर रहा हो। हमारे नेतागण अंग्रेजी भाषी राज्यों एवं इसी प्रकार के भारतवर्ष की कामना करने लगे हैं। बलिहारी है उनकी बुद्धि को कि अपनी राष्ट्रभाषा उन्हें कड़ुवी और परराष्ट्र भाषा, अंग्रेजी उन्हें सुस्वादु लग रही है।

ा ९५
या ४
१९ वि०
ई '६२

सम्पादक——डा० शिवगोपाल मिश्र

०न०पै०
रुपये

// विज्ञान

विज्ञान परिषद् प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञान ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञान जानेतानि जीवन्ति विज्ञान प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तै० उ० ।३।५।

भाग ९५ | आषाढ़ २०१९ विक्र०, १८८४ शक जुलाई १९६२ | संख्या ४

मृदा एवं पौधों के भोज्य तत्व

रमेश चन्द्र तिवारी

पेड़ पौधों की सफल एवं सामान्य वृद्धि के लिए आवश्यक भोज तत्वों की पूर्ति मुख्यरूप से मृदा द्वारा ही की जाती है। अत: उन्नत कृषि एवं उत्पादनशील भूमि के लिए, मृदा से पौधों के भोज्य तत्वों की उपलब्धि तथा पूर्ति का विस्तृत अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। विभिन्न मृदाओं में भोज्य तत्व भिन्न-भिन्न मात्रा में पाये जाते हैं। किसी मृदा की उर्वरता उसमें उपस्थित तमाम आवश्यक तत्वों की मात्रा पर निर्भर करती है। वैसे तो कुछ कारकों पर पौधों का जीवन अवलम्बित है परन्तु उनमें भोज्य तत्वों का स्थान प्रथम है। प्रकाश के अतिरिक्त वायु, जल, उष्मा, भोज्य तत्व एवं अन्य अनुकूल परिस्थितियों का संतुलन कर मृदा पौधों को जीवन प्रदान करती है।

आवश्यक भोज्य तत्व—भूमि जीवाणुओं तथा पौधों की समुचित वृद्धि के लिए तत्वों की एक निश्चित मात्रा ही प्रयुक्त होती है। भूमि में इन तत्वों की न्यूनता और अधिकता दोनों, पौधों एवं जीवाणुओं के लिए घातक होती है। भूमि में इन आवश्यक तत्वों का संतुलन अत्यन्त आवश्यक है। पौधों की राख में कुल ३५ तत्व पाये गये हैं परन्तु उसमें १४ तत्व बहुत ही आवश्यक हैं।

पौधों द्वारा तत्वों की गृहीत मात्रा के आधार पर भूमि विशेषज्ञों ने इनको दो श्रेणियों में विभाजित किया है :—

(१) **सामान्य तत्व** (macro-nutrients) **अथवा तोषक तत्व**—वे तत्व जो अधिक मात्रा में में प्रयुक्त होते हैं। उदाहरणार्थ—C, H, O, N, P, K, S, Ca, Mg इत्यादि।

(२) **सूक्ष्म तत्व** (micronutrients)—इनकी न्यूनतम मात्रा नियमित रूप से प्रयोग में लाई जाती है। इस श्रेणी के अन्तर्गत ताम्र, मालिब्डनम, बोरान, यशद तथा कोबाल्ट आदि आते हैं।

इन भोज्य तत्वों के अतिरिक्त पौधों में Br, F, Li, Ba, Sr, Rb, As, Se, Sn, Ti इत्यादि भी पाये जाते है। Al, Si, Na, Co, Cl एक विशेष श्रेणी के तत्व हैं जो पौधों के लिए लाभदायक सिद्ध हुए हैं।

प्रसिद्ध भूमि विशेषज्ञ **होगलैण्ड तथा स्नाइडर** (१९३३) के अनुसार चार सूक्ष्म तत्वों के अतिरिक्त अन्य

२२ तत्व पौधों की सामान्य वृद्धि के लिए आवश्यक हैं। जलसंवर्द्धन विधि (Hydroponics technique) द्वारा इन तत्वों की आवश्यकता, इनकी अधिकता का पौधों पर प्रभाव तथा इनकी न्यूनता के अन्य परिणामों का अध्ययन किया गया है। इस विधि को कृत्रिम भोज्यतत्व विलयन के नाम से भी जाना जाता है। **आर्नन** ने १९३८ में अपने महत्वपूर्ण अन्वेषणों के पश्चात्, **मॉलिब्डनम, वैनेडियम, क्रोमियम, निकेल, कोबाल्ट, टंगस्टन,** तथा **टाइटैनियम** को कोष्ठों में होने वाले तमाम आक्सीकरण-अपचयन क्रियाओं में प्रमुख भाग लेने वाला बताया। ये सात तत्व परिवर्तनशील संयोजकता के कारण उपरोक्त क्रिया में भाग लेते हैं।

आर्नन एवं **स्टाउट** ने (१९३९) में घोषित किया कि पौधों के लिए कोई तत्व आवश्यक नहीं कहा जा सकता जब तक कि इन तत्वों पर किये गये तमाम

खनिज मिट्टियों में उपस्थित मूल भोज्य तत्वों के रूप

भोज्य तत्व	समूह १ जटिल अनुपलब्ध तथा अक्रिय रूप	समूह २ सुगमता से उपलब्ध तथा विलेय रूप	उपलब्ध आयनिक समतुल्य
नाइट्रोजन	प्रोटीन, अमिनो अम्ल तथा इसी प्रकार के अन्य रूप, कलिलीय रूप।	अमोनियम लवण नाइट्राइट लवण नाइट्रेट लवण	NH_4^+ NO_2^- NO_3^-
फासफोरस	एपीटाइट, कैलसियम, लोहा तथा ऐल्यूमिनियम के फासफेट। कार्बनिक रूप :—फाइटिन तथा न्यूक्लिक अम्ल इत्यादि।	Ca, K, तथा Mg इत्यादि के फासफेट विलय कार्बनिक रूप	$PO_2^{\equiv}$ $HPO_4^{=}$ $H_2PO_4^-$
पोटैसियम	खनिज :—जैसे माइका, फेल्सपार इत्यादि जटिल ऐल्यूमीनियम सिलकेट जैसे इलाइट मृत्तिका खनिज।	कलिल पदार्थों द्वारा अवशोषित पोटैसियम आयन, पोटैसियम के सल्फेट एवं कार्बोनेट लवण इत्यादि	K^+
कैलसियम	खनिज :—फेल्स्पार, हार्नब्लैंड, कैलसाइट तथा डोलोमाइट, ऐल्यूमीनियम, सिलिकेट विशेषतया मृत्तिका खनिज।	कलिल पदार्थों द्वारा अवशोषित पोटैसियम आयन, साधारण कोटि के कैलसियम लवण	Ca^{++}
मैगनीसियम	खनिज :—माइका (अभ्रक), हार्नब्लैंड, डोलोमाइट तथा सर्पेन्टाइन।	कलिल पदार्थों द्वारा अवशोषित मैगनीसियम आयन। मैगनीसियम के अनेक विलेय लवण	Mg^{++}
गंधक	खनिज लवण जैसे पाइराइट तथा जिप्सम। कार्बनिक रूप :—कलिल रूप तथा विघटनीय।	Ca, Mg, K के विभिन्न सल्फाइट तथा सलफेट	SO_3^{--} SO_4^{--}

अध्ययनों में से निम्न प्रमाणों की पुष्टि न जाय।

(१) वे तत्व जिनकी न्यूनता से पौधों के जीवन-चक्र की तमाम वानस्पतिक एवं प्रजनन अवस्थायें अधूरी रह जाती हैं।

(२) न्यूनता-रोग केवल अमुक तत्व के अभाव से ही हों और जैसे ही उनकी पूर्ति कर दी जाय वे मिट जाँय।

(३) वे तत्व जिनका भूमि तथा जीवाणुओं की प्रतिकूल दशाओं में सुधार के साथ ही प्रत्यक्ष रूप से पौधों के भोज्य तत्वों के रूप में प्रयोग होता है।

इस अध्ययन को **भोज्य तत्वों की आवश्यकता की परख** (Criteria of essentiality of plant nutrients) कहा जाता है।

भूमि में उपस्थित मूल भोज्य तत्वों के विभिन्न रूप:—

साधारणतया सभी तत्व भूमि में दो रूपों में पाये जाते हैं:—

(क) जटिल अनुपलब्ध अथवा अविलेय रूप

(ख) भूमि जल में विलेय अथवा सुगमता से उपलब्ध रूप।

भूमि में होने वाली तमाम रासायनिक तथा भौतिक प्रतिक्रियायों के द्वारा ही भोज्य तत्वों का अनुपलब्ध से उपलब्ध तथा उपलब्ध से अनुपलब्ध दशाओं में अन्तःपरिवर्तन होता रहता है। जटिल प्रोटीन तथा अमिनो अम्ल रूप से नाइट्रोजन का नाइट्रेट रूप में तथा उपलब्ध फासफोरस का अविलेय रूप में स्थिरीकरण, पोटैसियम का भूमि द्वारा स्थिरीकरण तथा लोहा, मैंगनीज और यशद का ५.० से अधिक पी-एच मानों पर जटिल बन्धन भी इस प्रतिक्रिया के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

उपरोक्त सारिणी से यह स्पष्ट है कि मूल तत्व भूमि में किस रूप से रहते हैं तथा किस रूप में पौधों द्वारा प्रयुक्त होते हैं। इसके अतिरिक्त कार्बन, हाइड्रोजन तथा आक्सीजन की आंशिक पूर्ति भूमि द्वारा तथा शेष वायुमंडल द्वारा की जाती है। सूक्ष्म तत्वों की पूर्ति भूमि द्वारा ही होती है।

कार्बन हाइड्रोजन एवं आक्सीजन—पौधे प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, वसा और तेल तथा अन्य कार्बनिक पदार्थों के संश्लेषण वायुमंडल से कार्बन-डाइऑक्साइड, भूमि से जल तथा सूर्यताप से ऊर्जा लेकर करते हैं। एक शर्करा के संश्लेषण की मुख्य क्रिया निम्न प्रकार है:—

$$6\ CO_2 + 6\ H_2O + \text{ऊर्जा}\ (674 cal.) = C_6H_{12}O_6 + 6O_2$$
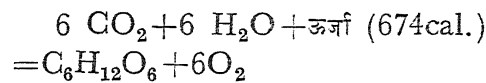
उपरोक्त प्रतिक्रिया की गति तथा तमाम शर्कराओं की उत्पादित मात्रा प्रकाश की क्षमता, CO_2 की उपलब्धि तथा पानी की मात्रा आदि पर निर्भर करती है। ये पदार्थ भूमि द्वारा कार्बनिक पदार्थों के विघटन से प्राप्त होते हैं। यह विघटन तमाम भूमि जीवाणुओं तथा एंजाइमों के द्वारा किया जाता है। इसका एक समान्य सूत्र इस प्रकार दिया जा सकता है:—

$$\frac{-[C, H] + O_2}{\text{कार्बनिक पदार्थ}} \ \frac{\text{प्रकिण्व द्वारा}}{\text{आक्सीकरण}} \rightarrow CO_2 + H_2O + \text{उर्जा}$$
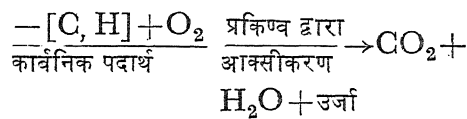
जीवाणुओं द्वारा प्रभावित होने पर ये पदार्थ न केवल CO_2 बल्कि कार्बन को CO_3^{--}, HCO_3^-, CH_4 तथा अन्य रूपों में परिवर्तित कर पौधों की प्रकाश संश्लेषण की क्रिया को सफल बनाते हैं। **नाइट्रोजन**—भूमि में नाइट्रोजन मुख्यरूप से कार्बनिक पदार्थों के साथ संगठित रहता है और उनके विघटन के साथ ही मन्दगति से पौधों को प्राप्त होता रहता है। यह विघटन अत्यन्त जटिल एवं जैवरासायनिक होता है जिससे तमाम कार्बन-डाइऑक्साइड मुक्त होती है। अन्त में नाइट्रोजन अमोनियम आयन (NH_4^+) के रूप में परिवर्तित हो जाती है। इस क्रिया को **अमोनीकरण** कहते हैं। तत्पश्चात् यह (NH_4^+)

या तो पौधों द्वारा ग्रहण कर लिया जाता है। अन्यथा अनुकूल परिस्थितियों में यह नाइट्राइट (NO_2^-) अथवा नाइट्रेट (NO_3^-) में परिवर्तित हो जाता है। इस क्रिया को नाइट्रीकरण कहते हैं। अतः भूमि में नाइट्रोजन के रूपान्तरण को निम्न सरलरूप में लिखा जा सकता है—

प्रोटीन तथा अन्य कार्बनिक रूप $\rightarrow NH_4^+$ तथा अमोनियम लवण $\rightarrow$ $+3O_2$ एंजाइम द्वारा आक्सीकरण $2NO^-_2 + 2H_2O + 4H^+ +$ ऊर्जा

$\downarrow +O_2$ एंजाईम द्वारा आक्सीकरण

$2NO_3^- +$ ऊर्जा

(विघटन एवं अमोनीकरण) (नाइट्रीकरण)

उपरोक्त समीकरण में उत्पन्न $4H^+$ आयन भूमि के पी-एच को न्यून करके उसे अम्लीय बना देते हैं। यह स्पष्ट है कि NH_4^+ आयन के विघटन और आक्सीकरण से भूमि की अम्लीयता बढ़ती जाती है। पौधों द्वारा नाइट्रोजन का NO^-_3 रूप अत्यन्त सुगमता से प्रयुक्त किया जाता है।
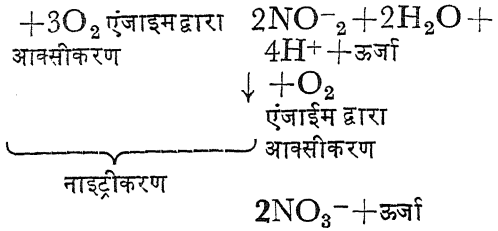
भूमि में नाइट्रीकरण तथा अमोनीकरण क्रियाओं के विरुद्ध उपलब्ध नाइट्रोजन जटिल एवं अनुपलब्ध रूपों में परिवर्तित होता रहता है। यह क्रिया इस प्रकार होगी:—

NO_3^- $\xrightarrow[\text{अपचयन}]{\text{मॉलिब्डेनम युक्त एंजाइमिक}}$ $NH_3 +$ कार्बनिक अम्ल

$\downarrow$

प्रोटीन $\xleftarrow[\text{संगठन}]{\text{तमाम एमिनो अम्ल का}}$ एमिनो अम्ल

प्रोटोप्लास्म, हरितपदार्थ एवं प्रोटीन संश्लेषण के फलस्वरूप पौधों की वानस्पतिक वृद्धि अधिक होती है, उनके कोष्ट की दीवालें पतली हो जाती हैं तथा गूदे की मात्रा बढ़ जाती है। जिससे पौधों की सफल वृद्धि देखी गई है।

फासफोरसः—भूमि में फासफोरस कार्बनिक एवं अकार्बनिक दोनों रूपों में पाया जाता है। यदि यह कार्बनिक संमिश्रण के रूप में है तो कार्बनिक पदार्थों के विघटन से वह सुगमता से उपलब्ध हो जाता है। परन्तु यदि खनिज रूपों में उपस्थित है तो इसकी उपलब्धि अत्यन्त जटिल तथा कठिन प्रश्न उत्पन्न कर देती है। भूमिगत फासफोरस मुख्यतया अविलेय अवस्था में पाया जाता है। यहाँ तक कि साधारण विलेयक कार्बोनिक अम्ल की उपस्थिति में भी यह बहुत मन्दगति से विलेय रूप में आता है। भूमि एवं वायुमंडल से प्राप्त कार्बन-डाइऑक्साइड तथा पानी के संयोजन से प्राप्त कार्बोनिक अम्ल अविलेय फासफोरस से निम्न प्रकार क्रिया करके उसे विलेय बना देती है:—

$$Ca_3(PO_4)_2 + 4H_2O + 4CO_2 \rightarrow Ca(H_2PO_4)_2 + 2Ca(HCO_3)_2$$

अविलेय — जल-विलेय फासफेट — विलेय कैलसियम बाइ कार्बोनेट

निम्न पी-एच मानों पर जो फासफेट एल्यूमीनियम तथा लौह के साथ अनुपलब्ध रूप में आ जाता है वह तमाम अकार्बनिक एवं कार्बनिक ऋणायनों द्वारा न्यूनाधिक मात्रा में मुक्त किया जा सकता है। भूमि में उपस्थित जीवाणुओं से प्राप्त बहुत से कार्बनिक ऋणायन जैसे : मैलेट, साइट्रेट, ग्लूटरेट, आक्सेलेट आदि इसके उदाहरण हैं। डान तथा रूबिन ने विभिन्न ऋणायनों को उनके द्वारा फासफोरस मुक्त करने की क्षमता के अनुसार इस प्रकार वर्गीकृत किया है

हाइड्राक्साइड $>$टाइड्राक्सिल $>$साइट्रेट $>$फ्लोराइड $>$आर्सेनेट $>$टार्टरेट $>$एसीटेट $>$बोरेट $>$थायोसायनेट $>$सल्फेट $>$क्लोराइड $>$नाइट्रेट।

कीलेटीकरण के द्वारा भी अनुपलब्ध ऐल्यूमीनियम, लौह तथा कैलसियम फासफेट उपलब्ध एवं शीघ्र विलेय रूप में परिवर्तित हो जाता है। इसकी प्रयोगात्मक पुष्टि एथिलीन डाइएमीन टेट्राक्लोराइड से की गई जिसके डालने से ऐल्यूमीनियम, लौह तथा कैलसियम का कीलेटीकरण हो जाता है, और फासफेट आयन मुक्त हो जाते हैं।

पौधों की शारीरिक क्रिया का जहाँ तक सम्बन्ध है फासफोरस उनके कोष्ठ-केन्द्रक का एक मुख्य भाग है तथा कोष्ठ विभाजन और मेरिस्टेमिक तन्तुओं के वृद्धि की लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसके अतिरिक्त फासफोरस तमाम शर्कराओं के संयोग से अत्यधिक शक्तिशाली **फासफेट बन्धन** ($\sim PO_4$) पैदा करते हैं। ये बन्धन टूटकर उर्जा उत्पन्न करते हैं जो शारीरिक क्रियाओं के काम आती है। इसीलिए जड़ों की तीव्रवृद्धि तथा फसल को जल्दी पकाने के लिये फासफोरस का प्रयोग लाभदायक सिद्ध हुआ हैं।

कैलसियम तथा पोटैसियम—भूमि में पोटैसियम तथा कैलसियम खनिज मिश्रण के रूप में पाये जाते हैं तथा पानी और कार्बन-डाइक्षॉक्साइड के संयोग से प्राप्त कार्बोनिक अम्ल के साथ क्रिया करके विलयन रूप में आते रहते हैं। यही विलयन पौधों द्वारा अवशोषित होता है। तथा कैलसियम और पौटैसियम की पूर्ति होती रहती है। अधिकतर कैलसियम विनिमेय अवस्था में पाया जाता है। अनुपलब्ध पोटैसियम एवं कैलसियम की उपलब्धि निम्नलिखित समीकरण से स्पष्ट की जा रही है।

$$2KAlSi_3O_8 + CO_2 + 2H_2O \rightarrow H_4Al_2Si_2O_9 + K_2CO_3 + 4SiO_2$$
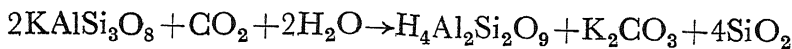
माइक्रोक्लाइन फेल्सपार जलीय सिलिकेट विलेय कार्बोनेट

$$Ca\left|\begin{matrix}\text{कलिल}\\ \text{सतह}\end{matrix}\right| + 2H_2CO_3 \rightarrow \begin{matrix}H\\ H\end{matrix}\left|\begin{matrix}\text{कलिल}\\ \text{सतह}\end{matrix}\right| + Ca(HCO_3)_2$$
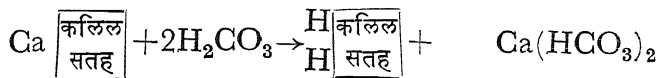
अवशोषितकैलसियम अवशोषित हाइड्रोजन विलेय कैलसियम कार्बोनेट

उपरोक्त क्रिया द्वारा प्राप्त पोटैसियम तथा कैलसियम पौधों द्वारा काम में लाया जाता है तथा शेष मात्रा पानी के साथ बह जाती है। और कुछ मात्रा ऋणात्मक आवेशी कलिल सतह पर शोषित हो जाता है तथा धीरे-धीरे उपलब्ध होती रहती है।

पौधों के कोष्ठ-कलिल संस्थानों की भौतिक रासायनिक प्रतिक्रियाओं को नियमित रखने के लिये पोटैसियम तथा कैलसियम अत्यन्त आवश्यक हैं। इसके अतिरिक्त पोटैसियम की पूर्ति कार्वोहाइड्रेट उत्पादन, प्रकाश संश्लेषण, एंजाइम की जल-विश्लेषण क्रिया तथा कार्वोहाइड्रेट स्थानान्तरण आदि क्रियाओं के लिये भी आवश्यक है।

मैगनीसियम:—मैगनीसियम की उपलब्धि कैलसियम तथा पोटैसियम की तरह होती है। कुछ मैगनीसियम भूमि-खनिज के परोक्ष जल-विश्लेषण, कार्वोनीकरण तथा आयन विनिमय के द्वारा उपलब्ध होता रहता है।

अन्य धनायनों की भाँति मैगनीसियम भी जटिल-कलिलों द्वारा अनुपलब्ध रूप में स्थिर हो जाता है।

मैगनीसियम, पौधों के हरित पदार्थ का एक मुख्य अंश है। तथा इस पर पौधों के एंजाइम की तमाम क्रियायें अवलम्बित हैं।

गंधक:—नाइट्रोजन की तरह गंधक का रूपान्तरण भी जैविक क्रियाओं द्वारा ही होता है। एक सामान्य सूत्र के अनुसार गंधक का रूपांन्तरण निम्नरूप से व्यक्त किया जा सकता है।

कार्बनिक गंधक→ (प्रोटीन तथा अन्य कार्बनिक समिश्रण) → गलित पदार्थ→ (H_2S, अन्य सलफाइड्स) → सल्फाइड→ SO_3 → सलफेट SO_4

कार्बनिक पदार्थों का विघटन — सलफर आक्सीकरण

सलफर आक्सीकरण की अन्तिम क्रिया मुख्य-मुख्य जीवाणुओं द्वारा सम्पन्न होती है। यह आक्सीकृत सल्फर तमाम फफूदी तथा जीवाणुओं द्वारा प्रयुक्त हो जाता है जो कि कुछ समय पश्चात् पौधों को पुन: उपलब्ध हो जाता है तथा विलेय सलफर का ह्रास रुक जाता है।

विभिन्न भूमि में विभिन्न रासायनिक तत्वों की प्रतिशत मात्रा

विभिन्न अवयव	दोमट	बलुई दोमट	चिकनी मिट्टी	सिल्ट दोमट
SiO_2	७६·५४	८५·९६	७१·६०	७०·४०
TiO_2	०·६४	०·५९	०·८२	१·०८
Fe_2O_3	३·४३	१·७४	३·५९	३·९०
Al_2O_3	९·३८	७·२६	११·४५	१३·१४
MnO	०·०८	०·०४	०·०६	०·०७
CaO	०·८०	०·४०	०·९७	१·७८
MgO	०·७५	०·३६	०·८६	०·९७
K_2O	१·९५	१·५४	२·४२	२·११
Na_2O	१·०४	०·५८	१·०४	१·९८
P_2O_5	०·१०	०·०२	०·०९	०·१६
SO_3	०·०८	०·०७	०·११	०·२१
दहन पर क्षति	५·३०	१·९१	६·६०	४·२५
नाइट्रोजन	०.16	०·०२.	०·०९	०·०८

आवश्यक भोज्य तत्वों की उपलब्धता को प्रभावित करने वाले कारकः—

(१) **भूमि पी-एचः**—ज्यों—ज्यों पी-एच मान उदासीन विन्दु से नीचे (पी-एच७) जाता है भूमि में ऐल्यूमिनियम, लोहा एवं मैंगनीज आदि इतनी अधिक मात्रा में उपलब्ध हो जाते हैं कि इनकी अधिकता पौधों के जीवन को संकटमय वना देती है।

फास्फेट अनुपलब्ध रूप में स्थर हो जाता है। मैंगनीज का आधिक्य तो पौधों का जीवन पूर्णरूप से समाप्त कर देता है। इन तत्वों के साथ अधिक लोहे की उपस्थिति और भी खतरनाक होती है। ४.५ से ७·५ या ८.० पी-एच मानों के ऊपर अमोनियम—लवण का प्रयोग पौधों द्वारा सुगमता से हो जाता है। परन्तु अम्लीय भूमियों में पौधों द्वारा नाइट्रेट रूप शीघ्राति-शीघ्र अवशोषित कर लिया जाता है। फासफोरस का समुचित प्रयोग पी-एच ६·५ के लगभग होता है।

भूमि विलयनः—सामान्यरूप से यह मान्य है कि ज्यों-ज्यों भूमि विलयन वाष्पीकृत होता जाता है उनमें उपस्थित विलेय लवणों की सान्द्रता वढ़ती जाती है अतः आर्द्र क्षेत्रों की खनिज भूमि की विलेय लवणों की मात्रा भूमि विलयन मात्रा के साथ १०० से ३००० भाग प्रति दस लाख तक वदलती रहती है। अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों की अपेक्षा शुष्क तथा समशुष्क मिट्टियों में लवणों की सान्द्रता अत्यधिक होती है। कुल लवणों का ०.५ प्रतिशत विलेय लवण पौधों की वृद्धि के लिए पर्याप्त होता है।

इन कारकों के अतिरिक्त भूमि ताप, भूमि रंग आक्सीजन, जीवाणुओं की मात्रा तथा प्रकार आदि भी पौधों के भोज्य तत्वों की पूर्ति पर न्यूनाधिक प्रभाव डालते हैं।

रिसर्च स्कालर
रसायन शास्त्र विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय

'प्रमात्रा-सिद्धान्त'—आधुनिक भौतिकी का आधार स्तंभ

शमीम अहमद

आधुनिक भौतिकी के आधार के सम्बन्ध में यदि देखा जाय तो प्रमात्रा-सिद्धान्त (क्वाण्टम थियरी) सर्व प्रथम दिखाई देता है। आधुनिक भौतिकी का प्रादुर्भाव ही क्वाण्टम के जन्म के बाद होता है। इसलिए यदि क्वाण्टम-सिद्धान्त को आधुनिक भौतिकी का जनक कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। प्रस्तुत-निबंध में हम इसी प्रमात्रा-सिद्धान्त का उद्भव, जीवन तथा प्राप्त तथ्यों को प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

क्वाण्टम का अर्थ

इसके पूर्व कि हम आगे वढ़ें पहले हमें यह देख लेना चाहिए कि वास्तव में प्रमात्रा-सिद्धान्त है क्या? वैसे तो प्रमात्रा-सिद्धान्त में कोई शब्दजाल भी रहस्यात्मक नहीं है, वल्कि सामान्य प्रेक्षणों से प्राप्त नियम का सरलीकरण प्रस्तुत है। प्रमात्रा-सिद्धान्त का स्पष्ट रूप अल्फ्रेड नार्थ व्हाइटहेड के शब्दों में इस प्रकार से है—'यदि किसी संस्थापन में से कुछ

उर्जा का निकालना या जुटना होगा तो वह निकलना या जुटना एक विशिष्ट इकाई के सरल गुणक के रूप में होगा। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार यदि आप पर यह प्रतिबन्ध लगा दिया जाय कि आप ३ मील प्रति घंटा या ४ मील प्रति घंटा की चाल से चल सकते हैं परन्तु ३½ मील प्रति घंटे की चाल से नहीं चल सकते हैं तो यह दशा आपकी क्वाण्टमित दशा होगी। यही तथ्य प्रमात्रा सिद्धान्त में निहित है, पर इसका उपयोग तथा इससे प्राप्त तथ्यों की गणना करना आसान काम नहीं ; परन्तु इतना होते हुए भी इस जटिल विश्व की कुछ घटनाओं को स्पष्ट करने में यह असफल भी हो जाता है। इसके वाद हम अपना ध्यान प्रमात्रा की जन्म गाथा की ओर ले जाएंगे।

क्वाण्टम का जीवन-इतिहास

यदि हम भौतिक-विज्ञान के वर्तमान महत्तम नियमों की छानवीन करें तो हमें यही स्पष्ट होगा कि इन अनेक नियमों की उत्पत्ति का कारण केवल प्रकाश रहा जो वैज्ञानिक प्रकाश की विलक्षण प्रकृति को समझाने के लिए अग्रसर हुए, उनके हाथ रहस्य की एक महान् कुंजी आ लगी और उसी कारण आज वे लोग आधुनिक भौतिकी के जन्मदाता कहे जाते हैं। उदाहरणस्वरूप यदि सापेक्षवाद को ही लिया जाय, जो कि आज विश्व का एक महत्तम नियम माना जाता है, तो यह स्पष्ट होगा कि इसके भी प्रादुर्भाव का कारण प्रकाश ही है उसी प्रकार क्वाण्टमों का भी सूत्रपात प्रकाश के कारण हुआ।

प्राचीन काल के भौतिकज्ञों ने विकिरण की प्रकृति के बारे में ज्ञान प्राप्त करने का जब प्रयास प्रारंभ किया तो उनके समक्ष प्रकाश के अतिरिक्त कोई ऐसा माध्यम ही नहीं प्रस्तुत हुआ, जिसको वे सरलता से काम में ला सकते थे। इसलिए उन्होंने प्रकाश को अपना कार्य करने का माध्यम वनाया परन्तु इस माध्यम की रचना क्या है यह उनके समक्ष एक समस्या वनकर उठ खड़ी हुई ? प्रकाश किस प्रकार सूर्य तथा अन्य ग्रहों पर से पृथ्वी पर पहुंचता है ? प्रकाश का गमन-वेग कितना है...आदि अनेक समस्याएँ उनके मस्तिष्क में उत्पन्न हुई। उन्होंने एक गुण प्रकाश की किरणों में यह देखा कि ये सदैव सरल रेखा में गमन करती हैं और इसके फल-स्वरूप उन्होंने यह निश्चय किया कि अवश्य प्रकाश किरणों के अन्दर कुछ कणिकाएँ विद्यमान हैं। तभी ए हमेशा सरल रेखा में गमन करती हैं। ए कणिकाएँ अत्यन्त सूक्ष्म होती हैं और आकर दृष्टि पर जब पड़ती हैं तो हमें प्रकाश का ज्ञान होता है। प्राचीन यूनानी विचारकों की यह कल्पना ठीक भी थी क्योंकि यदि किसी कण का वेग अत्यन्त तीव्र कर दिया जाय तो उसका सरल रेखा में गमन अत्यन्त आवश्यक है। इसके उपरान्त जब न्यूटन साहब इस क्षेत्र में आए तो उनको भी यह विचार अच्छा लगा और उन्होंने इस की उपयोगिता बढ़ाने का सफल प्रयत्न किया। इसी सिद्धान्त को कणिका-सिद्धान्त के नाम से पुकारा गया। न्यूटन महोदय ने प्रकाश की सरल रैखिल गति, परावर्तन आदि प्रकाशीय घटनाओं का स्पष्टीकरण भी इस कणिका-सिद्धान्त से प्रस्तुत कर दिया परन्तु प्रकाश की कुछ घटनाओं को स्पष्ट करने में कणिका सिद्धान्त भी असफल रहा जैसे-आवर्तन, विवर्तन, इण्टर्फरेंस आदि। जब यह असफलता सम्मुख उपस्थित हुई तो अन्य प्रकार से लोगों ने सोचना आरम्भ किया और उसके उपरान्त सन् १६८० ई० में एक डच वैज्ञानिक, हाइगन्स, ने एक नवीन धारणा का प्रतिपादन किया।

हाइगन्स ने विचार किया कि जिस प्रकार हम जब तालाब के पानी में पत्थर फेंकते हैं तो पानी में एक प्रकार की लहर उत्पन्न होती है और पानी में पत्थर गिरने का संदेश लहरों के द्वारा समस्त तालाब में पहुँच जाता है, उसी प्रकार प्रकाश भी लहरों के रूप में एक स्थान से दूसरे स्थान को पहुंचता है। परन्तु ध्वनि लहरियों के लिए यदि हवा का माध्यम होता है तो प्रकाश के लिए कौन सा माध्यम होगा ? इसके

उत्तर में हाइगन्स ने कहा कि प्रकाश ईथर नामक माध्यम से होकर गमन करता है। इस प्रकार प्रकाश के तरंग-सिद्धान्त का जन्म सन् १६८० ई० में हुआ परन्तु न्यूटन की शक्तिशाली वाणी के समक्ष इसको मानने वाला कौन था ? तत्पश्चात् उन्नीसवीं शती में जब पोलराइजेशन, इंटरफरेंस, डिफ्रैक्शन आदि नवीन घटनाओं का पता लगा तो लोगों का ध्यान पुनः तरंग-सिद्धान्त की ओर गया क्योंकि उपरोक्त घटनाओं का स्पष्टीकरण कणिका-सिद्धान्त से असम्भव था।

फ्रैनेल नामक वैज्ञानिक ने तरंग-सिद्धान्त का समर्थन किया और उसकी सहायता से उसने प्रकाश में होने वाली आवर्तन, विवर्तन, इंटरफरेंस तथा ध्रुवण आदि घटनाओं का स्पष्टीकरण प्रमाण के साथ आसानी से प्रस्तुत कर दिया। इसके फलस्वरूप तरंग-सिद्धान्त जोर पकड़ता गया और कणिका-सिद्धान्त पीछे छूटता गया। यहां तक कि उन्नीसवीं शताब्दी के आते-आते सारे वैज्ञानिक प्रकाश के तरंग सिद्धान्त के पक्ष में हो गए और कणिका-सिद्धान्त का एक प्रकार से अन्त ही हो गया। परन्तु जैसा कि प्रकृति का नियम है कि जिन्दे को मारती है और मरे हुए को जिलाती है, उसी प्रकार प्राण रहित कणिका-सिद्धान्त का पुनः जन्म हुआ क्योंकि कुछ घटनाएँ ऐसी भी आयीं जो तरंग सिद्धान्त से बिल्कुल ही स्पष्ट नहीं की जा सकती थीं।

तरंग -सिद्धान्त को चरम सीमा तक पहुंचने के समय तक प्रकाश का वेग भी मालूम हो चुका था। इसके पहले न्यूटन ने एक नियम प्रस्तुत किया था, जिससे किसी प्रत्यास्थ माध्यम में चलने वाली तरंगों का वेग, उसका (माध्यम का) घनत्व तथा प्रत्यास्थ-गुणक ज्ञात होने पर जाना जा सकता था। इसलिए लोगों ने प्रकाश वेग का मान उस सूत्र में रखा तथा उसका घनत्व भी रखा तो मालूम हुआ कि ईथर नामक माध्यम की प्रकृति इस्पात नामक धातु से भी कहीं कठोर होगी जो अत्यन्त असम्भव कल्पना थी। इससे यह प्रमाणित होता है फ्रैनेल की धारणा में अवश्य कहीं त्रुटि है। तो क्या त्रुटि है-इसके बारे में लोगों ने सोचना प्रारंभ किया।

सन् १८६४ ई० में क्लर्क मैक्सवेल नामक महान भौतिकज्ञ ने उपरोक्त अप्रत्याशित फलों के आने के कारणों को स्पष्ट करने के लिए एक नवीन धारणा को जन्म दिया। उसने बताया कि उपरोक्त दोनों सिद्धान्त अपूर्ण हैं और यही कारण है कि किसी से प्रत्येक घटना पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं की जा सकती। उन्हों ने कहा कि प्रकाश की उत्पत्ति वैद्युत चुम्बकीय विकिरण के फलस्वरूप होती है और इस विकिरण के विभिन्न स्वरूप हैं और ए सारे रूप अलग-अलग नामों से आज तक देखे तथा पुकारे गए हैं परन्तु सब विकिरणों का रूप तथा प्रादुर्भाव एक ही प्रकार से होता है। मैक्सवेल का यह वैद्युत-चुम्बकीय सिद्धान्त केवल छः अवकल समीकरणों के हल के फलस्वरूप ही प्राप्त हुआ था और उस समय तक, जबतक कि हर्ज नामक भौतिकज्ञ ने उस वैद्युत-चुम्बकीय धाराओं को दिखाया नहीं, यह सिद्धान्त केवल सैद्धान्तिक रूप में ही था। उपरोक्त सिद्धान्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रकाश, एक्सरे, गामारे आदि जो विकिरण के स्वरूप हैं, सब वैद्युत-चुम्बकीय विकिरण ही हैं यही पहला नियम था जिसने अनेक विकिरणों का समन्वय उपस्थित किया और अन्त में 'हर्ज वेव' के नाम से विश्वव्यापी होकर आज हमारे रेडियो सेट, टेलीविज़न, रैडार आदि महत्व पूर्ण यन्त्रों को परिचालित करता है। मैक्सवेल की उपयोगिता इसलिए बढ़ी कि मैक्सवेल ने इस नियम की सहायता से उन तमाम घटनाओं का स्पष्टीकरण प्रस्तुत कर दिया जो कि तरंग-सिद्धान्त तथा कणिका-सिद्धान्त से स्पष्ट की गई थीं। इसलिए इस सिद्धान्त में यह गुण देखा गया है कि इसने समस्त घटनाओं को एक में मिला दिया और एक विशिष्ट रूप से सबको प्रमाणित भी कर दिया। इस सिद्धान्त के ही द्वारा सर्वप्रथम पूर्णरूप से वैद्युत गणनाओं

मे प्रकाशवेग का मान शतप्रतिशत सत्य निकाला गया था। उपरोक्त तथ्य मैक्सवेल के सिद्धान्त की उच्चता प्रमाणित करते हैं।

मैक्सवेल सिद्धान्त से दो नवीन तथ्य प्राप्त हुए। प्रथम तो यह है कि प्रत्येक आवेश दोलित होने पर ऊर्जा विकरित करता है। जब कभी और जहाँ कहीं आवेश दोलित होगा उससे एक निश्चित मात्रा की ऊर्जा विकरित होगी। पदार्थ की अन्तिम इकाई इलेक्ट्रान मानी जाती है जिसके ऊपर ऋणात्मक आवेश होता है और नाभिक के चारों ओर चक्कर लगाता है। और जब ए इलेक्ट्रान दोलित होते हैं तो विभिन्न प्रकार के विकिरण बाहर निकलते हैं और जब वर्णक्रममापी से निरीक्षण किया जाता है तो विभिन्न के प्रकार वर्णक्रम मिलते हैं जो विभिन्न प्रकार की वैद्युत-चुन्वकीय तरंगों की उपस्थिति प्रमाणित करते हैं। इससे अब यह स्पष्ट हो गया कि प्रत्येक आवेश दोलित होने पर ऊर्जा विकरित करता है। इसी के साथ दूसरा तथ्य यह कि तमाम विकिरणों का स्वरूप एक ही होता है भी प्रमाणित हो जाता है। क्योंकि जो कुछ भी ऊर्जा विकरित होता है और जिस दशा में होता है हमेशा किसी आवेश के दोलन के ही फलस्वरूप उत्पन्न होता है इसलिए सब विकिरण एक से हैं।

परन्तु मैक्सवेल सिद्धान्त भी ऐसा नहीं था जो विकिरण की तमाम विशेषताओं की व्याख्या प्रस्तुत कर सके। फल यह हुआ कि काली वस्तु के विकिरण की व्याख्या करने में मैक्सवेल सिद्धान्त भी असफल रहा। इसी के उपरान्त १९०० ई० में मैक्स प्लैंक नामक महान भौतिकज्ञ ने उपरोक्त विकिरण के प्रकृति की व्याख्या करने के हेतु प्रमात्रा सिद्धान्त को जन्म दिया, जिसने आज की आधुनिक भौतिकी का यह रूप उपस्थित किया।

काली वस्तु का अर्थ पूर्ण विकरित से होता है और यदि इसको ऊर्जा दी जाय तो समस्त ऊर्जा विकरित हो जाती है अथवा अवशोषण भी पूर्ण रूप से होता है। जब काली वस्तु (यद्यपि काली वस्तु का मिलना असंभव है) से उत्पन्न विकिरण के ऊपर विचार किया जाने लगा तो उसके सम्बन्ध में सन १८५९ ई० में किरचाफ नामक वैज्ञानिक ने दो धारणाएँ दीं। प्रथम तो यह कि जो वस्तु पूर्ण विकिरक होती है पूर्ण अवशोषक भी होती है। दूसरा नियम यह था कि तापीय-विकिरण की दशा में विकिरण वस्तु की रचना पर न आधारित होकर उसके ताप के ऊपर निर्भर करता है। इसके उपरान्त तप्त वस्तु के द्वारा विकरित विकिरण का जब वर्णक्रम लिया गया तो यह समस्या उपस्थित हो गई कि वास्तव में वर्णक्रम में ऊर्जा का वितरण किस प्रकार होना चाहिए? तथा किस तरंग-दैर्ध्य पर ऊर्जा का मान न्यूनतम तथा उच्चतम होता है? इस समस्या का समाधान लोगों ने वैद्युतचुम्बकीय धारणा की सहायता से करने का प्रयत्न किया तो उनको ऐसे फल प्राप्त हुए जो प्रायोगिक फलों के विपरीत थे। यहीं पर आकर लोगों की समझ में यह आने लगा कि उपरोक्त समस्या का समाधान किसी नवीन धारणा से किया जा सकता है।

ऊर्जा-वितरण सम्बन्धी समस्या को लेकर, 'स्टीफन' 'विन', रैले तथा जीन्स नामक वैज्ञानिकों ने अनुसंधान करके अपने अपने नियमों को प्रकाशित किया परन्तु उन लोगों के नियम एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न थे और मैक्सवेल-सिद्धान्त से सम्बद्ध थे इसलिए कोई महत्वपूर्ण हल नहीं प्राप्त हो सके। तत्पश्चात् एक वैज्ञानिक समुदाय ने, जिसमें पैश्चने, ल्युमर, प्रिंगशेम, रुबेंन्स तथा कार्लबाम आदि थे काली वास्तु से प्राप्त विकिरण का फ्लोरस्पार के त्रिपार्श्व द्वारा वर्णक्रम लिया और बोलोमीटर की सहायता से तमाम भागों से प्राप्त ऊर्जा को तरंग दैर्ध्य के साथ मालूम करके ग्राफ खींचा तो घंटाकार वक्र मिले जिससे रैले तथा जीन्स के सूत्र किसी हद तक मिलते थे परन्तु पूर्णरूप से नहीं। पैश्चन ने बताया कि वीन साहब का सूत्र कम तरंग दैर्ध्य की दशा में मिलता है और इसी प्रकार

रुवेन और कार्लबाम ने बताया कि अधिक तरंग दैर्ध्य की दशा में रैले तथा जीन्स के भी सूत्र वक्र से मिलते हैं। परन्तु कोई ऐसा सूत्र नहीं मिलता है जो हर हालत में प्राप्त वक्र से मेल खाए। इसी सूत्र को प्राप्त करने का प्रयत्न प्लैंक ने किया। उसने सोचा कि हम क्यों न क्लासिकल मेकनिक्स और मैक्सवेल धारणा को छोड़कर अन्य प्रकार से सोचें। उसने ऐसा ही किया और अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यदि हम विकिरण को संतत मानते हैं तो हमें कोई नियम नहीं प्राप्त हो सकता और यदि असन्तत मानकर एक इकाई के सरल गुणक के रूप में मानें तो एक नियम प्राप्त होता है जिससे उपरोक्त वक्र हर हालत में मेल खाता है। उसने इस इकाई को एक क्वाण्टम कहा और उसका मान भी बताया—$\epsilon = h\nu$ जब कि h एक नियतांक है जिसे प्लैंक नियतांक कहते हैं और जिसका मान ६.६ $\times$ १०$^{-२७}$ अर्ग सेकण्ड आता है। ν विकिरण का कम्पनांक है
(h = ६.६२४ $\times$ १०$^{-२७}$)

इस प्रकार उत्पन्न क्वाण्टम सिद्धान्त के निम्न मूलभूत आधार थे—

(१) काली वस्तु के अन्दर ऐसे आवर्तनीय दोलक विद्यमान रहते हैं जिनसे हर सम्भव कम्पनांक प्राप्त हो सकता है।

(२) ऊर्जा विकिरण का कम्पनांक दोलक के कम्पनांक के बराबर होता है।

(३) प्रत्येक दोलक अपने चारों तरफ के माध्यम से केवल एक इकाई के सरल गुणक की ही मात्रा में ऊर्जा का आदान-प्रदान कर सकता है। यही इकाई एक क्वाण्टम कही जाती है।

(४) दोलक का आयाम एक विशेष समयान्तर पर बड़ी द्रुत गति से बदलता रहता है और विकिरण अथवा अवशोषण उसी समय पर होता है। परन्तु इन बदलने की दशाओं के मध्यकाल में आयाम निश्चित होता है। और कोई विकिरण अथवा अवशोषण की घटना नहीं घटित होती है।

इस प्रकार इस नवीन क्रान्तिकारी धारणा की सहायता से प्लैंक ने काली वस्तु की विकिरण की समस्या को हल कर दिया परन्तु इसके उपरान्त और अन्य प्रकार से इसका उपयोग किया गया।

क्वाण्टमों की उपयोगिता

प्लैंक की विलक्षण धारणा का जन्म हो गया परन्तु उसकी उपादेयता का आभास लोगों को बाद में हुआ। सन् १९०५ ई० में रतन पारखी आइन्स्टाइन ने प्लैंक-सिद्धान्त का मूल्य समझा और उसका उपयोग फोटोइलेक्ट्रिक प्रभाव की व्याख्या करने में किया। तत्पश्चात् आपेक्षिक-ताप की जटिलता सुस्पष्ट करने के लिए आइन्सटाइन ने पुनः क्वाण्टम सिद्धान्त की सहायता ली। सन् १९१३ ई० में नील बोर साहब ने क्वाण्टम-सिद्धान्त के आधार पर परमाणु रचना को बड़े ही रोचक ढंग से प्रस्तुत किया। इसके बाद क्वाण्टम का महत्व बढ़ता गया। सन् १९२२ ई० में काम्पटन प्रभाव नामक घटना का जिसमें एक्स रश्मियों की स्कैटरिंग होती है, स्पष्टीकरण क्वाण्टम सिद्धान्त द्वारा प्रस्तुत किया गया। यहाँ तक कि आज पदार्थ की तमाम जटिल क्रियाओं का स्पष्टीकरण किसी न किसी प्रकार के क्वाण्टमों द्वारा ही प्राप्त होता है क्योंकि ए क्वाण्टम इतने शाश्वत हैं कि इनका बहिष्कार कर लेने पर कोई समुचित नियम प्राप्त ही नहीं हो सकता।

उपरोक्त वैज्ञानिकों ने क्वाण्टम-सिद्धान्त की सहायता लेकर उसकी विश्वव्यापकता का अकाट्य प्रमाण उपस्थित कर दिया है। यह भी प्रमाणित कर दिया है कि बिना क्वाण्टम के प्राचीन भौतिकी में कोई नियम ही ऐसा नहीं है जो कि समस्त उपरोक्त

घटनाओं की व्याख्या प्रस्तुत कर सके। जिस प्रकार चिर-भौतिकी में न्युटोनियन-मेकनिक्स का बोलबाला था उसी प्रकार आज आधुनिक भौतिकी में क्वांण्टम-मेकनिक्स का रोब जमा हुआ है। क्वाण्टम-स्टैटिस्टिक्स उसकी एक मात्र सहायक है।

पर क्वाण्टम से भी आगे कुछ और

इतनी उपादेयता होते हुए भी क्वाण्टम-सिद्धान्त को पूर्ण मान लेना कोई बुद्धिमानी नहीं है। क्वाण्टम-सिद्धान्त में भी कुछ ऐसी धारणाएँ हैं जिन्हें पूर्ण रूप से सत्य नहीं माना जा सकता या जिन्हें हम त्रुटि के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। सर्वप्रथम यह कि क्वाण्टम-सिद्धान्त में विकिरण को फोटोन से बना बताया गया है। यदि फोटोन कण-स्वरूप हैं तो उनके अचर वेग की सम्भावना निरर्थक है जबकि विकिरण का वेग सदैव ३×१०¹⁰ सेमी०/से० होता है। फिर क्वाण्टमित ऊर्जा निकालते समय ν मुख्य भाग होता है जिसका मान हम सीधे नहीं निकालते बल्कि $c = \nu\lambda$ का उपयोग करके निकालते हैं जहाँ पर c प्रकाश वेग ν कम्पनांक और λ तरंग दैर्घ्य है जो कि स्पष्ट रूप से तरंग-विशेषता के स्वरूप हैं। इसके अतिरिक्त फोटान कणों के कम्पनांक के बारे में हम क्या सोच सकते हैं? क्या किसी बन्दूक से निकली गोली का कम्पनांक होगा! शायद कदापि नहीं परन्तु फोटान में यह विशेषता पाई जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक आश्चर्यजनक समस्या उपस्थित हो गई है कि आखिर विकिरण की रचना का क्या रूप है—कण अथवा तरंग? यदि कण रूप माना जाय तो कुछ घटनाएँ नहीं प्रमाणित की जा सकतीं और इसी प्रकार तरंग रूप मानने वाली घटनायें नहीं स्पष्ट की जा सकती हैं। कुछ वैज्ञानिकों के मत हैं कि क्वाण्टम सिद्धान्त का अर्थ है कि विकिरण दोनों रूपों में विचरण करता है—कभी कण रूप में कभी तरंग रूप में पर एक साथ दोनों रूपों में कभी भी नहीं आचरण कर सकता है। इसी धारणा को और स्पष्ट रूप में हाइगेनबर्ग नामक भौतिकज्ञ ने अनिश्चितता-सिद्धान्त का सृजन किया।

पर धन्य है क्वाण्टम और उसकी जीवन-गाथा, जिसने ऐसी ऐसी गुत्थियों को सुलझाया, जो प्राचीन भौतिकी के हेतु लोहे के चने बनी हुई थीं। इस विलक्षण क्वाण्टम ने नवीन भौतिकी को जन्म देकर गणित की नवीनतम शाखाओं को लायक बना दिया और किसी हद तक पदार्थ की जटिलता को आसान कर दिया।

c/o तय्यब दुहेन
जाहिदाबाद, गोरखपुर

शुक्र ग्रह के रहस्य

शचीन्द्रनाथ वसु

प्रभात और संध्या की वेला में क्षितिज के ऊपर दीपक के समान उज्ज्वल शुक्र तारा वैज्ञानिकों और कवियों में समान रूप से कौतूहल जागृत करता रहा है। वैज्ञानिकों ने अपना मत दिया है कि यह पृथ्वी के समान ही एक ग्रह है जिसकी रूपरेखा आज से २ खरब वर्ष से भी पूर्व की पृथ्वी की भाँति थी जब कि बनस्पतियों से पूर्ण पृथ्वी पर जल-स्थल-चरों (उभयचरों) और सरीसृपों की भरमार थी।

शेष सूर्यमण्डल से शुक्र ग्रह के सम्बन्धों के विषय में हमें थोड़ा सा ज्ञान है किन्तु उसके आन्तरिक चमत्कारों के सम्बन्ध में हम आन्धकार में हैं। यह सूचनायें प्राप्त न हो सकने का कारण है शुक्र ग्रह के चारों ओर रूई के समान पदार्थ का एक स्थूल आवरण। इसी आवरण के द्वारा यह अपने रहस्यों को सफलता पूर्वक हमसे छिपा सकने में समर्थ हुआ है। हमें यह ज्ञात है कि यह ग्रह आकार और भार में लगभग पृथ्वी के समान है। यह लगभग एक वृत्ताकार कक्षा में हमारी पृथ्वी के २२५ दिनों में सूर्य की एक परिक्रमा कर लेता है। कभी कभी यह पृथ्वी के अत्यन्त निकट आ जाता है। ऐसे अवसरों पर चन्द्रमा को छोड़ यह हमारा सबसे समीप का पड़ोसी कहा जा सकता है और तब इसका पृथ्वी से न्यूनतम अन्तर २ करोड़ ५० लाख मील होता है। मंगल ग्रह तथा इसकी अपेक्षा अधिक दूर के तारों के सम्बन्ध में शुक्र ग्रह की अपेक्षा अधिक सूचनायें प्राप्त हैं। स्पष्ट है कि अनेक साधारण प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया जा सकता जैसे शुक्र का दिन कितना बड़ा होता है? इसके धरातल का ऊपरी भाग ठोस है या द्रव? क्या इसका ताप इतना अधिक है कि प्रत्येक सम्भव जीव-जन्तु इसमें भुनकर मर जाँयेगे? क्या वहाँ आक्सीजन है? फिर इसमें अश्चार्य ही क्या यदि सूचना प्राप्त न हो पाने से हताश वैज्ञानिकों ने इसे दुर्बोध, तृष्णा उत्तेजक और प्रक्षोभित की संज्ञा दी है।

ताराहीन रात्रि

बादलों का स्थायी आवरण शुक्र ग्रह के निवासियों (यदि शुक्र ग्रह पर निवासी हों) के लिये भी देखने में विशेष बाधा डालेगा, उन्हें आकाश के तारा-पुंज दिखाई ही नहीं देंगे। सूर्य भी घिरे हुये बादलों के बीच से धुंधला दिखाई पड़ेगा। हमारे दूरदर्शक यन्त्रों से शुक्र का विम्ब संदिग्ध चमक वाला, और धुंधला दिखाई पड़ता है। फिर विम्ब का धुंधलापन भी अप्रत्याशित रूप से घटता बढ़ता रहता है मानों शुक्र के चारों ओर के आवरण की मोटाई भी घट बढ़ रही हो। चन्द्रमा, मंगल ग्रह और बुध तक के धरातल के सम्बन्ध में ज्ञात है किन्तु शुक्र ग्रह का धरातल कैसा है इसके सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका है। बड़े तरंगदैर्घ्य के विकिरणों की आकाशीय आवरण की भेद्यता अधिक होती है। इस सिद्धान्त पर बुध ग्रह के अवरक्त चित्र (Infrared photographs) लेना सम्भव हो सका किन्तु शुक्र के लिये यह विधि बेकार सिद्ध हुई। गत वर्ष जब शुक्र ग्रह हमारे अत्यन्त समीप था खोजों के लिये रैडार का ही प्रयोग किया गया। किन्तु इतने अधिक अन्तर से रैडार पर किये गये निरीक्षणों से प्राप्त परिणाम संदेह रहित नहीं कहा जा सकता। जब आकाश में स्थित रैडार से कम अन्तर पर परीक्षण करना सम्भव होगा तब ही विश्वसनीय फलों की आशा की जा सकेगी।

ज्योतिष में वर्णक्रमदर्शी बड़ा ही उपयोगी यन्त्र है। किसी आकाशीय पिंड से प्राप्त प्रकाश के विश्लेषण से उस पिण्ड के रासायिनक अवयवों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। शुक्र की परीक्षा करते समय एक कठिनाई सम्मुख आई। इस ग्रह के चारों ओर के आकाशीय आवरण का ऊपर का ही स्तर सूर्य के प्रकाश को परावर्तित करता है। विषैली कार्बन डाइ आक्साइड की दीर्घ मात्राओं का पता लगा है। नवम्बर १९५९ में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने जो गुब्बारा छोड़ा था उससे जलवाष्प की उपस्थिति का भी पता चला। जलवाष्प की उपस्थिति का इसके पूर्व पता नहीं लग सका था क्योंकि यह पदार्थ हमारे वायुमण्डल में भी विद्यमान है और दोनों ग्रहों के द्वारा आनेवाली वर्ण क्रम रेखायें एक दूसरे को आच्छादित कर लेती हैं। यदि किसी कृत्रिम उपग्रह से वायुमुक्त स्थान से शुक्रग्रह की वर्णक्रम रेखायें प्राप्त की जा सकें तो पृथ्वी के वायुमंडल द्वारा उत्पन्न असुविधा से बचा जा सकता है। वैसे तो आक्सीजन, कार्बनमोनोक्साइड की अपेक्षा हलकी होती है और उसे कार्बन डाइ आक्साइड के तल

में ऊपर ही होना चाहिये। इससे यह अनुमान होता है कि शुक्रग्रह पर आक्सीजन नहीं होना चाहिये किन्तु सम्भव है कि सूर्य के भयंकर ताप और शुक्र के चुम्बकीय क्षेत्र या अन्य किसी भौतिक प्रभाव के कारण कार्बन डाइ आक्साइड आक्सीजन से ऊपर उठ गई हो और नीचे के स्तर पर आक्सीजन उपस्थित हो। फिर भी इस ग्रह में आक्सीजन की उपस्थिति का कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिला है।

आन्तरिक ग्रह

एक अन्य कठिनाई सामने आती है। शुक्र ग्रह का ग्रह-पथ पृथ्वी के ग्रह-पथ के भीतर की ओर पड़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि जैसे जैसे वह हमारे पास आता जाता है उसका वह प्रकाशवान भाग जो पृथ्वी से दृष्टिगोचर होता है घटता जाता है। जब यह ग्रह पृथ्वी से सबसे समीप के स्थान पर आता है उस समय उसका अंधेरा भाग ही हमारे सामने पड़ता है। फिर इस ग्रह का ग्रह पथ आन्तरिक होने के कारण इसे सूर्यास्त और सूर्योदय के बीच के समय में भी कुछ सीमित घंटों तक ही देखा जा सकता है। फिर यह रात्रि के समय में क्षितिज से कभी भी पर्याप्त ऊँचाई पर नहीं होता। द्वाभा की पेटी में चमक और वायु की क्षुब्धता के कारण सूर्य से अधिकतम कोणीय पृथक्करण की सीमा पर जो ४८° है, भी असुविधाजनक अवस्थायें उत्पन्न हो जाती हैं और दिन के प्रकाश में कुछ परीक्षण अनुपयुक्त हैं।

शुक्र के दिनमान के संबंध में ठीक ज्ञात नहीं है। इस समय के सम्बन्ध में जो अनुमान हैं उनकी सीमा विस्तृत है। मेघाच्छादन के संचरण से प्राप्त परिणामों से दिनमान के जो मूल्य आते हैं वे अनिश्चित हैं। श्रोटर और कैसिनी के अनुसार दिनमान पृथ्वी के २४ घंटे था, पिकरिंग के अनुसार ६८ घंटे और स्टीवेन्सन के अनुसार ८ दिन किन्तु फिर भी शिआपरेली के अनुसार शुक्रग्रह का ग्रहपथ में एक चक्कर लगाने का समय २२५ दिन ही है। ये शिआपरेली महोदय वही हैं जिन्होंने पहले पहल मंगल ग्रह में नहरें देखी थी और इसी तथ्य से उत्साह लेकर लोवेल ने सोचा था कि मंगल ग्रह पर बुद्धिमान जीव निवास करते हैं और वे सिंचाई की विधि का प्रयोग करते हैं। अधिक समय नहीं हुआ जब डोलफल ने फ्रांस की पीद्यूमिदी वेधशाला से शुक्र के द्वारा ग्रह पथ का एक चक्कर पूर्ण करने का समय यही परिगणित किया था। इसका अभिप्राय यह है कि शुक्र भी बुध की भाँति अपना एक ही भाग सूर्य की ओर रखता है। वेलोपीलस्की ने वर्णक्रमदर्शी विधि से दिन का मान ३४$\frac{1}{2}$ घंटे निकाला जब कि स्लाइफर ने यही मान कई सप्ताह बताया। रेडियो ज्योतिष से एक नई आशा उत्पन्न हुई। ओहियो के क्राउस शुक्र से ध्वनि के दोलायमान होने के आधार पर यह मान २२$\frac{1}{2}$ घंटे निकाला। गत वर्ष जब शुक्र ग्रह पृथ्वी के अत्यन्त समीप आ गया था तब जोड्रेल बैंक और एम० आई० टी० ने भी रेडियो तरंगें शुक्र ग्रह भेजीं और उनकी प्रतिध्वनि प्राप्त की। वे दिनमान के संबंध में अनिश्चित ही रहे। एम० आई० टी० के अनुसार यह मान सम्भवतः बहुत लम्बा था। रूसी लोग विश्वास के साथ यह मान ९ से ११ दिन का बताते हैं। कैलीफोर्निया के प्रौद्योगिकी संस्थान ने रेडियो प्रतिध्वनि विधि से ग्रहपथ का एक चक्कर पूरा करने का समय २२५ दिन ज्ञात किया है। इस प्रकार तीन विभिन्न स्वतन्त्र स्रोतों से यह साधिकार कहा जा सकता है कि शुक्र अपने ग्रहपथ पर वर्ष में केवल एक बार चक्कर लगा सकता है यद्यपि उसकी सूर्य से दूरी तथा ज्वार उत्पन्न कार्य की शक्ति से यह आशा की जाती है कि उसकी घूर्णन गति पृथ्वी से धीमी होगी। साथ ही इसका जो भाग सूर्य की ओर रहेगा वह अधिक तप्त रहेगा और जो भाग सूर्य से दूर रहेगा वह अधिक शीतल रहेगा। किन्तु जो भी साक्ष्य हमें प्राप्त हैं वे इस बात की पुष्टि नहीं करते। एक अध्ययन के अनुसार

ये तापों के मान क्रमशः ४०-५०° से० और -२३° से० मिले।

भूमि का ताप

ये ताप वास्तव में शुक्र के भूमितल के ताप नहीं हैं। संयक्तराष्ट्र अमेरिका के ड्रेक तथा अन्य लोगों ने सूक्ष्म तरंगो के उत्सर्जन से जो मान निकाला है वह ३००° से० है। ये सूक्ष्म तरंगें शुक्र के भूतल से उत्सर्जित हुई मानी गई हैं इससे इस प्रकार प्राप्त ताप भूतल का ताप कहा जाता है। इतने उच्च ताप की स्थिति कार्बन डाइ ऑक्साइड और जलवाष्प के संयुक्त प्रभाव के कारण है। सूक्ष्म तरंगों की एक अन्य व्याख्या भी दी जा सकती है। सिष्टन और स्ट्राँग ने अवरक्त विकिरणों के अध्ययन से औसत वार्षिक ताप १७·५° से० पाया। साथ ही निम्न ताप ११° से० तक प्रस्तावित किया गया। इन सीमावर्ती भागों में से कोई भी ग्रह की कोयलाअरण्य स्थिति के अनुरूप नहीं हैं।

दूसरा रुचिकर नवीन विचार है शुक्रीय ताल का पूर्णतया जलमय होना। यूरे के मतानुसार यदि जल के साथ सूखी भूमि होती तो ग्रह के आकाश में स्थित कार्बन डाइ ऑक्साइड जल से मिलकर कार्बोनिक अम्ल में परिवर्तित हो गई होती और चट्टानों से मिलकर आत्मसात हो गई होती। और वास्तव में वायुमंडल के निम्न स्तरों में कार्बन डाइ आक्साइड की मात्रा कम ही होती। भिपिल और मेंजिल पानी से ढके हुये ग्रह की पुष्टि करते हैं। हाल ही में जब यह ग्रह पृथ्वी के समीप आया था अमरीकियों ने समतल तल के होने की पुष्टि को और तल के जल से बने होने का सुझाव दिया। क्या शुक्र ग्रह आज से १ अरब वर्ष पूर्व की हमारी पृथ्वी के समान है जब हमारे वायुमण्डल में कार्बन डाइ ऑक्साइड की मात्रा आजकल की अपेक्षा अधिक थी और जीवन का प्रादुर्भाव समुद्र में सामुद्रिक जीवों के रूप में हुआ था? यदि ऐसा है तो अभी लाखों वर्ष के बाद वहाँ कोयले वाले दलदल और डिनोसौर उत्पन्न हो सकेंगे। जहाँ शुक्र ग्रह के तल के जल आच्छादित होने का अनुमान है वहाँ यह भी कहा जा सकता है कि शुक्रग्रह अतितप्त रेगिस्तान की भाँति है जिस पर जल का लेशमात्र भी नहीं है और यहाँ का वायुमण्डल घना, सांस लेने के अनुपयुक्त है जहाँ प्रचण्ड वायु चलती रहती है।

धूमिल प्रकाश

जब शुक्रग्रह नवचन्द्र के रूप में प्रकट होता है तब उसके अंधेरे तल पर एक दीप्ति प्रकट होती है जिसे धूमिल प्रकाश कहा जाता है। यह प्रकाश भी एक जटिल समस्या है। चन्द्रमा पर भी इसी प्रकार का आभास होता है किन्तु चन्द्रमा पर का यह प्रकाश पृथ्वी से परावर्तित हुये प्रकाश के कारण है। शुक्रग्रह का कोई चन्द्रमा भी नहीं हैं जिससे प्रकाश परावर्तित हो सके। सन् १८४२ ई० में ग्रुथुइसेन ने यह प्रस्ताव रक्खा कि यह दीप्ति जंगल में जलती हुई अग्नि शिखाओं के कारण थी जिसे वहाँ के निवासियों ने सम्भवतः अपने नवीन राजा के राज्यभिषेक के अवसर पर प्रज्वलित किया था। किन्तु ऐसे आकर्षक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में यही एक दोष है कि कोई भी उन्हें मान्यता देने को तैयार नहीं होता। आधुनिक विचारों के अनुसार यह प्रभाव वायुमंडलीय वैद्युतिक प्रभावों के कारण है जैसा हमारी पृथ्वी पर अरोरा बनने में होता है। शुक्र पृथ्वी की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली चुम्बक ज्ञात होता है और उसी पृथ्वी की अपेक्षा दूना सूर्य प्रकाश मिलता है। इससे इस प्रकार का अरोरा बन जाना सम्भव है। लन्दन विश्वविद्यालय के वार्नर ने इस धूमिल दीप्ति का जो विश्लेषण किया है उससे परमाण्विक ऑक्सीजन की परिस्थिति का बोध होता है। किन्तु फिर भी इस विचित्र प्रभास का प्रश्न अब भी हल नहीं हो सका है।

यह स्पष्ट है कि शुक्र के रहस्यों की खोज के लिए कृत्रिम चन्द्रमाओं और रॉकेटों का बड़ी मात्रा

में प्रयोग करना पड़ेगा और विशेष रूप से जब ये पृथ्वी के वातावरण के प्रभावों से मुक्त होकर शुक्र-ग्रह के अत्यन्त समीप पहुँच सकेंगे। गत वर्ष इसी उद्देश्य से रूस ने एक रॉकेट छोड़ा था जिसका इस ग्रह से ६२,०० मील दूर तक पहुँचने का अनुमान था। अभाग्यवश इसका रेडियो का सम्बन्ध गड़बड़ हो गया। बहुतेरे लोगों का विचार है कि मनुष्य शुक्र ग्रह या उसके समीप भेजने के स्थान पर स्वयम-चालित यंत्रों से ही वाह्य अवकाश की खोज करे। अमेरिका ने १९७० ई० के अन्त तक चन्द्रमा में मनुष्य को भेजने का आश्वासन दिया है। सम्भवतः रूसी अमरीकियों से कुछ पूर्व पहुँच जायँ। फ्लोरेन्स में हुई अन्तर्राष्ट्रीय अवकाश गोष्ठी में गतवर्ष प्रोफेसर ब्लैगोनरैवोव ने कहा था कि आधुनिक स्वचालित यन्त्रों की तकनकि हमारी सभी समस्याओं के समाधान का आश्वासन देती है किन्तु फिर भी मनुष्य को अपनी आँखों से देखना है कि अवकाश में क्या हो रहा है।

किसी भी प्रकार से शुक्रग्रह हमारे लिए रहस्यपूर्ण हो यह निश्चित है कि वह हमें और भी आश्चर्यजनक तथ्यों से परिचित करायेगा। ज्योतिषीय वाद परिवर्तनशील सिद्ध हुए हैं। बुद्ध और चन्द्रमा के सम्बन्ध में भी, जिनके विषय में हमें पर्याप्त ज्ञान है, विचारों में क्रांतिकारी परिवर्तनों की आशा है। गतवर्ष सुयोग्य वैज्ञानिकों ने प्रस्तावित किया था कि बुध पर पृथ्वी से भी अधिक जल हो सकता है और उसके समुद्र वर्फ की मोटी परतों से ढके हुए हैं जिनकी मोटाई ध्रुवों पर २००० मीटर है। यह भी प्रस्तावित किया गया है कि चन्द्रमा का तल जो अत्यन्त शुष्क माना गया है सम्भवतः अपने तल पर और उसके समीप जमे हुए जल से युक्त है।

जैसा हम देख चुके हैं शुक्र ग्रह पर जीवन की सम्भावना की आशा और स्वभाव के सम्बन्ध में विचार बदल गये हैं। फिर भी यदि वह इतना अधिक गरम है कि वहाँ जीवन सम्भव नहीं है तो एक ऐसी अत्यन्त नवीन विधि निकाली गई है जिससे उसे रहने योग्य बनाया जा सकेगा। इस विधि को अणु-जैविकीय पुनःप्राविधिकी कहते हैं। कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय के डा० कार्ल सगन ने शुक्र के ऊपरी वायुमंडल में ऊष्मा प्रतिरोधी वर्ग के नीले हरे शैवालों के बीजारोपण की परिकल्पना की है। इनमें से कुछ तो गरम सोतों में ८०° से० तक के ताप पर पाये गये हैं। जैसा डा० सैगन का विश्वास है इन शैवालों के रासायनिक गुण इतने अनुकूल हैं कि इनके द्वारा ग्रह के वायुमण्डल की कार्बन डाइ आक्साइड की मात्रा धीरे-धीरे कम होती जावेगी। परिणामस्वरूप हरित गृह प्रभाव और तलताप भी कम हो जावेगा जिससे नवीन विकास होगा जब तक कि ताप पर्याप्त कम हो जावेगा और अनुकूल भौमिक जीवन के लिये और सांस लेने योग्य वातावरण वन जावेगा।

कोई भी सोच सकता है कि वाह्य अवकाश में शैवाल की उपस्थिति एक अद्भुत विचार है। पिछले नवम्बर में न्यूयार्क और फोर्डहम विश्वविद्यालय के क्लाउस और नेगी ने **"आयोजित मूलद्रव्यों"** के सम्बन्ध में रिपोर्ट दी। यह रिपोर्ट दो पुच्छल तारों के सम्बन्ध में थी जो उत्तरी फ्रान्स और मध्य अफ्रीका में क्रमशः १८६४ और १९३८ ई० में गिरे थे। ये पुच्छल तारे सम्भवतः उन उपग्रहों से गिरे थे जो बुध और वृहस्पति के बीच में हैं। इनमें से चार मूलद्रव्य भौमिक शैवालों के वर्गों के समरूप हैं किन्तु पाँचवे वर्ग का मूलद्रव्य पृथ्वी पर नहीं मिलता। कुछ फोटो प्रकाशित हुये हैं। ये अणुजैविकों को वास्तव में आयोजित मालूम पड़ेंगे कुछ मूलद्रव्यों के कोषों का विभाजन भी होता हुआ ज्ञात होगा। संसार की प्रयोगशालाओं में पहले जिन पुच्छल तारों पर विशेष कार्य हुआ उसके अनुसार इन तारों में उन जटिल कार्बनिक अणुओं का पता लगा जो पृथ्वी पर पाये जाने वाले इसी प्रकार के अणुओं से मिलते जुलते हैं किन्तु यह भी

दर्शाया गया है कि ये अणु अकार्वनिक क्रियाओं से सरलता पूर्वक प्राप्त किये जा सकते हैं । जीवावशेषों की वात ही दूसरी है फिर भी यदि ये प्राप्त हो सके और आविष्कारों द्वारा उनकी पुष्टि हो सकी तो पृथ्वी के वाहर के जीवन के सम्वन्ध में यह पहला सच्चा अनुसन्धान होगा ।

नादर्न इण्डिया पत्रिका से साभार

चलचित्रों का तृतीय विस्तार

अरुण कुमार सक्सेना

आज के युग में चलचित्र ही मनोरंजन के प्रधान साधन है । इनकी सहायता से जनसाधारण कुछ क्षणों में पृथ्वी का चक्कर लगा लेता है, पहाड़ों की ऊँचाई नाप लेता है । परन्तु यदि कोई मनुष्य सचमुच ही पृथ्वी का चक्कर लगाना चाहे तो कितना समय नष्ट करना होगा और वहुत सी कठिनाइयों को झेलना पड़ेगा ?

यहाँ तृतीय विस्तार या थर्ड डाइमेंशन को संक्षेप में समझाने का प्रयत्न किया जावेगा ।

जव कभी हम किसी भी वस्तु को आँखों से देखते हैं तो उस वस्तु की लम्वाई तथा चौड़ाई ही दीख पड़ती है किन्तु मोटाई नहीं । इस मोटाई को, जिस पर हम सव अधिक ध्यान नहीं देते है, 'तृतीय विस्तार' या 'थर्ड डाइमेन्शन' के नाम से पुकारते हैं।

किसी भी वस्तु को यदि दो विभिन्न कोनों से देखें तो उस वस्तु का तृतीय विस्तार दिखाई पड़ता है । साधारणतः हम सव जव किसी भी चित्र या वस्तु को देखते हैं तो केवल उसकी लम्वाई तथा चौड़ाई ही देख पाते है मोटाई नहीं क्योंकि इसमें तृतीय विस्तार नहीं होता है । इसको समझने लिये यदि एक ठोस वर्ग लिया जाय और विभिन्न कोणों से देखा जाये तो आपको तृतीय विस्तार का ज्ञान हो जावेगा ।

माना कि चित्र में दिखाये गये घन को बिलकुल सामने से (क स्थिति में) देख रहे है । इसमें केवल लम्वाई तथा चौड़ाई ही दीख पड़ेगी । परन्तु यदि हम अपनी आँखों को वांयी ओर (स्थिति ख) ले जावें

(चित्र १)
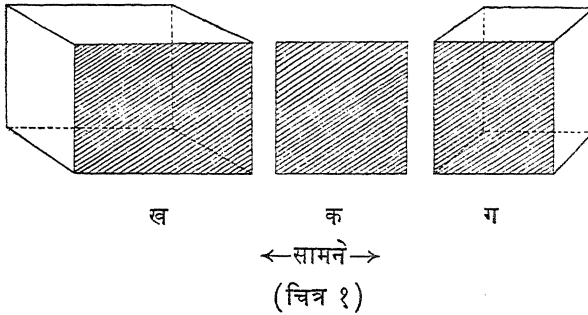
तो उसमें मोटाई भी दीखने लगती है। इसी प्रकार यदि आँखों को दाहिनी ओर ले जायें तो उसमें भी मोटाई दिखाई देगी (स्थिति ग)।

इसी मोटाई अथवा तृतीय विस्तार का जब समावेश चलचित्रों में किया जाने लगा तो वे चित्र हमें अपने वास्तविक तथा अपने जीवित रूप में दिखाई पड़ने लगे। इसका यह अर्थ नहीं हुआ कि चित्रों में मोटाई भी आ गई परन्तु बात यह है कि इनके निर्माण तथा प्रदर्शन में इस प्रकार के साधनों का प्रयोग किया कि हमें तृतीय विस्तार का भ्रम होने लगा और चित्र अपने जीवित रूप में हमारे सामने आ गये।

अमेरिका के निवासी श्री फ्रैड वैल्लर ने अपने अथक परिश्रम से पन्द्रह वर्षों के पश्चात् इस तृतीय विस्तार के भ्रम का समावेश अपने चलचित्रों में किया। इस नवीन विधि ने चलचित्र जगत में एक हलचल मचा दी।

सर्वप्रथम इनके चित्र उतारने के लिये एक विशालकाय कैमरे का प्रयोग किया गया था। इसमें ग्यारह लैन्स लगे हुये थे किन्तु यह भारी तथा पेंचीदा होने के कारण अधिक समय तक कार्य में सहायक न हो सका। इस विशालकाय कैमरे के स्थान पर एक छोटा तथा नवीन ढंग का कैमरा प्रयोग में लाया गया। समयानुकूल इसमें परिष्कार हुये और कालान्तर में केवल तीन ही लैन्स प्रयोग में लाये गये जो कि तीन विभिन्न कोणों से एक साथ अलग अलग फिल्मों पर चित्र खींचते हैं। इन लैन्सों की शक्ति सबल एवं आँखों की शक्ति के बराबर होती है। प्रत्येक लैंस विषय या वस्तु का १/३ भाग चित्र है। दाये बांये वाले लैन्स क्रमशः उस वस्तु के दांये तथा बांये भाग का चित्र खींचते हैं। यह लैन्स ४८ अंश के कोण से बीच की ओर झुके रहते है।

ऐसे चलचित्रों की शूटिंग के समय रिकार्डिंग का भी विशेष प्रबन्ध किया जाता है। इसमें एक साथ आठ माइक्रोफोन काम में लाये जाते हैं और जिन्हें अनेक अनेक स्थानों पर लगाया जाता है। इस चित्र को दिखाने के लिये भी सिनेमा हाल में विशेष प्रबंध किये जाते हैं। इनका पर्दा पुराने पर्दों से अधिक बड़ा होता है तथा अपना विशेष गुण भी रखता है। यह बड़ा पर्दा मध्य में गोलाई लिये रहता है तथा किनारे पर झुला हुआ रहता हैं।

इन सब के अतिरिक्त एक और विशेष परिर्वतन होता है जिसके कारण तृतीय विस्तार के आभास
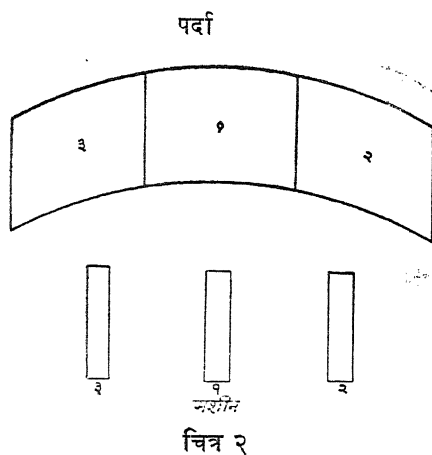
चित्र २

मिलने में सहायता मिलती है। एक साथ ही तीन विभिन्न मशीनों द्वारा पर्दे पर फिल्म तीन भागों में दिखाई जाती है। (जैसा चित्र २ में दिखाया गया है)

परन्तु सहज प्रश्न यह है कि यह पर्दा इतना विशाल क्यों होता हैं ?

मनुष्य की आँख का क्षेत्र १८०° विस्तार एवं ९०° ऊँचाई तक होता है। जब मनुष्य किसी विशेष वस्तु को ध्यानपूर्वक देखता है तो उस समय आँखों के कोनों से उसे और भी अधिक आसपास की वस्तुयें स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगती हैं। इसी तथ्य को तृतीय विस्तार के चलचित्रों के पर्दे पर दिखाने का प्रयत्न किया गया। इस पर्दे का क्षेत्र १४६° विस्तीर्ण तथा ५५° ऊँचा होता है जो कि आँख के क्षेत्र के अत्यन्त समीप हैं।

इतना सब होते हुये भी पर्दे के ऊपर चित्र आने पर एक कठिन समस्या रह जाती है अर्थात् तीनों फिल्मों के किनारे स्पष्ट रूप के अलग अलग दिखाई देते हैं। इस समस्या का निवारण बड़े ही अनूठे ढंग से किया गया। प्रत्येक प्रोजेक्टर मशीन में फिल्म के किनारे की ओर कंघी की आकार की दो चादरें एक दूसरे के ऊपर लगा दी गई। ये चादरें अत्यन्त शीघ्रता से आगे पीछे की ओर खिसकती रहती हैं इस कारण पर्दे पर चित्रों के किनारे स्पष्ट हो जाते हैं।

साउण्डट्रैक संख्या में आठ होते हैं। सिनेमा हाल में ध्वनि विस्तारक (loud speakers) भी आठ ही होते हैं जोकि अलग-अलग स्थानों पर लगाये जाते हैं। इसमें तीन तो पर्दे के पीछे लगाये जाते हैं और शेष हाल में (देखिये चित्र ३)
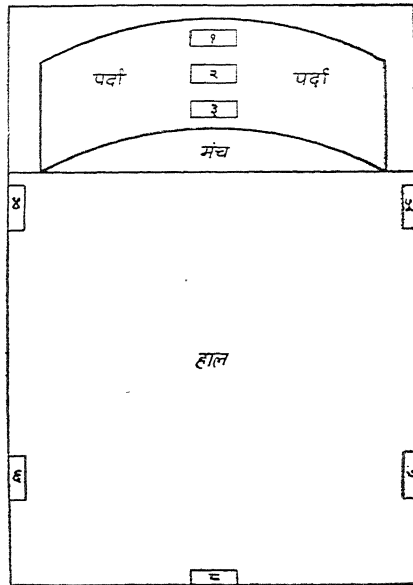
चित्र ३

यह ध्वनि विस्तारक यंत्र चलचित्रों के तृतीय विस्तार के भान कराने में सहायता करते हैं। उदाहरणार्थ पर्दे पर एक ताँगा चला आ रहा हैं। उसकी ध्वनि शनैः-शनैः बायीं से दाहिनी ओर जाती सुनाई

पड़ेगी और बीच में तीव्र हो जायगी। यह ध्वनि विस्तारकों के कारण होता है। चित्र ३ को देखिये सर्व प्रथम ४ से फिर २ तथा ५ से क्रमशः ध्वनि आयेगी। यदि आप आँख बन्द कर लें तो भी आपको मालूम हो जायगा कि ताँगा बायें से दायें गया।
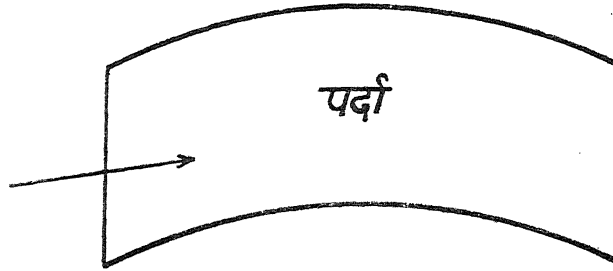
चित्र ४

इन चित्रों को देखते समय एक प्रकार के ऐनक का प्रयोग किया जाता हैं जो लाल रंग का होता है। यह इन चित्रों के धुधलेपन को स्पष्ट करता है।

इस तृतीय विस्तार के अतिरिक्त एक और नया प्रयोग चलचित्रों में हो रहा हैं वह है सुगन्ध का। इस प्रयोग में जैसे कोई नायक वाटिका में विहार कर रहा हैं और वह गुलाब के फूल को सूँघता है तो उसकी सुगन्ध दर्शकों को भी लुभायेगी। यदि नायक या अभिनेता स्वादिष्ट भोजन कर रहा है तो उन खाद्य पदार्थों की भीनी-भीनी सुगन्ध दर्शकों के मुँह में पानी भर देगी और उनकी लार टपकने लगेगी।

संक्षिप्त जीवन-परिचय माला-८

मैल्कम स्काट कारपेण्टर

अन्तरिक्ष में पृथ्वी की परिक्रमा करने वाले दूसरे अमेरिकी अन्तरिक्षयात्री लेफ्टिनेण्ट कमाण्डर मैल्कम स्काट कारपेण्टर, अपने समूचे यौवनकाल में बड़े ही कार्यशील व्यक्ति रहे हैं। पृथ्वी की कक्षागत उड़ान के समय एक अन्तरिक्ष यान का संचालक करने के सम्बन्ध में प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिये चुने जाने से पूर्व श्री कारपेण्टर प्रशिक्षण काल में, युद्ध काल में तथा एक प्रशिक्षक के रूप में सामान्य और जेट विमानों में २,९०० घण्टे की उड़ान भर चुके थे।

अन्तरिक्ष की यात्रा करने वाले अन्तरिक्षयात्रियों के प्रथम दल में जिन अन्य ६ हवाबाजों को चुना गया था, उन्हीं के समान ये भी कुछ न कुछ स्वप्नदर्शी अवश्य रहे होंगे। अपनी अन्तरिक्ष यात्रा से पूर्व, कठिन अध्ययन तथा प्रशिक्षण के दौरान, कारपेण्टर ने अनेक प्रकार से अपनी सूक्ष्म चेतना तथा कल्पनाशक्ति का परिचय दिया था।

कर्नल जान एच० ग्लेन, जूनियर द्वारा की गयी अन्तरिक्ष की प्रथम कक्ष यात्रा के दौरान कारपेण्टर को वैकल्पिक हवाबाज चुना गया था। उस समय

वे उनके मुख्य सहायक के रूप में कार्य कर रहे थे। आवश्यकता पड़ने पर वे उनके स्थान पर अन्तरिक्ष की यात्रा करने के लिये बिल्कुल तैयार थे।

मनुष्य को अन्तरिक्ष में भेजने सम्बन्धी अमेरिकी कार्यक्रम के लिये अपनी सेवाएँ अर्पित करने के अपने उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए, कमाण्डर कारपेण्टर ने कहा :

एक श्रेष्ठ उद्देश्य के लिए देश की सेवा करने का यह एक अच्छा अवसर है। एक विशाल पैमाने पर नई खोज करने के लिये निश्चय ही यह अच्छा अवसर हैं। यह ऐसा कार्य है जिसके लिये मैं सहर्ष अपने प्राणों की आहुति दे सकता हूँ। मैं उस व्यक्ति को बड़ा ही सौभाग्यशाली समझता हूँ, जिसे अपनी पसंद का काम करने का ऐसा अवसर मिले।

एक संवाददाता ने पूछा—क्या आपको अपनी भयानक उड़ान के सम्बन्ध में किसी प्रकार के भय का अनुभव हुआ ?

कमाण्डर कारपेण्टर ने उत्तर दिया वस्तुतः हम इस सम्बन्ध में अधिक नहीं सोचते हैं। हम बहुत कुछ मशीन की कार्यक्षमता पर निर्भर करते हैं। किन्तु हमने यह सिद्ध कर दिया है कि हम यह कार्य कर सकते हैं। किसी प्रत्याशित घटना के सम्बन्ध में हमारी सुरक्षा के लिए पर्याप्त व्यवस्था कर ली गयी हैं। किन्तु इस अन्तरिक्ष उड़ान कार्यक्रम के सम्बन्ध में समस्त समस्याएँ प्रत्याशित नहीं हैं। कुछ समय पूर्व उनसे पूछा गया था कि यदि कोई दुर्घटना घटित हो जाये तो क्या अन्तरिक्ष कार्यक्रम को धीमा अथवा बन्द कर दिया जायेगा। उनका निम्न उत्तर हवाबाजों की इस टोली के सर्वथा अनुकूल था। निःसन्देह नहीं। इस क्षेत्र में भी वैसी ही कुछ क्षतियाँ अवश्य होंगी, जैसी कि प्रत्येक क्षेत्र में प्रारम्भ में होती आई हैं। हम सब यह समझते हैं, फिर भी हमें अग्रसर होना है। हमने अन्तरिक्ष यात्रा को यथासम्भव अधिक से अधिक निरापद बनाने का प्रयत्न किया है और हम सहर्ष परिणामों का स्वागत करेंगे। हमें इस कार्य में अवश्य आगे बढ़ना है, चाहे इसके लिए हमें कभी-कभी प्राणों की आहुति भी क्यों न देनी पड़े।

अपने से पूर्व अन्तरिक्ष की यात्रा करने वाले हवाबाजों के समान, हवाबाज कारपेण्टर भी अपने अन्तरिक्षयान के विषय में ऐसे ही बात करते हैं, जैसे कोई नाविक, अपने जहाज के विषय में बातें करता है। उनकी बातों से ऐसा प्रतीत होता है मानो उसका अलग ही अपना जीवन एवं व्यक्तित्व हो। 'औरोरा-७' नाम चुनते समय, उन्होंने उसी पद्धति का अनुसरण किया है, जिसके द्वारा प्रत्येक अमेरिकी हवाबाज ने अपने यान के लिये नाम चुना था। इस विश्वास के कारण कमाण्डर कारपेण्टर का अपने यान से स्नेह हो गया था कि यह बड़ी अच्छी तरह कार्य करेगा और उन्हें सुरक्षित रूप में पृथ्वी पर ले जायेगा।

प्रशिक्षण कार्यक्रम के अन्तर्गत उन्हें जब भी प्रशिक्षण दिया जाता है वह केवल आगे छोड़े जाने वाले अन्तरिक्ष-यान के सम्बन्ध में होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कारपेण्टर ने जाने-अनजाने समस्त जीवन अन्तरिक्ष में उड़ान करने की तैयारी में ही बिताया है।

१ मई, १९२५ को, बौल्डेर (कोलोरैडो) में इनका जन्म हुआ था। बाल्यकाल में पश्चिमवर्ती कोलोरैडो राज्य के पहाड़ी प्रदेश में वर्षों तक पैदल सफर करके और बर्फ पर फिसल कर कारपेण्टर ने अपने शरीर को मजबूत और लचीला बना लिया था। १९४३ में माध्यमिक स्कूल की पढ़ाई समाप्त करके वे अमेरिकी नौसेना में उड्डयन शिक्षार्थी के रूप में भरती हो गये। उड्डयन सम्बन्धी प्रशिक्षण पूरा होने से पूर्व ही युद्ध बन्द हो गया और वे उड्डयन सम्बन्धी

इंजिनियरिंग की शिक्षा पाने के लिये कोलोरैडो विश्वविद्यालय में भरती हो गये। १९४९ में इन्होंने स्नातकीय उपाधि प्राप्त कर ली।

उसके बाद कमाण्डर कारपेण्टर नौसेना में लौट गये और साम्यवादी चीनियों के आक्रमण के दौरान इन्होंने दक्षिणी कोरिया में एक विमानचालक के रूप में कार्य किया। उसके बाद के वर्षों में ये नौसेना के उड्डयन अधिकारी तथा इलैक्ट्रॉनिक्स और इण्टेलिजेन्स अफसर के रूप में कार्य करते रहे हैं।

वायुयान संचालक के कार्य में कुशलता प्राप्त करने के लिये इन्होंने अनेक प्रकार के वायुयानों का संचालन एवं जाँच पड़ताल की। इन्होंने २,९०० घंटों से अधिक भी समय तक वायुयानों का संचालन किया। इस समय में ४०० से अधिक वे घण्टे सम्मिलित हैं, जिनमें इन्होंने जैट विमानों का संचालन किया था। शारीरिक दृष्टि से ठीक उतरने, उच्चकोटि की सूझबूझ रखने तथा जैट विमानों के संचालन का अनुभव रखने के कारण इनको सरकारी-योजना के लिए चुन लिया गया था।

कारपेण्टर ने जहाजरानी और संचार व्यवस्था का विशेष रूप से अध्यन किया है। अन्तरिक्ष यान सम्बन्धी प्रत्येक हवाबाज अन्तरिक्ष यात्रा के किसी एक अंग की विशेष योग्यता प्राप्त करता है और वह अपनी खोजों के विषय में अपने सहयोगी हवाबाजों को ठीक-ठीक जानकारी देते रहने के लिए उत्तरदायी होता है। इन्होंने अपने विशेष क्षेत्रों में जो कुशलता प्राप्त की थी, उससे इन्हें अपनी ऐतिहासिक उड़ान में बड़ा लाभ पहुँचा है।

फिर भी, उन्हें इस बात से सबसे अधिक संतोष मिला है कि इस उड़ान से सम्बद्ध प्रत्येक व्यक्ति पर उन्हें पूरा भरोसा है। जैसा कि कारपेण्टर ने कहा है मेरा विश्वास है कि देश के सर्वश्रेष्ठ प्रतिभाशाली व्यक्ति इस योजना में योग दे रहे हैं। अमेरिकी अन्तरिक्ष यात्रियों के प्रथम दल के अपने अन्य ६ सहयोगियों के समान कारपेण्टर भी एक सद्गृहस्थ हैं। उन्हें सदैव अपनी पत्नी और ४ बच्चों का ध्यान रहता है। कारपेण्टर का छठा बच्चा उनका पुत्र टिम्मी था। १९५१ में उसकी ६ महीने की आयु में मृत्यु हो गयी थी।

शारीरिक दृष्टि से कारपेण्टर असाधारण रूप से लम्बे-चौड़े व्यक्ति नहीं हैं। उनका कद ५ फुट १० इंच है। उनका वजन १५५ पौण्ड है। वे विशाल कन्धों वाले हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति है। उनके शान्त, मैत्रीपूर्ण तथा सहृदय व्यक्तित्व के कारण उनके मित्रों को सदैव यह विश्वास रहा है कि वे जो भी कार्य करेंगे, बहुत ही अच्छी तरह रहेंगे। अपनी अन्तरिक्ष उड़ान में उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि उन पर ऐसा विश्वास करना ठीक ही था।

सार संकलन

१. गोबर गैस और उसके प्रयोग की सम्भावनायें

हमारे खेतों का उत्पादन अत्यधिक न्यून है। इसके प्रमुख कारण हैं हमारे किसानों द्वारा पुरानी घिसीपिटी विधियों का उत्पादन में प्रयोग और वर्षों से जोती-बोई जाने वाली भूमि की उर्वरता की क्षति पूर्ति के लिए उचित साधनों का प्रयोग न करना। गोबर जिसका प्रयोग खाद के लिए किया जाना चाहिए इस काम में न लाया जाकर अधिकतर जलाने में प्रयुक्त होता है। यद्यपि किसान गोबर को खाद के रूप में प्रयोग में लाने का महत्व समझते हैं किन्तु उनके पास ईंधन के रूप में व्यवहार में लाने के लिए कोई अन्य ऐसी वस्तु नहीं है जो गोबर का स्थान ले सके। कोयला केवल नगरों के लिये ही प्राप्त है। फिर औद्योगिक विकास के साथ कोयले की माँग नित्य प्रति बढ़ती जा रही है और देहातों को कोयला भेजना अब सम्भव नहीं रहा है। ऐसी स्थिति में अब आवश्यक हो गया है कि हम कोई ऐसा मार्ग निकालें जिससे गोबर का कुछ भाग उर्वरक के रूप में प्रयोग के लिये बचाया जा सके।

गोबर तथा अन्य कार्बनिक पदार्थ विघटित होने पर गैसों का सृजन करते हैं जो ज्वलनशील होती हैं और जिनका उपयोग घरों में ईंधन के रूप में किया जा सकता है। अब प्रश्न यह उठता है कि इस विघटन की क्रिया से उत्पन्न होने वाली गैसों को किस प्रकार बनाकर संग्रहीत किया जाय जिससे उनका उपयोग ईंधन के रूप में सम्भव हो सके।

एक टन गोबर से ३१२२ घन फुट गैस उत्पन्न की जा सकती है। गैस की यह मात्रा ३० परिवारों के भोजन और प्रकाश की आवश्यकताओं के लिये पर्याप्त है। यदि हम देहात में उपलब्ध गोबर के एक भाग को गैस बनाने के कार्य में लाय तो हमारी ईंधन-समस्या के अधिकांश भाग का समाधान हो सकता है।

घर और कृषि के उपयोग में इस गैस को लाने में जर्मनी अग्रणी रहा है। द्वितीय विश्वयुद्ध में जब कोयला मिलना बन्द हो गया कुछ प्रगतिवादी किसानों ने जिन्हें इंजीनियरी से अभिरुचि थी, शक्ति के इस स्रोत को अपने घरों को गरम करने, भोजन पकाने, ट्रेक्टर चलाने के लिये अपनाया। उन्होंने इसके लिये कई डिज़ाइनों के यन्त्र बनाये। यहाँ उनके विस्तृत विवरण देने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि भिन्न प्रकार की आवश्यकताओं के लिये भिन्न प्रकार के यन्त्र बनाये गये थे और फिर जर्मनी जैसे शीत प्रधान देश के लिये किण्वन के लिये विशेष व्यवस्था करनी आवश्यक थी जो भारत जैसे उष्ण देश के लिये अनावश्यक होगी।

भारत में पूसा अनुसंधान संस्थान में गोबर गैस कार्य प्रारम्भ किया गया। रामकृष्ण मिशन, बेलूर मठ कलकत्ता और खादी ग्राम उद्योग आयोग जैसी स्वयं सेवक संस्थाओं ने इस विचार को कार्यान्वित करने पर विचार किया। प्रतिरक्षा विभाग ने भी कुछ कार्य किया।

सन् १९५७ ई० में परियोजना अनुसंधान और कार्य संस्थान उत्तर प्रदेश ने गोवर गैस के उपयोग पर अनुसंधान कार्य प्रारम्भ किया। यह कार्य १०० घनफुट धारिता के कई यन्त्रों के विभिन्न स्थानों पर लगाने से प्रारंभ हुआ। इनमें से एक यन्त्र परियोजना अनुसंधान और कार्य संस्थान में भी लगाया गया। संस्थान में लगाये गये इस यन्त्र से वे सरल विधियाँ प्रदर्शित की गईं जिनसे गोवर को प्रकाश और भोजन बनाने के लिये प्रयुक्त किया जा सकता था। इस प्रयोग ने पुरुषों की एक बड़ी संख्या को आकर्षित किया। ऐसा देखकर संस्थान की परियोजना समिति ने वड़े पैमाने पर कार्य करना ठीक समझा। तदनुसार लखनऊ-बाराबंकी सड़क पर लखनऊ से लगभग ६ मील दूर चिनहट नाम के गाँव में एक इकाई लगाई गई और ३ गैस संयन्त्र जिनमें एक की धारिता ७५० घनफुट तथा अन्य दो में से प्रत्येक की धारिता एक एक हजार घनफुट थी लगाये गये। जिस समय गोवर गैस को प्रकाश और ईंधन के रूप में उपयोग करने के प्रदर्शन चल रहे थे गैस को आन्तरिक-दहन-इंजन में ईंधन के रूप में प्रयोग में लाने की विधि पर भी अनुसंधान चलते रहे। कारवुरेटर में कुछ परिवर्तन कर देने पर यह प्रयोग १ अश्वशक्ति और ५ अश्व-शक्ति के इंजन चलाने में इन अनुसंधानों से सफलता मिली। इससे गैस की शक्यता का पता लगा और आगे के कार्य का मार्ग प्रशस्त हुआ।

अजीतमल (इटावा) में एक गोबर गैस केन्द्र खोला गया। यहाँ के संयन्त्र की डिजाइन में कुछ परिवर्तन कर दिया गया और दो प्रक्रमों में होने वाली पाचन क्रिया वाले दो संयन्त्र लगाये गये जिनकी धारिता १२०० और १५०० घनफुट थी। द्विप्त क्रमीय पाचन क्रिया वाले संयन्त्रों में लघुपरिपथन कम होता था और गैस का एकत्रीकरण सरल हो गया था। जाड़े के दिनों में किण्वन क्रिया में विलम्ब न हो इसलिए पाचक टंकी में तप्त जल नलिकाओं की व्यवस्था की गई। नये प्रकार की टंकी से एक लाभ यह भी था कि उससे गाढा सना हुआ पदार्थ प्राप्त किया जा सकता था जिसे सरलता पूर्वक स्थानान्त-रित करके धूप में सुखाया जा सकता था।

अजीतमल में किये गये प्रयोगों से पता लगा कि इस संयन्त्र से १२ अश्वशक्ति का एक इंजन चलाया जा सकता है जिसका प्रयोग आटा पीसने, चारा काटने, धान कूटने, जल को ऊपर खींचने और प्रकाश और पंखों के प्रयोग के लिये विजली उत्पन्न करने में किया जा सकता है।

ऐसी एक सामुदायिक इकाई के लगाने के लिये लगभग ७५०० रुपये का व्यय होगा। व्यक्तिगत उपयोग के लिये ५०० से ६०० रुपये के मूल्य की छोटी इकाइयाँ लगाई जा सकती हैं।

गैस को तो विभिन्न प्रकार से प्रयोग में लाया ही जा सकता है साथ में पचित गाढा द्रव्य जो गोबर गैस संयन्त्र से निकाला जाता है एक उत्तम उर्बरक होता है। इस सूखे द्रव्य में नाइट्रोजन की प्रतिशतता १·५ से १·८ होती है। घासों आदि के बीज जो गोबर में रहते हैं टंकी में १५ से ३० दिन तक पड़े रहने के कारण अपनी जमने की शक्ति खो देते हैं। इससे गोबर गैस संयन्त्र से जो अवशिष्ट प्राप्त होता है वह खेत में बनाये गये उर्बरक से श्रेष्ठ होता है क्योंकि खेत वाले उर्बरक में घास-पातों के बीज रहते हैं जिनमें उगने की क्षमता होती है और इससे वे पौदों के पोषण में बाधक सिद्ध होते हैं।

गोबर गैस संयन्त्र को काम में लाने की विधि अत्यन्त सरल है। देहात का साधारण व्यक्ति इसे लगभग एक सप्ताह में सीख सकता है। गोबर को जल में मिलाकर एक नल द्वारा टंकी की पेंदी की ओर बहा दिया जाता है। पचित गाढ़ा द्रव्य टंकी के जल पर तैरता हुआ टंकी के दूसरे सिरे पर

निकलता जाता है जहाँ उसका या तो कम्पोस्ट बना लिया जाता है या उसे सीधा खेत में बहा दिया जाता है।

गाँव के लोगों को अजीतमल में किये गये प्रयोगों को समझाया जा सके इसके लिये कृषि प्राविधी में २३ सहायक विकास अधिकारियों (ए० डी० ओ०) को गोवर गैस संयन्त्र लगाने के सम्बन्ध में प्रशिक्षित किया गया है। ये अधिकारी अपने प्रशिक्षण केन्द्र में एक संयन्त्र लगाते हैं और धीरे धीरे समीपवर्ती गाँवों में अपना क्षेत्र फैलाते जाते हैं। प्रगतिशील कृषक अपने घरों में गैस संयन्त्र लगाने की इच्छा से आगे आ रहे हैं। कृषि विभाग भी राज्य क्षेत्र तथा कुछ चुने हुये ब्लाकों में १८८ यन्त्र लगा रहा है।

कृषकों से पूछताछ करने पर पता लगा है कि इस कार्यक्रम के प्रसार में कुछ बाधायें हैं किन्तु वे ऐसी नहीं ज्ञात होतीं जिनसे छुटकारा न मिल सके। इन बाधाओं को दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है। इसमें सन्देह के लिये स्थान नहीं कि इस परियोजना की सम्भावनाओं का क्षेत्र विस्तृत है।

"नादर्न इण्डिया पत्रिका से साभार"

२. उपवास द्वारा रोगों की चिकित्सा

हम यह जानते हैं कि अनेक रोगों का सम्बन्ध मुख्य रूप से ठूँस-ठूँस कर खाने की आदत से या गलत ढंग का खाना खाने की आदत से है। ये रोग प्रधानतः शरीर की चयापचय प्रक्रिया से सम्बन्धित होते हैं। इनमें शरीर के मोटापे के अलावा हृदय सम्बन्धी रोग, पित्ताशय शोथ, पित्तपथरी, अग्न्याशय शोथ आदि का नाम भी लिया जा सकता है। शरीर की स्थूलता बाल्यावस्था से ही प्रायः पित्ताशय सम्बन्धी तथा अग्न्याशय सम्बन्धी कष्टों को पैदा करने के कारण होती है। परिपक्व और अधेड़ आयु में शरीर की स्थूलता रोग-प्रतिरोधक शक्ति को कम कर देती है, हृदय की गतिविधि को दुर्बल बना देती है और उसके कार्य में बाधा डालती है।

लगभग १०० वर्षो से यह पता है कि उपरोक्त रोगों का इलाज उपवास द्वारा किया जा सकता है। इसके लिये समय-समय पर उपवास किये जाते हैं और उनके साथ पानी प्रचुर मात्रा में लिया जाता है। साहित्य में २० से ४० दिनों तक के और ९० दिनों तक के अनेक उपवासों का वर्णन किया गया है। विख्यात अमेरीकी लेखक **युपटन सिक्लेयर** ने अनेक बार १०-१२ दिनो तक अन्न का एक दाना तक नहीं लिया था। उन्होंने सन् १९११ में इस विषय पर एक ग्रंथ लिखा था जिसमें उन्होंने उपवास काल की अपनी स्थिति का और उन्हें उस समय जैसा कुछ अनुभव होता था उसका वर्णन किया है और उसके साथ ही उन ११७ रोगियों के परिणामों के तथ्य आंकड़े दिये हैं जिनका इलाज इस विधि से किया गया था। उन ११७ रोगियों में १०० रोगियों की हालत काफी सुधर गई थी।

क्लिनिकल मेडीसिन पत्रिका के सन् १९६२ के दूसरे अंक में प्रसिद्ध रूसी शल्य-चिकित्सक अकादमीशियन **ए० एन० बाकुलेव** और **आर० एस० कोलेसनिकोवा** का उपवास चिकित्सा पर एक लेख प्रकाशित हुआ था। उस लेख की बातें सम्भवतः सबको रुचिकर प्रतीत होंगी।

चयापचय प्रक्रिया संबंधी त्रुटियों के स्पष्ट लक्षणों वाले मोटापे के ९८ बीमार जिन्हें अनेक प्रकार की बीमारियाँ (अग्न्याशय और पित्त प्रणाली के, रोग, जीर्ण हृदय अक्षमता, उदर तथा लघुउदर, आंत के नासूर) थी उन्होंने उपवास चिकित्सा की। बहुसंख्यक रोगियों ने १० से १५ दिनों तक बिलकुल भोजन नहीं किया। उपवास की अवधि में चूँकि शरीर के अन्दर अम्ल की पर्याप्त मात्रा एकत्र हो जाती है, अतः उसको रोकने के लिए बोरझोमी जैसे क्षार के घोल

२लिटर मात्रा में दिये गये थे। बोरझोमी जार्जियाई सोवियत संघ में एक स्वास्थ्यप्रद स्थान है, जहाँ सोडियम हाइड्रोकार्बोनेट के झरने है। इन झरनों का पानी क्षारयुक्त होने से उपवास के समय लिया जाता है।

प्रायः रोगियों ने इस चिकित्सा को अच्छी तरह सह लिया। पहले तीन दिनों में अत्यन्त स्पष्ट रूप से डेढ़ से १०किलोग्राम तक भार कम होता पाया गया किन्तु इस के वाद शरीर की दशा में सुधार के लक्षण दृष्टिगोचर हुए। भूख लगने में उन्हें २-३ दिनों तक बेचैनी अनुभव हुई। उसके वाद उनकी भूख मर गयी और ८ वें दिन से लेकर १०वें दिन तक फिर जोरों से लगी। उपवास की अवधि रोगी की हालत पर निर्भर थी। उपवास के साथ विस्तर पर लेटना जरूरी नहीं समझा गया था। उपवास चिकित्सा की समाप्ति के बाद रोगियों को शनैः शनैः ४-५ दिनों के अन्दर उनके रोजमर्रा के पथ्य पर ला दिया गया था। उन्हें भविष्य में प्रति सप्ताह एक दिन "निराहार" रहने की सलाह दी गयी थी।

पित्ताशय और अग्न्याशयके तीव्र शोथ के रोग से पीड़ित तमाम रोगियों की क्लिनिक में दाखिल करने के क्षण से उपवास चिकित्सा शुरू कर दी गयी थी। उपवास के द्वितीय या तृतीय दिन उनका ताप सामान्य हो गया था। पीड़ा कम हो गयी थी और प्रयोगशाला में उनके रक्त, पेशाब आदि की जो जाँच की गयी थी उसमें भी वह शनैः शनैः अच्छे होते पाये गये थे। उपवास चिकित्सा से नासूर की बीमारियों में भी अनुकूल परिणाम निकला था। इस बीमारी के छः में से ५ रोगियों को एक्सरे द्वारा जाँच करने पर कोई भोजन नहीं दिखाई पड़ा था और दो में नासूर का वहता खून रुका पाया गया था।

हृदय के पुराने रोगी जिन्हें हृदय के क्षेत्र में बार-बार दर्द के उठने के बीमारी थी वे लोग ४९ से ७२ साल की आयु में मोटापे के शिकार थे। उनमें से एक रोगी को नाइट्रोग्लिसरीन की ४० गोलियाँ प्रतिदिन लेने की आदत थी। उनकी १०-१२ दिनों की उपवास चिकित्सा कर दी गई थी। उपवास से उनका वजन ८ से १० किलोग्राम तक कम हुआ था। सभी रोगियों की हालत में काफी सुधार हुआ। हृदय वेदना जो जोरों से उठा करती थी वह कइयों की बिलकुल जाती रही उनकी नींद में भी सुधार हुआ था। जो बीमार नाइट्रोग्लिसरीन की ४० गोलियाँ प्रतिदिन लेने के आदी थे उपवास चिकित्सा के बाद उन्होंने उनको लेना बिलकुल ही छोड़ दिया। अधेड़ उम्र की स्थूलता वाले बहुसंख्यक रोगियों के हृदय की अक्षमता की पुरानी बीमारी के साथ धमनी काठिन्य आदि जैसे कष्ट बढ़ते रहते हैं। स्थूल देहवाले इन रोगियों का उदरप्रदेश चर्बी के कारण मध्य वक्षोदर पेशी से अलग दीखने लगता है। इसके कारण हृदय की वाहिनियों में संकोचन प्रारम्भ हो जाता हैं और फूलकर आगे बड़े उदर के कारण हृदय अपना काम सहज क्रिया से नहीं कर पाता है और उसकी धमनियों में भी परिवर्तन हो जाता है। उपवास के वाद भार में काफी कमी आ जाने के कारण हृदय अपनी सामान्य स्थिति में आ जाता है और इस तरह हृदय के संचार में सुधार हो जाता है।

उपवास चिकित्सा के लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि उपवास चिकित्सा से स्थूलकाय लोगों को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचती है। फिर भी यकृत की ऐसी बीमारी जिसमें वह क्षीण पड़ने लगता है, हृत्पिंड की वह अवस्था जिसमें रक्त का संचार रुका होता है और मवाद आने वाले जीर्ण रोग जिनमें प्रायः बेहोशी सी आया करती है उन सबमें उपवास चिकित्सा पद्धति का निषेध है।

यह सत्य है कि यह चिकित्सा-विधि कोई नई विधि नहीं है तो भी यह स्वाभाविक है कि इसका अभी और चिकित्सा सम्बन्धी विकास किया जाय और उपवास के तथ्य आंकड़ों और अवधि की दृष्टि से और अधिक जाँच की जाये।

३. सूर्य मरुभूमि की सिंचाई करेगा

झुलसा देने वाली तेज धूप हरियाली का नितान्त अभाव, और चारों ओर दूर-दूर तक फैले तपते जलविहीन लाल-भूरे रेत का निस्सीम विस्तार-मध्य एशियाई मरुभूमि का आज ऐसा ही निराशाजनक दृश्य है। लेकिन इन रेगिस्तान के निकट भविष्य में ही एक ऐसे हरे-भरे नखलिस्तान में परिणत हो जाने की कल्पना की जा सकती है जहाँ खट्टे-मीठे नीबुओं के वृक्ष और फलोद्यान होंगें, सिंचाई नहरों में पानी लहराता होगा और राज्यीय फार्मों की आधुनिक बस्तियां गुलजार होंगी। रेगिस्तान में पानी कहाँ से आयेगा ?

रेगिस्तान में पानी सेमी-कंडक्टरों के द्वारा आएगा। लाखों सेमी-कंडक्टर (अर्द्ध-विद्युत्प्रवाही) छड़ें एक थर्मोपाइल (उष्मा-विद्युत् तत्व) बनाएँगी। यदि ये सेमी-कंडक्टर छड़ें उत्तम कार्यक्षमता वाली हों तो उक्त थर्मोपाइल असीमित मात्रा में सस्ती बिजली पैदा कर सकता है। एक बार थर्मोपाइलों के चालू हो जाने पर यह सम्भव है कि सौर ऊर्जा से संचालित इन थर्मोपाइलों की मदद से मरुभूमि में पानी के लिए कुएं खोदे जाएं, पम्प लगाये जाएं, और दिन भर जितनी आवश्यकता हो उतनी मात्रा में पानी खींचकर ऊपर लाया जाए।

क्झिझानेव्स्की विद्युत् इंस्टीच्यूट की हवा एवं सूर्य विद्युत् प्रयोगशाला इस वर्ष के अन्त में देश के दक्षिण से एक सेमी-कंडक्टर नल-धूप के परीक्षण आरम्भ करने वाली है।

सूर्य-विद्युत् संस्थान में ऐल्युमिनियम का एक कटोरेनुमा परावर्तक होता है जो थर्मोपाइल की सेमी-कंडक्टर प्लेटों पर एक निश्चित स्थान पर सूर्य की किरणों को केन्द्रित करता है। सूर्य किरणें इन प्लेटों को गर्म करती हैं, और इससे पानी के पम्प को चलाने के लिए बिजली पैदा होती है। ऐसा एक पम्प प्रति दिन १० घनमीटर पानी खींच सकता है।

और रात में क्या होगा? उस समय सूर्य के बिना बिजली कैसे प्राप्त की जाएगी ? इस समस्या का हल स्टोरेज बैटरियों के इस्तेमाल में पाया गया जो दिन में बिजली को जमा कर लेंगी और रात में आवश्यकतानुसार प्रदान कर देंगी।

आजकल बिजली ताप-विद्युत् स्टेशनों में भापचालित टर्बाइनों से प्राप्त की जाती है। यह एक काफी पेचीदी प्रक्रिया है, और झंझटपूर्ण बायलरों तथा टर्बाइनों के बजाय १००० किलोवाट क्षमता के एक या अनेक थर्मोपाइल लगाकर इस प्रक्रिया को सरल बनाया जा सकता है। उस स्थिति में बायलर को गर्म करने के लिए खर्च होने वाला ईंधन सीधे थर्मोपाइलों को ही गर्म करने में काम आएगा। भाप-चालित टर्बाइनों की जरूरत ही नहीं होगी। इस प्रकार, बहुत सा ईंधन, धातु तथा पूंजीगत खर्च बच जाएगा।

लेकिन हम सूर्य-चालित थर्मोपाइलों की बात कर रहे थे। हवा एवं सूर्य विद्युत् प्रयोगशाला के कर्मचारी १ किलोवाट क्षमता की एक थर्मोपाइल विकसित कर चुके हैं। यह दश ग्रामीण रेडियो स्टेशनों तथा टेलीफोन एक्सचेंजों को चला सकने के लिए काफी बिजली पैदा करता है। किन्तु अनुसन्धानकर्ताओं का ध्यान सेमीकंडक्टरों की कार्यक्षमता को बढ़ाने पर केन्द्रित है जो कि सबसे महत्वपूर्ण चीज है। दुर्भाग्यवश मौजूदा सेमीकंडक्टरों की कर्यक्षमता अभी तक निम्न है। यह १३ प्रतिशत है किन्तु इसे ४० प्रतिशत तक लाया जाना चाहिए।

अनेक राडार लोकेटरों की तरह, अनेक आइने सूर्य का अनुगमन करेंगे। शक्तिशाली थर्मोपाइल बिजली पैदा करेंगे। कुइबीशेव सागर की सतह जितने क्षेत्र में स्थापित सूर्यविद्युत् स्टेशन, कुइबीशेव जलविद्युत् स्टेशन द्वारा पैदा की जाने वाली बिजली से ८० गुनी बिजली पैदा करेगा।

अणु रचना पर प्रकाश

अणुओं के ढाँचे का अध्ययन करने के लिए कोलम्बिया विश्वविद्यालय द्वारा एक ऐसे नये अणु-वीक्षण यंत्र का प्रयोग किया गया है जिससे पिन की नोक बहुत बड़ी दिखाई पड़ती है।

यह उपकरण, फील्ड अयन एमिशन माइक्रोस्कोप नामक विश्व के अत्यन्त शक्तिशाली अणुवीक्षण यंत्र का प्रथम व्यापारिक माँडल है।

यह दूरवीक्षण यंत्र अत्यन्त शक्तिशाली इलेक्ट्रान अणुवीक्षण यंत्रों की तुलना में ५ से १० गुणा बड़ा आकार प्रदर्शित करता है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसकी सहायता से वैज्ञानिकों की सर्वप्रथम अणुओं के जाली के समान उस ढाँचे का पता चला है जिससे सभी पदार्थ बने हुए हैं।

कोलम्बिया विश्वविद्यालय का उक्त अणुवीक्षण यंत्र शिकागो की सेण्ट्रल साइन्टिफिक कम्पनी द्वारा तैयार किया गया है। बिक्री के लिए तैयार किया जाने वाला यह प्रथम अणुवीक्षण यंत्र है। अब तक अमेरिका तथा ब्रिटेन में कुछ वैज्ञानिक द्वारा प्रयोगशालाओं में तैयार किये गये कुछ थोड़े से अणुवीक्षण यंत्रों का प्रयोग होता रहा है।

संगीत के मोहक स्वर रंगों में रूपान्तरित

सोवियत संघ में एक ऐसा यंत्र तैयार किया गया है जो संगीत के स्वरों को विभिन्न रंगों में रूपान्तरित करता है। इस प्रकार का यंत्र सबसे पहले १९६१ की गर्मियों में लन्दन में आयोजित सोवियत व्यापार प्रदर्शनी में दिखाया गया था। के० लियोन्त्येव इस यंत्र के निर्माता हैं। आप नौजवान सोवियत इंजीनियर हैं। इस नये आविष्कार को देखकर दर्शकगण अत्यन्त प्रभावित हुए। आज यह यंत्र मास्को में सोवियत संघ की आर्थिक उपलब्धियों की प्रदर्शनी में प्रदर्शित है।

बिजली का अनोखा लैम्प

बिजली के सबके अधिक प्रकाशमान लैम्प से जिसका नामकरण आकाश के उज्वलतम तारक सिरियस के नाम पर किया गया है, २५० एकड़ में प्रकाश होगा।

यह लैंप ३०० किलोवाट का जेनॉन प्रकाश देने वाली नली है जिसका निर्माण मास्को इलेक्ट्रिक लैंप वर्क्स ने किया है। इसका डिजाइन विक्तोर वासिल्येव ने बनाया है।

इस लैम्प का जो भाग काम करता है, वह दोहरी दीवाल की नलिका है जिसका व्यास १० इंच और लम्बाई ४० इंच है।

इसे उच्च वोल्टेज वाले फ्लैश के सहारे जलाया जायगा और इसे ठंडा रखने लिए नली की भीतरी और बाहरी दीवारों के बीच पानी बहता रहेगा।

अतिध्वनि तरंगों से पौधों की बीमारी का इलाज

नीबू जाति के पौधों में आम तौर से होने वाली एक बीमारी मलसेक्को अतिध्वनि तरंगों से सफतापूर्वक अच्छी की जा सकती है। जार्जिया के वैज्ञानिकों ने देखा कि जिन कलम किये पौधों में यह बीमारी हो गयी थी, उन्हें अतिध्वनि तरंगों से सफलतापूर्वक ठीक कर

दिया गया। सन्तरों की कई हजार कलमो पर इसके प्रयोग सफल रहे हैं।

राकेट से अंगूरों की रक्षा

पूर्वी जार्जिया के अलजानी वादी के जो जनतंत्र का शराब बनाने वाला महत्त्वपूर्ण जिला है, अंगूरों की फसल की रक्षा ओलानाशक राकेटों से सिलवर आयोडाइड भरा था, की गयी। वादी की ओर आते मेघ पुंजों को राकेट से तितर-वितर कर दिया गया और इस तरह ओले गिरने की सम्भावना का अन्त हो गया।

पारिभाषिक शब्द कोश

केद्रीय शिक्षा मंत्रालय के केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय ने अंग्रेजी-हिन्दी पारभाषिक शब्दकोश तैयार किया है, जिसमें दिसम्वर १९६० तक स्वीकृत लगभग ३ लाख शब्द हैं। विभिन्न विषयों की विशेषज्ञ समितियों ने जो शब्द तैयार किये, वे शब्दकोश में लिये गये हैं। इस शब्द कोश में इन विषयों के शब्द हैं : शासन, कृषि, मानवशास्त्र, पुरातत्व वनस्पति-विज्ञान, रसायनशास्त्र, नागरिकशास्त्र, सिविल इंजीनियरी, वाणिज्य, प्रतिरक्षा,, राजनय, अर्थशास्त्र, शिक्षा, बिजली-इंजीनियरी, भूगोल, इतिहास, सूचना और प्रसारण, कानून, साहित्यिक समीक्षा, गणित, मेकेनिकल, इंजीनियरी, चिकित्सा, ऋतु-विज्ञान दूर-सचार सेवा, दर्शन, भौतिकी, राजनीति शास्त्र, डाक और तार, रेल, रेल इंजीनियरी, समाज-विज्ञान, परिवहन जहाजरानी, पर्यटन और प्राणि-विज्ञान।

पारिभाषिक शब्दावली तैयार करने का काम केन्द्रीय सरकार द्वारा दिसम्बर १९५० में नियुक्त वैज्ञानिक शब्दावली मण्डल की देखरेख में हुआ। यह शब्द कोश लेखकों, अनुवादकों, विद्यार्थियों, शिक्षाशास्त्रियों और कोशकारों के लिये बहुत उपयोगी सिद्ध होगा। सब भारतीय भाषाओं में समान वैज्ञानिक शब्दावली के प्रयोग की दृष्टि से भी इस शब्दकोश का बहुत महत्त्व है।

विटामिन प्राप्त करने के दो नये स्रोत

क्रीमिया में होने वाले सागरीय सरकण्डे की कुछ किस्मों में कैरोटिन प्रचुर मात्रा में मिलता है जो विटामिन ए का मुख्य स्रोत है। एक प्रकार के सरकण्डे से गाजरों के मुकावले आठ गुना अधिक कैरोटिन मिलेगा। अब तक यह माना जाता था कि सबसे अधिक कैरोटिन गाजरों में होता है। यूक्रेन विज्ञान अकादमी का वनस्पति तथा जैव रसायन संस्थान सागरीय सरकण्डे से कैरोटिन निकालने के लिए कारखाना खड़ा करने जा रहा है।

जीवाणु विज्ञानविद् निकोलाई क्रासिलनिकोव विटामिन ए के एक नये स्रोत की खोज में लगे हैं। उन्होंने विटामाइसिन नाम की एक नयी चीज तैयार की है जिसे पशुओं के चारे में मिला देने से विटामिन ए की कमी जाती रहती है। इन नये पदार्थ का वास्तविक स्वरूप क्या है तथा वह किस प्रकार काम करता है, इसका अध्ययन किया जा रहा है।

देश में ट्रैक्टरों में ६० प्रतिशत की वृद्धि

पता चला है कि पिछले पांच सालों में देश में ट्रैक्टरों में ६० प्रतिशत वृद्धि हुई है। हर पांच साल बाद पशुओं की गणना के समय ट्रैक्टरों की भी गिनती की जाती है। १९५६ की गणना के समय देश में २१ हजार ट्रैक्टर थे। इनकी संख्या १९६१ में ३४ हजार से भी अधिक हो गयी है।

पंजाब में सबसे अधिक ७,८४० ट्रैक्टर हैं। इसके बाद उत्तर प्रदेश का स्थान है। उत्तर प्रदेश में ट्रैक्टरों की संख्या ७,११५ है। अन्य राज्यों का व्यौरा इस प्रकार है —

राजस्थान—४,१८३. आंध्रप्रदेश—२,४६० मध्य-प्रदेश—२,०४७, गुजरात—१,८६२, विहार—१,७९३, महाराष्ट्र—१,४१५, मद्रास—१,३९०, और मैसूर—९३४।

बारह विश्वविद्यालय और

तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत भारतवर्ष भर में १२ नये विश्वविद्यालय खोले जावेंगे। इनमें से तीन तीन उत्तर प्रदेश तथा पश्चिमी बंगाल में, २ गुजरात में और एक-एकमध्यप्र देश, पंजाब, आँध्र-प्रदेश तथा राजस्थान में खुलेंगे। इस समय भारतवर्ष में ४६ विश्वविद्यालय हैं जिनमें १० लाख विद्यार्थी पढ़ते हैं।

नये विश्वविद्यालयों की स्थापना राज्य सरकारों के इंगित पर होगी।

नालियों के द्वारा वर्षा

अजरबैजान हाइड्रौलिक इंजीनियरिंग इंस्टीच्यूट के वैज्ञानिकों और विशेषज्ञों ने सिंचाई का अद्भुत तरीका निकाला है। सिंचाई की इस पद्धति द्वारा नहरों से पानी विशेष प्रकार के जलागारों में पहुँचाया जाता है और वहाँ से नालियों के द्वारा खेतों में लाया जाता है जहाँ विशेष यन्त्रों द्वारा ६० मीटर के घेरे में पानी का छिड़काव होता है। इस पद्धति द्वारा जनतंत्र की ३००००० हेक्टर भूमि सिंचाई की व्यवस्था है।

अन्तरिक्ष में वनस्पति

लैनिनग्राद के वैज्ञानिकों ने अलगा क्लोरेल्ला उगाने की विधि निकाली है। इससे अन्तरिक्षयानों के चालकों को ऑक्सिजन, उच्च कैलोरीयुक्त खाद्य तथा विटामिन मिला करेंगे। क्लोरेल्ला उगाने की विधि इलेक्ट्रॉनिक नियंत्रित होगी जिसमें ऐसी अवस्थाएँ बनायी रखी जायँगी जिनमें क्लोरेल्ला सर्वाधिक प्रभावशाली ढंग से पैदा होगा।

एक प्रकार के यंत्र में बहुत सी नालियाँ होती हैं जिन पर भीतर से पोलीथीन का पलस्तर चढ़ा रहता है। नालियों से होकर घोल में पोषक नमक बहते रहते हैं। इससे होकर वह कार्बनडाइ-आक्साईड गुजारी जाती है जो अन्तरिक्ष यान चालक सांस से निकालते हैं। नालियों में थोड़ी मात्रा में अलगा बीज रहते हैं जो शीघ्र ही हरित पुंज का रूप ले लेते हैं। इसे विशेष विधि से निकाल लिया जाता है तथा खाद्य में बदल दिया जाता है।

हरे रंग की कपास

तुर्कमानिया के जैवविद् प्रो० इवान माक्सिमँको ने २० वर्षों तक कपास के पौधे उगाने की चयन विधि के बारे में जो प्रयोग किये, उनके फलस्वरूप हरे रेशे वाली कपास प्राप्त हुई है। हजारों सँकर जातियों का सावधानी के साथ विश्लेषण करने के बाद उन्होंने देखा कि उनमें से कुछ में हलका सा रंग है और चयन के बाद इसका विकास प्राकृतिक गहरे हरे रंग के रेशे में किया गया। इनकी प्राकृतिक विशेषताएँ भी अच्छी हैं तथा इसे रँगने की जरूरत नहीं है।

—o—

राजर्षि टंडन का निधन

१ जुलाई को यहाँ पर भारतरत्न राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन का देहान्त हो गया। वे पिछले कई वर्षों से रुग्ण थे।

राजर्षि टंडन की मृत्यु से हिन्दी का एक अनन्य सेवक जाता रहा। उनकी प्रत्येक श्वाँस राष्ट्रभाषा हिन्दी के समर्थन के लिये थी। खेद है कि उनकी मृत्यु के उपरान्त ही हिन्दी का प्रबल विरोध होने लगा है। स्पष्ट है कि उनका व्यक्तित्व कितना प्रभावोत्पादक था।

राजर्षि टंडन विज्ञान परिषद्, प्रयाग के आजीवन सभ्य थे और परिषद् की गतिविधियों के प्रति उनकी अपार रुचि थी। उनके निधन से परिषद् ने एक कर्मठ सभ्य खो दिया। ईश्वर से प्रार्थना है कि उनकी दिवंगत आत्मा को शान्ति प्रदान करे और हिन्दी प्रेमियों को सद्बुद्धि दे कि वे उनकी मनोकामनाओं को लगन के साथ पूरा करें।

विज्ञान परिषद् की स्वर्ण जयन्ती

विज्ञान परिषद् की स्थापना सन् १९१३ में हुई थी। अगले वर्ष विज्ञान परिषद् ५० वर्ष की आयु पूरा करेगा। यह अर्धशताब्दी न केवल विज्ञान परिषद्, वरन् भारतवर्ष के लिए संक्रांति काल रहा है। परिषद् ने अनेकानेक व्यवधानों को पार करते हुए कई महत्वपूर्ण कार्य किये हैं जिनमें सर्वप्रमुख कार्य वैज्ञानिक साहित्य को हिन्दी के माध्यम से प्रसारित करना रहा है। वह अपने इस उद्देश्य में सफल रहा है परन्तु इसे पूर्ण सफलता नहीं कहा जा सकता। इधर हिन्दी के प्रति जो अनास्था एवं विरोध प्रकट किया जाने लगा है, उसका डट कर मुकाबिला करने के लिए परिषद् को कटिबद्ध रहना होगा।

उसके ५० वर्ष के जीवन का लेखा-जोखा प्रस्तुत करने एवं भविष्य के लिए हितकारी योजनाओं की पूर्वकल्पना करने के लिए ही स्वर्ण जयन्ती मनाने का संकल्प किया गया है। इस जयन्ती को सफल बनाने में विज्ञान के पाठक, लेखक, ग्राहक एवं अन्य विज्ञान प्रेमी सहायक हों, यही अभीष्ट है।

राष्ट्रभाषा हिन्दी को सुदृढ़ बनाने के लिए विज्ञान के अधिकाधिक प्रचार एवं वैज्ञानिक साहित्य के सृजन में उत्कटता दिखाकर कर सभी लोग हमारी योजना को सफल बनावें।

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

भाग ६५
संख्या ५
श्रावण
० २०१८ वि०
अगस्त १९६२

विज्ञान परिषद् प्रयाग का मुख पत्र

अंक ४० न० पै०
वार्षिक ४ रुपये

विज्ञान

सम्पादक----डा० शिवगोपाल मिश्र

विज्ञान परिषद् प्रयाग

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

	मूल्य
१—विज्ञान प्रवेशिका भाग १—श्री रामदास गौड़, प्रो० सालिगराम भार्गव	३७ नये पैसे
२—वैज्ञानिक परिमाण—डा० निहालकरण सेठी	१ रु०
३—समीकरण मीमांसा भाग १ पं० सुधाकर द्विवेदी	१ रु० ५० नये पैसे
४—समीकरण मीमांसा भाग २—पं० सुधाकर द्विवेदी	६२ नये पैसे
५—स्वर्णकारी—श्री गंगाशंकर पचौली	३७ नये पैसे
६—वर्षा और वनस्पति—श्री शंकरराव जोशी	३७ नये पैसे
७—व्यंग चित्रण—जे० एल० ए० डाउस्ट, अनुवादिका—डा० रत्न कुमारी	२ रुपया
८—तैरना—डा० गोरख प्रसाद	१ रुपया
९—वायुमंडल की सूक्ष्म हवायें—डा० संत प्रसाद टंडन	७५ नये पैसे
१०—खाद्य और स्वास्थ्य—डा० ओंकार नाथ पर्ती	७५ नये पैसे
११—फल संरक्षण—डा० गोरख प्रसाद, वीरेन्द्र नारायण सिंह	२ रु० ५० नये पैसे
१२—शिशु पालन—श्री मुरलीधर बौड़ाई	४ रुपया
१३—मधुमक्खी पालन—श्री दयाराम जुगड़ान	३ रुपया
१४—घरेलू डाक्टर—डा० जी घोष, डा० उमाशंकर प्रसाद, डा० गोरख प्रसाद	४ रुपये
१५—उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर—डा० गोरखप्रसाद, डा० सत्यप्रकाश	३ रु० ५० न०पै०
१६—फसल के शत्रु—श्री शंकरराव जोशी	३ रु० ५० नये पैसे
१७—साँपों की दुनिया—श्री रामेश वेदी	४ रुपया
१८—पोर्सलीन उद्योग—श्री हीरेन्द्र नाथ बोस	७५ नये पैसे
१९—राष्ट्रीय अनुसंधान शालाएँ	२ रुपये
२०—गर्भस्थ शिशु की कहानी—अनु० प्रो० नरेन्द्र	२ रुपया ५० नये पैसे
२१—रेल इंजन परिचय और संचालन—श्री ओंकारनाथ शर्मा	६ रुपया
२२—भारतीय कृषि का विकास—डा० शिवगोपाल मिश्र	५ रुपया
२३—डा० गोरख प्रसाद स्मृति अंक	२ रुपया

मिलने का पता :

विज्ञान परिषद्

विज्ञान परिषद् भवन, थार्नहिल रोड

इलाहाबाद—२

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञान ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
विज्ञाना जातेतानि जीवन्ति विज्ञान प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तै० उ० ।३।५।

भाग ६५ | श्रावण २०१८ विक्र०, १८८३ शक अगस्त १९६२ ई० | संख्या ५

भाषा की सरलता की समस्या

डाक्टर नागेन्द्र

जब से संविधान में हिन्दी को भारत की राजभाषा के रूप में स्वीकृत किया गया है, उसकी सरलता की समस्या अनेक प्रकार से और अनेक क्षेत्रों से हमारे सामने आ रही है। बात तर्क संगत है—राज जनता का है और राजभाषा के गौरव की अधिकारिणी वही हो सकती है जो जनता की भाषा हो। हिन्दी के पक्ष में सबसे बड़ा तर्क यही था और इसी के बल पर उसे राजभाषा होने का गौरव मिला। जनता की भाषा निश्चय ही सरल होनी चाहिए क्योंकि जनता का निर्माण जिस विराट् जन-समूह से होता है वह न विदग्ध होता है और न पंडित। हिन्दी से जब सरलता की माँग की जाती है तो वह अकारण नहीं है—सरलता उसका दायित्व है और सहज गुण बन जाना चाहिये।

किन्तु सरलता का क्या अर्थ है—वे कौन-से तत्त्व हैं जिनसे सरलता का निर्माण होता है, यह निर्णय करना सरल नहीं है। 'सरल' शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के 'सिम्पुल' शब्द के पर्याय रूप में होता है और चूँकि हिन्दी की सरलता के लिए अधिकतर वे ही लोग व्यग्र हैं जो अंग्रेजी में सोचने-समझने के अभ्यस्त हैं, इसलिए सरलता का स्वरूप-विश्लेषण करने के लिए अंग्रेजी के 'सिम्पुल' शब्द का आँचल पकड़े रहना जरूरी होगा। आक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार 'सिम्पुल' शब्द के चार मुख्य अर्थ हैं—(१) अमिश्र—जिसकी रचना केवल एक ही तत्त्व से हुई हो, अखण्ड, (२) जो उलझा हुआ या जटिल या अलंकृत न हो—उदाहरणार्थ, अमुक लेखक की शैली सरल और निराभरण है (३) निरपेक्ष और (४) सीधा-सादा, अकृत्रिम, सहज, निश्चल[१]। संस्कृत में सरल का शब्दार्थ है ऋजु, सीधा, अवक्र, शुद्ध, वास्तविक निश्छल आदि[२]।

उपर्युक्त अर्थों में से कुछ ही ऐसे हैं जो भाषा के प्रसंग में सार्थक होते हैं—जैसे सीधा-सादा, सहज, अकृत्रिम, उलझाव और जटिलता से मुक्त, और निराभरण। इनके अनुसार सरल भाषा वह है—(१) जो स्वाभाविक हो, (२) जिसकी वाक्य-रचना सीधी और सुलझी हुई हो - जिसमें किसी प्रकार की

१—आक्सफोर्ड डिक्शनरी (पाकेट) चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ११६८।

२—संस्कृत हिन्दी डिक्शनरी, सर मोनियर विलियम्स (१९५६ ई०) पृष्ठ ११८२।

जटिलता और उलझन न हो, अर्थात् वाक्य छोटे और सीधे हों—उनमें किसी प्रकार घुमाव और पेंच न हो, (३) जिसमें किसी प्रकार का आडम्बर, अलंकार और वक्र प्रयोग न हो, (४) जो अभीष्ट अर्थ को—मन की बात को ठीक-ठीक और बिना छल-छद्म के व्यक्त करे। निश्छलता सरल व्यक्ति के समान सरल भाषा का भी अनिवार्य गुण है। ये सभी तत्त्व सामान्यतः जितने सरल प्रतीत होते हैं उतने वास्तव में हैं नहीं और इन सभी की व्याख्या की आवश्यकता है।

स्वाभाविकता

स्वाभाविकता का अर्थ है अपनी प्रकृति के अनुकूल होना। अतः भाषा की स्वाभाविकता से तात्पर्य है अपने मूल प्रसंग और अर्थ की अनुकूलता। यदि मूल अर्थ जटिल है अर्थात् उसमें अनेक अर्थ-छायाओं का मिश्रण है तो जबरदस्ती सरल और छोटे वाक्यों का प्रयोग भाषा को प्रसंग तथा मूल अर्थ के प्रतिकूल और परिणामतः अस्वाभाविक बना देगा। जिस प्रकार जटिल विचार-श्रृङ्खलाओं के अभ्यस्त किसी सूक्ष्मचेता व्यक्ति को सरलता का अभिनय करते देखकर हमारे मन में वितृष्णा उत्पन्न होती है, उसी प्रकार सूक्ष्म और जटिल विचार-संघात की अभिव्यक्ति के लिए छोटे और सरल वाक्यों की बाल-क्रीड़ा भी भयंकर प्रवंचना है। इस तरह की कृत्रिम और मिथ्या सरलता को मर्मी आचार्य लांजाइनस ने बालेयता[३] कहा है। जिस प्रकार कृत्रिम अलंकार-मोह से व्यक्तित्व का ह्रास होता है, उसी प्रकार सरलता के अभिनय से भी आत्मा का अपकर्ष होता है—समाज के लिए मिथ्या वैभव और गरिमा का प्रदर्शन करने वाले व्यक्तियों की अपेक्षा ऐसे व्यक्ति ज्यादा खतरनाक हैं जो सादगी का अभिनय करते हैं। इसी तर्क से भाषा के प्रसंग में भी कृत्रिम अलंकार-सज्जा की अपेक्षा कृत्रिम सरलता अधिक अस्वाभाविक है, क्योंकि इस प्रकार की भाषा से प्रवंचना की आशंका अधिक रहती है। निष्कर्ष यह निकला कि भाषा की सरलता एक सापेक्ष गुण है जो प्रसंग और मूल अर्थ का अनुसारी है। जीवन के सरल सामान्य अनुभवों का माध्यम भाषा की स्वाभाविकता एक प्रकार की होगी और सूक्ष्म-जटिल, गुम्फित अनुभूतियों की भाषा की स्वाभाविकता का रूप दूसरा होगा। राजनीति की बारीकियों को सरल और सहज हिन्दी में, 'छोटे-छोटे जुम्लों में' और 'बोल-चाल के लफ्जों में' अदा करने का आग्रह करना भाषाविज्ञान और अभिव्यंजनाशास्त्र के इस प्राथमिक नियम की अवमानना करना है।

जटिलता का अभाव

इसमें सन्देह नहीं कि जटिलता भाषा का दुर्गुण है, किन्तु जटिलता के दो रूप हैं—एक आंतरिक और दूसरा बाह्य। आन्तरिक जटिलता से अभिप्राय है अर्थ की जटिलता अर्थात् चिन्तन की जटिलता। जहाँ चिन्तन-गति ऋजु न होकर जटिल और वक्र है वहाँ भाषा जटिलता से मुक्त नहीं हो सकती और यदि उसे सरल करने का बरबस प्रयत्न किया जायगा तो वह सही अर्थ को व्यक्त नहीं कर सकेगी। यहाँ मूल दोष चिन्तन का है। भाषा की जटिलता तो विचार की जटिलता की छाया है और विचार की छाया होना भाषा का स्वधर्म अथवा पातिव्रत है। बाह्य जटिलता का सम्बन्ध वाक्यरचना आदि से है। अनभ्यस्त या अयोग्य लेखक, अशुद्ध शब्द-प्रयोग, वाक्यांशों के अनुपयुक्त नियोजन आदि के द्वारा वाक्य-रचना को उलझा देते हैं जिससे अर्थ-व्यक्ति बाधित हो जाती है। यह दोष अनभ्यास और अयोग्यताजन्य है और उसका परिहार कठिन नहीं है।

आडम्बर और अलंकार से मुक्ति

सरल भाषा का एक गुण है आडम्बर और अलंकार से मुक्ति। यहाँ आडम्बर शब्द के विषय में तो कोई भ्रांति नहीं हो सकती, वह प्रत्येक स्थिति में दोष है और भाषा भी इसका अपवाद नहीं। जिस प्रकार हीनताग्रस्त व्यक्ति व्यवहार एवं रहन-सहन

३—प्यूलिरिटी = बचकानापन।

में आडम्बर का समावेश कर अपने अभाव को छिपाने की व्यर्थ चेष्टा करते हुए समाज में निन्दा के भागी बनते हैं उसी प्रकार अयोग्य लेखक भी भाषा को आडम्बरपूर्ण बनाकर साहित्य में निन्दनीय बन जाते हैं । किन्तु अलंकार भाषा का दोष न होकर गुण है—अलंकार-मोह या कृत्रिम अलंकार या अनुपयुक्त अलंकार ही भाषा का दोष हो सकता है । अलंकार जहाँ सहजात होता है वहाँ तो वह भाषा का अनिवार्य गुण बन जाता है—उससे सरलता बाधित नहीं होती । प्रायः अलंकार का प्रयोग अर्थ को स्पष्ट करने के लिए ही किया जाता है । हमारा मन्तव्य जितना सादृश्यमूलक अलंकार से साफ हो सकता है उतना रूढ़ शब्दार्थ से नहीं होता। अतः अलंकार को सरलता का सहज विरोधी तत्त्व मानना ठीक नहीं है ।

सही अभिव्यक्ति

अभीष्ट अर्थ की यथावत् अभिव्यक्ति सरल भाषा का अन्तिम और अनिवार्य लक्षण है । जिस प्रकार निश्छल हुए बिना व्यक्तित्व की सरलता असम्भव है उसी प्रकार अर्थ की निश्छल अभिव्यक्ति के बिना भाषा सरल नहीं बन सकती । अर्थ यदि अमिश्र है तो भाषा की सरलता अमिश्र वाक्य-प्रयोग आदि में निहित होगी, परन्तु यदि अर्थ में ही जटिलता है तो मिश्र वाक्य प्रयोग और व्यंजक पर्यायों के बिना अर्थ-व्यक्ति सम्भव नहीं हो सकती और जहाँ अर्थ-व्यक्ति ही नहीं है वहाँ सरलता कैसी ?

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर प्रस्तुत प्रसंग में निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं :—

१—भाषा अपने मूल और सहज रूप में माध्यम ही है—अर्थ विचार और अनुभूति) से निरपेक्ष शब्द (अभिव्यक्ति) की सत्ता नहीं । अतः भाषा का कोई निरपेक्ष रूप नहीं हो सकता ।

२—इस तर्क के अनुसार भाषा की सरलता भी एक सापेक्षिक गुण है जो प्रसंगवक्ता, बोधव्य आदि पर आश्रित है । वक्ता का मन्तव्य यदि सरल है तो भाषा की सरलता एक प्रकार की होगी, पर उसका चिन्तन यदि सूक्ष्म-जटिल है तो भाषा की सरलता का रूप दूसरा होगा, उस स्थिति में तथाकथित सरलता अत्यधिक दुरूह बन जायगी । छोटे-छोटे जुम्लों और बोल-चाल के लफ्जों का नुस्खा हर मर्ज में काम नहीं आ सकता ।

३—शब्दावली और वाक्य-रचना का भाषा की सरलता के साथ सम्बन्ध है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु यह सम्बन्ध अनिवार्य नहीं है अर्थात् किसी विशेष प्रकार की शब्दावली तथा वाक्य-रचना भाषा को सरल बनाती है—ऐसा नियम नहीं बनाया जा सकता । संस्कृत के तत्सम शब्दों से भाषा कठिन बन जाती है और बोलचाल के शब्दों से सरल अथवा लम्बे वाक्यों का प्रयोग भाषा को दुरूह और छोटे वाक्यों का प्रयोग उसे सरल बनाता है, यह कोई अकाट्य विधान नहीं है । कभी-कभी बोलचाल के शब्दों से मतलब एकदम खब्त हो जाता है और छोटे-छोटे वाक्य अर्थ को खण्ड-खण्ड कर बुरी तरह उलझा देते हैं ।

४—वक्ता के अतिरिक्त श्रोता पर भी भाषा का स्वरूप आश्रित रहता है और सरलता भी इसका अपवाद नहीं है । अर्थात् भाषा की सरलता का निर्णय उस जनसमुदाय की बहुसंख्या की बोधशक्ति के आधार पर होना चाहिये जिसके लिए उसका प्रयोग होता है या जो उसका प्रयोग करता है । सरलता का अर्थ सुबोधता है, इसमें सन्देह नहीं और सरल भाषा वही है जो भारत की बहुसंख्यक जनता के लिए सुबोध हो । राष्ट्रभाषा की सुबोधता का निर्णय राष्ट्र के समग्र आयाम को दृष्टि में रखकर करना होगा ।

प्रस्तुत भूमिका में मुझे इस बात के लिए खेद-प्रकाशन की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती कि भाषा की सरलता की व्याख्या करने में मेरी अपनी भाषा वर्ग विशेष में प्रचलित धारणा के अनुसार कदाचित् सरल नहीं रह सकी क्योंकि जैसा कि मैंने आरम्भ में ही स्पष्ट कर दिया है कि सरलता जितनी सरल है उसका स्वरूप विश्लेषण उतना ही कठिन है । मैंने यहाँ केवल सिद्धान्त-विवेचन ही किया है,

उदाहरण देने के लोभ का जानबूझकर संवरण किया गया है—क्योंकि मेरा उद्देश्य हिन्दी के विरुद्ध वर्ग-विशेष के आक्षेपों का उत्तर देना उतना नहीं रहा जितना कि समस्या के मूल तत्त्वों का उद्घाटन करना।

●

पारिभाषिक शब्दावली की समस्या

प्रो० श्रीदेवेन्द्रनाथ शर्मा

हमारी भाषा-संबंधी समस्याओं में संभवतः सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है—पारिभाषिक शब्दावली की समस्या। क्योंकि, उसके अभाव में वैज्ञानिक अथवा प्राविधिक ज्ञान का विकास-विस्तार संभव नहीं और आज के युग में जितनी उपयोगिता विज्ञान या प्रविधि की है, उतनी कविता या दर्शन की नहीं। किन्तु, खेद की बात है कि स्वाधीनता-प्राप्ति के पंद्रह वर्ष बाद भी हम इस समस्या का समाधान नहीं कर सके। यही नहीं, इसे लेकर देश में पर्याप्त भ्रम फैल गया है। इसके कई कारण हैं—

(१) एक तो यह कि इस विषय में सरकारी नीति कभी स्पष्ट और निश्चयात्मक नहीं रही। एक बार सोचा जाता है कि पारिभाषिक शब्दावली भारतीय भाषाओं को आधार मानकर बनाई जाय, तो दूसरी बार प्रस्ताव होता है कि अँगरेजी से ज्यों-की-त्यों ले ली जाय। इस अनिश्चय के चलते किसी दिशा में प्रगति नहीं हो पाती।

(२) शब्दावली का निर्माण किसी केन्द्रीय अभिकरण द्वारा न होकर अलग-अलग राज्यों और भाषाओं में होता रहा है। स्वभावतः निर्मित शब्दों में एकरूपता का अभाव है; एक भाषा या राज्य के शब्द अन्यत्र अबोधगम्य बन जाते हैं। उदाहरणार्थ बँगला में 'प्लैनिंग' के लिए 'परिकल्पना' शब्द चलता है, पर हिन्दी में 'आयोजना'। यह 'आयोजना' भी अब आई है, पहले केवल 'योजना' थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि न तो 'आयोजना' का प्रयोग करनेवाला 'परिकल्पना' समझ पाता है और न 'परिकल्पना' का प्रयोग करनेवाला 'आयोजना'।

(३) अपेक्षित गंभीरता और निष्पक्षता की कमी भी इस समस्या के समाधान में बाधक रही है। तर्क का स्थान भावना ने ले लिया; भाषा के क्षेत्र में राजनीति आ घुसी। इस देश में चाहे धर्मनीति हो या समाजनीति, आचारनीति हो या भाषानीति, सबका नियमन राजनीति करती है; क्योंकि यहाँ राजनीतिज्ञ सर्वज्ञ हुआ करता है। इंगलैंड, फ्रांस, जर्मनी, रूस या यूरोप के अन्य देशों में शब्द-निर्माण की रीति-नीति का निर्धारण भाषाविद् करते हैं या तत्तत् विषयों के विशेषज्ञ, किन्तु भारत में राजनीतिज्ञ। इसका परिणाम प्रत्यक्ष है।

(४) देश का प्रबुद्ध वर्ग इस समस्या के प्रति सर्वथा उदासीन है। उसे इस ओर ध्यान देने की न तो रुचि है, न इच्छा। वह अभ्यस्त मार्ग पर चलने का आग्रही है; उसमें जरा भी इधर-उधर होने पर वह चौंक उठता है। लगता है, जैसे कोई दुर्घटना हो गई। कोई भी नया शब्द देखने पर उसकी सहज प्रतिक्रिया झुँझलाहट और व्यंग्य की होती है, सहानुभूतिपूर्वक जानने-समझने की नहीं।

(५) देश के भौतिक विकास को ही हमने सभी विकासों का पर्याय मान लिया है। अतः, अन्य किसी क्षेत्र में हम कुछ नहीं कर रहे हैं। स्वाधीनता प्राप्ति के पूर्व भारत 'भावात्मक' दृष्टि से एक था; देश के एक कोने में जो आवाज उठती थी, उसकी प्रतिध्वनि दूसरे कोने में सुनाई देती थी, पर स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद स्थिति बिलकुल बदल गई और आज 'भावात्मक एकता' के लिए सम्मेलन बुलाने की आवश्यकता आ पड़ी है। यह कितना

बड़ा और खेदजनक विरोधाभास है ! भावात्मक एकता का भाषा से बढ़कर अधिक समर्थ कोई दूसरा साधन नहीं है और उसकी उपेक्षा कर हमने देश के मूल प्रश्न की उपेक्षा की है, जिसका घातक परिणाम अनेक रूपों में हो रहा है और भविष्य में भी होता रहेगा ।

प्रश्न है कि यह समस्या उत्पन्न हुई ही क्यों ? उत्तर सीधा और स्पष्ट है—भारतीय भाषाओं की अविकसित अवस्था के कारण । यदि हमारी भाषाओं को विकास का अवसर मिला होता तो यह समस्या खड़ी होती ही नहीं ।

१. किसी भाषा के विकास का प्रमुख कारण है परिस्थितिजन्य आवश्यकता की पूर्ति का प्रयास । नई वस्तुएँ और विचार अभिव्यंजना के अभिनव प्रकारों को जन्म देते हैं और यह तभी संभव है, जब कोई भाषा सक्रिय रूप से काम में लाई जा रही हो । भाषा में शक्ति व्यवहार से आती है । दायें और बायें हाथ की लम्बाई, चौड़ाई, मुटाई में कोई अंतर नहीं होता, किन्तु दिन-रात काम में लाने से दायें हाथ की कार्यक्षमता तथा शक्ति बायें हाथ की अपेक्षा कहीं अधिक होती है । यह सुयोग हिन्दी या भारत की अन्य भाषाओं को प्राप्त नहीं हुआ । सदियों की राजनीतिक पराधीनता तथा वैदेशिक प्रभुत्व के कारण भारतीय भाषाएँ शिक्षा, शासन, विधान, न्याय आदि राष्ट्रीय कार्य-कलाप के निर्वाह का साधन नहीं बन सकीं; स्वभावतः उनकी शक्ति का समुचित विकास नहीं हो सका ।

२. उन्नीसवीं शताब्दी तथा बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जितनी वैज्ञानिक या प्राविधिक प्रगति हुई, वह अभूतपूर्व थी । उसे प्रगति न कहकर क्रांति कह सकते हैं । हजारों वर्षों में मनुष्य ने जो नहीं किया था, वह इन डेढ़ सौ वर्षों में घटित हो गया । किन्तु, यह नवीन ज्ञानराशि इस देश में एक विदेशी भाषा—अंगरेजी—के माध्यम से आई । यदि इसके लिए भारतीय भाषाओं का प्रयोग हुआ होता, तो उनका भी नैसर्गिक विकास हो पाता, जैसा यूरोप की भाषाओं या एशिया में ही जापानी भाषा के साथ हुआ । पर, व्यवहार में न आने के कारण भारतीय भाषाएँ तो स्थिर रह गईं और विज्ञान अकल्पनीय गति से आगे निकल गया । फलस्वरूप, दोनों के बीच गहरी खाई पड़ गई । भाषा और ज्ञान परस्पर विच्छिन्न हो गये ।

३. वैज्ञानिक विषयों के निरूपण के लिए वैसे शब्द अनिवार्य हैं, जो सर्वथा परिशुद्ध, निश्चितार्थक और असंदिग्ध हों । शिथिल शब्दावली से काम नहीं चलने का । उदाहरणार्थ, इन कोटियों के शब्दों के लिए भारतीय नाम अपेक्षित हैं :

(क) प्राकृतिक और भौतिक पदार्थ, जैसे वृक्ष, पौध, पशु, पक्षी, मोलेक्यूल, रैडिकल आदि ।

(ख) नूतन तत्त्व, जैसे - एक्स-रे, बीटा-रे प्रोटन एलेक्ट्रॉन, स्पेक्ट्रम, मैगनेटिक इंडक्शन आदि ।

(ग) यंत्र, साधित्र, उपकरण जैसे—थर्मामीटर, बैरोमीटर, कैलोरीमीटर, लैक्टोमीटर, टेलिस्कोप, माइक्रास्कोप आदि ।

(घ) गुण, विचार या भाव, जैसे - रोटेशन, रैडिएशन, रिफ्रैक्शन, ऐक्सिलरेशन, मोमेण्टम, वेलॉसिटी, वॉल्युम आदि ।

इस कार्य की गुरुता और विशालता को भली-भाँति आँकने के लिए आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के अकल्पनीय विस्तार का यत्किञ्चित् परिचय आवश्यक है । अनुमान किया जाता है कि आधुनिक ज्ञान प्रायः ६०० शाखाओं में विभक्त है । उनमें से कुछ के नाम ये हैं—

एकाउंटस्, एयरोनॉटिक्स, ऐग्रिकल्चर, अनैटमी, ऐंथ्रोपॉलोजी, आर्किटेक्चर, आर्ट, ऐस्ट्रोफिजिक्स, एविएशन, बैक्टीरियॉलोजी, बैंकिंग, बायोकेमिस्ट्री, बायॉलोजी, बॉटनी, सिरैमिक्स, केमिस्ट्री, कॉमर्स, डेंटिस्ट्री, ड्रैमेटर्जी, इकनॉमिक्स, एन्जिनीयरिंग, जियोग्रफी, जियॉलोजी, हिस्ट्री, होरॉलोजी, हॉर्टीकल्चर, इन्श्योरेंस, लॉजिक, लॉ, मैशीनरी, मेथमेटिक्स, मेडिसिन, मेटलर्जी, मिटीरियॉलोजी, माइनिंग, न्युमिस्मेटिक्स, पैलिएण्टॉलोजी, पेट्रॉलोजी,

फार्मेसी, फ़िलालॉजी, फ़िलासोफी, फोटोग्राफी, फीजिक्स, फीजियालोजी, पालिटिक्स, साइकालोजी, रेडियो, रेलवे, सोसियालोजी, सर्जरी, टेक्सटाइल, ट्रांसपोर्ट, जुआलोजी आदि ।

इन सभी शाखाओं में प्रयुक्त शब्दों की संख्या लगभग बीस लाख मानी जाती है । बीस लाख ! यह संख्या कितनी बड़ी है, इसका कुछ आभास आप ऐसे पा सकते हैं कि संपूर्ण बाइबिल में केवल ४८०० शब्द हैं । मिल्टन के समस्त ग्रन्थों के आधार पर उसका शब्द-भांडार ८ हजार के आसपास ठहरता है और शेक्सपियर का प्रायः १५ हजार । चेम्बर्स कोश में संकलित शब्द कुल एक लाख दस हजार हैं । इन आँकड़ों को ध्यान में रखकर आप २० लाख पर विचार कीजिए, तो बुद्धि हतप्रभ हो जाती है । यदि अपनी भाषा को हमें संपन्न बनाना है, तो इन बीस लाख शब्दों को उसमें समाविष्ट करना होगा । पर समाविष्ट करें, तो कैसे ? उसके तीन ही मार्ग हैं—१. ग्रहण, २. अनुकूलन (एडैप्टिंग) या ३. निर्माण । इनमें से प्रत्येक की संभाव्यता पर विचार करना उचित होगा ।

प्रत्येक जीवित भाषा में दूसरी भाषाओं से शब्द ग्रहण करने की क्षमता होती है । हिन्दी में अरबी, फ़ारसी, अँगरेजी के बहुत सारे शब्द हैं । इसी प्रकार अँगरेजी ने भी हिन्दी के सैकड़ों शब्द अपना लिये हैं । यह आदान-प्रदान जीवन का लक्षण है, किंतु इसकी भी सीमा है । मनुष्यों के समान भाषाओं की भी केवल आकृति ही भिन्न नहीं होती, उनकी प्रकृति और शक्ति भी भिन्न होती है तथा उनका विकास अनेक कारणों से प्रेरित-नियंत्रित हुआ करता है, जिनमें प्रमुख हैं बोलनेवालों की मनोवृत्ति, संस्कृति, जलवायु, इतिहास, भूगोल आदि । इसलिए, एक देश की भाषा दूसरे देश में न तो जड़ पकड़ सकती है और न पनप सकती है । उदाहरण के लिए, फ़ारसी को ले लें । लगभग पाँच शताब्दियों तक फ़ारसी भारत में शासन, कानून, न्याय, राजनीति की भाषा रही, उसे मध्ययुगीन साम्राज्य-निर्माताओं की अदम्य शक्ति का समर्थन एवं संरक्षण भी प्राप्त था, फिर भी भारतीय भाषाओं पर उसकी छाप कितनी हल्की पड़ी और जो पड़ी भी वह समय के साथ मिट गई । आज कुछ शब्दों को छोड़कर उसका कौन-सा प्रभाव किसी भाषा में दिखाई देता है ? और, यदि फारसी की यह स्थिति है तो अँगरेजी के लिए हम क्या आशा करें, जिसका जीवन इस देश में प्रायः एक शताब्दी का ही है और प्रसार इने-गिने लोगों तक ही । कुछ अफसरों और दफ़्तरों के बाबुओं को छोड़ दें, तो अँगरेजीदाँ कहलाने वाले लोग हैं कौन ? तैंतालीस करोड़ आबादी वाले इस विशाल भूखंड की सतह को भी अँगरेजी नहीं छू सकी है । ऐसी दशा में अँगरेजी से २० लाख शब्दों को ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर लेना कहाँ तक उचित या अपेक्षित है, यह विचारणीय है ।

थोड़ी देर के लिए मान लें कि अँगरेजी शब्दों को हमने ले ही लिया, तो यह भी देखना होगा कि वे हमारी भाषा के बीच देखने या सुनने में कैसे लगते हैं । नीचे दो उद्धरण हैं । पहला उद्धरण भौतिक विज्ञान की पुस्तक से है और दूसरा मनोविज्ञान की । दोनों उद्धरण अविकल रूप से प्रस्तुत हैं :

१. Newton ने change of momentum के बदले change of motion का प्रयोग किया था । उसके अनुसार matter का motion उसकी वह quantity है, जो matter के mass और उसकी velocity से उत्पन्न होती है, यानी mass और velocity का multiplication ही quantity of motion का measurement है । Driving force effort या power कहलाता है; working force weight resistance या load.

२. Olfactory area cerebral cortex के auditory area के समीप पड़ता है, पर gustatory area का localization संभव नहीं है । auditory area temporal lobe के ऊपरी भाग में है । जब inner ears में पाये जाने वाले receptor cells के nerve impulses temporal lobes के auditory

area में जाते हैं, तो sensation of hearing होती है। Optic nerves की तरह auditory nerves में भी कई प्रकार के fibre होते हैं। उनमें कुछ left ear से brain के left temporal lobe के auditory area में जाते हैं और कुछ left ear से brain के right temporal lobe के auditory area में।

किसी भी प्राविधिक पुस्तक से ऐसे अनंत उदाहरण दिये जा सकते हैं। यदि हम अँगरेजी से पारिभाषिक शब्दों को यथावत् ले लेने के विचार का समर्थन करते हैं तो हमारी भाषा का यही रूप होगा। अब यह मिश्र भाषा हिन्दी होगी या अँगरेजी ? संभवतः, दोनों में कोई नहीं। और, हिन्दी या किसी अन्य भारतीय भाषा की अपेक्षा इसमें कौन-सा लाभ एवं लाघव दीखता है ? सरलता ! तो उसके संबंध में कुछ नहीं कहना ही उचित है। जो ग्रीक या लैटिन से अपरिचित हैं, उसके लिए अधिकतर शब्द निरर्थक वाग्जाल के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। द्वितीय उदरण में प्रयुक्त olfactory, cerebral' cortex, auditory, gustatory, lobe, temporal optic आदि शब्द अर्थहीन ध्वनि-समूह से किस अंश में भिन्न हैं ? लैटिन न जानने वाला इन्हें बिना समझे-बूझे, केवल रटकर प्रयोग करता है। अतः इनमें न कोई सरलता है, न लाभ। हाँ, असुविधा स्पष्ट है। ये शब्द भारतीय भाषाओं से सर्वथा असंबद्ध हैं, चाहे जिस दृष्टि से भी देखिए। ध्वनि, पदरचना, व्याकरण, व्युत्पत्ति किसी में कोई मेल नहीं। motion के बदले गति, matter के बदले वस्तु, quantity के बदले मात्रा क्या अधिक कठिन है ? साधारण से-साधारण भारतीय मी इन शब्दों से परिचित है। Olfactory area का अर्थ अच्छे अँगरेजीदाँ भी सहसा नहीं कह सकेंगे, पर 'गन्ध-क्षेत्र' का बहुत कुछ अर्थ एक अपढ़ भारतीय भी समझ जायगा। इस तरह, समय और शक्ति की जो बचत होगी, उसका दूसरे कार्यों में उपयोग किया जा सकता है।

कुछ लोग कह सकते हैं कि आप अँगरेजी की समस्त पारिभाषिक शब्दावली का भले ही ग्रहण न करें, पर अपनी भाषा की ध्वन्यात्मक तथा व्याकरणात्मक विशेषताओं के अनुकूल अँगरेजी-शब्दावली में परिवर्तन करके तो उसे ले ही सकते हैं। ऐसा करने से अँगरेजी शब्दों से समानता भी रह जाती है और श्रम भी अपेक्षाकृत कम पड़ेगा। जैसे 'टेकनीक' के बदले 'तकनीक', 'टेकनिकल' के बदले 'तकनीकी', 'एकेडमी' के बदले 'अकादमी' कर लेने में क्या हर्ज है ? आजकल ये प्रयोग कभी-कभी सुने भी जाते हैं। तो, यह तर्क सुनने में जितना सुगम लगता है, वस्तुतः उतना सुगम है नहीं। अनुकूलन (एडैप्टेशन) वहीं संभव होता है जहाँ तत्तत् भाषाओं में कोई संबंध सूत्र वर्तमान हो। आधुनिक यूरोपीय भाषाओं में ग्रीक और लैटिन के शब्द यदि गृहीत या अनुकूलित हुए हैं, तो इसलिए कि वे संपूर्ण यूरोप के जीवन और संस्कृति में व्याप्त तथा अंतर्निहित हैं। यही नहीं, ये दोनों भाषाएँ यूरोप की कला, साहित्य, दर्शन, विज्ञान, धर्म आदि के भी प्रमुख स्रोत हैं। साथ ही, उनमें शब्द-निर्माण की असीम शक्ति और संभावना विद्यमान है, जिसका यूरोप की आधुनिक भाषाओं में अभाव है। अतः, कोई आश्चर्य की बात नहीं कि यूरोप के एक छोर से दूसरे छोर तक की सभी भाषाएँ—चाहे वह आइसलैंडिक हो, चाहे रूसी - अपनी नवीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ग्रीक और लैटिन का पल्ला पकड़ती हैं। किंतु अँगरेजी और हिन्दी में ऐसा कौन-सा संबंध-सूत्र है ? सच पूछिए, तो उनमें साम्य की अपेक्षा वैषम्य कहीं अधिक है।

प्रथम दोनों विकल्पों—ग्रहण और अनुकूलन—के खंडित हो जाने पर एक ही विकल्प बच रहता है वह है निर्माण और निर्माण के लिए संस्कृत का आश्रय लेने के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है। शब्द-निर्माण की क्षमता तथा योग्यता सभी भाषाओं में नहीं होती। यदि होती, तो यूरोप की अनेक भाषाएँ, जैसे अँगरेजी, फ्रांसीसी, जर्मन, रूसी आदि, जो अन्यथा पर्याप्त समृद्ध हैं, अपनी पारिभाषिक शब्दावली के लिए ग्रीक-लैटिन का सहारा क्यों

लेनीं ? संसार में संस्कृत, चीनी, ग्रीक और लैटिन ये चार ही भाषाएँ ऐसी हैं, जिनमें शब्द-निर्माण की अपरिमित क्षमता और पूर्ण योग्यता है और इनमें भी संस्कृत का स्थान सर्वोच्च है। उपसर्ग और प्रत्यय का भेद कर एक मूल से सैकड़ों शब्द बनाये जा सकते हैं। केवल 'हृ' धातु से बना 'हार' शब्द ले लीजिए। इससे प्र, सम, अनु, वि, आ, उत्, परि, उप इन उपसर्गों को जोड़ने से क्रमशः प्रहार, संहार, अनुहार, विहार, आहार, उद्धार, परिहार उपहार शब्द बनते हैं इसी तरह, 'इ' धातु से 'अच्' प्रत्यय करके निष्पन्न 'अय' शब्द सम्, अनु, वि, आ, उत्, प्रति और उप उपसर्गों के जुटने पर क्रमशः समय, अन्वय, व्यय, आय, उदय, प्रत्यय और उपाय बन जाता है। उपसर्ग-मात्र के भेद से किस प्रकार एक ही मूल शब्द के कितने भिन्न अर्थ हो जाते हैं, यह इन दो शब्दों से ही स्पष्ट है। इसी तरह, प्रत्यय-भेद से भी अर्थ-भेद हुआ करता है। यह प्रणाली कितनी सरल है, साथ ही इसमें शब्द-निर्माण की कितनी अपरिमित क्षमता है ? संस्कृत की इस श्लाघ्य विशेषता को भारत के ही नहीं, विदेशों के भाषाविद् भी मुक्तकंठ से स्वीकार करते हैं। दूसरी चीज यह है कि संस्कृत सहस्राब्दियों से इस उपमहादेश की संस्कृति, धर्म एवं दर्शन की भाषा रही है और आज भी है, फलतः उसका प्रभाव कण-कण में व्याप्त है। प्रान्तीयतावाद और भाषावाद की भेदक प्रवृत्तियों को दबाकर संपूर्ण भारत को एक सांस्कृतिक बंधन में बाँधे रहने की शक्ति एकमात्र संस्कृत में ही है। इसके अतिरिक्त सभी आधुनिक भारतीय भाषाएँ अपने विकास और संपन्नता के लिए प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से संस्कृत की ही ऋणी हैं; अतः उसे आधार मानकर बनाये गये शब्द सबको ग्राह्य होंगे। दूसरी कोई भी भाषा संस्कृत का स्थान नहीं ले सकती।

निर्माण के साथ शब्दावली की समस्या को हल करने का एक और साधन है, जिसे संकलन कह सकते हैं। मध्ययुग में अरबी-फारसी अथवा आधुनिक युग में अँगरेजी ने समाज के ऊपरी स्तर को, या यों कहें कि अभिजात-वर्ग को ही प्रभावित किया, श्रमिक-वर्ग उससे अछूता रह गया। अतः, उसका भाषा-गत वैशिष्ट्य आक्रांत या लुप्त नहीं हो सका और वह अपनी भाषा में ही नये शब्दों को गढ़कर काम चलाता रहा। ऐसे बहुत सारे बने-बनाये शब्द हमारी प्रान्तीय भाषाओं में वर्तमान हैं; आवश्य-कता है उनके संकलन की। वह संकलन पर्याप्त उपयोगी सिद्ध होगा, इसमें संदेह नहीं। और, चूँकि वे शब्द चालू हैं, अतः उनके प्रयोग में भी कठिनाई नहीं होगी। संकलन का कार्य किसी केन्द्रीय अभि-करण द्वारा ही संपन्न हो सकता है; क्योंकि इसमें विभिन्न भाषाओं के अधिकारी ज्ञाता अपेक्षित होंगे। अंतिम स्वीकृति के पूर्व संकलित शब्दों की ग्राह्यता-अग्राह्यता का विचार भी आवश्यक होगा, जिसे भाषाविदों की कोई केन्द्रीय समिति ही कर सकती है और उसी का करना मान्य भी हो सकता है। मान लीजिए कि एक ही वस्तु के वाचक पाँच भाषाओं से पाँच शब्द मिले। अब उनमें पाँचों को स्वीकार किया जाय या किसी एक को; यदि एक को स्वीकार किया जाय, तो किसको, और क्यों ? ऐसे प्रश्नों का निर्णय मनमाना न होकर सिद्धांत-सापेक्ष होना चाहिए। वैज्ञानिक शब्दावली की समस्या के समा-धान की प्रणाली भी वैज्ञानिक हो, यह आव-श्यक है।

हिन्दी की पारिभाषिक शब्दावली के संबंध में तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं—१. यह शब्दावली पारिभाषिक है, साधारण बोलचाल की नहीं। २. यह सबके लिए या बहुसंख्यकों के लिए भी नहीं है; यह केवल उन गिने-चुने लोगों के लिए है, जो किसी प्राविधिक विषय का विशेषाध्ययन करना चाहते हैं। ३. यह वर्तमान पीढ़ी के लिए नहीं, भविष्य के लिए है। उपर्युक्त मंतव्यों का स्पष्टीकरण अपे-क्षित है।

सबसे पहले हमें यह याद रखना है कि जिस शब्दावली पर हम विचार कर रहे हैं, वह पारिभा-

षिक है, दैनिक व्यवहार की नहीं। साधारण बोल-चाल में आने वाले केक, बिस्कुट, चॉकलेट, ग्लास, सिगरेट, टब, ट्रंक, टिकट, डाक्टर, नर्स, अस्पताल लालटेन, कम्पनी, कापी आदि सैकड़ों शब्दों को हटाकर उनके बदले कठिन, भारी-भरकम शब्दों का प्रयोग करने को कोई नहीं कह रहा। ये लोकप्रिय, प्रचलित शब्द अपनी जगह पर हैं और रहेंगे। परिभाषिक शब्दावली इनसे सर्वथा भिन्न वस्तु है, जिसका प्रयोग पारिभाषिक, अर्थात् विशिष्ट अर्थ में होता है। वह शास्त्रीय चर्चा या विचार का साधन है; उससे साधारण व्यक्ति को कुछ लेना-देना नहीं है। प्रत्येक शास्त्र में ऐसे शब्द अनिवार्य होते हैं। उदाहरणार्थ, रेखागणित को ले लीजिए। रेखा, विंदु, कोण, परिधि, केन्द्र आदि पारिभाषिक शब्द उन लोगों के लिए सर्वथा अनपेक्षित हैं, जिन्हें रेखा-गणित नहीं पढ़ना है। संधि, समास, तद्धित, कृदंत आदि शब्दों का अर्थ जानना उन्हीं के लिए आवश्यक है, जो व्याकरण में प्रवेश चाहते हैं। तो ये पारिभाषिक शब्द हैं और केवल उन्हीं के लिए आवश्यक हैं, जिन्हें इन विषयों का ज्ञान प्राप्त करना अभिमत है। कई बार इस बात को ध्यान में न रखने से ही भ्रम हो जाता है। 'नये शब्द बड़े कठिन, कठोर, भयंकर बन रहे हैं,' यह आक्रोश व्यक्त करने के पहले सोचना चाहिए कि वे किसके लिए बन रहे हैं। आपके लिए पानी का अँगरेजी-पर्याय 'वाटर' है, किन्तु डाक्टर के लिए 'आकुआ' (aqua) है, जो लैटिन है। उसको दवा के पुरजे में आप कभी 'वाटर' लिखते नहीं देखेंगे। आपको मालूम हो कि डाक्टरी में काम आनेवाले ९० प्रति-शत से अधिक शब्द, चाहे वे शारीरिक अंगों के नाम हों या दवाओं के या बीमारियों के, आपके लिए अपरिचित तथा अनुपयोगी हैं। कभी दवाओं के साथ जो परिपत्र मिलते हैं, उन्हें पढ़कर देखिए, तो बात स्पष्ट हो जायगी।

स्पष्ट है कि पारिभाषिक शब्दावली न तो सबके लिए है, न अधिकसंख्यकों के लिए ही; बल्कि उन इने-गिने व्यक्तियों के लिए होती है, जो ज्ञान की किसी एक शाखा में विशेषज्ञता या प्रवीणता प्राप्त करने के इच्छुक हैं। हमने देखा है कि ज्ञान की सैकड़ों विशिष्ट शाखाएँ हैं और कोई भी मनुष्य उन सबको अधिकृत कर सके, यह सर्वथा असंभव है। सभी विषयों में परस्पर उपकार्योपकारकभाव भी नहीं है। जैसे, भाषाविज्ञान का विशेषाध्ययन करनेवाले के लिए धातुविज्ञान की क्या उपादेयता है? इसी तरह, खनिजविज्ञान से संबद्ध शब्दावली उस व्यक्ति के किस काम आयगी, जो नृत्य में पारंगत होना चाहता है? अतः, जो जिस शाखा में जाना चाहता है या जिस पेशे को अपनाना चाहता है, उसी की शब्दा-वली उसके लिए अपेक्षित है। एक वैज्ञानिक पत्रिका का निम्नोद्धृत वाक्य पर्याप्त मनोरंजक और निर्दिष्ट तथ्य का समर्थक है—Begoniaceae, by their anthero-connectival fabric, indicate a close relationship with anonaceo hydrocharideo-nymphaeoid forms, an affinity confirmed by the serpentarioid flexuoso-nodulous stem, the liriodendroid stiples, and cissoid and victirioid foliage of a certain Begonia and if considered hypogynous, would, in their triquetrous capsule, alate seed, apetalism and tufted stamination, represent the floral fabric of Nepenthes, itself of aristolochioid affinity, while, by its pitchered leaves directly belonging to Sarracenias and Dionaeas.

मैं मान लेता हूँ कि अपने विषय के आप गंभीर विद्वान् हैं और अँगरेजी भाषा तथा साहित्य पर आपका अधिकार भी है किंतु मुझे संदेह है, कि आप इस उद्धरण से कुछ भी समझ सकें। यों, एक वनस्पति वैज्ञानिक के लिए इसके अर्थ में कोई क्लिष्टता नहीं है। इसी प्रकार, आपकी शाखा का कोई वाक्य उस वनस्पतिविज्ञानवेत्ता के लिए वैसा ही कठिन होगा। और, क्या ये अँगरेजी के शब्द हैं? इस वाक्य में अँगरेजी के कतिपय शब्दों को छोड़कर, जो हैं, वे

सब ग्रीक या लैटिन के हैं। इस दृष्टि से शब्दावली की समस्या न तो उतनी जटिल है, न कठिन, जितनी डरावनी बना दी गई है।

तीसरी चीज भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। हमें भूलना न चाहिए कि जो शब्दावली तैयार की जा रही है, वह इस पीढ़ी के लिए नहीं, बल्कि आनेवाली पीढ़ियों के लिए है। जब तक अँगरेजी का स्थान भारतीय भाषाएं पूर्णतः ग्रहण करेंगी, तब तक हममें से बहुतेरे अपना कार्यकाल समाप्त कर अवकाश प्राप्त कर चुके रहेंगे, साथ ही भाषागत समस्याओं से मुक्त हो चुके रहेंगे। हमारे संस्कार हमारे अभ्यास के अनुसार बन चुके हैं, किंतु आने वाली पीढ़ियों के भाषागत संस्कार तथा अभ्यास बद्धमूल नहीं हुए हैं; वे पूर्वग्रह से भी रहित हैं। इसलिए, हम देखते हैं कि नववयस्क बच्चे काफी सुगमता और सुविधा से हिन्दी शब्दों को सीख रहे हैं। आरंभ से 'फीजिक्स' सुनने के अभ्यस्त हमारे कानों को 'भौतिकी' भले ही कर्कश लगे, पर बच्चे को इसमें कोई अस्वाभाविकता या विचित्रता नहीं दीखती। इसके प्रतिकूल यही शब्द उसे अधिक स्वाभाविक, परिचित एवं सरल मालूम पड़ता है। 'भूत', 'पंचभूत' कौन नहीं जानता? फिर, उससे भौतिकी बना लेने में क्या उलझन है? इसी प्रकार, 'लिंग्विस्टिक्स' की अपेक्षा, जिसके उच्चारण में जीभ को पर्याप्त आयास और व्यायाम करना पड़ जाता है, क्या 'भाषिकी' कहीं अधिक सार्थक और सहज नहीं है? कितने लोग हैं, जो यह बता सकें कि इस शास्त्र को 'लिंग्विस्टिक्स' कहते ही क्यों हैं, पर 'भाषा' से 'भाषिकी' एक गँवार के लिए भी कठिन नहीं है। इस संक्रांति-काल में हम वयस्कों और वर्षीयसों को सक्रिय रूप से सहानुभूतिपूर्ण रहने की आवश्यकता है; क्योंकि कोई भी संक्रांति, मृदु और शांत नहीं होती, उसमें कुछ-न-कुछ धक्के लगते हैं और उन धक्कों को सहना ही पड़ता है। अधीर होने से धक्के अधिक कष्टकर हो जाते हैं। उनका उचित उपचार धैर्य है। कहीं से इक्के-दुक्के शब्दों को लेकर उनका उपहास करने या उनपर व्यंग्य कसने से न तो परिस्थिति सुधरेगी और न कोई लाभ होगा। आज हम कहीं कोई नया शब्द देखते हैं, तो उसे लेकर आलोचना करने बैठ जाते हैं, शब्द पर हँसते हैं, शब्द बनाने वाले पर हँसते हैं, यहाँ तक कि अपनी भाषा को भी नहीं छोड़ते! होना कुछ दूसरा चाहिए, यदि आप पाते हैं कि कोई शब्द पूर्ण संतोषप्रद नहीं है, तो आलोचना मत कीजिए, व्यंग्य मत कसिए, बल्कि उससे अच्छा शब्द सुझाइए; क्योंकि याद रखिए, वह शब्द आपका है, भाषा आपकी है और अपनी वस्तु का उपहास नहीं किया जाता। निरर्थक आलोचना के बदले रचनात्मक सुझाव हमारा लक्ष्य होना चाहिए। दोष-दर्शन के आवेश में हम भूल जाते हैं कि हम किसी एक शब्द को लेकर अलोचना करते हैं, पर जो शब्द-निर्माण के कार्य में लगे हैं, उन्हें एक-दो नहीं, लाखों शब्द बनाने हैं; वे भारतीय संविधान की अष्टम अनुसूची में निर्दिष्ट सभी-भाषाओं की आवश्यकता और प्रकृति से परिचित हैं; एतद्विषयक जो भी सामग्री और साधन संभव है, वे उन्हें उपलब्ध हैं; वे संसार की अनेक प्राचीन एवं अर्वाचीन भाषाओं के कुशल ज्ञाता तथा तत्तत् विषयों के अधिकारी विद्वान् हैं; वे शब्द-निर्माण की वैज्ञानिक प्रक्रिया से पूर्ण अवगत हैं, वे सुविचारित योजनाओं और निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार शब्दों का निर्माण कर रहे हैं, जिनका खंडन सुकर नहीं है।

(परिषद् पत्रिका से साभार)

●

हिन्दी का वैज्ञानिक साहित्य

डा० शिवगोपाल मिश्र

वैज्ञानिक साहित्य किसी भी राष्ट्र का गर्व है क्योंकि उसके आकार एवं प्रकार पर ही उसकी प्रगति निर्भर करती है। परन्तु ऐसा साहित्य कल्पना-शक्ति या मानस-मंथन से नहीं प्रत्युत प्रयोगशालाओं में अपार धन व्यय करने तथा अहर्निश श्रम के पश्चात् ही संग्रहीत किया जाता है और यही कारण है कि उच्चकोटि का वैज्ञानिक साहित्य वहीं उपलब्ध होता है जहाँ विज्ञान के क्षेत्र में सर्वतोमुखी उन्नति हुई हो। जो राष्ट्र विज्ञान में पिछड़ा है उसके पास या तो साधनों का अभाव है अथवा उसकी भाषा अशक्त एवं अक्षम है। ऐसी दशा में उसे परमुखापेक्षी बनना पड़ता है।

वैज्ञानिक साहित्य की एक विशेषता यह भी है कि वह चाहे जिस देश की सम्पत्ति हो, वर्तमान युग में उसके प्रचार एवं प्रसार के ऐसे साधन एकत्रित किये गये हैं कि कोई भी भाषाभाषी उससे लाभान्वित हो सकता है। परन्तु नहीं, यह इस पर अधिक निर्भर करता है कि अमुक राष्ट्र की भाषा उन भावों को वहन करने की सामर्थ्य रखती है अथवा नहीं। भाषा में यह सामर्थ्य एकाएक नहीं आ जाती। वर्षों तक पारिभाषिक शब्दों के जुटाने, उनके बार-बार प्रयोग किये जाने एवं प्रारम्भ से उसी भाषा में पठन-पाठन की व्यवस्था करने के पश्चात् ही यह सम्भव है।

हमारा देश दीर्घकाल तक पराधीनता के पाश में जकड़ा रहा। अनेक भाषाओं के होते हुए भी यहाँ सम्पूर्ण शिक्षा अंग्रेजी माध्यम से प्रदान की गई। अतः जब देश स्वतन्त्र हुआ तो सर्वप्रथम राष्ट्र-भाषा की समस्या सामने आई। अनेक संकल्प विकल्पों के बाद हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद प्रदान किया गया, क्योंकि सभी भाषाओं में यह अधिकांश जनसंख्या द्वारा बोली एवं समझी जाती थी। तब तो इसमें वैज्ञानिक साहित्य के सृजन की आवश्यकता प्रतीत हुई। परन्तु यह कार्य इतना सरल न था जितना ऊपर से प्रतीत होता था। यदि पराधीनता-काल में राष्ट्रीयता के वशीभूत होकर हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य के लेखन का प्रयास न हुआ होता तो आज जो थोड़ा भी साहित्य तैयार हो पाया है वह भी न हो पाता, कारण कि हमारे सामने कोई परम्परा ही न रहती।

सन् १८००-१६०० ई० की अवधि में रसायन, भौतिकी, बीजगणित तथा वनस्पतिशास्त्र पर अनेक पुस्तकें हिन्दी में लिखी गईं जिसमें भारत की प्राचीन वैज्ञानिक परम्परा को जीवित रखने और तत्कालीन वैज्ञानिक प्रगति के साथ उसे शृङ्खलाबद्ध करने का प्रयास मिलता है। बीसवीं शती के प्रारम्भ से ही स्वतन्त्र भारत के स्वप्नद्रष्टाओं ने बल देना प्रारम्भ किया कि विज्ञान का पठन-पाठन हिन्दी में हो और अंग्रेजी का बहिष्कार किया जाय। फलतः हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य के सृजन की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस दिशा में पहले कुछ मिशनरी सोसाइटियों ने हाथ बटाना प्रारम्भ किया किन्तु बाद में वे मन्द पड़ गईं। तब गुरुकुल काँगड़ी ने वैज्ञानिक शिक्षा का समारम्भ हिन्दी में किया और रसायन, भौतिकी एवं वनस्पति शास्त्र पर पुस्तकें तैयार कराईं। इस दिशा में श्री महेश चरण सिंह तथा प्रो० रामशरण दास के नाम लेखकों के रूप में उल्लेखनीय हैं। लक्ष्मीधर मिश्र की त्रिकोणमिति एवं पं० सुधाकर द्विवेदी की गणित एवं ज्योतिष की पुस्तकें भी इसी काल में प्रकाशित हुईं। यह स्थिति सन् १६१४ के

आस-पास थी। तभी प्रयाग में 'विज्ञान परिषद्' की स्थापना हुई और मासिक पत्र 'विज्ञान' के प्रकाशन से न केवल सर्वसाधारण तक हिन्दी में वैज्ञानिक विषयों की जानकारी प्रसारित होने लगी, वरन् अनेकानेक नवीन लेखकों को अपनी लेखनी चमकाने का अभूतपूर्व अवसर प्राप्त हुआ। 'विज्ञान परिषद्' ने विविध विषयों पर सन् १९३८ तक कई वैज्ञानिक पुस्तक प्रकाशित कीं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा; हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग; विज्ञान-हुनर-माला आफिस, बनारस; पंजाब आयुर्वेदिक फार्मेसी, अमृतसर तथा इण्डियन प्रेस, प्रयाग ने भी वैज्ञानिक साहित्य का प्रकाशन कर इस दिशा में स्तुत्य योगदान दिया।

इस प्रकार स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व विज्ञान के विविध अंगों पर हिन्दी में इतना वैज्ञानिक साहित्य उपलब्ध था कि स्कूलों एवं कालिजों में बिना किसी प्रकार की कठिनाई के हिन्दी के माध्यम से विज्ञान की शिक्षा दी जा सके। और ऐसा होने भी लगा था परन्तु एक व्यवधान जो समान रूप से लेखकों एवं पाठकों के समक्ष था वह पारिभाषिक शब्दों के व्यवहार में एकरूपता का न होना। फिर लोगों में अंग्रेजी का प्रेम इस प्रकार व्याप्त था कि हिन्दी उनके कण्ठ के नीचे सरलता से नहीं उतर पा रही थी।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य की उत्तरोत्तर वृद्धि हुई। सबों के मन में हिन्दी के प्रति प्रेम जागरित हुआ। सरकारी एवं गैर सरकारी संस्थायें वैज्ञानिक साहित्य के निर्माण की योजनाओं के प्रति भरसक उन्मुख हुईं। व्यक्तिगत प्रयास भी हुए। फल यह हुआ कि अल्पकाल में ही शिक्षा पाठ्यक्रमों की आवश्यकता पूर्ति के लिए विज्ञान के विविध अंगों पर पाठ्य-पुस्तकें लिख गईं। साथ ही साथ सामान्य विज्ञान एवं उच्चस्तरीय विज्ञान की पुस्तकों के लेखन पर ध्यान गया। वैज्ञानिक साहित्य को अधिकाधिक प्रोत्साहन देने के लिए केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार तथा कुछ संस्थाओं की ओर से पुरस्कार-योजनायें चालू की गईं। कुछ व्यक्तियों एवं संस्थाओं को विश्वकोष, संदर्भ-ग्रंथ एवं मौलिक ग्रन्थ लिखने के लिए सरकार की ओर से वित्तीय सहायता और अनुदान प्रदान हुए जिनके भी परिणाम उत्साहजनक रहे। साथ ही, योरोपीय भाषाओं के कई प्रसिद्ध वैज्ञानिक ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद भी हुए।

शिक्षा मन्त्रालय ने सन् १९५० में वैज्ञानिक शब्दावली बोर्ड की स्थापना की। इसमें चुने हुए वैज्ञानिक एवं शिक्षाविद रखे गये जो विभिन्न समितियों के अन्तर्गत अँगरेजी के पारिभाषिक शब्दों के लिए हिंदी के समानार्थी शब्द चुनते या गढ़ते हैं। विज्ञान के विविध अंगों, गणित, भौतिकी, रसायन, वनस्पति विज्ञान आदि के लिए ऐसी अलग-अलग समितियाँ हैं। इनमें से गणित एवं रसायन समितियों ने सर्वाधिक कार्य किया है परन्तु इतने पर भी जो शब्दावली बनकर स्वीकृत हुई है वह इण्टरमीडिएट कक्षाओं तक की आवश्यकताओं की ही पूर्ति कर सकती है। अतः स्पष्ट है कि यदि विश्वविद्यालयों में भी हिन्दी द्वारा विज्ञान की शिक्षा देना है तो तीव्र गति से शब्दावली निर्माण का कार्य सम्पन्न कराना होगा। सन्तोष की बात है कि इण्टरमीडिएट बोर्ड ने सरकार द्वारा निर्मित इस शब्दावली को ही मान्यता प्रदान की है जिससे विभिन्न पाठ्य पुस्तकों में समान शब्दावली प्रयुक्त हो रही है।

कुछ वर्षों से सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश के अन्तर्गत 'हिन्दी समिति' विज्ञान के विविध विषयों पर अधिकारी विद्वानों द्वारा हिन्दी में ग्रन्थ लिखाने, अँगरेजी ग्रन्थों के अनुवाद कराने तथा प्रकाशित कर सस्ते मूल्यों में बेचने का प्रशंसनीय कार्य कर रही है। यह विश्वास किया जाता है कि शीघ्र ही स्नातक परीक्षाओं के योग्य वांछित वैज्ञानिक साहित्य का निर्माण हो सकेगा। केन्द्रीय सरकार ने नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी को एक 'हिन्दी विश्वकोष' बनाने के लिये प्रचुर धनराशि दी है। विश्वकोष का एक खंड प्रकाशित भी हो चुका है।

केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय के अन्तर्गत हिन्दी निदेशालय की स्थापना के साथ हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य के पल्लवित एवं पुष्पित होने का सुयोग प्राप्त हुआ है। इससे न केवल पारिभाषिक शब्दावली का कार्य द्रुत गति से आगे बढ़ाया जा रहा है वरन् विश्वविद्यालय-स्तर की अनेकानेक वैज्ञानिक कृतियों का अँगरेजी से हिन्दी में अनुवाद करने के लिये विभिन्न संस्थाओं को आर्थिक योग भी दिया जा रहा है।

५ दिसम्बर, १९५७ को नई दिल्ली में 'हिन्दी में "वैज्ञानिक तथा प्राविधिक साहित्य' की एक प्रदर्शिनी का आयोजन किया गया था जिसका उद्घाटन राष्ट्रपति ने किया था। यह पहला प्रयास था जिसके लिए लगभग एक हजार पुस्तकें चुनी गई थीं जो विविध विषयों की श्रेष्ठ एवं प्रतिनिधि कृतियाँ कही जा सकती थीं। इस प्रदर्शिनी के छः मुख्य विभाग थे—(१) भौतिक विज्ञान—इसमें गणित, भौतिकी, रसायन, प्राणिशास्त्र, वनस्पति विज्ञान, आयुर्वेद, आरोग्य आदि सभी मुख्य भौतिक विज्ञान की पुस्तकें थीं। इंजीनियरी तथा संदर्भ ग्रन्थ भी इसी में सम्मलित थे।

(२) सामाजिक विज्ञान—इसमें अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, शिक्षाशास्त्र मानवविज्ञान मनोविज्ञान, कानून की कृतियाँ थीं।

(३) सामान्य तथा सरल विज्ञान—जन साधारण में वैज्ञानिक विषयों की जानकारी फैलाने वाली पुस्तकें।

(४) प्राविधिक विभाग—इसमें अत्यन्त कम किन्तु उच्च स्तर की पुस्तकें थीं जो टेकनालॉजी से सम्बन्धित थीं।

(५) ललित कला-विभाग—इसमें संस्कृत तथा हिन्दी की पुस्तकें थीं।

(६) वैज्ञानिक पत्र-पत्रिका विभाग।

उपर्युक्त विभागों में द्वितीय, तृतीय एवं पंचम विभाग वास्तव में वैज्ञानिक साहित्य के अन्तर्गत वर्गीकृत नहीं होने चाहिये। नीचे हिन्दी में उपलब्ध वैज्ञानिक साहित्य का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है। ऐसे साहित्य में पाठ्यपुस्तकों की संख्या सर्वाधिक है अतः उनके लिए एक पृथक वर्ग प्रदान किया गया है। यंत्रकला और इंजीनियरी, औद्योगिक विज्ञान, ज्योतिषशास्त्र, वैज्ञानिक इतिहास, जनोपयोगी वैज्ञानिक साहित्य, कृषि विज्ञान, पारिभाषिक कोष एवं पत्र-पत्रिकायें अन्य वर्ग हैं जिनके अन्तर्गत अधुनातन प्राप्य साहित्य को संकलित किया गया है।

१—पाठ्य पुस्तकें :

(क) गणित : हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने इंटर की परीक्षोपयोगी गणित पुस्तकें प्रकाशित कीं जिनमें डा० डी० पी० शुक्ल की **गति विज्ञान**, डा० हरिश्चन्द्र गुप्त की **चलराशि कलन** और डा० व्रजमोहन की **ठोस विज्ञान** प्रमुख हैं। गया प्रसाद एण्ड सन्स ने डा० व्रजवासी लाल की तीन पुस्तकें, **प्रारम्भिक गति विज्ञान, आधुनिक स्थिति विज्ञान** तथा **प्रारम्भिक चलनकलन** और हरस्वरूप शर्मा की **घन ज्यामिति, नियामक ज्यामिति** तथा **समतल त्रिकोणमिति** पुस्तकें प्रकाशित कीं। मैकमिलन एण्ड कम्पनी ने लोनी की गणित की पुस्तकों एवं हाल एण्ड नाइट के एलजेबरा (बीजगणित) के हिन्दी अनुवाद छापे। पोथीशाला लिमिटेड, प्रयाग ने डा० गोरख प्रसाद की दो पुस्तकें, **प्रारम्भिक अवकल समीकरण** एवं **सरल गणित ज्योतिष** निकालीं जिनका स्तर बी० एस-सी० के बराबर है। बी० एस-सी० में गणित में ६ विषय पढ़ाये जाते हैं परन्तु केवल तीन विषयों पर हिन्दी में केवल एक-एक पुस्तकें प्राप्य हैं।

(ख) **भौतिकी :** इंटर कक्षाओं के लिए हिन्दी प्रकाशन मण्डल, काशी विश्वविद्यालय की ओर से डा० निहाल करण सेठी कृत **प्रारम्भिक भौतिकी,** स्टूडेंट्स फ्रेंड्स, प्रयाग द्वारा प्रकाशित डा० नन्दलाल सिंह कृत **भौतिक विज्ञान प्रवेशिका** एवं **प्रायोगिक भौतिक विज्ञान** पुस्तकें सर्वप्रिय हुई हैं। इधर हिन्दुस्तानी एकेडमी ने डा० निहाल करण सेठी कृत **चुम्बकत्व और विद्युत** तथा सूचना विभाग, उ० प्र० ने सेठी तथा डी०आर०भवालकर कृति **आपेक्षिकता**

का अभिप्राय एवं इलेक्ट्रॉन विवर्तन (अनुवाद) तथा डा० रमेश चन्द्र कपूर कृत परमाणु विखण्डन नामक पुस्तकें प्रकाशित की हैं जो स्नातक परीक्षोपयोगी हैं। इनके अतिरिक्त प्रकाश पर डा० सेठी द्वारा लिखित प्रकाश विज्ञान भी उपलब्ध है। इस प्रकार बी०एस-सी० में भौतिकी में जिन पाँच विषयों—ताप, प्रकाश, ध्वनि, विद्युत तथा चुम्बकत्व में पुस्तकों की आवश्यकता पड़ती है उनकी भी पूर्ति नहीं हो पाई।

(ग) **रसायन** : हाई स्कूल एवं इण्टर कक्षाओं के लिए उपयोगी पुस्तकों की सूची बहुत बड़ी है परन्तु उनमें से कुछ ही पुस्तकें अधिक प्रचलित हैं। उदाहरणार्थ डा० सत्य प्रकाश की **सामान्य रसायन, कार्बनिक रसायन** और **प्रायोगिक रसायन** पुस्तकें, डा० सन्त प्रसाद टंडन की **प्रारम्भिक कार्बनिक रसायन** एवं डा० रामदास तिवारी की **कार्बनिक रसायन** नामक पुस्तकें। बी० एस-सी० कक्षाओं में तीन विषयों पर पुस्तकें चाहिये--कार्बनिक, अकार्बनिक और भौतिक रसायन पर परन्तु इनमें से केवल अन्तिम दो पर चार पुस्तकें उपलब्ध हैं। कार्बनिक रसायन पर कोई भी पुस्तक नहीं है। ये चार पुस्तकें हैं डा० सत्य प्रकाश कृत **सामान्य रसायन शास्त्र**, श्रीप्रकाश कृत **अकार्बनिक रसायन**, डा० रामचरण मेहरोत्रा कृत **भौतिक रसायन की रूपरेखा** और डा० कृष्णबहादुर कृत **वैश्लेषिक रसायन**।

(घ) **वनस्पति और प्राणि विज्ञान**—डा० आर० डी० विद्यार्थी कृत **वनस्पति शास्त्र**, डा० धर्म नारायण कृत **वनस्पति शास्त्र**, लासन तथा साहनी कृत अँगरेजी पुस्तक का अनुवाद **वनस्पति विज्ञान** और ए० सी० दत्त कृत **वनस्पति शास्त्र** वनस्पति विज्ञान की प्रमुख पुस्तकें हैं। जीव विज्ञान के क्षेत्र में ए० पी० सिंह का **जीव विज्ञान**, डा० बी० सी० महेन्द्र का **माध्यमिक जन्तु विज्ञान** तथा डा० उमाशंकर श्रीवास्तव का **आधुनिक प्राणि-शास्त्र** तथा हिन्दी समिति के द्वारा प्रकाशित सुरेश-सिंह का **जीव-जगत** समुचित लोकप्रिय ग्रन्थ हैं।

(ङ) **धातु तथा खनिज विज्ञान** : डा० दयास्वरूप कृत **धातु विज्ञान**, एस० एस० कृष्णन कृत **भारतीय भूतत्व की भूमिका** (अँगरेजी का अनुवाद), एच० एल० शर्मा कृत **भारत की खनिज सम्पत्ति** तथा डा० रघुवीर कृत **खनिज अभिज्ञान** प्रमुख पुस्तकें हैं।

२—**यंत्रकला तथा इंजीनियरी** :

देहाती पुस्तक भण्डार, दिल्ली ने ६५ से अधिक ऐसी उपयोगी पुस्तकें हिन्दी में प्रकाशित की हैं जिन्हें पढ़कर यंत्रकला में दक्षता प्राप्त की जा सकती है परन्तु इनमें सर्वमान्य पारिभाषिक शब्दावली का अभाव है और पाठ्यपुस्तकों के योग्य सामग्री का संकलन नहीं पाया जाता। विज्ञान परिषद्, प्रयाग ने पं० ओंकार नाथ शर्मा कृत रेल-विज्ञान सम्बन्धी एक पुस्तक—**रेल इंजन परिचय और संचालन** प्रकाशित की है जो अत्यन्त उपयोगी है। इसी प्रकार कलाचाँद शील कृत **बेतार विज्ञान** एवं ए० बी० माथुर कृत **रेडियो गाइड** उपयोगी पुस्तकें हैं। ए० आर० सेठ कम्पनी, बम्बई ने भ० ने० थधाणी कृत **निर्माण विज्ञान के सिद्धान्त** नामक एक प्रामाणिक पुस्तक का प्रकाशन किया है जिसे इंजीनियरी के क्षेत्र में प्रथम कृति कहा जा सकता है।

३—**औद्योगिक विज्ञान** : इस वर्ग में कई प्रामाणिक ग्रंथ प्राप्त हैं। प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा ने **रबर, प्लास्टिक, पेट्रोलियम, कोयला** तथा **ईख और चीनी** नामक पुस्तकें लिखी हैं जो विभिन्न स्थानों से प्रकाशित हैं। सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश की ओर से आर० चरन कृत **काँच विज्ञान**, दयास्वरूप एवं धर्मेन्द्र कुमार कृत **इस्पात का उत्पादन**, जगन्नाथ कृत **काष्ठ परीक्षण**, हीरेन्द्र-नाथ बोस कृत **मृत्तिका उद्योग** नामक सचित्र, सस्ते एवं प्रामाणिक ग्रन्थ छपे हैं। कौंसिल ऑफ साइंटिफिक एण्ड इन्डस्ट्रियल रिसर्च की ओर से **बिनौला उद्योग, कॉयर उद्योग, चाय उद्योग** पर सर्वसाधारण के लिए उपयोगी पुस्तिकायें प्रकाशित हुई हैं।

४—ज्योतिष शास्त्र : बिहार राष्ट्र-भाषा परिषद् से त्रिवेणी सिंह कृत **ग्रह-नक्षत्र** एवं डा० गोरख प्रसाद कृत **नीहारिकाएं** तथा सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश की ओर से डा० गोरख प्रसाद कृत **भारतीय ज्योतिष का इतिहास** एवं शिवनाथ झारखंडी रचित **भारतीय ज्योतिष** पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं।

५—वैज्ञानिक इतिहास : सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश द्वारा प्रकाशित डा० विभूतिभूषण दत्त एवं अवधेश नारायण कृत **हिन्दू गणित शास्त्र का इतिहास**, डा. गोरख प्रसाद कृत **भारतीय ज्योतिष का इतिहास**, डा० सत्य प्रकाश कृत **प्राचीन भारत में रसायन का विकास**, अत्रिदेव विद्यालंकार कृत **आयुर्वेद का बृहत इतिहास**, विज्ञान परिषद्, प्रयाग द्वारा डा० शिवगोपाल मिश्र कृत **भारतीय कृषि का विकास**, आयुर्वेद विज्ञान ग्रन्थ-माला, अमृतसर द्वारा स्वामी हरिशरणानन्द कृत **भस्म विज्ञान** प्रमुख वैज्ञानिक इतिहास से सम्बद्ध ग्रन्थ हैं।

६—जनोपयोगी साहित्य : रामदास गौड़ कृत **विज्ञान हस्तामलक**, रामेशवेदी कृत **साँपों की दुनिया**, दयानन्द पंत कृत **विकासवाद**, डा० सत्य प्रकाश कृत **आधुनिक आविष्कार**, डा० गोरख प्रसाद कृत **फलसंरक्षण** एवं **सरल फोटोग्राफी**, भगवती प्रसाद श्रीवास्तव कृत **परमाणु शक्ति** एवं **ज्ञान भारती** प्रमुख कृतियाँ हैं जिनसे जनसाधारण को हिन्दी में वैज्ञानिक विषयों पर जानकारी उपलब्ध हो सकती है। इसके अतिरिक्त किताब महल, इलाहाबाद एवं छात्र हितकारी पुस्तक माला, प्रयाग से भी अनेक पुस्तिकायें छपी हैं परन्तु वे अधिकारी विद्वानों के द्वारा न लिखी होने के कारण प्रामाणिक नहीं हैं। जामिया मिलिया, दिल्ली ने सरकार की सहायता से **ज्ञान सरोवर** नामक बृहत ग्रन्थ निकालने की योजना बनाई है जिसका प्रथम खंड प्रकाशित हो चुका है। इसी प्रकार लखनऊ से **'विश्व-भारती'** के ५० खण्ड छपने हैं। सस्ता साहित्य मण्डल ने बालोपयोगी साहित्य पर विशेष ध्यान दिया है और वहाँ से **मनुष्य का बचपन**, **पक्षियों की दुनिया**, **प्रकाश की बातें**, **ध्वनि की लहरें**, **ऊष्मा अथवा गरमी** नामक पुस्तकें छप चुकी हैं। स्वामी हरिशरणानन्द ने **'विश्व विज्ञान'** नामक एक लोकोपयोगी वैज्ञानिक ग्रन्थ लिखा है। आयुर्वेद सम्बन्धी अनेकानेक पुस्तकें हिन्दी में उपलब्ध हैं।

७—कृषि विज्ञान : कृषि विज्ञान पर हिन्दी के नाम पर न जाने कितनी पुस्तकें ऐसी प्रकाशित हुई हैं जो केवल लोकोपयोगी हैं, पाठ्य-पुस्तक कही जाने योग्य नहीं हैं। फिर भी, इण्टर एवं बी० एस-सी० कक्षाओं के योग्य कृषि विषयक कई पुस्तकें उपलब्ध हैं। भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद्, नई दिल्ली एवं उत्तर प्रदेशीय कृषि विभाग द्वारा समय-समय पर प्रचारित कृषि-साहित्य भी अत्यन्त उपयोगी है। अभी तक कृषि विज्ञान के जीवाणु विज्ञान, मृत्तिका, भौतिकी एवं जैव रसायन अंगों पर कोई भी पुस्तक नहीं लिखी गई है। कृषि एंजीनियरी या सांख्यिकी में भी पुस्तकों का अभाव है।

८—पारिभाषिक कोष : भारत सरकार द्वारा निर्मित की गई वैज्ञानिक शब्दावली के अतिरिक्त भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग द्वारा **अँगरेजी हिन्दी कोष**, एवं हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा **जीव रसायन कोष** तथा **भूतत्व विज्ञान कोष** प्रकाशित हुए हैं। व्यक्तिगत प्रयासों के फलस्वरूप डा० ब्रजमोहन द्वारा **गणितीय कोष**, माहेश्वर सिंह द्वारा **जन्तु विज्ञान शब्दकोष** एवं डा० रघुवीर द्वारा **अँगरेजी-हिन्दी कोष** रचे गये जिन्हें काफी ख्याति प्राप्त हुई है।

९—पत्र-पत्रिकायें : विज्ञान परिषद्, प्रयाग द्वारा सन् १९१४ से **'विज्ञान'** मासिक पत्रिका छपती रही है। भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली से कृषि विषयक दो पत्रिकायें प्रकाशित होती हैं—**खेती** और **धरती के लाल**। कृषि विभाग, उत्तर प्रदेश से **कृषि समाचार**, **पंचायत राज** एवं **कृषि और पशुपालन** नामक कृषि विषयक पत्रिकायें निकलती हैं। भारतीय विज्ञान एवं उद्योग अनुसन्धान परिषद्,

नई दिल्ली से 'विज्ञान प्रगति' का प्रकाशन होता है जिसमें औद्योगिक प्रगति का विहंगावलोकन रहता है। इसके अतिरिक्त इण्डियन प्रेस से **'विज्ञान जगत'** एवं आगरा से **'विज्ञान लोक'** मासिक बालोपयोगी पत्रिकायें निकलती हैं। **'आपका स्वास्थ्य'** एवं **'आयुर्वेद विज्ञान'** स्वास्थ्य सम्बन्धी पत्रिकायें हैं।

ये समस्त पत्रिकायें शोध विषयक निबन्धों से वंचित रहती हैं। हिन्दी में शोध पत्रिकाओं की आवश्यकता की पूर्ति के लिये विज्ञान परिषद्, प्रयाग ने १९५८ ई०से एक **'विज्ञान परिषद् अनुसन्धान-पत्रिका'** प्रकाशित करना प्रारम्भ किया है। राष्ट्र-भाषा के माध्यम से विज्ञान के विविध अंगों में होने वाले शोध से सम्बन्धित मौलिक निबन्धों को प्रकाशित करने वाली यह पत्रिका अपनी कोटि की भारतवर्ष भर में एकमात्र पत्रिका है। इंजीनियरी सम्बन्धी एक पत्रिका इंस्टिट्यूट आफ इंजीनियर्स, दिल्ली से प्रकाशित होती है।

इतना साहित्य उपलब्ध होने पर भी, जैसा कि कहा जा चुका है, स्नातक एवं स्नातकोत्तर कक्षाओं के योग्य वैज्ञानिक साहित्य का हिन्दी में अभाव है। यह अभाव तब तक दूर न हो पायेगा जब तक देश के मूर्धन्य वैज्ञानिक अंग्रेजी छोड़कर हिन्दी का प्रयोग प्रारम्भ नहीं कर देंगे। मौलिक ग्रन्थों की रचना पर बल देते हुए विदेशी भाषाओं में उपलब्ध प्रामाणिक ग्रन्थों के अनुवाद को प्रोत्साहन न देकर अधिकारी विद्वानों से उन ग्रन्थों को लिखाना अपने हित में होगा।

यदि ग्रन्थों का अनुवाद अनिवार्य हो तो उनके अक्षरशः अनुवाद को प्रोत्साहन न देकर भावात्मक अनुवाद को श्रेष्ठता प्रदान करना होगा। अनुवाद में एकरूपता लाने के लिए यह भी आवश्यक है कि स्वीकृत पारिभाषिक शब्दावली को ही अधिकाधिक मान्यता दी जाय। यदि ऐसे शब्द आवें जिनके लिए कोई पारिभाषिक शब्द उपलब्ध नहीं हैं तो नवीन शब्द इस प्रकार गढ़े जायँ जो पूर्व मान्यताओं के अनुसार हों।

पारिभाषिक शब्दावली को लेकर विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कुछ लोग संस्कृतनिष्ठ शब्दों को प्रधानता देते हुए डा० रघुवीर द्वारा संकलित पारिभाषिक कोष को मान्यता प्रदान करने के पक्ष में हैं जबकि दूसरे वर्ग के लोगों का कहना है कि हिन्दी को जान-बूझ कर कठिन न बनाया जाय। वास्तव में कुछ बातों में हमें सूझबूझ के साथ काम लेना होगा। उदाहरणार्थ तत्त्वों के नामों एवं कतिपय प्रतिक्रियाओं को उन्हीं रूपों में जैसा कि अंग्रेजी में पाये जाते हैं बिना सोचे-विचारे ग्रहण कर लेना होगा। सरकार द्वारा निर्मित शब्दावली इसी आधार पर बन रही है। परन्तु एक बार तत्वों को उसी रूप में स्वीकार करने पर उनके संकेतों और सूत्रों के लेखन की जटिल समस्या सामने आती है। 'हिन्दी विश्वकोष' के सम्पादकों ने इस दिशा में साहसपूर्ण कदम उठाकर संकेतों, सूत्रों एवं गणितीय समीकरणों का विशुद्ध हिन्दीकरण प्रस्तुत किया है। उदाहरणार्थ अंग्रेजी में हाइड्रोजन तत्त्व के लिए H और आक्सीजन तत्त्व के लिए O संकेत प्रयुक्त होते हैं। यदि जल को, जो दो हाइड्रोजन और एक आक्सीजन परमाणु के संयोग से बना है, सूत्र द्वारा प्रदर्शित करना है तो अंग्रेजी में H_2O लिखा जावेगा। क्या यह सम्भव है कि हमारे विद्यार्थी लगातार हिन्दी का अध्ययन करते हुए ऐसे संकेतों और सूत्रों को उसी त्वरा से लिख पावेंगे? कभी नहीं। यही कारण है कि उपर्युक्त सूत्र को हम ह२अ या हा२आ लिखना पसन्द करेंगे। परन्तु 'विश्वकोष' की इस नीति का विरोध सरकारी एवं गैरसरकारी स्तर पर हो चुका है और हो रहा है। यह दलील पेश की जाती है कि जर्मन, फ्रेंच, रूसी, जापानी जैसी उन्नत भाषाओं में अंकों, सूत्रों एवं संकेतों को 'अन्तर्राष्ट्रीय रूप' में स्वीकार किया गया है तो क्यों न हिन्दी भी वही रूप अपनाये। फलतः अधिकाधिक वैज्ञानिकों का मत है कि अभी कुछ काल तक हिन्दी के साथ अंग्रेजी के समानार्थी शब्द भी लिखे जायें और गणित, भौतिकी तथा रसायन में प्रयुक्त संकेतों, सूत्रों एवं समीकरणों को

अंग्रेजी में ही लिखा जाय। यही नहीं, विज्ञान के उच्च स्तर को बनाये रखने के लिये अंग्रेजी की शिक्षा अनिवार्य रखी जाय। यह तर्क कुछ अंशों तक ठीक है परन्तु हिन्दी के द्वारा वैज्ञानिक शिक्षा प्रदान करने का मुख्य उद्देश्य ही नहीं पूरा होता यदि हम सभी प्रकार से हिन्दी की अभिव्यंजना शक्ति को विकसित न होने दें।

हिन्दी के सम्बन्ध में सरकारी नीति अत्यन्त लोचशोल है अतः वैज्ञानिकों को अवसर मिलता है है कि वे हिन्दी से दूर ही रहें और अंग्रेजी के ज्ञान द्वारा अपनी महत्ता प्रगट करें। विश्वविद्यालयों में विज्ञान के पठनपाठन में हिन्दी को मान्यता न मिलने का मुख्य रहस्य यही है।

यदि राष्ट्रभाषा के माध्यम से वैज्ञानिक शिक्षा प्रदान की जानी है और राष्ट्र को दृढ़ बनाना है तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि सभी वैज्ञानिक अभिव्यक्तियों के लिए हिन्दी का ही प्रयोग हो। वाह्य जगत से सम्बन्ध बनाये रखने के लिये अंग्रेजी का व्यवहार किया जा सकता है परन्तु देश में प्रारम्भिक कक्षाओं से विश्वविद्यालयों तक हिन्दी का ही व्यवहार करना होगा और शोध सम्बधी समस्त सूचनाओं को हिन्दी में प्रकाशित करना होगा। तभी हिन्दी में पुष्ट एवं प्रामाणिक वैज्ञानिक साहित्य का सृजन सम्भव है।

इलेक्ट्रानों के कुछ विलक्षण उपयोग

अरुण कुमार सक्सेना

आज के युग में आपने इलेक्ट्रॉन तथा प्रोटॉन इत्यादि का अधिक ज्ञान प्राप्त कर लिया है पर इनके विशेष गुणों से शायद आपका घनिष्ठ परिचय न हो। इन इलेक्ट्रॉनों ने अपने विशेष गुणों के कारण इस युग की प्रयोगशालाओं में क्रान्ति ला दी है। बेचारे दुर्बल तथा क्षीण काँच के उपकरणों को अपना बोरा-बिस्तर उठा कर भाग जाने को विवश हो जाना पड़ा। वे दुर्बल उपकरण जिन्होंने इलेक्ट्रॉनों को उन्नति का मार्ग दर्शाया तथा अपने साथ वर्षों कार्य करके निपुण बनाया, अपने भाग्य को कोस रहे हैं और साथ ही साथ अपने उन नवीन काँच के भाइयों को जिन्होंने इनका इस क्रान्ति में साथ दिया। अधिकांश तो चले ही गये है और जो कुछ शेष रह गये हैं वे अपनी आँखों से अविरल आँसुओं की धारा बहा रहे हैं। साथ ही साथ इलेक्ट्रॉनों तथा उनके अत्याचारी साथियों के आचरणों के कारण उनके हृदय से आहें निकल रही हैं।

इलेक्ट्रानों के उत्पादन का वर्णन कुछ संक्षेप में इस प्रकार है।

डाल्टन का मत था कि परमाणु को कणों में विभाजित नहीं किया जा सकता है, परन्तु **लार्ड रदरफोर्ड**, **सर जे० जे० टॉमसन** आदि के अनुसन्धानों ने इस मत का खण्डन कर दिया। इनके आधुनिक अनुसन्धानों ने यह साबित कर दिया कि परमाणु की भी एक निश्चित रचना होती है और यह कई विशेष प्रकार के प्रारम्भिक कणों से मिल कर बना है।

साधारण दाब पर गैसें प्रायः विद्युत की कुचालक प्रतीत होती हैं परन्तु वे वास्तव में न्यून दाब पर सुचालक हो जाती हैं। जब न्यून दाब पर गैसों को बन्द कड़े काँच की नली में जिसे विसर्ग नली कहते हैं रख कर और उसमें विद्युत-विसर्ग किया गया तो 'विसर्ग नली' के ऋणाग्र से एक प्रकार के कणों का पुंज निकलने लगा जिसका गोल्डस्टीन ने

"ऋणाग्र किरणों" के नाम से नामकरण संस्कार किया था। थोड़े समय पश्चात् यह प्रकाश में आया कि ये कण ऋण आवेश रखते हैं। विसर्ग नली में चाहे कोई भी गैस ली जाय तो सदैव ही एक प्रकार के कण निकलेंगे। इसके अतिरिक्त ये कण गरम की हुई धातुओं से, धातुओं पर पराबैंगनी किरणों के प्रभाव से तथा कुछ रासायनिक प्रक्रियाओं से प्राप्त होते हैं। अतः इन सब बातों से यह निष्कर्ष निकला कि ये कण सभी पदार्थों में विद्यमान हैं। ऐसे कणों को इलेक्ट्रॉन के नाम से पुकारते हैं।

इलेक्ट्रॉन का आवेश ऋण विद्युत की इकाई मानी जाती है तथा इसका भार नगण्य होता है। यह प्रायः हाइड्रोजन के परमाणु-भार का लगभग $\frac{1}{1845}$ होता है। इन इलेक्ट्रॉनों के उपयोग से बहुत से उपकरणों का उत्थान हुआ है।

विद्युत चुम्बकीय ताल तथा इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी :

जब इलेक्ट्रॉनों के पुञ्ज को विद्युत तथा चुम्बकीय क्षेत्र से प्रभावित कर किसी स्थान पर केन्द्रित किया जाता है तो वे ताल के सदृश कार्य करने लगते हैं और उनमें ताल के गुण आ जाते हैं। आजकल इस सिद्धान्त का उपयोग अधिकतर आधुनिक सूक्ष्मदर्शी "इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी" के निर्माण में होता है। इस यंत्र का नाभ्यान्तर अत्यन्त न्यून होता है जिसके कारण आवर्धन में आश्चर्यजनक वृद्धि आ जाती है। यह आवर्धन वस्तु तथा वस्तु के प्रतिबिम्ब की लम्बाइयों का अनुपात होता है।

इलेक्ट्रॉनों के पुंज को विद्युतचुम्बकीय तथा केवल चुम्बकीय क्षेत्र से प्रभावित करने के सिद्धान्त को नीचे दिये गये चित्रों से अत्यन्त सरलता से समझा जा सकता है :—

इस इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी से किसी छोटी वस्तु का बिम्ब १००,००० गुना बड़ा देखा जा सकता है जबकि उत्तम से उत्तम काँच के तालों से बने सूक्ष्मदर्शी से केवल २००० गुना बड़ा देखा जा सकता है। इसके इस आश्चर्यजनक विस्तार के कारण पुराने सूक्ष्मदर्शी तो आधुनिक प्रयोगशालाओं के लिए प्रायः बेकार से प्रतीत होने लगे हैं। इलेक्ट्रॉन
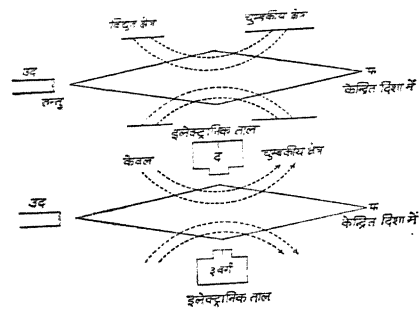
चित्र १

सूक्ष्मदर्शी के सिद्धान्त को नीचे दिए चित्र से अत्यन्त सरलता से समझा जा सकता है—
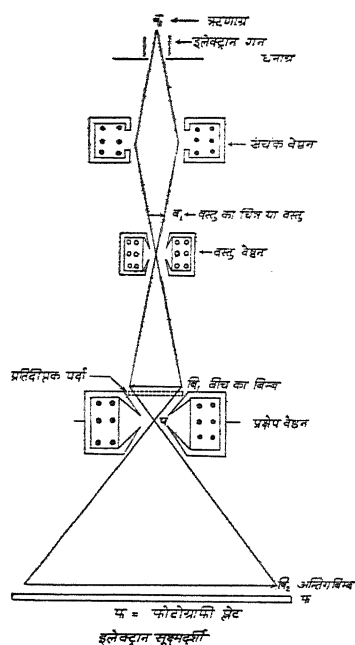
चित्र २

इसमें ऋणाग्र को गरम करने पर इलेक्ट्रॉन निकलते हैं और गोल धनाग्र के बीच से होकर संचक वेष्ठन द्वारा वस्तु वेष्ठन के बीच में केन्द्रित करने के पश्चात् फिर प्रक्षेप वेष्ठन द्वारा इसको पट-केन्द्रित कर इसका फोटोग्राफी प्लेट पर बिम्ब ले लेते हैं। वस्तु को क पर रखते हैं। जब वस्तु का चित्र लेते है तो प्रतिदीप्तक के पर्दा या प्लेट को हटा दिया जाता है।

तापजनित विद्युत :

जर्मनी की राजधानी में सीबेक नामक विज्ञान-वेत्ता-रहता था। उसने १८२६ ई० में सर्वप्रथम तापजनित विद्युत् की खोज की थी। सीबेक ने एक लोहे तथा ताँबे की छड़ को जोड़कर गरम किया और दोनों छड़ों के प्रत्येक सिरे को एक पतले त र द्वारा धारामापक के अलग-अलग संयोजक पेंचों में जोड़ दिया तो देखा कि धारामापक की सुई अपने शून्य स्थान से आगे की ओर बढ़ रही थी। अपने इस प्रयोग से जैसा चित्र ३ में दिखाया गया है यह सिद्ध कर दिया कि दोनों धातुओं में स्वतन्त्र-इलेक्ट्रॉनों का आदान-प्रदान होता है। इस धारा को ताप-जनित विद्युत्-धारा कहते हैं। यह धारा कम संख्या इलेक्ट्रान वाले धातु में बहुसंख्यक इलेक्ट्रॉन वाली धातु स होकर जाती है।

बहुत काल के पश्चात् इसका उपयोग पाइरोमीटर में जो कि १६००° सेंटीग्रेड तक गर्म भट्ठियों के ताप को नापता है, किया गया क्योंकि साधारण पारे वाले तापमापक इस ताप पर अयोग्य सिद्ध हुए। इसमें एक छड़ या तार शुद्ध प्लैटिनम धातु का; दूसरा महीन तार प्लैटिनम-रेडियम धातु अथवा प्लैटिनम-इरीडियम मिश्र धातु का होता है। इनको एक दूसरे से जोड़कर एक पोर्सिलेन की नली में प्रविष्ट कर दिया जाता है और इस नली के खुले सिरे को बिलकुल बन्द कर दिया जाता है। इनके स्वतंत्र सिरे दो संयोजक पेंचों से लगे रहते हैं। इनके साथ मिलीवोल्ट मीटर लगा रहता है जिसका अंशांकन सेंटीग्रेड में किया रहता है। जब कभी भट्ठी का ताप ज्ञात करना होता है तो नली को भट्ठी के अन्दर रख दिया जाता है तथा मिलीवोल्ट मीटर से ताप ज्ञात कर लिया जाता है। (चित्र ४)

चित्र ३

चित्र ४

कैथोड किरण दोलक
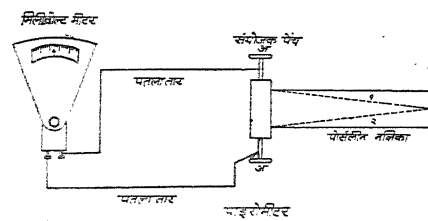
इसका उपयोग अधिकतर टेलीविजन में किया जाता है। गतिमान इलेक्ट्रॉनों का उपयोग इस यंत्र में किया जाता है। ब्रान ने सन् १८६७ में सर्व-प्रथम इसका आविष्कार किया था। इस यंत्र के द्वारा उच्च-आवृति संख्या की दोलनीय धारा, विभव तथा विद्युत्चुम्बकीय तरंगों का अध्ययन सरलतापूर्वक किया जाता है। इसने टेलीविजन के जनक बायर्ड के पुराने ढंग को बिलकुल ही समाप्त कर दिया है।

इस यंत्र की रचना टामसन-नली के समान होती है। इस यंत्र की नली को परम शून्य पर रक्खा जाता है। चौड़े सिरे पर प्रतिदीप्तक लेप, जैसे बेरियम प्लेटिनोसायनाइड पोत दिया जाता है तथा दूसरे सिरे पर एक पतले तार की कुण्डली होती है जिसको एक छोटी बैटरी या सेल से गरम करते हैं। यह कैथोड (ऋणाग्र) के नाम से पुकारा जाता है तथा इसी स्थान से इलेक्ट्रॉन का आविर्भाव होता है। उच्च-

विभव की बैटरी का धनात्मक सिरा गोल चकती पर लगाया जाता है। यही स्थान एनोड (धनाग्र) कहलाता है। विभवान्तर की प्रेरणा से इलेक्ट्रॉन वेगपूर्वक चकती के बीच के छेद से सीधे निकलते हैं। चकती से निकलने के पश्चात् इलेक्ट्रॉनों को दो पट्टी-युग्म के मध्य से, जो कि नली के भीतर जड़ी रहती है और संचक जैसा कार्य करती है, होकर भेजा जाता है। इनमें से प्रथम पट्टिका युग्म का तल तथा द्वितीय पट्टिका युग्म का तल क्रमशः क्षैतिज तथा ऊर्ध्व रहता है। क्षैतिज पर निश्चित आवृति संख्या का विभव तथा ऊर्ध्व पर परिवर्तनीय विद्युत्-विभव लगा दिया जाता है जिसकी आवृति संख्या निकालनी होती है।

क्षैतिज संचक में इलेक्ट्रॉन समूह ऊपर तथा नीचे की दिशा में दोलित होते हैं जिस कारण पर्दे पर प्रदीप्त विन्दु भी ऊपर तथा नीचे की दिशा में दोलित होने लगता है। ऊर्ध्व तल वाले संचक में इलेक्ट्रॉन समूह अगल-बगल क्षैतिज दोलित होते हैं जिससे प्रदीप्त विन्दु क्षैतिज दोलन करने लगता है। दोनों क्षेत्रों के प्रयोग से पर्दे पर एक दोलनीय रेखा बन जाती है जिससे आवृति संख्या अधिक सुविधा से ज्ञात हो जाती है।

चित्र ५ कैथोड किरण दोलक
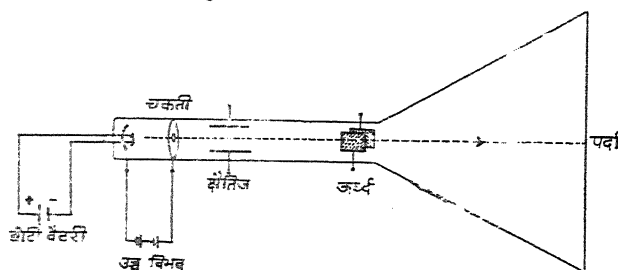
त्रिध्रुवी वाल्व :

डाक्टर फारेस्ट ने इस वाल्व का निर्माण किया था। फारेस्ट ने फ्लेमिङ्ग के वाल्व में एक तीसरा ध्रुव लगाकर इसमें चार चाँद लगा दिये जिसके कारण इसकी उपयोगिता और बढ़ गई। तीसरा ध्रुव, जिसे ग्रिड के नाम से पुकारते हैं, जो जाली के समान होता है, यह फिलामेण्ट (तन्तु) तथा एक बेलनाकार ध्रुव, जोकि एनोड (धनाग्र) कहलाता है, के मध्य में जड़ा रहता है। इस वाल्व के आधार में चार पिन लगे रहते हैं, जिसमें से दो तन्तु या पतले तार की कुण्डी को गरम करते हैं, जिससे इलेक्ट्रॉन निकलते हैं और शेष में प्रत्येक ग्रिड तथा धनाग्र से जुड़े रहते हैं। जैसा कि चित्र ६ में दिखाया गया है।

यह तो पहले से ही ज्ञात है कि इलेक्ट्रान ऋणात्मक होते हैं और धनात्मक एनोड द्वारा आकर्षित होते हैं। जब ग्रिड को धनात्मक रक्खा जाता है तो इलेक्ट्रानों को उसी दिशा में बढ़ने की उत्तेजना अधिकता से प्राप्त होती है तथा वे ग्रिड से अधिक बल लेकर एनोड पर अधिकता से आते हैं
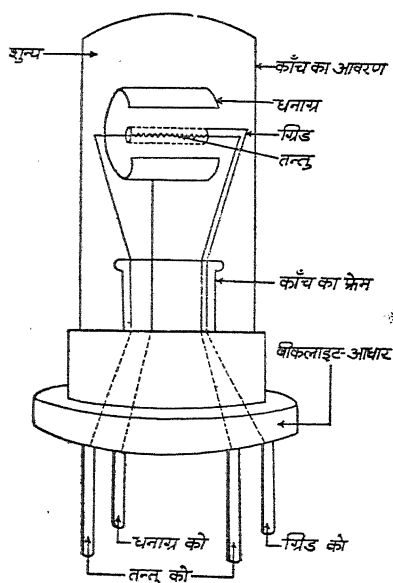
चित्र ६

(शेषांश पृष्ठ १२६ पर)

आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय

विजयेन्द्र रामकृष्ण शास्त्री

" किसी एक ही व्यक्ति में इतने सारे विरोधाभासी गुणों का इतनी उच्चतमकोटि तक विकास हुआ हो ऐसे बहुत कम उदाहरण किसी भी देश के इतिहास में पाये जा सकेंगे। निश्चय ही आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय की जीवनी भारतीय नवयुवकों की जागृति के लिए अत्यंत प्रेरणाप्रद उदाहरण बन सकती है।" ये भावनाएं प्रसिद्ध वैज्ञानिक डा० जे० सी० घोष द्वारा आचार्य राय के प्रति श्रद्धा-सुमन समर्पित करते हुए व्यक्त की गई थीं। कवीन्द्र रवीन्द्र भी उनके संबंध में कहा करते थे कि "इस वृद्ध में, नवयुवकों की प्रच्छन्न विशिष्ट शक्तियों को पहचान कर उन्हें जाग्रत करने की एवं उन्हें कार्यरत कर देने की आश्चर्यजनक प्रतिभा एवं अपूर्व शक्ति है।" ऐसी ही कई विशेषोक्तियाँ देश एवं विदेश की विभूतियों के द्वारा आचार्य राय के संबंध में समय-समय पर की जा चुकी हैं। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि आचार्य राय एक अत्यंत विलक्षण महापुरुष थे। वे न केवल एक महान् वैज्ञानिक ही थे वरन् एक महान् शिक्षक, देशभक्त, समाज सुधारक, साहित्यिक लेखक, दानवीर आदि भी थे।

यद्यपि उनका शरीर अत्यंत क्षीण एवं बाह्य व्यक्तित्व साधारण-सा था लेकिन उसमें एक अत्यंत प्रबल एवं महान आत्मा निवास करती थी। उनके व्यक्तित्व के दीपक में आत्मबल एवं सच्चरित्र की बाती अथाह उत्साह एवं क्रिया-शक्ति के स्नेह वश अखंड रूप से प्रज्वलित रहती थी। इस दीपक ने देश के आर्थिक, औद्योगिक एवं शैक्षणिक तथा वैज्ञानिक आदि क्षेत्रों को तो प्रकाशित किया ही, साथ ही अन्य कई दीपकों की बातियाँ भी प्रज्वलित कीं। जीवन भर वे मन्दाग्नि एवं अशक्ति के शिकार रहे लेकिन वे प्रतिदिन अकेले ही दसों व्यक्ति के बराबर काम करते थे। वे आजन्म ब्रह्मचारी भीष्म पितामह रहे किन्तु उनकी सैकड़ों शिष्य रूपी सन्तानें अन्तरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर भारत के कोने-कोने में फैली हुई हैं। उनकी शिष्य-परम्परा में डा० एन० आर० धर, डा० जे० सी घोष, आदि जैसे कई स्वनामधन्य व्यक्ति रहे हैं। विज्ञान को साहित्य का विरोधी-सा समझा जाता है किन्तु भारत में वैज्ञानिक शोध परम्परा के जन्मदाता, प्रयोगशाला में अहर्निश कार्यरत इस वैज्ञानिक में एक महान् साहित्यिक भी छिपा हुआ था। समय-समय पर प्रकाशित उनकी साहित्यिक पुस्तिकाएं एवं उनके संस्कृत एवं अंग्रेजी कवियों के वार्तालापीय उद्धरण लोगों को प्रभावित किये बिना नहीं रहते थे। वैज्ञानिक होते हुए भी वे कई भाषाओं के तथा अर्थशास्त्र, वाणिज्य एवं इतिहास आदि विषयों के पण्डित थे। लाखों रुपया उन्होंने जीवन में कमाया था परन्तु सर्वस्व दान में दे भी डाला। वे एक बड़े भारी प्रोफेसर एवं उद्योग-संचालक भी थे किन्तु स्वयं रहते थे युनिवर्सिटी कॉलेज की प्रयोगशाला की एक छोटी-सी कोठरी में एवं उनकी व्यक्तिगत पूँजी थी, एक चारपाई, मेज, पुस्तकें, कपड़े एवं सादा भोजन पकाने के कुछ बर्तन। पहनने के कपड़े होते थे हाथ की बुनी हुई खादी की धोती एवं कुरते। वे सर्वदा आत्मसाक्षात्कार में निरत रहते थे किन्तु हिमालय की कन्दरा के एकान्त-साधक योगी नहीं थे वरन् ज्ञान एवं कर्म-योग के साधक, गीता के लोक-संग्राहक थे। विदेशों में उन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी एवं उस संस्कृति के संसर्ग में रहे थे फिर भी उस पंथ में अछूते कमलवत् उनका व्यक्तित्व था। उनका पूरा अन्तः एवं बाह्य

व्यक्तित्व भारतीय महर्षियों के समान था। वे साधारण व्यक्तियों से कल्पनातीत महान् थे फिर भी साधारण थे। साधारणों में घुल-मिल सकते थे।

यह है आचार्य राय की विलक्षणता एवं विरोधाभासी गुणों के विचित्र किन्तु उत्कृष्ट समन्वय की झलक मात्र। वस्तुतः उनके जीवन की प्रत्येक घटना ही दूसरों के लिए प्रेरणा का स्रोत बन जाती थी।

१८५७ की महान् भारतीय जनक्रांति अंग्रेजों द्वारा दबाई जा चुकी थी। स्वतंत्र विकास के एवं आत्मोन्नति के सब द्वार भारतीयों के लिए बन्द हो चुके थे। उन्हें गुलामों से भी हीनतर माना जाने लगा था। ऐसे युग में २ अगस्त सन् १८६१ को आचार्य राय ने पश्चिमी बंगाल के खुलना जिले के रारूली गाँव में एक मध्यम श्रेणी के भारतीय परिवार में श्री हरीशचन्द्रराय के यहाँ जन्म लिया था। बचपन में ही उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर उनके पिता उच्च शिक्षणार्थ उन्हें १८७० में कलकत्ता ले आये। यहाँ कुछ दिनों अध्ययन करने के बाद सन् १८७४ में आचार्य राय भयङ्कर उदर रोग से पीड़ित हो गये एवं दो साल के लिए इन्हें विद्यालय छोड़ देना पड़ा। किन्तु इस ज्ञानपिपासु ने इस रोग के समय भी अत्यन्त संयमित रह कर रोग पर तो विजय प्राप्त कर ही ली साथ ही अपने विद्वान् पिता से इङ्गलिश, फ्रेंच, लैटिन, संस्कृत एवं बङ्गला भाषाएँ सीख डालीं। कृषिशास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहास एवं विज्ञान, इन्होंने स्वाभिरुचिवश पढ़ डाले। दो साल बाद इन्होंने पुनः विद्यालय में प्रवेश किया एवं १८८१ में एफ. ए. परीक्षा उत्तीर्ण कर ली। यद्यपि ये कला के विद्यार्थी थे किन्तु केवल मात्र अभिरुचि वश वे प्रेसिडेंसी कॉलेज कलकत्ता में डा० पैडलर के वैज्ञानिक व्याख्यान एवं प्रयोग-प्रदर्शनों में भी उपस्थित रहने लगे। घर आकर ये स्वयं वैज्ञनिक प्रयोग करते थे। एक बार दुर्घटना भी घटी किन्तु इनका उत्साह भंग नहीं हुआ एवं बी० ए० में तो इन्होंने विज्ञान विषय ही ले लिया। इन्हीं दिनों ये गिलक्राइस्ट स्कॉलरशिप के लिए हुई प्रतियोगिता-परीक्षा में सम्पूर्ण भारत में द्वितीय क्रमांक प्राप्त कर विदेश के एडिनबरा विश्वविद्यालय में उच्च अध्ययन हेतु चले गये। वहाँ प्रसिद्ध वैज्ञानिक क्रमब्राउन के आचार्यत्व में इन्होंने क्रमशः B.Sc. एवं D.Sc. उपाधियाँ प्राप्त कर लीं। इतिहास में पाश्चात्य विश्वविद्यालयों से D.Sc. उत्तीर्ण होने वाले भारतीयों में इनका दूसरा क्रमांक है। विदेशी विश्वविद्यालय में ये अत्यन्त सादगी से रहते थे। कुछ ही पेनी में हो सकने वाला कृषक स्कॉट विद्यार्थियों का सादा भोजन एवं रहन-सहन के व्यय का तरीका इन्हें पसन्द आता था। इनका सिद्धान्त यही रहा कि गरीबी के वातावरण में रहकर ही ठोस ज्ञान एवं विद्या प्राप्त की जा सकती है। धनवानों के बच्चों को भी कठोरता एवं संघर्ष का जीवन बिताना चाहिये। ये एडिनबरा विश्वविद्यालय की रसायन-समिति के अध्यक्ष भी चुने गये थे तथा अपने सहपाठियों में मान्य थे। इनके सभा सहपाठी प्रतिभावान थे एवं कुछ तो बाद में विश्वप्रसिद्ध वैज्ञानिक भी बने। विद्यार्थी जीवन में ही इनके निडर एवं क्रांतिकारी तथा देश-भक्त व्यक्तित्व का आभास मिल चुका था। इन्होंने "१८७५ के पूर्व एवं बाद का भारत" विषय पर हुई निबंध प्रतियोगिता में सोत्साह भाग लेकर अत्यंत परिश्रम से एक निबंध लिखा था जिसमें अंग्रेजों की स्पष्ट एवं कटु आलोचना थी। यद्यपि इससे तहलका मच गया एवं परीक्षक चिढ़ गये फिर भी साहित्य एवं परिश्रम की दृष्टि से इनका निबंध मुक्तकंठ से सराहा गया था।

सन् १८८८ में ये भारत लौटे एवं सन् १८८९ में इन्होंने प्रेसिडेन्सी कालेज कलकत्ता में डा० पैडलर के अन्तर्गत नाम मात्र के ५० रु० मासिक वेतन पर प्राध्यापक-पद सिर्फ इसलिए स्वीकार कर लिया कि यहाँ उन्हें अनुसंधान की सुविधा थी। इन्होंने स्वान्तः स्फूर्ति से ही अपने आराम के समय में घी-दूध की मिलावट पर वैज्ञानिक प्रयोग करना प्रारंभ कर दिया एवं अत्यंत महत्त्वपूर्ण परिणाम प्रकाशित किये। विरोधों और आलोचनाओं को सहते हुए कॉलेज

की साधनहीन प्रयोगशाला में भी सन् १८९३ में इन्होंने मरक्यूरस नाइट्राइट नामक पदार्थ बना कर एवं उसके गुण-धर्मों पर प्रकाश डाल कर सम्पूर्ण वैज्ञानिक जगत् को चमत्कृत कर दिया, क्योंकि तब तक सभी वैज्ञानिक इस पदार्थ की रचना असंभव-सी समझते थे। इन्होंने अपने ८२ वर्ष के जीवन में १५० से भी अधिक छोटी-मोटी खोजें कर उन पर विश्व की मान्य वैज्ञानिक पत्रिकाओं में शोध-लेख प्रकाशित किये थे। वैज्ञानिक खोज के ये बड़े दीवाने थे। इनका अधिकतम समय प्रयोगशाला में ही व्यतीत होता था। प्रेसिडेन्सी कॉलेज से सेवा-निवृत्त होने पर इनसे राजशाही कॉलेज बंगाल के प्रिंसिपल का पद ग्रहण करने का निवेदन किया गया था, किन्तु इतने अधिक सम्मान, अधिकार एवं वेतन का पद इन्होंने केवल इसलिए अस्वीकार कर दिया कि वहाँ इन्हें वैज्ञानिक शोध की सुविधा प्राप्त होनी संभव नहीं थी।

वे एक अत्यंत मनोरंजक एवं विद्वत्तापूर्ण शैली से पढ़ाने वाले आचार्य भी थे। वैज्ञानिकों की जीवनियों से प्रेरक उदाहरण, उनकी कठिनाइयों तथा उनकी निवृत्ति के प्रकार का विवरण बता कर तथा स्वयं प्रयोग कर सभी विद्यार्थियों में वे विज्ञान के प्रति उत्कट अभिरुचि जाग्रत कर देते थे। कई विद्यार्थियों को I.E.S. बनने के उद्देश्य से हटा कर अपने व्यक्तित्व के आकर्षण एवं प्रभाव द्वारा विज्ञान का D.Sc. बना दिया था। इनके पास शनैः-शनैः अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि विद्यार्थियों का झुंड का झुंड रहने लगा। इनके अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त शिष्यों के संबंध में तो पहले ही लिखा जा चुका है। प्रेसिडेंसी कालेज कलकत्ता से निवृत्त होकर ये युनिवर्सिटी कालेज ऑफ साइन्स में पालित प्रोफेसर के सम्मानित पद पर नियुक्त हो गये थे। वहाँ ६० वर्ष की वय पूर्ण होने पर इन्होंने पद-त्याग की इच्छा प्रगट की किन्तु कार्य-कारिणी समिति के अनुरोध पर इन्होंने इस पद पर पाँच साल और बने रहना स्वीकार किया, केवल इस अनुबंध पर कि इनका पूरा वेतन महाविद्यालय एवं रसयान शास्त्र के विकास में लगाया जायेगा। पाँच साल बाद उनकी यह वित्त-राशि दो लाख से भी ऊपर हो चुकी थी। इन्होंने सन् १९२४ में १२००० रु० का दान देकर "इंडियन केमिकल सोसायटी" की स्थापना की थी। इस संस्था का भारतीय-रसायन-शोध-परम्परा में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। आचार्य द्वारा संस्थापित एवं संपुष्ट यह संस्था आज विश्वगत मान्यता को प्राप्त है। इस संस्था की ओर से आचार्य की हीरक जयन्तियों आदि के अवसर पर कई विशेष सम्मान के कार्यक्रम किये जा चुके हैं।

देश की उन्नति में विज्ञान एवं उद्योगों का महत्त्व आचार्य अल्पायु में ही समझ चुके थे। उनका सर्वदा यही मत रहा कि स्वस्थ एवं शिक्षित भारतीय नवयुवकों को नौकरियों की ओर दौड़ने की प्रवृत्ति पूर्णतः त्याग देनी चाहिये। स्वतंत्र उद्योग-धंधों से एवं अथक परिश्रम से ही व्यक्ति, समाज एवं देश की उन्नति को वे संभाव्य मानते थे। बंगाल के कई बड़े-बड़े उद्योग-संचालक उनसे ही उद्बुद्ध हुए थे एवं कई उनसे सहायता एवं सतत मार्ग-दर्शन प्राप्त कर आज बड़े आदमी बन गये हैं। वस्तुत. उन्होंने स्वयं ही ८०० रु० की छोटी-सी पूँजी से १८९३ ई० में अपने घर में ही "बंगाल केमिकल एण्ड फार्मास्युटिकल वर्क्स" की स्थापना की थी। अपने वेतन का अधिकतम भाग वे इसी के विकास में लगाते थे। उन्हें व्यक्तिगत लाभ की चिन्ता ही नहीं थी। सन् १९०२ में ही इस संस्था की पूँजी दो लाख रुपये हो गई थी एवं इसे लिमिटेड कर दिया गया था। कई वैज्ञानिक एवं विदेशी इसकी कार्य-प्रणाली देखने आते थे एवं आचार्य राय की प्रशासन एवं संचालन-शक्ति की मुक्त-कंठ से प्रशंसा करते थे। आज उनके द्वारा संस्थापित यह कारखाना न केवल भारत में ही वरन् सम्पूर्ण विश्व में प्रसिद्ध है।

लेकिन आचार्य राय ने अपने को केवल विज्ञान एवं उद्योग के क्षेत्रों में ही सीमित नहीं कर लिया था। विद्यार्थी जीवन में विज्ञान के अध्ययन के

कारण बलात् अवरुद्ध उनका साहित्यिक कवि, इतिहासज्ञ एवं क्रांतिवादी अंतर्मन उन्मुक्त हो उठा एवं समय-समय पर उनके "परिश्रम एवं सफलता" "निबन्ध एवं विचार" जैसे ग्रंथ प्रकाशित होने लगे। बंगाली प्रतिभावान् युवकों का निरर्थक आलस्य एवं समय गँवाना उन्हें बहुत दुःखदायी होता था। अतः इस निडर लेखक ने "बंगाली मस्तिष्क का दुरुपयोग" नामक कटु आलोचनापूर्ण ग्रन्थ लिखकर सबकी आँखें खोल दीं। उन्होंने अपने जीवन में स्वाध्याय, शैक्षणिक कार्य, साहित्य-साधना, उद्योग-संचालन एवं वैज्ञानिक-प्रयोग कार्यों का आदर्श सामञ्जस्य कर रखा था। विज्ञान के क्षेत्रों में पाश्चात्य इतिहास-लेखकों द्वारा भारतीयों को कोई स्थान नहीं दिया जाता था। उनका आत्मगौरवी मन अपनी सत्य वरिष्ठता सिद्ध करने को आतुर हो उठा और १४ वर्षों के सतत परिश्रम के पश्चात् उन्होंने "ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दू केमिस्ट्री" ग्रंथ प्रकाशित किया जो इस विषय पर आज विश्वगत मान्यता प्राप्त ग्रन्थ है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक वर्थेलो ने जिससे इन्होंने प्रेरणा प्राप्त की थी इस ग्रन्थ को खूब सराहा। एडिनबरा विश्वविद्यालय से उन्हें इस ग्रन्थ पर डी० एस-सी० की उपाधि भी प्रदान की गई। इनकी आत्मकथा "द लाइफ एन्ड एक्सपीरियन्सेस ऑफ ए-बंगाली केमिस्ट" ने भारतीय एवं पाश्चात्य युवकों को बहुत प्रभावित किया था। प्रसिद्ध वैज्ञानिक एच० ई० आर्मस्ट्राँग ने "नेचर" नामक विख्यात विदेशी पत्रिका में इसकी समालोचना लिखते हुए व्यक्त किया था कि "ग्रन्थ क्या है मानों अथाह आत्मबल एवं अथक परिश्रम-शक्ति से समन्वित प्रतिभावान वैज्ञानिक के अनुभवों का प्रेरणाप्रद संदेश एवं सार।"

यद्यपि आचार्य के कार्य ही स्वयं उनके पुरस्कार एवं सम्मान थे किन्तु फिर भी उन्हें स्वाभाविक रूप से बाह्य सम्मान भी अत्यधिक प्राप्त हुए। उनकी सेवाओं एवं साधना के आगे ब्रिटिश शासन को भी झुकना पड़ा। १९११ई० में ही उन्हें मानद C I.E. बना दिया गया था तथा १९१७ में उन्हें 'नाइट' की उपाधि भेंट की गई। १९१२ ई० एवं १९१४ में वे कलकत्ता विश्वविद्यालय एवं भारतीय शासन के प्रतिनिधि के रूप में यूरोप के शैक्षणिक दौरे पर गये एवं राष्ट्रसंघीय विश्वविद्यालय सम्मेलन में भाग लिया। इनके बाद भी दो तीन बार और वे विदेश भेजे गये एवं वहाँ की सभाओं में ये अंग्रेज-शासन की स्पष्ट आलोचना करने में झिझके नहीं। इंडियन साइंस कांग्रेस के ये अध्यक्ष चुने गये थे एवं 'लंदन कैमिकल सोसायटी' तथा 'डच विज्ञान संसद्' के वे मानद सदस्य बनाये गये थे। कलकत्ता, बनारस एवं ढाका विश्वविद्यालयों द्वारा इन्हें मानद डी. एस-सी. उपाधियाँ प्रदान की गई थीं। कई बार इन्होंने महत्त्वपूर्ण दीक्षान्त भाषण दिये थे।

व्यवसाय से आचार्य राय एक रसायनशास्त्री एवं शिक्षक थे तथा स्वाभाविक झुकाव से एक उद्योगपति थे किन्तु हृदय से वे एक महान् देशभक्त, समाजसेवी, दानवीर एवं महर्षि थे। जब-जब बंगाल पर आपत्तियाँ आईं एवं जनता पर दुर्दैव का प्रकोप हुआ वे अविलम्ब प्रयोगशाला छोड़ कर अपने शिष्यों सहित कलकत्ते की सड़कों पर झोली लिये, भजन गाते हुए निकल पड़ते थे। उनकी झोली में सहायता एवं दान की झड़ी लग जाती थी। उनके आह्वान पर जनता आन्दोलित हो उठती थी। सुभाषचन्द्रबोस ने भी उनके साथ बंग-कष्ट-निवारण समिति में कार्य किया था एवं उनसे प्रेरित हुए थे। लगभग एक लाख रुपया उन्होंने गरीबों, निर्धन विद्यार्थियों एवं विधवाओं को दान दे डाला था। राष्ट्रीय आन्दोलनों में भी उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा था। देशबन्धु सी.आर. दास के साथ ही कलकत्ते की आम सभा में भाग लेते हुए उन्होंने कहा था कि किसी भी राष्ट्रीय सेवा के अवसर पर वे अपनी टेस्ट ट्यूब एवं प्रयोगशाला छोड़ कर आन्दोलनों में कूद पड़ने से नहीं झिझकेंगे। उन्होने १९१९ई० से ही चरखा-व्रत प्रारम्भ किया जो कि अन्त समय तक चलता रहा। कहते हैं कि गाँधी जी के पूर्व ही

बंगाल में वे चरखा प्रारम्भ करवा चुके थे। उत्तर प्रदेश एवं बंगाल की खादी संस्थाएं उनके द्वारा विकसित हुई थीं।

वस्तुतः आचार्य राय के संबंध में जितना भी कहा जाय थोड़ा ही है। हम उन्हें निस्संदेह राजा राममोहन राय एवं स्वामी विवेकानन्द आदि की श्रेणी में रख सकते हैं, क्योंकि भारत की वैज्ञानिक, औद्योगिक एवं शैक्षणिक क्रान्ति के क्षेत्र में वे भी युग द्रष्टा थे, युग-प्रवर्तक थे, युग-स्रष्टा थे।

(शेषांश पृष्ठ १२४ का)

जिस कारण धारा में प्रबलता आ जाती है। इसके विपरीत यदि ग्रिड ऋणात्मक रक्खा जाये तो धारा क्षीण हो जाती है। यदि ग्रिड का विभव शून्य होता है तो यह वाल्व डायोड वाल्व के सामान कार्य करता है।

त्रिध्रुवी वाल्व के उपयोग :

(१) रेडियो तरगों या रेडियो सेट में
(२) क्षीण धारा को प्रबल बनाने में
(३) प्रत्यावर्ती धारा के उत्पादन में

किन्तु आज के युग में यह भी प्रायः समाप्त-सा होता जा रहा है क्योंकि इनका स्थान ट्रांजिस्टरों ने ले लिया है।

इलेक्ट्रॉनों के दिये गये प्रयोगों के अतिरिक्त अनेक उपकरण हैं जो कि केवल इलेक्ट्रॉन से सम्बन्ध रखते हैं। प्रयोजन यह है कि इलेक्ट्रनों की सहायता से मनुष्य पृथ्वी तथा ब्रह्माण्ड के रहस्यों को खोल कर रख देने की प्रेरणा पा रहा है।

●

(शेषांश पृष्ठ १४४ का)

उन्होंने 'विज्ञान' को लोकप्रिय बनाने एवं **'अनुसन्धान पत्रिका'** के सर्वत्र स्वागत होने के सम्बन्ध में भी अपने विचार प्रस्तुत किये। परिषद् के सदस्य उनके सुझावों एवं आर्थिक विषय में उनके अश्वासनों के प्रति आभार प्रकट करते हैं।

हिन्दी के माध्यम से विज्ञान परिषद् की वैज्ञानिक-सेवा छिपी नहीं है। प्रायः सभी चोटी के लेखक यहीं से लिखना सीखे हैं। परिषद् को गर्व है कि वह निर्भीकता पूर्वक वैज्ञानिक जगत् में हिन्दी की स्थापना एवं उसकी समुचित प्रतिष्ठा पर सदैव से ही बल देती रही है। उसके स्वप्नों के साकार होने में अब **अधिक** विलम्ब नहीं है।

●

सार संकलन

१. कैन्सर के उपचार में रेडियोसक्रिय आइसोटोप

आजकल कैन्सर का उपचार करने के लिये रेडियोसक्रिय आइसोटोपों का बड़े पैमाने पर अधिकाधिक प्रयोग किया जा रहा है। अणुशक्ति के उत्पादन के साथ-साथ गौण पदार्थ के रूप में रेडियोसक्रिय आइसोटोपों की भी उत्पत्ति होती रहती है। इस कार्य के लिए जो रेडियो-आइसोटोप प्रयोग में लाये जाते हैं, वे सब अमेरिकी अणुशक्ति कमीशन की ओकरिज (टैनेसी) स्थित, 'ओकरिज नेशनल लेबोरेटरी' में उत्पन्न होते हैं। १९४६ में सर्वप्रथम न्यून मात्रा में रेडियोसक्रिय आइसोटोप अन्य स्थान को भेजे गये थे। वे कैन्सर सम्बन्धी अनुसन्धान कार्य के लिए सेण्ट लुई (मिसूरी) में स्थित बरनार्ड फ्री स्किन एण्ड कैन्सर हास्पिटल को भेजे गये थे उसके बाद के वर्षों में संसार के सभी भागों में चिकित्सकों द्वारा भारी मात्रा में रेडियो आइसोटोपों का प्रयोग किया गया है।

कोबाल्ट नामक तत्त्व से तैयार होने वाले रेडियो-सक्रिय कोबाल्ट ने कैन्सर के बाहरी उपचार में प्रयोग किये जाने के लिए बहुत हद तक रेडियम का स्थान ले लिया है। रोगों का निदान करने के लिए अब रेडियोसक्रिय कोबाल्ट तथा एक्स-रे यन्त्र में महत्त्व-पूर्ण होड़ चल रही है। रेडियम की तुलना में अधिक सस्ता होने के अतिरिक्त, प्रयोग की दृष्टि से भी रेडियो-कोबाल्ट का प्रयोग अधिक सरल तथा अधिक निरापद है। साथ ही रेडियो-कोबाल्ट तथा अन्य रेडियो-आइसोटोपों का एक यह भी लाभ है कि आवश्यक विकिरण के लिए रेडियम की तुलना में कम मात्रा में रेडियो-कोबाल्ट अथवा अन्य रेडियो-आइसोटोप प्रयोग में आते हैं।

१९४८ में सर्वप्रथम अणुशक्ति कमीशन के वैज्ञानिकों ने कैन्सर के उपचार में रेडियो-सक्रिय कोबाल्ट का प्रयोग किये जाने का सुझाव दिया था। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम यह विचार आया था कि रेडियम रखने के स्टैण्डर्ड यन्त्र में रेडियम के स्थान पर रेडियो-सक्रिय कोबाल्ट रखा जाये। इस विचार को अपना लिये जाने के पश्चात्, १० क्यूरी कोबाल्ट को १०० क्यूरी कोबाल्ट में और तत्पश्चात् १,००० अथवा और अधिक क्यूरियों में बदला गया। किसी भी रेडियो-सक्रिय पदार्थ की उतनी मात्रा एक क्यूरी कहलाती है जो समान समय में उतनी ही संख्या में अल्फा-किरणें उत्सर्जित करती है जितनी कि एक ग्राम रेडियम द्वारा।

'ओकरिज इन्स्टीट्यूट ऑव न्युक्लियर स्टडीज़' के चिकित्सा विभाग द्वारा रेडियोसक्रिय कोबाल्ट के प्रयोग के विषय में विस्तृत अध्ययन किया गया और १९५० में कैन्सर के बाह्य उपचार के लिए प्रथम कोबाल्ट यूनिट तैयार की गयी। १९५१ तक प्रथम यूनिट उपलब्ध हो गयी थी और उसका नियमित रूप से प्रयोग होने लगा था।

उसके बाद से अब तक, अमेरिका में अलग-अलग २०० रेडियोसक्रिय कोबाल्ट यूनिटें तैयार की गयी हैं और अब अनेक प्रमुख अस्पतालों में रेडियोसक्रिय कोबाल्टका बहुत अधिक प्रयोग होरहा है।

रेडियोसक्रिय कोबाल्ट द्वारा कैन्सर के आन्तरिक उपचार की विधि "इम्प्लान्टेशन थेरेपी" के नाम से प्रसिद्ध है।

रेडियो कोबाल्ट बीटा कण तथा पर्याप्त शक्तिशाली गामा किरणें उत्सर्जित करता है। बीटा कणों को रोकने के लिए रेडियो कोबाल्ट की छोटी सुइयों को स्टैण्डर्ड रेडियम सुइयों के समान धातु द्वारा

टक दिया जा सकता है। गर्दन आदि के पिछले भाग में उत्पन्न रसौलियों के उपचार के लिए विशेष आकार की कोबाल्ट सुइयों का प्रयोग किया जाता है।

अमेरिकी अणुशक्ति कमीशन के अरगोन कैन्सर रिसर्च अस्पताल में तीन प्रकार के ऐसे कैन्सरों—मस्तिष्क, फेफड़ों तथा सर्व किण्वी के कैन्सरों—का उपचार करने के लिए रेडियो आइ-सोटोपों का प्रयोग किया जा रहा है, इनका उपचार विशेष रूप से कठिन होता है।

फेफड़े तथा मस्तिष्क में विकिरण द्वारा कैन्सर का उपचार करने के लिये वक्षस्थल तथा मस्तिष्क में प्लास्टिक के ऐसे थैले पहुँचा दिये जाते हैं, जिसमें रेडियोसक्रिय सीज़ियम तत्व होता है। सर्व किण्वी के कैन्सर का उपचार करने के लिए प्लास्टिक के ऐसे ट्यूबों का प्रयोग किया जाता है, जिनमें रेडियो सक्रिय आयोडीन होता है।

अमेरिकी अणुशक्ति कमीशन की ब्रुकहैवन नेशनल लेबोरेटरी में मस्तिष्क की रसौलियों का उपचार करने की एक अन्य विधि का विकास किया गया है। इस विधि के अन्तर्गत रेडियोसक्रिय बोरन का प्रयोग किया जाता है। इससे रोगियों की आयु काफी बढ़ गयी है।

इस विधि के अन्तर्गत सुई द्वारा रोगी के सिर में बोरन प्रविष्ट कर दिया जाता है। फिर न्यूट्रॉनों की सहायता से रसौली के भीतर बोरन को रेडियो-सक्रिय बना दिया जाता है, जिसके परिणामस्व-रूप रोग-विनाशक किरणों का विसर्जन आरम्भ हो जाता है। चूँकि इस विधि से मस्तिष्क का केवल क्षतिग्रस्त स्थान ही प्रभावित होता है, इस-लिए यह विधि बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुई है।

कैन्सर के उपचार के लिए द्रव पदार्थ में मिश्रित रेडियो-सक्रिय तत्त्व बड़े ही उपयोगी सिद्ध हुए हैं। इनको तीन प्रकार से—नाड़ी में सुई लगा कर, रसौली में सुई लगा कर तथा शरीर में विभिन्न छिद्रों में प्रविष्ट करके—इनका प्रयोग किया जाता है।

इस समय चिकित्सक लोग रसौली के उपचार के लिए रेडियोसक्रिय स्वर्ण-कणों का प्रयोग कर रहे हैं। चिकित्सक लोग इस विषय में सहमत हैं कि इस उपचार से अनेक रोगियों को लाभ पहुँचता है। किन्तु अभी तक इस विषय में कोई ऐसा उदा-हरण देखने में नहीं आया है जिससे यह कहा जा सके कि इस उपचार से रोगी की आयु बढ़ जाती है।

२. मस्तिष्क शोथ का नया इलाज

मस्तिष्क शोथ एक भयंकर विकार है। रोगी के लिए यह प्रायः घातक सिद्ध होता है। यह अनेक कारणों से उत्पन्न हो सकता है जैसे: आघात, सिर की चोट, बहुत जल जाना, अत्यधिक रक्तस्राव। वैज्ञानिक बहुत दिनों से इस रोग के विरुद्ध लड़ने के लिए साधनों की खोज में रहे हैं।

मस्तिष्क शोथ के लक्षण: चोट के कारण रक्तसंचार में बाधा पैदा हो जाती है जिसके कारण कार्बन-डाइ-ऑक्साइड गैस को बाहर निकालने तथा ऑक्सिजन गैस को अंगप्रत्यंगों तक पहुँचाने में बाधा पड़ जाती है। और कौन नहीं जानता कि सारे शरीर में ऑक्सिजन की सबसे अधिक आवश्यकता मस्तिष्क को होती है? ऑक्सिजन की कमी के साथ ही मस्तिष्क में शोथ पैदा हो जाता है। ऑक्सिजन की अनुपस्थिति में मस्तिष्क के सूक्ष्म तन्तु (कोशिकाएँ) स्पंज की तरह फूल जाते हैं।

मस्तिष्क की कोशिकाओं में से इस अतिरिक्त पानी को निकालने के लिए जलीय तत्त्व की अधिकता से कोशिकाओं को फुला दिया है। उनके फुलाव का दबाव रक्तवाहिनियों पर पड़ता है जिससे पैदा हुई रुकावट के कारण शिराओं के रक्त का मस्तिष्क पर दबाव बढ़ता जाता है। इसका दुष्प्रभाव हृदय तथा फेफड़ों की जीवन के लिए आवश्यक क्रियाओं पर पड़ने लगता है। सिर के अन्दर बनते और बढ़ते हुए इस भयावह दबाव को दूर करने के लिए किसी समय में कभी खोपड़ी की हड्डियों में छेद करने की विधि बरती जाती थी। लेकिन पिछली कुछ दशाब्दियों से इसका प्रयोग बन्द है।

नमक के घोल को सूची वेध द्वारा शिराओं में

प्रविष्ट करने का तरीका भी एक समय इस रोग के नये उपचार के रूप में प्रचलित हुआ था। यह तथा-कथित जलापकर्षण उपचार के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें नमक की अतिरिक्त घनता पानी को तन्तुओं से खींचकर बाहर निकालने का साधन बनती है। इसे अब भी काम में लाना पड़ता है लेकिन जिन रोगियों को यह लाभ नहीं पहुँचाता उनके लिए क्या किया जाय? अभी तक इसका कोई जवाब नहीं मिला है।

अब एक नया विचार पैदा हुआ है और जैसाकि प्रायः होता है, यह नया विचार अत्यन्त साधारण दीखता है। आश्चर्य होता है कि यह विचार इससे पहले किसी को क्यों नहीं सूझा? कुछ ही समय पहले की बात है कि व्लादीवोस्तोक के चिकित्सा संस्थान में शरीर-विकृति-विज्ञान विभाग के अध्यक्ष श्री एस० पावोलोत्स्को आपत्काल में खून के बदले मानव शरीर में प्रविष्ट किये जाने वाले द्रवों पर परीक्षण कर रहे थे। उनका ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट हुआ कि लेमिनेरिया वर्ग की कोम्बू नामक वनस्पति में उपस्थित एल्गीनिक अम्ल नाम का यौगिक मनुष्य की रक्तवाहिनियों में टिक रहता है।

२५० ग्राम सूखा कोम्बू लगभग पाँच लिटर जल को चूस सकता है। और यह सब कोम्बू में उपस्थित एल्गीनिक अम्ल के कारण होता है। अतः इस वैज्ञानिक ने प्रश्न किया।

अगर ऐसा है तो कोम्बू मस्तिष्क शोथ की चिकित्सा के लिए एक आश्चर्यजनक औषधि क्यों नहीं सिद्ध हो सकती :—

एक के बाद एक परीक्षण होने लगे। पहले-पहल परीक्षण उन अंगों पर किये गये जो शरीर से अलग कर लिये गये थे। एक द्रव में नीला रंग मिलाकर एक बिल्ली के आमाशय में भर दिया गया। इस आमाशय को एक ऐसे बर्तन में रखा गया जो एल्गीनिक अम्म से भरा था। तन्तुओं की झिल्लियों में से और फिर रक्तवाहिनियों की दीवारों में से खींचकर एल्गीनिक अम्ल इस द्रव को बाहर निकाल लाया। एक प्रबल साधन की तरह इसका आचरण रहा। परन्तु अम्ल तो आखिर अम्ल ही ठहरा। शरीर के अंगों पर इसका कोई दुष्प्रभाव न होता हो, सो बात नहीं थी। सबसे पहले तो यह हृदय के कार्य को ही मन्द कर देता।

ऐसी अवस्था में कुछ और भी खोज करनी आवश्यक थी। कितने ही परीक्षण हुए और कितनी ही असफलताएँ हुईं लेकिन नये-नये अनुसन्धान होते ही गये और अन्त में एक पदार्थ तैयार हुआ जिसे कोम्बू का छान कहा जाता है। एल्गीनिक अम्ल इस छान का भी एक अंग है। लेकिन इस छान में वह क्लोरोफिल, आयोडीन, प्राकृतिक लवणों, प्रोटीनों तथा बहुविधि विटामिनों जैसे सह्यात्रियों (स्पुतनिकों) से घिरा रहता है। इन सह्यात्रियों की उपस्थिति में एल्गीनिक अम्ल शरीर के अंग-प्रत्यंग को हानि नहीं पहुँचा सकता। एक मिश्रित अवस्था में रहते हुए यह सब तत्त्व अनुकूल प्रभाव पैदा करते हैं।

यह छान प्रथम दो घण्टों में विशेष प्रभाव पैदा करता है। बड़ी तेजी के साथ मस्तिष्क तन्तुओं से द्रव भाग को ऐसे बाहर फेंकने लगता है जैसे कोई पम्प काम कर रहा हो। जब पहला जल सोख लिया जाता है शरीर स्वयं चिकित्सक का एक महान् सहायक बन जाता है और रोग के विरुद्ध संघर्ष में कूद पड़ता है। हृदय की क्रिया भी चिकित्सक की सहायता को आ पहुँचती है। रक्त का संचार सुधरने लगता है। रक्त में ऑक्सीजन की मात्रा बढ़ने लगती है और मस्तिष्क का शोथ घटने लगता है।

जब वैज्ञानिकों ने इस भयंकर विकार के उप-चार की यह सम्भावना देख ली तो उन्होंने जानवरों के शरीरों से पृथक् किये हुए अंगों पर परीक्षण बन्द कर दिये और जीवित जानवरों पर परीक्षण प्रारम्भ कर दिये। प्रयोगशाला के कार्यकर्ताओं ने कुत्तों पर मानवशरीर के विकार जैसी अवस्थाएँ पैदा करने के परीक्षण किये। एक कृत्रिम आघात द्वारा कुत्ते के मस्तिष्क में मस्तिष्क शोथ पैदा किया गया और

तत्काल वैज्ञानिक कोम्बू के छान द्वारा उस शोथ का उपचार करने में जुट गये।

३: उत्तरी ध्रुव का अन्वेषण

आज से पच्चीस साल पहले २१ मई सन् १९३७ के दिन समग्र विश्व ध्रुवीय प्रदेशों के सोवियत अन्वेषणों की नयी विजय की खबर सुनकर आश्चर्य-चकित हो गया था। उस दिन वायु अभियान का प्रमुख यान ओ० वाई० श्मिद् के नेतृत्व में भूमण्डल की हिमाच्छादित चोटी के निकट उत्तरी ध्रुव के क्षेत्र में उस बहती हुई बर्फ पर उतरा था जहाँ पृथ्वी की तमाम मध्याह्न सूचक रेखाएँ एक अदृश्य किरण में विलीन हो जाती हैं। सर्वप्रथम सोवियत वैज्ञानिकगण उत्तरी ध्रुव प्रदेश के मध्यवर्ती स्थान में जाकर उतरे थे। उनका आधारभूत कार्य था उत्तरी ध्रुव के केन्द्र-स्थान में चार बहादुर व्यक्तियों आई० डी० पापानिन, पी० पी० शीरशोव, ई० के० फ्योदोरोव, और ई० टी० क्रन्केल को लेकर वहाँ एक वैज्ञानिक अनुसंधान-केन्द्र का संगठन करना। चार जनों के इस दल ने अपने हिमशिविर में नौ माह से भी अधिक समय तक कार्य किया था।

इस सर्वप्रथम बहते हुए सोवियत केन्द्र के सदस्यों के पर्यवेक्षणों ने विश्व के विज्ञान में भारी योगदान किया। बहाव की २७४ दिनों की अवधि में इस केन्द्र ने २५,०० किलोमीटर की यात्रा दरारों और घुमावदार चक्करों का ध्यान रखते हुए की। इस समग्र कालाविधि में प्रतिदिन जो चार बार ऋतु-विज्ञान सम्बन्धी निरीक्षण किये गये और सोवित संघ को रेडियो द्वारा प्रेषित किए गये उनका मौसम की भविष्यवाणी के लिए प्रयोग किया गया था। इसी अवधि में नियमित रूप से महासागर की गहराई मापी गयी थी और चुम्बकीय क्षेत्र तथा बहुत-सी अन्य चीजों का अध्ययन किया गया था।

उत्तरी ध्रुव केन्द्र के तथ्य आँकड़ों के आधार पर सोवियत यानचालकों वी० पी० चकालोव और एम० एम० ग्रोमोव ने सन् १९३७ की गर्मियों में उत्तरी ध्रुव के आरपार सोवियत संघ से संयुक्त-राज्य अमरीका तक की उल्लेखनीय उड़ानें की थीं।

उक्त केन्द्र ने आश्चर्यजनक अनुसंधान किये। पहली बार यह प्रतिपादित किया गया कि अटलांटिक सागर के जलों की एक शक्तिशाली और गहरी धारा उत्तरी ध्रुव सागर के केन्द्र में प्रविष्ट होकर बिल्कुल उत्तर ध्रुव तक चली गई है। इस तरह से उत्तरी गोलार्द्ध की सतत् केन्द्रीय उष्णान क्रिया उत्तरी हिमसागर और उसके आसपास के विस्तृत क्षेत्र के समग्र जीवन पर अपना गहरा असर डालती है।

सन् १९३७ के अद्वितीय और साहसपूर्ण कार्यों के अनुभव का सोवियत विज्ञान ने सफलतापूर्वक विस्तार किया। वायुयान की सहायता से सफरी अनुसंधान टुकड़ियों ने हिम-प्रदेश के अत्यन्त दूरवर्ती और एक तरह से अगम कोनों में भी प्रवेश करना प्रारम्भ कर दिया और पूर्वनिर्धारित स्थानों पर दीर्घकालीन प्रवाही वैज्ञानिक केन्द्र स्थापित करने शुरू किए। एकादश प्रवाही केन्द्र "उत्तरी ध्रुव ११" अब उत्तरी ध्रुव के बेसिन में स्थापित है।

इन बहते केन्द्रों और उच्च अक्षांशों के अभियानों के द्वारा किए गए कार्य के परिणाम-स्वरूप विज्ञान ने उत्तरी ध्रुव के बहुत से रहस्यों का उद्घाटन किया है। भूतत्ववेत्ताओं ने यह सिद्ध कर दिया है कि उत्तरी ध्रुव के बेसिन में अपेक्षाकृत निकट भूतकाल में जो गढ़े बने हैं वे उस भूमि को काटकर बने हैं जो पहले कभी कनाडा को साइबेरिया से जोड़ती थी।

विभिन्न गहराइयों पर जल को काटने वाले उत्तरी हिमसागर तथा धाराओं के जल की प्रकृति का भी हमारे वैज्ञानिकों ने अध्ययन किया है। उत्तरी ध्रुव के केन्द्र से अटलांटिक की ओर बहने वाली उपरी पृष्ठ की ध्रुवीय धारा ही वह मुख्य मार्ग है जिसके साथ-साथ लाखों टन उत्तर-ध्रुवीय हिम उत्तरी ध्रुव सागर से प्रवाहित हुआ करता है। हिम का बहना दो बातों पर निर्भर करता है—समुद्री धाराओं पर और हवाओं पर। उनके अध्ययन से

विज्ञान-प्रवाही हिम के नियम का रहस्य उद्घाटन कर सकता है।

सम्भव है ऐसा जान पड़ता हो कि इस समग्र ज्ञान का बौद्धिक दृष्टि से सम्बन्ध केवल वैज्ञानिकों से है। किन्तु बात ऐसी है नहीं। यह ज्ञान खुश्रान क्षेत्र के किसी स्थान के किसान के श्रम को, साइबेरिया में रेलवे के कार्य को और अभिनव जल-बिजली घरों के इंजीनियरों के सर्वेक्षणों को भी प्रभावित करता है। प्रकृति सर्वत्र एक जैसी ही है। यह अन्य पदार्थगत नियमों से परिचालित होती है। उन नियमों के प्रभाव यथा समय विस्तृत क्षेत्रों में देखने में आते हैं। विज्ञान के मुख्य धंधों में से एक धंधा है इन अन्य पदार्थगत नियमों का प्रतिपादन। उत्तरी ध्रुव में जो अध्ययन किया जा रहा है उसका मध्य अक्षांशों की प्रकृति के नियमों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

गत वर्षों में ऋतु-विज्ञान सम्बन्धी जो रॉकेट छोड़े जाते रहे, उन्होंने भारी ऊँचाइयों के वायु समुद्रों के भूतपूर्व विचार में आमूलचूल परिवर्तन कर दिया। उत्तरी ध्रुव की सूर्य-रश्मियों तक की पूरा-पूरा हिसाब रखा जाता है। विशेष यंत्र सौर-शक्ति के जमा और खर्च का हिसाब रखते हैं। वैज्ञानिकों को यह जानना आवश्यक होता है कि महा-समुद्र और हिम द्वारा कितना ताप खर्च किया गया है। इस पर बहुत कुछ निर्भर करता है। उदाहरण के लिए, संयोगवश उत्तरी-ध्रुव में गर्मियों में सूर्य से उससे कहीं अधिक ताप निकलता है जितना कि क्रीमिया में। किन्तु बर्फ तथा हिम सूर्य-रश्मियों के ९० प्रतिशत को वापस वायु-मण्डल में ही परावर्तित कर देते हैं। किरणों का एक भाग बादलों द्वारा अवरुद्ध हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप उत्तरी ध्रुव में हिम-आवरण बना रहता है।

प्रकृति के तत्वों से भारी संघर्ष करके सोवियत लोगों ने उस उत्तरी-समुद्री मार्ग का निर्माण किया है जिसका अनेक देशों के नाविक युगों से स्वप्न देखते आये थे। सोवियत सरकार के शासनकाल में उत्तरी ध्रुव इतना अधिक बदल गया है कि अब वह पहचान में भी नहीं आता। साइबेरिया के जो उत्तरी-समुद्री तट कभी सर्वथा अज्ञात थे वहाँ अब बन्दरगाहों, सुनियोजित नगरों, औद्योगिक कारखानों और वैज्ञानिक वेधशालाओं का निर्माण हो गया।

४. शरीर की वृद्धि करने वाली दवा

केवल दो सप्ताह पहले ही ये पीले रोयें वाले नन्हें-नन्हें चूजे अण्डों के खोल से बाहर निकले थे और अब वे मुर्गीखाने के चारों ओर ऐसे फुदकते फिरते हैं मानो एक मास के मोटे-ताजे मुर्गे हों।

मुर्गीघर में मुर्गियों के पालन-पोषण का काम करने वाले प्रसन्नता में भर कर कह रहे थे, यह बिलकुल परियों की कहानी का-सा वर्णन है : वे प्रतिक्षण बढ़ते हैं और मुटाते हैं। क्या कमाल का चूर्ण है!

जी हाँ, यह सचमुच में "कोरमोग्रीजीन" दवा है। इसकी वैज्ञानिकों ने परीक्षा शुरू की और पाया कि यह पक्षियों के शरीर को बड़ी तेजी से बढ़ाता है। यह जादू वाला चूर्ण पशुओं के छोटे बच्चों के खाने में मिला दिया गया और देखा गया कि बछड़ों और मेमनों के जिस्म अधिक जल्दी-जल्दी बढ़ने लगे।

मास्को स्थित जीवाणु विज्ञान-संस्था में विभिन्न राज्यों तथा सामूहिक कृषि-शालाओं के इस तरह के पत्रों का ढेर लग गया जिनके द्वारा कोरमोग्रीजीन मुहैया करने की प्रार्थना की गयी थी अथवा उसके बनाने की विधि लिख भेजने की प्रार्थना की गयी थी। किन्तु वह किस तरह की दवा है?

"कोरमोग्रीजीन' दवा जीवाणु विज्ञान संस्था में प्राध्यापक निकोलाई क्रासिलन्कोव की देखरेख में एक प्रयोगशाला में मिली थी। उन्होंने मुझे एक तरह के हरे पदार्थ वाला परीक्षण गिलास दिखाया था।

"इसमें करोड़ों ग्रे-एक्टिनोमियो" रोगाणु हैं"

मैंने सावधानी के साथ उस गिलास से

यथाशक्ति परे हटने का यत्न किया।

प्राध्यापक महोदय ने मेरी घबराहट को यह कहकर दूर किया, "घबराओ मत, ये उपयोगी जीवाणु हैं। ये प्रबल प्राणिवर्द्धक हैं।"

प्राध्यापक निकोलाई क्रासिलिन्कोव और उनके सहायक अलेक्जाण्डर कोरेन्याक, नतालिया निकितिना और इरीना उलेज्लो एक नये रोगाणु विरोधी की खोज अनेक सालों से कर रहे थे। उन्हें चमकीले कुकुरमुत्तों की जाति के पौधों में ग्रे एक्टिनोमियो रोगाणु मिला। यह हानिप्रद जीवाणुओं को जोरों से नष्ट कर रहा था। जो हो, इसे औषधि में नहीं बरता जा सका। इस बीच पशुपालन संस्था के कर्मचारी मण्डल के एक सदस्य निकोलाई लेओनोव जो उक्त दवा की जानवरों की परीक्षा कर रहे थे, उन्होंने एक विलक्षण बात देखी। वह विलक्षण बात यह कि-ग्रे एक्टिनोमियों रोगाणुओं से जानवरों के छोटे-छोटे बच्चों के देह तथा वजन बड़ी तेजी से बढ़ रहे थे। नियंत्रण में रखे जानवरों से तुलना करने पर पता चला कि उनके कुल वजन में २५ प्रतिशत तक वृद्धि हुई थी। बस यही देखकर 'कोरमोग्रीजीन" इस्तेमाल करने का निश्चय किया गया था। जानवरों के चारे में परिपूरक के रूप में पी जाने वाली इस दवा का नाम तभी "कोरमोग्रीजीन" रखा गया था। उक्त गुणों के अलावा कोरमोग्रीजीन एक डाक्टरी दवा के रूप में भी काम करती है। यह जानवरों के छोटे-छोटे बच्चों के जिस्म के अन्दर रोग प्रतिरोधक शक्ति को भी बढ़ा देता है। जिन जानवरों को कोरमोग्रीजीन उनके चारे में मिलाकर दिया जाता है उन जानवरों को विभिन्न प्रकार की बीमारियाँ कम ही होती हैं।

क्या कोरमोग्रीजीन का उत्पादन करना कठिन है?

प्राध्यापक क्रासीलिन्कोव ने इसके उत्तर में कहा है, "नहीं, इसका उत्पादन जरा भी कठिन नहीं है। मास्को के समीप की तथा अन्य क्षेत्रों की कुछ फर्में खुद इस दवा को बनाना शुरू कर चुकी हैं। किसी भी जिला-केन्द्र या बड़े सामूहिक फार्म में इसके उत्पादन की व्यवस्था की जा सकती है। इसका उत्पादन खट्टे दूध के उत्पादन से ना तो अधिक कठिन ही है और न अधिक खर्चीला ही। १०० ग्राम जितनी मात्रा का कोरमोग्रीजीन भी एक टन चारे के लिए पर्याप्त होता है। इस रोगाणु विरोधी दवा के भेषज तत्त्व तेजी के साथ पशुओं में होने वाले एपीजूटी रोग को कम कर देते हैं। गायों के बछड़ों और बकरी के मेमनों की आशु-वृद्धि का परिणाम होगा मांस, दूध और ऊन का भारी परिमाण में अतिरिक्त उत्पादन।"

कोरमोग्रीजीन निकट भविष्य में खेती में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण खाद्य परिपूरक बनकर रहेगा।

५. हृदय को उत्तेजना देने वाला यंत्र

जब हृदय एक मिनट में ७०-७५ बार धड़कता है तब डाक्टर कहते हैं कि हृदय सामान्य रूप से काम कर रहा है। किन्तु कभी-कभी यह कई लोगों के मामले में जब कम बार धड़कता है, खासकर उन लोगों के मामले में जिन्हें दिल के दौरे की शिकायत है, अगर एक मिनट में २५ बार धड़कता है और फिर ५ या ६ बार, तब मृत्यु हो सकती है। ऐसे बीमारों के बारे में डाक्टरी निदान यह बताया जाता है: पार्श्व भाग का समग्र अवरोध।

"इसका क्या इलाज है?" डाक्टर परामर्श देता है, यथाशक्ति कम से कम चलो-फिरो, और बिस्तर पर ही ज्यादातर लेटे रहो। हो सकता है यह दौरा इस तरह गुजर जाये ···।"

कुछ ही दिन पहले की बात है। तुला का रहने वाला ४४ वर्षीय फिटर मिखाइल श्चेरबाचेव जो पार्श्व भाग के अवरोध का मरीज था वह लेनिन प्रास्पैक्ट पर अविस्थत द्वितीय मास्को मेडिकल इंस्टीट्यूट के चीरफाड़ के दवाखाने में लाया गया था।

मरीज की हालत काफी खराब थी। बीच-बीच में वह बेहोश हो जाता था। उसके हृदय की सहायता यदि विद्युत्-उत्तेजक ने न की होती तो बहुत सम्भव था कि वह चल बसा होता। यह विद्युत्-

उत्तेजक अब इस मरीज के देह का आवश्यक अंग बन गया है।

उस दवाखाने के एक अध्यक्ष प्राध्यापक विक्टोर सावेलीव ने मुझसे कहा, "अगर आप विद्युत्-उत्तेजक देखना चाहते हैं, तो देखिए, यह आपके सामने है।

एक छोटे आकार के ट्रांजिस्टर रेडियो सेट से बिलकुल मिलती-जुलती आकृति का वह जादू-सा काम करने वाला उपकरण मुझे दिखाने के बाद वैज्ञानिक महोदय बोले, "इस उपकरण से बिजली के तार के दो छोर बाहर निकले हुए हैं। उन छोरों को हृदय की मांस पेशियों से सी दिया जाता है। इसके बाद जिगर को ६० अंक के ठीक सम्मुख लाया जाता है। अब हृदय प्रति मिनट ६० बार धड़कने लगता है। यह सत्य है कि मरीज को अब यह उपकरण अपनी तमाम उम्र अपनी पाकेट में ही रखे रहना होगा। अब डिजाइन बनाने वाले लोग इस समस्या का हल करने में जुटे हुए हैं कि इस उत्तेजक का आकार कैसे काफी घटा दिया जाये और इसके मुख्य भाग को चमड़ी के नीचे रख दिया जाये।

इसी तरह से जिस दूसरे मरीज का सफलता के साथ उत्तेजक उपकरण को हृदय से जोड़कर इलाज किया गया है वह व्यक्ति है ६८ वर्षीय वासिली मुखोरतुख।

हृदय की इन अलार्म घड़ियों में वैद्युतिक उत्ते-जकों के विशाल परिमाण में निर्माण की व्यवस्था अब लेनिनग्राद में की जा रही है।

(नोवोस्ती प्रेस एजेंसी)

६. पुरातत्वीय खोज की आधुनिक प्रणाली

इटली में पो नदी के मुहाने पर बसे कोमाचियो के समीप दलदल वाले स्थान में नालियों की खुदाई करते समय एत्रूस्कान का श्मशान घाट मिला था। वैज्ञानिक जानते थे कि विशाल एत्रूस्कान नगर जिसका नाम स्पिना था किसी समय पो नदी के मुहाने पर बसा हुआ था। यह श्मशान घाट अवश्य नगरवासियों का कब्रिस्तान रहा होगा, परन्तु कई दशाब्दियों तक खोज करने के पश्चात् भी वैज्ञानिक इस नगर का पता न लगा सके।

पो नदी के मुहाने की ३५ वर्ष तक खुदाई करने के बाद सन् १९५६ में आखिरकार हवाई जहाज द्वारा लिये गये चित्रों की सहायता से स्पिना नगर खोज ही निकाला गया। दो हजार वर्ष पहले गोलों के आक्रमण ने नगरवासियों को नगर छोड़ने पर मजबूर कर दिया जिसके फलस्वरूप धीरे धीरे नगर एक दलदल वाले स्थान में बदल गया। हवाई जहाज द्वारा लिये गये चित्रों की सहायता से वैज्ञा-निक न केवल इस नगर को खोज सके, वरन् उन्होंने नगर का क्षेत्र, आकार और बनावट के बारे में भी जानकारी प्राप्त कर ली।

आज के युग में पुरातत्व-अनुसन्धान-प्रणाली बहुत ही विचित्र है। लोग आमतौर पर यह सोचते हैं कि पुरातत्ववेत्ता बहुत ही बूढ़े आदमी होते हैं जिनका तमाम जीवन अजायबघर के गन्दे से स्टोर रूम में आतशी शीशे से पुरानी चीजों की परीक्षा करने में बीत जाता है। "पुरातत्व" शब्द सुनते ही हमारे दिमाग में "पुराने समय" का विचार पैदा हो जाता है। जबकि पुरातत्व कभी भी बूढ़े मनुष्यों का विषय नहीं रहा है। इसके अतिरिक्त आतशी शीशों का स्थान अब खुर्दबीन और अणुवीक्षण यंत्रों ने ले लिया है और हवाई जहाज उसके अभियान दल के मुख्य साथी हैं।

पुरातत्ववेत्ता के सामने बहुत सी समस्याएँ होती हैं। खोज कैसे की जाय? खोज की गयी वस्तु कब और कैसे अस्तित्व में आयी? इस खोज से क्या ऐतिहासिक नतीजे निकाले जा सकते हैं आदि बातें हैं जिनका उसे सामना करना पड़ता है।

पुरातत्ववेत्ता जानते हैं कि इतिहास के किस काल में किस घाटी या नदी के किनारे लोग रहना अधिक पसन्द करते थे। वे यह भी जानते हैं कि उस कबीले के लोग अपने मृतकों को किस स्थान पर

दफनाते थे। जिस प्रकार भूगोलविद् चट्टानों की आयु का पता लगाकर हीरों की खानें ढूँढ़ निकालते हैं उसी प्रकार पुरातत्ववेत्ता जमीन के अन्दर दबी हुई जानवरों की अस्थियों को ढूँढ़ कर उनके आस-पास रहने वाले लोगों के बारे में जानकारी प्राप्त करते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि पुरातत्ववेत्ता के लिए "भूमि के अन्दर का भेद मालूम करना" या "भूमि का सर्वेक्षण करना" बहुत ही महत्वपूर्ण है।

चूँकि खुदाई का काम बहुत ही मँहगा तथा कठिन होता है इसलिए खुदाई करने से पहले यह जान लेना बहुत ही आवश्यक है कि भूमिगत इमारत का आकार किस प्रकार का है। तब पुरातत्ववेत्ता विश्वासपूर्वक पुरानी इमारतों को बिना हानि पहुँचाये उनकी खुदाई आरम्भ करते हैं। हवाई जहाज द्वारा लिये गये चित्रों की सहायता से दबे हुए टीले का नक्शा तैयार करके खुदाई करने से पहले दबे टीले के हर भाग में बिजली के बरमे से छेद दिया जाता है। अब हमारे सामने कई समस्याएँ उत्पन्न होती हैं: जैसा खुदाई में मिली वस्तुओं की तिथि निश्चित करना। तिथिक्रम के लिए पुरातत्ववेत्ता कई प्रकार की प्रणालियाँ प्रयोग में लाते हैं। वस्तुओं का समय उनके आकार, प्रकार और उस समय के इतिहास को दृष्टिगत रखते हुए तथा उस समय में प्राप्त वस्तुओं के साथ समानता के आधार पर निर्धारित किया जाता है। परन्तु फिर भी कुछ प्रश्नों का सही-सही उत्तर देना पुरातत्ववेत्ताओं के लिए कठिन हो जाता है जैसे कि कोई वस्तु कितने वर्ष पहले बनायी गयी थी या भवनों का निर्माण और ध्वंस कब हुआ था। तिथिक्रम की सही जानकारी प्राकृतिक विज्ञान, भूगोल, ज्योतिष तथा भौतिक विज्ञान द्वारा प्राप्त की जाती है। रेडियोकार्बन प्रणाली का भी उपयोग किया जाता है।

मिस्र, बेबीलोनिया और सुमेरिया में हुई खुदाई के फलस्वरूप अनुसंधानकर्ताओं के दिमाग में यह विचार बैठ गया है कि मानव सभ्यता का विकास पूर्व में हुआ था। परन्तु सोवियत वैज्ञानिक इससे सहमत नहीं हैं। उनका विचार है कि यूरोपीय सभ्यता का विकास वहाँ पर बसे कबीलों की आन्तरिक उन्नति का कारण है। तथ्य बताते हैं कि पुरातन काल में पूर्व, यूरोप से अधिक विकासशील था। इस बात को रेडियोकार्बन तिथिक्रम प्रणाली ने प्रमाणित कर दिया है।

रेडियोकार्बन तिथिक्रम प्रणाली ने अमरीका में बसने वालों की उत्पत्ति के बारे में नया प्रकाश डाला है। अमरीका में न तो एन्थ्रोपोड वन-मानुषों के और न प्रागैतिहासिक काल के वन-मानव के अवशेष मिलते हैं। वन-मानुष से लेकर मानव तक का विकासकाल अमरीका में नहीं हुआ था। अमरीका में दूसरे महाद्वीपों से आकर लोग बस गये थे। ऐसी धारणाएं हैं कि अमरीका में लोग अटलांटिक के रास्ते यूरोप से आये थे या फिर प्रशान्त महासागर के द्वीपों के रास्ते दक्षिण एशिया से। बाद में सोवियत और अमरीकी वैज्ञानिकों ने प्राप्त प्रमाणों से पता लगाया कि भारतवासियों के पूर्वज पूर्वी एशिया से आए थे।

लेकिन यह सोचना भी ठीक नहीं कि रेडियोकार्बन प्रणाली ने पुरातत्व तिथिक्रम समस्या को पूर्णतया हल कर दिया है। तिथिक्रम जानने के एक तरीके की उज्ज्वल सम्भावनाएँ हैं विशेषकर मिट्टी के बने बर्तनों की आयु मालूम करने के लिए। हजारों टन बर्तन दुनिया के विभिन्न आजयबघरों में सुरक्षित हैं। यह विभिन्न ऐतिहासिक काल के हैं। पुरातत्ववेत्ता बर्तनों को सूँघ कर भी उनका समय निर्धारित कर देते हैं।

पेड़ की शाखाओं पर पड़ी पपड़ियों के द्वारा भी तिथिक्रम जाना जाता है। इस प्रणाली का सुझाव इस सदी के आरम्भ में दिया गया था खुदाई के समय मिलने वाली लकड़ी के ऊपर पड़ी इन परतों को गिन कर उनकी आयु और इतिहास-काल के बारे में पता लगाया जाता है। यह तरीका अमरीकी

वैज्ञानिक डोगलस का बताया हुआ है। परन्तु यूरोप में बहुत पुराने पेड़ नहीं मिलते जिससे पुरातत्त्ववेत्ताओं के लिए यह प्रणाली कोई विशेष महत्त्व नहीं रखती है।

परन्तु अभी हाल में सोवियत वैज्ञानिकों को इस प्रणाली द्वारा आशातीत सफलता मिली है। लेनिनग्राद प्रयोगशाला की पुरातत्त्व-संस्था के अन्वेषणों ने उन टीलों की आयु का पता लगाया है जो अलताई क्षेत्र में दबे हुए थे। इनका निर्माण चौथी और पहली सदी ई० पू० में हुआ था। भवन लकड़ी के खम्भों के थे।

सोवियत संघ का पुरातत्त्व-अभियान कई वर्षों से नोवगरोद में कार्यशील है जहाँ पर हजरों वर्ष पहले की मिट्टी के नमूने रखे हुए हैं। जहाज से लेकर खिलौने तक वहाँ पर सुरक्षित रखे हैं जिनके बारे में नया प्रकाश डाला गया है। नोवगोरोद के रहने वाले अपनी गलियों के फर्श में लकड़ी का प्रयोग किया करते थे।

कई गिरजों के पुराने पत्थर यहाँ पर रखे हुए हैं जिन पर निर्माण-काल की तिथि अंकित है। इन भवनों की नींव लकड़ी के स्लीपरों पर रखी जाती थी। खुदाई में मिली लकड़ी को नोवगोरोद में रखे नमूनों के साथ मिलाकर उसकी आयु का पता लगाया जाता है। इस प्रकार खुदाई के समय मिलने वाली वस्तुओं की तिथि जानना या यह जानना कि वह किस सदी में बनायी गयी थी नोवगोरोद में संग्रहीत वस्तुओं से तुलना करने पर बताया जा सकता है।

पुरातत्त्ववेत्ता विभिन्न विज्ञानों की ४० से अधिक प्रणालियों को प्रयोग में लाता है। अभी हाल में प्राकृतिक विज्ञान और टेक्नॉलोजी में जो महत्त्वपूर्ण सफलता प्राप्त की गयी वह है आधुनिक पुरातत्त्व विषय को यथार्थ विज्ञान में परिवर्तित करना।

●

(शेषांश पृष्ठ १४२ का)

इससे पहले 'वीमा' जहाज हिन्द महासागर के कुछ हिस्सों में दो बार यात्राएँ कर चुका है, किन्तु वे यात्राएँ उस समय की गई थीं जब भूकम्पीय प्रतिक्षेपण विधि नहीं निकली थी। इस विधि का विकास डेढ़ वर्ष पूर्व कोलम्बिया विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों ने किया था और इसके परिणाम बड़े उत्साहवर्धक रहे हैं।

हिन्द महासागर में वैज्ञानिक कार्य-क्रम में भूकम्पीय प्रतिक्षेपण विधि द्वारा कार्य करने पर बल होगा, पर 'वीमा' जहाज अपनी यात्रा में समुद्र की भौगोलिक रचना का अध्ययन करने के पूरे कार्यक्रम को भी क्रियान्वित करेगा। इसमें मछली जैसी समुद्रगर्भीय सम्पदा तथा समुद्र एवं वायुमंडल के सम्बन्धों का अध्ययन करने की बातें शामिल होंगी।

हिन्द महासागर १,८०,००,००० वर्गमील में फैला हुआ है और यह पृथ्वी के कुल पृष्ठ का लगभग १४ प्रतिशत है, फिर भी इसके बारे में लोगों को बहुत कम जानकारी है।

●

विज्ञान वार्ता

१. भारतीय महासागर की जलविद्या का अध्ययन :

सोवियत सागरीय अनुसन्धान जहाज 'वित्याज' व्लादीवोस्तोक से अपनी ३५वीं यात्रा पर जून के अन्तिम सप्ताह रवाना हुआ। इस जहाज पर ६० वैज्ञानिक हैं, जिनका पथ-प्रदर्शन प्रसिद्ध जल-भूगर्भविद् पैंटेलीमौन बेज़ुकोव के सुयोग्य हाथों में है।

इस बार यह जहाज दक्षिण की ओर, भारतीय महासागर के उन भागों की यात्रा पर गया है जिनकी खोज नाममात्र को ही हुई है। यह यात्रा पाँच माह से कुछ अधिक की होगी। इस अवधि में वैज्ञानिक-गण दो साल पूर्व आरम्भ किये गये पर्यवेक्षणों को जारी रखेंगे। वे भारतीय महासागर की जलविद्या का, इसके तल की भूगर्भीय बनावट का अध्ययन करेंगे। यह जहाज मछली पकड़ने के लिए नये सम्भावित क्षेत्रों को निश्चित करने के लिए प्राणिशास्त्रीय अनुसंधान भी करेगा। मौसम-विशेषज्ञ, महासागर के ऊपर चलने वाली वायुमण्डलीय प्रक्रियाओं के शक्ति-गति-विज्ञान का अध्ययन करेंगे।

अनुसन्धान के एक नये तरीके का व्यापक उपयोग किया जायगा—लंगर डालकर स्थिर किये गये बेड़ों पर स्वचालित केन्द्र कायम किये जायँगे जिनसे समुद्र की विभिन्न गहराइयों पर यंत्र लटके रहेंगे।

यह सोवियत अभियान यूनेस्को द्वारा आयोजित एक अन्तर्राष्ट्रीय अभियान का अंग होगा जिसमें १२ देशों के जहाज भाग लेंगे (जिनमें भारत, इंडोनेशिया, अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस तथा जापान शामिल हैं।) सोवियत विशेषज्ञ "वित्याज" में अपना अनुसन्धान कार्य करेंगे और विदेशी वैज्ञानिक उनके काम में भाग लेंगे। एक रूमानियाई समुद्रशास्त्री यूजीन पोरा अभी से इस जहाज पर मौजूद हैं। बाद में भारत, इंडोनेशिया, संयुक्त अरब गण-राज्य, आस्ट्रेलिया, जापान तथा अमरीका के वैज्ञानिक भी इस जहाज पर आ जायेंगे। यह संयुक्त कार्य विभिन्न देशों द्वारा अपनाये जाने वाले अनुसन्धान के तरीकों तथा पर्यवेक्षणों के परिणामों की तुलना को सम्भव बनायेगा।

२. पृथ्वी पर जीवन का उद्‌भव—खोज से नवीन प्रकाश

तुर्कमेनियाई अनुसन्धान भौतिक-विज्ञान विशारदों, चारी बीर्येव तथा सादिक मामेदोव ने इस तथ्य को सिद्धि किया है कि उल्का-पिंडों में सक्रिय जीवाणु होते हैं। इस प्रकार यह परिणाम निकाल कर कि इन "स्वर्गीय शिलाओं" में जैव पदार्थ होते हैं, पृथ्वी की एक और प्रयोगशाला पृथ्वी पर तथा बाह्य अवकाश में जीवन की उत्पत्ति की बहस में शामिल हो गयी है।

बीर्येव तथा मामेदोव ने अनेक वर्षों तक "ओजोसेराइट" नामक पदार्थ का अध्ययन किया है जिसे आम तौर से "पहाड़ी मोम" कहा जाता है। यह विभिन्न शिलाओं में पाया जाता है। ओजोसेराइट के अतिसूक्ष्म जीवों का अध्ययन करने के बाद, वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया कि इस औषधीय राल में भारी परिमाण में जीवाणु होते हैं—"ओजेसेराइट जीवाणु"—जो अत्यधिक ऊँचे तापमान को सह सकते हैं और १५० डिग्री सेंटीग्रेड तापमान तक भी जीवित रह सकते हैं।

यह जानकर कि एक विशेष वर्ग के शिला उल्कापिंडों में वैसे ही हाइड्रो-कार्बन यौगिक होते

हैं जैसे कि ओजोसेराइट में, वैज्ञानिकों ने यह अनुमान प्रस्तुत किया कि उल्कापिंडों में भी वही सूक्ष्म जीवाणु मौजूद हैं। उन्होंने उल्कापिंड के चूरे को १५० अंश सेंटीग्रेड तक गर्म किया और तब उसे एक पौष्टिक माध्यम में रख दिया। उन्होंने सक्रिय जीवाणुओं का अस्तित्व पाया जिन्हें ताप-सह-'उल्कापिंड जीवाणु" कहा गया।

इन तुर्कमेनियाई वैज्ञानिकों की खोज पर टिप्पणी करते हुए, मास्को के भू-रसायन-शास्त्री गेन्नदी व्दोवीकिन ने कहा कि यह महान् महत्व की खोज है क्योंकि यह अन्य सोवियत वैज्ञानिकों की जाँच-पड़तालों को प्रतिध्वनित करती है। इस रहस्य का उद्घाटन कि उल्कापिंडों में पाये गये ये सामान्यतम हाइड्रो कार्बन किसी जीवन की क्रियाशीलता की पैदावार हैं, अनेक महत्वपूर्ण समस्याओं के समाधान में सहायक हो सकता है—जैसे कि पृथ्वी पर जीवन का उद्भव और निर्जीव कम्पाउण्डों का जैव कम्पाउंडों में संक्रमण।

३. लोहे का पेड़

आप सुनकर आश्चर्य करेंगे कि भला लोहे के भी पेड़ होते हैं। लेकिन इस आश्चर्यमय जगत् का यह भी एक आश्चर्य है कि लोहे के पेड़ होते हैं।

सोवियत संघ के सुदूरपूर्वी क्षेत्र में समुद्र के किनारे के दक्षिण भाग में एक प्रकार का बर्च (भुर्ज) वृक्ष होता है जिसे 'श्मिड्त बर्च" कहते हैं। ऐसे वृक्ष उत्तरी कोरिया में उसके पार्श्ववर्ती चीनी इलाके में भी होते हैं। स्थानीय जनता उसे 'लौह बर्च" के नाम से पुकारती है। यह पेड़ इतना मजबूत होता है कि यदि इसमें निशाना लगाकर गोलियाँ दागी जायें तो उसमें खरोंच तक नहीं आती। अपने भार के कारण इसकी लकड़ियाँ पानी में डूब जाती हैं। देर तक पानी में रखने से इसमें और भी मजबूती आ जाती है। 'लौह बर्च' वस्तुतः धातु का काम दे सकता है।

श्मिड्त बर्च के ही समान एक प्रकार का वृक्ष उत्तरी अजर बैजान की पहाड़ी तलहटी में होता है जो तेमिर-अगाच कहलाता है। इसका उपयोग गीयर, शैफ्ट तथा अन्य यांत्रिक प्रसाधन के निर्माण में किया जाता है।

४. हिन्द महासागर के तल में खनिज लौह-भाण्डार

हिन्द महासागर का अधिकांश तल ज्वालामुखीय उद्गत स्रोत की चट्टानों से भरा पड़ा है और उसके दक्षिण भाग में बड़े परिमाण में खनिज लौह मेंगनीज भाण्डार भरा पड़ा है जिसमें ०.५ प्रतिशत निकल, कोबाल्ट और विरल धातुएं विद्यमान हैं। यह रहस्योद्घाटन 'वित्याज" नामक अनुसन्धानकारी सोवियत जलयान के वैज्ञानिकों ने किया है।

दो वर्षों की अनुसन्धान यात्रा में उन्होंने हिन्द महासागर के तल में पृथ्वी की परत की मोटाई, गठन और बनावट का निर्धारण किया है। उन्होंने महासागर तल में अब तक के अज्ञात पर्वतों का पता लगाया है।

हिन्दमहागर तल का जीव-जगत् अत्यन्त वैविध्यपूर्ण है। महासागर के अधिकांश में पर्याप्त परिमाण में आक्सीजन मौजूद है जो मछलियों तथा अन्य समुद्री जानवरों के जीवन-धारण के लिए पर्याप्त है लेकिन अरब सागर और बंगाल की खाड़ी में कुछ ऐसे स्थान हैं जहाँ आक्सीजन शून्य के बराबर है।

५. सूर्य से तिगुना गर्म

सोवियत भौतिकी विद्याविदों ने यह निर्धारित किया है कि आकाश में चमकने वाली बिजली का ताप २००००° सेंटीग्रेड है, अर्थात् सूर्य की सतह के तापमान की तुलना में तिगुना अधिक है। उन्होंने वज्र की शक्ति का भी माप किया है।

६. समुद्र की लहरों से विद्युत् शक्ति की उपलब्धि

सोवियत इंजीनियर एल० बर्नस्टाईन ने समुद्र की लहरों से बिजली निकालने का नया तरीका ईजाद किया है। बर्नस्टाईन ने न केवल समुद्र में वरन् बड़ी-बड़ी नदियों में तरंग-विद्युत्-स्टेशन बनाने

की उपयोगिता सिद्ध कर दी है। इस प्रकार का एक तरंग-विद्युत् स्टेशन अगले साल मुर्मान्स्क के नजदीक बनाया जाएगा।

७. ६०,००० टन वजन का पारमाणविक टैंकर

सोवियत संघ में एक ऐसे पारमाणविक शक्ति चालित टैंकर का निर्माण हो रहा है जो दुनिया के किसी भी भाग में ३०००० टन तेल पहुँचा सकेगा। इसकी लम्बाई ८०० फीट से अधिक होगी और इसमें लगभग १२० फीट लम्बी बीम लगी होगी।

८. पुआल के घर

वैज्ञानिक शोधकर्ताओं ने एक ऐसी विधि निकाली है जिससे पुआल को प्लास्टिक जैसा मजबूत बनाया जा सकता है और इसका इस्तेमाल घरों के दरवाजे, फर्श, फर्नीचर तथा अन्य चीजों के निर्माण में किया जा सकता है। पुआल से तैयार किया गया काष्ठ मजबूती और खूबसूरती में प्राकृतिक काष्ठ के समान है। पेत्रोपावलोस्क नामक स्थान में पुआल को काष्ठ में परिणत करने के लिए कारखाना बनाया जा रहा है। यह कारखाना पुआल से प्रतिवर्ष २६००० घनमीटर गज लकड़ी तैयार करेगा।

९. सिमेंट की धूल से उर्वरक

सिमेंट के भट्ठे से उड़ने वाली धूल का इस्तेमाल उर्वरक के रूप में किया जा सकता है। इस प्रकार की धूल में लगभग ३५ प्रतिशत क्षार होती है जिसके आधे से अधिक हिस्से में विलेय पोटेशियम लवण होता है।

इन्हें फार्मों में प्रयोग करके देखा गया है कि इस धूल को उर्वरक के रूप में इस्तेमाल करने से आलू तथा अन्य साग-सब्जियों की पैदावार में शत-प्रतिशत वृद्धि हुई।

यह अनुमान लगाया गया है कि सिमेंट के एक कारखाने से इस प्रकार का १०,००० टन उर्वरक प्राप्त हो सकता है।

१०. रेडियोसक्रिय पदार्थ और यान्त्रिक मानव

अणुशक्ति कमीशन तथा अमेरिकी वायुसेना लासवेगास (नेवाडा) के समीप नेशनल रॉकेट टेस्ट साइट पर ८५ टन वजन के एक ऐसे रौबट की जाँच कर रहे हैं, जो मनुष्य के समान कार्य करता है। यह 'बीटल' नामक २५ फुट लम्बा यन्त्र रेडियोधर्मी पदार्थों को उठा कर इधर-उधर रखने के लिए प्रयोग में लाया जाता है और उसके भीतर बैठे हुए यन्त्रचालक को किसी भी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचती है।

यह रौबट 'प्रोजेक्ट रोवर' नामक कार्यक्रम के अन्तर्गत प्रयोग में लाया जायेगा, जो अमेरिका के अन्तरिक्ष विषयक दो आणविक रॉकेट विकास-कार्यक्रमों में से एक है। 'बीटल' नामक यह रौबट उन क्षेत्रों में सुरक्षा के साथ इधर-उधर जा सकता है जहाँ किसी अरक्षित व्यक्ति को विकिरण से अवश्य क्षति पहुँचेगी।

इस यन्त्र में ऐसे यान्त्रिक बाजू लगे हुए हैं जो १६ फुट की दूरी तक पहुँच सकते हैं। 'बीटल' इतना अधिक नियन्त्रित है कि यह अण्डे को किसी प्रकार की क्षति पहुँचाये बिना ऊपर उठा सकता है। जब विद्युच्चालित उपकरण अथवा हाथों द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले उपकरण बीटल के यान्त्रिक हाथों में लगा दिये जाते हैं तब यह आणविक प्रतिक्रिया वाहकों तथा रॉकेटों पर मरम्मत आदि का कार्य कर सकता है।

आशा है कि 'बीटल से किए गए परीक्षणों से जो जानकारी प्राप्त होगी उसका वायुसेना द्वारा प्रयोग किया जायेगा। इन जाँचों के परिणामस्वरूप मनुष्य के समान कार्य करने वाले ऐसे हल्के यन्त्रों (रौबट) का विकास किया जा सकेगा जिन्हें वायुयानों द्वारा इधर-उधर भेजा जा सकेगा।

सीसे की बनी हुई १२ इञ्च मोटी दीवारें गाड़ी में बैठे हुए चालक की रक्षा करती हैं। वह ५ विभिन्न खिड़कियों में से देख सकता है, जिनमें से प्रत्येक २३ इञ्च मोटी होती है।

गाड़ी के भीतर संचालक की सुविधा के लिए जो पर्दा बना हुआ है उसके लिए तीन टेलिविजन

कैमरे चित्र लेते रहते हैं। जब संचालक किसी गर्म प्रतिक्रिया वाहक यन्त्र के भीतर अथवा किसी कोने के चारों ओर देखना चाहता है तब वह चित्र लेने के लिए बीटल के यान्त्रिक हाथ में एक कैमरा रख देता है।

बीटल में एक पेरीस्कोप नामक यन्त्र लगा है जो वस्तुओं को उनके आकार से ६ गुना अधिक प्रदर्शित करता है।

ऋतु सम्बन्धी परिवर्तनों का 'बीटल' पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है यह २५ ऋण अंश फारेनहाइट से लेकर १३० धन अंश फारेनहाइट तक के तापमान में कार्य कर सकता है। यन्त्र के भीतर की गयी वातानुकूलित व्यवस्था के फलस्वरूप संचालक बड़े आनन्दपूर्वक कार्य करता रहता है।

५०० अश्व-शक्ति तथा ६ सिलिण्डरों वाले इंजन से बीटल को विद्युत शक्ति प्राप्त होती है। ११० अश्व-शक्ति का एक अन्य सहायक इंजन जनरेटर तथा हाइड्रोलिक पम्प का संचालन करता है। आवश्यकता पड़ जाने पर एक २०८ वाल्ट के डाइनोमोटर तथा बैटरियों से बिजली उत्पन्न की जाती है।

१६ फुट लम्बा तथा १२·५ फुट चौड़ा बीटल यन्त्र (रोबट) ४५॥ टन वजन की दूसरी गाड़ी को खींच सकता है। यह टैंक ट्रेड पर रखे जाने पर १० मील प्रति घण्टा की रफ़्तार से यात्रा कर सकता है।

संकट काल में 'बीटल' सीमेण्ट की दीवार में एक सुराख बना कर एक यान्त्रिक दैत्य के समान कार्य कर सकता है। इसकी आवाज बहुत दूर से सुनाई पड़ती है। इसमें एक लाउडस्पीकर, एक रेडियो ट्रांसमीटर और एक रिसीवर की व्यवस्था रहती है।

इसके सामान्य रूप में संचालन के समय, गाड़ी मैदान से १० फुट ऊपर रहती है। १००-१०० पौण्ड के वजन तक की दो वस्तुओं को उठाते समय यह गोलाकार में घूमता रहता है।

विकिरण का पता लगाने वाले यन्त्र संचालक को यह बता देते हैं कि बाहर कितना विकिरण मौजूद है।

बीटल एक समय में ८ घण्टे तक कार्य कर सकता है। रात्रि में अनेक प्रकार की रोशनियाँ प्रयोग में लायी जाती हैं। संचालक के पुश बटन पर लगी हुई लाल रोशनियों से उसको यह पता चल जाता है कि क्या बीटल की विभिन्न व्यवस्थाएँ ठीक-ठीक कार्य कर रही हैं।

संचालक की सुख-सुविधा के लिए उसमें एक सुखद सीट, एशट्रे तथा स्वचालित सिग्रेट लाइटर की व्यवस्था की गयी है

११ अमेरिकी जहाज द्वारा हिन्द महासागर की पड़ताल

कोलम्बिया विश्वविद्यालय के अनुसंधानकारी जहाज 'वीमा' ने हिन्दमहासागर के अज्ञात ४००० मील क्षेत्र की पड़ताल का काम शुरू कर दिया है। उसकी इस यात्रा का मुख्य प्रयोजन समुद्रतल और उससे नीचे पृथ्वी के पृष्ठ के बीच में जमी हुई विभिन्न परतों के सम्बन्ध में जानकारी तथा आँकड़े एकत्र करना है। 'वीमा' उन ४० अनुसंधानकारी जहाजों में से है जो हिन्द महासागर की जानकारी प्राप्त करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय अभियान में भाग ले रहे हैं।

'वीमा' जहाज पर आंध्र विश्वविद्यालय, वाल्टेयर, के डा० वी० भास्करराव भी हैं। वह जहाज पर उपस्थित लैमोण्ट वेधशाला के वैज्ञानिक को सहयोग देंगे। डा० राव पिछले सितम्बर से लैमोण्ट वेधशाला में काम करते रहे हैं।

'वीमा' जहाज मौरीशस से चलकर हिन्द महासागर में इधर-उधर घूमता हुआ फ्रीमैंटल (आस्ट्रेलिया) पहुँचेगा। समुद्र-तल की परतों की जानकारी प्राप्त करने के लिए वैज्ञानिक लोग चुम्बकीय प्रतिक्षेपण अथवा 'प्रोफाइलर' विधि का प्रयोग करेंगे।
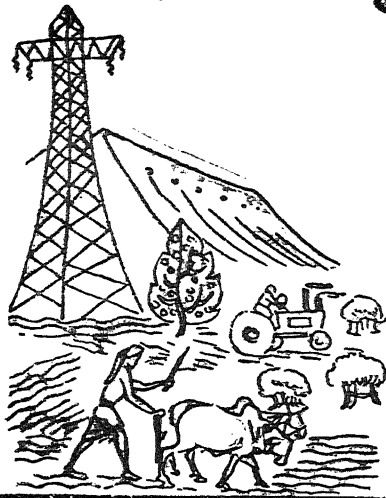
(शेषांश पृष्ठ १३८ पर)

सम्पादकीय—

१. हिन्दी का विरोध

स्वाधीनता प्राप्त करने के १५ वर्ष बाद अब राष्ट्रभाषा हिन्दी का विरोध आवश्यक ही नहीं प्रतीत होता। बल्कि ऐसा लगता है मानो राष्ट्र के शुभ-चिन्तकों के हृदयों एवं मस्तिष्कों में आमूल परिवर्तन हो रहे हैं। हिन्दी का विरोध इसलिए नहीं हो रहा कि उसमें भावों को प्रकट करने की क्षमता नहीं है अथवा सरलता पूर्वक इसे सीखा नहीं जा सकता, वरन् यह विरोध हिन्दी साम्राज्यवाद की स्थापना के आतंक के कारण है। यदि ऐसी ही बात है, तो यह भय का भूत कहा जायगा अन्यथा क्या अँग्रेजी को संरक्षण प्रदान करने से अँग्रेजी साम्राज्यवाद की स्थापना का डर नहीं है !!

रेडियो से हिन्दी बहिष्कृत हो रही है इससे हमें भयभीत नहीं होना है। यदि समाचारों के प्रसारण में हिन्दी को स्थान नहीं मिल रहा, न मिले परन्तु क्या भारतीय सरकार संविधान से हिन्दी को राष्ट्र-भाषा की अधिकारिणी बनने से वञ्चित कर सकेगी ? कदापि नहीं। हिन्दी सारे राष्ट्र की भाषा है, उसके बोलने और समझने वाले सारे देश में हैं। केवल ईर्ष्या-द्वेष के कारण हिन्दी का विरोध हो रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि सभी हिन्दी भाषा-भाषी विरोधों की ओर ध्यान न देकर हिन्दी की हित-चिन्तना के लिए दृढ़ संकल्प रहें।

हमें प्रसन्नता है कि वैज्ञानिक विषयों में हिन्दी को मान्यता प्राप्त हो रही है और वह दिन दूर नहीं जब न केवल उत्तर प्रदेश वरन् बिहार, राजस्थान तथा मध्य प्रदेश के समस्त विश्वविद्यालयों की स्नातक एवं स्नातकोत्तर परीक्षायें हिन्दी में सम्पन्न होने लगेंगी। हमें निराश होने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है धैर्य्य पूर्वक लक्ष्य प्राप्ति के लिए अनवरत कर्तव्यपरायणता की। यदि वैज्ञानिक जगत में शीघ्र ही हिन्दी आरूढ़ हो गई तो राजनीतिक उद्दंडता स्वयमेव शान्त पड़ जावेगी।

२. विज्ञान परिषद् में प्रो० हुमायूँ कबीर तथा सत्येन्द्रनाथ सिन्हा

गत ३० जुलाई को केन्द्रीय मन्त्री प्रो० हुमायूँ कबीर ने विज्ञान परिषद् की कार्यकारिणी के सदस्यों के साथ, मध्याह्न में, विचार विमर्श में भाग लेते हुए परिषद् की स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर, जो सन् १९६३ में मनाई जावेगी, केन्द्रीय सरकार की ओर से उचित आर्थिक सहायता प्रदान करने का आश्वासन दिया। उन्होंने परिषद् के कार्यों के प्रति आस्था प्रकट की और परिषद् से प्रकाशित होने वाली त्रैमासिक पत्रिका, अनुसन्धान पत्रिका, को स्वर्णजयन्ती के अवसर से मासिक बना देने की सलाह दी। उन्होंने इस युग में वैज्ञानिक कार्यों में हिन्दी के व्यवहार के सम्बन्ध में अपनी स्वीकारात्मक राय प्रकट की।

× × ×

९ अगस्त को बिहार के शिक्षा मन्त्री श्री सत्येन्द्रनाथ सिन्हा भी परिषद् में पधारे। उन्होंने बिहार सरकार द्वारा हिन्दी को स्नातक परीक्षाओं में मान्यता प्रदान किये जाने तथा वहाँ की हिन्दी सम्बन्धी गतिविधियों की सूक्ष्म जानकारी परिषद् के सदस्यों के सामने प्रस्तुत की और यह आशा प्रकट की कि विज्ञान परिषद् द्वारा प्रकाशित हिन्दी में वैज्ञानिक ग्रन्थों से न केवल उत्तर प्रदेश वरन् बिहार ए अन्य प्रान्त भी लाभान्वित होंगे।

(शेषांश पृष्ठ १२९ पर)

भाग ६५
संख्या ६
भाद्रपद
सं० २०१६ वि०
सितम्बर १९६२

विज्ञान परिषद् प्रयाग का मुख पत्र

विज्ञान

प्रति अंक ४० न० पै०
वार्षिक ४ रुपये

सम्पादक—डा० शिवगोपाल मिश्र

विज्ञान परिषद्, प्रयाग

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

पुस्तक	मूल्य
१—विज्ञान प्रवेशिका भाग १—श्री रामदास गौड़, प्रो० सालिगराम भार्गव	३७ नये पैसे
२—वैज्ञानिक परिमाण—डा० निहालकरण सेठी	१ रु०
३—समीकरण मीमांसा भाग—१ पं० सुधाकर द्विवेदी	१ रु० ५० नये पैसे
४—समीकरण मीमांसा भाग २—पं० सुधाकर द्विवेदी	६२ नये पैसे
५—स्वर्णकारी—श्री गंगाशंकर पचौली	३७ नये पैसे
६—वर्षा और वनस्पति—श्री शंकरराव जोशी	३७ नये पैसे
७—व्यंग चित्रण—ले० एल० ए० डाउस्ट, अनुवादिका—डा० रत्न कुमारी	२ रुपया
८—तैरना—डा० गोरख प्रसाद	१ रुपया
९—वायुमंडल की सूक्ष्म हवायें—डा० संत प्रसाद टंडन	७५ नये पैसे
१०—खाद्य और स्वास्थ्य—डा० ओंकार नाथ पर्ती	७५ नये पैसे
११—फल संरक्षण—डा० गोरख प्रसाद, वीरेन्द्र नारायण सिंह	२ रु० ५० नये पैसे
१२—शिशु पालन—श्री मुरलीधर बौड़ाई	४ रुपया
१३—मधुमक्खी पालन—श्री दयाराम जुगड़ान	३ रुपया
१४—घरेलू डाक्टर—डा० जी घोष, डा० उमाशंकर प्रसाद, डा० गोरख प्रसाद	४ रुपये
१५—उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर—डा० गोरखप्रसाद, डा० सत्यप्रकाश	३ रु० ५० न०पै०
१६—फसल के शत्रु—श्री शंकरराव जोशी	३ रु० ५० नये पैसे
१७—साँपों की दुनिया—श्री रामेश वेदी	४ रुपया
१८—पोर्सलीन उद्योग—श्री हीरेन्द्र नाथ बोस	७५ नये पैसे
१९—राष्ट्रीय अनुसंधान शालाएँ	२ रुपये
२०—गर्भस्थ शिशु की कहानी—अनु० प्रो० नरेन्द्र	२ रुपया ५० नये पैसे
२१—रेल इंजन परिचय और संचालन—श्री ओंकारनाथ शर्मा	६ रुपया
२२—भारतीय कृषि का विकास—डा० शिवगोपाल मिश्र	५ रुपया
२३—डा० गोरख प्रसाद स्मृति अंक	२ रुपया

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तै० उ० ।३।५।

भाग ९५ | भाद्रपद २०१९ विक्र०, १८८४ शक सितम्बर १९६२ | संख्या ६

अतिचालक चुम्बकीय क्षेत्र दाबक और पंप

डा० मदनलाल महता[1]

अभी अप्रैल के अंतिम सप्ताह में वाशिंगटन, डी० सी० (स० रा० अमेरिका) में हुई अमरीकी भौतिक विज्ञान कांग्रेस-जिसमें लेखक ने भाग लिया था—के दौरान जब दो वैज्ञानिकों ने इस बात की घोषणा की कि उन्होंने अपने साथियों के सहयोग द्वारा चुम्बकीय क्षेत्र को पंप द्वारा किसी बर्तन में दबा कर भरने में प्रायोगिक सफलता प्राप्त कर ली है तो सभी उपस्थित श्रोताओं पर एक अजीब-सी उमंग छा गई। इस सफलता को विज्ञान के तकनीकी उपयोग में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आँका गया और इसकी तुलना इलेक्ट्रॉनिक नली और अर्द्धचालक तत्त्वों की खोज से की गई, जिनसे कि अब तक रेडियो, टेलिविजन और अर्द्धचालक (ट्रांजिस्टर), रेडियो आदि संभव हो सके हैं। तो आइये हम यह समझने का प्रयत्न करें कि ऐसा पंप कैसे बनाया गया।

यदि आप टेबुल पर एक चुम्बक रखें तो उसके चारों ओर जहाँ तक उसका प्रभाव पड़े, उसे उसका प्रभाव-क्षेत्र कह सकते हैं। इस प्रभाव-क्षेत्र में यदि लोहे के कण लाये जायँ तो वे चुम्बक की ओर आकर्षित होंगे। इसी प्रकार इस प्रभाव-क्षेत्र में आने पर चुम्बकीय सुई (कुतुबनुमा) की दिशा भी प्रभावित होगी। चुम्बक जितना शक्तिशाली होगा उसका प्रभाव-क्षेत्र भी उतने ही दूर तक फैला हुआ होगा। ज्यों-ज्यों हम चुम्बक से दूर होते जायेंगे, उसका प्रभाव—चुम्बकीय क्षेत्र—क्षीण होता जायगा।

क्या ऐसी भी कोई रुकावट है जिसे चुम्बकीय क्षेत्र पार नहीं कर सकता? आपने यह देखा होगा कि पीतल की थाली में रखी हुई सुई नीचे चुम्बक चलाने पर उसके साथ चलती है, पीतल चुम्बकीय क्षेत्र को नहीं रोक सकता, वह चुम्बकीय क्षेत्र की बल-रेखाओं के लिए पारदर्शक है। इसी प्रकार लकड़ी, कागज, काँच, कपड़ा, पत्थर और अन्य धातुएँ भी सामान्य ताप पर चुम्बकीय क्षेत्र को रोकने में असमर्थ हैं। इन वस्तुओं के पार रखे चुम्बक को सुई देख लेती है। तो ऐसी कोई चीज है भी जो चुम्बकीय क्षेत्र के लिए अपारदर्शक हो? और यदि है तो उसका पता कैसे लगाया गया?

गत शताब्दी में ऐम्पीयर, फैरेडे आदि कई वैज्ञानिकों ने विभिन्न पदार्थों के चुम्बकीय गुणों पर

१—लेखक आजकल रोचेस्टर यूनिवर्सिटी रोचेस्टर, अमेरिका में है।

प्रयोग किये और वे इस परिणाम पर पहुँचे कि विद्युत्-धारा और चुम्बकत्व आपस में संबंधित है। बदलती हुई वैद्युत् स्थिति (विद्युत्-धारा) चुम्बकत्व को जन्म देती है और बदलता हुआ चुम्बकीय क्षेत्र विद्युत्-धारा को जन्म देता है। इसीलिए तो किसी मुलायम लोहे के छड़ पर लिपटी तार-कुण्डली में विद्युत्-धारा प्रवाहित करने पर वह चुम्बक हो जाता है और एक चुम्बकीय क्षेत्र में तार कुण्डली घुमाकर डाइनुमो विद्युत्-धारा उत्पन्न करते हैं। बिजली और चुम्बकत्व के इस संबंध को मैक्सवेल ने अपने समीकरणों में बहुत ही सुन्दर ढंगों से प्रस्तुत किया।

किसी भी पदार्थ के बने तार के दोनों सिरों पर जितना अधिक विभवान्तर लगाया जायगा, उसमें उसी अनुपात में विद्युत्-धारा बहेगी। विभवान्तर २२० वोल्ट से ४४० वोल्ट कर देने पर बल्ब, हीटर आदि में बहने वाली विद्युत्-धारा भी दुगुनी हो जायगी। बहने वाली विद्युत-धारा में लगाये गये विभवान्तर का भाग देने से जो संख्या आती है वह उस पदार्थ की चालकता की माप है। लकड़ी, प्लास्टिक आदि में बहने वाली विद्युत्-धारा लगभग नगण्य होती है, अतः इन पदार्थों की चालकता लगभग शून्य है, अर्थात् ये विद्युत् के अचालक हैं। ताँबे की चालकता लोहे से अधिक है और चाँदी की चालकता तांबे से भी अधिक। किसी पदार्थ का चुम्बकत्व को पार न जाने देने का गुण उसकी विद्युत् चालकता से संबंधित है। वास्तव में उन धातुओं में, जो विद्युत् की अच्छी चालक हैं, चुम्बकीय क्षेत्र इधर-उधर मुड़ जाता है और पार जाने वाला चुम्बकीय क्षेत्र अपेक्षाकृत कमजोर हो जाता है। अतः यदि कोई ऐसा पदार्थ मिल सके जो विद्युत् का बहुत अच्छा चालक हो तो उसके पार जाने पर चुम्बकीय क्षेत्र भी बहुत क्षीण हो जायगा। परन्तु चुम्बकत्व के लिए अपारदर्शक पदार्थों की न दैनिक जीवन में इतनी आवश्यकता थी और न विज्ञान के अन्य प्रयोगों में ही समझी गई जिससे कि ऐसे जब अतिचालक पदार्थों का पता लगा तो किसी ने इस ख्याल से उनकी ओर ध्यान ही न दिया।

हर पदार्थ काफी ठंडा होने पर ठोस, कुछ गरम करने पर द्रव और काफी गरम करने पर गैस की अवस्था में रहता है। जैसे बर्फ ठोस है, थोड़ा गर्म होने पर वह पानी हो जाता है और अधिक गर्म होने पर भाप। फलतः वैज्ञानिकों ने सोचा कि सामान्य तापों पर गैस की अवस्था में रहने वाले हवा के तत्त्व नाइट्रोजन, ऑक्सीजन आदि भी ठंडा करने पर द्रव और अधिक ठंडा करने पर ठोस हो जायँगे। उन्होंने इसका प्रयत्न किया और धीरे-धीरे सभी सामान्य गैसों को वे द्रव और ठोस बनाने में सफल होते गये। इसमें सबसे ज्यादा कष्ट हाइड्रोजन और हीलियम नामक तत्वों ने दिया क्योंकि उन्हें द्रव बनाने के लिये सबसे अधिक ठंड की आवश्यकता पड़ती है। लेकिन सन् १९११ तक आते-आते हीलियम और हाइड्रोजन भी द्रव और ठोस बना ली गईं।

अब उत्सुकता हुई कि इतनी ठंड अथवा इतने नीचे तापों पर अन्य पदार्थों के गुण क्या वे ही बने रहते हैं या बदल जाते हैं? हीलियम को द्रव बनाते ही डच वैज्ञानिक केमरलिंगओन्स ने पदार्थों के गुणों की जाँच करते हुए पाया कि कुछ धातुओं को काफी ठण्डा करने पर उनकी विद्युत् चालकता एकाएक बढ़ कर अत्यधिक हो जाती है। यदि उन्हें फिर गरम होने दिया जाये तो उनकी विद्युत चालकता एकाएक घट कर सामान्य रह जाती है। जिस ताप पर धातु में यह एकाएक परिवर्तन होता है, उसे उस धातु का "चरम ताप" कहते हैं और इस ताप के नीचे धातु की अत्यन्त अधिक चालकता को "अति चालकता" कहते हैं। अतिचालक पदार्थ के तार के दोनों सिरों पर थोड़ा सा भी विभवान्तर लगाने पर उसमें बहने वाली विद्युत्-धारा की मात्रा अत्यधिक होती है। यदि किसी अतिचालक छल्ले में एक बार विद्युत्-धारा बहना प्रारम्भ हो जाय तो वह वर्षों तक उसी प्रकार बहती रहेगी, विभवान्तर के किसी साधन, बैटरी, वगैरह के लगातार न बने रहने पर भी उसमें कोई कमी नहीं आयेगी।

इसके विपरीत सामान्य चालकों में (लोहा, तांबा आदि के तारों में सामान्य ताप पर) विभवान्तर हटाने के लगभग तुरन्त बाद ही विद्युत्-धारा का बहना भी समाप्त हो जाता है।

धातुओं के नीचे तापों पर अतिचालक हो जाने के इस विचित्र गुण का पता यद्यपि सन् १९११ में ही लग चुका था, पर चुम्बकीय क्षेत्र से उसका संबंध पूरी तरह सन् १९३२ में ज्ञात हुआ। इस संबंध को उसकी खोज करने वाले के नाम से "माइसनर प्रभाव" कहा जाता है। किसी अतिचालक पदार्थ के बने डिब्बे में बन्द चुम्बक का बाहर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा और इसी प्रकार बाहर चुम्बकीय क्षेत्र के रहते हुए भी उक्त डिब्बे के अन्दर रखी सुई बिलकुल अप्रभावित रहेगी। अतिचालक पदार्थ चुम्बकीय क्षेत्र के लिए बिलकुल अपारदर्शक हैं।

परन्तु एक बात और है। यदि उक्त अतिचालक डिब्बे में बन्द चुम्बक का चुम्बकत्व हम बढ़ाते चले जायें तो अन्त में वह दीवारों से एकाएक फूट कर बाहर आ ही जायगा। परन्तु जाँच करने पर पता चलेगा कि उस पदार्थ की अतिचालकता भी समाप्त हो चुकी है, भले ही ताप पहले जितना ही क्यों न हो। अब चुम्बक का चुम्बकत्व फिर घटाने पर पदार्थ की उसके लिए पारदर्शकता एकाएक समाप्त हो जायगी और डिब्बे के बाहर चुम्बकीय प्रभाव एकाएक समाप्त हो जायगा। अतिचालकता भी फिर से स्थापित हो जायगी। किसी पदार्थ की अतिचालकता को समाप्त करने के लिये जितने शक्तिशाली चुम्बकीय क्षेत्र की आवश्यकता होती है, उसे उस पदार्थ का उस ताप पर 'चरम (चुम्बकीय) क्षेत्र' कहते हैं। किसी पदार्थ के ताप और उसके चरम क्षेत्र का संबंध चित्र १ में दर्शाया गया है। पदार्थ का ताप यदि चरम ताप T_c से अधिक हुआ तो उसकी चालकता सामान्य रहेगी। पदार्थ अतिचालक तब और केवल तभी होगा, जब उसका ताप T_c से कम हो और उसके चारों ओर का चुम्बकीय क्षेत्र भी इतना कम हो कि हम चित्र १ में वक्र H_c से नीचे रहें। जैसे ताप यदि T^1 हो तो अतिचालकता के लिए चुम्बकीय क्षेत्र का H^1 से कम होना आवश्यक और काफी है, और यदि ताप T^2 हो तो चुम्बकीय क्षेत्र H^2 से कम होना चाहिए।

सभी धातुओं के लिए ताप और चरम चुम्बकीय क्षेत्र के वक्र का आकार चित्र १ से मिलता है, पर T_c का मान और H_c वक्र की अक्ष से ऊँचाई उस धातु के गुणों पर निर्भर करती है। यदि किसी बेलन में चुम्बकीय क्षेत्र दबा कर भरना है तो उसकी दीवारें ऐसे पदार्थ से बनी होनी चाहिये जो भीतरी चुम्बकीय दबाव को सहते हुए भी अतिचालक बनी रहें। अर्थात् हमें ऐसा पदार्थ ढूँढ़ना पड़ेगा जिसका चरम चुम्बकीय क्षेत्र अधिकाधिक हो। माइसनर प्रभाव की जानकारी होते ही कई पदार्थों का इस दृष्टि से अध्ययन किया गया और यह पाया गया कि आज तक ज्ञात पदार्थों में नियोबियम और टिन धातुओं को ३ और १ के परमाण्विक अनुपात में मिला कर जो मिश्र धातु बनती है वह सबसे अधिक तेज चुम्बकीय क्षेत्र को सह सकती है। द्रव हीलियम (४·२° K) ताप पर इसका चरम चुम्बकीय क्षेत्र १००० गौस है। तुलना के लिए पृथ्वी का चुम्बकीय क्षेत्र ०·२ से ०·५ गौस व साधारण स्थायी लौह चुम्बक का क्षेत्र २०० से ८०० गौस तक होता है।

वैज्ञानिकों ने इस बात का अध्ययन भी किया है कि क्या किसी अतिचालक धातु में चुम्बकीय क्षेत्र बिलकुल नहीं प्रवेश करता? यह पाया गया है कि किसी भी अतिचालक पदार्थ में चुम्बकीय क्षेत्र धरातल से कुछ दूर अंदर तक प्रवेश कर जाता है, पर एक सेन्टीमीटर के लगभग एक लाखवें हिस्से (१०$^{-५}$ सेमी० या १/१००००० सेमी० से अधिक गहरा नहीं जाता। यह प्रवेश करने की दूरी अलग-अलग पदार्थों के लिए अलग-अलग है। पदार्थ में प्रेरित अतिचालित विद्युत् धारायें चुम्बकीय क्षेत्र को अधिक गहरा नहीं जाने देतीं।

तो नियोबियम-टिन मिश्र धातु की प्रवेश-दूरी से अधिक मोटी दीवारों वाले बक्स में हम १००० गौस

तक के चुम्बकीय क्षेत्र बन्द कर सकते हैं। पर आज के मानव की आवश्यकताओं को देखते हुए यह बिलकुल नगण्य है। आइये, इन आवश्यकताओं और चुम्बकीय क्षेत्र-उत्पादन के अन्य तरीकों की ओर भी हम एक नज़र डाल लें।

तेज़ चुम्बकीय क्षेत्रों की आवश्यकता विशेषकर शक्ति के नये स्रोत संगलन (फ्यूज़न) प्रक्रियाओं को उन्नत करने और प्लाज़्मा प्रोपलशन के समय अनुभव की गई। जैसा कि अधिकांश पाठक जानते हैं, हिरोशिमा के यूरेनियम बम की शक्ति यूरेनियम तत्त्व के विशिष्ट परमाणु-नाभिकों के खंडन से प्राप्त हुई थी और बाद के हाइड्रोजन बमों की शक्ति का रहस्य हाइड्रोजन तत्त्व के विशिष्ट नाभिकों को आपस में दबा कर हीलियम के बड़े नाभिक बनाने में है। नाभिकों के आपस में मिलने की इस प्रक्रिया को अंग्रेजी में 'फ्यूज़न' कहते हैं। यदि फ्यूज़न क्रिया की गति हम इच्छानुसार बहुत धीमी कर सकें तो उससे निकलने वाली ऊष्मा भी हाइड्रोजन बम की तरह धड़ाके से कुछ ही क्षणों में निकलने के बजाय धीरे-धीरे निकलेगी और हम उससे पानी उबाल कर विद्युत्-उत्पादन कर सकते हैं। पर फ्यूज़न क्रिया को प्रारंभ करने और बनाये रखने के लिये अत्यधिक ऊँचे ताप की आवश्यकता है। ऐसा करोड़ों डिग्री सेन्टीग्रेड का ताप यूरेनियम बम या अन्य साधनों से उत्पन्न तो किया जा सकता है, पर कठिन समस्या है फ्यूज़न क्रिया में भाग लेने वाले हाइड्रोजन परमाणुओं को किस बर्तन में रखा जाय, क्योंकि कोई भी ज्ञात पदार्थ इतने ऊँचे ताप पर गैस अवस्था में बदल कर उड़ जायगा। इसके लिए सोचे गये उपाय "चुम्बकीय बोतल" के बनाने में प्रायोगिक सफलता अब तक नहीं मिल सकी है। हाइड्रोजन परमाणुओं के नाभिक और उसके चारों ओर घूमने वाले इलेक्ट्रॉनों को अलग-अलग कर देने पर वे दोनों विद्युन्मय हो जाते हैं। इस विद्युन्मय मिश्रण को प्लाज़्मा कहा जाता है। बाहरी विद्युत्-क्षेत्र से प्रभावित कर इस प्लाज़्मा में विद्युत् धारायें बहाई जा सकती हैं। ये विद्युत् धाराएं, जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, चुम्बकीय क्षेत्र को भी प्रभावित करती और उससे प्रभावित होती हैं। बाहरी विद्युत् और चुम्बकीय क्षेत्रों का ऐसा मेल बैठाया जा सकता है, कि यह प्लाज़्मा एक निश्चित स्थान में ही बन्द रहे उससे बाहर न निकले। इस विधि से बिना किसी पदार्थ की दीवारों के केवल विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्रों के मेल द्वारा चारों ओर से बन्द प्लाज़्मा जितना चाहें गरम कर लें पर ऐसा कर सकने के लिये आवश्यक २ से ५-६ लाख गौस तक के चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न कर पाने की समस्या अभी तक ज्यों की त्यों है।

उच्च शक्ति न्यूक्लियर फिजिक्स के दूसरे प्रयोगों, जैसे मूल कण Λ (लेंबडा) के चुंबकीय घूर्ण को नापने में चुम्बकीय क्षेत्र का शक्तिशाली होना तो आवश्यक है, पर अधिक लम्बे समय तक नहीं। इस प्रकार की समस्याओं पर भी सोचा जा रहा है। बड़े घनफलों में चुम्बकीय क्षेत्र पैदा करना व उसे बनाये रखना कठिन व अधिक मँहगा पड़ता है।

सारणी १ में तुलना के लिए चुम्बकीय क्षेत्र, उत्पादन के विभिन्न तरीके, क्षेत्र की तीव्रता, समय, घनफल और उस विधि को कार्यान्वित करने में अनुमानित खर्च दिये गये हैं। हमने इसी सारणी में अतिचालक पंप और उसमें होने वाला अनुमानित व्यय भी दिया है, जिसकी घोषणा ने वाशिंगटन कांग्रेस में सनसनी फैलाई थी। यहाँ यह प्रश्न उठना अत्यन्त स्वाभाविक है कि १००० गौस चरम चुंबकीय क्षेत्र वाली नियोबियम मिश्र धातु कैसे २२००० गौस सह सकी है और उसके एक लाख गौस तक के क्षेत्र सह सकने की सामर्थ्य का अनुमान किन तथ्यों पर आधारित है? पदार्थों की अतिचालक झिल्लियों की जाँच करते हुए यह पाया गया कि ये झिल्लियाँ चुम्बकीय क्षेत्र के समानान्तर होने पर बहुत तेज क्षेत्र सहन कर सकती हैं, झिल्लियाँ जितनी पतली होंगी और झिल्ली जिस पदार्थ से बनी है, उसमें चुम्बकीय क्षेत्र के घुसने की दूरी जितनी अधिक होगी, ये अतिचालक

सारणी १

चुम्बकीय क्षेत्र उत्पादन की विभिन्न विधियों की तुलना

विधि	क्षेत्र H (हजार गौस में)	समय	(आयतन) (घन से.मी.में)	व्यय (हजार रुपयों में)
१ विद्युतचुंबक (अच्छा सा)	२०	अनन्त	३०	१५,
२ ,, (अधिक अच्छा)	१००	अनन्त	५०	१०००
३ ,, (नया जो मैसेच्यूसेट्स इ० ऑफ टे० में बनेगा)	२००-२५०	अनन्त	३०	३००००
	५००	१-२ सेकेण्ड		
४ केपेसिटर डिसचार्ज	५००	१/१००००सें०	३	५०
५ अति चालक कुंडली	~१०० (अनुमानित)	अनन्त	३०	१००-२५०
६ अतिचालक पंप	~१०० (अनुमानित)	,,	१००-१०००	५०-२५०
७ ,,	~ २२ (अब तक सफल)	,,	,,	,,

रहते हुए उतना ही अधिक चुम्बकीय क्षेत्र सह सकेंगी। यद्यपि इसमें अभी सभी वैज्ञानिक एकमत नहीं हैं, कुछ लोगों की यह धारणा है कि धातुओं के बुरादे को सिंटर-क्रिया द्वारा दबाकर जोड़ने से इस धातुपिंड में यह गुण आ जाता है कि ठण्डा किये जाने पर इसमें कुछ झिल्लियाँ या कुछ रेशे मात्र सबसे पहले अतिचालक बन जाते हैं जब कि बाकी का सारा पदार्थ सामान्य चालक बना रहता है। ये झिल्लियाँ या रेशे चुम्बकीय क्षेत्र कि बल-रेखाओं के समानान्तर रहने से कई गुने अधिक चुम्बकीय में भी अतिचालक बने रहते हैं। बाकी सारा पदार्थ सामान्य चालक से अतिचालक तभी बनता है जब चुम्बकीय क्षेत्र काफी कम कर दिया जाय। विभिन्न पदार्थों में चुम्बकीय क्षेत्र के प्रवेश की दूरियाँ नापी गई हैं और सिंटर किये हुए धातु पिंडों में बनने वाली झिल्लियों की मोटाई का अनुमान अन्य विधियों से लगाया गया है, इन्हीं दो मात्राओं से नियोबियमटिन मिश्रधातु के एक लाख गौस चुम्बकीय क्षेत्र में भी अतिचालक बने रहने का सामर्थ्य आँका गया है। नियोबियम-जिरकोनियम मिश्र धातुओं पर भी प्रयोग चल रहे हैं।

अब हम अपने मूल विषय, अतिचालक तत्वों से बने ऐसे पंप का वर्णन करेंगे जो चुम्बकीय क्षेत्र को दबाकर किसी स्थान विशेष में भर सकें। "जनरल इलेक्ट्रिक रिसर्च लेबोरेट्री" के श्री स्वार्ट्ज और श्री रोजनर की युक्ति चित्र सं० २ और ३ में दिखाई गई है। अतिचालक मिश्रधातु के सिंटर किये गये बेलनाकार पिंड में '8' के आकार का एक सूराख किया गया; इसी मिश्र धातु का एक अन्य बेलन के आकार का पिस्टन जो सूराख A में फिट बैठे, लिया गया। '8' सूराख वाले बड़े बेलन के बाहर चारों ओर एक तार-कुण्डली लपेट दी गई ताकी उसमें इच्छित समय पर विद्युत्-धारा बहा कर बेलन के अक्ष के समानान्तर चुम्बकीय क्षेत्र पैदा किया जा सके। अब सबको द्रव नाइट्रोजन

के तार पर लाकर कुण्डली में विद्युत्-धारा छोड़ी गई। तत्पश्चात् इस चुम्बकीय क्षेत्र की उपस्थिति में सबको और ठण्डा करते गये ताकि अन्ततः द्रव हीलियम ताप तक आते-आते बेलन और पिस्टन सभी अतिचालक बन गये। अब विद्युत्-धारा बन्द की जा सकती है, क्योंकि उसके कारण जो भी क्षेत्र बेलन के '8' सूराख में पहले था वह उसके अतिचालक बनते ही उसमें बन्द हो गया और निकल नहीं सकता। अब यदि पिस्टन को सूराख A में नीचे ले जाया जाय तो सूराख A में का चुम्बकीय क्षेत्र भी दब कर सूराख B में आ जायेगा (चित्र ३)। इस प्रकार सूराख B में प्रारम्भिक क्षेत्र से कई गुना अधिक क्षेत्र पैदा किया जा सकता है, यदि सूराख A को B से बहुत बड़ा बनाया जाय।

यदि पिस्टन का काम हम एक पोले बेलन से लें तो इस पोले बेलन में पहले से उलटी दिशा में चुम्बकीय क्षेत्र बन्द कर सूराख B के क्षेत्र को डेढ़-दो गुना और अधिक बढ़ाया जा सकता है (चित्र ४)।

यदि प्रारम्भ में सूराख A और B को खाली रखने के बजाय उनमें मुलायम लोहे के बेलन ठूँस कर बाहरी चुम्बकीय क्षेत्र पैदा करने वाली कुंडली में विद्युत्-धारा प्रेषित करें, पूरे पिंड को ठण्डा कर द्रव हीलियम ताप पर लायें, बाहरी कुण्डली की विद्युत्-धारा बन्द कर दें, इन मुलायम लौह-बेलनों को बाहर खींच लें तो इन सूराखों का चुम्बकीय क्षेत्र पहले से दो-ढाई गुना अधिक होगा। अब अतिचालक मिश्र धातु के पिस्टन द्वारा सूराख A का क्षेत्र दबा कर सूराख B में भेजा जा सकता है।

परन्तु यह सुधार केलिफोर्निया इंस्टीट्यूट आफ टेकनोलॉजी के श्री एलमान व उनके सहयोगियों की युक्ति के सामने नगण्य है। एक ही बार में दबाकर एक छोटे से स्थान में चुम्बकीय क्षेत्र थोड़ा अधिक कर लेने के बजाय उन्होंने इसी क्रिया को बार-बार दोहरा कर चुम्बकीय क्षेत्र को बड़े से बड़े स्थान में चाहे जितना दबा कर भर देने की बात सोची। मिश्र धातु के सिंटर किये हुए एक बेलनाकार पिंड में दो सूराख A और B किये गये तथा उन्हें जोड़ने वाले स्थान C और B को बाहर से जोड़ने वाले स्थान D को गरम व ठण्डा करने का अलग से प्रबन्ध किया गया (चित्र ५)। सूराख B में एक पिस्टन लगाया गया। सारे पिण्ड पर तार-कुण्डली लपेट कर प्रारम्भिक चुम्बकीय क्षेत्र की सुविधा भी तैयार कर ली गई।

तार-कुण्डली में विद्युत्-धारा बहा कर बेलन व पिस्टन सभी को द्रव हीलियम ताप पर ले आया गया। अब जोड़ C को थोड़ा-सा गरम करें तो उसकी अतिचालकता नष्ट हो जायगी, बाकी सारा पिण्ड अतिचालक है। B के पिस्टन को नीचे ले जाने पर उसका क्षेत्र दब कर जोड़ C के द्वारा सूराख A में आ जायगा। तब C को फिर ठण्डा करें ताकि वह अतिचालक बन जाय और A और B के चुम्बकीय क्षेत्रों का सम्बन्ध टूट जाय। अब B को थोड़ा गरम करें तो उसकी अतिचालकता नष्ट हो जायगी और सूराख B का बाहरी कुण्डली के चुम्बकीय क्षेत्र से सम्बन्ध हो जायगा। अब B के पिस्टन को ऊपर लाने पर बाहरी चुम्बकीय क्षेत्र जोड़ D के द्वारा B में प्रवेश करेगा। अब D को फिर ठण्डा करिये ताकि वह अतिचालक होकर B का बाहर से सम्बन्ध काट दे। तब C को थोड़ा गरम कर B में का क्षेत्र पिस्टन द्वारा दबा कर A में भेज दीजिये। अब C को फिर ठण्डा कर A और B का सम्बन्ध काट दीजिये; आदि।

जिस प्रकार साइकिल या मोटर के पहिये में पंप द्वारा दबा कर कितनी हवा भरी जा सकती है इसकी सीमा ट्यूब की सहन शक्ति और पंचर आदि द्वारा हवा के लीक होने पर निर्भर है, उसी प्रकार इस युक्ति द्वारा चुम्बकीय क्षेत्र कितना दबाकर भरा जा सकता है, इसकी सीमा बर्तन, पंप, पिस्टन आदि जिन पदार्थों से बने हैं उनके चरम चुम्बकीय क्षेत्र और चुम्बकीय क्षेत्र के लीक होने पर निर्भर है। इस लीक होने के बहुत से कारण हो सकते हैं जिनमें

से अभी तक कुछ ही ज्ञात हो पाये हैं और जिन्हें दूर करने का प्रयत्न भी किया गया है। जैसे सूराख B के भीतरी व्यास और पिस्टन के बाहरी व्यास में जितना कम अन्तर हो, उतना ही उनके बीच के स्थान से चुम्बकीय क्षेत्र कम लीक होगा। इसी प्रकार चुंबकीय बल-रेखाओं के लौटने के लिये अतिचालक पिंड के चारों ओर मुलायम लोहे का खोल चढ़ाने, A और B सूराखों के तीखे कोनों को घिस देने ताकि प्रेरित अतिचालक विद्युत् धाराएँ आसानी से बह सकें, प्रारम्भ में सूराख A में खाली स्थान की जगह मुलायम लोहे का बेलन ठूँस कर बाहरी चुंबकीय क्षेत्र की उपस्थिति में सारे पिंड को द्रव हीलियम में ठण्डा कर लेने के बाद इस मुलायम लौह-बेलन को निकाल लेने आदि सुधारों से पंप की कार्यक्षमता कुछ बढ़ाई जा सकी है। परन्तु चुंबकीय क्षेत्र के दबकर दस हजार गौस से अधिक होने पर इस क्षेत्र के अतिचालक दीवार को एकाएक कूद कर बाहर आ जाने का खास कारण अब तक ठीक से समझा नहीं जा सका है। और इन्हीं एकाएक कुदानों के कारण चुंबकीय क्षेत्र इस विधि से अब तक २२, ३०० गौस तक ही दबाये जा सके हैं। यह भी अभी तक ज्ञात नहीं कि ये कुदानें केवल यांत्रिक कमियों के कारण होती हैं या इनकी जड़ में कोई मूल कारण है। पहली अवस्था में सुधार सम्भव है और अनुमानित एक लाख गौस तक पहुँचा जा सकता है, जबकि दूसरी अवस्था में हमें कुछ नया ज्ञान प्राप्त करने का अवसर सुलभ होगा।

इतने तेज चुंबकीय क्षेत्र पैदा करने की एक और संभावना अतिचालक तारों की कुंडली बनाना है। तारों के अतिचालक होने से विद्युत् शक्ति का खर्च लगभग नगण्य होगा। परन्तु इसमें सबसे बड़ी मुसीबत इन तारों के विभिन्न हिस्सों की बनावट, ताप और इसलिए अतिचालकता में समानता प्राप्त करना है। क्योंकि अतिचालक तारों में साधारणतया १५ से २० एंपियर तक विद्युत् धारा भेजी जा सकती है अतः तेज चुंबकीय क्षेत्रों के लिए कुंडली में तार के कई लपेटे लगाने पड़ेंगे और बड़े आयतनों में तेज चुंबकीय क्षेत्र पैदा करने वाली इन विशालकाय अतिचालक कुंडलियों को ठंडा बनाये रखने का प्रबन्ध काफी खर्चीला पड़ेगा।

दूसरे पंप को उलटी दिशा में चलाकर अर्थात् उसके अतिचालक वाल्वों के खुलने-बन्द होने का क्रम बदल कर किसी बर्तन में चुंबकीय शून्य उत्पन्न किया जा सकता है।

चुंबकीय क्षेत्र के किसी मान-विशेष से प्रारम्भ कर पंप के कितने चक्रों में इस क्षेत्र को कितना तेज या क्षीण किया जा सकता है, यह अंदाज डा० एलमान व उनके सहयोगियों द्वारा किये गये कुछ प्रयोगों से सम्बन्धित लेखाचित्र ६ व ७ से लगाया जा सकता है। अधिक उत्सुकता रखने वाले "जरनल ऑफ एप्लाइड फिजिक्स' के जुलाई अंक में इसी विषय पर निकला निबन्ध पढ़ सकते हैं या फिर "जेट प्रोपल्शन लेबोरेट्री, केलिफोर्निया इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी, पसाडेना, केलिफोर्निया" की "रिसर्च समरी" सं० ३६ १२ व ३६-१४
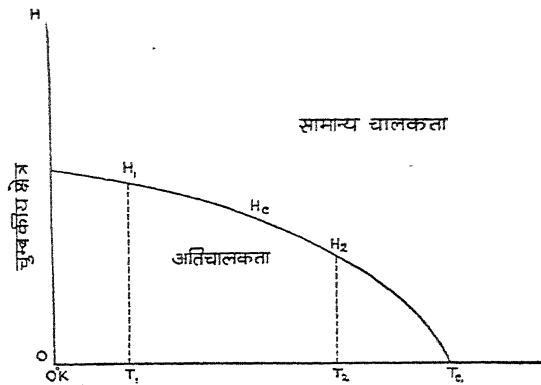
चित्र १

किसी पदार्थ के ताप और चरम चुम्बकीय क्षेत्र का सम्बन्ध

और "जनरल इलेक्ट्रिक रिसर्च लेबोरेट्री, श्नेचेकटाडी, न्यूयार्क" की रिपोर्ट संख्या ६२-RL-२६५१ M फरवरी १६६२ मँगा कर देख सकते हैं। अप्रकाशित निबन्धों व उनमें के कुछ चित्रों के लिये उनके लेखकों के प्रति आभार प्रदर्शन करने में मुझे प्रसन्नता हो रही है।
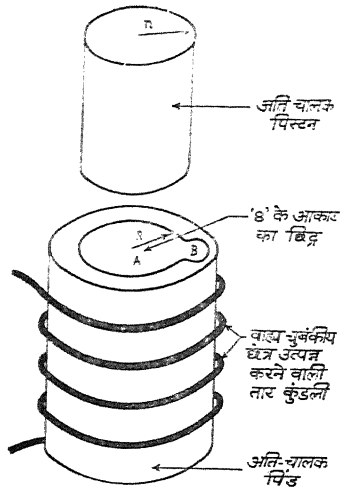
चित्र २
चुम्बकीय क्षेत्र के अतिचालक दाबक के विभिन्न हिस्से
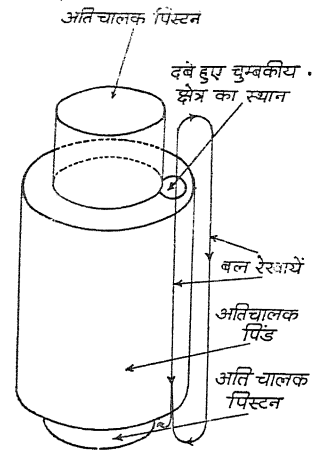
चित्र ३
चुम्बकीय क्षेत्र का अतिचालक दाबक; पिस्टन अपनी अंतिम स्थिति में
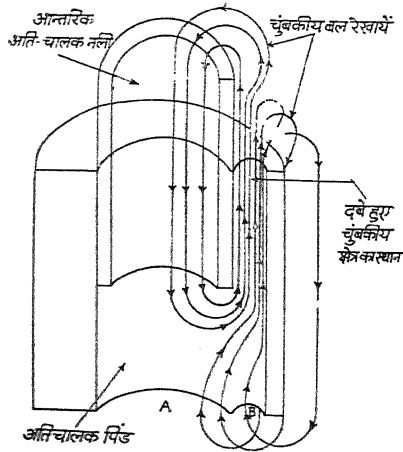
चित्र ४
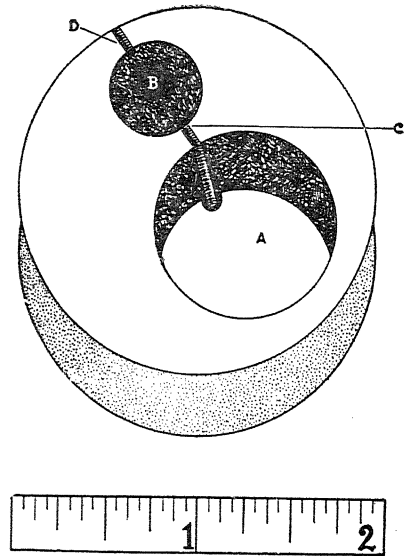
चित्र ५
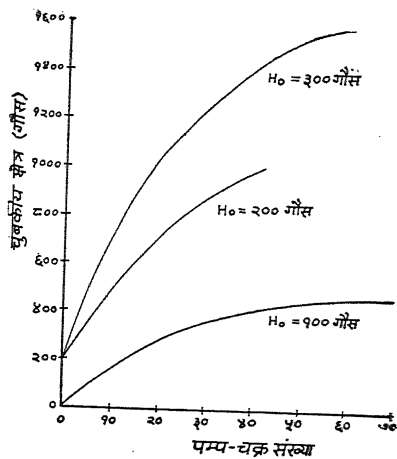
चित्र ६
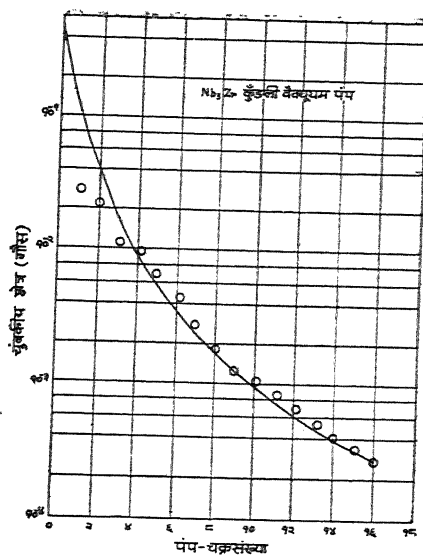
चित्र ७

पादप रोग-विज्ञान का इतिहास

रमेशदत्त शर्मा

जिस समय से मनुष्य ने भोजन के लिए खेती पर निर्भर रहना सीखा, उसी समय से उसे फसलों की हानि, खाद्य की कमी और अकाल आदि का सामना करना पड़ा। विभिन्न संस्कृतियों के प्राचीन ग्रन्थों के पलटने भर की जरूरत है कि हमें पौधों के अनेक रोगों का वर्णन मिल जायगा।

प्राचीन भारत में पादप रोग-विज्ञान

संसार के प्राचीनतम साहित्य में वेदों का नाम सबसे पहले आता है। अथर्ववेद में आदर्श चिकित्सक के गुण बतलाते हुए कहा गया है कि विशुद्ध और नीरोग औषधियों का ही संग्रह करना चाहिए। पौधों के रोग और उनकी चिकित्सा सम्बन्धी विज्ञान को प्राचीन भारत में "वृक्षायुर्वेद" नाम दिया गया था। वृक्षायुर्वेद के अन्तर्गत "अग्निपुराण" और "बृहत्संहिता" दोनों में वृक्षों के रोगों की चिकित्सा उसी प्रकार दी है जैसे मनुष्यों के रोगों की।

शंकर मिश्र ने वैशेषिक की उपस्कर टीका में पौधों के सम्बध में 'भेषज प्रयोग' (औषधि देने) का उल्लेख किया है (४।२।५)। वराहमिहिर ने पौधों के रोगों के कारणों की भी मीमांसा की है। शार्ङ्गधर पद्धति के उपवन विनोद (वृक्षायुर्वेद) प्रकरण में 'कुणप जल' नामक एक द्रव खाद का वर्णन है जो पेड़ों के लिए सामान्यतः पुष्टिकारक होता है।[१]

पश्चिम और पादप रोग-विज्ञान

पुरातन हिब्रू इतिहास में धान्य (गेहूँ, जौ आदि) तथा लता वाली फसलों जैसे अंगूर आदि की बीमारियों का वर्णन मिलता है। थियोफ्रेस्टस आदि यूनानी दार्शनिकों ने पौधों के रोगों के कारण तथा रोक-थाम के कुछ कल्पित उपाय बताए। मध्ययुगीन पाश्चात्य विद्वान रोगाक्रान्त पौधों से पीड़ित

१—वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा—डा० सत्यप्रकाश (पृ० २५०-५१)

तो रहे किन्तु रोगजनक घटकों के सम्बन्ध में उनका ज्ञान अपूर्ण ही था। तथ्यों के अविवेकपूर्ण विश्लेषण, गलत धारणाओं तथा धार्मिक अन्धविश्वासों के कारण कोई भी उल्लेखनीय वैज्ञानिक शोध-कार्य इस क्षेत्र में नहीं किया जा सका। अठारहवीं सदी के अस्तकाल अर्थात् आज से लगभग १६२ वर्ष पूर्व तक ऐसे कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सके कि रोगों की उत्पत्ति तथा वातावरण के पारस्परिक सम्बन्ध की आधुनिक संकल्पनाओं को तत्कालीन वनस्पतिशास्त्रियों ने जान लिया था।

कवक विज्ञान की प्रगति

आधुनिक पादप रोग-विज्ञान अकेला ही नहीं बढ़ा, अपितु इसकी प्रगति अन्य शाखाओं के साथ-साथ ही हुई। गूदेदार फफूँदियों जैसे कुकुरमुत्ता आदि के बारे में यूनानी तथा रोमन दार्शनिकों का यह विचार था कि यह सड़े-गले पदार्थों से यों ही निकल आते हैं। उनका यह विचार कोरा भ्रम ही था। भारतीय लोक-गाथाओं में छत्रकों को भुँइफोड़, कठफुल्ला आदि नाम दिये गये हैं तथा अनेक किम्वदन्तियाँ भी प्रचलित हैं। महान भारतीय चिकित्सक चरक ने छत्रक को खाने के लाभ नीचे दिये श्लोक में बताये हैं :—

"सर्पच्छत्रकवर्ज्यास्तु बह्व्योऽन्याश्छत्रजातयः।
शीताः पीनसकर्य्यश्च मधुरा गुर्य एव च।"

अर्थात् सर्पछत्रक (एक विषैली किस्म) को छोड़ कर अन्य छत्रक शीतवीर्य, मधुर और गुरु हैं।

संत कवि तुलसीदास जी ने भी रामायण में छत्रक शब्द का प्रयोग प्रतीकात्मक रूप में किया है। लक्ष्मण जी भगवान राम से जनक जी का धनुष तोड़ने की आज्ञा माँगते हैं :—

"तोरहुँ छत्रक-दण्ड जिमि; तव प्रताप रघुनाथ"
—रामचरित मानस
(बाल काण्ड)

प्राचीन पाश्चात्य दार्शनिक स्वतः जनन-अर्थात् पहले से उस जैसी किसी वस्तु, पदार्थ या जीव की उपस्थिति न होते हुए भी, किसी चीज, द्रव्य या प्राणी का पैदा हो जाना—में विश्वास करते थे। किन्तु भारतीय दार्शनिकों ने आदिकाल से ही केवल ब्रह्मा को 'स्वयंभू' (अपने आप उत्पन्न) कहा है और मनु को भी स्वायम्भुव मनु कहा गया है, किन्तु जीवों की उत्पत्ति हमारे यहाँ बिना कारण नहीं मानी जाती। थियोफ्रेस्टस आदि की भाँति हम भारतीय यह नहीं सोचते कि मेढ़क कीच से पैदा होते हैं। पादप रोगों तथा पराश्रयता के अभिनव सिद्धान्तों के विकास में पश्चिमी दार्शनिकों के स्वतः जनन सिद्धान्त ने बड़ी बाधाएँ डालीं।

कवक विज्ञान अर्थात् फफूँदियों के विधिपूर्ण अध्ययन की दिशा में पहला उल्लेखनीय कार्य माइकेली (१६७६-१७३७) ने किया। इस इटलीवासी वनस्पतिशास्त्री ने अपनी पुस्तक "नोवा प्लान्टेरम जेनेरा" (१७२६) अपनी मातृभाषा "इटेलियन" में लिखी और कवकों के अनेक वंश और उनके जननांगों का वर्णन किया। वह पहला व्यक्ति था जिसने कवक बीजाणुओं को एकत्र किया, तरबूज की फाँकों पर उनको परिवर्धित किया तथा कवक-जाल की वृद्धि की अध्ययन किया। उसे यह विश्वास हुआ कि कवक अपने बीजाणु से ही पैदा होते हैं।

उसके बाद लगभग १५० वर्ष तक वनस्पति विज्ञान जगत में, पौधों के वर्गीकरण और नामकरण का बोलबाला रहा।

सीजलपिनी (१५१६-१६०३) तथा लिनियस (१७०७-१७७८) आदि इस युग के प्रतिनिधि वैज्ञानिक थे। पादपों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में भी इन वैज्ञानिकों से शताब्दियों पूर्व भारतीय ऋषियों ने कहीं अधिक वैज्ञानिक तथा उपयोगी पद्धतियों का प्रयोग किया था। जैसा कि प्रसिद्ध वनस्पतिज्ञ सर विलियम जोन्स ने स्वयं लिखा है :—

"I am very much solicitous to give Indian Plants their true Indian apellations because I am fully persuaded that Linnaeus himself would have adopted them, had he known, the learned ancient language of this country."

अर्थात् मैं इसके लिए बहुत उत्कण्ठित हूँ कि भारतीय पौधों का नामकरण भारतीय पद्धति के अनुसार ही किया जाय क्योंकि मैं यह अच्छी तरह समझ चुका हूँ कि यदि लिनियस भारत की पांडित्यपूर्ण प्राचीन भाषा (संस्कृत) जानता तो वह भी पौधों के नामकरण की भारतीय पद्धति को ही ग्रहण करता।

आधुनिक वनस्पति विज्ञान में पौधों के नामकरण के लिए लिनियस द्वारा प्रतिपादित द्विनाम पद्धति का ही प्रयोग किया जाता है।

लिनियस के कुछ शिष्यों ने कवकों के अध्ययन की ओर भी ध्यान दिया। इनमें प्रमुख थे :— परसून (१७७५-१८३७) जिसने मुख्यतः फ्रांस में कार्य किया; स्वीनिज (१७८०-१८३४) पूर्वी अमेरिका में; फ्रीज़ (१७९४-१८७८) जर्मनी में तथा लेविली (१७९६-१८७०) फ्रांस में। परसून ने "सिनॉप्सिस मेथोडिका फन्गोरम" तथा फ्रीज़ ने "सिस्टेमा माइकोलोजीकम" क्रमशः फ्रेंच तथा जर्मन भाषाओं में लिखीं; अंग्रेजी में नहीं। यह दोनों ग्रन्थ कवकों के नामकरण में लिनियस पद्धति के प्रयोग के आधार-स्तम्भ हैं। वास्तव में ये लोग कवकों के नाम देने तथा वर्गीकरण में ही व्यस्त रहे। कवकों के जनन तथा पौधों की बीमारियों से उनके सम्बन्ध के प्रति इन वनस्पतिशास्त्रियों की कोई दिलचस्पी नहीं थी।

सन् १८०७ में प्रीवोस्ट ने गेहूँ के बंट रोगाणु के अंकुरण का अध्ययन किया। उसने कॉपर सल्फेट के प्रयोग से कवक के बीजाणु का अंकुरण रोका और पादप रोगों के उपचार में बीजोपचार की उस क्रांतिकारी विधि का आविष्कार किया जो आगामी १०० वर्षों तक पादप रोगविज्ञानियों द्वारा इस्तेमाल की जाती रही और आज भी की जाती है। फिर भी प्रीवोस्ट की महत्वपूर्ण खोजों पर पूरा-पूरा ध्यान लगभग ४० वर्ष बाद दिया गया। लगभग १८२० में इहरनवर्ग ने कवकों की जनन सम्बन्धी ज्ञात सूचनाओं को एकत्रित किया और कवकों में लैंगिकता की प्रथम उद्घोषणा की। ईसनबेक नामक कवकविज्ञानी ने माइकेली के प्रयोग को दुहराया और रोटी पर कवकों की बीजाणु-धानियाँ परिवर्धित कीं। सबसे पहले डुट्रोशेट (१८३४) ने छत्रकों (छत्ता या कुकुरमुत्ता) के छत्रवृन्तों को भूमि के नीचे स्थित कवकजाल से सम्बन्धित बतलाया; इससे पहले दोनों भागों को दो अलग-अलग कवक समझा जाता था। ट्रोग (१८३८) ने यह प्रमाणित किया कि कवक वातोढ बीजाणु द्वारा फैलाये जाते हैं।

इस समय तक कवकों की आकारिकी तथा जीवन वृत्तान्त का व्यवस्थित अध्ययन प्रारम्भ हो गया था। यौगिक सूक्ष्मदर्शी (कम्पाउण्ड माइक्रॉस्कोप) का कवकों के वर्णन हेतु प्रयोग सर्वप्रथम एक वनस्पति-शास्त्री कोर्डा (१८०९-१८४९) ने किया।

इस श्रेणी में श्रेष्ठतर अध्ययन करने वाले थे फ्रांसीसी वनस्पतिज्ञ लुइस रीने तुलसें (१८१५-१८८५) तथा चार्ल्स तुलसें (१८१७-१८८४) जिन्होंने लगभग १८४१ से १८६५ तक कार्य किया।

अधुनापूर्व पादप रोग-विज्ञान

ऊपर लिखित कवक विज्ञान के साथ ही पादप रोग-विज्ञान भी पनपता रहा। सत्रहवीं शताब्दी में जन-संख्या की वृद्धि के साथ पौधों के रोगों में भी वृद्धि हुई। गेहूँ के बीजों को नमक के पानी से रोगमुक्त करने की विधि प्रयोग करने का इस शताब्दी के साहित्य में उल्लेख मिलता है। बारबेरी पौधे (रतुआ का पोषक) तथा गेहूँ का सम्बन्ध किसानों को शताब्दियों पूर्व ज्ञात था। कहा जाता है कि सन् १६६० में फ्रांस के कुछ प्रान्तों के किसानों ने बारबेरी

झाड़ी नष्ट करवाने का कानून बनवा लिया था। १७०५ में फ्रांसीसी वनस्पति वैज्ञानिक टूर्नफोर्ट ने पौधों की बीमारियों को दो मुख्य भागों में विभाजत किया—(१) वे रोग जो बाह्य कारणों से हों। (२) वे रोग जो आंतरिक कारणों से हों।

इसके पश्चात् १५० वर्ष तक पादप रोगों के बारे में जो कुछ भी लिखा गया वह या तो उनके लक्षणों के बारे में था अथवा विभिन्न रोग-जनक कवकों के वर्ग, गण, कुल, वंश तथा जाति और प्रजाति आदि श्रेणियों में वर्गीकरण से सम्बन्धित था। इन सब पर लिनियस की द्विनाम-पद्धति का प्रभाव था। एडेंसन (१७६३) ने अपनी पुस्तक 'फेमिलेस डेस प्लाण्टेस' में पादप रोगाणुओं की २३ जातियों का उल्लेख किया है। इनको बाह्य तथा आंतरिक कारणों के आधार पर दो वर्गों में बाँटा गया है। किन्तु रोगों की प्रकृति के सम्बन्ध में एडेंसन भी असमंजस में रहा। रोजियर की पुस्तक "कोर कम्पलेट डी एग्रीकल्चर" में रोगों की संख्या ३२ तक बढ़ी। प्लेंक ने रोगों को विभिन्न आठ वर्गों में बाँटा।

कुछ समय तक रॉयल बॉटेनिक गार्डन, कोपेन-होगन, के पदाधिकारी रहने वाले तथा लिनियस के शिष्य फेब्रीसियस ने सन् १७७४ में पादप रोगों का व्यवस्थित वर्गीकरण प्रकाशित किया। फेब्रीसियस ने एक स्थान पर लिखा है "यह निश्चित है कि कंड रोग तथा इसके लक्षण किसी सुव्यवस्थित कारण की कल्पना किये बिना अच्छी तरह से नहीं समझाये जा सकते।" इस उदाहरण से यह सिद्ध होता है कि फेब्रीसियस पादप रोगों की तत्कालीन व्याख्याओं से संतुष्ट नहीं था।

सन् १७५५ में फ्रांस के वनस्पतिज्ञ टिलैट ने गेहूँ के बंट रोग पर एक महत्त्वपूर्ण शोध-निबन्ध (रिसर्च पेपर) प्रकाशित किया। टिलैट ने सर्वप्रथम एक वैज्ञानिक प्रयोग पौधों के रोगों पर किया जो इस प्रकार है :—

गेहूँ आदि की रोगग्रस्त बालियों का काला-सा चूर्ण उसने बीजों पर झाड़ा। इन बीजों में से कुछ को बोने से पहले उसने चूने और नमक के पानी में भिगोया। उसने देखा कि जिन बीजों पर काला चूर्ण झाड़ा गया था उनसे उगे हुए पौधे रोगी थे, जब कि चूने-नमक से भिगोये गये बीजों से उत्पन्न पौधों में थोड़ी-सी बालियाँ ही काली पड़ीं।

किन्तु टिलैट यह नहीं जान सका कि कंड रोग-ग्रस्त बालों का काला चूर्ण ही असल में रोग की जड़ था। क्योंकि यह काला चूर्ण और कुछ नहीं, रोगजनक कवक के बीजाणु ही थे, जिनसे रोग फैलता है। उस पराश्रयी कवक के बीजाणु उस काली धूल में ही उपस्थित थे (जो बालियों से झड़ती थी), इसका विचार टिलैट महोदय को स्वप्न में भी ख्याल न था। उन्होंने तो उस समय सिर्फ यही समझा कि यह काली धूल किसी विषैली चीज़ को फैलाती है।

फिर भी उन्होंने दो बातें बड़े मार्के की बतायीं, एक तो यह कि बालियों से झड़ी कंड धूल के स्पर्श से ही अन्य पौधों में यह रोग फैलता है। इस प्रकार रोग की सांस्पर्शिक प्रवृत्तियाँ अर्थात् छूते ही रोग से प्रभावित कर देने की क्षमता का पता लगा। उसने दूसरी बात यह बतायी कि रासायनिक उपचार से रोग के प्रसार को रोका जा सकता है। कंड रोग के कारणों के बारे में एक गलत विचार जिनान्नी (१७५६) महोदय ने रखा जिसके अनुसार कंडुआ रोग का कारण छोटे-मोटे कीड़े-मकोड़े थे।

सन् १७६७ में एक इटालियन वनस्पतिशास्त्री टोजेट्टी ने प्रतिपादित किया कि गेहूँ के किट्ट तथा कंड रोगों में पौधों की बाह्य त्वचा के भीतर कवक वनस्पति पाई जाती है। आलू की बीमारियों की पहली खोज एण्डरसन ने की। सन् १७७८ में उसने बताया कि आलू का रोग प्रकन्दोढ (कन्द द्वारा फैलने वाला) होता है तथा संक्रामकता में चेचक सरीखा होता है। आधुनिक विज्ञान से अब यह सिद्ध हो गया है कि

चेचक के साथ ही आलू की कुछ विकृतियाँ भी विषाणु के द्वारा ही फैलती हैं।

आधुनिक पादप रोग-विज्ञान का प्रारम्भ

अब तक दिये विवरण से यह स्पष्ट है कि उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में परसून और कुछ समय बाद फ्रीज़, जब कवकों का नामकरण और वर्णन पौधों की बीमारियों से उनका सम्बन्ध बताये बिना कर रहे थे, तो जो लोग इन विकारों के बारे में लिख भी रहे थे वे सूक्ष्मजीवों से इनके सम्बन्ध की वास्तविकता नहीं समझते थे। जैसा कि पहले बताया गया है एक स्विस प्राध्यापक प्रीवोस्ट ने सर्वप्रथम सूक्ष्मजीवों की रोगजनक (रोग पैदा करने वाली) प्रवृत्तियों का पता लगाया। उसने लगभग दस वर्ष तक गेहूँ के बंट या बंटुआ रोग का अध्ययन किया। १८०७ में उसने अपना शोध-प्रबन्ध प्रकाशित किया जिसका शीर्षक था, मैमॉइर ऑन दी इमीडिएट कॉज ऑफ बन्ट ऑर स्मट ऑफ वीट एन्ड ऑफ सेवरल अदर डिज़ीजेज़ आफ प्लान्ट्स एण्ड ऑन प्रीवेन्टिव्स ऑफ बन्ट।" अर्थात् गेहूँ के कंड या बंट रोगों और पौधों के अन्य बहुत से रोगों के कारण तथा बंट के अवरोधकों पर प्रतिबन्ध। उसने बताया कि कॉपर सल्फेट का घोल बीजाणु का अंकुरण रोक देता है। इस समय भी लोगों के दिमाग में स्वयं जनन का सिद्धान्त ऐसा समाया हुआ था कि किसी ने प्रीवोस्ट के सिद्धान्तों को नहीं माना। एक फ्रांसीसी समिति ने इसके निष्कर्षों को गलत बतलाते हुए अस्वीकृत किया। लगभग ४० वर्ष बाद दूसरे वैज्ञानिकों के प्रयोगों ने प्रीवोस्ट की खोजों को प्रमाणित किया।

मोडेना विश्वविद्यालय, इटली के कृषि तथा वनस्पति-विज्ञान के प्राध्यापक 'री' ने १८१७ में एक पुस्तक प्रकाशित की जिसमें पादप रोगों को पाँच वर्गों में विभाजित किया गया था—

(१) कुबलीय रोग—अत्यधिक पुष्टता, तथा पोषण के कारण उत्पन्न होने वाले।

(२) अबलीय रोग—कमजोरी के कारण उत्पन्न होने वाले।

(३) कुबला बलीय रोग—जो कभी अधिक पोषण के कारण तो कभी पोषण की कमी के कारण उत्पन्न होते हों।

(४) पौधे के किसी अंग की टूट-फूट के कारण चोट पहुँचने से घाव आदि हो जाने कारण उत्पन्न होने वाले रोग।

(५) अनिश्चित रोग

इस अंतिम वर्ग में वे रोग रखे गये जिनकी उत्पत्ति संदिग्ध है। किट्ट (रतुआ) तथा कंड रोग इसी वर्ग में रखे गये हैं।

सन् १८३० में यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका में आलू की खेती के प्रसार के साथ ही विलम्बित विवर्णता रोग भी जोरों के साथ फैला। सन् १८४५ तक बीमारी चरम सीमा तक पहुँच गयी। इस वर्ष कृषि सम्बन्धी पत्रिकाओं में 'विलम्बित विवर्णता' पर अनेक निबन्ध प्रकाशित हुए।

गार्डनर्स क्रॉनीकिल की सन् १८४५ की प्रतियों में "पादप रोग-विज्ञान" के विद्वानों के लेखों की भरमार है। आलू और उसकी पत्तियों की विवर्णता (ब्लाइट) और कवक के आपसी सम्बन्ध से तो परिचित थे; फिर भी वे कवक को रोग का कारण न मानकर परिणाम समझते थे। उन लोगों में जिन्होंने पहले-पहल ब्लाइट या विवर्णता रोग के कवक का पता लगाया जर्मनी का **बोन मार्शंस** (१८४२) भी एक था। उसने इस कवक के चित्र प्रकाशित किये। कृषि विद्यालय, लेग (बेल्जियम) के निदेशक **मोरन** ने सन् १८४५ में आलू के इस विनाशकारी रोग पर कुछ अंतःक्षेपण प्रयोग किये। उसने इस रोग को रोकने के लिये चूना, नमक तथा कॉपर सल्फेट (तूतिया) के जलीय घोल का प्रयोग करने की सिफारिश की। यदि कहीं मोरन ने इस मिश्रण का प्रयोग पत्तियों पर किया होता तो ४० वर्ष पूर्व ही बोर्डो मिश्रण की खोज हो गई होती।

उन्हीं दिनों फ्रांस में मोन्टेन ने आलू के इस विलम्बित विवर्णता रोग के कवक को इकट्ठा किया और परीक्षण के बाद "बोट्राइटिस इन्फेस्टेन्स' नाम दिया। इसका नमूना बर्कले के पास (इंगलैंड) भी भेजा गया। उसने 'मोन्टेन' की जाँच को प्रमाणित किया। गार्डनर्स क्रॉनीकिल के सम्पादक लिंडले की अध्यक्षता में कुछ विद्वानों ने आयरलैंड में आलू-विवर्णता रोग पर अनुसन्धान किये। इन लोगों ने विचारे मौसम को ही बदनाम किया और प्रमुख अपराधी कवक महाशय साफ दामन बचा गये। लिंडले के अनुसार असाधारण ठंडक और नमी की वजह से आलू की सामान्य वृद्धि में गड़बड़ी होने से कुछ आन्तरिक टूट-फूट हुई और आलू की फसल इस रोग का शिकार हो गई। उसने कवक को उतना महत्त्व नहीं दिया और बताया कि कवक तो रोग के कारण मृत हुई ऊतकों पर ही पलता और बढ़ता रहा था।

अन्त में सन् १८४६ में 'बर्कले' को यह घोषणा करनी पड़ी कि 'बोट्राइटिस इन्फेस्टेन्स' ही आलू की विवर्णता तथा प्रकन्द गलन बीमारियों का मूलकारण है। आगे चलकर बर्कले ने यह भी बताया कि गेहूँ का बंट भी कवक के कारण ही होता है। सन् १८४८ में उसने इस आलू-कवक को धतूरा स्ट्रैमोनियम (धतूरा), एन्थोसर्किस और टमाटर पर भी पलते हुए देखा। अंत में उसने यह भी बताया कि आलू आदि के रोग ही नहीं अपितु गेहूँ आदि धान्यों के अधिकतर रोग कवकों के कारण ही होते हैं।

कमी जो रह गई वह यह थी कि कोई प्रायोगिक प्रमाण इस बात का नहीं दिया जा सका कि बोट्रीइटिस इन्फेस्टेन्स ही आलू की विलम्बित विवर्णता का प्रमुख कारण है। मोरन ने इस सम्बन्ध में कुछ तथ्य भी प्रस्तुत किये, किन्तु उस समय की प्रविधि इतनी उन्नत नहीं थी कि विश्वासपूर्वक कुछ प्रमाणित किया जाता।

●

क्रिटेशियस तंत्र

जनार्दन प्रसाद श्रीवास्तव

सामान्य विवरण

(१) भारतवर्ष के सम्पूर्ण भौमिकीय इतिहास में अन्य किसी तंत्र में निक्षेपों के स्वरूपों की इतनी अधिक भिन्नता नहीं पाई जाती, जितनी इसके निक्षेपों में।

(२) किसी अन्य तंत्र के अन्तर्गत देश का इतना अधिक भूभाग नहीं है, जितना इसमें निहित है। इस तंत्र के निक्षेप अनेक प्रकार के उद्भवों के हैं :—

(अ) उत्तरी हिमालय तथा बलूचिस्तान में महासागरीय भूद्रोणीय निक्षेप।

(ब) साल्ट रेञ्ज में महासागरीय गाध जल निक्षेप।

(स) कारोमण्डल तट तथा नर्बदा नदी की घाटी के अनुरूप महासागरीय अतिक्रमण के निक्षेप।

(द) मध्यप्रदेश तथा दक्षिण भारत में सरिताजन्य तथा एस्चुअरी जन्य निक्षेप।

क्रिटेशियस-युग में भारतवर्ष का सामान्य भूगोल

गोण्डवाना लैण्ड अभी तक विदीर्ण नहीं हुआ था। उसका विदारण इस युग के अन्त में हुआ। टैथिस सागर सम्पूर्ण हिमालय तथा तिब्बत के वर्तमान प्रदेश को आवृत्त किये था; अन्य शब्दों में वह उत्तरी महाद्वीपों को गोण्डवाना लैण्ड से प्रथक किये हुए था। क्रिटेशियस युग के अन्त में दीर्घ-काल से निर्बाध चली आ रही भूद्रोणीय दशाओं में विक्षोभ हुआ। इस काल में टैथिस सागर की

एक गहरी खाड़ी, जो साल्ट-रेञ्ज, पश्चिमी सिन्ध तथा बलूचिस्तान में व्याप्त थी, कच्छ तथा नर्वदा-घाटी तक फैल गई। दूसरी ओर, दक्षिण सागर ने पूर्वी तट पर अतिक्रमण कर दिया तथा वह आसाम तक फैल गया। आसाम के जीवाश्म (Fossils) त्रिचनापल्ली तथा मैडागास्कर के जीवाश्मों से अधिक मिलते-जुलते हैं, जिससे दक्षिणी सागर का आसाम तक अतिक्रमण प्रमाणित होता है। नर्बदा-घाटी के बाघ संस्तरों (Bagh leeds) के जीवाश्म आसाम तथा त्रिचनापल्ली के जीवाश्मों से पूर्णतः भिन्न हैं। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि नर्वदा-घाटी का सागर आसाम के सागर से अ-सम्बद्ध था। टैथिस-सागर का विरूपण आरंभ हो गया था और हिमालय पर्वत के अभ्युत्थान की प्रथम प्रावस्था आरंभ हो गई थी अथवा होने वाली थी। अभ्युत्थान की तृतीय प्रावस्था में टैथिस सागर भारतवर्ष के बाहर (उत्तर-पश्चिम दिशा की ओर) निकाल दिया गया और केवल कुछ अनूप रह गये।

जब शेष भारत का भूगोल उपयुक्त विवरण के अनुसार था, तब प्रायद्वीपीय भारत के उ० प० भाग में प्रबल ज्वालामुखीय क्रिया घटित हुई। दक्षिणी राजस्थान तथा धारवाड़ के मध्य में सहस्रों वर्ग-मील का क्षेत्र ज्वालामुखी के उद्गार से निकलने वाले लावा से पट गया और उसने एक विशाल ज्वालामुखीय पठार का रूप ग्रहण कर लिया।

भारतीय उपमहाद्वीप तथा ब्रह्मा में क्रिटेशियस तंत्र की रचनाओं का वितरण

भारतीय उपमहाद्वीप तथा ब्रह्मा में क्रिटेशियस तंत्र की रचनाओं का अध्ययन हम निम्नांकित क्रम से करेंगे :—

(क) अप्रायद्वीपीय भारत
- (१) उत्तरी हिमालय—स्पीटी, कश्मीर, हज़ारा, चितराल
- (२) सिन्ध तथा बलूचिस्तान
- (३) आसाम

(ख) प्रायद्वीपीय भारत
- (१) त्रिचनापल्ली
- (२) नर्वदा घाटी
- (३) लमेटा माला

(ग) डैक्कन ट्रैप

(घ) ब्रह्मा

[क] अप्रायद्वीपीय भारत

(१) उत्तरी हिमालय

(क) स्पीटी—स्पीटी क्षेत्र में क्रिटेशियस युग की शिलायें गियूमल, चिक्किम आदि स्थानों में पाई जाती हैं।

गियूमल माला—लोचम्बल संस्तरों के ऊपर जो जूरासिक आयु के हैं, भूरे रंग के बालुकाश्म तथा पतले संस्तरों वाले स्फटिकाश्म (Quartzites) पाए जाते हैं। ये बालुकाश्म तथा स्फटिकाश्म गियूमल माला का निर्माण करते हैं। इनकी मोटाई लगभग ३०० फुट होगी। गियूमल बालुकाश्मों में शीर्षपादाः जैसे हौपलाइट तथा फलकक्लोमाः जैसे कार्डियम के जीवाश्म पाये जाते हैं।

चिक्किम माला—गियूमल बालुकाश्मों के ऊपर भूरे एवं सफेद चूने के पत्थर तथा जम्बशिलायें पाई जाती हैं। ये चिक्किम माला का निर्माण करते हैं। इनकी मोटाई लगभग २५० फुट होगी। चूने के पत्थरों में वैलैमनाइट हिप्पूराइट तथा पादछिद्रि के जीवाश्म पाए जाते हैं। इन जीवाश्मों से यह निष्कर्ष निकलता है कि इनकी आयु मध्यक्रिटेशियस युग से कुछ ऊपर है। चिक्किम जम्बशिलायें जीवाश्मविहीन हैं।

चिक्किम माला के ऊपर बालुकाश्म तथा सैकतमय जम्बशिलायें पायी जाती हैं। ये पूर्णतः जीवाश्म-विहीन हैं तथा आल्प्स के फ्लाइश सदृश हैं। फ्लाइश प्रकार की ये रचनायें यह प्रदर्शित करती हैं कि क्रिटेशियस युग के आरंभ में ही महासागरीय द्रोणी उथली हो चली थी।

(ख) कश्मीर—के एस्टोर-ब्रजिल, रूपशू तथा लद्दाख क्षेत्रों में क्रिटेशियस युग के सफेद चूने के पत्थर पाये जाते हैं। प्रथम प्रदेश में पादछिद्रि (विशेषतः ओबिटोलिना) उदरपादाः तथा प्रवाल के जीवाश्म पाये जाते हैं। प्रथम प्रदेश के चूर्णप्रस्तर ज्वालामुखीय शिलाओं के साथ अन्तरसंस्तरित हैं।

(ग) हज़ारा—हजारा के उ० प० में स्थित भूद्रोणीय कटिबन्ध में गियूमल बालुकाश्म पाये जाते हैं। इनमें औस्ट्रिया, ट्राइगोनिया आदि जीवाश्म निहित हैं। इनके ऊपर आल्बियन स्तर स्थित है, जिनमें ल्यैलिसैराज ल्यैलि के जीवाश्म पाये जाते हैं। फिर इनके ऊपर भूरे वर्ण के चूने के पत्थर पाये जाते हैं। इन चूने के पत्थरों के ऊपर लैटराइट का स्तर है, जो यह प्रदर्शित करता है, कि प्रादिनूतन युग के पूर्व अवसादन की क्रिया में त्रोट हुआ है।

(घ) चितराल—चितराल के हिप्पूराइट चूर्ण प्रस्तर तथा ओबिटोलाइट्स चूर्ण-प्रस्तर मध्य क्रिटेशियस युग के प्रतिनिधि हैं।

क्रिटेशियस युग की आग्नेय क्रिया

क्रिटेशियस युग के उत्तरवर्ती भाग में प्रबल एवं विस्तृत आग्नेय क्रिया घटित हुई। प्रायद्वीपीय भारत में ऐसी उद्भेदी शिलायें पाई जाती हैं जो केवल विदर-प्रवाह से बन सकती हैं। इसके अतिरिक्त हिमालय प्रदेश, ब्रह्मा तथा बलूचिस्तान में अनेक प्रकार की अन्तर्भेदी शिलायें पाई जाती हैं, जैसे ग्रेनाइट, गैब्रो आदि। हिमालय की मध्यवर्ती श्रेणियों में तीन प्रकार के ग्रेनाइट पाये जाते हैं—(१) बायोटाइट ग्रेनाइट (सबसे अधिक प्रमुख) (२) हौर्नब्लैण्ड ग्रेनाइट तथा (३) टूरमलीन ग्रेनाइट।

इस आग्नेय क्रिया के फलस्वरूप ही बलूचिस्तान में क्रोमाइट के निक्षेप, ब्रह्मा में जेडाइट नामक बहुमूल्य खनिज तथा लद्दाख में सर्पैण्टाइन पाया जाता है।

जोहार की अन्यस्थानीय इष्टिकायें

क्रिटेशियस तंत्र की एक उल्लेखनीय तथा कुतूहलजनक विशेषता जोहार की अन्यस्थानीय इष्टिकायें हैं। हिमालय प्रदेश के कुमायूँ क्षेत्र में जोहार नामक स्थान में क्रिटेशियस शिलाओं के ऊपर जलज शिलाओं से निर्मित पृथक्कृत इष्टिकायें पाई जाती हैं। ये इष्टिकायें सभी आकारों की हैं अर्थात् सामान्य गोलाश्म (Boulder) से लेकर पहाड़ी तक के आकार की। इनमें कोई व्यवस्था नहीं है। इनमें पाये जाने वाले जीवाश्म परमियन युग से लेकर आरंभिक क्रिटेशियस युग तक के द्योतक हैं।

यह पूर्णतः विदेशी हैं और वे ऊपरी तिब्बत के निक्षेपों से मिलते-जुलते हैं।

इनकी उत्पत्ति के विषय में दो विचारधारायें हैं—

(१) इन अन्य स्थानीय इष्टिकाओं को जिनका आस-पास के क्षेत्र से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, आरंभ में, अनाच्छादित परिवलनों का अवशिष्ट भाग अथवा भ्रंशीकरण का फल समझा गया और उन्हें आल्प्स के क्लिपैन के समतुल्य माना गया।

(२) आरंभिक तृतीयक युग के ज्वालामुखीय पदार्थों से इन इष्टिकाओं का घनिष्ट सम्बन्ध है। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि उत्तरी तिब्बत में घटित होने वाले एक महान ज्वालामुखीय विस्फोट ने इन इष्टिकाओं को विदारण द्वारा पृथक कर दिया और बाद में ये परिवाहित होकर अपनी वर्तमान स्थितियों में आ गईं।

अभिनवकाल में कश्मीर, शिमला तथा गढ़वाल के हिमालय प्रदेश में नापे रचनाओं का अवलोकन किया गया है। यह अवलोकन प्रथम विचारधारा की पुष्टि करता है।

(२) सिन्ध तथा बलूचिस्तान

पूर्वी बलूचिस्तान तथा सिन्ध के सीमा-प्रदेश में जो चूर्णमय कटिबन्ध के अन्तर्गत है, क्रिटेशियस शिलाओं का अच्छा विकास हुआ है। सिन्ध में ये

शिलायें केवल एक स्थान में अर्थात् लाकी श्रेणी में विकसित हुई हैं। ये ऊपरी क्रिटेशियस युग की हैं। इनका निम्नतम स्तर पाड़ चूर्णप्रस्तर है तथा उच्चतम स्तर कार्डिटा वियुमौण्टि संस्तर हैं। बलूचिस्तान में क्रिटेशियस तंत्र के निचले तथा ऊपरी दोनों विभागों का विकास हुआ है। इनका विस्तार तथा मोटाई भी अधिक है।

(३) आसाम

शिलांग के पठार में क्रिटेशियस युग की महासागरीय शिलायें पाई जाती हैं। ये मुख्यतः बालुकाश्म तथा जम्बशिलायें हैं। इनकी मोटाई १००० फुट तक होगी। इनमें पाये जानावाले जीवाश्म त्रिचनापल्ली (अरियालुर प्रावस्था) की क्रिटेशियस युगीन रचनाओं से मिलते-जुलते हैं।

[ख] प्रायद्वीपीय भारत

(१) त्रिचनापल्ली-पाडिचेरी क्षेत्र

इस क्षेत्र में क्रिटेशियस शिलायें तीन पृथक भूभागों में पाई जाती हैं। ये भूभाग पैनार तथा वैलार नदियों की घाटियों द्वारा परस्पर पृथक हो गये हैं। पैनार नदी की घाटी उत्तरी भूभाग को मध्य के भूभाग से पृथक करती है। वैलार नदी की घाटी मध्य के भूभाग को दक्षिण के भूभाग से पृथक करती है। इन तीनों भूभागों में दक्षिण का भूभाग आकार में सबसे बड़ा है। यह त्रिचनापल्ली नगर के उत्तर-पूर्व में स्थित है। इसमें क्रिटेशियस शिलायें आद्य-दलाश्मों अथवा चार्नोकाइट शिलाओं के ऊपर स्थित हैं। पश्चिमी सीमा पर कहीं-कहीं इनके और आद्य-दलाश्मों के मध्य में ऊपरी गोण्डवाना काल के संस्तर आ गये हैं। उत्तर तथा दक्षिण की ओर कछारी निक्षेप पाये जाते हैं। पूर्व में कुड्डालोर बालुकाश्म जो मध्यनूतन युग के हैं, पाये जाते हैं।

क्रिटेशियस शिलाओं को आगे अंकित तालिका के अनुसार चार प्रावस्थाओं में बाँटा गया है :—

(१) उत्तातुर

(२) त्रिचनापल्ली

(३) अरियालुर

(४) निनियुर

प्राचीन प्रावस्था पश्चिम में पाई जाती है तथा अपेक्षाकृत नवीन प्रावस्थायें क्रमशः पूर्व की ओर पाई जाती हैं। शिलाओं की अभिनति (Dip) सामान्यतः पूर्व की ओर है। निचली तीन प्रावस्थाओं के मध्य में असंरूपतायें पाई जाती हैं।

(२) नर्मदा घाटी की क्रिटेशियस रचनायें अथवा बाघ-संस्तर

(क) आयु—क्रिटेशियस।

(ख) नाम—इस रचना का नाम बाघ-संस्तर इसलिए पड़ा, कि इसका सर्वोत्कृष्ट विकास ग्वालियर संभाग के बाघ नामक नगर में हुआ है।

(ग) वितरण—इस रचना के अनेक छोटे तथा पृथक्कृत दृश्यांश नर्मदा नदी की घाटी के अनुरूप पूर्व-पश्चिम दिशा में बाघ, बाघ से लेकर वर्धवान (काठियावाड़) तक पाये जाते हैं।

(घ) मोटाई—ग्वालियर संभाग में ६० फुट अथवा उससे कुछ अधिक; राजपीपला में और भी अधिक।

(ङ) रचना—यह भिन्नांग रचना है। इसका निचला भाग सैकतमय है तथा ऊपरी भाग मृण्मय है। इसमें बालुकाश्म, चूने के पत्थर, चर्ट जम्बशिलायें आदि निहित हैं।

(च) वर्गीकरणः—

बाघ संस्तर
- ऊपरी
  - डैकन ट्रैप
  - प्रवाली चूर्णप्रस्तर
  - देवला मार्ल
  - ग्रन्थिमय मृण्मय चूर्णप्रस्तर
- निचला - निमाड़ बालुकाश्म

प्राचीन दलाश्म, मध्य गोंडवानाकालीन शिलाएँ आदि।

(छ) आर्थिक महत्त्व

निमाड़ बालुकाश्मों से उत्कृष्ट तथा टिकाऊ इमारती पत्थर प्राप्त किये जाते हैं।

त्रिचनापल्ली-तालिका में क्रिटेशियस शिलाओं का प्रक्रम

आयु	प्रावस्था	रचना	लाक्षणिक जीवाश्म
डैनियन	निनियुर	सैकतमय चूर्णप्रस्तर तथा मार्ल	नॉटिलस डैनिकस
मैस्ट्रिक्शियन		ऊपरी-जीवश्म-विहीन सैकतमय स्तर	
सैनोनियन	आरियालुर	निचला-रेत एवं मृत्तिका	ब्रह्मेट्स ब्रह्म
	त्रिचनापल्ली	ऊपरी-रेत एवं मृत्तिका	स्लोनबाशिया ड्रैविडिकम
ट्यूरोनियन		निचला-रेत, मृत्तिका तथा कर्परमय चूर्णप्रस्तर	ट्राइगौनिया त्रिचनापली टैन्सिस
सैनोमानियन से लेकर ऊपरी आल्बियन तक	उत्तातुर	ऊपरी-रेतीले संस्तर	एकैन्थोसैराज़ न्यूबोल्डि
		मध्य-मृत्तिकायें	एकैन्थोसैराज रोटोमैगेन्ज
		निम्न-प्रवाली चूर्ण प्रस्तर तथा मृत्तिकायें	स्लोनबाशिया इनफ्लैटा

(ज) जीवाश्म—ऊपरी संस्तरों में देवला मार्ल प्रमुख जीवाश्मवाहक रचना है। उसमें अनेक प्रकार के जीवाश्म पाये जाते हैं, जैसे—

शीर्षपादाः	उदाहरण	नमाडोसैराज़
फलकक्लोमाः	उदाहरण	औस्ट्रिया
उदरपादाः	उदाहरण	टरीटैला
शल्यचर्माः	उदाहरण	सिडारिस

बाघ-संस्तरों के जीव-अवशेषों के अध्ययन के निष्कर्ष

बाघ-संस्तरों के जीव-अवशेषों की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है, कि वे उसी आयु की त्रिचनापल्ली की रचनाओं से सर्वथा भिन्न हैं। दूसरी ओर, वे उसी आयु की यूरोपीय रचनाओं से अपेक्षाकृत अधिक मिलते-जुलते हैं। यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है और इससे यह निष्कर्ष निकलता है, कि बाघ-संस्तर तथा त्रिचनापल्ली की रचनायें दो ऐसे पूर्णतः असम्बद्ध सागरों में निक्षेपित हुईं जो विस्तृत स्थलखण्ड द्वारा एक-दूसरे से पृथक थे। इस मध्यवर्ती स्थलखण्ड के कारण दोनों सागरों के जीवों में अन्तर्सागरीय परिव्रजन संभव न हो सका। एक क्षेत्र दूर-स्थित यूरोपीय सागर से टैथिस सागर द्वारा सम्बद्ध था, दूसरा दक्षिणी महासागर की शाखा था। यद्यपि दोनों क्षेत्र परस्पर इतने निकट थे, तथापि वास्तव में वे दो स्पष्ट महासागरीय प्राणिकीय प्रान्तों का निर्माण करते थे। मध्यवर्ती स्थलखण्ड गोण्डवानालैण्ड था।

शैलिकी तथा जीव-अवशेषों की दृष्टि से त्रिचनापल्ली की रचनायें आसाम की रचनाओं से मिलती-जुलती हैं। इसके अतिरिक्त ये दोनों रचनायें मध्य तथा दक्षिणी अफ्रीका की इसी युग की रचनाओं से मिलती-जुलती हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है, कि क्रिटेशियस युग में मध्य एवं दक्षिणी अफ्रीका कारोमण्डल तट तथा आसाम में एक ही सागर व्याप्त था।

(३) लमेटा माला

(क) नामकरण—जबलपुर के निकट लमेटाघाट में इसका सर्वप्रथम अध्ययन किया गया। इसी आधार पर इनका नामकरण किया गया है।

(ख) उद्भव—एस्चुअरीजन्य तथा सरिताजन्य।

(ग) स्तृत-भौमिकीय स्थिति—बाघ-संस्तरों के समकक्ष अथवा उनसे थोड़े ऊपर। ये अपने नीचे की रचनाओं से चाहे वे आद्य-दलाश्म हों अथवा गोण्डवाना युग की रचनायें हों अथवा बाघ-संस्तर हों, असंरूपता द्वारा पृथक हैं। इनके ऊपर डैकन ट्रैप संरूप स्थित हैं।

(घ) वितरण—लमेटा-माला के दृश्यांश मध्य-प्रदेश तथा दक्षिण के अनेक भागों में बिखरे हुए हैं।

(ङ) मोटाई—२० फुट से लेकर १०० फुट तक।

(च) रचना—चर्ट अथवा सिलिका से युक्त चूने का पत्थर, मृद बालुकाश्म ग्रिट तथा मृत्तिकायें।

(छ) जीवाश्म—लमेटा माला में उत्तम निर्णयात्मक जीवाश्म नहीं पाये जाते। यदा-कदा निम्नांकित जीवाश्मों के अंश पाये जाते हैं :—

उदरपादाः जैसे फाइसा (बुल्लीनस), मछलियाँ जैसे पिक्नोडस, भीमसरट जैसे जबलपुरिया।

(ज) आयु—लमेटा माला बाघ-संस्तरों के समकक्ष अथवा उनसे कुछ कम आयु की रचना है। सर आर्थर स्मिथ उडवर्ड ने मछलियों के अवशेषों के आधार पर इसकी आयु डैनियन से लेकर निम्न प्रादिनूतन तक निर्धारित की है। वॉन ह्यू न ने जबलपुर में पाये गये महासरटों के अवशेषों के आधार पर इसकी आयु ट्यूरोनियन निश्चित की है।

[ग] डैकन ट्रैप

इसकी विवेचना पृथक लेख में की गई है।

[घ] ब्रह्मा

ब्रह्मा में क्रिटेशियस शिलायें अराकान योमा तथा रामरी द्वीप में पाई जाती हैं। इनमें पाया जाने वाला उल्लेखनीय जीवाश्म कार्डिटा बियुमौण्टि है। निग्रेस अन्तरीप के निकट बालुकाश्मों तथा जम्बशिलाओं से निर्मित निग्रेस माला भी संभवतः क्रिटेशियस युग की है। ब्रह्मा की हरित-मणि की खदानों के क्षेत्र में तथा यानबो के निकट इरावदी घाटी में भी क्रिटेशियस शिलायें पाई जाती हैं। ●

सर शान्तिस्वरूप भटनागर

अरुण कुमार सक्सेना

आपका जन्म १८६४ ई० में भेरा नामक ग्राम के एक कुलीन कायस्थ परिवार में हुआ था। आपके पिता का नाम परमेश्वरी सहाय तथा माता का नाम पार्वती था। जन्म के आठ मास पश्चात् अर्थात् १८६४ ई० के अक्टूबर मास में आपके पिता की मृत्यु हो गई थी।

आपका बचपन सिकन्दराबाद में अपनी नानी के यहाँ बीता था। आपके नाना एक कुशल इंजीनियर थे। इस कारण आपका झुकाव भौतिक तथा रासायनिक विज्ञान की ओर विशेषरूप से था। सर्वप्रथम आप सिकन्दराबाद के एक प्राइमरी स्कूल में पढ़े थे। आपके प्रश्नों के कारण स्कूल के अध्यापक भी आपसे डरा करते थे। आप उर्दू की कविताओं में विशेष रूप से रुचि लेते थे। इसका कारण यह था कि आपके नाना के भाई ताफ्ता साहेब कविता में विशेष रुचि रखते थे। तथा ताफ्ता साहेब मिर्ज़ा गालिब के प्रिय मित्रों में थे। मिर्ज़ा ग़ालिब भी आपके नाना के यहाँ रुका करते थे।

१६०८ ई० में डा० भटनागर ने सिकन्दराबाद छोड़ दिया और लाहौर के "दयाल हाई स्कूल" में पदार्पण किया। इस हाई स्कूल के हेड मास्टर लाला रघुनाथ सहाय थे जो आपके पिता के मित्र थे। आपने तेरह वर्ष की अल्प आयु में ही राजकीय छात्रवृत्ति प्राप्त कर ली थी। उस समय मौलवी तालिब अली पाबन्द आपको अंग्रेजी में विज्ञान पढ़ाते थे। उन्होंने आपके अन्दर विज्ञान के प्रति एक विशेष रुचि तथा उत्साह पैदा कर दिया था।

आपने अपने स्कूल छोड़ने के कुछ दिन पहले एक लेख प्रयाग के एक प्रमुख दैनिक समाचार पत्र "लीडर" में दिया था। इस लेख में आपने शीरे तथा कार्बनयुक्त पदार्थों को उच्च दाब तथा ऊष्मा के प्रभाव से बैटरी तथा सेलों के विद्युदग्र के बनाने का वर्णन किया था। इसके प्रकाशित होने के इक्कीस वर्ष पश्चात् आपके एक सहयोगी ने इस विधि का सफलतापूर्वक प्रयोग किया था। १६११ ई० में आपने हाई स्कूल की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की थी। १६१३ ई० में आप दयाल सिंह कालेज से एफ० ए० की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए थे। १६१६ ई० में आप बी० एस-सी० में उत्तीर्ण हुए और इसी वर्ष आपने "हेक्टोग्राफिक पैड" का निर्माण किया जो कि विश्व युद्ध के कारण जर्मनी से नहीं प्राप्त हो रहा था। इसी वर्ष आप अपने फोरमैन कालेज में डिमांस्ट्रेटर नियुक्त हो गये थे। तत्पश्चात् आप दयाल सिंह कालेज के प्रधान डिमांस्ट्रेटर हो गये थे। १६१६ ई० आप एम० एस-सी० में उत्तीर्ण हुए। आपकी थीसिस का विषय था "द इफेक्ट ऑफ एवजॉर्ब्ड गेसेज़ ऑन दि सरफेस टेन्सन ऑफ वाटर" (जल के तलतनाव पर अधिशोषित गैसों का प्रभाव)।

चार अगस्त १६१६ ई० में आपने लन्दन की ओर पदार्पण किया। आपने लन्दन में प्रो० डोनन जो कि "रेमजे लेबोरेटरीज ऑफ युनिवर्सिटी कालेज" के संचालक थे, की संरक्षता में डी० एस-सी० के लिये शोध कार्य किया। इसी समय अपने कलिल रसायन (कोलायड केमिस्ट्री तथा पायस (इमल्शन)

पर कार्य किया। आपको २५० पौंड की एक और छात्रवृत्ति दी गई जिसमें आप योरोप के अन्य देशों की सैर कर सके और आपको वैज्ञानिक संस्थाओं में कार्य करने का अवसर मिला।

आप अपनी ख्याति तथा कार्यों से अत्यन्त प्रसिद्ध हो गये थे। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय ने आपको प्रो० पद देकर आप का सम्मान और ऊँचा कर दिया। इसी वर्ष गर्मियों की छुट्टियों के अवसर पर आप विदेश गये। आपने "कैसर विलियम इंस्टिच्यूट" बर्लिन में प्रो० हाबर की संरक्षता में शोधकार्य किया। आपने प्रो० फ्रयूंडलिच की संरक्षता में भी शोध-कार्य किया।

आपने बनारस को अपना केन्द्र बनाया और यहीं पर आपने प्रकाश तथा कलिल-रसायन पर महत्त्वपूर्ण शोध कार्य किए।

आपने १९३३ ई० में ब्रिटिश एसोशियेशन के वार्षिक अधिवेशन में भाग लिया जो लिवरपूल में हुआ था। इसी वर्ष आप युनिवर्सिटी केमिकल लेबोरेटरीज़ लाहौर के डाइरेक्टर चुने गये। सन् १९२७ में आपने चुम्बकीय रसायन की सहायता से कलिल रसायन की जटिल समस्याओं को खोलकर रख दिया। १९२८ ई० में आपने एक नवीन यंत्र का निर्माण किया जिसको भटनागर माथुर मैगनिटिक इण्टरफियेरेंस बैलेन्स के नाम से पुकारते हैं। इस यंत्र को आपने सन् १९३१ के रॉयल सोसाइटी के अधिवेशन में प्रदर्शित किया। इसको बड़े पैमाने में बनाने के लिए लन्दन की मेसर्स एडैम हिगलर कम्पनी ने आपसे अनुमति प्राप्त की और इसका निर्माण प्रारम्भ किया। १९३१ ई०में भटनागर साहब ने अपनी पत्नी लाजवंती के साथ 'ब्रिटिश एसिसोयेशन' तथा फराडे शताब्दी में भाग लेने के लिए इंगलैंड की ओर प्रस्थान किया। १९३३ ई० में आपने रावलपिण्डी में एक तेल निकालने वाली कम्पनी की सहायता की जो एक तेल का कुआँ खोद रही थी जिसमें कीचड़ की अधिकता उसके कार्यों में बाधा डाल रही थी। इसे भटनागर ने बड़ी सरलता पूर्वक दूर कर दिया। इस कम्पनी ने आप को १५०,००० रु० की सहायता दी और पेट्रोलियम के किसी भी विषय पर शोध करने को कहा। आपने पंजाब विश्वविद्यालय से शोध-कार्य करने की अनुमति माँगी जो सरलतापूर्वक प्राप्त हो गई थी। इस आर्थिक सहायता से पंजाब विश्वविद्यालय में शोध-कार्य आरम्भ कर दिया गया। आपने मोम के रंग तथा मिट्टी के तेल की लौ की ऊँचाई को तेल से गन्दगी हटा कर दूर कर दी। १९३५ ई० में आपने चुम्बकीय रसायन पर एक पुस्तक लिखी जिसका नाम 'फिजकल प्रिंसपिल्स एण्ड एप्लीकेशन ऑफ मैगनेटोकेमिस्ट्री' था। १९३६ ई० में तेल सम्बन्धी आपके शोध-कार्य की सफलता को देखकर स्टील ब्रदर्स ने आपको इंगलैंड आने का निमंत्रण दिया। इसी वर्ष आपको ओ० बी० ई० की उपाधि प्रदान की गई और स्टील ब्रदर्स ने प्रदत्त आर्थिक सहायता को १५०००० रु० से ४००००० रु० कर दिया।

आप १९३८ ई० में इण्डियन साइंस कांग्रेस के रसायन विभाग के सभापति चुने गये। सर मुदालियर के कारण आप 'साइंटिफिक एण्ड इन्डस्ट्रियल रिसर्च कमेटी' के डाइरेक्टर चुने गये। तब आपने सदा के लिए लाहौर छोड़ दिया और दिल्ली में आकर रहने लगे। १९४१ ई० में आपको नाटइहुड की उपाधि प्रदान की गई। १९४३ ई० में आप 'रॉयल सोसाइटी' के फेलो चुने गये। १९४५ ई० में आप अमेरिका गये थे। इसी वर्ष आप 'इंडियन साइंस कांग्रेस' के अध्यक्ष भी चुने गये। १९४७ ई० में आप भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय में सचिव नियुक्त हुये। इसके पश्चात् आप 'विश्वविद्यालय अनुदान समिति' के चेयरमैन रहे। जीवन के अन्तिम दिन तक आप भारत सरकार के वैज्ञानिक अनुसन्धान तथा प्राकृतिक साधन मंत्रालय के सचिव रहे। जनवरी सन् १९५५ को आपका स्वर्गवास हो गया आपकी मृत्यु से भारत की बड़ी ही हानि हुई जिसकी पूर्ति होना सम्भव नहीं है।●

सार-संकलन

१: रुग्ण हृदय की सहायता के लिए विद्युदाणविक उपकरण

हाल के वर्षों में अमेरिका के चिकित्सकों, वैज्ञानिकों और इंजीनियरों ने आपस में सहयोग द्वारा ऐसे विद्युदाणविक उपकरण विकसित करने का प्रयत्न किया है, जो विकारग्रस्त और रुग्ण हृदयों को समुचित रूप से क्रियाशील होने में सहायता प्रदान कर सकें।

इस प्रकार का एक उपकरण, जिसका प्रयोग बहुत ही व्यापक रूप में होने लगा है, तथाकथित 'हृदय गति-निर्माता यंत्र' (हार्ट पेसमेकर) है। यह यंत्र एक निर्धारित काल-क्रम से बिजली की धड़कनें छोड़ता है, जो हृदय से जुड़े हुए एक पतले तार द्वारा हृदय तक पहुँच जाती हैं। इन विद्युत्-स्पन्दनों का उद्देश्य शल्य-चिकित्सा द्वारा छाती को चीरे बिना ही हृदय की धड़कनों को सुधारना या बढ़ाना होता है। 'हृदय गति-निर्माता' यंत्र हृदय की धड़कनों को सामान्य, क्रमबद्ध और सही ताल प्रदान करते हैं। कभी-कभी तो इनका प्रयोग एक ऐसे हृदय विकार को ठीक करने के लिए किया जाता है, जो अन्यथा घातक सिद्ध होता। इस विकार को 'हृदय-गत्यावरोध' कहते हैं।

इस प्रकार का एक 'हृदय-यन्त्र', जो उन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित है, जिन पर 'गति निर्माता' यन्त्र आधारित होता है, एक नये प्रकार का उपकरण है। यह उपकरण एक ऐसे विकारग्रस्त हृदय की धड़कनों को पुनः चालू कर देता है, जिसकी गति अवरुद्ध हो चुकी होती है। साथ ही यह ऐसे हृदय की गति को सामान्य रूप में लाने में सहायता भी पहुँचाता है, जिसकी धड़कनें मन्द पड़ने लगती हैं।

यह यन्त्र एक ऐसी विधि का मशीनी रूप है, जिसे बाल्टीमौर, मैरीलैण्ड, के जौन्स हापकिन्स विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों ने छाती के बाहरी भाग पर हाथ के नियन्त्रित दाब द्वारा हृदय की धड़कनें पुनः चालू करने के लिए विकसित किया है।

जब इस यन्त्र की सहायता से रुग्ण हृदय की धड़कनें पुनः चालू हो जाती हैं, तो वे अपने-आप ही स्वाभाविक क्रम धारण कर लेती हैं। जब कभी इस यन्त्र का प्रयोग हृदय के गतिरोध को ठीक करने के लिए किया जाता है, तो यह उपकरण एक 'प्रक्षेपक' के रूप में कार्य करता है। इस प्रकार के मामलों में इसकी सहायता से गति रुद्ध हृदय प्रत्येक धड़कन के साथ अपेक्षाकृत अधिक रक्त उछालने लगता है। इस प्रकार यह रक्त-संचार की गति को बढ़ा देता है। अन्यथा रक्त के अपर्याप्त बहाव के कारण रोगी की मृत्यु तक हो सकती है।

प्रथम 'हृदय गति-निर्माता' यन्त्र का निर्माण १९५२ में डा० पाल एफ० जौल ने किया था। डा० जौल बोस्टन, मैसाचूसेट्स के बेथ इसरायल अस्पताल के चिकित्सक थे। उन्होंने एक ऐसे उपकरण की रूपरेखा तैयार की, जो शरीर के चर्म से होकर हृदय तक विद्युत्धारा का संचार कर के हृदय की गति को चालू कर सकता था। उस समय से ही डा० जौल और संसार भर के कितने ही अन्य डा० हृदय की गति के अचानक बन्द हो जाने जैसे रोगों में बाह्य 'गति निर्माता यन्त्र' का सफलतापूर्वक उपयोग करते आ रहे हैं। कितने ही रोगियों के मामलों में यह यन्त्र रोगी को सही अर्थ में प्राणदान करता है।

बाह्य 'गति निर्माता यन्त्र' के आविष्कार के बाद, अमेरिका के हृदयविशेषज्ञों ने यह अनुभव किया कि एक अन्य प्रकार के गति निर्माता यन्त्र की भी

आवश्यकता है, जो बाह्य गति-निर्माता यन्त्र की अपेक्षा अधिक लम्बी अवधि तक संचालित रह सके। डा० यह जानते थे कि इस प्रकार के उपकरण के लिए न्यूनतर विद्युतीय वोल्टेज की मशीन की आवश्यकता पड़ेगी क्योंकि रोगी उतने ऊँचे विद्युतीय वोल्टेज को देर तक सहन नहीं कर सकेगा, जितना (लगभग ६० वोल्ट) बाह्य 'गति निर्माता यन्त्र' में प्रयुक्त होता है।

इस समस्या को मिनेसौटा मेडिकल स्कूल के शल्य चिकित्सक, डा० सी० वाल्टन लिल्लेही ने हल किया, डा० लिल्लेही ने हृदय के आपरेशन के समय सीधे हृदय पर ही एक इलेक्ट्रोड का प्रयोग किया। इलेक्ट्रोड एक ऐसे उपकरण की अनेक ग्रंथियों में से एक है, जिसमें से होकर एक पतले तार द्वारा किसी मूल स्थान से विद्युत् को किसी अन्य स्थान तक पहुँचाया जाता है।

डा० लिल्लेही ने आपरेशन के लिए हृदय में किये गये छिद्र से तार को बाहर निकाल कर ठीक चर्म के नीचे एक अन्य इलेक्ट्रोड लगा दिया। ऐसा करने से हृदय की गति को १·५ से २·५ वोल्ट तक की बिजली द्वारा संचालित करना सम्भव हो गया। यह विद्युत्-धारा इतनी हल्की होती है कि रोगी इसके प्रभाव को महसूस ही नहीं कर पाता। रोगी का उपचार करते समय डा० लिल्लेही ने गति-निर्माता यन्त्र को उस समय तक चालू रखा, जब तक कि खतरा मिट नहीं गया। उसके बाद उन्होंने तार को बड़ी आसानी से हटा लिया।

बाद में, एक विद्युदणु-इंजीनियर की सहायता से, डा० लिल्लेही ने एक ऐसे ट्रांजिस्टरयुक्त 'गति-निर्माता यन्त्र' को विकसित किया, जिसमें बैटरी का प्रयोग होता था, और जिसका वजन एक पौण्ड से भी कम था। यह यन्त्र इतना छोटा था कि इसे रोगी अपनी जेब में रख कर चल सकता था। यह वहनीय गति निर्माता यन्त्र इस समय ऐसे असंख्य व्यक्तियों को जीवित रखे हुए है, जो अन्यथा जीवित न रह पाते।

फिलाडेल्फिया जनरल अस्पताल में, एक अन्य हृदय-विशेषज्ञ तथा विद्युदणु-इंजीनियर की टोली ने एक ऐसे छोटे उपकरण को विकसित किया है, जिस के अन्तर्गत न केवल गति-निर्माता यन्त्र, बल्कि एक मीटर भी सम्मिलित है, जो हृदय की विद्युतीय गति-विधियों को प्रदर्शित करता है। इस टोली में इस अस्पताल के प्रमुख हृदय-विशेषज्ञ डा० सैम्युएल बेलेट तथा एट्रोनिक्स प्रोडक्ट्स इन्क० के विद्युदणु-इंजीनियर, डेविड किल पैट्रिक सम्मिलित थे।

२. ऋषिकेश में एण्टीबायोटिक औषधि निर्माण

भारत के सामने औषधि उद्योग के विकास की महत्त्वपूर्ण समस्या है जिसे तीसरी पंचवर्षीय योजना के दौरान हल करना है। भारत के राष्ट्रीय फर्मेस्युटिकल उद्योग का विकास अभी हाल के वर्षों से आरम्भ हुआ है। कुछ ही समय पहले बहुत सी महत्वपूर्ण औषधियाँ, जिनका उपयोग भारत में होता था, आयात की जाती थीं या फिर उनका निर्माण विदेशी कम्पनियों की सहायता से भारत में होता था। यही बात शल्य-चिकित्सा यंत्रों और चश्मों के शीशों (ऐनकों आदि के लिए) पर लागू थी।

राजकीय फर्मेस्युटिकल उद्योग के निर्माण की दिशा में पहला कदम पहली पंचवर्षीय योजना के दौरान उठाया गया था जबकि एण्टीबायोटिक औषधि फैक्टरी का निर्माण पिम्परी में हुआ। भारत के सार्वजनिक क्षेत्र में विकसित हो रहे औषधि उद्योग ने उस समय एक और महत्त्वपूर्ण कदम आगे बढ़ाया जब भारत और सोवियत संघ की सरकारों में औषधि और शल्यचिकित्सा यंत्र की परियोजनाओं के निर्माण के बारे में २९ मई, १९५९ को करारों पर हस्ताक्षर हुए। ये परियोजनाएँ, एशिया में सबसे बड़े फर्मेस्युटिकल संस्थानों का रूप ले लेंगी जो देश में औषधियों की माँग की पूर्ति के लिए रियायत मूल्य पर अत्यन्त महत्वपूर्ण दवाएँ एकत्र करेंगी।

समझौते के अनुसार सोवियत संघ ने भारत को ६५२ लाख रुपये का दीर्घकालीन ऋण दिया जिसमें परियोजनाओं के लिए यंत्र, मशीनें और तकनीकी साज-सामान एकत्र करने की व्यवस्था की गयी है। कारखानों के निर्माण-कार्य में मदद देने के लिए सोवियत विशेषज्ञ भारत आयेंगे। साथ ही वे भारतीयों को जटिल उत्पादन तकनीक में निपुण बनाने में मदद करेंगे।

इस करार के अनुसार एण्टीबायोटिक दवाओं का एक कारखाना उत्तर प्रदेश के ऋषिकेश में बनेगा। इस कारखाने का शिलान्यास उत्तर प्रदेश से मुख्यमंत्री श्री सी० बी० गुप्त ने १२ मार्च, १९६२ को किया था।

बएटीबायोटिक कारखाने के निर्माण में ७९५ लाख रुपये खर्च होंगे। यह कारखाना प्रतिवर्ष २६०० लाख रुपये के मूल्य की ३०० टन एण्टी बायोटिक दवाएँ तैयार करेगा। इसमें से कुछ बहुत ही महत्वपूर्ण दवाएँ हैं: पेनसिलिन, स्टैप्टोमाइसिन टेट्रासइक्लिन और क्लोरो-टेट्रासइक्लिन। इस कारखाने में २१८० व्यक्ति काम गरेंगे जिनमें १४९० आपरेटर, ४८० इंजीनियर और अनुसन्धानकर्मी होंगे। कारखाने में उत्पादन का लगभग ५० प्रतिशत भाग तैयार माल के रूप में होगा। ये औषधियाँ सोवियत औषधियों जैसी उत्कृष्टकोटि की होंगी।

इस कारखाने में लगभग ८० प्रकार के मूल और आनुषंगिक कच्चे माल की खपत होगी जिनका कुल वजन २०,००० टन प्रतिवर्ष होगा। गंगा नदी के किनारे ऋषिकेश के समीप ३७ एकड़ भूमि में कारखाने का विस्तार होगा। इस स्थान से लाभ यह है कि यहाँ से विधिवत् तैयार किया गया जल जिसका तापमान वर्ष के अधिकांश समय में १५ अंश सेंटीग्रेड रहता है, कारखाने को प्राप्त होगा। एण्टीबायोटिक औषधि-उत्पादन में पानी की खपत बड़ी मात्रा में होती है। इस प्रयोग के लिए जल के तापमान का कम होना अच्छा। इस क्षेत्र में ठंडे जल की प्रचुरता का होना ही कारखाने के निर्माण का एक मुख्य कारण है।

उत्तर प्रदेश भारत का सबसे बड़ा कृषि प्रधान राज्य है जहाँ वनस्पतिजन्य पदार्थ और कच्चे माल का बड़ी मात्रा में उत्पादन होता है। कारखाने में विभिन्न उत्पादनों के लिए कच्चे माल की पूर्ति इस समय राज्य द्वारा ही होगी।

४४०,००० घनमीटर क्षेत्र में औद्योगिक भवनों का निर्माण होगा। भवनों के चार बड़े ब्लाकों में एण्टी बायोटिक कारखाने की उत्पादन इकाइयाँ होंगी:

(१) तमाम एण्टीबायोटिक पदार्थों को उबालने और साफ करने के लिए फर्मेण्टेशन ब्लाक जिसमें माइकोलॉजिकल प्रयोगशाला होगी; अन्य एण्टी-बायोटिक तत्वों के लिए मिसलियम को तपाने और पेनसिलिन और क्लोरोटेट्रोसीलिन की मिसलियम को सुखाने के लिए खुले स्थान में एक विभाग स्थापित होगा;

(२) उपलब्धि और रासायनिक सफाई ब्लाक जिसमें विभिन्न एण्टीबायोटिक उपलब्धि और रासायनिक सफाई विभाग होंगे;

(३) स्टेराइल फिनिशिंग ब्लाक जिसमें तैयार एण्टीबायोटिक को मिलाने, भरने और उनके पैकेट बनाने का कार्य होगा।

(४) रासायनिक और खाद्य पदार्थ ब्लाक जो फर्मेण्टेशन ब्लाक को पाइप द्वारा संस्कार-परिष्कार किया माल पहुँचायेगा।

कारखाने में अलग से एक ब्लाक होगा जिसमें प्रयोगशाला होगी। यहाँ पर औद्योगिक प्रक्रियाओं के नियंत्रण और कच्ची तथा तैयार वस्तुओं की किस्म पर नियंत्रण रखने के लिए वैज्ञानिक अनुसन्धान और परीक्षण कार्य किये जायेंगे।

ऋषिकेश कारखाने को उत्तर प्रदेश की राज्य-विद्युत्-शक्ति प्रणाली द्वारा बिजली मिलेगी।

भारत औषधीय वनस्पतियों का भाण्डार है। बड़ी मात्रा में औषधि के उत्पादन से भारत को

उनका आयात करने की आवश्यकता नहीं रहेगी; और वह इससे बची विदेशी मुद्रा को अन्य आर्थिक क्षेत्रों में लगा सकेगा। इसलिए स्वभावतः भारत की तीसरी पंचवर्षीय योजना में परिकल्पना की गयी है कि "भारत के कच्चे माल से भारत में बनी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दवाओं की उचित दरों पर पूर्ति।"

३. नगरों का कोलाहल दूर करने में विज्ञान का योगदान प्रयत्नशील

मास्को में कांग्रेसों के नये क्रमिलिन प्रासाद के उद्घाटन से ठीक पहले ऊपर के अनेक विशाल कमरों में से एक में यह आदेश दिया गया था: 'प्रयाण पदचालन'! बारह सौ टाँगें लकड़ी के फर्श को एक साथ पीटने लगीं। चन्द मिनटों के बाद ध्वनि विशेषज्ञ फर्श के नीचे से निकल कर ऊपर आये और खुशी के साथ चिल्लाकर बोले, कोई आवाज नहीं। ऐसा लगा जैसे यहाँ कोई भी न था।

बड़ी-बड़ी इमारतों कोलाहल करने वाली लिफ्टों, भ्रमणशील सीढ़ियों और बिजली के उपकेन्द्रों के समग्र प्रपंच को वे किस प्रकार कोलाहल से रहित करने में समर्थ हो सके? निर्माण भौतिक विज्ञान-संस्था के ध्वनि विशेषज्ञों ने इसमें भवन के कारीगरों की मदद की। उन्होंने विभिन्न मंजिलों के बीच 'तैरते फर्श' फिट कर दिये थे। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि बड़ी-बड़ी प्लेटों पर लकड़ी के फर्श रख दिये गये थे और ये फर्श फिर मजबूत स्प्रिंगों पर टिका दिये गये थे। इस प्रकार ये आघात-प्रसह (शॉक एब्जॉर्बर) ऊपर की मंजिलों से आने वाले कोलाहल को रोकने में प्रभावशाली सिद्ध हुए।

किसी बड़े नगर में पहली बार आने पर कोई व्यक्ति सड़कों के शोरगुल से सचमुच ही बहरा हो जाता है। यही सब देख करके सोवियत संघ के मास्को नगर में और अन्य बड़े नगर में शोरगुल को खत्म करने के लिए इतना अधिक ध्यान दिया गया है। वहां पर मोटर का भोंपू बजाना और डीजल या बिजली की रेलगाड़ियों की कर्कश सीटी बजाना मना है।

हम सब ओर से शोरगुल से घिरे हुए हैं। बायलर कक्षों के पम्प, पानी के मोटे-मोटे नल, गन्दगी की नालियाँ और लिफ्ट लगभग चौबीसों घंटे चलते ही रहते हैं। और हमें इस सूची में इन चीजों को और जोड़ लेना चाहिए। कारखानों के रेफ्रिजरेटर, विभिन्न लिफ्टिंग मशीनें और प्रेस फैक्टरियाँ। इन सबमें कम्पन होता है और उससे काफी शोर मचा करता है।

इसलिए कोलाहल के स्रोतों का पता लगाया जाता है और उन्हें आरोग एवं स्वच्छता के सिद्धान्त के नमूने का बना लिया जाता है। उदाहरण के लिए, लचक वाली पानी की नलियों को पानी के पाइपों के बीच-बीच में इस ढंग से रख दिया जाता है कि जिससे तमाम मंजिलों तक कोई कोलाहल ध्वनि नहीं जा पाती है। पम्पों, रेफ्रिजरेटरों और लिफ्टों के कम्पन को स्प्रिंगदार आघात-प्रसह कम कर देते हैं। मास्को के तमाम नये घर कोलाहल-अवरोधक अस्थायी एवं क्षणिक व्यवस्था के डिजाइन के बनाये जाते हैं।

मास्को की निर्माण भौतिक विज्ञान-संस्था के इंजीनियर इस प्रकार के जटिल विद्युत् उपकरण यंत्र की सृष्टि करते हैं जो उस कोलाहल-ध्वनि को भी पकड़ लेते हैं जिसे मानव यद्यपि अपने कान द्वारा नहीं सुन पाता है परन्तु जो कान से सुनी जाने वाली से कम हानिप्रद नहीं होती है। अन्य यंत्र ध्वनि-रोधक और ध्वनि-शोषक पदार्थों के तत्त्वों का पता लगाते हैं। इसी के साथ अन्य उपकरण कोलाहल की आवाज़ को खास टेप पर दर्ज करते हैं।

औद्योगिक केन्द्रों के अनेक कारखानों में बहुत अधिक कोलाहल हुआ करता है। अन्य द्वारा परिचालित यंत्रों तथा स्वतःचालित यंत्र अपने चलने के समय बहुत शोर किया करते हैं। अब कारखानों में इन कोलाहल मचाने वाली चीजों के तमाम समुदायों

को आघात-प्रसहों के ऊपर टिका दिया गया है और औद्योगिक वर्कशापों में दीवारों की ऊपरी सतह कोलाहल विशोषक होने लगी है और पोरोलोन, खनिज कपास, सछिद्र ईटों और जाल वाले विशेष निर्माणों की व्यवस्था की जाने लगी है।

किलन में रायन की मिल में परीक्षण के तौर पर जो भित्ति उपरिपृष्ठ को ध्वनि-शोषक बनाया गया था उसका अच्छा परिणाम निकला था।

आइये अब हम कल्पना करते हैं कि एक अंतर नगर बस राजपथ पर बड़ी तेज चाल से भागी जा रही है। वहाँ नगर की इमारतें दीख पड़ने लगी हैं। कुछ मिनटों बाद वह बस नगर की सड़कों में से होकर गुजरने के बदले अचानक ही एक छतविहीन सुरंग में जा घुसती है। जिस सड़क पर वह दौड़ रही है वह अपने दोनों ओर की पगडंडियों की अपेक्षा बहुत नीचाई पर है। पेड़ों की घनी फुनगियाँ उस गहरी सड़क पर झुकी हुई हैं और ऊपर उस सड़क के साथ-साथ जो मकानों की पंक्ति है उसमें निस्तब्धता का राज्य है—यातायात का कोलाहल उनमें नहीं पहुँच रहा है।

अनेक विधियों में गहरी सड़क एक ऐसी विधि है जो भविष्य में यातायात के कोलाहल को दूर करने में नगरों की मदद करेगी। नगर की सड़कों का शोर दूर करने की अन्य निम्न विधियाँ व्यापक रूपसे व्यवहार में लायी जा चुकी हैं : आवास स्थानों की विशेष योजना की गयी है और उन्हें हरे परिरक्षक क्षेत्रों की चहारदीवारी से घेर दिया गया है। शीघ्र ही दफ्तरों में निःशब्द टाइप राइटर इस्तेमाल किए जाने लगेंगे और कारखानों में करीब-करीब निःशब्द खरादें और उपकरण बरते जाने लगेंगे।

४. सोते-सोते विद्याध्ययन कीजिए

क्या किसी सोये पड़े व्यक्ति को नींद में नयी बात पढ़ाई सिखाई जा सकती है? अब से कुछ समय पहले यह बात शेखचिल्ली की-सी लगती। लेकिन हाल के वैज्ञानिक अनुसंधान ने इस बात की संभावना की पुष्टि कर दी है। नींद में सोये लोगों को विदेशी भाषा पढ़ाने के परीक्षण किये जा चुके हैं। यह देखा गया है कि इस तरह पढ़ाये जाने पर लोगों ने उस विषय में बहुत शीघ्र प्रवीणता प्राप्त की और उनके स्वास्थ्य पर भी कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ा।

सुषुप्तिविज्ञान के प्रश्नों पर सोवियत संघ में जो सर्वप्रथम वैज्ञानिक ग्रन्थ लिखा गया है उसका नाम है 'प्राकृतिक निद्राकाल में भाषा की शिक्षा।' इसे कज़ाख सोवियत समाजवादी जनतंत्र की विज्ञान अकादमी के प्रकाशनगृह ने प्रेस के लिए तैयार किया था। इसके लेखक हैं प्रोफेसर ए० एम० एव्यादोश्च जो कारागन्दा के एक वैज्ञानिक हैं और इस विषय का अध्ययन करने में पच्चीस वर्ष लगा चुके हैं।

प्रो० एव्यादोश्च ने हाल की एक मुलाकात में कहा था : 'प्राकृतिक निद्राकाल में भाषा की शिक्षा की समस्या पर अनुसंधान मेरी राय में दो विधियों से किया जाना चाहिए। पहली विधि है भाषा याद करने की निश्चित योग्यताओं के विकास के लिए निर्देश और आत्म-निर्देश का उपयोग। बाद की विधि में व्यक्ति को थोड़ी देर के लिए निद्रा से जगाना होता है और उसके बाद ध्वनि रिकार्डिङ्ग से उसे सम्मोहन में लाना होता है।"

इन विधियों को किस तरह बरता जाये इसका निश्चय करने के लिए प्रयोक्ता को चाहिए कि वह सोया हुआ व्यक्ति जब भाषा-ज्ञान ग्रहण कर रहा हो, तब उसका दिमाग कितने अंश तक थका है। प्रोफेसर एव्यादोश्च का मत है कि जब पढ़ाने की इस विधि का प्रयोग किया जाता है; तब खास तौर पर यह देखा जाता है कि मानव मस्तिष्क थकान अनुभव नहीं करता है। इस वैज्ञानिक का कहना है कि अनेक वर्षों के परीक्षणों के प्रारम्भिक तथ्य-आँकड़ों ने यह प्रमाणित किया है कि जब किसी व्यक्ति को कोई विषय सुषुप्तावस्था में पढ़ाया जाता है तब उसका दिमाग उतना नहीं थकता है जितना कि वही विषय उसे जाग्रतावस्था में पढ़ाने पर थकता

(शेष १७३ पर देखिए)

विज्ञान-वार्ता

१. नेत्र ज्योति पुनः मिली

गत नवम्बर तक हांगकाग में तीन अमेरिकी डाक्टरों (और एक दायी) ने तीन सप्ताह में केवल एक आँख की पुतली बदलने में सफलता पायी थी। इस अमेरिकी टोली ने अपने आवास काल में ५० आपरेशन किये थे। प्रत्येक आपरेशन के समय उसे देखने वाले स्थानीय चिकित्सकों से आपरेशन का कमरा भरा रहता था। इस आपरेशन के अन्तर्गत किसी मृतक व्यक्ति की आँख की पुतली निकालकर रोगी की पुतली के स्थान पर लगायी जाती है, किन्तु यह आवश्यक है कि तत्सम्बन्धी आपरेशन मृतक दाता की मृत्यु के ७२ घण्टे के भीतर ही कर लिया जाय।

हाल के वर्षों में मृतकदाता से प्राप्त पुतली को सुखाने की विधि विकसित कर ली गयी है, जिससे आपरेशन की संभावनाएँ बहुत अधिक बढ़ गयी हैं। ऐसा करने से दान में प्राप्त आँख को कई वर्ष तक सुरक्षित रखा जा सकता है। किन्तु सभी प्रकार के मामलों में इसका प्रयोग नहीं हो सकता। इस विधि को वाशिंगटन, डी० सी०, जार्जटाउन विश्वविद्यालय के डा० जान हैरी किंग ने विकसित किया है।

हांगकांग जाने वाले तीनों अमेरिकी डाक्टरों में डा० किंग भी एक थे। अन्य डाक्टर थे—कोर्नेल विश्वविद्यालय के डा० जान डब्ल्यू० मैक्लीन तथा जौन्स हौपकिन्स विश्वविद्यालय के चिकित्सा विद्यालय के डा० चार्ल्स ई० इलिफ। इस टोली को स्वर्गीय डा० टाम डूली द्वारा स्थापित मैडिको इन्क० योजना के अन्तर्गत भेजा गया था।

तीन वर्ष पूर्व डा० इलिफ जार्डन गये थे, जहाँ से लौटने पर उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय नेत्र बैंक की स्थापना का सुझाव दिया था। एक वर्ष पूर्व इसी महीने इस नेत्र बैंक की स्थापना की गयी। इस बैंक को मृतक व्यक्तियों के नेत्र संग्रह कर के सुरक्षित रखना पड़ता है, ताकि रोगी की आँख में उसका तत्काल प्रयोग किया जा सके।

हांगकांग में इस सिलसिले में जो आँख के आपरेशन किये गये, उनके लिए पुतलियाँ जेट विमान द्वारा अमेरिका से भेजी गयी थीं। इसके लिए तीव्रतम गति से उड़ने वाले जेट विमान का प्रयोग किया गया। इस सारी क्रिया को सम्पन्न करने में ७२ घण्टे से अधिक समय नहीं लगा।

डा० इलिफ ने बताया कि इसमें सभी लोगों से अद्भुत सहयोग प्राप्त हुआ। हांगकांग में कम्युनिस्ट चीन से भाग कर आये हुए शरणार्थियों के भोजन में पोषक तत्वों की कमी के कारण अन्धे हो रहे व्यक्तियों की संख्या बहुत अधिक हो गयी है।

२. गुरुत्वाकर्षण शक्ति और भू-उपग्रह

अमेरिका के एक विख्यात भौतिक वैज्ञानिक का कहना है कि वैज्ञानिक भू-उपग्रह ५ वर्ष में इस बात का पता लगा लेंगे कि कालान्तर से गुरुत्वाकर्षण शक्ति कम हो रही है या नहीं। यदि यह सिद्ध हो सका कि यह शक्ति घट रही है तो इससे आइन्स्टीन का यह सिद्धान्त असत्य हो जायेगा कि सृष्टि में सर्वत्र गुरुत्वाकर्षण स्थिर और अपरिवर्त्य है।

प्रिंस्टन विश्वविद्यालय के भौतिक वैज्ञानिक, डा० राबर्ट आर० डाइक, ने अमेरिकी नभवाणी पर प्रसारित एक भाषण में गुरुत्वाकर्षण शक्ति और अन्तरिक्ष-विज्ञान के विषय में अपना विचार व्यक्त किया। डा० डाइक ने कहा कि कालान्तर में जैसे-

जैसे सृष्टि का विस्तार बढ़ रहा है, वैसे ही वैसे गुरुत्वाकर्षण विषयक क्रिया-प्रतिक्रिया का क्रमशः ह्रास भी होता जा रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि गुरुत्वाकर्षण शक्ति का उद्भव स्वयं अन्तरिक्ष के स्वरूप से किसी न किसी रूप में सम्बद्ध है।

डा० डाइक ने कहा कि गुरुत्वाकर्षण में हो रहे ह्रास का पता लगाने के लिए 'गुरुत्वाकर्षण सम्बन्धी घड़ी' के रूप में एक भू-उपग्रह प्रक्षिप्त किया जाना चाहिए, जिसकी तुलना 'आणविक घड़ी' से की जा सकती है।

३. फसलों को हानि पहुँचाने वाले कीड़े-मकोड़े

अमेरिका कृषि-विभाग ने भारत के दो संस्थानों को अनुदान प्रदान किये हैं, जिनका उद्देश्य कृषि सम्बन्धी कीड़े-मकोड़ों और रोगों के विषय में अनुसन्धान को बढ़ावा देना है। बंगलौर के कामनवेल्थ इन्स्टिट्यूट ऑव् बॉयोलाजिकल कण्ट्रोल को ३६,८६७ डालर का एक अनुदान दिया गया है, जिसकी सहायता से फसलों में लगने वाले कीड़े-मकोड़ों तथा रोगों के विषय में अनुसन्धान किया जायेगा।

अन्नामलाई नगर के अन्नामलाई विश्वविद्यालय के वैज्ञानिक मिट्टी में पलने वाले जीवाणुओं, उनकी किस्मों, उनके प्रभावों आदि का अध्ययन करेंगे। उनकी इस पंचवर्षीय योजना के लिए अमेरिका ने ३९,०५८ डालर का अनुदान दिया है। इन दोनों कार्यक्रमों के लिए विदेशों में अमेरिकी कृषि जन्य वस्तुओं की बिक्री से प्राप्त विदेशी मुद्राओं के कोष से वित्त की व्यवस्था की गयी है।

४. दक्षिणी ध्रुव प्रदेश में वैज्ञानिक अनुसन्धान

अमेरिका के वैज्ञानिक दक्षिणी ध्रुव प्रदेश में लगभग एक वर्ष तक अन्वेषण करने के पश्चात स्वदेश लौट रहे हैं। वे अपने साथ नमूने के रूप में ६ टन से अधिक वैज्ञानिक आँकड़े और सामग्रियाँ ला रहे हैं। इन सामग्रियों में ७० पौण्ड वजन का एक उल्का खण्ड, मछलियाँ, हिम-पिण्ड, उष्ण सोते का पानी, समुद्री मकड़े आदि सम्मिलित हैं। ये सामग्रियाँ नौसेना के एक जहाज द्वारा मार्च के मध्य में क्राइस्ट चर्च, न्यूजीलैण्ड पहुँचीं। इन्हें योजना में भाग लेने वाले ३० से अधिक विश्वविद्यालयों, अनुसन्धान संस्थानों तथा सरकारी संस्थाओं के पास पहुँचाया जा रहा है। इस योजना की स्थापना अमेरिका के राष्ट्रीय विज्ञान प्रतिष्ठान ने ५५ लाख डालर के व्यय से की है। इसमें २०० वैज्ञानिकों ने भाग लिया।

५. आकाश से रासायनिक खाद की वर्षा

जिन चरागाहों में और पहाड़ी खेतों में पहुँचना कठिन होता है वहाँ हवाई जहाजों से रासयानिक खाद डालने का तरीका अमेरिका में अब दिनोंदिन लोकप्रिय होता जा रहा है। इस काम के लिए फसलों पर दवाएं छिड़कने वाली व्यापारिक संस्थाओं के विशेष रूप से सज्जित वायुयानों और हैलिकॉप्टरों का उपयोग किया जाता है।

जिन इलाकों में ऐसी कार्यवाही की जाती है वहाँ के काउण्टी एजेण्टों का कथन है कि नीचे जमीन पर रासायनिक खाद डालने की तुलना में आकाश से खाद डालना अधिक अच्छा रहता है। पशु-पालकों का कथन है कि इस प्रकार खाद डालने का लाभ यह हुआ है कि उनके कुछ चरागाहों में अब चरने वाले पशुओं की संख्या दुगनी हो गई है और कुछ बेकार पड़े चरागाहों का उपयोग करना संभव हो गया है।

६. फसलों की रक्षा का विचित्र साधन

अमेरिका की 'नेशनल ज्योग्रॉफिक सोसायटी" ने सूचित किया है कि वे सूक्ष्म झिल्लियाँ (या फफूँदी) जिनमें फँस कर हानिकारक कीड़े और अन्य पतंगे आदि नष्ट हो जाते हैं, किसानों के लिए संभवतः बहुत उपयोगी सिद्ध होंगी। यह झिल्ली देखने में बासी रोटी पर आने वाली फफूँदी की तरह बड़ी निरापद प्रतीत होती है, पर वह अपने शिकार के लिए फणिधर साँप जैसी घातक होती है।

१८८८ में एक जर्मन वैज्ञानिक ने एक कीड़े को फँसाकर मार डालने वाली फफूँदी या झिल्ली का अध्ययन किया था। अभी हाल में फ्रांस के अनुसन्धान कर्ताओं ने भेड़ों की ऊन के कीड़ों पर काबू पाने वाली सूक्ष्म फफूँदी का विवरण दिया है। परीक्षणों से यह भी पता चला है कि अनाज, आलू, अननास और अन्य खाद्-वनस्पतियों पर लगने वाले कीड़े को भी फफूँदी से रोका जा सकता है।

अनुसन्धानकर्ता अभी अपने परीक्षणों में लगे हुए हैं और उन्हें आशा है कि इस अनुसन्धान-कार्य से कृषि की प्रगति में सहायता मिल सकेगी।

●●●

(शेषांश पृष्ठ १७० का)

है। इस अद्भुत नवीन समस्या पर अनुसंधान कार्य करने में लगे हुए मानसिक चिकित्साशास्त्रियों द्वारा निकाले गये निष्कर्ष अभी अन्तिम निष्कर्ष से बहुत परे हैं। फिर भी यह आशा साधार ही है कि वह दिन दूर नहीं जबकि सुप्तिविज्ञान, आगामी पीढ़ियों द्वार विज्ञान के उपार्जित ज्ञान की सहायता से आशुतम ज्ञानग्रहण के क्षेत्र में मानव की पहुँच को संभव कर देगा।

इस कजाख वैज्ञानिक की कृति ने फ्रांस और पोलैण्ड में भी दिलचस्पी पैदा कर दी है। मेडिसिन के डी० एस-सी० उपाधिकारी प्रोफेसर ए० एम० एल्यादोश्च वर्तमान समय में कारागन्दा मेडिकल संस्थान में मानसिक चिकित्साशास्त्र विभाग के अध्यक्ष हैं। न्यूरोसिस (एक प्रकार के उन्माद रोग) पर लिखी उनकी पुस्तक जो मास्को स्थित चिकित्सा साहित्य के प्रकाशनगृह द्वारा प्रकाशित की गयी थी, उसने सर्वत्र ख्याति प्राप्त की है। ●

(शेषांश पृष्ठ १७४ का

इस पुस्तक में कतिपय पारिभाषिक शब्द या तो प्रथम बार प्रयुक्त हुए हैं या पुराने शब्दों को स्वीकृति मिली है। ऐसे शब्द हैं—नाभिक (Nucleus), प्रतिकारी (reactor), विखण्डन (fission), जलाशय प्रतिकारी (pool-reactor), त्वरक (accelerator), पारयूरेनियम (transuranium), प्रतिकण (anti-particles), प्रपात (cascade) बुद्बुद् प्रकोष्ठक (bubble-chamber), मूलभूत कण (fundamental or primary particles), विरल मृदा (rare earths) संगलन (fusion), सक्रियमाण ऊर्जा (enrgy of activation)।

अन्त में दी गई पारिभाषिक शब्दावली में एकाध विलक्षण शब्द हैं। यथा अवैयक्तिक indirect), कैलास (Crystal) जिनमें प्रथम को अप्रत्यक्ष तथा दूसरे को केलास होना चाहिये था।

अच्छा हो यदि इस पुस्तक में आये पारिभाषिक शब्दों को अन्य लेखक भी ग्रहण करें और हिन्दी में सृजित वैज्ञानिक साहित्य में एकरूपता लाने का प्रयत्न करें। ●

पुस्तक-समीक्षा

परमाणु विखण्डन

लेखक—डा० रमेशचन्द्र कपूर, प्रकाशक—हिन्दी-समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश। पृष्ठ संख्या ३३५, मूल्य ६ रु० । प्रथम संस्करण १९६२ ।

आधुनिक परमाणविक युग में परमाणु एवं उसके विखण्डन द्वारा उद्भूत विलक्षण ऊर्जा के दोहन एवं नियंत्रण के सम्बन्ध में प्राथमिक एवं आधिकारिक वैज्ञानिक जानकारी प्रत्येक छात्र एवं व्यक्ति के लिए आवश्यक है। हिन्दी समिति ने ऐसी जानकारी सबों के लिए सुगम एवं उपलब्ध बनाने की दृष्टि से "परमाणु विखण्डन" नामक पुस्तक का लेखन कराकर उसे प्रकाशित किया है। इसमें सन्देह नहीं कि इस पुस्तक के द्वारा सभी वर्ग के पाठकों के लिए वांछित सामग्री की पूर्ति होगी।

परमाणु विखण्डन नामक इस कृति में छोटे बड़े १६ अध्याय हैं जिनमें प्रथम ११ अध्यायों में परिचय, रेडियधर्मिता, मूलभूत कण, परमाणु संरचना, नाभिक की बंधन ऊर्जा, तत्वांतरण, परमाणु विखण्डन यन्त्र, कण एवं विकिरण सूचक यंत्र, कृत्रिम रेडियधर्मिता, यूरेनिम खंडन, नाभिकीय श्रृंखला प्रतिक्रिया शीर्षकों के अन्तर्गत अधिकाधिक एवं पुष्ट सामग्री प्रस्तुत की गई है। अध्याय १२,१३ तथा १४ में परमाणु ऊर्जा के विविध उपयोग उल्लिखित हैं। अध्याय १६ में भारत में परमाणु अनुसन्धान संबंधी प्रगति का सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन दिया गया है। बीच के चार अध्यायों में नये तत्त्व, नाभिक संगलन प्रतिक्रिया, परमाणु व ताप नाभिकीय बम तथा विकिरण से सुरक्षा पर सामग्री संग्रहीत है।

पुस्तक की छपाई अच्छी है परन्तु उसका आकार लघु है और मूल्य अधिक जिससे भय होता है कि सामान्य पाठक अपनी गाँठ में से इतने रुपये खर्च कर सकेगा या नहीं। हिन्दी समिति को चाहिये था कि इसका और कम मूल्य रखती।

फिर भी पुस्तक के कई आकर्षण भी हैं। सम्भवतः परमाणु विखण्डन पर यह हिन्दी में प्रथम लिखित पुस्तक होगी। अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ऐसे विषय पर पुस्तक लिखना, जिसकी पारिभाषिक शब्दावली पूर्ण न हो, कठिन कार्य होता है। अतः लेखक बधाई का पात्र है कि उसने साहस बटोर कर इस दिशा में आगे कलम चलाई। उसमें अपने दृष्टिकोण को और स्पष्ट करने के लिए पुस्तक के अंत में ५०० शब्दों के अंग्रेजी समानार्थी पारिभाषिक शब्द भी दे दिये हैं।

पुस्तक में चित्रों की बहुलता के कारण न केवल आकर्षण ही बढ़ा है वरन् विषय की बोधगम्यता भी बढ़ी है।

परन्तु एक ओर जहाँ छपाई एवं विषय सम्बन्धी ये विशेषतायें हैं वहीं कुछ खटकने वाली भी चीजें हैं। यथा—पुस्तक भर में अंग्रेजी में पाद टिप्पणियाँ (जो अनावश्यक हैं, क्योंकि अन्त में समानार्थी शब्दों की सूची दी हुई है) तथा पृष्ठ में वर्तनी की अशुद्धियाँ या अशुद्ध छपाई। अंग्रेजी के समस्त टाइप अव्यवस्थित हैं। छापे की अशुद्धियों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि न तो लेखक को प्रूफ दिखाया गया और न इस ओर सतर्कता ही बरती गई। यही नहीं, किसी अशुद्धि-पत्र के अभाव में तो इसकी पुष्टि और हो जाती है। वैज्ञानिक विषयों पर हिन्दी में प्रकाशित ग्रन्थों में इस दिशा में विशेष सतर्कता की आवश्यकता है। जिस प्रकार अंग्रेजी की पुस्तकों में एक भी अशुद्धि नहीं रहती उसी प्रकार हमें हिन्दी में भी करना होगा।

(शेष १७३ पर देखिए)

राष्ट्रीय बचत विभाग के लिए सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, द्वारा प्रचारित।

सम्पादकीय

नकली औषधियों का प्रचार

इधर कुछ दिनों से समाचारपत्रों में नकली औषधियों के निर्माण एवं उनके विक्रय के सम्बन्ध में अनेक खबरें छप रही हैं। एक सामान्यतम व्यक्ति भी इन सबसे यही निष्कर्ष निकालने को बाध्य होता है कि चिकित्सा के क्षेत्र में धाँधली बढ़ती जा रही है। आखिर इसके लिए विज्ञान एवं वैज्ञानिक समान रूप से दोषी ठहराये जायँ या औषधि निर्माता एवं विक्रेता; या हम सरकार को दोषी सिद्ध करें जो उचित नियंत्रण नहीं कर पा रही ?

सच बात तो यह है कि जनता के समक्ष औषधियों का मूल्य उनकी मौलिकता से अधिक महत्वपूर्ण लगता है। धनाभाव में वे सस्ती औषधियों को खरीद कर रोगों का उपचार करना चाहते हैं। फिर सभी व्यक्ति समान रूप से डाक्टर के पास पहुँचकर कम से कम समय में निरोग बनना चाहते हैं। फल यह होता है कि वे भावावेश में दवा तो लिखा लाते हैं, क्योंकि आधुनिक युग में जीवन अधिक प्रलोभनीय बन चुका है परन्तु जब टेंट टटोलते हैं तो उतने पैसे नहीं होते। औषधि विक्रेताओं को इस स्थिति का ज्ञान है अतः वे सस्ती दवायें बेचने लगे हैं। इन सस्ती दवाइयों का परिणाम यह होता है कि आये दिन ऐसी मौतें होती रहती हैं जो रोग के कारण न होकर दूषित औषधियों के प्रयोग के कारण होती हैं।

आश्चर्यजनक बात तो यह है कि बंगाल, जहाँ से औद्योगिक रसायन (चिकित्सा-रसायन) का प्रारंभ हुआ, वही इस नकली औषधि निर्माण का उत्तरदायी है। सबसे साधारण औषधि आसुत जल है जिसका उपयोग सूचीवेध में होता है। औषधि निर्माताओं ने इस मूल पदार्थ को ही दूषित रूप में बेचना प्रारम्भ कर दिया है और सारे देश में दूषित जल की करोड़ों शीशियाँ अब तक बिक चुकी हैं।

सन्तोष की बात है कि सरकार अब थोड़ा-बहुत सतर्क हुई है किन्तु अभी तक दोषी निर्माता कम्पनियों को न तो भंग किया गया है और न अभियुक्त व्यक्तियों को कठोर दंड ही दिया गया है। अच्छा होता यदि सरकार इन आततायियों को सदा के लिए पाठ पढ़ा देती।

हमारा सुझाव है कि औषधियों के विक्रय में धींगाधींगी से बचाने के लिए, उनके अंग्रेजी नामों के साथ हिन्दी में भी नाम अनिवार्य रूप से लिखे जावें। ऐसा होने से अर्द्धशिक्षित जनता भी दवा के नामों को पढ़-पढ़ा सकेगी और तब यह सम्भव है कि नकली औषधियों के व्यापार में कुछ मन्दी आवे।

वैज्ञानिकों को इस सम्बन्ध में जनता की सहायता करना आवश्यक है। प्राणों की रक्षा के साथ ही देश में स्वस्थ चिकित्सा प्रणाली के लिए औषधियों के निर्माण की ओर विशेष रूप से सतर्क रहना होगा। ●

भाग ६६
संख्या १
आश्विन
सं० २०१६ वि०
अक्टूबर १९६२

विज्ञान परिषद् प्रयाग का मुख पत्र

प्रति अंक ४० न. पै.
वार्षिक ४ रुपये

सम्पादक—डॉ० शिवगोपाल मिश्र

विज्ञान परिषद्, प्रयाग

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

	मूल्य
१—विज्ञान प्रवेशिका भाग १—श्री रामदास गौड़, प्रो० सालिगराम भार्गव	३७ नये पैसे
२—वैज्ञानिक परिमाण—डा० निहालकरण सेठी	१ रु०
३—समीकरण मीमांसा भाग - १ पं० सुधाकर द्विवेदी	१ रु० ५० नये पैसे
४—समीकरण मीमांसा भाग २—पं० सुधाकर द्विवेदी	६२ नये पैसे
५—स्वर्णकारी—श्री गंगाशंकर पचौली	३७ नये पैसे
६—वर्षा और वनस्पति—श्री शंकरराव जोशी	३७ नये पैसे
७—व्यंग चित्रण—ले० एल० ए० डाउस्ट, अनुवादिका—डा० रत्न कुमारी	२ रुपया
८—तैरना डा० गोरख प्रसाद	१ रुपया
९—वायुमंडल की सूक्ष्म हवायें—डा० संत प्रसाद टंडन	७५ नये पैसे
१०—खाद्य और स्वास्थ्य—डा० ओंकार नाथ पर्ती	७५ नये पैसे
११—फल संरक्षण—डा० गोरख प्रसाद, वीरेन्द्र नारायण सिंह	२ रु० ५० नये पैसे
१२—शिशु पालन—श्री मुरलीधर बौड़ाई	४ रुपया
१३—मधुमक्खी पालन—श्री दयाराम जुगड़ान	३ रुपया
१४—घरेलू डाक्टर—डा० जी घोष, डा० उमाशंकर प्रसाद, डा० गोरख प्रसाद	४ रुपये
१५—उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर—डा० गोरखप्रसाद, डा० सत्यप्रकाश	३ रु० ५० न०पै०
१६—फसल के शत्रु—श्री शंकरराव जोशी	३ रु० ५० नये पैसे
१७—साँपों की दुनिया—श्री रामेश वेदी	४ रुपया
१८—पोर्सलीन उद्योग—श्री हीरेन्द्र नाथ बोस	७५ नये पैसे
१९—राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ	२ रुपये
२०—गर्भस्थ शिशु की कहानी—अनु० प्रो० नरेन्द्र	२ रुपया ५० नये पैसे
२१—रेल—इंजन परिचय और संचालन—श्री ओंकारनाथ शर्मा	६ रुपया
२२—भारतीय कृषि का विकास—डा० शिवगोपाल मिश्र	५ रुपया

इन पुस्तकों के लिए अब आप सीधे निम्न पते पर पत्रव्यवहार करें क्योंकि पिछले मास से लाला रामनारायण लाल बेनीप्रसाद हमारे एक मात्र वितरक नियुक्त हुए हैं।

मिलने का पता :

लाला रामनारायण लाल बेनी प्रसाद
कटरा, इलाहाबाद

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञान ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञान जानेतानि जीवन्ति विज्ञान प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तै० उ० ।३।५।

भाग ९६ | आश्विन २०१९ विक्र०, १८८४ शक अक्टूबर १९६२ | संख्या १

घटनायें जो अन्वेषण में सहायक बनीं

डॉ० शिव प्रकाश

मानवता को विज्ञान की देन बहुमुखी है। कितने ही वैज्ञानिक अपने विलक्षण अनुसन्धानों में वर्षों लगे रहे तब कहीं जाकर ऐसे परिणाम प्राप्त हुए जो मानव के लिए हितकर सिद्ध हुए! वैज्ञानिकों के सतत् परिश्रम का ही परिणाम है कि हम चिकित्सा, कृषि तथा उद्योग में आज इतनी प्रगति कर सके हैं। जिधर भी दृष्टि जाती है हमें विज्ञान के चमत्कार देखने को मिलते हैं। गत कुछ वर्षों में 'स्पेस रिसर्च' में जो आश्चर्यजनक प्रगति हुई है इस पर विचार करने से हमें यह आभास होता है कि अनुसन्धान-कार्य अत्यन्त तीव्रता के साथ बढ़ता जा रहा है। बहुत से आविष्कारों में 'आवश्यकता आविष्कार की जननी है' की कहावत चरितार्थ होती दिखाई पड़ती है, किन्तु यदि हम विज्ञान-साहित्य पर दृष्टिपात करें तो हमें यह पता चलता है कि अनेक आविष्कारों को जन्म देने में उन घटनाओं को श्रेय दिया जा सकता है जो समय-समय पर होकर प्रायः मनुष्य की विचारधारा में एक ऐसा मोड़ ला देती हैं जो एक अनुपम गवेषणा को रूप प्रदान करती हैं।

कौन नहीं जानता कि देगची के ऊपर ढक्कन को वाष्प द्वारा अपने आप नीचे ऊपर होते देखकर ही जेम्स वाट ने वाष्प में छिपी शक्ति का पता लगाया था और उसके परिणामस्वरूप वाष्प-इंजन हमारे सामने आया।
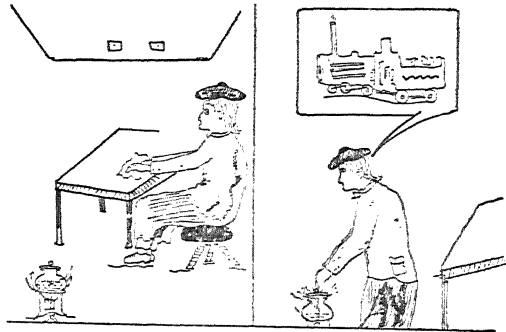
जेम्स वाट द्वारा रेल इंजन के आविष्कार की कल्पना

राजमुकुट में शुद्ध सोने की मात्रा ज्ञात करने में तल्लीन आर्कीमिडीज़ ने तालाब में स्नान करते समय अपने शरीर को अकस्मात् उछला पाकर एक ऐसे सिद्धान्त का पता लगाया जिससे किसी वस्तु की द्रव में भार में कमी जानी जा सकती है। पृथ्वी में गुरुत्वाकर्षण की खोज भी आइज़क-न्यूटन के सम्मुख सेब के नीचे गिरने से हुई थी।

१७५२ में फ्रैंकलिन एक दिन पतंग उड़ा रहे थे। उस दिन बिजली बहुत चमक रही थी और कुछ जलवृष्टि भी हुई थी। पतंग में लोहे का नोकदार

तार लगा था और सन की डोरी के उस सिरे में जो उनके हाथ में था फ्रैंकलिन ने एक चाभी बाँध दी थी। आविष्ट बादलों के पतंग के पास से होकर निकलने पर चाभी के पास उँगली लाने पर चिनगारी निकलती देखकर फ्रैंकलिन ने वायु में विद्युत् की उपस्थिति का पता लगाया और तभी से विशाल अट्टालिकाओं की सुरक्षा के निमित्त तड़ित परिचालक का उपयोग भी आरम्भ हो गया।
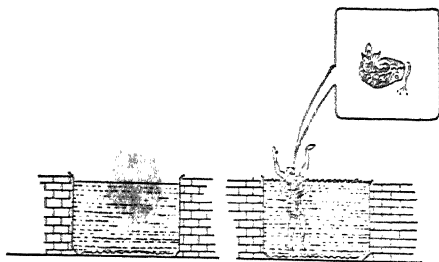
आर्केमिडीज़ ने आखिरकार सिद्धान्त का पता लगा ही लिया

फ्रैंकलिन द्वारा विद्युत का आविष्कार

कागज के संसार में एक खोज का जन्म एक घटना पर आधारित है। एक कागज बनाने वाले व्यवसायी की पत्नी उस बराम्दे से होकर गुजर रही थी जहाँ लकड़ी के बड़े-बड़े बर्तनों में कागज की लुग्दी रखी थी। वह कपड़ा धोने का दिन था और उक्त महिला अपने साथ एक नीला थैला लिये धोने के घर में जा रही थी। अचानक एक बर्तन में वह थैला गिर गया। वह घबरा गई और उसने अपनी गलती अपने पति से छिपा ली। जब कागज तैयार किया गया तो उस बर्तन की लुग्दी से जिसमें थैला गिरा था तैयार कागज इच्छानुसार सफेद न होकर पीलापन लिये हुई नीला था। व्यवसायी चकित भी हुआ और क्रोध भी रोक न सका! अन्त में उसने वह कागज अपने ग्राहकों के पास भेज दिया। उसके आश्चर्य की सीमा न रही जब उस कागज की बहुत ज्यादा माँग हुई। उसे पता ही न था कि कागज नीला कैसे हो गया। अंत में उसकी पत्नी ने सारा किस्सा जब सुना दिया तो उसे बड़ा हर्ष हुआ और इस प्रकार नीला कागज क्षेत्र में प्रविष्ट हुआ।

एक बिल्ली ने हमें बहुत बड़ी खोज दी! एक रसायनज्ञ की प्रयोगशाला में चूहे के पीछे भागती हुई बिल्ली ने फार्मलडिहाइड की एक बोतल गिरा दी जिससे चूहेदानी में रखी पनीर पर फार्मलडिहाइड गिर पड़ा। ब्रैडफोर्ड के उस रसायनज्ञ ने जिसकी प्रयोगशाला में यह घटना घटी थी जब चूहेदानी की पनीर को हटाया तब उसे तुरन्त उसमें हुए परिवर्तन की चिन्ता हुई। अब वह चमकदार तथा लोहे की भाँति कठोर हो गया था। इस गुण से प्रभावित होकर उसने और प्रयोग आरम्भ किये जिसके फलस्वरुप बढ़ते हुए प्लास्टिक पदार्थों की खोज हुई।

कुछ रसायनज्ञ नील बनाने की सस्ती विधि के लिए खोजबीन कर रहे थे। नैफ्थलीन द्वारा महँगे तथा थकनीय प्रयोगों के मध्य एक थर्मामीटर टूट गया और उसका पारा उस मिश्रण में जा गिरा। तुरन्त ही एक रासायनिक क्रिया हुई जिससे यह विदित हुआ कि प्रयोग के नष्ट होने के बजाय इस

घटना ने साधारण रंग उत्पन्न कर दिया है और इस प्रकार नील बनना सम्भव हो सका।

विद्युत् धारा के खोज की भी एक कहानी है जो एक घटना का ही परिणाम है। बोलोना के शरीर-विज्ञान के प्रोफेसर गैलवानी की पत्नी एक बार बीमार पड़ीं। कुछ खाने योग्य मेंढक जिनका 'सूप' तैयार किया जाना था प्रयोगशाला की उस मेज़ पर रखे थे जिस पर घर्षण से विद्युत् उत्पन्न करने वाली एक मशीन भी रखी थी। गैलवानी ने देखा कि प्रत्येक बार जब मशीन से चिनगारी निकलती है तो मेंढक अपने पैरों को झटके से खींच लेते थे। यद्यपि वह घंटों से मर चुके थे फिर भी उनकी यह गति देखकर गैलवानी का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ और उन्होंने इस पर अधिक परीक्षण का निश्चय किया। एक दिन जब बिजली चमक रही थी उन्होंने एक मरे हुए मेंढक की टाँग को तड़ित परिचालक से जोड़ दिया और यह देखा कि प्रत्येक बार बिजली के चमकने पर मेंढक पैर मारता था। उन्होंने कई मरे हुये मेंढकों को पीतल या ताँबे की कँटिया द्वारा एक लोहे की ट्रेलिस से अपने बाग में जोड़ दिया और तड़ित और गर्जना की प्रतीक्षा में बैठ गये। संयोग से मौसम स्वच्छ हो गया और धूप निकल आई और बिजली की कोई शंका न रह गई। फिर भी प्रत्येक बार जब वह कँटिया को दबाते हर बार मेंढक पैर झटके से खिंच जाते और यह क्रिया तब तक के होती जब तक धातु द्वारा सम्पर्क बना रहता। गैलवानी ने यह निष्कर्ष निकाला कि विद्युत मेंढक के पैरों में ही उपस्थित थी और धातु केवल उसे चालित करने में सहायता करता है।

अब हम पेनिसिलीन की कहानी पर आते हैं। १६२६ में सर एलेक्ज़ेण्डर फ्लेमिंग ने देखा कि एक हरित कवक उस प्लेट पर जम गया था जिसमें स्टैफिलोकोकाई (Staphlyococci) को सम्वर्द्धित करने का प्रयत्न किया जा रहा था। यह दूषित था। इस कवक के निकट जो जीवाणु कालनी (Colony) थी वह प्रकट हुई। सर एलेक्ज़ेण्डर ने अपने कवक को एक घुलती हुई ओर रख दिया, उसे संवर्द्धित किया और संवर्द्ध को कई वर्षों तक रख छोड़ा और यह प्रदर्शित कर दिया कि माध्यम को जिस पर कवक उगता है सैकड़ों गुना तनु किया जा सकता है फिर भी उसमें इतनी शक्ति रह जाती है जो जीवाणुओं का हनन कर सकती है। कुछ अवस्थाओं में उन्होंने दिखाया कि जख्मों के भरने में इसका उपयोग किया जा सकता है। इस घटना ने ऐसी औषधि को जन्म दिया जिसने चिकित्सा-क्षेत्र में क्रान्तिकारी प्रगति उपस्थित कर दी। यह कहा जाता है कि जो विभिन्न कवक बनते हैं उनमें स्वयं ऐसे रसायन उपस्थित रहते हैं जो जीवाणुओं से सुरक्षा करते हैं। कम से कम आठ ऐसे ही रसायन प्राप्त किये गए हैं जो विभिन्न कवकों से उत्पन्न हुए हैं। इनमें से इस समय जो सबसे प्रभावशाली मालूम होता है और जिसकी खोज पेनिसिलीन की भाँति ही एक घटना का परिणाम है वह है स्ट्रेप्टोमाइसीन। स्ट्रेप्टोमाइसीन एक अन्य हरे कवक से जो कि एक भिन्न परिवार का होता है प्राप्त हुआ है और यह बफैलो विश्वविद्यालय की अनुसंधानशाला में क्षयरोग के जीवाणु (Tuber-culosis bacilli) के संवर्द्ध में उगता हुआ पाया गया था।

ऐसी ही अनेक घटनायें हैं जो अन्य आविष्कारों में सफलता का मार्ग प्रदर्शन करने को उपस्थित हो गई हैं। आधुनिक युग को वैज्ञानिक युग कहा जाता है। परमाणु काल का स्थान शनैःशनैः आन्तरिक्ष काल लेता जा रहा है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि विज्ञान ने विनाश में योग नहीं दिया पर यदि विज्ञान के सहारे पारस्परिक स्पर्धा में पड़ कर मानव ने उसका उपयोग विनाश के लिए किया तो स्वयं मानव ही उसके लिए दोषी है। युद्ध काल में सरकार के आदेश पर कार्य करने वाले वैज्ञानिकों ने हो सकता है कहीं-कहीं पर अपना मस्तिष्क रचनात्मक प्रगति के विरुद्ध लगाया हो पर यदि विज्ञान में राजनीति को स्थान न मिले तो शायद हम इससे बच सकते हैं।

शेष पृष्ठ ३४ पर

कुण्डलियों द्वारा आवर्द्धन[1]

शमीम अहमद

आवर्द्धन का नाम आते ही हमारा ध्यान काँच के बने उन तालों पर चला जाता है जिनकी सहायता से किसी वस्तु का आवर्द्धित चित्र हमें प्राप्त होता है। आजकल यह विषय उच्चतर माध्यमिक स्तर पर ही बता दिया जाता है कि किसी वस्तु की प्रतिमूर्ति में विद्यमान आवर्द्धन प्रतिमूर्ति तथा वस्तु की ताल से दूरियों के अनुपात के बराबर होता है। परन्तु हम यहाँ उस विधि का वर्णन प्रस्तुत करेंगे जिसमें बिना ताल की सहायता लिए ही वस्तुओं की आवर्द्धित प्रतिमूर्ति प्राप्त की जाती है। इस विधि का उपयोग करके वैज्ञानिक इलेक्ट्रॉन तथा प्रोटान अणुवीक्षण यंत्र बनाने में सफल हो सके हैं! आज से लगभग पचीस वर्ष पहले कोई वैज्ञानिक इस प्रकार के अणुवीक्षण यन्त्रों की कल्पना ही नहीं कर सकता था क्योंकि उन दो महान् सिद्धान्तों का, जिनकी सहायता से इनका निर्माण किया गया, उसके पहले जन्म ही नहीं हुआ था। इलेक्ट्रॉन-अणुवीक्षण यन्त्र में जैसा कि नाम से स्पष्ट है प्रकाश किरणों के स्थान पर इलेक्ट्रानों के समूह का उपयोग अति सूक्ष्म वस्तुओं को प्रकाशित करने के हेतु किया जाता है। यद्यपि साधारण प्रकाशीय अणुवीक्षण यन्त्रों की तरह सीधे अपनी आँखों से हम आवर्द्धित प्रतिमूर्ति का दर्शन नहीं कर सकते हैं फिर भी आज वैज्ञानिक जगत के हेतु इलेक्ट्रॉन माइक्रॉस्कोप एक अद्भुत देन सिद्ध हुआ है।

प्रमुख-सिद्धांत

मानव चक्षु बिना किसी यंत्रीय सहायता के '०२ सेमी० के आकार तक की वस्तु को स्पष्ट रूप से देख सकने में समर्थ है। इसके पश्चात् साधारण आवर्द्धक ताल काम में लाया गया। साधारण आवर्द्धक ताल के पश्चात् यौगिक माइक्रॉस्कोप का निर्माण किया गया। यौगिक माइक्रॉस्कोप का निर्माण आज से लगभग तीन शती पहले हो चुका था जब 'कलिल रसायन'[2] के का जन्म हुआ तो कलिल कणों को देखने हेतु जिगमाण्डी महोदय ने अल्ट्रामाइक्रॉस्कोप का निर्माण किया जिसकी रचना साधारण-सी है। इसमें एक प्रकाश स्रोत की सहायता से वस्तु को प्रकाशित किया जाता है। प्रकाश किरणें उन कणों से प्रकीर्णन के पश्चात् यौगिक माइक्रॉस्कोप से देखी जाती हैं। इस प्रकार कलिल कणों तक का दिग्दर्शन हो जाता है। इस माइक्रॉस्कोप में काम आने वाले प्रकाश का तरङ्गदैर्ध्य लगभग ६×१०^{-५} सेमी० होता है इसलिए इस विस्तार तथा इससे छोटे विस्तार के कणों को देखने के लिए अल्ट्रामाइक्रॉस्कोप असफल प्रमाणित होता है, क्योंकि तब प्रकीर्णन की घटना नहीं घटित होती है और प्रकाश सीधा निकल जाता है। अल्ट्रामाइक्रास्कोप की सहायता से हम ०·००००२ सेमी० की सीमा तक पहुँच जाते हैं। इनकी सहायता से लगभग १००० गुना आवर्द्धन प्राप्त होता है जबकि सैद्धान्तिक रूप से ३००० गुना होना चाहिए। परन्तु ज्योंही आवर्द्धन १००० से आगे बढ़ता है कि प्रतिमूर्ति इतनी आवर्द्धित हो जाती है जिससे धुँधलापन आ जाता है और ब्यौरा समाप्त हो जाता है। इन सब कठिनाइयों को दूर करने के हेतु इलेक्ट्रॉन-माइक्रॉस्कोप का निर्माण किया गया जो निम्न मुख्य सिद्धान्तों पर आधारित है—

1. Magni fication out of coils

2. Colloidal Chemistry

(१) इलेक्ट्रॉन जैसे कणों के अन्दर तरङ्ग प्रकृति विद्यमान होती है।

(२) प्रकाशीय किरणों की तरह इलेक्ट्रॉन किरणों को भी वैद्युत अथवा चुम्बकीय क्षेत्रों की सहायता से संवनित अथवा विस्तारित किया जा सकता है।

सन् १९२३ ई० की बात है एक फ्रांसीसी युवक लुइस दे ब्रोगली ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि इलेक्ट्रॉनों के साथ तरङ्ग-प्रकृति भी जुड़ी होती है। इस सिद्धान्त का पुष्टीकरण थोड़े ही समय पश्चात् डेविसन्, जर्मर तथा जी० पी० टॉमसन नामक वैज्ञानिकों ने विवर्तन की घटना की सहायता से प्रस्तुत कर दिया। इस प्रयोग में मणिभ एक ग्रेटिंग का कार्य करता है। सन् १९२६-२७ ई० में जर्मनी में बुश नामक भौतिकज्ञ ने इलेक्ट्रॉन-तालों के सिद्धान्त के आधार पर काम करना प्रारम्भ किया और अक्ष के संमित चुम्बकीय अथवा वैद्युत क्षेत्रों की सहायता से ऋणाग्र-रश्मियों के फोकसिंग का सफल प्रदर्शन प्रस्तुत किया। बस क्या था मुँह माँगी चीजें तो मिल ही गई थीं परन्तु बाकी था इलेक्ट्रॉन-सूक्ष्मदर्शी के आकार का निर्धारण करना क्योंकि लगभग सन् १९३० ई० तक वैज्ञानिकों ने जिगसाडी के अल्ट्रा-माइक्रॉस्कोप की परिमितता देख ली थी और यह विचार करना प्रारम्भ किया था कि कोई ऐसा विकिरण स्रोत प्राप्त हो जिससे ६×१०^{-५} सेमी० से भी कम तरङ्ग-दैर्ध्य का विकिरण प्राप्त हो ताकि वे कण जिसके ऊपर प्रकाश बिना प्रकीर्ण हुए निकल जाता है सरलता पूर्वक देखा जा सके। यद्यपि इस क्षेत्र में सूक्ष्म परा-बैंगनी किरणों का उपयोग किया गया परन्तु कोई आशाजनक सफलता नहीं प्रतीत हुई। इसलिए अब लोगों का ध्यान इलेक्ट्रॉन-तरङ्ग की ओर गया और धैर्य-पूर्वक कार्य करते रहने का फल यह हुआ कि सन् १९३२ ई० में पहला इलेक्ट्रॉन-सूक्ष्मदर्शी बनकर तैयार हो गया। निरन्तर निर्माण-विधि में उन्नति होती गई और आज हम इस यंत्र की सहायता से २०००० गुना आवर्द्धन प्राप्त कर सकते हैं जबकि उच्चतम आवर्द्धन लगभग १००००० गुना तक प्राप्त किया जा सकता है।

परन्तु उपयोगी आवर्द्धन की सीमा सूक्ष्मदर्शी की विभेदकता[1] पर निर्भर करती है। यदि विभेदकता कम होगी तो अधिक आवर्द्धन की दशा में बिम्ब में
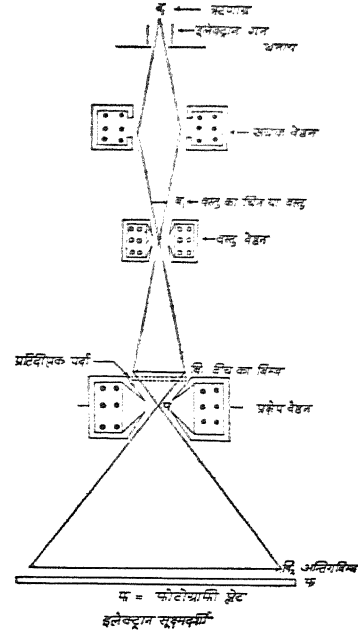
इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी

धुंधलापन प्रगट हो जाएगा और ब्यौरा खत्म हो जायगा और ऐसा प्रतिबिम्ब किसी काम का नहीं होगा। इसलिए आवर्द्धना के साथ-साथ यदि विभेदकता भी अधिक हो तो सूक्ष्मदर्शी अत्यन्त अमूल्य देन प्रमाणित होगा। कुछ ऐसी ही बात इलेक्ट्रॉन-सूक्ष्मदर्शी में पाई जाती है। यंत्र की विभेदकता मुख्यतः दो बातों पर निर्भर करती है — काम में लाया गया प्रकाश-किरण का तरङ्ग-दैर्ध्य तथा आंकिक छिद्र।[2] इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी में काम आने वाली इलेक्ट्रॉन-तरङ्ग का तरंग-दैर्ध्य लगभग ५×१०^{-१०} सेमी० के होती है इसलिए सूक्ष्मदर्शी की विभेदकता बहुत शक्तिशाली हो जाती है यद्यपि

1. Resolving Power 2. Soienoid

आंकिक छिद्र का प्रभाव इसकी मात्रा पर पड़ता है लेकिन तिस पर भी इलेक्ट्रॉन-सूक्ष्मदर्शी की विभेदकता प्रकाशीय सूक्ष्मदर्शी की १००००० गुनी होती है।

द्वितीय महत्त्वपूर्ण कार्य फोकसिंग का होता है। जितनी ही अधिक तीक्ष्ण फोकसिंग होगी उतना ही ब्यौरा वस्तु का स्पष्ट प्राप्त होगा। इसके लिए ऊपर कहे अनुसार दो प्रकार की विधियाँ काम आती हैं—वैद्युत तथा चुम्बकीय।

वैद्युत फोकसिंग में अक्ष सममित असमान विभव की कुण्डलियाँ होती हैं जिनके अन्दर से इलेक्ट्रॉन-समूह आगे बढ़ता है। समविभवीय रेखाएँ वैद्युत ताल की सीमा निर्धारित करती हैं और इस प्रकार ठीक काँच के ताल जैसी फोकसिंग इलेक्ट्रॉन-तरंगों की हो जाती है। पहिला वैद्युतीय इलेक्ट्रान ताल सन् १९३२ ई० में ब्रुश और जोहानसन ने बनाया जिसको 'त्रिविद्युदग्रीय ताल' (थ्री इलेक्ट्रोड लेंस) कहा गया परन्तु मुख्यतः इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शियों में चुम्बकीय फोकसिंग काम आती है। चुम्बकीय फोकसिंग की विशेषता यह होती है कि इसमें चुम्बकीय क्षेत्र की चंडता को बदल कर इच्छानुसार संगमान्तर विन्दु की दूरी (फोकल लेंग्थ) बदली जा सकती है जो वास्तव में प्रकाशीय तालों में पाना असम्भव है। ब्रुश महोदय, जिन्होंने इलेक्ट्रॉन-प्रकाशिकी को जन्म दिया, ने गणितीय विधियों से प्रमाणित कर दिया कि छोटी कुण्डली में असमान चुम्बकीय क्षेत्र की विद्यमानता में ताल का गुण प्राप्त किया जा सकता है। सन् १९२७ ई० में गैबर ने उपर्युक्त विधि और परिष्कृत रूप में उपस्थित किया नाल तथा रुस्का ने सन् १९३१ ई० में स्टील आवरण युक्त कुण्डली से प्राप्त चुम्बकीय क्षेत्र के प्रयोग की विधि प्रदान की।

इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी बना कैसे ?

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि फोकसिंग के आधार पर इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी दो प्रकार के होते हैं—वैद्युत तथा चुम्बकीय परन्तु इन सूक्ष्मदर्शियों के भी दो प्रकार होते हैं—प्रथम, उत्सर्जन प्रकार, द्वितीय, संचारण प्रकार[1]। उत्सर्जन-प्रकार के सूक्ष्मदर्शी में परिवर्द्धित बिम्ब ऋणाग्र का ही होता है। चूँकि ऋणाग्र पर से इलेक्ट्रॉन उत्सर्जित होते हैं इसलिए ठीक जिस प्रकार प्रकाशित वस्तु का बिम्ब प्रकाशीय-सूक्ष्मदर्शी में पाया जाता है उसी प्रकार ऋणाग्र के ऊपरी धरातल का ब्यौरेवार आवर्द्धित चित्रण इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी में होता है। नाल तथा रुस्का ने जर्मनी में सर्वप्रथम सन् १९३२ ई० में उत्सर्जन-प्रकार का चुम्बकीय-इलेक्ट्रॉन-सूक्ष्मदर्शी का आविष्कार किया। इनका उपयोग ऋणाग्र-धरातल की रचना को समझने के हेतु किया जाता है। वैद्युत सूक्ष्मदर्शी (उत्सर्जन-प्रकार) के अन्दर अधिक आवर्द्धन-शक्ति नहीं होती है क्योंकि इनकी विभेदकता कम होती है, ऋणाग्र धरातल चिकना होता है तथा दिक्-आवेश (स्पेस चार्ज) की गड़बड़ी को कम करने के हेतु कम ताप का उपयोग किया जाता है। आजकल मुख्यतः चुम्बकीय संचारण-प्रकार के सूक्ष्मदर्शी, अत्यधिक आवर्द्धकता, विभेदकता के कारण उपयोग में लाए जा रहे हैं। इस सूक्ष्मदर्शी में उत्तम फल पाने के लिए कम संगमान्तर के चुम्बकीय ताल काम आते हैं। इस प्रकार के प्रबन्ध में धारित्र (कंडेसर), ऑब्जेक्टिव तथा आइपीस का स्थान होने के साथ-साथ जिस वस्तु का ब्यौरा प्राप्त करना होता है उसको रखने का भी स्थान होता है।

सामान्य इलेक्ट्रॉन-सूक्ष्मदर्शी का भार कुछ टन, ऊँचाई लगभग ८-९ फीट तथा मूल्य लगभग १००,००० रु० होता है। इस आधार पर इलेक्ट्रान-सूक्ष्मदर्शी की तुलना एक प्रकाशीय-सूक्ष्मदर्शी से सरलता से की जा सकती है।

चुम्बकीय-संचारण प्रकार के सूक्ष्मदर्शी में एक टंगस्टन का तन्तु होता है जिसको वैद्युत धारा से श्वेत-गर्म रखते हैं। इस तन्तु से अधिक मात्रा में इलेक्ट्रानों का उत्सर्जन होता है। ये इलेक्ट्रान समूह इसके पश्चात् लगभग ५००००

2. Numerical aperture

1. Emission Type, Transmission Type

वोल्ट के विभव से त्वरित किए जाते हैं तथा पुनः चुम्बकीय ताल की सहायता से संघनित करके लगभग १० मिलीमाइक्रॉन मोटी उस वस्तु की पट्टी पर डाले जाते हैं जिसका आवर्द्धित ब्यौरा प्राप्त करना वांछनीय होता है। कुछ तो इलेक्ट्रॉन यहाँ पर रुक जाते हैं परन्तु शेष प्रकीर्ण होते हैं और उसके पश्चात् ऑबजेक्टिव ताल की सहायता से प्रथम आवर्द्धित बिम्ब प्राप्त होता है जो पुनः आईपीस की सहायता से आवर्द्धित हो जाता है। आवर्द्धित बिम्ब को देखने के लिए प्रतिदीप्तक पर्दे का उपयोग होता है जहाँ पर चमक के कारण उत्पन्न प्रकाश आवर्द्धित बिम्ब की प्रकृति का बोध कराते हैं। इसके अतिरिक्त किन्हीं-किन्हीं सूक्ष्मदर्शियों में फोटोग्राफिक प्लेट का भी इस्तेमाल होता है जिससे स्थायी चित्र प्राप्त हो जाता है। यद्यपि इन यंत्रों से अद्भुत आवर्द्धन प्राप्त किया जा सकता है परन्तु प्राविधिक कठिनाइयों के उपयुक्त हल के फलस्वरूप आज हम अत्यधिक शक्तिशाली प्रकाशीय सूक्ष्मदर्शी से देखे जाने वाले कणों से बीस गुने छोटे कणों को भी सीधे-सीधे देख सकते हैं। इन यन्त्रों में फोकसिंग का कार्य चुम्बकीय क्षेत्रों के परिवर्तन द्वारा सम्पन्न किया जाता है।

पहला चुम्बकीय-संचारण-प्रकार-का इलेक्ट्रॉन-सूक्ष्मदर्शी सन् १९३४ ई० में रुस्का द्वारा निर्मित किया गया था। इसके उपरान्त बर्लिन की सीमेन कम्पनी ने सन् १९३८ ई० में रुस्का-प्रकार के एक सूक्ष्मदर्शी जिसकी विभेदकता ५०० A° थी का पेटेण्ट कराया। इस यंत्र में तालों के संगमान्तर ५ मि मी० थे और १० से १०० किलोवोल्ट विभव पर १०००० आवर्द्धन-क्षमता विद्यमान थी। सन् १९३९ ई० में बर्टन और कोहल ने टोरण्टो विश्वविद्यालय में ४५ किलोवोल्ट पर काम करने वाले २०० A° विभेदकता तथा २०,००० आवर्द्धकता वाले सूक्ष्मदर्शी का निर्माण किया।

इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी के उपयोग

अत्यधिक आवर्द्धकता, विभेदकता तथा फोकस की अधिक गम्भीरता (क्योंकि ज्यों-ज्यों फोकस की गहराई अधिक होती जाती है वस्तु का त्रिदिक आवर्द्धन बढ़ता जाता है) के कारण आज विज्ञान की कोई ऐसी शाखा नहीं है जिसमें इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी ने आकर गवेषणा कार्य न बढ़ा दिया हो। मुख्यतः व्यवसाय, ओषधि तथा परमाणु रचना-सम्बन्धी गवेषणाओं के क्षेत्र में तो एक तहलका-सा मच गया है।

उदाहरणस्वरूप व्यावसायिक क्षेत्र में रेशों की रचना, स्नेहकारक तैलों की संरचना, कागज तथा लेप आदि के अवयवों का अनुपात, धातु की उपरी सतह की रचना, प्लास्टिक तथा कृत्रिम रसायनों के अध्ययन में इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी का प्रमुख योग होता है।

ओषधि विज्ञान के क्षेत्र में तो इलेक्ट्रॉन-सूक्ष्मदर्शी ने अद्भुत उलट-फेर कर दी है। ऐसे-ऐसे सूक्ष्म रोगाणुओं का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है जो कि अत्यन्त शक्तिशाली प्रकाशीय सूक्ष्मदर्शियों से भी अदृश्य थे। कलिल तथा कीटविनाशकों के एक-एक कण का ब्यौरा इस यन्त्र से प्राप्त हो जाता है। इस यन्त्र ने इन रोगाणुओं का दर्शन प्रस्तुत करके गवेषणा के हेतु एक महान क्षेत्र का द्वार खोल दिया है।

इलेक्ट्रॉन-विवर्तन द्वारा प्राप्त चित्रों की सहायता से परमाणु रचना का स्पष्ट रूप प्रस्तुत करने में इलेक्ट्रॉन-सूक्ष्मदर्शियों का आज बड़े धूमधाम के साथ उपयोग किया जा रहा है और परमाणु-गवेषणा से बहुत से नवीन उपयोगी तथ्यों का निराकरण प्रस्तुत किया जा सका है। इसकी सहायता से मणिभ रचना का स्पष्ट रूप भी देखा जा सकता है।

परन्तु इतना होते हुए भी इलेक्ट्रॉन-सूक्ष्मदर्शी में निम्न दोष पाये जाते हैं– इनको आगामी गवेषणाओं द्वारा दूर करना आवश्यक है—

(१) चूँकि समस्त पदार्थों को उच्च प्रकार के शून्य वातावरण में रखना पड़ता है जिसके कारण वस्तु की प्रकृति कुछ सीमा तक परिवर्तित हो जाती है।

(२) बहुत से पदार्थ तो अत्यधिक इलेक्ट्रॉन संघट्ट के कारण नष्ट हो जाते हैं।

(३) चूँकि इलेक्ट्रॉन-तरंग अधिक गहराई तक धातुओं को पार नहीं कर सकती इसलिए बहुत ही सूक्ष्म पर्त्तों में निरीक्षण के लिए रखना पड़ता है।

परन्तु यह सब होते हुए भी आज यह हमारे लिए एक अत्यन्त उपयोगी यन्त्र सिद्ध हुआ है।

इलेक्ट्रॉन से आगे प्रोटान-सूक्ष्मदर्शी

तरंग-सिद्धान्त द्वारा यह प्रमाणित किया जा चुका है कि कण की मात्रा ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है उसके साथ संलग्न तरंग का तरंग-दैर्घ्य कम होता जाता है। इस सिद्धान्त को ध्यान में रखकर सन् १९४७ ई० में कुछ फ्रांसीसी वैज्ञानिकों ने प्रोटान-सूक्ष्मदर्शी के निर्माण की योजना के बारे में सोचना आरंभ किया। क्लाडे मैगनान तथा पाल चैनसन नामक वैज्ञानिकों ने कालेज द फ्रांस में एक प्रोटान-सूक्ष्मदर्शी का निर्माण कर लिया है, और दूसरे के निर्माण में लगे हुए हैं। यह आशा की जाती है कि इस सूक्ष्मदर्शी की आवर्द्धकता लगभग ६००,००० होगी। एक अन्य यंत्र जिसकी विभेदकता लगभग एक इंच के दस करोड़वें भाग के बराबर होगी उस यन्त्र का निर्माण मुलर महोदय ने अमेरिका में किया है। मुलर के इस यन्त्र द्वारा मणिभ में परमाणुओं की स्थापना का सही-सही विवरण प्राप्त हो जाता है। लाखों गुनी अधिक आवर्द्धक क्षमता बढ़ जाने के कारण प्रोटान तरंगों के द्वारा परावर्तन विधि का ही उपयोग पदार्थ संरचना ज्ञात करने के लिए किया जा सकता है।

प्रोटान सूक्ष्मदर्शी के बाद देखिये किस सूक्ष्मदर्शी का निर्माण होता है। अब वह दिन भी निकट है जब परमाणु भी देखा जा सकेगा। ●

प्रकृति और पदार्थ का सम्बन्ध

वैद्य स्वामी हरिशरणानन्द जी

हमारे दर्शन ग्रन्थों में प्रकृति का स्वरूप निम्न बतलाया है "सत्वरजस्तमसः साम्यावस्था प्रकृतिः।" अर्थात् सत्, रज और तम जिसके तीन रूप हैं यह तीनों रूप जब समावस्था में रहते हैं उस स्थिति का नाम प्रकृति है। 'असमावस्था विकृतिः' उसकी असमावस्था को ही सृष्टि की उत्पत्ति में कारण कहा है। यह सत्, रज और तम रूप प्रकृति क्या हैं? और उनमें क्या विकृति आती है जिससे सृष्टि का क्रम चलता है? इसका उल्लेख किसी भी प्राचीन ग्रन्थकार ने नहीं किया।

वास्तव में हमने प्रकृति के इस सत, रज और तम रूपों को देखा नहीं था, अनुमान या तर्क से इसके इस रूप को मान लिया था किन्तु क्या यह कल्पना असत्य थी? कल्पनाएँ प्रायः सब सत्य नहीं होतीं, किन्तु हमारे आचार्यों की यह कल्पना इस समय के प्रयोगों से बिलकुल ही सत्य सिद्ध हो रही है। हमने तो यह कल्पना, अनुमान और आप्त प्रमाणों के आधार पर खड़ी की थी, क्योंकि उस समय हमारे आचार्यों के पास प्रयोग के साधन नहीं थे। प्रयोगवाद तो इधर के दो सौ वर्ष की उपज है, जबकि किसी अन्य मार्गों से वैज्ञानिक प्रकृति के स्वरूप तक पहुँच पाये। इसका आरम्भ विद्युत् के इतिहास से होता है, जब तक इसके पूर्वापर प्रसंग को न जाना जाय तब तक प्रकृति की स्थिति और रूप को समझना जरा कठिन रहेगा। इसीलिए हम इस पर प्रकाश डालना उचित समझते हैं।

विद्युत् ज्ञान का विकास

आप सब तृणमणि या कहरवा नामक द्रव्य से तो परिचित होंगे। यह समुद्री घास का गोंद होता है, जो बाल्टिक समुद्र के किनारे प्रायः मिला करता है। संस्कृत में इसका तृणमणि नाम इसीलिए पड़ा था

कि इसे यदि रगड़ा जाय और तिनके की ओर ले जाया जाय तो यह तिनके को अपनी ओर आकर्षित कर फिर उसे छोड़ देता है। यह आकर्षण शक्ति उसमें स्थिर नहीं रहती। आजकल बाजार में एबोनाइट की कंघियाँ भी मिलती हैं, उनमें भी यही आकर्षण का गुण देखा जाता है। तृणमणि की इस आकर्षण शक्ति को देखकर यूनान वालों ने इसका नाम एलोक्ट्रोन रखा था, और इसकी इस आकर्षण शक्ति को वे लोग एलेक्ट्रीसिटी कहते थे। कहरवा में यह आकर्षण शक्ति कैसे उत्पन्न होती है ? कहाँ से आती है ? इस बात को वे लोग नहीं जानते थे। कान्त पाषाण (चुम्बक) में भी यह शक्ति देखी जाती है कि वह लोहे को खींच कर अपने साथ चिपका लेता है, किन्तु फिर उसे छोड़ता नहीं, कुछ बल लगा कर उसे छुड़ाना होता है। कान्त पाषाण में भी यह शक्ति कैसे उत्पन्न होती है, कहाँ से आती है ? इस रहस्य को भी हम नहीं जान पाये थे।

१६ वीं शताब्दी के आरम्भ में डा० गिलवर्ट ने बताया कि यदि काँच के डंडे को रेशम से रगड़ा जाय या लाख का डंडा बना कर उसे ऊन से रगड़ा जाय तो उसकी ओर तिनके, कागज के टुकड़े आदि ले जायं तो वे डंडे उसे अपनी ओर आकर्षित कर चिपका लेते हैं और कुछ देर बाद ही उन्हें छोड़ देते हैं। लोहे की छड़ को कान्त पाषाण के टुकड़े से एक ही ओर से बारम्बार फिराते रहने से उस छड़ के किनारे चुम्बक युक्त हो जाते हैं। उसे यदि धागे से बाँध कर अधर में लटका दें तो उसका एक सिरा उत्तर को और दूसरा सिरा दक्षिण को होकर ठहर जाता है। यह ज्ञान जब यूनान वालों को हुआ तो उन्होंने दिशा-ज्ञान के लिए इसका उपयोग जलपोतों पर किया। इस दिगसूचक से समुद्र में चलने वाले जहाजों को किस ओर ले जाना है इसका सही ज्ञान नाविकों को बना रहता था। डा० गिलवर्ट एक बार जलपोत पर सफर कर रहे थे, आसमान उस समय मेघाच्छन्न हो रहा था, वह उस स्थान पर बैठे थे जहाँ पर कुतुबनुमा यन्त्र लगा था, एकाएक जो बादल कड़के और बिजली गिरी उस समय गिलवर्ट की निगाह दिगसूचक पर पड़ी तो आपने क्या देखा कि उस दिगसूचक का जो सिरा दक्षिण की ओर था वह घूम कर उत्तर की ओर चला गया, यह दृश्य देखकर उन्हें ध्यान आया कि विद्युत् से आकर्षण का कोई निकट का सम्बन्ध ज्ञात होता है। किन्तु उस समय इतने अधिक प्रयोग के साधन न होने के कारण इस बात को वे जान नहीं सके थे।

१७३० ई० में आकर एक दूसरे खोजी स्टेफन ग्रे ने देखा कि जिस काँच के डंडे या लाख के डंडे को रगड़ कर आकर्षण युक्त बनाया जाता है उन डंडों के सिरों पर यदि ताँबे के तार बिठा दिए जायँ, फिर उस डंडे को रगड़ें तो ताँबे के तार में शक्ति का अनुभव होता है। और लाख के तथा काँच के दोनों डंडे रगड़ कर उनके तारों के सिरे मिलाये जायँ तो दोनों सिरों के मिलने से उसमें से चिनगारी निकलती दिखाई देती है। इस बात का ज्ञान जब फ्रान्स के अनुसन्धानकर्ताओं को लगा तो उन्होंने काँच की बड़ी-बड़ी प्लेटें बनाई, दूसरी प्लेट लाख की बनाई और इनको रगड़ने के लिए चरखे जैसी घूमने वाली फिरकी बना कर उस पर ऊन व बालों की गद्दियाँ बाँध कर उससे जब प्लेटों को रगड़ा तो उन दोनों प्लेटों में काफी आकर्षण की शक्ति उत्पन्न हो गई। उसके साथ जब तारों का स्पर्श कराया गया तो उन्हें काफी शक्ति का अनुभव हुआ। और जब दोनों तारों के सिरों को मिला दिया गया तो उसमें से स्फुलिंग निकलता दिखाई दिया। तब उन प्रयोगकर्ताओं को ज्ञात हुआ कि इन प्लेटों के संघर्ष से जो शक्ति प्रादुर्भूत होती है वह तो विद्युत् है। ३०-३५ वर्ष के अर्से में इस तरह के आविष्कार की सूचना अमेरिका तक जा पहुँची। १७७६ ई० में छापेखाने में काम करने वाला एक व्यक्ति जिसका नाम बेंजमिन फ्रेंकलिन था उसे जब इस बात का

पता लगा तो उसने भी काँच और एबोनाइट की प्लेटें लेकर उन प्लेटों के सिरों पर तार लगा कर घर्षण विधि से विद्युत् उत्पन्न की और जब उसने उन तारों का स्पर्श किया तो उसे एक झटका लगा। वह पतंग उड़ाने का बड़ा शौकीन था, एक दिन वह वर्षा के समय पतंग उड़ा रहा था, डोर उसकी भीग गई थी, इतने में बादल कड़के और बिजली गिरी, उस समय उसे एकाएक उसी तरह का झटका लगा जैसा कि उसे यन्त्र वाली बिजली से लगा था। उसे अनुभव हुआ कि बादलों की बिजली और इस यन्त्र में उत्पन्न बिजली दोनों एक हैं, उसने ही अपने अनुभव के आधार पर बतलाया कि इन दोनों बिजलियों में कोई अन्तर नहीं है। इन यन्त्रों के द्वारा बिजली उत्पन्न करने की विधि सारे योरप में फैल चुकी थी, इसके कोई १० वर्ष के बाद हालैण्ड के लीडन नामक शहर में एक व्यक्ति को सूझा कि इस विद्युत् को क्या हम एकत्र भी कर सकते हैं? उसने अपने मित्र के हाथ में एक काँच का व्याम पानी से भरा हुआ थमा दिया, और उसने उस यन्त्र के तार उस व्याम के पानी में लटका दिए, फिर यन्त्र को चालू करके उसने बिजली उत्पन्न की, और फिर उसने उन तारों को पकड़ लिया तो उसे इतनी जोर का झटका लगा कि उसके सारे शरीर के बन्द बन्द ढीले पड़ गये, तबसे इस बात का ज्ञान हुआ कि इस विद्युत् को एकत्र भी किया जा सकता है। इस तरह के संग्राहक पात्र का तबसे लीडन जार या विद्युत्-घट नाम पड़ा

विद्युत् से प्रकृति के रूपों का सम्बन्ध

किसी मनचले ने काँच की दो छड़ें बनाईं और उन दोनों को पास-पास रख कर अधर में लटका दिया, उन्हें फिर रेशम से रगड़ कर विद्युन्मय किया फिर उसने उन्हें पास-पास लाने का प्रयत्न किया, तो उसने देखा कि यह एक दूसरे से दूर हटने का प्रयत्न करते हैं। फिर उसने एक छड़ लाख की बनाई और काँच का एक डंडा हटा कर उसके स्थान पर उसे लटका दिया। इसे फिर बालों से और काँच की छड़ को रेशम से रगड़ कर जब इन दोनों को पास-पास लाया तो इन दोनों में आकर्षण हुआ। इससे वैज्ञानिकों को पता लगा कि विद्युत् दो प्रकार की है। बाद में उन प्रयोगकर्ताओं ने मालूम कर लिया कि काँच की छड़ में जो विद्युत् उत्पन्न होती है वह सत (धन) विद्युत् है और जो लाख की छड़ में उत्पन्न होत है वह रज (ऋण) रूप विद्युत् है। जब सत और रज रूप की विद्युत् को पास-पास लाया जाता है तो इन दोनों में आकर्षण होता है और जब सतमय विद्युत् की दो वस्तुओं को पास-पास लाया जाता है तो उनमें विकर्षण होता है अर्थात् वे एक दूसरे से दूर हटते हैं।

१८२० ई० में आकर ओरस्टेड नामक वैज्ञानिक ने सिद्ध किया कि जब तार में विद्युत् प्रवाह जारी रहता है उस स्थिति में उस तार के आसपास आकर्षण का क्षेत्र विद्यमान रहता है और उस क्षेत्र में चुम्बक को लाया जाय तो उस पर खिंचाव का बल स्पष्ट देखा जाता है, अर्थात् जहाँ पर विद्युत् होगी वहाँ आकर्षण भी अवश्य होगा, इन दोनों में कुछ आन्तरिक घनिष्ठता है। इस बात को १८३१ ई० में आकर फैरेडे ने अपने प्रयोगों से सिद्ध कर दिखाया कि इस आकर्षण शक्ति से विद्युत् शक्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध है और उसने अपने प्रयोगों से दिखाया कि आकर्षणीय द्रव्य जैसे चुम्बक को यदि किसी विशेष क्रम से एक चक्र पर फिराया जाय तो उससे भी विद्युत् उत्पन्न होती है। इसी कारण जहाँ पर विद्युत् होगी वहाँ पर उसके आसपास आकर्षण का क्षेत्र बना रहता है। क्योंकि इन दोनों का निकट का सम्बन्ध है, जिसे तोड़ा नहीं जा सकता। इसी आधार पर तो आजकल के बड़े-बड़े डायनमों यंत्र विद्युत् उत्पादन के बने हैं, जिन्हें पानी की धार से फिरा कर विद्युत् उत्पन्न की जा रही है।

१८७६ ई० में सर विलियम क्रूक्स ने एक काँच की वायुशून्य ऐसी नलिका बनाई जिनके दोनों सिरों पर महारजत (प्लैटिनम) के तार बिठाए हुए थे। वायु में विद्युत् का संचार नहीं होता, क्या वायुशून्य स्थान में विद्युत् का संचार हो सकता है ? इसकी आप परीक्षा लेना चाहते थे। जब दोनों सिरे विद्युत् यन्त्र से जोड़ दिये गये तो आपने क्या देखा कि उस नली के भीतर प्रकाश का पुंज बह रहा है, यह देखकर आपको बड़ा आश्चर्य हुआ। यह प्रकाशमान् क्या वस्तु है ? इसको जानने का आप प्रयत्न करने लगे। कुछ ही दिनों में आपने जान लिया कि यह जो प्रकाश-पुंज है वह तो प्रकाशमान कणिकाएँ हैं, जो रज (ऋण) की ओर से निकल कर सत (धन) छोर की ओर जा रही हैं। यह प्रकाश-पुंज कितने वेग से इस नलिका के भीतर बह रहा है इसको भी आपने नाप डाला, इसकी चाल प्रति सेकेण्ड एक लाख मील मिली।

इसके बाद आपने किसी नलिका में अभ्रक का पहिया बना कर रखा, किसी नलिका में आपने चाँदी सोने के पत्र रखे, और उस नलिका को वायु शून्य बना कर तब उसमें विद्यत् का संचार किया, उन्होंने देखा कि जो अभ्रक का पहिया रज की ओर था वह प्रकाश-पुंज के बहते ही लुढ़क कर सत केन्द्र की ओर जा पहुँचा, चाँदी-सोने के पत्र उस प्रकाश-पुंज के लगते ही लाल हो गये। इससे उन्हें ज्ञात हुआ कि यह केवल कोरा प्रकाश-पुंज ही नहीं है इसमें शक्ति भी है, और मात्रा भी है।

१८६० ई० में सर जे० जे० टॉमसन ने अपने प्रयोगों से मालूम किया कि इन कणिकाओं में तन, मात्रा भी है, उद्‌जन परमाणु की मात्रा व आयतन आदि निकाले जा चुके थे, इसकी अपेक्षा से उन्होंने इन कणिकाओं की तन मात्रा निकाली, उन्होंने ज्ञात किया कि उद्‌जन के आयतन से इन कणिकाओं का आयतन एक लाख भाग के बराबर है, और इन कणिकाओं की मात्रा १८५०वें भाग है और इसमें विद्युन्मात्रा उतनी ही है जितनी कि उद्‌जन में निहित है। उन्होंने यह भी मालूम किया कि इससे न्यून मात्रा में विद्युत् हो नहीं सकती। १८६५ ई० में रोएटजन ने अपने प्रयोगों से मालूम किया कि जब यह प्रकाशमान पुंज किसी पदार्थ पर पड़ कर प्रतिफलित होता है तो उससे टकराने के बाद इस प्रकार की रश्मियाँ प्रादुर्भूत होती हैं, उसने अपना हाथ उन जाती हुई रश्मियों की ओर जो किया तो उसे अपने हाथ की अँगुलियों की अस्थियाँ दिखाई देने लगीं, जिन्हें देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। बाद में उसे मालूम हुआ कि यह रश्मियाँ त्वचा और मांस का भेदन तो कर गई हैं किन्तु अस्थियों का भेदन नहीं कर सकीं, इसीसे हाथ की अँगुलियाँ की अस्थियाँ दिखाई दे रही हैं, यही रोएटजन का आविष्कार आज एक्सरे के नाम से विख्यात हो रहा है। १६०० ई० के आसपास पियरे क्यूरी और उनकी धर्मपत्नी श्रीमती मेडेम स्कलोडा-वस्का दोनों मिलकर पिचब्लेएड नामक खनिज का विश्लेषण कर यह जानने का प्रयत्न कर रहे थे कि इसमें कौन-कौन सी धातुएँ विद्यमान हैं। उनके अथक परिश्रम से उस खनिज में उन्हें दो रश्मि विकीरक धातुएँ मिलीं (१) पोलोनियम, (२) रश्मिग (रेडियम)। इसके बाद अन्य खोजियों ने उसमें से तीन और रश्मि विकीरक धातुएँ प्राप्त कीं, वह यह हैं (१) वरुणम, (यूरेनियम), (२) आदित्यम् (आयोनियम), (३) देवम् (थोरियम)। यह रश्मियाँ इतनी घातक थीं जिनके सम्बन्ध में पियरे क्यूरी को कोई ज्ञान नहीं था, इन रश्मियों के घातक प्रभाव से ही उनकी मृत्यु हुई, तभी उनसे बचने का ज्ञान प्राप्त हुआ।

रश्मि विकीरक धातु तत्वों का रूप

सर रदरफोर्ड, साडी, सर जे० जे० टामस, श्रीमती क्यूरी आदि वैज्ञानिकों के अथक परिश्रम से ज्ञात हुआ कि जितने भी रश्मि विकीरक तत्त्व हैं उनके परमाणु सदा टूटते रहते हैं और उन परमा-

गुओं के ही टूटने से यह रश्मियाँ बन कर उससे निकलती रहती हैं। उन्होंने मालूम किया कि यह रश्मियाँ तीन प्रकार की हैं, जिनका नाम उन्होंने अल्फा, बीटा और गामा रखा। बाद के अनुसंधानों से ज्ञात हुआ कि अल्फा रश्मियाँ और विद्युत् की धन या सत धारा एक ही चीज हैं। और बीटा रश्मियाँ भी विद्युत् से निकलने वाली ऋण या रज धारा हैं और गामा रश्मियाँ तम कणिकाओं के टूटने से प्रादुर्भूत होने वाली घातक रश्मियाँ हैं। यह भी ज्ञात हुआ कि यह रश्मि विकीरक धातु तत्त्व जब टूटते हैं तो उनमें से समस्त सत, रज और तम की कणिकाएँ सब की सब रश्मियों के रूप में निर्गत नहीं होतीं, कुछ न कुछ सत, तम कणिकाएँ रज कणिकाओं को अपनी ओर आकर्षित कर वहीं पर नये तत्त्वों की रचना भी करती हैं। इनसे बनने वाले वहाँ पर सीसा और हिमजन (हीलियम) नामक दो तत्त्व पाये गये। यदि इन रश्मि विकीरक तत्त्वों का आविष्कार न होता तो शायद इतनी जल्दी प्रकृति के स्वरूप को ठीक तौर पर न समझ पाते। रश्मि-विकीरक तत्त्वों ने ही टूट कर एक तत्त्व से दूसरे तत्त्व को बनते दिखा दिया कि प्रकृति की ही सत, रज और तम रूपों से सृष्टि के समस्त पदार्थ बने हैं। अब जो कृत्रिम विधि से वैज्ञानिक कुछ नये तत्त्व बनाने में समर्थ हुए हैं इसी रहस्य को जान कर वे नये तत्त्व बनाने में सफल हुए हैं।

हमारे पास प्रायोगिक साधन नहीं थे, इसी से हम प्रकृति के सत, रज और तम रूप कणिकाओं को नहीं देख सके थे। न हम यह जान सके थे कि पंच तन मात्राएँ, अहंकार में या परमाणु में क्या हैं। हमने इस सृष्टि के प्रसंग को आरम्भ कर उसे मानवी ज्ञानेन्द्रियों से जोड़ दिया और तन्मात्राओं के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से मिला दिया और उसका जो अर्थ किया वह अप्रासंगिक है। कहाँ सृष्टि उत्पत्ति का प्रसंग, कहाँ मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियाँ? इन दोनों का क्या संबंध? अहंकार का अर्थ भी मनुष्य के अहंकार से नहीं बनता। कर्ता का अहंभाव जिसमें होता है वह सृष्टि के आदि कारण परमाणु हैं जिनसे सृष्टि का क्रम चलता है। और उन तत्त्वों के परमाणुओं में ही तन, मात्राएँ देखी जाती हैं, वह रूप, रस, गन्ध नहीं हैं प्रत्युत उनका अर्थ परमाणु में आयतन होता है, और मात्रा का अर्थ उसका भार है। इससे भिन्न तत्त्व में सघनता, या गाढ़ापन और रूप या वर्ण तथा उनके भीतर रहने वाला अन्त: ताप यह पाँच बातें जिन तत्त्वों में मिलती हों वही तत्त्व कहला सकते हैं। यह मौलिक पदार्थ के लक्षण कहाते हैं।

परमाणु की अन्त:रचना

इस समय के प्रयोगों से स्पष्ट है कि परमाणु की अन्तर्रचना में प्रकृति की सत, रज और तम रूप कणिकाएँ ही संख्याओं में भाग लेती हैं। सत और तम कणिकाओं की विद्यमानता से परमाणु में मात्राएँ बनती हैं और रज कणिकाओं के चक्करदार घेरे से परमाणु का आयतन बनता है क्योंकि रज कणिकाएँ ही सत और तम कणिकाओं को घेर कर ही परिक्रमा करती रहती हैं। परमाणु के भीतर यह तीनों कणिकाएँ किस तरह रहती हैं? इसको वैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगों से देख समझ लिया है। परमाणु के भीतर सत और तम की कणिकाएँ केन्द्र में रहती हैं और रज कणिकाएँ उनकी परिक्रमा करती रहती हैं। इन्हें बाँधे कौन रखता है? सूक्ष्म प्रयोगों से ज्ञात हुआ है कि सत कणिका की मात्रा १'००७२ होती है, किन्तु जब सत कणिका परमाणु रचना में प्रवृत्त होती है तो उस समय उसकी मात्रा '००७२ आकर्षण के रूप में परिवर्तित होकर उन्हें बाँधने के काम आती है। यही आकर्षण यानी महत् उस परमाणु में व्यापक रह कर उन्हें बाँधे रहता है, तभी परमाणु का अस्तित्व बना रहता है। तभी तो उद्जन परमाणु की मात्रा सत कणिका के कारण एक ही रहती है, क्योंकि उद्जन के परमाणु की रचना में एक सत कणिका मध्य में रहती है और

एक ही रज की कणिका उसकी परिक्रमा लगाती रहती है। इससे मात्रा में भारी दूसरा तत्त्व हिमजन (हीलियम) का है, इसकी परमाणु रचना में दो सत की और दो तम की कणिकाएँ मध्य में रहती हैं और इनके आस-पास दो रज की कणिकाएँ उनकी परिक्रमा करती रहती हैं इसी से यह मात्रा में उद्‌जन से चौगुना भारी है। इससे मात्रा में भारी लालम (लीथियम) का परमाणु होता है इसमें तीन सत और तीन ही तम कणिकाएँ केन्द्र में रहती हैं और तीन ही रज कणिकाएँ इनकी परिक्रमा लगाती रहती हैं। इसकी मात्रा उद्‌जन से छै गुना भारी है। क्योंकि इसमें सत और तम तीन-तीन की मात्रा में हैं और सत और तम के मेल से ही मात्रा बनती है। इसी तरह ९२ तत्त्वों तक सत, रज और तम की मात्रा व संख्या जैसे-जैसे बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे मात्रा में भारी से भारी तत्त्वबनते चले जाते हैं। इस प्रकृति से पदार्थ बनने तक के क्रम को हम ठीक रूप में इसलिए नहीं जान सके थे कि उस समय हमारे पास प्रायोगिक साधन नहीं थे।

●

ठीक समय क्या है ?—एक संस्मरण

श्री वीरेन्द्र नारायण सिंह

सन् १९३५ की बात है। उन दिनों में इण्टरमीडिएट का छात्र था। डाक्टर गोरख प्रसाद जी क्रिश्चियन कालेज प्रयाग के भौतिक विज्ञानशाला में एक भाषण देने वाले थे। भाषण का विषय था "ठीक समय क्या है ?" मैं उत्सुकता पूर्वक उनके आने की प्रतीक्षा कर रहा था। वे ठीक समय पर पधारे। सब अध्यापकों और विद्यार्थियों ने उठ कर उनका स्वागत किया। मैंने उनको प्रथम बार देखा। उनके व्यक्तित्व और विद्वता की प्रशंसा सुन चुका था। देखते ही उनके प्रति मेरी श्रद्धा हो गई। भाषण में सारे देश के विभिन्न पंचांगों और समय सूचित करने की प्रथा का विश्लेषण करते हुए डाक्टर साहब ने बतलाया कि हमारे देश की प्रणाली विशुद्ध है। भाषण समाप्त होने के पश्चात् अध्यक्ष महोदय ने कहा कि किसी को कोई प्रश्न पूछना है। मैंने पूछा—"अब ठीक समय क्या है।" डाक्टर गोरख प्रसाद जी ने उत्तर दिया—"कौन सा समय ?" मैंने कहा "जो ठीक हो"—डाक्टर साहब का उत्तर विज्ञानशाला के हाल में हँसी की गूँज में विलीन हो गया ?

प्राय: एक वर्ष बाद अखिल भारतीय हैहय क्षत्रिय महासभा का अधिवेशन प्रयाग में हो रहा था। डाक्टर साहब उसके स्वागताध्यक्ष थे। श्रीमती धर्मशीला लाल बार-एट-ला सुपुत्री स्वर्गीय डाक्टर काशी प्रसाद जायसवाल अध्यक्ष थीं। मैं एक कार्यकर्ता के रूप में व्यवस्था में लगा था और अतिथियों का स्वागत-सम्मान कर रहा था। डाक्टर साहब की दृष्टि मेरे ऊपर पड़ी, उन्होंने बुला कर मुझसे पूँछा "आप ही ने मेरे भाषण के बाद "ठीक समय क्या है" पूछा था ? मैंने संकोच पूर्वक स्वीकृति दी। उन्होंने मेरे कार्य की सराहना करते हुए शाबाशी दी। परन्तु मुझे उनकी स्मरण शक्ति पर आश्चर्य हुआ। फिर जब कुछ समय के पश्चात् मैं हैहय क्षत्रिय नवयुवक संघ के सभापति के नाते उनको अपने विशेष अधिवेशन का उद्घाटन करने के लिए आमंत्रित करने गया तो अत्यन्त व्यस्त रहते हुए भी

उन्होंने मेरी प्रार्थना स्वीकार करके नवयुवकों के उत्साह को बढ़ाया। उन्होंने अपने भाषण में सामाजिक उन्नति के साथ ही विज्ञान, साहित्य और कला के क्षेत्र में प्रगति करने को प्रोत्साहित किया। वे बराबर इस दिशा में प्रयत्नशील रहे और सहयोग प्रदान किया।

सन् १९३६ से १९४२ तक जब मैं प्रयाग विश्वविद्यालय में विद्यार्थी रहा, डाक्टर साहब के निकट संपर्क में आने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ। यद्यपि मैं गणित का विद्यार्थी नहीं था फिर भी उनसे प्रायः भेंट हो जाती थी और किसी वैज्ञानिक विषय पर चर्चा हो पड़ती थी। वे "उपयोगी नुस्खे हुनर" पुस्तक का संपादन कर रहे थे। मुझे जो विषय प्रिय थे उस पर लेख लिखने के लिये उन्होंने मुझे प्रोत्साहित किया और उस पुस्तक का प्रथम अध्याय लिखने का श्रेय मुझको प्राप्त हुआ। "विज्ञान" में लेख भेजने के लिये भी मुझसे आग्रह करते और मेरे लेखों को विज्ञान में प्रकाशित करते रहते।

एम०-एस-सी० करने के बाद मैं अनुसंधान कर रहा था। एक दिन जब मैं रसायनशाला के एक प्रयोग में लगा हुआ था, डाक्टर सत्य प्रकाश जी ने कहा कि डाक्टर गोरख प्रसाद जी "विज्ञान" के सम्पादक का कार्य मुझे देना चाहते हैं। उन दिनों डाक्टर साहब "विज्ञान" के प्रधान सम्पादक थे। दूसरे दिन मैं उनसे मिला। उन्होंने कहा "विज्ञान" को सुचारु रूप से प्रकाशित करने के लिए एक सहकारी सम्पादक की आवश्यकता है और उसके लिए मैंने आपको चुना है। आप रिसर्च स्कॉलर का भी कार्य करें और "विज्ञान" के संपादन का भी। मैंने उनकी आज्ञा स्वीकार कर ली। लेखों की कमी के कारण स्वयं लिखता, अंग्रेजी लेखों का अनुवाद करता, विश्वविद्यालय के अध्यापकों और विद्यार्थियों से लेखों के लिए अनुरोध करता और सब सामग्री एकत्रित कर डाक्टर साहब को देता। जिस लगन और उत्साह से उन्होंने 'विज्ञान' और विज्ञान परिषद् की सेवा की है, अनुकरणीय है। संकलित लेखों को सुधारना, सुझाव देना और विज्ञान के प्रकाशन के लिए सामग्री भेजने का कार्य वह जिस तत्परता से करते थे उसको देख कर मैं दंग रह जाता था।

जब "फल-संरक्षण" पुस्तक का प्रथम संस्करण समाप्त हो गया तो उन्होंने मुझको लिखा कि द्वितीय संस्करण का मैं सम्पादन कर दूँ। यद्यपि उस समय मैं सरकारी पद पर कार्य कर रहा था और अधिकतर दौरे पर रहने के कारण अवकाश कम प्राप्त होता था फिर भी उनकी आज्ञा का पालन करना आवश्यक था। द्वितीय संस्करण की भूमिका में "दो शब्द" लिख कर उसका सारा श्रेय मुझको प्रदान कर दिया। आपने लिखा—

"इस पुस्तक के प्रथम संस्करण में लिखने का साहस मैंने केवल इसीलिए किया था कि हिन्दी में फल-संरक्षण ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय में कोई पुस्तक नहीं थी। मैं इस विषय का विशेषज्ञ नहीं था, परन्तु पुस्तक अध्ययन तथा प्रदर्शनी अवलोकन और कुछ निजी प्रयोगों के सहारे मुझे इतना ज्ञान हो गया था कि मैं एक उपयोगी पुस्तक लिख सका। तो भी मुझे उस पुस्तक से संतोष न हुआ था और मैं बराबर इसी चेष्टा में था कि कोई उसे सुधार दे।

मुझे आज हार्दिक प्रसन्नता है कि इस पुस्तक के द्वितीय संस्करण के संपादन का भार मेरे सुयोग्य मित्र वीरेन्द्र नारायण सिंह ने अपने ऊपर लिया। आपको फल-संरक्षण का विषय विशेष रूप से प्रिय रहा है और आपने उसका गहरा अध्ययन किया है। आप कई वर्षों तक फ्रूट प्रिजरवर्स कोआपरेटिव सोसाइटी लिमिटेड इलाहाबाद के, जिसे यू०पी० सरकार ने आर्थिक सहायता देकर व्यापार करने को प्रोत्साहित किया है, अवैतनिक मंत्री रहे हैं और जनता को फल-संरक्षण शिक्षा देने की कक्षाओं में अवैतनिक लेक्चरर रहे हैं। आपने एम० एस-सी० के छात्र के रूप में और उसके बाद भी इस विषय पर अनुसंधान (रिसर्च) किया है। संक्षेप

में आप इस विषय के विशेषज्ञ हैं और आपको क्रियात्मक रूप में इस विषय का पूरा अनुभव है। हिन्दी-संसार का यह परम सौभाग्य है कि आप अपने अमूल्य अनुभव को जनता के सम्मुख इस पुस्तक के रूप में रख रहे हैं।'

पुस्तक प्रकाशित होने के बाद उन्होंने एक प्रति मेरे पास भेजी। जब मैं दूसरी बार उनसे मिला तो 'दो शब्द' लिखने के लिए आभार प्रदर्शन के साथ ही आपत्ति भी की तो उन्होंने हँसकर कहा 'विज्ञान-परिषद्' की पुस्तकमाला के प्रकाशन में आपने अवैतनिक रूप से सेवा की है। यह उसका पुरस्कार है। उनका हृदय कितना विशाल था और 'विज्ञान-परिषद्' कितनी प्रिय थी। इससे उसका परिचय मिलता है। परिषद् उनके जीवन का एक अंग हो गया था। न केवल वे उसके सभापति रहे और विज्ञान को कई वर्षों तक संचालित करते रहे बल्कि अनेक पुस्तकों को भी प्रकाशित किया और स्वयं भी लिखा। सौर परिवार नीहारिका, सरल विज्ञान सागर, उपयोगी नुस्खे और हुनर, घरेलू डाक्टर, तैरना, फल-संरक्षण, फोटोग्राफी, आकाश की सैर, चन्द्र-सारिणी, भारतीय ज्योतिष का इतिहास आदि पुस्तकों के आप रचयिता हैं। इसके अतिरिक्त गणित पर आपकी अनेक पुस्तकें हैं जो कि विभिन्न कक्षाओं के पाठ्यक्रम में प्रचलित हैं। ज्योतिष और गणित जैसे गंभीर विषय से लेकर अन्य सरल वैज्ञानिक पुस्तकें और लेख, आपकी विद्वता, योग्यता और गंभीर अध्ययन के परिचायक हैं। हिन्दी को वैज्ञानिक साहित्य प्रदान करने का श्रेय डाक्टर साहब को है। हिन्दी शब्द-कोष के संपादन-काल में भारत सरकार और काशी नागरी प्रचारिणी सभा के मतभेद दूर करने में आपका प्रमुख हाथ था। हिन्दी के विभिन्न पंचांगों में समता और एकीकरण लाने में आपका विशेष योग था। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की प्रगति में भी आपने सहयोग दिया। हिन्दी भाषा को आप पर गर्व है।

मेरी अंतिम भेंट वाराणसी में हुई। मैं अप्रैल १९६१ में सरकारी कार्य से वहाँ गया था। घर का पता लगाकर संध्या समय निवास स्थान पर पहुँचा। उस समय तक वे काशी नागरी प्रचारिणी सभा से वापस नहीं आये थे। उनकी धर्मपत्नी से बात कर रहा था। थोड़ी देर बाद ही वे आ गये। मुझे देखते ही प्रसन्न हो उठे। बहुत दिनों के बाद भेंट होने के कारण मेरे विषय में पूछते रहे। विश्वकोष का प्रथम भाग तैयार हो गया था। दूसरे भाग की सामग्री एकत्रित होनी आरंभ हो चुकी थी। डाक्टर साहब ने उसकी भी शीघ्र ही पूर्ण होने की आशा प्रकट की। अपने पैतृक गृह की भी चर्चा की। पुराना होने के कारण उसमें मरम्मत का कार्य हो रहा था। उन्होंने कहा कि जब तक 'विश्वकोष' तैयार न होगा अपने इसी निवास स्थान में रहेंगे और मुझे भी दूसरी बार वहीं आने को कहा। मैंने आश्वासन दिया कि अवश्य आऊँगा।

प्रायः एक मास के पश्चात् ६ मई १९६१ के प्रातःकाल का समय था। लखनऊ में दैनिक समाचार पत्र 'पायनियर' देख रहा था। 'डाक्टर गोरख प्रसाद का अंत' शीर्षक देख कर हृदय को गहरा धक्का लगा। आँखों को विश्वास नहीं हुआ। फिर ध्यान से पढ़ा। डाक्टर गोरख प्रसाद, संपादक, हिन्दी विश्वकोष अपने एक सेवक की प्राण रक्षा करते हुए गंगा जी को भेंट हो गये। रात्रि में बहुत परिश्रम के अनन्तर उनका शव बाहर निकाला जा सका। उनका अंतिम संस्कार सायंकाल को होगा... आगे और न पढ़ सका आँखों से बरबस आँसू टपकने लगे। चित्रपट की भाँति स्मृतियाँ नेत्रों के सामने आती गईं और हृदय उदास होता गया। सन् १९३५ में भाषण के समय उनका प्रथम दर्शन 'ठीक समय क्या है?' मेरा प्रश्न और उनका उत्तर से लेकर वाराणसी में १९६१ अंतिम भेंट तक की

(शेष पृष्ठ २१ पर)

मृदा-संरचना

रमेश चन्द्र तिवारी

एक खनिज मृदा, सड़े गले जैविक तथा अकार्बनिक पदार्थों के कणों का रंध्रमय समूह है तथा भूमि संरचना का अर्थ भूमि में कंकर, पत्थर, बालू, गोंद तथा अन्य जैविक पदार्थों आदि के कणों के विभिन्न प्रकार के संस्थापन से है, जिनकी अनियमित आकृति तथा प्रकार के फलस्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकार के रंध्रस्थानों का निर्माण हो जाता है, जिस पर परोक्ष रूप से मृदा में हवा, जल तथा पेड़-पौधों की प्रवेश्यता निर्भर करती है। विभिन्न संरचनाओं के कारण ही भिन्न-भिन्न प्रकार की भूमियों का जन्म होता है। मृदा संरचना का मृदा गुणों पर जो परोक्ष प्रभाव पड़ता है उसका पूरा श्रेय एक विशिष्ट मृदा-सतह के विभिन्न प्रकृति वाले रंध्रस्थानों को ही है। रंध्रस्थानों का निर्माण मृदा विन्यास‡ पर निर्भर है।

मृदा-सरचना का अध्ययन भूमि की ऊपरी सतह एवं उप-मृदा के यांत्रिक विश्लेषण द्वारा किया जाता है। यांत्रिक विश्लेषण के अन्तर्गत भूमि के निम्न भौतिक गुणों का अध्ययन किया जाता है :—

(क) रंध्रस्थानों की प्रकृति, आकार तथा मात्रा

(ख) मिट्टी की पारगम्यता

(ग) मृदा में कणों का समुच्चय-वितरण।

इस प्रकार भूमि के यांत्रिक विश्लेषण अन्तर्गत, भूमि में उपस्थित विभिन्न आकार-प्रकार के अकार्बनिक मृदा-कणों का समुच्चय-विश्लेषण, तथा रंध्रस्थानों का विस्तृत एवं सफल अध्ययन करके, उस भूमि का संरचनात्मक वर्गीकरण किया जाता है। एक भूमि में विभिन्न आकार के कणों की विभिन्न मृदास्तरों में प्रतिशत मात्रा, उनका समुच्चय वितरण भिन्न-भिन्न होता है। भूमि की भिन्न गहराइयों में एक विशिष्ट आकार के कणों की अधिकतम मात्रा पर ही उस स्तर की मृदा का नामकरण किया जाता है। उदाहरण के लिए जिस मृदा में २·००-१·०० मि० मी० के कणों की संख्या अन्य आकार के कणों की संख्या से अधिक हो तो वह मृदा बलुई मृदा के नाम से जानी जाती है। इसी प्रकार ०·००२ मि० मी० तथा इससे सूक्ष्म कणों से निर्मित मृदा को चिकनी मृदा की श्रेणी में रक्खा जाता है।

रंध्रस्थान

मृदा कणों के संघट्टन के फलस्वरूप उनके बीच में कुछ रिक्त स्थान बन जाते हैं जिन्हें रंध्रस्थान कहते हैं। रंध्रस्थानों की प्रतिशत गणना निम्नलिखित सूत्र से की जाती है :—

$$\% \text{ रंध्रस्थान} = १०० - \frac{(\text{मिट्टी का घनत्व})}{(\text{कणों का घनत्व})} \times १००$$

जबकि :—

$$\text{आयतन घनत्व} = \frac{\text{भूमि का भार}}{\text{भूमि का आयतन}}$$

$$\text{केवल ठोस कणों का घनत्व} = \frac{\text{भूमि में ठोस पदार्थ का भार}}{\text{ठोस पदार्थ का आयतन}}$$

‡ मृदा विन्यास :—भूमि में उपस्थित विभिन्न आकृति एवं प्रकार के मृदा कणों को ही मृदा-विन्यास कहते हैं। कणों का आकार ०·००२ मि० मी० आकार से लेकर २·०० मि० मी० तक होता है। इनके सूक्ष्म कणों को केवल एलेक्ट्रान अनुवीक्षण से ही देखा जा सकता है।

मृदा की गहराई, फसलोत्पादन, कणों के आकार इसी का रंध्रस्थानों की संख्या तथा आकार से सीधा सम्बन्ध है। कण जितने ही सूक्ष्म होंगे, रंध्रस्थानों की संख्या उतनी ही अधिक होगी तथा उनका आकार भी लघु होगा। इसी के विपरीत, बड़े कणों से निर्मित भूमि में रंध्रस्थानों की संख्या कम तथा उनका आकार बड़ा होगा। भूमि विशेषज्ञों ने उन्हें क्रमशः सूक्ष्म (माइक्रो) एवं दीर्घ (मैक्रो) रंध्रस्थानों के नाम से घोषित किया है। रंध्रस्थान जितने बड़े होंगे, उप-भूमि में, हवा एवं पानी की पारगम्यता उतनी ही सुगम तथा अधिक होगी परन्तु सूक्ष्म कणों वाली भूमि में हवा तथा जल की पारगम्यता नहीं के बराबर होती है तथा रंध्रनलिकाओं द्वारा उस भूमि में जल का समुचित वितरण नहीं हो पाता है। उदाहरण के लिए बलुई तथा चिकनी मृदा का नाम लिया जा सकता है। भूमि के एक विशिष्ट आयतन में उपस्थित हवा तथा पानी के आयतन का योग ही रंध्रस्थानों का आयतन होता है।

रसन, कोपकी (१९४१) वर्नर (१९२७) तथा दोयरेन्को (१९२४) की विधियों से रंध्रस्थानों का निर्धारण करके उनको दो मुख्य श्रेणियों में विभाजित किया गया है :—

(१) केशिका

(२) अकेशिका

इसके निर्धारण के लिए तीन मुख्य प्रयोग किये जाते हैं।

(क) भूमि के नमूने को एक प्रामाणिक आर्द्र अवस्था में रखना।

(ख) उसके आभासी घनत्व की गणना एवं

(ग) भूमि-कणों का विशेष आयतन ज्ञात करना।

भूमि, जल एवं भूमि रंध्र, भूमि, हवा के आयतन का निर्धारण इनमें से किसी दो के आयतन के निर्धारण के पश्चात् किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, यदि भूमि-जल का घनत्व साधारण स्वच्छ जल के घनत्व के बराबर हो तो भूमि-जल का आयतन ज्ञात हो जाता है। तथा कुल रंध्रस्थान आयतन में जल का आयतन घटाकर भूमि-हवा का आयतन ज्ञात किया जा सकता है। परन्तु इस विधि से बहुत सी त्रुटियाँ आ जाती हैं जिसके कारण निच (१९३९) तथा ट्रूलिन (१९१४) की विधियों का प्रयोग किया जाता है। इस विधि में मृदा-हवा को जाइलम जैसे एक अध्रुवीय (जो पानी में अविलेय है) तरल के द्वारा विस्थापित कर दिया जाता है। ऐसी दशा में कुल प्रयुक्त जाइलम का आयतन ही मृदा-हवा का आयतन होगा। कुल रंध्र-स्थान के आयतन से इसे घटाकर मृदा-जल का आयतन निर्धारित किया जा सकता है।

मृदा का आभासी घनत्व

सर्वप्रथम, कंकर-पत्थर तथा जड़ रहित भूमि का आयतन निर्धारण एक बिना पेंदे तथा शीशे की चादर के एक धातु के यंत्र से किया जाता था। इस यंत्र को भूमि में हथौड़े से ठोंककर उसे भूमि सहित सुगमता से निकालकर उसका आयतन निकाल लिया जाता था। हथौड़े से ठोकने के कारण इस भूमि की संरचना भिन्न-भिन्न हो जाती है इसलिए यह विधि त्रुटिपूर्ण सिद्ध हुई। और भी बहुत सी विधियों का प्रयोग किया गया परन्तु वे सभी दोषपूर्ण थीं। आजकल रूसी वैज्ञानिकों की देन के अनुसार आयतन नापा जाता है। इस विधि में २ भाग नैफ्थलीन तथा ३ भाग मोम को गरम करके उप भूमि में पतली-सी चौकोर नाली बनाकर डाल दिया जाता है। कुछ घंटों के पश्चात् जमी हुई मोम के साथ उस चौकोर भूमि और मोम को निकालकर उसका आयतन ज्ञात कर लिया जाता है। इस विधि से संरचना ज्यों की त्यों बनी

रह जाती है। उपर्युक्त मिश्रण के स्थान पर इसरायले सेन (१६१८) ने पानी तथा वेकेत ने बालू तथा अन्य कुछ भूमि-वैज्ञानिकों ने स्नेहक तैलों का प्रयोग किया है।

भूमि-पारगम्यता द्वारा संरचना का अध्ययन

मृदा के यांत्रिक विश्लेषण में भूमि के गर्त के लिए, अन्तर्राष्ट्रीय 'ए' विधि को सफल एवं स्पष्ट फलों के लिए प्रारम्भ में निम्न प्रयोग करना अत्यन्त आवश्यक है —

(क) भूमि से भूमि-बन्धकों को नष्ट करने के लिए हाइड्रोजन परॉक्साइड का प्रयोग।

(ख) भूमि-नमूने को विनिमेय धनायनों एवं कार्बोनेट से मुक्त करने के लिए २ नार्मल सांद्रता के हाइड्रोक्लोरिक अम्ल का प्रयोग तथा।

(ग) शुष्क अमोनिया द्वारा मृदा कणों का व्यासारण (dispersion)। इसके अतिरिक्त व्यासारण की निम्नलिखित विधियाँ भी प्रयोग में में लाई जाती हैं —

(क) सूडान विधि—०·५% सांद्रता के सोडियम कार्बोनेट द्वारा संलोडन (Puddling)

(ख) पुरी की विधि :—भूमि में सोडियम क्लोराइड विलयन डालकर सोडियम मिट्टी प्राप्त करके उसको सोडियम हाइड्रॉक्साइड से व्यासारित किया जाता है।

(ग) सोकोलोस्की की विधि :—पुरी की विधि की भाँति यह भी है। अन्तर केवल यह है कि इसमें सोडियम हाइड्रॉक्साइड के स्थान पर अमोनियम हाइड्राक्साइड का प्रयोग किया जाता है।

यांत्रिक विश्लेषण की सभी विधियों में निम्न-लिखित प्रयोग आवश्यक हैं—

(१) हाइड्रोजन परॉक्साइड की क्रिया—(कार्बनिक पदार्थों को नष्ट करने के लिए)

(२) प्रयुक्त अम्लों को एवं परॉक्साइड को छानना एवं उनकी धुलाई,

(३) व्यासारण (प्रति १० ग्राम भूमि के लिए ४ मिली० नार्मल सोडियम हाइड्रॉक्साइड)

(४) तलछटीकरण

इस विश्लेषण में, कार्बनिक पदार्थों की मात्रा, जिप्सम, ऐल्यूमिनियम एवं मेंगनीज हाइड्रॉक्साइड की न्यूनाधिक मात्रायें बाधक होती है। अतः इन सब बाधकों को विश्लेषण के प्रारम्भ में ही नष्ट करना या दूर करना अत्यन्त आवश्यक है।

समुच्चय विश्लेषण

प्रारम्भ में इस विश्लेषण में बहुत सी विधियाँ प्रयोग में लाई जाती थीं। इस विश्लेषण का मुख्य उद्देश्य मृदा में उपस्थित विभिन्न आकार-प्रकार के समुच्चयों का विस्तृत एवं स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करना-है। इस विश्लेषण के प्रयोग को मुख्य तीन समूहों में विभाजित किया गया है—

(१) भूमि में उपस्थित विभिन्न समुच्चयों का ठीक ठीक आकार ज्ञात करना।

(२) जल-स्थायी समुच्चयों का आकार एवं उनका भूमि में वितरण का अध्ययन तथा

(३) प्रारम्भिक अर्ध स्थायी समुच्चयों का अध्ययन जिससे बड़े-बड़े समुच्चयों का निर्माण होता है।

भूमि समुच्चय वितरण

इसके लिए केवल दो विधियाँ काम में लाई जाती हैं—

(क) भूमि को चाल कर, (Sieving) तथा

(ख) बेंज़ीन जैसे अक्रिय द्रव के साथ चालकर,

प्रथम विधि, जर्मनी में पुचर तथा मैंजेल्सडार्फ (१६२६) इंगलैण्ड में कीन (१६३३) तथा रूस में नेक्रासो (१६३४) तथा अन्य भूमि-वैज्ञानिकों के द्वारा प्रयोग में लाई गई है। इन लोगों ने प्रति मि० मी० ४० छिद्र वाली चलनी से लेकर ४ मि०मी० छिद्र वाली चलनी का प्रयोग किया। विश्लेषण के प्रारम्भ में मिट्टी को अच्छी तरह सुखाकर प्रयोग किया गया था। तथा दूसरी विधि का आरम्भ सर्वप्रथम टियू-लिन ने (१६२८) बेंज़ीन तथा जाइलेन के साथ

मिट्टी को चालकर किया । इन द्रव पदार्थों का प्रयोग सूक्ष्मातिसूक्ष्म कणों (०·११५ मि०मी०) को व्यासारित करने के लिए किया जाता है ।

जल स्थायी समुच्चय का भूमि में वितरण

भूमि में समुच्चयों का वितरण जलवायु, पौधों की वृद्धि, तथा जुताई आदि क्रियाओं से प्रभावित होता है । वर्षा का पानी तथा कृत्रिम सिंचाई आदि का भी समुच्चय वितरण, जलवायु, पौधों की वृद्धि, तथा उनके आकार पर सीधा प्रभाव पड़ता है । इसीलिए पिगुलेस्को तथा टियूलिन ने समुच्चयों का स्थायी वितरण प्राप्त करने के लिए जल की उपस्थिति में विश्लेषण करने की राय दी । इस विधि में बहुत परिवर्तन किया गया और उनसे अच्छे फल प्राप्त हुए हैं । इन विधियों से जल से अप्रभावित समुच्चयों का वितरण ज्ञात हो जाता है ।

अन्य खनिज-कणों से समुच्चयों का पृथक्करण

विभिन्न व्यास के छिद्रों वाली चलनियों पर भिन्न-भिन्न आकार के जो समुच्चय एकत्र हो जाते हैं उनको अलग-अलग तौल लिया जाता है । परन्तु इनको कंकर तथा बालू या उसी के आस-पास व्यास वाले बालू आदि के कणों से अलग करना अत्यन्त कठिन है । इसके लिए कोई सफल विधि अभी तक नहीं निकल सकी है ।

सेविनो (१९३६) ने बताया कि बालू के कुछ कण भी बड़े समुच्चयों के साथ-साथ समुच्चित हो जाते हैं । अतः इन नग्न कणों की मात्रा की गणना के लिए उन्होंने टियूलिन की तरह मिट्टी को चाल कर एक गणितीय सूत्र का प्रयोग करके किया जो इस प्रकार है

$$a_n = \frac{a^n\ m_n}{(a-m)+a_n}$$

जहाँ a_n = स्वतन्त्र बालू के तथा अन्य खनिज कणों का कुल भार जो यांत्रिक विश्लेषण के पश्चात् चलनी न० n पर बच रहता है ।

m_n = उन pn कणों का भार जो चलनी न० n पर यांत्रिक विश्लेषण के पश्चात् बच रहते हैं ।

$(a-m)$ = चलनी न० n पर बचे pn कणों का भार + उनसे भी सूक्ष्म कणों का भार जो इसी नं० की चलनी पर बचे रहते हैं ।

इस प्रकार विभिन्न चलनियों पर भी विभिन्न व्यास तथा आकार के कणों को अलग किया जा सकता है ।

भूमि-संरचना का वर्गीकरण

मृदाओं को उनकी विभिन्न संरचनाओं के अनुसार वर्गीकृत किया जाता है । वर्गीकरण में भी मुख्य तीन विधियों का प्रयोग किया जाता जो निम्नलिखित हैं–

(क) समुच्चयों के आकार, रूप, रंग तथा कठोरता के अनुसार,

(ख) भूमि के रंध्र-स्थानों एवं रिक्त स्थानों के अध्ययन के अनुसार,

(ग) भूमि में उपस्थित बन्धकों के प्रकार और मात्रा के अनुसार,

उपर्युक्त तीनों विधियों में केवल पहली ही अधिकतर प्रयोग में लाई जाती है ।

भूमि बन्धक—भूमि में मृदुकण (Crumb) निर्माण तीन पदार्थों की उपस्थिति में हो सकता है । भूमि में इनकी न्यूनता तथा अनुपस्थिति के फलस्वरूप बालू तथा सिल्ट की अधिकता हो जाती है तथा वह भूमि खेती के योग्य नहीं रह जाती । वे पदार्थ जो मृदा के खनिज एवं कार्बनिक कणों को आपस में बाँध देते हैं भूमि बन्धक के नाम से पुकारे जाते है । वे इस प्रकार हैं :—

(क) कलिल पदार्थ (चिकनी मृत्तिका)

(ख) ऐल्यूमिनियम एवं लोह आक्साइड, (अकार्बनिक लवण)

(ग) कार्बनिक पदार्थ (ह्यूमस तथा अन्य जटिल कार्बनिक पदार्थ)

मृत्तिका, बंधक के रूप में:—रसेल (१९३४) के अनुसार, भूमि में मृत्तिका द्वारा मृदुकण-

[शेष पृष्ठ ३४ पर]

रॉयल सोसायटी के अध्यक्ष—

सर हॉवर्ड फ्लोरी

जब कभी हम पेनिसिलीन के विषय में सोचते हैं सर्वप्रथम स्वर्गीय सर एलेक्जेण्डर फ्लेमिंग का नाम स्मरण हो आता है। सन् १९४५ में चिकित्सा विज्ञान के लिए जब नोबुल पुरस्कार प्रदान किया गया, फ्लेमिंग के साथ ही दो अन्य व्यक्ति भी थे। वे थे डा० ई० बी० चेन जो एक मेधावी जैवरसायनज्ञ थे तथा दूसरे चिकित्सक सर हॉवर्ड फ्लोरी।

सन् १८९८ में आस्ट्रेलिया के एडेलेड नामक स्थान में जन्म लेकर हावर्ड फ्लोरी ने अपने बाल्य-काल से ही यह निश्चय कर रक्खा था कि वे वैज्ञानिक बनेंगे, इसलिए उन्होंने अपने को लोकप्रिय विज्ञान की पुस्तकों के अध्ययन में लगाया। यही कारण है कि आगे चलकर जब उन्हें विशुद्ध पेनिसिलीन के उत्पादन में कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, उनके मस्तिष्क की एकाग्रता तथा चारित्रिक शक्ति ने उनका पूरा साथ दिया।

रॉयल सोसायटी के अध्यक्ष के साथ-साथ सर हावर्ड वैज्ञानिक सम्मान एवं सफलता के शिखर पर आसीन हैं। किन्तु यह असम्भव सा प्रतीत होता है कि उनके जीवन की अन्य कोई घटना वर्तमान या भविष्य में शोध के उन क्षणों की समानता कर सकेगी जिसे उन्होंने जुलाई सन् १९४० में प्रारम्भ किया।

सन् १९३८ के बाद से फ्लोरी ऑक्सफोर्ड में सर विलियम डन चिकित्सा विद्यालय में शोधकर्ताओं के एक दल के काम का निर्देशन कर रहे थे। इस दल (टीम) द्वारा प्रयुक्त पदार्थ फ्लेमिंग के पेनिसिलीन कवक की एक प्रजाति था जो विद्यालय की प्रयोगशाला में वर्षों से हो रहा था। जैसे कि सर एलेक्जेण्डर फ्लेमिंग ने कहा था कि "एकाकी कार्यकर्ता ही किसी विषय में प्रथम चरण रखता है किन्तु जैसे-जैसे यह संसार जटिल होता जाता है दूसरों के सहयोग के बिना निश्चयात्मक निष्कर्ष निकालने की हमारी शक्ति क्षीण होती जाती है।" वास्तव में ऐसा ही सहयोग फ्लोरी और उसके दल ने प्रदान किया।

अनेक कठिनाइयों को पार करते हुए फ्लोरी और उसके दल ने पेनिसिलीन को श्वेत चूर्ण के रूप में स्थायी दशा में पृथक् करने में सफलता प्राप्त की। उन्हें यह ज्ञात था कि पेनिसिलीन में जीवाणु विरोधी गुण विद्यमान हैं, परन्तु यह है कितना गुण-कारी? इसको निश्चित करने वाला प्रयोग जुलाई सन् १९४० में पचास श्वेत मूषकों के साथ किया गया। सर हॉवर्ड ने प्रत्येक मूषक को मृत्युकारी मात्रा से कुछ अधिक स्टेप्टोकोकाई बेक्टीरिया का सूचीवेध किया। इसके पश्चात् प्रत्येक तीन घंटे के बाद दो दिन तथा दो रात तक पच्चीस मूषकों का पेनिसिलीन से उपचार किया गया। इन दिनों फ्लोरी प्रयोगशाला में ही सोता और हर दो घंटे के पश्चात् जग उठता। वह बड़ी कठिनता से अपने क्रोध और अपनी चिन्ता को छिपा पाता। जो पच्चीस चूहे पेनिसिलीन से उपचारित नहीं किये गए थे वे एक एक करके मर गए। उपचारित चूहों में एक को छोड़कर सभी जीवित रहे। "लैनसेट" के पृष्ठों में छप जाने पर यह परिणाम अत्यन्त आश्चर्य-जनक प्रतीत हुआ। इससे यह सिद्ध होता था कि

पेनिसिलीन निश्चित रूप से एक आश्चर्यजनक ओषधि है परन्तु इसकी मानव प्राणियों पर एवं बृहद् मात्रा में उत्पादन पर परीक्षा होना अब भी शेष थी और इन सब में हॉवर्ड ने अग्रणी एवं अथक प्रयास किया। किन्तु अग्नि परीक्षा समाप्त हो चुकी थी. आक्सफोर्ड में यही प्रदर्शित करना शेष था कि परिष्कृत पेनिसिलीन के पचास करोड़ (५०००००००-०००) अंश में एक अंश स्टैफिलोकोकाई को न विकसित होने देने में पर्याप्त है। सर एडवर्ड एडिलेड विश्वविद्यालय से एम० बी० उपाधि प्राप्त करके सन् १६२२ ई० में रोड्स छात्रवृत्ति प्राप्त करके ब्रिटेन आए थे। वे सर्वप्रथम मैकडालेन कालेज ऑक्सफोर्ड गए और तत्पश्चात् कैम्ब्रिज। शीघ्र ही उन्होंने मास्टर ऑफ आर्ट्स तथा एम०ए०, बी० एस-सी० तथा डी० फिल० की उपाधियाँ प्राप्त कीं।

वे अपनी विद्वता के बोझ से झुके नहीं। डेविड मास्टर्स ने अपनी पुस्तक 'मिराकिल ड्रग' में जो आइअर और स्काटिस उड द्वारा सन् १६४६ में प्रकाशित की गई है लिखा है, 'उसे अपने ऊपर विश्वास था। उसका शरीर एवं मस्तिष्क प्रबुद्ध था। बातचीत के समय उसके मस्तिष्क की तीव्र प्रतिक्रियाएँ, आँखों की चमक और सिर के हिलने से ज्ञात हो जाता था कि बात पूरी होने के पहले ही उसे कितनी जल्दी समझ गया है।"

तैंतीस वर्ष की उम्र में शेफील्ड विश्वविद्यालय के जोसेफ हन्टर प्रोफेसर ऑफ पैथालोजी के महत्वपूर्ण पद पर नियुक्त हुए। चार वर्ष बाद वे आक्सफोर्ड लौट आए और सन् १६३५ से पैथालोजी के प्रोफेसर और सर विलियम डन स्कूल ऑफ पैथालोजी के अध्यक्ष हैं। पेनिसिलीन के सम्बन्ध में किए गए उनके कार्य के द्वारा ब्रिटिश और कॉमनवेल्थ औषधि विज्ञान को बड़ी ख्याति मिली और अत्यन्त उदार होने के नाते एवं आत्मविज्ञापन से अरुचि होने के कारण वे अपने सहयोगियों को भी कार्य का भागी बनाते रहे। अन्य वैज्ञानिकों की भाँति उन्होंने पेनिसिलीन उत्पादन का पेटेण्ट नहीं कराया। अन्यथा इसके द्वारा वे न मालूम कितना धन अर्जित करते। अपने कार्य के द्वारा ये आस्ट्रेलिया में भी प्रसिद्ध हुए। इनकी पत्नी मेरी एथेल रीड जिसके साथ इन्होंने सन् १६२६ में ब्याह किया स्वयं आस्ट्रेलिया की हैं और जब वे दोनों एडिलेड विश्वविद्यालय में पढ़ रहे थे तो भेंट हुई थी। सन् १६४४ में इनके सुझाव पर कैनबरा में आस्ट्रेलियन नेशनल यूनिवर्सिटी की स्थापना हुई। आक्सफोर्ड स्थित उनकी प्रयोगशाला में कामनवेल्थ देशों से अनेक स्नातक विद्यार्थी आते हैं। सन् १६५६ में ब्रिटेन के नेशनल रिसर्च डेवलपमेण्ट कारपोरेशन ने एण्टी बायटिकों के नवीन परिवार की खोज की घोषणा की। इनका अध्ययन फ्लोरी के निर्देशन में ही हुआ।

अब रॉयल सोसायटी के अध्यक्ष के रूप में वे सर आइजक न्यूटन, सर हम्फ्री डेवी, लार्ड केलविन तथा लार्ड लिस्टर जैसे महापुरुषों की श्रेणी में विराजमान हैं। ●

शेषांश पृष्ठ १५ का

समस्त घटनाएँ मेरे सामने थीं। स्वप्न में भी यह आशा नहीं थी जिस व्यक्ति ने कितने ही लोगों को तैरना सिखाया तैरने की विभिन्न विधियों को पुस्तक के रूप में लिखा, और स्वयं भी एक अच्छे तैराक थे, उनका अंत इस प्रकार होगा। उनका वाराणसी आने को दिया गया निमत्रंण और मेरा आश्वासन कभी पूरा न हो सकेगा। किन्तु एक बात निश्चित है कि ठीक समय पर हिन्दी विश्वकोष के अन्य भागों के प्रकाशन से डाक्टर साहब की आत्मा को संतुष्टि होगी। जिस लगन और उत्साह से उन्होंने उसका संपादन कार्य किया था उसकी पूर्ति से निश्चय ही उनकी स्वर्गीय आत्मा को शांति प्राप्ति होगी। ●

१. इलेक्ट्रानिक मस्तिष्क

विज्ञान और टेकनोलॉजी की उन्नति से अब वे बातें भी सुलभ हो गयी हैं जिनका पहले कल्पना-जगत् में भी कोई स्थान नहीं था। आधुनिक इलेक्ट्रॉनिक यन्त्र एक भाषा के मजमून को दूसरी भाषा में अनुवाद करते हैं, पूरे विश्वकोष को याद कर लेते हैं और मानव की अमूल्य सेवा करते हैं। औद्योगिक एवं प्राविधिक प्रक्रियाओं को पूरा करना और उन पर नियंत्रण रखना जैसे कार्य मनुष्य के बजाय यंत्रों से सम्पन्न किये जाएँ, इस बात का महत्व सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है।

विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ अब इस बात की आवश्यकता समझी गयी कि तमाम आँकड़ों और सूचनाओं का विश्लेषण करने वाला साधन बनाया जाय जिससे मनुष्य के मस्तिष्क को इस काम से छुट्टी मिल जाय। नियंत्रक यंत्र वास्तव में एक ऐसा ही साधन है। यह यंत्र मनुष्यों के समान नियंत्रण की उन सभी समस्याओं को हल करने का कार्य करता है जो उसके सामने प्रस्तुत की जाती हैं। अब ऐसी अवस्था आ गई है कि यह यंत्र प्राप्त जानकारी का विश्लेषण और उसके विभिन्न परिणामों की तुलना कर समस्या का सर्वश्रेष्ठ समाधान चुन ले। अपने को चारों ओर की परिस्थिति के अनुकूल बनाने की योग्यता के समान गुण इस यंत्र में होते हैं।

अपने आपको परिस्थिति के अनुकूल बनाने की यह प्रक्रिया कैसे होती है ? यह यंत्र बाहरी प्रभावों अर्थात् उपस्थित समस्याओं के विभिन्न समाधानों का परीक्षण करता है और स्वयं सर्वश्रेष्ठ समाधान चुन लेता है। उत्पादन की विभिन्न समस्याओं का जैसे ईंधन का कम से कम व्यय करना और सर्वोच्च कोटि का माल तैयार करना, वह अपने आप सर्वश्रेष्ठ समाधान ही नहीं ढूँढ़ लेता बल्कि समुचित समाधानों की सूची भी तैयार करता है। इस प्रकार के नियंत्रण की आर्थिक कुशलता को आसानी से समझा जा सकता है।

इलेक्ट्रॉनिक संगणक यंत्रों और नियंत्रण यंत्रों में क्या भेद है ? सबसे पहले यह भेद उनके बाह्य जगत् से सम्पर्क में स्पष्ट होता है। संगणक यंत्र में मनुष्य उसके कार्य की समग्री उपस्थित कर देता है। जबकि नियंत्रक यंत्र अपनी कुछ सामग्री मनुष्य की सहायता के बिना स्वयं अपने उन मापक उपकरणों तथा अन्य युक्तियों से सीधे प्राप्त करता है जिनको उसकी 'आँखें' तथा 'कान' कहा जा सकता है और जिन पर निश्चित बाह्य प्रभावों की प्रतिक्रिया होती रहती है।

आधुनिक संगणक साधनों की अपेक्षा नियंत्रक यंत्रों का अधिक कुशल और विश्वसनीय होना इसलिए अत्यन्त आवश्यक है कि उन्हें बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य सौंपा जाता है। इन यंत्रों में खराबी होने से उत्पादन की प्रक्रिया में गड़बड़ी तथा भारी हानि का भय है। दोनों यंत्रों में एक और भेद है। संगणक यंत्र से अनेक प्रकार के कार्य लिए जाते हैं। वह विभिन्न प्रकार के गणना-कार्य करने में समर्थ होता है। इसीलिए संगणक यंत्र का आकार बड़ा होता है और उसका मूल्य भी अधिक होता है। नियंत्रण करने का कार्यक्षेत्र सीमित होता है इसलिए नियंत्रण-यंत्रों का आकार छोटा और मूल्य कम होता है।

किसी भी तैयार सामान, उदाहरण के लिए विद्युत् इंजीनियरी के सामान के गुण की जाँच करने के महत्त्वपूर्ण कार्य को ही ले लीजिए। उत्पादन के आधुनिक विस्तृत क्षेत्र और नियंत्रण की प्रविधि के कारण निर्मित वस्तुओं के गुण-परीक्षण के लिए तमाम भौतिक साधनों तथा अत्यन्त कुशल व्यक्तियों के श्रम की आवश्यकता होती है। कुछ उद्योगों में तो यह गुण-परीक्षण विभाग वास्तव में एक 'अड़ङ्गा' बन जाता है और उत्पादन की गति को रोक देता है।

इसका क्या कारण है? ऐसा क्यों होता है? उदाहरण के लिए आधुनिक संगणक यंत्र, स्वचालित टेलीफोन-केन्द्र (एक्सचेंज) या एक आधुनिक विमान की विद्युत् कार्य-प्रणाली के विभिन्न भागों के गुण-परीक्षणों के कार्य की जटिलता की कल्पना कीजिए। इन यंत्रों में सैकड़ों अवयव होते हैं जो अत्यधिक जटिल रूप में एक दूसरे से सम्बद्ध होते हैं। यदि आपको केवल इसी बात का परीक्षण करना हो कि जो यंत्र तैयार हुआ है ठीक प्रकार से काम करता है या नहीं, तो आपको जाँच करने के लिए अनेक प्रकार की नाप-जोख करनी होगी। यदि किसी संगणक-यंत्र में कोई दोष पाया जाय तो आप उसके साथ क्या करेंगे? क्या उसको फेंक देने या नष्ट करने की सिफारिश करेंगे? ऐसा करना बहुत ही महँगा पड़ेगा।

सोवियत वैज्ञानिकों ने इस समस्या का हल निकाल लिया है। विद्युत् एवं रेडियो इंजीनियरी के सामान के गुण-परीक्षण के लिए सोवियत संघ ने पहली बार बहु-प्रयोजन तार्किक यंत्र तैयार कर लिए हैं। ये यंत्र बड़ी कुशलता से कार्य करते हैं। स्वसंचालन एवं सुदूर नियंत्रण संस्थान ने जब एक ऐसे यंत्र का एक कारखाने में प्रयोग किया तो उससे गुण-परीक्षकों के कार्य की गति चालीस गुनी बढ़ गयी। केवल यही नहीं, विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि जिस विभाग में इस यंत्र का प्रयोग किया गया, उसका कार्य उच्चकोटि का हो गया क्योंकि यंत्र में असावधानी जैसे वे दोष नहीं होते जो मनुष्य में बहुत ही स्वाभाविक हैं।

इस यंत्र के परीक्षण का सिद्धान्त और विधि क्या है? जिस इकाई का परीक्षण करना होता है, उस पर एक के बाद एक निश्चित प्रभाव डाले जाते हैं। इन प्रभावों का 'परीक्षार्थी' जो उत्तर देता है, उसे रिकार्ड कर लिया जाता है। इस प्रकार की 'पूछताछ' से यह स्पष्ट हो जाता है कि इकाई बिलकुल ठीक है अथवा उसमें सुधार की कोई आवश्यकता है। स्वाभाविक है कि स्वसंचालित गुण परीक्षण की सबसे अधिक कुशलता वहाँ है जहाँ बड़े पैमाने पर किसी वस्तु का उत्पादन होता है। फिर भी कार्यक्रम की सरल प्रक्रिया बनाने और कार्यक्रम में हेरफेर करके छोटे पैमाने के उत्पादन पर इस यंत्र से पर्याप्त आर्थिक कुशलता प्राप्त करने में सहायता पहुँचती है।

इस प्रकार गुण-परीक्षण के क्षेत्र में प्राविधिक जाँच करने के लिए स्वसंचालित विभाग की स्थापना बहुत महत्त्वपूर्ण है।

प्रसारण यंत्रों के सरल डायग्राम का विश्लेषण करने के लिए एक उच्च योग्यता रखने वाले इंजीनियर को कम से कम दस बारह घंटे लगाने पड़ते हैं और विभिन्न प्रकार के लगभग २०००० ग्राफ बनाने पड़ते हैं। स्वयंसंचालन एवं सुदूर नियंत्रण संस्थान ने जो यंत्र तैयार किया है वह इस कार्य को छः-सात मिनटों में पूरा कर देता है। इस यंत्र को एक ही आदमी चला लेता है।

एक और उदाहरण है। इंजीनियरों ने एक नये प्रकार का रेगुलेटर बनाया है जिसकी औद्योगिक परिस्थितियों में जाँच होना शेष है। ऐसे

यंत्र का परीक्षण करना कोई आसान काम नहीं है। यह परीक्षण प्रायः प्राविधिक प्रक्रिया समाप्त होने से सम्बन्धित होता है। और फिर नये यंत्र को शुरू-शुरू में प्रयोग करने में हमेशा ख़तरा भी रहता है। उदाहरण के लिए, उस समय विशेष रूप से यह ख़तरा ज्यादा होता है जबकि एक नया स्वचालित विमानचालक विमान में बैठाया जाता है। यद्यपि अब प्रयोगशाला में 'वास्तविक विमान के माडेल' में स्वचालित विमान चालक का परीक्षण करना सम्भव हो गया है। इसके लिए एक माडेल-विधि का प्रयोग किया जाता है। उसमें किसी वस्तु पर नियंत्रण करने के आँकड़े उपस्थित कर दिये जाते हैं जैसे विमान चलाना और फिर मशीन का स्विच चालू कर दिया जाता है। वह मशीन उसी तरह चलने लगती है जैसे कि उड़ान करता हुआ वास्तविक विमान। ऐसी विधि से बिना किसी जोखिम के कार्य-क्षेत्र बनाने का अवसर मिलता है।

इलेक्ट्रॉनिक माडेलों का प्रयोग केवल नये यंत्रों का परीक्षण करने में ही नहीं, अपितु नये यंत्रों के उत्पादन में भी किया जा सकता है। इसके लिए सोवियत वैज्ञानिकों द्वारा तैयार किये विशेष साज-सामान के सेटों से इलेक्ट्रॉनिक माडेल को सम्बद्ध कर दिया जाता है।

मानसिक श्रम की प्रक्रियाओं को स्वसंचालित बनाने से भारी आर्थिक लाभ की गारंटी के साथ-साथ उससे नयी प्रणाली और नये यंत्रों की आकृति बनाने की सुविधा प्राप्त होती है। सामान्य रूप से इन यंत्रों को मनुष्य बिना इलेक्ट्रॉनिक यंत्रों की सहायता के नहीं बना सकता।

२. लोग अधिक दिन जियेंगे

सोवियत संघ में इस समय १०० वर्ष से अधिक आयु वाले ४००० व्यक्ति हैं। अकेले जार्जिया में ही २००० से अधिक शतायु व्यक्ति हैं। शतायु व्यक्तियों की संख्या में सोवियत संघ का विश्व में प्रथम स्थान है।

सामाजिक-आर्थिक क्षेत्र में सोवियत संघ सबसे प्रगतिशील राज्य है। पार्थिव सम्पन्नता में निरंतर समृद्धि और औषधिशास्त्र की प्रगति ने सोवियत संघ में जीवन की औसत दीर्घता को बढ़ा दिया है—क्रान्ति से पहले के ३२ वर्ष से आज के ६९ वर्ष तक। दीर्घायुष्य की समस्या पर विचार करते समय, हमारा ध्यान रूसी विज्ञान के महारथियों के प्रयासों की ओर बरबस ही चला जाता है।

शताब्दी के मोड़ पर **मेचनिकोव, बोतकिन और पावलोव** ने दीर्घायुष्य के विज्ञान की नींव रखी थी। बाद में सोवियत वैज्ञानिकों-अकादमीशियन **बोगोमोलेत्स, नागोर्नी, सिलमैन, स्त्राभेस्को** तथा अन्यों द्वारा इसमें महान् योग प्रदान किया गया। गेरोटोलॉजी नामक एक नया विज्ञान अस्तित्व में आ गया है। इसने हाल के वर्षों में सोवियत संघ में विशेष प्रगति की है। दीर्घायुष्य की समस्या का अध्ययन करने के लिए सोवियत संघ की मेडिकल विज्ञान अकादमी के तत्वावधान में गेरोटोलॉजी का एक विशेष विद्यालय स्थापित है। यह विद्यालय इस समस्या पर समूचे सोवियत संघ में किये जाने वाले अनुसन्धान-कार्य की देखभाल करता है। अनेकों बड़े नगरों में शतायु व्यक्तियों के जीवन का अध्ययन करने के लिए विशेष केन्द्र स्थापित किये गये हैं।

पूर्णतया स्वस्थ एवं प्रफुल्लमना और काम कर सकने में समर्थ सोवियत शतायु-व्यक्तियों का स्वास्थ्य, वृद्धावस्था के पुराने विचार को गलत सिद्ध

करता है और दिखलाता है कि यह केवल आयु द्वारा ही नहीं, बल्कि और अधिक बड़ी हद तक, उन जैविक कारणों द्वारा भी निश्चित होती है जो प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक अवस्थाओं पर निर्भर करते हैं। बुढ़ापा विभिन्न व्यक्तियों पर विभिन्न उम्रों में आता है। कुछ लोग ८० वर्ष की आयु में भी जवान रहते हैं, जबकि कुछ लोग ४० वर्ष की आयु में ही बूढ़े हो जाते हैं। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। इस कहावत में काफी तथ्य है कि 'मनुष्य मरता नहीं, बल्कि धीरे-धीरे खुद को मार डालता है' और कि 'जीवन को दीर्घ बनाने की कला, उसे छोटा न करने की कला है।'

विश्व के महान् शरीर-रचनाशास्त्री आई० पावलोव बहुधा कहा करते थे : अमर्यादित खान-पान, अनियमित रहन-सहन और अपने स्वास्थ्य की नितांत उपेक्षा से हम स्वयं ही अपने जीवन की सामान्य दीर्घता को (जिसे वह १०० वर्ष और उससे भी अधिक मानते थे) बहुत कम कर डालते हैं। वे सारी उम्र केवल मद्य ही नहीं, बल्कि काफी के भी अमर्यादित उपभोग के विरुद्ध जबरदस्त विरोध प्रकट करते रहे।

स्ताव्रोपोल मेडिकल इंस्टीट्यूट के कर्मचारियों ने दीर्घायुष्य के अध्ययन में एक महान् एवं उत्तर-दायित्वपूर्ण कार्य का भार लिया है। दीर्घायुष्य की समस्या के सिलसिले में अनुसन्धान के मुख्य केन्द्र के रूप में इस इंस्टीट्यूट के चुनाव का एक अच्छा कारण था। स्ताव्रोपोल क्षेत्र, जहाँ यह स्थित है, गेरोटोलॉजी की दृष्टि से अत्यन्त रोचक है। १९५९ की जनगणना के अनुसार इस क्षेत्र में ९० वर्ष से अधिक आयु वाले २८४९ व्यक्ति रहते हैं; इनमें से २२४३ महिलाएँ हैं और ६०६ पुरुष। निश्चय ही, स्ताव्रोपोल क्षेत्र में रहने वाले सभी वृद्धजनों के काम और रहन-सहन की दशा, उनके भोजन और उनकी शारीरिक प्रणालियों (श्रवण, दृष्टि, स्नाय-विक प्रणाली, हृदय और रक्त-कोषों) की दशा जैसी बातों का अध्ययन विज्ञान के लिए दिलचस्पी का विषय है, इस कारण और भी अधिक क्योंकि इन चीजों का अभी तक अध्ययन नहीं किया गया है।

किन्तु सबसे तात्कालिक महत्त्व की समस्या है बुढ़ापे को रोकने की। वृद्धावस्था और बुढ़ापा एक ही चीज नहीं है। वृद्धावस्था वस्तुतः बूढ़े होने की प्राकृतिक एवं अनिवार्य प्रक्रिया में अन्तिम चरण है। अब यह बात साबित हो चुकी है कि बूढ़े होने की प्रक्रिया में सक्रिय रूप से बाधा डाली जा सकती है और इसके पथ को वांछित दिशा में प्रभावित किया जा सकता है कि वृद्धावस्था के आगमन को विलम्बित कर सकना सम्भव है। विज्ञान इसी बात के लिए संघर्ष कर रहा है—बीमारी और निर्बलता से मुक्त एक स्वस्थ, सक्रिय वृद्धावस्था के लिए; यह शरीर के अकाल जराग्रस्त होने के विरुद्ध संघर्ष कर रहा है।

बुढ़ापे को दूर रखने का अर्थ वस्तुतः मानव जीवन को दीर्घतर बनाना है। क्या विज्ञान के पास इस समय ऐसी सम्भावनाएँ हैं ? हाँ, हैं।

इस हस्तक्षेप का अन्तर्निहित सिद्धान्त है शरीर में उन क्रियात्मक परिवर्तनों को रोकना जिनके साथ बूढ़े होने की प्रक्रिया सम्बन्धित है। हमारा हस्तक्षेप बूढ़े होने की प्रक्रिया की आरम्भिक दशाओं में विशेष सफल होता है। शरीर में क्रियात्मक-परि-वर्तनों को सबसे आरम्भिक दशा में ज्ञात करना केवल तभी सम्भव है जब लोग डिस्पेंसरी स्तर पर डाक्टरी जाँच से कतराएँ नहीं, अथवा जब वे विशेष गेरिएट्रिक्स केन्द्रों में डाक्टरी सलाह प्राप्त करें। (गेरिएट्रिक्स चिकित्सा-विज्ञान की वह शाखा है जिसका सम्बन्ध बूढ़े होने की प्रक्रिया और वृद्धा-वस्था के रोगों से है।)

अकाल वार्द्धक्य को रोककर अथवा विलम्बित करके हम मनुष्य की काम कर सकने की क्षमता को बनाये रखते हैं। निश्चय ही, यह अधिक प्रभाव-

पूर्ण होगा कि वृद्धावस्था से लड़ना तब न शुरू करके जब व्यक्ति ५० या ६० वर्ष का हो जाय, बहुत पहले ही शुरू कर दिया जाय । बूढ़े होने की प्रक्रिया को अनेकों पदों के एक क्रम द्वारा रोका जा सकता है, जिनमें सबसे महत्त्वपूर्ण है विज्ञान-सम्मत कार्य और विश्राम का क्रम, समुचित खूराक और व्यायाम । औषधीय उपचार, प्रथमतया हार्मोन, विटामिन, नोवोकेन, कोलीन, लिपोकेन और फिजियोथेरेपी भी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं ।

अच्छे स्वास्थ्य को बनाये रखने और दीर्घायुष्य में कार्य द्वारा सम्पन्न की जाने वाली विशेष भूमिका पर बल देना होगा । कार्य एक महान् जीवन्त शक्ति है, यह लोगों के जीवन, स्वास्थ्य और दीर्घायु का स्रोत है । कुछ लोगों का यह विचार कि कार्य जीवन को छोटा करता है, मूलतः असत्य है । सोवियत संघ में अधिकांश शतायु लोग मजदूर तथा सामूहिक कृषक हैं, अर्थात् शारीरिक कार्य करने वाले लोग हैं ।

किन्तु, हम इस बात को छिपाना नहीं चाहेंगे कि जीवन को दीर्घतर बनाने के उपायों तथा साधनों का अन्तिम चुनाव अभी भविष्य के गर्भ में है ।

३. अन्तरिक्ष-यान पर कृषि

आज मानव जाति अन्तरिक्ष युग के प्रवेश द्वार पर खड़ी है । इस समय तक हमारे साहसी अन्तरिक्ष-अन्वेषक पृथ्वी से केवल कुछेक सौ मील दूरी तक ही पहुँच पाए हैं, लेकिन हमने चन्द्रमा और उससे भी दूर स्थित अन्य ग्रहों तक समानव उड़ानें भरने की योजनाएँ बनाई हैं । अन्तरिक्ष-यात्रियों को इन दूरवर्ती ग्रहों तक पहुँचने के लिए अन्तरिक्ष में सप्ताहों, महीनों और हो सकता है कि वर्षों तक की उड़ान भरनी पड़े । लेकिन इन दूरवर्ती ग्रहों तक पहुँचने के पूर्व मनुष्य को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा । उदाहरणार्थ, प्रत्येक अन्तरिक्ष यात्री को जीवित रहने के लिए भोजन, जल और ऑक्सीजन की आवश्यकता पड़ेगी । इसके अतिरिक्त साँस से बाहर निकलने वाली कार्बन-डाइ-ऑक्साइड गैस और शरीर द्वारा परित्यक्त मल-मूत्र इत्यादि को भी शुद्ध करना आवश्यक होगा ।

पृथ्वी की कक्षागत उड़ान अथवा चन्द्रमा तक की वापसी यात्रा के लिए एक अन्तरिक्ष यात्री आसानी से पर्याप्त भोजन सामग्री और ऑक्सीजन ले जा सकता है । लेकिन वैज्ञानिकगण उस अन्तरिक्ष यान को किस प्रकार इन सभी जीवन सम्बन्धी अवश्यक वस्तुओं से सुसज्जित करें, जो कई सप्ताहों, कई महीनों अथवा वर्षों की अन्तरिक्ष यात्रा पर रवाना होने वाला हो ? एक पौण्ड भारी यन्त्रपुंज को अन्तरिक्ष में प्रक्षिप्त करने के लिए अत्यन्त प्रचण्ड धक्का देने की शक्ति की आवश्यकता पड़ती है । मंगल अथवा शुक्र ग्रह की लम्बी अन्तरिक्ष यात्रा पर रवाना होने वाला अन्तरिक्ष-यान भोजन सामग्री, जल और ऑक्सीजन टैंकों के भार से इतना भारी हो जायगा कि उसे प्रक्षेपण मंच से अन्तरिक्ष में प्रक्षिप्त कर पाना सम्भव न हो सकेगा ।

डा० आर्थर जे० पिलग्रिम एक ऐसे वैज्ञानिक हैं, जो नाना प्रकार के पौधों के रासायनिक तत्त्वों और विकास-प्रक्रिया का अध्ययन करने में अतिशय रुचि रखते हैं । डा० पिलिग्रिम बोइंग कम्पनी के सियेटल (वाशिंगटन) स्थित बायोस्ट्रोनौटिक्स विभाग की 'लाइफ स्पोर्ट सिस्टम यूनिट' (जीवन की रक्षा से सम्बन्धित यूनिट) के नेता हैं और वैज्ञानिकों के एक दल के अनुसंधान-कार्यों का निरीक्षण एवं संचालन करते है ।

डा० पिलग्रिम के नेतृत्व में कार्य करने वाली वैज्ञानिक टोली का एक मुख्य कार्य समस्या का समाधान खोजना है कि अन्तरिक्ष यान में भोजन सामग्री, जल और ऑक्सीजन की व्यवस्था करने और शरीर द्वारा परित्यक्त मल-मूत्र इत्यादि को ठिकाने लगाने अथवा शुद्ध करने की किस प्रकार व्यवस्था की जाए ताकि अन्तरिक्ष-यान का भार बढ़ने न पावे ।

इस समस्या को हल करने का एक उपाय तो यह है कि सम्पूर्ण अन्तरिक्ष यान को एक सीमित प्रणाली के रूप में परिणत कर दिया जाए। इस प्रकार की प्रणाली में जल, ऑक्सीजन, भोजन-तत्त्व और परित्यक्त पदार्थों के उत्पादन-विसर्जन की एक अनवरत प्रक्रिया जारी रहती है और इस प्रकार इनका बार-बार उपयोग करना सम्भव हो सकता है। डा० पिलग्रिम इस समय पौधों को आधार बना कर उक्त प्रणाली के सम्बन्ध में परीक्षण कर रहे हैं। प्रकाश के सम्पर्क में आ कर पौधे कार्बन-डाइ-ऑक्साइड और जल के संयोग से शर्करा तैयार करते हैं, जिससे पौधों के विकास के लिए आवश्यक शक्ति प्राप्त होती है। इस प्रक्रिया में, जिसे फोटोसेंथिसिस कहते हैं, ऑक्सीजन का निःसरण हो जाता है।

मानव शरीर द्वारा परित्यक्त मल-मूत्र इत्यादि में जल तथा वे रासायनिक पदार्थ काफी परिमाण में मौजूद रहते हैं, जिनका उपयोग पौधों द्वारा प्रोटीन, विटामिन तथा इसी प्रकार के अन्य पोषक तत्त्वों के निर्माण के लिए किया जाता है और कार्बन-डाइ-ऑक्साइड का विसर्जन मनुष्य स्वयं करता है, अतएव, मनुष्य शरीर द्वारा परित्यक्त मल-मूत्र इत्यादि को खाद के रूप में प्रयुक्त कर अन्तरिक्ष-यान में ऐसे कई प्रकार के पौधे उगाना सम्भव हो सकता है, जिनसे ऑक्सीजन का निःसरण हो और साथ ही भोजन-सामग्री भी प्राप्त हो।

प्रश्न यह है कि क्या सीमित प्रणाली अन्तरिक्ष-यान के अन्तर्गत ठीक प्रकार कार्य कर सकेगी? डा० पिलग्रिम का कहना है कि अन्तरिक्ष में पौधे भोजन के एकमात्र स्रोत सिद्ध हो सकते हैं। अतएव वे खाने योग्य और पर्याप्त पोषक होने के साथ ऐसे भी होने चाहिए, जिन्हें खाकर मानव अन्तरिक्ष यात्रियों की क्षुधा जाग्रत रहे। यदि भोजन क्षुधा-कारक नहीं हुआ, तो अन्तरिक्ष यात्री अपना कार्य पूरी मुस्तैदी से करने में मानसिक दृष्टि से पूरी तरह समर्थ नहीं रहेगा।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन पौधों को काफी परिमाण में कार्बन-डाइ-ऑक्साइड को शोषित करने तथा अपेक्षाकृत कम समय में पर्याप्त परिमाण में ऑक्सीजन का निःसरण करने में समर्थ होना चाहिए। भार की दृष्टि से इन पौधों की संख्या जितनी कम हो उतना ही अच्छा रहेगा। इसके अतिरिक्त ये पौधे ऐसे होने चाहिए कि मानव शरीर द्वारा परित्यक्त मल-मूत्र इत्यादि की खाद पाकर बढ़ सकें। इसके अतिरिक्त भारहीनता और ब्रह्मांड विकिरण का भी इन पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए।

डा० पिलग्रिम के नेतृत्व में काम करने वाली वैज्ञानिक टोली कई प्रकार के पौधों पर अपने परीक्षण कर रही है। प्रत्येक प्रकार के पौधे की, उसके भोजन-तत्त्व और ऑक्सीजन उत्पादन संबन्धी क्षमता, उसके बढ़ने की गति, आहार की दृष्टि से उसकी उपयोगिता, स्वाद और सीमित प्रणाली में उगने सम्बन्धी उसकी क्षमता को दृष्टि में रखते हुए सावधानी से परीक्षा की जा रही है। इस समय यह वैज्ञानिक टोली दो प्रकार के पौधों को लेकर अपना अनुसन्धान कर रही है। चौड़ी पत्ती के पौधे (डैण्डी-लियन, एनडाइव, कैवेज और लैटिक) तथा जल में उगने वाले कुछ अन्य पौधे।

चौड़ी पत्ती वाले पौधों को उगाने के लिए मिट्टी की आवश्यकता पड़ती है, लेकिन मिट्टी के कारण अन्तरिक्ष-यान के भार में वृद्धि हो सकती है। डा० पिलग्रिम इन पौधों को मानव शरीर द्वारा परित्यक्त मल-मूत्र और जल-मिश्रित द्रव में उगा रहे हैं। इस मिश्रित द्रव को सीधे उक्त पौधों की जड़ों पर छिड़का जाता है। लेकिन जल में उगने वाले कुछ पौधे इस दृष्टि से अधिक उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं। इन पौधों को एल्गी कहते हैं और इनका रूप बहुत साधारण और सामान्य होता है। इस जाति के बहुत से पौधों में तो केवल एक ही कोष होता है। इसमें कोई जड़, तना, पत्तियाँ, पुष्प या बीज नहीं होते। वैज्ञानिकों ने १० हजार से भी अधिक किस्म के एल्गी-पौधों का

पता लगाया है। इनमें से प्रत्येक किस्म अन्य सभी किस्मों से भिन्न है।

एल्गी कई रंगों की होती है—जैसे हरी, सफेद, नीली, हरी-लाल, भूरी और पीली। संसार के हर भाग में यहाँ तक की दक्षिणी ध्रुव प्रदेश में एल्गी की किस्में पाई जाती हैं। दक्षिणी ध्रुव प्रदेश में उगने वाली एल्गी का रंग लाल होता है। कुछ किस्म के एल्गी पौधे मीठे ताजे पानी में ही उगते हैं, जब कि कुछ एल्गी पौधे ऐसे भी होते हैं जो खारे पानी में अथवा भूमि पर उगते हैं।

डा० पिलग्रिम गहरे हरे रंग के एल्गी पौधे पर, जिसे क्लोरेला श्रेणी में रखा गया है, परीक्षण कर रहे हैं। इस किस्म की एल्गी की खोज टैक्सास में की गई थी और १०३ डिग्री फारेनहीट ताप में यह अच्छी तरह उगाई जा सकती है। यह किस्म केवल २३ घण्टे के अन्दर ही अपने भार में दुगनी वृद्धि कर लेती है और २३ घंटों में इस भार में पुनः दुगुनी वृद्धि हो जाती है। भार में वृद्धि की यह प्रक्रिया बराबर जारी रहती है।

इस किस्म की एल्गी की उल्लेखनीय विशेषता आहार की दृष्टि से इसकी उपयोगिता है। चूँकि एल्गी १०० प्रतिशत पोषक होती है, अतएव इसके 'कोष' में बेकार पदार्थ का अंश अत्यधिक न्यून रहता है। जिस किस्म की एल्गी पर परीक्षण किए जा रहे हैं, उसमें ५० प्रतिशत प्रोटीन, चिकनाई, कार्बोहाइड्रेट, खनिज तत्त्व और मनुष्य के लिए आवश्यक सभी प्रकार के विटामिन वर्तमान रहते हैं।

परीक्षण के समय इस एल्गी ने तीव्र गति से बढ़ने की अपनी क्षमता और आहार सम्बन्धी अपनी उपयोगिता का जो परिचय दिया है, उससे इस बात की सम्भावना हो गई है कि अन्तरिक्ष यात्रा के लिए उसे आहार के लिए चुन लिया जायेगा। ५ घन फुट स्थान में एक मनुष्य की दैनिक आहार-सम्बन्धी आवश्यकता पूरी करने के लिए पर्याप्त एल्गी उगाई जा सकती है। इतनी ही एल्गी से एक मनुष्य के लिए पर्याप्त ऑक्सीजन भी प्राप्त हो सकती है।

इस परीक्षणात्मक एल्गी की सफलता का यह अर्थ नहीं कि अन्तरिक्षयान में उगाने के लिए इससे उत्तमकोटि और किस्म की और कोई एल्गी नहीं सुलभ है। इसी कारण डा० पिलग्रिम और उनके सहायक इस परीक्षण के साथ-साथ अन्य हजारों किस्म की एल्गियों का भी अध्ययन कर रहे हैं। डा० पिलग्रिम ऐसे भी उपायों की खोज कर रहे हैं, जिनके द्वारा एल्गी अधिक क्षुधावर्धक बनाई जा सके। क्लोरेला किस्म की एल्गी का स्वाद लीमा सेमों की तरह होता है और उसकी गंध हरी घास जैसी लगती है। जब हरी एल्गी को प्रतिदिन प्रकाश में उगाया गया तो उसका रंग बदल कर बिल्कुल सफेद हो गया। इससे उसके स्वाद और गंध में भी कुछ अन्तर आ गया। इसके बाद कृत्रिम सुगंध मिला कर इसके स्वाद को अधिक रुचिकर बनाने में काफी हद तक सफलता प्राप्त कर ली गई है।

डा० पिलग्रिम एवं अन्य वैज्ञानिकों ने यह सुझाव दिया है कि अन्तरिक्ष यान में एल्गी को 'फोटो सेंथिसिस गैस एक्सचेंजर' नामक विधि के द्वारा उगाया जाए। इस विधि के अन्तर्गत मनुष्य द्वारा परित्यक्त मल-मूत्र को जीवाणुओं और रसायन तत्त्वों में परिवर्तित किया जाएगा। इसके उपरान्त इन परित्यक्त पदार्थों को जल और कार्बन-डाइ आक्साइड के साथ मिलाकर एक पाइप द्वारा काँच के बने उसे टैंक में पहुँचाया जाएगा, जिसमें एल्गी मौजूद हो। यह प्रतिदीप्त लैम्पों के प्रकाश से प्रकाशमान रहेगा। इस प्रकार फोटोसेंथिसिस प्रक्रिया के लिए पर्याप्त प्रकाश सुलभ रहेगा।

अन्य पाइप ऑक्सीजन और एल्गी की फसल को टैंक से बाहर ले जाएँगे। ऑक्सीजन सीधे अन्तरिक्ष यान के वातावरण में छोड़ दिया जाएगा। एल्गी को द्रव मिश्रण से छान लिया जाएगा और द्रव मिश्रण पुनः टैंक में लौट जायेगा। इसके उपरान्त छनी हुई एल्गी को सुखा लिया जाएगा और इसके उपरान्त आटे की तरह उसे पीस लिया

(शेष पृष्ठ ३४ पर)

विज्ञान वार्ता

१. बूढ़ों के लिए नये दिल

विख्यात सोवियत शल्य चिकित्साशास्त्री प्रो० शाबानोव का कहना है कि आगामी बीस वर्षों के अन्दर सोवियत शल्य चिकित्साशास्त्री नये दिल, गुर्दे, फेफड़े, कान और आँख प्रदान कर सकेंगे। प्रोफेसर ने कहा कि अनेक लोग ऐसा सोच सकते हैं कि मैं कपोलकल्पित बातें कर रहा हूँ "लेकिन उस क्षेत्र में जिसके बारे में हम बातें कर रहे हैं वास्तविकता बहुधा कल्पना को मात दे देती है।"

२. इलेक्ट्रॉनिक आँख

सोवियत संघ समेत अनेक देशों में इस समय वैज्ञानिक इलेक्ट्रॉनिक आँख के विकास में लगे हैं जिससे अन्धों को दृष्टि मिलेगी। सोवियत वैज्ञानिकों ने इस दिशा में अत्यन्त उत्साहवर्द्धक परिणाम प्राप्त किये हैं। फिलातोव क्लिनिक में सफलतापूर्वक आँख की पुतली लगायी जाती है।

३. रेडियो की गोलियाँ

एक बड़ी गोली के आकार के लघु रेडियो ट्रांसमीटरों का उपयोग अस्पतालों में मरीज की पाचन प्रणाली के बारे में स्पष्ट चित्र डाक्टर के सम्मुख प्रस्तुत करने के लिए किया जाता है। गोली की तरह निगल लेने पर ये ट्रांसमीटर जो तीन-चौथाई इंच लम्बे और चौथाई इंच मोटे होते हैं, पाचन प्रणाली से होकर जाते हैं। अम्लता, ताप या दाब गोली से मिलने वाले संकेत पर प्रभाव डालते हैं तथा रोगी के शरीर के निकट रखे एरियल के द्वारा यह संकेत ग्रहण कर लिया जाता है। ट्रांसमीटर को शक्ति प्रदान करने वाली बैटरी ७२ घंटे तक काम देती है तथा गोली जब शरीर की स्वाभाविक क्रिया के द्वारा शरीर से बाहर कर दी जाय, तो दूसरी बैटरी लगायी जा सकती है।

४. मुर्दों को जीवन

"मुर्दों को फिर से जीवित करने" अर्थात् जब डाक्टरी हिसाब से मृत्यु का आरम्भ हुआ हो, उसके बाद उसे फिर जीवित कर देने की विधि अब इतनी सुप्रमाणित हो गयी है कि सोवियत स्वास्थ्य मंत्रालय देश के अनेक भागों में विशेष "पुनरुज्जीवन केन्द्र" खोल रहा है। इन केन्द्रों में रेडियो नियंत्रित अम्बुलेंस सेवाओं की व्यवस्था रहेगी जिनमें अति दक्ष डाक्टर रहेंगे जो रोगी के घर पर या दुर्घटना-स्थान पर पुनर्जीवन क्रिया कर सकेंगे। प्रथम केन्द्र मास्को, लेनिनग्राद, रोस्तोव-आन-दोन तथा अन्य अनेक बड़े नगरों में खोले जाएँगे।

५. एक नयी रामबाण औषधि

गिनसेंग जड़ी के औषधीय गुणों के कारण उसके बारे में अनेक दन्तकथाएँ प्रचलित हैं। उसे सब रोगों की एक दवा कहा जाता है। परन्तु गिनसेंग दुर्लभ होने के कारण उसकी जड़ से तैयार होने वाली दवा बड़ी महँगी पड़ती है। उदाहरण के लिए प्रिमोर्ये प्रदेश में एक किलोग्राम गिनसेंग के लिए ५००० नये रूबल देने पड़ते हैं। इधर अनुसन्धानकर्ताओं ने एक नयी झाड़ी खोज निकाली है जो सोवियत सुदूरपूर्व में बहुत पायी जाती है। यह झाड़ी लम्बी होती है और इसकी पत्तियाँ गिनसेंग से मिलती-जुलती हैं तथा इसकी शाखाएँ और टहनियाँ काँटों से भरी रहती हैं। शायद इन्हीं सब कारणों से

इसे "मुझे मत छुओ", "शैतान की झाड़ी" और "जंगली मिर्च" कहा जाता है। इसका डाक्टरी नाम इल्यूथिरोकोकस है।

परीक्षणों से पता चला है कि इसकी जड़ में नशीलापन बहुत थोड़ा होता है। यह धमनीजन्य रक्तचाप तथा रक्त के शर्करा स्तर को कम करती है तथा शरीर में रोगों से लड़ने की क्षमता बढ़ाती है। फार्म के पशुओं पर इसके परीक्षण के अद्भुत फल निकले। जिन चूजों को इस पौधे का रस दिया गया, वे दो महीने के भीतर मुर्गी हो गये, गायों में दूध बढ़ गया और मधुमक्खियों ने ३० से ६० प्रतिशत तक अधिक शहद तैयार किया। मानव प्राणी पर भी इसके गुणों का परीक्षण किया गया है। यह मस्तिष्क के लिए गुणकारी है। सफेद चूहों पर इसके जो प्रयोग किये गये हैं, उनसे पता चलता है कि तीव्र विकिरणजन्य बीमारी को दूर करने और उसकी रोकथाम करने में यह उपयोगी है।

६. हृदय के अन्दर माइक्रोफोन

स्टेथोस्कोप डाक्टरों का पुराना और विश्वस्त है। हृदय की धड़कन के स्वरूप के आधार पर रोग का प्रकार निर्धारित किया जाता है। घर्षण की क्षीण आवाज भी हृदय के तन्तुओं से गुजरते हुए बढ़ जाती है और उसमें शत-प्रतिशत शुद्धता नहीं रहती। ऐसे हृदय-रोगों के लिए जिनमें शल्यक्रिया अपेक्षित है सूक्ष्म निदान आवश्यक है।

हृदय की धड़कन की जाँच पड़ताल के लिए आधुनिक रेडियो इंजीनियरिंग की उपलब्धियों का उपयोग करना सम्भव है। सोवियत संघ के एक क्लिनिक में लेनिन पुरस्कार विजेता प्रोफेसर पी०ए० कुप्रीयानोव के निर्देशन में अन्तर-हृदय मायक्रोफोन नामक एक नये यंत्र का इस्तेमाल किया जा रहा है।

२ मिलीमीटर व्यास के पियेजो सेरामिक ट्रंसड्यूसर, ध्वनिवर्धक और अंकनकारी इकाई के द्वारा प्रयोगकर्ता परीक्षा के दौरान हृदय के स्पन्दनों को सुन सकता है और विस्तृत विश्लेषण के लिए उनका फोनोग्राम प्राप्त कर सकता है।

७. उत्कल कृषि-महाविद्यालय का उद्घाटन

गत २४ अगस्त को भुवनेश्वर में उत्कल कृषि महाविद्यालय के रूप में एक नई भारतीय संस्था का जन्म हुआ। अमेरिकी राजदूत श्री जौन कैनेथ गैलब्रैथ ने उद्घाटन-भाषण देते हुए कहा कि मेरा यह सौभाग्य है कि इस संस्था के जन्म पर मैं वहाँ उपस्थित हूँ। उन्होंने कहा कि राधाकृष्णन्-रिपोर्ट में जो सुझाव रखे गये थे, उन्हें इस संस्था की स्थापना द्वारा पहली बार पूरा किया जा रहा है और कम से कम कुछ हद तक उस ढंग की यह पहली संस्था है जिसके नमूने पर भारत के अन्य राज्यों में भी संस्थाएँ स्थापित की जायेंगी।

राजदूत ने कहा कि मुझे गर्व है कि इस संस्था की योजना बनाने और उसकी स्थापना में अमेरिका ने भी कुछ योग दिया है। उन्होंने अमेरिका के सरकारी कानून-४८० के कोष से महाविद्यालय को काफी सहायता प्राप्त होने का विश्वास दिलाया। इसके अतिरिक्त उन्होंने कहा : "हम मिसूरी विश्वविद्यालय को इस बात के लिए प्रेरित करने का पूरा प्रयत्न करेंगे कि जब तक आपको कठिनाइयों से भरे इन प्रारम्भिक वर्षों में उसकी सहायता की आवश्यकता है......तब तक वह यहाँ अपना काम जारी रखे।"

उत्कल कृषि महाविद्यालय की स्थापना 'विश्वविद्यालय शिक्षा-कमीशन की सिफारिशों को ध्यान में रख कर की गई है। राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् इस कमीशन के अध्यक्ष थे। इस महाविद्यालय में कृषि को आधार बना कर व्यापक सामान्य शिक्षा दी जायेगी। महाविद्यालय छात्रों को खेत के बन्दोबस्त, ग्रामवासियों के मार्गदर्शन अनुसन्धान तथा अध्यापन का प्रशिक्षण देगा।

राधाकृष्णन्-रिपोर्ट में की गई सिफारिशों के अनुसार भुवनेश्वर में छात्र कृषि तथा आधारभूत

विज्ञानों, कृषि तथा देश के शेष आर्थिक जीवन एवं समाज के देहाती और शहरी लोगों के आपसी सम्बन्धों की स्पष्ट जानकारी प्राप्त करेंगे।

अमेरिकी शिक्षा-शास्त्रियों तथा अमेरिकी सरकार ने राधाकृष्णन् रिपोर्ट को देख कर यह अनुभव किया था कि विश्वविद्यालय शिक्षा-आयोग ने जो लक्ष्य निर्धारित किया है उसे पूरा करने में भारत को मदद दी जानी चाहिए, और इसी बात को दृष्टि में रखते हुए १९५६ में मिसूरी विश्वविद्यालय के प्रबन्ध-अधिकारी जे० एच० लौंगवैल को उड़ीसा भेजा गया था।

तभी से मिसूरी विश्वविद्यालय उत्कल कृषि महाविद्यालय की स्थापना के कार्य में उड़ीसा-सरकार को सहयोग देता आया है। १९६१ में जब मिसूरी विश्वविद्यालय के अध्यक्ष एलमर ऐलिस उड़ीसा पहुँचे तो वह इस बात से बड़े प्रभावित हुए कि उड़ीसा-सरकार कृषि महाविद्यालय की स्थापना के लिए बड़े उत्साह और समझदारी के साथ प्रयत्नशील है। इस महाविद्यालय में अनुसन्धान, अध्यापन तथा ज्ञान-प्रसार के तीनों कार्य साथ-साथ किये जाते हैं।

मिसूरी विश्वविद्यालय तथा अमेरिका की अन्तर्राष्ट्रीय विकास एजेन्सी की ओर से नये महाविद्यालय को आगे भी सहायता दी जाती रहेगी। मिसूरी विश्वविद्यालय अगले चार या पाँच वर्षों में विश्वविद्यालय के प्रबन्ध-कार्यों तथा कृषि के विवध क्षेत्रों के ८-१० विशेषज्ञों की सेवा प्रदान करेगा। वह ३० से लेकर ४० शिक्षकों और प्रबन्ध-अधिकारियों को मिसूरी विश्वविद्यालय में प्रशिक्षण भी देगा।

८. ३०० वर्ष पुरानी घड़ी

सोवियत संघ में तीन सौ वर्ष पुरानी एक घड़ी 'बाक्स' है। अज्ञात कारीगर द्वारा बनायी गयी इस घड़ी की बनावट इतनी जटिल है कि २०० वर्ष तक इसकी मरम्मत करने के लिए किसी कारीगर की हिम्मत नहीं हुई। इस अवधि में घड़ी बन्द पड़ी रही। बाद में उसे सोवियत घड़ी-साजों ने चालू किया। इस समय यह घड़ी क्रेमलिन-शस्त्रागार के संग्रह में रखी हुई है।

९. धूप से सर्दी प्राप्त करना

क्या धूप से सर्दी उत्पन्न की जा सकती है? इसका उत्तर तुर्कमेनिस्तान और यूक्रेन के वैज्ञानिकों ने निश्चयात्मक ढंग से दिया है। उन्होंने एक रेफ्रिजरेटर रूपांकित किया है जो कमरे के अन्दर का ताप आसपास के वातावरण की तुलना में १०-१२ डिग्री सेंटीग्रेड घटा देता है। इस ढंग का पहला उपकरण रूस के एक सबसे गर्म नगर आश्खाबाद में बनाया गया है।

१०. वृक्ष भी तापेंगे

वसन्त के दिनों में पाला पड़ने के समय नीबू जाति के वृक्षों को गर्म करने के लिए प्राकृतिक गैस का प्रयोग किया जा रहा है। पेड़ों की कतारों के बीच पड़े पत्थरों को गैस द्वारा तेज आँच से तपाया जाता है जिससे आसपास की हवा की गर्मी बढ़ जाती है। गैस के नल गर्मियों में पेड़ों को सींचने और फुहारा देने के लिए काम में लाये जाते हैं।

११. व्हेल मछली, जमीन पर रहती था

कुरील टापुओं के आस-पास समुद्र में सोवियत मछुओं ने एक अनूठी किस्म की व्हेल का शिकार किया है। इसके भारी शरीर के पृष्ठ भाग में एक जैसे आकार की दो 'टाँगें' लगी हुई हैं। कूल्हे की हड्डियाँ पूरी तरह बढ़ी हुई नहीं हैं। वैज्ञानिक इसे 'अटाविज़्म' अर्थात् पुरखों की विशेषताओं के फिर से प्रकट होने का दिलचस्प उदाहरण मानते हैं। इससे इस बात की पुष्टि होती है कि बहुत समय पहले ह्वेल मछली जमीन पर रहा करती थी।

१२. शुक्र ग्रह में जीवन

शुक्र ग्रह के वायुमण्डल के ऊपरी परतों में जीवन के लिए अनिवार्य परमाणु आक्सीजन है। इसका पता क्रीमिया की नक्षत्र-भौतिकी वेधशाला के

वैज्ञानिक व्लादिमिर प्रोकोफयेव ने लगाया है। सोवियत ज्योतिर्विज्ञानविद् ने शुक्र ग्रह की अद्भुत वर्णावली के सांगोपांग अध्ययन पर ये निष्कर्ष आधारित किये हैं। एक विशाल सौर दूरवीक्षण यंत्र के प्रयोग द्वारा तथा विशेष ढंग से बनाये गये स्पेक्ट्रोग्राफ द्वारा इन वर्णावलियों की उपलब्धि हुई है।

यह सर्वविदित है कि शुक्र ग्रह के वायुमण्डल में कार्बन-डाइ-ऑक्साइड है। अब तक दुनिया के किसी भी वैज्ञानिक ने रात्रिकालीन आकाश की आभा एक से अधिक वर्णावलि की उपलब्धि नहीं की थी। यह आश्चर्यजनक उपलब्धि पुल्कोवो वेधशाला के प्रसिद्ध वैज्ञानिक निकोलाई कोर्जारेव ने की है। यह वर्णावलि शुक्र ग्रह के वायुमण्डल में नाइट्रोजन की उपस्थिति का द्योतक है।

इन सभी बातों से वैज्ञानिकों का विश्वास है कि शुक्र ग्रह में जीवन विद्यमान है।

१३. पृथवी का प्रसार

प्रसिद्ध सोवियत वैज्ञानिक इवानेंको और सागीतोव इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि पृथ्वी का प्रसार हो रहा है। हर सौ वर्ष में इसका व्यास ६·८ सेंटीमीर बढ़ रहा है।

१४. ड्राइवर विहीन रेलगाड़ी

इलेक्ट्रॉनिक यंत्र द्वारा चालित विद्युत् रेलगाड़ी की जाँच-परख मास्को-लेनिनग्राद रेलवे लाइन पर की जा रही है। "स्वयंचालित ड्राइवर" ड्राइवर के सभी कार्य समुचित रूप में सम्पन्न करता है इससे रेलगाड़ी की गति प्रति घंटा क्रमश: १०० किलोमीटर हो जाती है। मशीन सिगनल की रोशनी को अच्छी तरह समझती है और तदनुकूल कार्य करती है।

१५. चन्द्रमा के रेडियोसक्रिय होने के प्रमाण

अमेरिकी वैज्ञानिकों को इस बात का प्रथम प्रमाण प्राप्त हुआ है कि चन्द्रमा रेडियोसक्रिय है। मनुष्य को चन्द्रमा पर उतारने के पूर्व इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को दृष्टिगत रखना आवश्यक होगा।

डा० रिचर्ड डब्ल्यू पोर्टर ने बताया कि विशेष यन्त्रों से युक्त एक रॉकेट ने इस बात की खोज की है कि चन्द्रमा से तथाकथित माध्यमिक एक्स-किरणों का निस्सरण हो रहा है। ये एक्स किरणें सूर्य तथा नक्षत्रावलियों वाले अन्तरिक्ष से चन्द्रमा पर ब्रह्माण्ड किरणों की निरन्तर वर्षा होती रहने के कारण उत्पन्न होती है। इसके पूर्व वैज्ञानिकों ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था कि चन्द्रमा पर इन एक्स-किरणों का अस्तित्व होने की सम्भावना है।

डा० पोर्टर ने बताया कि चन्द्रमा के रेडियो-सक्रिय होने का प्रमाण संवेदनशील गीगर गणक-यन्त्रों द्वारा प्राप्त हुआ। इन्हें पृथ्वी से २०० किलोमीटर से कुछ कम ऊँचाई पर दागे गये रॉकेट के अंशु भाग में रख कर अन्तरिक्ष में भेजा गया था। इन्हें एक अत्यन्त ऊँचाई पर पहुँचने वाले रॉकेट पर इस बात का पता लगाने के लिए भेजा गया था कि उतनी दूरी पर चन्द्रमा से निस्तृत एक्स-विकिरण को ढूँढ़ निकालना सम्भव है या नहीं। डा० पोर्टर ने बताया कि चन्द्रमा से निस्सृत एक्स विकिरण को उतनी दूरी पर ढूँढ़ लेना सम्भव हो गया। पृथवी से चन्द्रमा की दूरी लगभग २,३०,००० मील है।

१६. बर्फ के कृत्रिम बादल का निर्माण

अन्तरिक्ष के सम्बन्ध में खोजबीन करने वाले अमेरिकी वैज्ञानिकों ने विशाल सैटर्न रॉकेट को छोड़ कर पृथ्वी से ६५ मील ऊपर बर्फ का एक विशाल कृत्रिम बादल बनाने में सफलता प्राप्त की।

सैटर्न रॉकेट को फ्लोरिडा में केप कैनेवेरल के अड्डे से पिछले सप्ताह छोड़ा गया था। १६२ फुट लम्बा यह राकेट अब तक संसार में सबसे शक्तिशाली और विशाल रॉकेट माना जाता है। रॉकेट के ८ इंजनों से ३ करोड़ हॉर्सपावर की प्रहार-क्षमता उत्पन्न हुई। एक गौण वैज्ञानिक परीक्षण के लिए इसे बाद में पृथ्वी से संकेत देकर नष्ट कर दिया गया।

जब रॉकेट फटा तो उसके नकली हिस्सों में रखा ९५ टन पानी बाहर निकल पड़ा और उस से थोड़ी देर के लिए हिमकणों वाला विशाल बादल बन गया।

"अन्तरिक्ष में बादल" का यह परीक्षण अमेरिकी हवाबाज की अन्तरिक्ष-यात्रा के कार्यक्रम के लिए इस दृष्टि से किया गया था कि वैज्ञानिक इससे नई जानकारी प्राप्त कर सकें। इस परीक्षण से अयनमण्डल के बारे में कुछ और जानकारी मिलेगी और यह भी पता चलेगा कि यदि पृथ्वी से ५० मील ऊपर पानी तत्वों से मिले तो अयनमंडल रेडियो-संकेतों को किस प्रकार प्रतिध्वनित करता है।

१९६४ से पहले 'सैटर्न' रॉकेटों द्वारा ८ और परीक्षण किये जाने की योजना है। उसके बाद द्विखण्डीय 'सैटर्न' रॉकेट द्वारा एक ऐसे 'अपोलो' अन्तरिक्षयान को पृथ्वी की कक्षा में भेजा जायेगा, जिसमें ३ व्यक्ति सवार होंगे। आशा है कि १९६६-६७ तक सैटर्न रॉकेट की सहायता से एक अपोलो-यान चन्द्रमा की परिक्रमा करने के लिए भेजा जा सकेगा।

यह भी योजना है कि सैटर्न रॉकेट से वैज्ञानिक अनुसन्धान के विशाल यन्त्र-पुंजों को चन्द्रमा, मंगल और शुक्र ग्रहों पर भेजा जाये। ●

'विज्ञान' के पाठकों को जानकर प्रसन्नता होगी कि विज्ञान परिषद, प्रयाग के प्रधानमंत्री, डॉ० रमेश चन्द्र कपूर, १ वर्ष के लिये विदेश यात्रा पर २८ सितम्बर, १९६२ को प्रयाग से प्रस्थान कर चुके हैं।

वे कुछ दिन यूरप में भ्रमण करने के पश्चात् संयुक्त राज्य अमेरिका में रहेंगे।

उनकी यह यात्रा वैज्ञानिक अनुसान्धानों के सम्बन्ध में है।

शेषांश पृष्ठ ३ का

चार्ल्स केटरिंग का कहना है "—बहुत से आविष्कार घटना के कारण ही हो सके हैं जो कि अनुसंधानकर्त्ता के किसी दिशा में अचानक प्राप्त परिणामों पर आधारित हैं। लेकिन कोई भी मनुष्य शान्ति से खड़ा रहने पर ठोकर नहीं खाता या लड़खड़ाता नहीं। वह तभी लड़खड़ाता है जब वह गतिमान होता है। इसलिए अनुसंधान में बुद्धिमानी से शान्त खड़ा रहने की अपेक्षा लड़खड़ाते रहना ही अधिक महत्त्वपूर्ण है।" ●

शेषांश पृष्ठ १६ का

निर्माण तभी हो सकता है जब निम्न ५ अनुकूल परिस्थितियाँ उपस्थित हों :

(क) उस (बन्धक) के कण १-ई μ (म्यू) व्यास के हों।

(ख) बन्धक की धनापन-विनियम क्षमता बहुत कम हो।

(ग) इस बन्धक में विनिमेय आयनों की संख्या कम हो तथा जटिल कार्बनिक-विनिमेय धनायन पूर्ण रूप से अनुपस्थित हों।

(घ) वह लेई जिसमें मृदुकण का निर्माण हो वह ऐसे तरल में मिश्रित हों जिनके अणु द्विध्रुवीय हों। इस प्रकार यदि मृत्तिका की लेई शुद्ध अध्रुवीय हाइड्रोकार्बन में बनी हो तो बन्धन नहीं बन सकता। ●

शेषांश पृष्ठ २८ का

जाएगा। कृत्रिम सुगंधों की सहायता से एक अन्तरिक्ष रसोइया इस चूर्ण से नाना प्रकार के भोजन तैयार कर सकेगा। जब एल्गी को पाठशाला में परीक्षण करने का अवसर आया तो डा० पिलग्रिम ने इस कार्य में अपनी १६ वर्षीया पुत्री विकी की सहायता ली। विकी ने हरी और सफेद एल्गी से कुछ छोटे-छोटे केक तैयार किए। कुछ केक हरी एल्गी के आटे से तैयार किए गए। इसके उपरान्त हल्का रंग मिला कर सामान्य आटे के कुछ केक तैयार किए गए। तीसरी श्रेणी के केकों में सामान्य आटे का उपयोग किया। एक और प्रकार के केक तैयार किए गए जिसमें सफेद एल्गी के आटे का इस्तेमाल हुआ। इन सभी प्रकार के केकों को अनेक व्यक्तियों ने चख कर देखा परन्तु उनमें से कोई भी एल्गी से तैयार किए गए केकों और सामान्य आटे से तैयार किए गए केकों में अन्तर नहीं अनुभव कर पाया।

●

१. अंग्रेजी की पढ़ाई

इधर कुछ दिनों से राष्ट्रीय एवं भावात्मक एकता के नाम पर यह नारा बुलन्द किया जाने लगा है कि बिना अंग्रेजी के यह कार्य सम्भव नहीं हो सकता। तदनुसार शिक्षाशास्त्रियों ने अंग्रेजी को तृतीय कक्षा से ही पढ़े जाने की न केवल सिफारिश की है वरन् उसे कार्य रूप में परिणत होने की व्यवस्था भी करा दी है।

आश्चर्य की बात तो यह है कि पराधीनता काल में जिस अंग्रेजी भाषा को हमने दासता का प्रतीक माना था, वही अब हमें प्रगति की निसेनी प्रतीत होने लगी है। न केवल वैज्ञानिक प्रगति के लिये अंग्रेजी आवश्यक समझी जाने लगी है, वरन् भावात्मक एकता के लिये भी वह संजीवनी बूटी का काम करेगी।

स्वाधीनता प्राप्त करने के १५ वर्ष बाद तथा हिन्दी के राष्ट्र भाषा घोषित होने के १२ वर्ष बाद इस प्रकार की उल्टी गङ्गा बहाना राजनीतिक कुशलता हो सकती है। बहकावे में आकर पदलोलुप लोग कुछ दिनों तक अंग्रेजी का समर्थन भले ही करते रहें किन्तु बाद में उन्हें पता चलेगा कि अंग्रेजी की नींव सदा के लिए ध्वस्त हो चुकी है और उस अंग्रेजी प्रासाद के अन्तर्गत हिन्दी का भव्य प्रासाद स्वतः निर्मित हो गया है।

अंग्रेजी को तीसरी श्रेणी के अबोध बालकों पर लादकर उनके मस्तिष्कों पर जो बोझा लादा जा रहा है उसका उद्धार स्वतः होगा। हमारे देश में हिन्दी की जड़ें ऐसी जमी हैं कि उस पर किसी दूसरी भाषा का बिरवा नहीं पनप सकता।

२. गृहमन्त्री का आगमन

गत १५ सितम्बर को विज्ञान परिषद् के ४९ वें वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर हमारे देश के गृह-मन्त्री, श्री लालबहादुर जी शास्त्री, मुख्य अतिथि के रूप में भाषण करते हुये हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य के सृजन की ओर अधिकाधिक ध्यान देने की राय प्रकट की। उन्होंने बताया कि जब वे जेल में थे तो उन्होंने मैडम क्यूरी की जीवनी का अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद किया था। वे विज्ञान के विद्यार्थी न होते हुये भी वैज्ञानिकों की कार्यनिष्ठा एवं उनके त्याग से अत्यधिक प्रभावित हैं।

विज्ञान परिषद् की हिन्दी सेवाओं से अवगत होने के उपरान्त उन्होंने केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय द्वारा किये जाने वाले कार्य की चर्चा की और यह इच्छा प्रकट की परिषद् निदेशालय की लक्ष्यपूर्ति में सहायक बने।

गृहमन्त्री ने विज्ञान परिषद् की स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर, जो अगले वर्ष मनाई जावेगी, हाल निर्माण के लिये सम्भव समुचित सहायता देने का वचन भी दिया।

राष्ट्रीय बचत विभाग के लिए सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, द्वारा प्रचारित।

विज्ञान

भाग ९६
संख्या २
कार्तिक
सं० २०१९ वि०
नवम्बर १९६२

'विज्ञान परिषद् प्रयाग का मुख पत्र

प्रति अंक ४० न. पै.
वार्षिक ४ रुपये

सम्पादक—डॉ० शिवगोपाल मिश्र

विज्ञान परिषद्, प्रयाग

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन् जतानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ।३।५।

भाग ९६ | कार्तिक २०१९ विक्र०, १८८४ शक नवम्बर १९६२ | संख्या २

भूमि संरचना एवं कृत्रिम भूमि-सुधारक

रमेश चन्द्र तिवारी

भूमिगत वन्धक पदार्थ

पूर्ववर्ती लेख में मृत्तिका खनिज की वन्धन-क्रिया का वर्णन किया जा चुका है। कठोर मृदुकणों का निर्माण तभी होता है जबकि बन्धक पदार्थों को मिथाइल अथवा इथाइल एलकोहोल में व्यासारित करके प्रयोग किया जाता है तथा कोमल एवं अस्थायी समुच्चयों का निर्माण बन्धक पदार्थों को नाइट्रोबेंजीन में व्यासारित करके प्रयोग करने से होता है।

मृत्तिका-खनिज द्वारा समुच्चय-बन्धन उनके स्वतंत्र बन्धों के कारण होता है। इन बन्धों एवं शृंखलाओं की उत्पत्ति व्यासारण-तरल के उन आण्विक ध्रुवों के संयुक्त प्रभाव से होती है जो कि मृत्तिका खनिज की सतह पर विद्यमान विनिमेय-धनायनों के धनात्मक आवेश तथा बचे हुए ऋणात्मक आवेश से प्राप्त होते हैं। इस प्रकार इन बन्धों तथा शृङ्खलाओं के आपस में संयुक्त होते समय मृदा-कण भी उनके बीच बँधते जाते हैं। मृत्तिका खनिज के स्वतंत्र बन्धों का संयोग निम्न प्रकार से होता है।

+   −   +   −

विन्यासित द्विध्रुव—धनायन—विन्यासित द्विध्रुव

लोह-हाइड्रॉक्साइड, बन्धक पदार्थ के रूप में

लोह हाइड्रॉक्साइड को अकेले तथा अन्य कार्बनिक पदार्थों के साथ, भूमि में डालने से मृदा-कणों का समुच्चयन हो जाता है। कभी-कभी तो भूमि के **ब-संस्तर** में लोहे की एक कठोर पर्त निर्मित हो जाती है। लूज (१९३७) ने बताया कि दक्षिणी-पूर्वी-संयुक्त राज्य में लेटराइट का निर्माण लोह-ऑक्साइड एवं लोह-हाइड्रॉक्साइड का मृदा के कणों के साथ संयोग करने से होता है।

कार्बनिक पदार्थ बन्धक के रूप में

मृदा-संरचना को कृषि कर्मों के योग्य बनाये रखने में कार्बनिक पदार्थों का मुख्य हाथ होता है। यह अनुमान लगाया गया है कि कार्बनिक पदार्थों के विघटन के फलस्वरूप प्राप्त ह्यूमिक अम्ल तथा अन्य कार्बनिक अम्ल सूखकर गोंद के रूप में आ जाते हैं और यही गोंद मृदा-णों को संघट्टित कर देते हैं। कुछ भूमि विशेषज्ञों का

मत है कि सेल्यूलोज़ तथा हेमीसेल्यूलोज़ के विघटन के फलस्वरूप एक चिपकने वाला पदार्थ (जिसे म्यूकस के नाम से पुकारते हैं) प्राप्त होता है जो सूक्ष्म कणों को आपस में बाँध देता है।

इनके अतिरिक्त भूमि-जीवाणु भी समुच्चय निर्माण में हाथ बटाते हैं। कीटाणुओं के माइसीलिया तथा तन्तुओं के भूमि में जाल रूप में फैलने से उनके बीच में पड़े मृदा-कणों का बन्धन हो जाता है। इनके साथ पेड़ों की प्राथमिक, द्वितीयक जड़ें भी कुछ सीमा तक कणों का संघट्टन करने में सहायक होती हैं।

भूमि सुधारक

"भूमि सुधारक" शब्द का प्रयोग उन विभिन्न पदार्थों के लिए किया जाता है जिनको भूमि में डालने से भूमि की भौतिक दशाओं में परिवर्तन हो जाता है जिससे भूमि कृषि-कार्यों के योग्य बन जाती है। भौतिक दशाओं में परिवर्तन भूमि की संरचना में अदल-बदल के कारण होता है। उदाहरण के लिए, बलुई भूमि में इसे डालने से उसकी जलधारण शक्ति एवं हवा आदि की प्रवेश्यता नियमित हो जाती है। यह सुधार कणों के आपस में एकत्र होने के कारण होता है। उसी प्रकार बहुत ही कठोर एवं अरंध्र भूमियों में इनको डालने से वे सरंध्र हो जाती हैं तथा पौधों की जड़ों का फैलाव उचित रूप से होने लगता है। पेनसिलवेनिया राज्य विश्वविद्यालय के कृषि-विद्यालय में आर० बी० एल्डरफर ने भूमि सुधारकों के प्रयोग एवं उनसे अधिकतम लाभ की प्राप्ति के हेतु बहुमूल्य अनुसंधान किया है।

भूमि सुधार को मुख्य तीन भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है :—

(१) **मृदा-विन्यास को प्रभावित करके संरचना में परिवर्तन करने वाले अक्रिय पदार्थ :**—जैसे, बालू, कंकड़, चट्टानों का चूरा, कोयले की राख, वर्मीकुलाइट मृत्तिका खनिज, काँच-ऊर्ण (ग्लास वुल) इत्यादि। प्रथम चार एवं अन्तिम पदार्थ मुख्यरूप से कठोर, भारी तथा सूक्ष्म कणों वाली भूमि में डाले जाते हैं। जिनके प्रभाव से भूमि न्यूनाधिक रूप से रंध्रयुक्त तथा अच्छी तरह समुच्चित हो जाती है।

(२) **पौधों एवं जीव-जन्तुओं से प्राप्त पदार्थ :**—जीवजन्तुओं से विसर्जित पदार्थ, उनके अवशेष तथा पेड़-पौधों के जड़, तने, शाखायें एवं पत्तियों से भी भूमि की भौतिक अवस्था में परिवर्तन किया जा सकता है। इनके विघटन के फलस्वरूप प्राप्त तमाम कार्बनिक एवं अकार्बनिक पदार्थों से परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से भूमि संरचना में अदल-बदल होता रहता है। उदाहरण के लिए लकड़ी का बुरादा, पीट, अनाजों का अवशेष, लकड़ीदार तने, घासें एवं लताओं का उपयोग किया जाता है।

(३) **कृत्रिम रासायनिक भूमि सुधारक :**— इस भूमि-सुधारक समूह के अन्तर्गत वे बहु-विद्युत्विश्लेष्य रासायनिक पदार्थ आते हैं जो बन्धक का कार्य करके मृदा-कणों को कृत्रिम समुच्चयों का रूप प्रदान करते हैं। रासायनिक भूमि-सुधारक को निम्नलिखित दो भागों में बाँटा जा सकता है।

(१) केवल एक यौगिक के बहुलकीकरण से प्राप्त रेजिन तथा (२) मिश्रण के बहुलकीकरण से प्राप्त सह-बहुलक-रेजिन का जलविश्लेपित (बहुलक)। प्रथम श्रेणी के अन्तरगत HPAN, (एक्रिलोनाइट्राइल) मुख्यरूप से, **गुडराइट के-७००, एरोटिल** तथा **क्रिलियम-६** यही तीन रेजिन प्रयोग किये जाते हैं। द्वितीय श्रेणी में उपलब्ध सह-बहुलकों में VAMA यौगिक (विनाइल एसीटेट मैलिक अम्ल के यौगिक) तथा IBMA के सह-बहुलक, आइसोब्यूटाइल एवं अर्द्ध-अमोनिया लवण और अर्द्ध मैलिक अम्ल के एमाइड आदि हैं। इस श्रेणी में उपर्युक्त सह-बहुलक से संयुक्त रेजिन के-२१२ भी हैं।

इनके अतिरिक्त CMC—१२० (कार्बाक्सी-मिथाइल सेल्यूलोज़) तथा ३ भाग VAMA क्रिलिएम — ६ + १ भाग HPAN एवं १ भाग क्रिलियम-

६ के मिश्रण ACP (२०-२०-२० के अनुपात में) का भी प्रयोग किया जाता है।

किसी भी भूमि-सुधारक की समुच्चयन क्षमता का ज्ञान निम्नलिखित तीन बातों पर आधारित है—

(१) उसकी कण बन्धक क्षमता :—एक सुधारक की एक निश्चित मात्रा किस आकार के कितने कणों को समुच्चयित कर सकती है।

(२) उसके उपयोग से कोई विषालुता रोग तो नहीं होता तथा भूमि में उपस्थित खाद्य-तत्वों की उपलब्धि एवं स्थिरीकरण पर कोई प्रभाव तो नहीं पड़ता। तथा

(३) उस भूमि-सुधारक को डालने के पश्चात् उसके भूमि में उपस्थित रहने तथा बन्धक-कार्य करने की अवधि क्या है।

समुच्चयों को स्थाई एवं कठोर बनाने वाले विभिन्न कृत्रिम भूमि-सुधारकों की कण-बन्धक क्षमता को उनकी प्रयुक्त मात्रा, पी-एच, भूमि प्रकार एवं वाष्प अनुर्वरीकरण आदि कारक न्यूनाधिक रूप से प्रभावित करते हैं। भूमि-सुधारकों के खेत में डालने का समय, उनकी प्रयुक्त अवस्था (तरल अथवा ठोस), भूमि-ताप तथा जलवायु का भी उनकी क्रियाओं पर अपरोक्ष प्रभाव पड़ता है।

(क) भूमि सुधारकों की मात्रा :—०·१८ प्रतिशत अथवा ३६०० पौंड प्रति एकड़ तक सुधारकों को भूमि में डालने से समुच्चयन में वृद्धि होती है। VAMA की मात्रा प्रत्येक ०·०१ प्रतिशत अथवा २०० पौंड प्रति एकड़ बढ़ाने पर अधिकतम समुच्चयन देखा गया है जबकि HPAN के प्रयोग से ऐसे फल नहीं प्राप्त हुए हैं। VAMA के प्रयोग से केवल बड़े आकार (>०·२ मि० मी०) के समुच्चयों की संख्या में वृद्धि होती है जबकि HPAN के प्रयोग से सभी आकार के समुच्चयों की मात्रा बढ़ जाती है।

(ख) मृदा-विन्यास :—मृदा के सूक्ष्म कणों (>०·२५ मि० मी०) की उपस्थिति में >०·२५ मि० मी० वाले समुच्चय के निर्माण में सुधारकों की कम मात्रा आवश्यक होती है और >०·२५ मि० मी० से बड़े कणों वाली भूमि में समुच्चयन के हेतु सुधारकों की अधिक मात्रा लगती है। अतः कण जितने बड़े होंगे समुच्चयन के लिए सुधारकों की उतनी ही अधिक मात्रा आवश्यक होगी।

सारिणी

एविंगसविले की भूमि पर भूमि-सुधारकों के प्रयोग से प्राप्त फल :

भूमि सुधारक पदार्थ	समुच्चयन %			कुल रंध्र स्थान %	पारगम्यता इंच /घंटा
	२·०मी० मी०	१·०० मी० मी०	>०·२५ मी० मी०		
भूमि सुधारक-रहित	१·२	२·६	१७·६	५५·५	४·२४
VAMA + HPAN + ACP	८·६	१७·५	४१·७	५७·०	८·२०
VAMA क्रिलियम-६	११·८	२३·७	४९·६	५६·८	७·५४
HPAN एरोटिल	१२·५	२२·२	४५·१	५६·१	५·४६
HPAN गुडराइट के–७००	२·३	१६·६	४०·२	५७·६	६·०५
CMC–१२०	१·७	५·७	३१·६	५६·२	४·५६

(ग) भूमि पी-एच :—न्यून पी-एच वाली मृदाओं में उसी मात्रा के HPAN तथा VAMA द्वारा समुच्चयन, उन्नतम पी-एच वाली मृदाओं की अपेक्षा कम होता है। इसलिए अम्लीय भूमियों में समुच्चयन के लिए सुधारकों की अधिक मात्रा आवश्यक होती है तथा क्षारीय मृदाओं के लिए अपेक्षाकृत कम।

(घ) वाष्प अनुर्वरीकरण का प्रभाव :—भूमि का अनुर्वरीकरण करने के लिए जो वाष्प भूमि में प्रयोग की जाती है उसका मृदा-समुच्चयन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और न तो भूमि-सुधारकों की क्रियायें ही प्रभावित होती हैं।

उपर्युक्त सारिणी से स्पष्ट है कि भौतिक दशाओं को सुधारने की क्षमता के अनुसार भूमि सुधारकों को इस प्रकार लिखा जा सकता है।

VAMA–क्रिलिएम-९ = HPAN एरोटिल > VAMA + HPAN + ACP > HPAN गुडराइट के-७०० > CMC – १२०।

भूमि में सुधारकों का प्रयोग करने से पूर्व उस भूमि का यांत्रिक विश्लेषण अत्यन्त आवश्यक है। इसके द्वारा मृत्तिका खनिज, बालू, सिल्ट आदि की मात्रा मालूम करके ही भूमि-सुधारकों की मात्रा निश्चित की जा सकती है।

एल्डरफर के बृहत अनुसंधानों से प्राप्त फलों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भूमि-सुधारकों के प्रयोग से भूमि की ऊपरी ६" की मृदा पूर्णतया परिवर्तित हो जाती है और उसमें फसलोत्पादन काफी बढ़ जाता है। अतः हमारे देश में निरर्थक पड़ी मृदा जो या तो बलुई है या बहुत भारी है उनको उपर्युक्त सुधारकों के प्रयोग से कृषि-उत्पादन योग्य बनाया जा सकता है।

भौतिकी—न्यूटन से आइन्स्टाइन तक

शमीम अहमद

एक ही अनुभव जब विभिन्न व्यक्तियों द्वारा समान रूप से देखा जाता है तो उस घटना को भौतिक घटना कहते हैं। उसकी घटित होने की व्यवस्था का कारण बताने के हेतु जो ढाँचा बनाया जाता है उसे भौतिक-सिद्धान्त कहते हैं। परन्तु भौतिक सिद्धान्त प्रमाणित अवस्था को तथा प्रथम अवस्था को परिकल्पना कहते हैं। जब सिद्धान्तों द्वारा पुष्टि हो जाती है तो घटना से प्राप्त तथ्य को भौतिक-नियम कहते हैं। इस निबन्ध में भौतिकी के प्रमुख सिद्धान्तों में जो समय-समय पर परिवर्तन हुए हैं उनको देखने का प्रयत्न हम करेंगे यद्यपि किसी सिद्धान्त का वर्णन प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है।

भौतिकी की समस्त प्रगति को हम कुछ मुख्य-मुख्य भागों में बाँट सकते हैं। सर्वप्रथम यांत्रिकीय विचार-धारा का जन्म हुआ जिसका अत्यधिक श्रेय न्यूटन को जाता है। परन्तु प्रकृति के परिवर्तन-शील नियमानुसार कुछ ऐसी घटनाएँ विदित हुईं जिनका स्पष्टीकरण यांत्रिकीय सिद्धान्त की सहायता से न हो सका। इस हेतु फैराडे नामक वैज्ञानिक के परिश्रम के फलस्वरूप 'क्षेत्र-सिद्धान्त' का जन्म हुआ। फैराडे के पश्चात् मैक्सवेल ने 'क्षेत्र-सिद्धान्त' की धारणाओं को समुन्नत करके 'वैद्युत-चुम्बकीय सिद्धान्त' का रूप दिया। परन्तु उसी समय पुनः कुछ ऐसी घटनाएँ विदित हुईं जिनका स्पष्टीकरण किसी भी धारणा से न हो सका। इसलिए एक अन्य नवीन धारणा का 'प्रमात्रा-सिद्धान्त' के रूप में जन्म हुआ। चिर-प्रतिष्ठित यांत्रिकीय सिद्धान्त में

घटना का स्पष्टीकरण एक-एक कण की अवस्था का विश्लेषण करके प्राप्त किया जाता है परन्तु जब असंख्य कण-समूहों का प्रश्न आता है तो चिर-प्रतिष्ठित यांत्रिकी चुप हो जाती है और तब उसी समय 'प्रोबेबिलिटी-सिद्धान्त' का जन्म हुआ। न्यूटन की यांत्रिकी में तथा मैक्सवेल की 'वैद्युत-चुम्बकीय' धारणा में 'सापेक्ष' तथा 'निरपेक्ष' अवस्था का कोई विशेष निरूपण नहीं हुआ था जिसके कारण कुछ ऐसी गणितीय संभावनाएँ प्राप्त हुईं जो परीक्षणों से विपरीत प्रमाणित हुईं। इसलिए आइन्सटाइन ने 'सापेक्षवाद' नामक चिर-नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। घटना के घटित होने के सम्बन्ध में 'कार्य-कारण' सिद्धान्त की प्रगति हुई और अन्त में 'अनिश्चितता सिद्धान्त' का रूप धारण किया। आधुनिक युग में कणिका भौतिकी का जन्म हुआ। अब हम मुख्य-मुख्य प्रगतियों का संक्षेप में वर्णन प्रस्तुत करेंगे।

न्यूटन की यांत्रिकीय धारणा

यद्यपि यांत्रिकीय विचार सन् १५४३ ई० में कापरनिकस के मस्तिष्क में उत्पन्न हुआ, परन्तु केपलर नामक ज्योतिर्विद ने उन धारणाओं को एक ढाँचा प्रदान किया। केपलर की शिक्षा से प्रभावित होकर रेने डेकार्टे ने इस ओर अग्रसर हो काम करना प्रारंभ किया। उन दिनों की समस्या थी कि किस प्रकार दो दूरस्थ पिण्डों के बीच क्रिया का संचारण होता है? उदाहरणस्वरूप दो असमान प्रकृति के चुम्बकीय ध्रुवों के बीच आकर्षण इत्यादि। डेकार्टे ने कहा कि दो पदार्थों के बीच का दिक ईथर नामक यांत्रिकीय पदार्थ से भरा होता है, इसलिए उपयुक्त उदाहरण का आकर्षक बल उसी माध्यम से होकर गुजर जाता है।

'गति' अथवा 'विश्राम' सम्बन्धी प्राचीन अरस्तू, की धारणाएँ किसी हद तक भ्रमपूर्ण थीं और सत्रहवीं शताब्दी में चलकर गैलीलियो ने उन्हें परिष्कृत करके एक ऐसा रूप प्रदान किया जो बाद में चलकर न्यूटन का प्रथम गति सम्बन्धी नियम बनकर 'प्रिंसिपिया' में इस प्रकार आया—"An impressed force is an action exerted upon a body in order to change its state, either of rest or of moving uniformly forward in a right line." न्यूटन ने इसके आगे यह भी बताया कि पिण्ड में 'बल जनित त्वरण' बल की दिशा में तथा मान का समानुपाती होता है और समानुपाती नियतांक उस पिण्ड की मात्रा के अतिरिक्त कुछ नहीं होता है। जब कोई पिण्ड पृथ्वी पर पतित होता है तो त्वरण केवल पृथ्वी के आकर्षण के फलस्वरूप होता है। इसी प्रकार यदि $म_१$ $म_२$ दो पिण्डों की मात्राएँ हों और द उनके बीच की दूरी हो तो दोनों पिण्डों के बीच आकर्षण-बल उनकी मात्राओं के गुणनफल का समानुपाती और ($द^२$) का उत्क्रमानुपाती होता है। इसी को न्यूटन का विश्वव्यापक गुरुत्वाकर्षण-सिद्धान्त कहते हैं। इस सिद्धान्त की सहायता से न्यूटन ने पृथ्वी का पथ सूर्य के इर्द-गिर्द मालूम किया तथा परीक्षणों से प्राप्त तथ्यों के आधार पर सिद्धान्त की सत्यता प्रमाणित कर दी।

न्यूटन-सिद्धान्त के प्रतिपादन के १०० वर्ष पश्चात् कूलम्ब ने 'उत्क्रम वर्ग-नियम' का सत्यापन, दो चुम्बकीय ध्रुवों के बीच आकर्षण या प्रतिकर्षण बल के सम्बन्ध में प्रस्तुत किया जो कि सर्वप्रथम प्रीस्टले द्वारा किया जा रहा था। माइकेल नामक वैज्ञानिक ने सर्वप्रथम चुम्बकीय बल का अन्वेषण किया।

सन् १६७५ ई० में रोमर के प्रकाश की निश्चित गति के अन्वेषण तथा सरल रैखिक गमन ने न्यूटन को कणिका-सिद्धान्त प्रस्तुत करने को बाध्य कर दिया। इस प्रकाश के यांत्रिकीय-सिद्धान्त में यह माना गया कि प्रकाश किरण में विभिन्न आकार के सूक्ष्म-सूक्ष्म कण विद्यमान होते हैं जो एक निश्चित गति से गतिमान रहते हैं। विभिन्न आकार विभिन्न प्रकार के रंगों के द्योतक होते हैं। इस सिद्धान्त की सहायता से प्रकाश-सरल रैखिक गमन, परावर्तन आदि घटनाएँ

स्पष्टीकृत होती हैं। परन्तु आवर्तन की व्याख्या एक उल्टा फल देती है कि प्रकाश का वेग सघन माध्यम में विरल माध्यम के वेग से अधिक होगा जो बाद में फोको ने असत्य प्रमाणित किया। कणिका-सिद्धान्त के उपरान्त क्रिश्चियन हाइगन्स ने तरङ्ग-सिद्धान्त को जन्म दिया जिसमें यह बताया कि विभिन्न रङ्ग विभिन्न तरङ्ग-दैर्घ्यों के कारण होते हैं। इस सिद्धान्त की सहायता से उस समय तक विदित समस्त घटनाओं का स्पष्टीकरण प्राप्त हो गया।

ताप-विज्ञान की शाखा में भी कुछ इसी प्रकार की यांत्रिकीय धारणा का समावेश किया गया। दो विभिन्न द्रव-तलों को एक में मिला देने पर तलों की समानता का आधार लेकर कैलारिक-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया जिसको बताया गया कि जब दो असमान तप्त पिण्डों को एक साथ रखा जाता है तो असमान कैलारिक की मात्राएँ एक दूसरे में मिलकर समान ताप उत्पन्न कर देती हैं। 'कैलारिक' तरल को भार रहित माना गया। रमफोर्ड ने बाद में चलकर इस असत्य कदम का नाश किया और उनके पश्चात् बॉयल, न्यूटन, हुक तथा आयलर जैसे महान वैज्ञानिकों ने सुझाव दिया कि ताप केवल पदार्थ के अन्दर विद्यमान कणों के दोलन के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। जूल नामक वैज्ञानिक ने उपर्युक्त तथ्य को प्रमाणित किया और विश्वव्यापी नियतांक J का मान निर्धारित किया।

सारांश यह है कि यांत्रिकीय धारणा—कण तथा उनके बीच उत्पन्न बलों की व्याख्या मात्र है।

यांत्रिकी सिद्धान्त का अन्त तथा क्षेत्र-सिद्धान्त की उन्नति—

'कैलारिक-सिद्धान्त' के समरूप, स्थिर वैद्युतीय-घटनाओं को स्पष्ट करने के लिए, द्वितरल सिद्धान्त का निर्माण किया गया, परन्तु इसका विकास चुम्बकत्व के क्षेत्र में न हो सका। कारण केवल दो स्वतन्त्र ध्रुवों की असंभव स्थिरता का था। अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक वोल्टा महोदय की वैद्युतीय-बैटरी बन चुकी थी और सन् १८२० ई० में आयर्स्टेड ने वैद्युतीय धारा तथा उत्पन्न चुम्बकीय क्षेत्र का सम्बन्ध मालूम किया, जो 'बायट' और 'सावर्त' के द्वारा सत्य प्रमाणित किया गया था। इस प्रकार जब यह प्रमाणित हो गया कि धारा के साथ-साथ चुम्बकीय क्षेत्र सम्बद्ध होता है तो स्थिर विद्युत के बारे में भी द्वितरल का सिद्धान्त न लग सका। इसी प्रकार प्रकाश के क्षेत्र में कणिका-सिद्धान्त का बहिष्कार किया गया क्योंकि इण्टरफरेन्स[1], डिफ्रैक्शन[2] तथा पोलराइजेशन[3] नामक प्रकाशीय घटनाएँ किसी प्रकार से कणिका-सिद्धान्त द्वारा स्पष्ट नहीं की जा सकतीं। इसके अतिरिक्त जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि कणिका-सिद्धान्त के अनुसार प्रकाश का वेग सघन माध्यम में विरल माध्यम की अपेक्षा अधिक होगा। इसलिए फैराडे, मैक्सवेल तथा हर्ज आदि वैज्ञानिकों ने क्षेत्र-सिद्धान्त का सृजन किया।

फैराडे के अनुसार प्रत्येक क्षेत्र से 'बल-रेखाएँ' सन्निद्ध होती हैं। बल-रेखाएँ ऐसे वक्र हैं जिनके किसी बिन्दु पर स्पर्शज्या उस बिन्दु पर क्षेत्र की चंडता की दशा बतलाती है। जब बल-रेखाओं में दशा-परिवर्तन होता है तो चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न होता है, यही कारण है कि धारा प्रवाहित होने वाले सुचालक के चारों ओर चुम्बकीय-क्षेत्र उत्पन्न हो जाता है। इसके अतिरिक्त जब किसी बन्द परिपथ के साथ सम्बद्ध बल-रेखाओं में परिवर्तन होता है तो उस परिपथ में विद्युत वाहक बल उत्पन्न हो जाता है। इस घटना को 'इन्डक्शन'[४] कहते हैं।

फैराडे की द्वितीय प्राप्ति यह थी कि जब किसी 'डाइ-लेक्ट्रिक[५]' को वैद्युती क्षेत्र में रखा जाता है तो ध्रुवण की घटना घटित होती है।

सन् १८४५ ई० में फैराडे ने पता लगाया कि प्रकाशीय घटनाओं पर भी चुम्बकीय क्षेत्र का प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार फैराडे ने ईथर की जगह को बल-रेखाओं से भरना चाहा।

फैराडे के पश्चात् मैक्सवेल ने 'डिस्पलेसमेण्ट

---

१. व्यतिकरण २. विवर्तन ३. ध्रुवीयण ४. प्रेरण ५. पारविद्युत।

करेण्ट' की धारणा को प्रस्तुत किया और उसके पश्चात् छः अवकलीय समीकरणों की सहायता से यह प्रमाणित कर दिया कि प्रकाश भी एक वैद्युत चुम्बकीय विकिरण मात्र है। निश्चित वेग, धात्वीय तथा डाइ-पारविद्युत परावर्तन आदि घटनाएँ इसकी सहायता से स्पष्ट कर दी गईं। सन् १८६६ ई० में मैक्सवेल ने यह प्रमाणित कर दिया कि विकिरण का दवाव पड़ता है। सन् १८७० ई० में हेल्मोट्ज ने वैद्युत-चुम्बकीय सिद्धान्त का सही उपयोग किया और उसके पश्चात् 'फिटजिरैल्ड' ने उपर्युक्त सिद्धान्त का उपयोग करके 'फैराडे-प्रभाव' (प्रकाश के ऊपर चुम्बकत्व का प्रभाव) का स्पष्टीकरण प्रस्तुत कर दिया। सन् १८६३ ई० में फिटजिरैल्ड ने पुनः मैक्सवेल-सिद्धान्त की सहायता से 'कर प्रभाव' की स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत की। परन्तु मैक्सवेल-सिद्धान्त की पूर्ण यथार्थता का परिचय हर्ज ने परीक्षणीय रूप में प्रस्तुत किया।

सारांश यह है कि क्षेत्र-सिद्धान्त का जन्म क्षेत्र तथा बल-रेखाओं से हुआ और तत्सम्बन्धी घटनाएँ इसी आधार पर व्याख्या की जा सकीं।

क्वाण्टम-सिद्धांत—चिर-नवीन पथ

द्विपरमाण्वीय अणुओं का आपेक्षिक ताप तथा काली-वस्तु-विकिरण के स्पेक्ट्रम में ऊर्जा के घनत्व—ए दो समस्याएँ ऐसी थीं जिनके स्पष्टीकरण में चिर-प्रतिष्ठित-भौतिकी सफल न हो सकी। सन् १६०० ई० के लगभग जर्मन वैज्ञानिक मैक्स प्लैंक ने उपर्युक्त समस्याओं का समाधान उष्मागतिकी तथा गतिज सिद्धांत और वैद्युत चुम्बकीय सिद्धान्त की सहायता से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। वास्तव में प्लैंक ने प्राचीन धारणाओं को त्यागना नहीं चाहा था, परन्तु भाग्य-वश जब उसने संस्थान की इन्ट्रापी को उसकी प्रोबेबिलिटी से सम्बन्धित कर दिया तो उसे अत्यन्त सुन्दर हल प्राप्त हो गया। इस विधि ने उसको यह सोचने के लिए बाध्य कर दिया कि दोलक की ऊर्जा संतत रूप से विनष्ट नहीं होती है बल्कि कुछ विशेष खण्डों के रूप में होती है। ए उर्जा-खण्ड ही क्वाण्टम अथवा प्रमात्रा कहे गए। एक क्वाण्टम का मान hv होता है जबकि h प्लैंक का विश्व-नियतांक कहलाता है और v कम्पनांक होता है। इस प्रकार क्वाण्टम-धारणा का प्रादुर्भाव हुआ।

सन् १६०५ ई० के लगभग आइन्सटाइन ने क्वाण्टम-सिद्धान्त का उपयोग आपेक्षिक-ताप तथा प्रकाश-वैद्युतीय घटनाओं के स्पष्टीकरण में किया। इसी कारण आइन्सटाइन को 'नोबेल' पुरस्कार भी मिला। इसके उपरान्त बोह्र नामक वैज्ञानिक ने क्वाण्टम-सिद्धान्त का उपयोग हाइड्रोजन परमाणु की रचना बताने में किया क्योंकि रदरफोर्ड का मॉडल उतना पूर्ण नहीं था और इसके अतिरिक्त बोह्र रचना ने तो स्पेक्ट्रल रेखाओं का भी स्पष्टीकरण कर दिया।

सन् १६२४ ई० में फ्रांसीसी भौतिकज्ञ लुइस दे ब्रोगली ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि इलेक्ट्रॉन केवल मात्रा कण नहीं हैं बल्कि उसके साथ तरङ्ग भी सम्बद्ध रहती है और इसके कारण इलेक्ट्रॉनों को विवर्तित किया जा सकता है। यह सिद्धान्त गर्मर तथा थामसन द्वारा प्रमाणित किया गया। अब यहाँ पर एक विचित्र घटना देखी जाती है कि कण कैसे तरंग प्रकृति धारण कर सकता है? यह आश्चर्यजनक द्वि-प्रकृति कैसे एक ही संस्थान में सन्निहित रहती है।

उपर्युक्त विभ्रम का उत्तर बाद में चलकर हाइ-जेनवर्ग ने 'अनिश्चितता-सिद्धान्त' द्वारा प्रस्तुत किया। उन्होंने बताया कि मूलभूत कणों का यदि स्थान निश्चित कर लिया जाय तो उनका घूर्णन अनिश्चित हो जाता है और यदि घूर्णन निश्चित कर लिया जाय तो स्थान अनिश्चित हो जाता है। इस प्रकार समस्या का हल हो जाता है।

प्राबेबिलिटी सिद्धान्त का योगदान

मोटे तौर से देखा जाय तो समस्त रचना दो भागों में विभाजित की जा सकती है—सूक्ष्म तथा विशाल। विशाल रचनाओं में एक-एक रचना के बारे में हम अध्ययन प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु सूक्ष्म अथवा अति सूक्ष्म रचनाओं में एक-एक का वर्णन न प्राप्त

करके एक समूह की ही विवेचना कर सकते हैं। इसी लिए सूक्ष्म जगत में अध्ययन करने के हेतु 'प्राबेबिलिटी' का उपयोग आवश्यक हो गया। 'बॉयल' का महत्त्वपूर्ण गैस-नियम $PV = RT$ का न्यूटन के गति-नियमों से कोई सम्बन्ध नहीं था, परन्तु बाद में बोल्जमैन तथा मैक्सवेल ने सांख्यिकीय रीतियों का उपयोग करके उन्नीसवीं शताब्दी में न्यूटन की यांत्रिकीय धारणाओं का उपयोग करके बॉयल-नियम का सत्यापन किया।

प्राबेबिलिटी की मुख्य देनें उष्मागतिकी के तीन नियम—ऊर्जा का अविनाशत्व, एण्ट्रापी तथा परम शून्य तक पहुँचने की असंभवता—हैं। ये तीनों नियम व्यवसायिक रूप में बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। 'साडी कार्नोट' के 'हीट इंजिन' के आविष्कार के पश्चात् ही एण्ट्रापी का अनुभव हुआ। बोल्जमैन ने इसको संस्थान की प्राबेबिलिटी का लघुगणक कहा था तथा एण्ट्रापी नाम क्लासियस द्वारा रखा गया था। बहुत से लोग ऐसे हैं जो एण्ट्रापी को केवल एक गणितीय विचार कहते हैं। मैक्सवेल तथा बोल्ट्जमैन ने 'ला ऑफ चान्स' को कण-यांत्रिकी में लगाकर एण्ट्रापी की उपयोगिता का दर्शन किया और यह निष्कर्ष निकाला कि दशा जितनी ही असंयमित होगी एण्ट्रापी उतनी ज्यादा।

दार्शनिकों ने एण्ट्रापी का उपयोग ब्रह्माण्ड के भविष्य के भाग्य को निर्धारित करने में किया और कहा कि एक दिन ऐसा आएगा जबकि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की एण्ट्रापी उच्चतम होगी और उस समय प्रलय उपस्थित होगा।

बोह्र सिद्धान्त, डी० ब्रोगली तरङ्ग-सिद्धान्त, आइन्सटाइन प्रकाश वैद्युतीय समीकरण, क्वाण्टम-प्रकृति, तरङ्ग-यांत्रिकी तथा हाइजेनवर्ग का अनिश्चितता-सिद्धान्त—सबका स्पष्टीकरण प्राबेबिलिटी के आधार पर हो गया है।

सापेक्ष तथा निरपेक्ष का प्रश्न

न्यूटन की गतिकी में तृतीय नियम के अनुसार प्रत्येक बल संतुलित होता है और इन सबके लिए एक एक जड़-ढाँचे† की कल्पना की जाती है। इस जड़-ढाँचे में वेग तथा घूर्णन दोनों सदैव नियम माने जाते हैं। न्यूटन ने बताया कि जब नियामक अक्षों का परिवर्तन होता है तो एक सापेक्ष दशा उपस्थित होती है और इस प्रकार नवीन अक्ष के नियामक $x' = y - ut$ होते हैं जहाँ पर u वेग तथा t समय होता है। परन्तु न्यूटन की गतिकी में इन नियामकों की कोई अपूर्व अवस्था नहीं होती है। न्यूटन के नियम किन्हीं भी अक्षों के लिए सत्य हैं।

मैक्सवेल ने अपने वैद्युत चुम्बकीय-सिद्धान्त में वैद्युतीय तथा चुम्बकीय क्षेत्र को ६ समीकरणों द्वारा सम्बन्धित किया, परन्तु प्रश्न उठता है कि किस नियामक अक्ष की अपेक्षा? मैक्सवेल का उत्तर था—किसी निरपेक्ष जड़-ढाँचे की अपेक्षा। परन्तु हम जानते हैं कि वैद्युत्-चुम्बकीय तरंगें सदैव c वेग से शून्य में चलती हैं जबकि न्यूटन-सापेक्षवाद के अनुसार दूसरे संस्थान के सापेक्ष $c - ut$ होना चाहिए। इससे यह निष्कर्ष निकला कि मैक्सवेल के सूत्र किसी विशेष संस्थान के लिए सत्य हैं न कि समस्त के लिए।

माइकेल्सन ने मैक्सवेल-सिद्धान्त से उल्टा फल प्राप्त किया। तत्पश्चात् मिलर के प्रयोग ने यह प्रमाणित कर दिया कि सौर-मण्डल का वेग २० कि० मी० प्रति से० है, इसलिए पृथ्वी का हर एक विन्दु ऐसा हो सकता है जिसके लिए मैक्सवेल समीकरण सत्य हैं परन्तु हम कोई फल नहीं प्राप्त करते हैं। इसलिए अवश्य ही कहीं मूल में भूल है। इस भूल की समाप्ति आइन्सटाइन के विशिष्ट-सिद्धान्त में हुई।

आइन्सटाइन का पहला विचार था कि मैक्सवेल का सिद्धान्त किसी भी जड़-संस्थान के लिए सत्य है। दूसरी धारणा यह थी कि दिक् काल को कैसे नापा जा सकता है। तीसरी महान देन यह थी—सापेक्ष-गति में दिक्, काल के नाप में सम्बन्ध। न्यूटन की यांत्रिकी का स्वतंत्र गति से गतिमान पिण्ड आइन्सटाइन सिद्धान्त में अचर वेग से वेगवान विन्दु-कण था। लारेंट्ज के ट्रांसफार्मेशन, मिकाउस्की की ज्यामितीय-बीजगणित की सहायता लेकर बाद में आइन्सटाइन ने न्यूटन के सापेक्षवाद और मैक्सवेल के निरपेक्षवाद की त्रुटियों को मूलतः नष्ट कर दिया।

†Inertial-frame.

आइन्सटाइन ने ईथर का पूर्ण रूप से बहिष्कार किया। उसके उपरान्त अनेक सूत्रों का प्रतिपादन किया जो बाद में चलकर सत्यापित किए गये।

कार्य-कारण-सिद्धांत तथा भौतिकी की उन्नति—

'समान कारण समान प्रभाव उत्पन्न करते हैं' यह वाक्य मोटे तौर से कार्य-कारण सिद्धान्त का परिचायक कहा जा सकता है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कोई घटना बिना कारण के नहीं घटित होती है। यदि एक संस्थान दूसरे से इस प्रकार सम्बन्धित है कि एक के परिवर्तन का प्रभाव दूसरे पर भी पड़ता है, तो उन दोनों संस्थानों को कार्यकारण-रूप से सम्बन्धित कहा जाता है। यदि किसी प्रभाव का कारण हम जानते हैं तो किसी संस्थान की भविष्य की परिस्थितियों का उस प्रभाव से सम्बन्ध होगा, आसानी से बता सकते हैं। परन्तु हर हालत में यह सही नहीं होता है। कहीं-कहीं पर पूर्व दशा का ज्ञान होना आवश्यक होता है। अन्यथा अर्थ से अनर्थ हो जाने की भी संभावना रहती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि किस प्रकार कार्य-कारण-सिद्धान्त का सत्यापन किया जा सकता है? इसके सत्यापन के लिए किसी पूर्णतया असम्बद्ध संस्थान की आवश्यकता होती है। जबकि विश्व की प्रत्येक रचना एक-दूसरे से सम्बन्धित है इसलिए सत्यापन कार्य असम्भव है।

कार्य-कारण-सिद्धान्त को सूत्र रूप प्रदान करने वाला प्रथम मनुष्य न्यूटन था, जिसने अवकलीय समीकरणों की सहायता से इनका निरूपण किया। प्रारंभिक दशाओं की सहायता से 'इंटीग्रेट' करने पर घटना का निरूपण होता है, इसलिए 'इन्टीग्रेशन' ही सैद्धान्तिक सत्यापन कहा जा सकता है।

आइन्सटाइन, प्लैंक, बोर्न, हाइजेनवर्ग, बोह्र तथा डिरैक ऐसे क्वाण्टम-भौतिकज्ञों ने कार्य-कारण-सिद्धान्त को सूत्र रूप प्रदान करने का प्रयास किया, परन्तु प्राचीन कार्य-कारण-सिद्धान्त मूलभूत कणों के ऊपर लागू नहीं होता। इसलिए कार्य-कारण-सिद्धान्त का स्थान 'अनिश्चितता' ने ले लिया।

पदार्थ सम्बन्धी नवीन धारणा—

किसी प्रयोग की प्रतिशत त्रुटि उसके अन्दर किए गये नापों की त्रुटि पर आधारित होती है। हम जानते हैं कि हमारे यन्त्र शत-प्रतिशत त्रुटिरहित उत्तर केवल एक विशेष सीमा में देते हैं। इसलिए अतिसूक्ष्म तथा अति विशाल क्षेत्रों के मापन-कार्य में हमारे यन्त्र उतने त्रुटि-रहित नहीं होंगे जितना कि औसत आकार की वस्तुओं के मापन में। इसलिए हो सकता है कि हम इन दो अति सूक्ष्म और अति विशाल जगत में उतना सच्चा फल न प्राप्त कर सकें।

मूलभूत कणों की सूक्ष्मता के कारण हम किसी भी सामान्य नियम को लागू नहीं कर सकते हैं। उदाहरणस्वरूप इलेक्ट्रॉन को केवल कण मान लेना आसान नहीं है। इसलिए हम यह नहीं कह सकते कि सामान्य जगत में यह नियम सत्य है तो मूलभूत कण जगत में भी सत्य ही होगा।

परन्तु कुछ सामान्य जगत के नियम भी मूलभूत कणों पर लागू होते हैं। उदाहरण-स्वरूप ऊर्जा तथा घूर्णन की अविनाशिता का नियम। दो प्रकार के घूर्णन—रैखिक तथा कोणीय दो प्रकार की संमिति-स्थानान्तरीय तथा कोणीय के नाम से पुकारे जाते हैं और अविनाशिता के नियम का पालन करते हैं। न्यूट्रिनों की खोज के पहले β कण के निकलने में इसका अपवाद माना जाता था, परन्तु पाउली ने न्यूट्रिनों की सहायता से पुनः वही स्थिति ला दी।

'किसी बन्द संस्थान में सम्पूर्ण वैद्युतीय आवेश अचर होता है'—यह नियम नवीन भौतिकी में भी सत्य माना जाता है। आवेश का क्वाण्टमीकरण भी अचर होता है। यही कारण है कि कोई मूलभूत कण $\frac{1}{2}$ या २ इकाई आवेश नहीं रखता है।

न्यूट्रान, प्रोटान तथा हाइपरान समुदाय 'बेरयान' कहलाते हैं और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में 'बेरयान' की संख्या ऋण, प्रति बेरयान की संख्या का मान अचर होता है। 'बेरयान' तथा 'प्रति बेरयान' एक दूसरे से मिलकर ऊर्जा

में परवर्तित हो जाते हैं। इसलिए अकेले 'बेरयान' का 'प्रति बेरयान' की स्थिति सम्भव नहीं। इलेक्ट्रॉन, पाजीट्रान, न्यूट्रिनो, प्रति-न्यूट्रिनें + u मेसान, − u मेसान का समुदाय 'लेप्टान' कहलाता है। 'बेरयान' की तरह इनकी भी संख्या पर अविनाशिता का नियम लागू होता है।

परन्तु 'फोटान', π मेसान तथा k मेसान के समुदाय पर अविनाशिता का कोई नियम नहीं लागू होता है, गामा किरण की संख्या ब्रह्माण्ड में अचर नहीं है। अविनाशिता का नियम पालने वाले कणों को 'फरमियान' कहते हैं और उनका स्पिन '½h' होता है। इसके विपरीत अविनाशिता नियम का उल्लंघन करने वाले कणों को 'बोसान' कहते हैं जिनकी स्पिन 0 या 9h होती है। 'फरमियान' तथा 'बोसान' की सांख्यकी में क्या सम्बन्ध है अभी रहस्य बना हुआ है।

वैद्युतीय प्रभाव को भुलाकर, केवल नाभिकीय प्रतिक्रिया को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है 'न्यूट्रॉन', 'प्रोटान' अथवा सब 'हाइप्रान' अथवा सब 'मेसान' एक हैं। यह धारणा केवल आइसोटॉपिक स्पिन के अध्ययन पर आधारित है।

किसी सीमा तक दर्पण-संमिति भी कणिका भौतिकी में लागू होती है परन्तु सन् १६५७ ई० में 'ली' तथा 'यांग' भौतिज्ञों ने उपर्युक्त संमिति का अभाव तीव्र β-क्षय में बताया।

कण तथा प्रतिकण संमिति सम्भव है और आज यह प्रमाणित हो चुका है कि तीव्र ऊर्जा की नाभिकीय प्रक्रियाओं में प्रोटान से प्रति-प्रोटान का उद्भव होता है। इसलिए कोई चीज सम्भव है या नहीं यह नहीं कहा जा सकता है।

गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र के कारण आज 'ग्रैविटान' नामक कणिकाओं की कल्पना की जा रही है। परन्तु निश्चित रूप से हम कह नहीं सकते, क्योंकि गुरुत्व क्षेत्र नाभिकीय क्षेत्र से १०२७ गुना कम तीव्र होता है।

कहने का सारांश यह है कि भौतिकी ने अपने प्रारम्भिक काल से आज तक उपर्युक्त रीति के परिवर्तन के बीच से गुजर कर अपना वर्तमान रूप प्राप्त किया है।

विज्ञान की शिक्षा के लिए हाई स्कूलों में नये पाठ्यक्रम

—पॉल डिहार्टहर्ड

अमेरिका के कुछ हाईस्कूलों ने १६६० के बाद अपना काम-काज विज्ञान पढ़ाने के एक ऐसे नये पाठ्यक्रम से शुरू किया जो परम्परागत पाठ्यक्रम से विषय और दृष्टिकोण, दोनों तरह से भिन्न था। नये पाठ्यक्रमों में विज्ञान को उस रूप में प्रस्तुत किया जाता है जिस रूप में उसे वैज्ञानिक देखते हैं और जो आधुनिक पहलुओं और सिद्धान्तों के अनुरूप होता है। लगभग १५०० अमेरिकी हाईस्कूल अपने यहाँ इनमें से एक या अधिक आधुनिक पाठ्यक्रमों को शामिल करते हैं।

कुछ वर्षों से यह अनुभव किया जा रहा था कि विज्ञान के अध्यापन को नया रूप देने की जरूरत है। विज्ञान के क्षेत्र में प्रगतियाँ होने, नये रास्ते खुलने, उसकी एकता बढ़ाने, ज्ञान का चमत्कार दीखने, हमारे जीवन-क्रम में एक तत्त्व के रूप में उसका महत्त्व होने, तथा अमेरिकी अर्थ-व्यवस्था में उसकी उपयोगिता आदि सभी दृष्टियों से विज्ञान पढ़ाने की नई विधियाँ खोजने की आवश्यकता प्रतीत हुई।

अमेरिका के 'राष्ट्रीय विज्ञान प्रतिष्ठान' ने १६५६ के बाद कुछ व्यावसायिक संस्थाओं और विश्वविद्या-

लयों के साथ काम करके विज्ञान के पाठ्यक्रम को सुधारने के लिए धनराशि दी। हाई स्कूलों में भौतिक विज्ञान, रसायन-विज्ञान और जीव-विज्ञान के आधुनिक पाठ्यक्रम बनाये गये। भौतिक विज्ञान का पाठ्यक्रम तो तैयार हो गया है, पर शेष पाठ्यक्रमों पर देश भर के स्कूलों में परीक्षण किये जा रहे हैं।

इन पाठ्यक्रमों को तैयार करने के लिए बहुत से वैज्ञानिकों और शिक्षकों को लगाया गया था। इनमें क्रियात्मक काम करने वाले ऐसे वैज्ञानिक थे जो अपने अनुसन्धान के क्षेत्र की महत्त्वपूर्ण बातों को समझ सकें; हाईस्कूलों के ऐसे विद्वान् थे जो पाठ्यक्रमों की सामग्री के पढ़ाने लायक होने का निश्चय कर सकें और छात्रों के साथ उन्हें परख सकें; तथा विज्ञान पढ़ाने के ऐसे विशेषज्ञ थे जो पढ़ाई और उसकी उपयोगिता की समस्याओं को हल कर सकें। इन पाठ्यक्रमों को तैयार करने में लगभग १ करोड़ डालर खर्च हुए हैं।

विज्ञान की पढ़ाई का उद्देश्य विज्ञान के स्वरूप को, उसकी खोज के विभिन्न पहलुओं को तथा आविष्कारों के सिद्धान्तों को जानना-समझना बतलाया गया है। इतना ही महत्त्व मनुष्य के क्रिया-कलाप में विज्ञान के स्थान तथा प्राकृतिक घटनाओं की जानकारी का है। तथापि, इन उद्देश्यों का महत्त्व तभी है जब इन्हें सम्बद्ध वातावरण में और उपयुक्त विधि से वर्तमान आवश्यकताओं का ध्यान रख कर बतलाया जाये।

पाठ्यक्रम में ये बातें होनी चाहिये—

(१) उसके द्वारा सम-सामयिक विज्ञान का तर्क-सम्मत और समन्वित रूप सामने रखा जाये अर्थात् ऐसे सिद्धान्त, माडल और सामान्य निष्कर्ष जिनसे विज्ञान की एकता प्रतिपादित हो।

(२) उसके द्वारा ऐसी विभिन्न प्रक्रियाएँ दिखलाई जायें जो विज्ञान के निष्कर्ष निकालने के लिए प्रयुक्त की जाती हैं और जिनसे जाँच-पड़ताल के तरीकों तथा वैज्ञानिक जानकारी के स्वरूप की मर्यादाएँ प्रकट हों।

(३) उसके द्वारा विद्यार्थी विषय की एक किस्म की सीमा-रेखा तक पहुँच सके और "हमें कुछ पता नहीं" कहने का तात्पर्य समझ सके और विज्ञान की प्रगति से परिचित हो सके।

विज्ञान के नये पाठ्यक्रम तैयार करने में अध्यापन की विधि और स्वरूप पर भी बहुत ध्यान दिया गया है। पुरानी या नई कोई भी पाठ्य-पुस्तक निर्धारित की जा सकती है और उसे रटा और बिना समझे दुहराया जा सकता है। किन्तु आधुनिक पाठ्यक्रमों की सफलता इसीमें है कि कक्षा में जिज्ञासा और खोज की प्रवृत्ति स्थिर रहे। विद्यार्थी का बहुत सा समय सोचने-विचारने, पूछताछ करने, क्रम लगाने और व्याख्या करने में ही लग जाता है। विद्या का मूल उद्देश्य ज्ञान का संचय करना मात्र नहीं है, यह तो बुद्धि से प्रमाणित करके जानना-समझना है। शिक्षक की जिम्मेदारी सिर्फ इतना विश्वास दिला देने की नहीं है कि अधिकांश छात्रों ने नियत समय में तरह-तरह के तथ्यों के बारे में अपनी जानकारी बढ़ा ली है। उन तथ्यों को बुद्धि से तोला भी जाना चाहिए, उनकी मात्र जानकारी पर्याप्त नहीं।

विज्ञान का आधार परीक्षण है, इसलिए उसकी पढ़ाई का आधार भी ऐसा ही होना चाहिए। वैज्ञानिक लोग जानकारी पाने के लिए मुख्य रूप से प्रयोगशाला का उपयोग करते हैं, विज्ञान की पढ़ाई में भी यही होना चाहिए। प्रयोगशाला के काम का प्रयोजन छात्रों को जाँच-पड़ताल की प्रक्रियाओं का परिचय कराना है, ताकि वे विचारों की छानबीन करके आगे बढ़ सकें।

नये पाठ्यक्रम तैयार किये जाने के साथ अध्ययन-अध्यापन के लिए नये-नये साधन भी निकल आये हैं। विशेष विषयों पर, विशेषतः छात्रों के लिए, लेख या पत्रक लिखे गये हैं। इनके फलस्वरूप पाठ्यक्रम पुराने नहीं पड़ते और उनमें शिक्षार्थी की व्यक्तिगत रुचि भी बनी रहती है। पढ़ने की सम्बद्ध पुस्तकों आदि को

पढ़ाने से विद्यार्जन की प्रवृत्ति अधिक सार्थक हो जाती है। इसी उद्देश्य से फिल्में भी तैयार की गई हैं।

विज्ञान के नये पाठ्यक्रम उद्देश्य की दृष्टि से परम्परागत पाठ्यक्रमों से भिन्न होते हैं। यही बात परीक्षणों के बारे में भी है। सबसे पहली बात यह है कि छात्र पढ़े हुए तथ्यों, सूत्रों और सिद्धान्तों को समझें। इसलिए कक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए विज्ञान की बातों को जानना और उन्हें रट लेना ही पर्याप्त नहीं है। यह भी आवश्यक है कि छात्र मान्यताओं और सिद्धान्तों के आधार पर तर्क करने की क्षमता दिखला सके और उनका प्रयोग नई-नई अवस्थाओं में कर सके। उससे यह भी आशा की जाती है कि वह उन परीक्षणात्मक तथ्यों व आँकड़ों की व्याख्या कर सके, जिसका प्रयोग उसने पहले कभी नहीं किया। नये पाठ्यक्रमों में परीक्षणों को शिक्षा-कार्यक्रम का अभिन्न अङ्ग माना जाता है।

विज्ञान के आधुनिक पाठ्यक्रमों में सामान्य पाठ्यक्रमों से पर्याप्त अन्तर होता है और अध्यापकों को उनका विशिष्ट प्रशिक्षण लेना आवश्यक है। इन पाठ्यक्रमों को पढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि अध्यापक विज्ञान की सफलताओं का टिप्पणीकार होने के बजाय कलाकार और विद्वान् हो—वह समझे कि "विज्ञान संज्ञा के बजाय क्रिया अधिक है।"

(१) पाठ्य-पुस्तकों को अन्तिम रूप में छापने से पहले कक्षाओं में दो-तीन साल तक उन पर परीक्षण करने के लिए उन्हें पूरी तरह लिखा गया था।

(२) प्रयोगशाला सम्बन्धी क्रिया-कलाप का सम्बन्ध अब पूरी शिक्षा के साथ उससे कहीं अधिक है जितना पुराने अध्ययन-क्रम में होता था।

(३) पाठ्यक्रम को सुधारने में वैज्ञानिकों का योगदान बहुत व्यापक रहा है।

(४) पहले विज्ञान के पाठ्यक्रमों में मुख्यतः पढ़ाई के विषय की रूपरेखा ही दी जाती थी। दृष्टान्तों को देखने के लिए पाठ्यक्रमों की निर्देश-पुस्तिकाओं का सहारा लेना पड़ता था। उस सामग्री को समझने-जानने और विज्ञान के ढाँचे को पाठ्यक्रम की मर्यादाओं में नहीं माना जाता था। तथापि, ये चीजें ऐसी हैं जिनमें अधिक से अधिक विद्योपार्जन होने की संभावना होती है।

(५) अधिकांश पुराने पाठ्यक्रमों के हिस्सों और अध्यायों में पाये जाने वाले खण्डित नमूने अब नहीं दीखते। उनकी जगह योगात्मक विषयों, सिद्धान्तों और शिक्षाक्रमों का समावेश किया गया है।

(६) विज्ञान के नये पाठ्यक्रमों के प्रति देश-विदेश में दिलचस्पी प्रकट की गई है। अभी परीक्षणात्मक स्थिति में होते हुए भी कई पाठ्यक्रमों का अनुवाद विदेशी भाषाओं में किया गया है।

आशा है कि इन पाठ्यक्रमों के द्वारा युवा-वर्ग को शिक्षा की दृष्टि से जीवन भर के लिए इस प्रकार साधन-सज्जित कर दिया जायेगा कि वे अपने सहारे चल सकें। यह इस प्रकार की शिक्षा तो होनी चाहिए कि उससे परिवर्तन हो और व्यक्ति जीवन में अपना रास्ता बना सकें।

कड़वी तोरी

श्री रामेश वेदी

कड़वी तोरी

घियातोरी और धारतोरी दोनों प्रकार की जातियों में कुछ बेलें कड़वी निकल आती हैं। रूप, रंग और आकार-प्रकार में, स्वादु और कड़वी दोनों किस्मों में कोई अन्तर नहीं होता। सब्जी बेचने वालों की दूकानों पर कभी-कभी स्वादु तोरी में कोई फल कड़वा भी मिला रहता है। यदि यह गलती से काट लिया जाय तो सारी सब्जी कड़वी हो जाती है। छात्रावासों के बड़े भोजनालयों तथा सार्वजनिक भोजनागारों में इस प्रकार की भूल से बड़ी हानि उठानी पड़ सकती है। इससे बचने का उपाय यह है कि प्रत्येक फलों को सिरे से जरा-सा कुतर कर चख लिया जाय और तब सब्जी के लिए चीरा जाए।

विविध भाषाओं में नाम

हिन्दी में इन्हें कड़वी घियातोरी और कड़वी धारतोरी कहते हैं। संस्कृत में कड़वी धारतोरी के नाम* ये हैं—क्ष्वेड, क्ष्वेडा (विष, कड़वी तोरी), सुतिक्ता (खूब कड़वी)। औद्भिदी के विद्वान् कड़वी धारतोरी को लूफा एक्टैङ्गुला-वैराइटी एमारा (Luffa acutangula (Linn.) Roxb. uar. amara clarke) कहते हैं। एमारा का अर्थ है कड़वी।

प्राप्ति स्थान

कड़वी तोरी की बेलें जंगलों में स्वयं पैदा हो जाती हैं। वृक्षों और झाड़ियों पर फैली होती हैं। कड़वी तोरी भारत में सर्वत्र विशेषतः पश्चिमीय क्षेत्र में पायी जाती है। बंगाल में अधिक और पंजाब में कम मिलती है।

औद्भिदी वर्णन

पत्ते कुछ छोटे, नये पत्तों का रंग सफेद होता है। ये मुलायम रोओं (Softly villous) से आवृत्त होते हैं पुराने पड़ने पर ये कठोर और कर्कश (Scabrid) हो जाते हैं।

फूल भी छोटे होते हैं। फल छोटा, दो से चार इंच लम्बा, लगभग एक-डेढ़ इंच मोटा, दस रेखाओं वाला, कड़वा। बीज छोटे।

इस जंगली किस्म कटुसार (amara) के फल, पत्ते, तने आदि सभी भाग अतिशय कड़वे होते हैं।

कड़वी क्यों हो जाती है ?

तोरी कड़वी क्यों हो जाती है ? सब्जी बोने वाले ग्रामीण तो यह बताते हैं कि निलाई करते हुए जिस बेल की जड़ कट जाय वह कड़वी हो जाती है। दूसरे लोगों का कहना है कि जंगली परिस्थितियों में अर्थात् भरपूर पानी न मिलना, ठीक तरह निलाई न करना

---

*(क) कृतवेधननामानि कल्पं चास्य निबोधत।
क्ष्वेडः कौशातकी चोक्तं मृदंग फलमेव च॥
च., क. ६, ३।

(ख) कोशातकी कृतच्छिद्रा जालिनी कृति वेधना।
क्ष्वेडा सुतिक्ता घण्टाली मृदगंफलिनी तथा॥
रा. नि., गुड्च्यादि. ३, २८६।

(ग) कौशातकी कृतच्छिद्रा जालिनी कृतवेधनी।
क्ष्वेडा मुतिक्ता घण्टाली मृदंगफलिका मता॥
ध. नि., गुड्च्यादि. १, १६२।

(घ) कौशातकी शतच्छिद्रा जालिनी कृतवेधसा।
मृदंगफलका ज्वेरा घोटाकी कर्कशच्छदा॥
म. पा. नि., शाक. ७, १८।

(ङ) कौशातकी कर्ककोटी जालिनी कर्कशच्छदा।
क्ष्वेडः सुतिक्ता घण्टाली ज्योत्स्ना जालो च घोषकः॥ के. दे. नि. ओ. वं., ५२७।

तथा खाद की कमी आदि से मीठे फल ही कड़वों में परिवर्तित हो जाते हैं। मौसम की समाप्ति पर भी मीठे फल कुछ कड़वा या बकबका स्वाद देने लगते हैं। इसके साथ ही इन लोगों का विश्वास है कि जंगली कड़वी तोरी की यदि सेवा की जाय और उसे भली-भाँति पाला जाय तो उसके फल मीठे हो जायेंगे।

रासायनिक संगठन

बीजों में एक रेचक तेल-लूफा-सीड आयल, तोरी के मगज का तेल होता है। बीजों को कूटकर विभिन्न विलेयकों के साथ क्रमशः निस्सारित किया गया। समस्त निस्सार (टोटल एकस्ट्रैक्ट) का परिमाण २४·५६ प्रतिशतक पाया गया। मृत्तैल दक्षु निस्सार (पेट्रोलियम ईथर एकस्ट्रैक्ट) में आपाटल बभ्रु (पिंकिश ब्राउन) रंग का अलग (Viscous) तेल मिला। जब इसे दो-तीन दिन तक एक ओर रख दिया तो एक ठोस पृथक् हो गया। इसमें नीरंग स्फटिकमय पदार्थ होता है। इसका द्रवांक (मैल्टिङ्ग प्वाइण्ट) ५६°-५८° है। बीजों का यह १·२ प्रतिशतक निकलता है। यह अम्लीय है और क्षारातु द्वयारीय (सोडियम बाइकार्बोनेट) में विलेय है।

फलों में एक अनाकार (Amorphous) कड़वा पदार्थ है। चूनीलाल बोस के कथनानुसार घियातोरी (लूफा इजिप्टियाका) कड़वी किस्म में दो त्रिपैले मधुमेय (ग्लूकोसाइड्स) विद्यमान हैं। एक वामक है और इसमें हलका-सा सन्तापक (इरिटेण्ट) गुण भी है। दूसरा मापक तो नहीं, संतापक है, यह ऐन्द्रवारुणि (कोलोसिन्थीन) से सादृश्य रखता है।

गुण

घारतोरी*—अत्यन्त कड़वी, तिक्त, किंचित् कसैली, तीक्ष्ण, रूक्ष भी खूब हल्की है। विपाक में भी कड़वी है। आमाशय, आँतें तथा समस्त अन्न व संस्थान का शोधन करने वाली है। मन का शोधन करती है और अफारे को निकालती है। भोजन में रुचि पैदा करती है। हृदय के लिए हितकर है। कुष्ठ आदि त्वचा में खूब गहरा घर कर गये रोगों में खून बहने (रक्त पित्त) तथा खून की कमी की अवस्थाओं में, कामला (जाण्डिस) में, खाँसी तथा श्वास के अन्य कष्टों में, पेट के रोग, वायु, गोला, तिल्ली, बुखार, शोथ, पेशाब के रोग, बवासीर और विषैले रोगों में हितकर है। वात, पित्त और कफ के दोषों को नष्ट करने वाली है। चरक ने इसे गरम लिखा है। नरहरि पंडित इसे शीतल बताते हैं।

---

*(क) ...... कौशातकी ....

रक्तपित्तहराण्याहुर्हृद्यानि सुलघूनि च।
कुष्टमेहज्वरश्वासकासारुचिहराणि च॥

सु., सू. ४५।

(ख) अत्यर्थकटुतीक्ष्णोष्णं गाढेस्विष्टं गदेषु च।
कुष्ठपाण्ड्वामयप्लीह शोफ गुल्म गरादिषु॥

च., क. ६, ४।

कौशातकी सुतिक्तोष्णा पक्वामाशयशोधिनी॥

(ग) क्ष्वेडस्तिक्तः कटुस्तीक्ष्णो प्रगाढश्च शस्यते।
कुष्ठपाण्ड्वामयप्लीह शोफ गुल्म गरादिषु॥

ध. नि., गुड्च्यादि. १, १९०, १९३।

(घ) कौशातकी तु शिशिरा कटुकाल्पकषायका।
पित्तवातकफघ्नी च मलाध्मान विशोधिनी॥

रा. नि., गुड्च्यादि. ३, २८७।

(ङ) कौशातकी लघुस्तिक्ता रूक्षा मयशोधनी।
शोफपाण्ड्दरप्लीह कुष्ठार्शः कफपित्तजित्॥

म. पा. नि., शाक. ७, १९।

(च) कौशातकी कटुस्तीक्ष्णा पक्वामाशयशोधनी।
लघ्वी रूक्षा कटुः पाके जयेत् कासादोदरम्॥
पाण्डुशोफकफप्लीहगुल्मार्शः कुष्ठकामलाः।

के. दे. नि., ओ. व., ५२८-५२९।

(छ) कौशातकी कफाशोघ्नी पक्वामाशयशोधिनी॥

राजवल्लभ।

कड़वी धारतोरी का फल*—कड़वा, तीता, स्निग्ध और शीतल है। विपाक में भी कड़वा है। जठराग्नि को प्रज्वलित करने वाला, अरुचि-नाशक, उलटियाँ लाने वाला, दस्तावर, हृदय के लिए हितकर है। ज्वर, खाँसी, दमा, पेशाब के रोग और त्वचा के रोगों को नष्ट करने वाला है। यह वृष्य नहीं है। मदनपाल ने इसे तीनों दोषों को हरने वाला बताया है। कैयदेव और शोढल इसे पित्त और कफ के रोगों को जीतने वाला तो मानते हैं, साथ ही वे इसे वायु के विकारों को उभाड़ने वाला भी समझते हैं।

*(क) तत्फलं भेदनं शीतं लघु मेह त्रिदोषजित् ।।
म. पा. नि., शाक. ७, १९।

(ख) फलमस्याः कटु स्निग्धं तिक्तं पाके हिमं लघु ।।
दीपनं भेदनं हृद्यं वातन्दं हन्त्यरोचकम् ।
कासमेहज्वरश्वासकुष्ठपित्तकफानिलान् ।।
कै. दै. नि., औ. व., ५२९-५३०।

(ग) तिक्तकोशातकं तिक्तं वातलं कफपित्तजित् ।
अवृष्यं कटुकं पाके सारकं वान्तिकारकम् ।।
एतत्फलं च वीजं च नस्यान्नासाशिरोर्तिजित् ।।
शो. नि.।

उपयोग

कड़वी तोरी का उपयोग केवल चिकित्सा में है, भोजनों में नहीं। विष-विज्ञान (Toxicology) की दृष्टि से यह किस्म महत्त्व की है।

इस जंगली किस्म कटुसार (Amara) का फल और फल का रस तीव्र विरेचक तथा वामक और विषैला है।

बीजों की खली कड़वी और विषैली है।

कड़वी तोरी का गूदा कुत्ते के काटने पर तथा अन्य विषों में पानी के साथ देते हैं।

कोमन ने एक में दस का काढ़ा दमें में दिया था। बलगम को भली-भाँति निकाल कर यह लाभ करता हुआ पाया गया।

***

संक्षिप्त जीवन परिचय-माला—१२

रसायनशास्त्र के संस्थापकः—परमाणुशास्त्री श्री रदरफोर्ड

नन्दलाल जैन

कौन ऐसा विज्ञान का विद्यार्थी होगा जिसे श्री रदरफोर्ड का नाम सुनकर संमोहन और प्रोत्साहन न मिलता हो? निर्धन परिवार में जन्म लेने पर भी अनुपम प्रतिभा से सम्पन्न इस व्यक्ति ने अपने अथक परिश्रम, लगन व प्रयोग-कौशल से बीसवीं सदी के प्रारम्भ में रेडियोधर्मिता और परमाणु-रचना जैसे गम्भीर और सूक्ष्म विषय को परिमाणात्मक प्रयोगों की कोटि में लाकर और उनके अवयवों का परिज्ञान कर आश्चर्य उत्पन्न कर दिया। सचमुच में विज्ञान की प्रगति का इतिहास स्थिर नहीं है, वह तो 'क्वाण्टा' के समान पर अनियमित उच्छलनों की परम्परा मात्र है। १९ वीं सदी का अन्तिम दशक और इस सदी का प्रथम पाद इसी कोटि में आता है जब १७९५-९७ के बीच एक्सकिरण, रेडियोधर्मिता और इलेक्ट्रॉन के अन्वेषण में, अट्ठारहवीं सदी के अन्तिम पाद के समान, परमाणु की अविभाज्यता की पौराणिक मान्यता को प्रयोगों से खंडित कर दिया। यही नहीं, श्री रदरफोर्ड ने स्वयं कीमियागरों के उस स्वप्न को साकार किया

जिसमें वे धातुओं को सोने में बदलना चाहते थे : उन्होंने अल्फाकणों की बौछार से नाइट्रोजन को ऑक्सीजन में परिणत किया। वे परमाणु-जगत के उत्कृष्ट गोताखोर थे, जिन्हें पचपन वर्ष की उम्र में भी यह अभिलाषा रही कि परमाणु के केन्द्रक का रहस्य जानने के बाद ही अवकाश ग्रहण करें। यह उनके अदम्य साहस, आंतरिक बल एवं उत्साहवर्धक जीवन का प्रतीक है।

श्री रदरफोर्ड के वैज्ञानिक जीवन की अनुपमता का श्रेय जहाँ उनकी मौलिक प्राकृतिक प्रतिभा को दिया जा सकता है, वहीं उनके गुरुजनों, सहपाठियों और सहयोगियों का योगदान भी अमूल्य है। केंब्रिज-वास के समय श्री ब्राग, श्री ग्लेजब्रुक आदि लगभग पच्चीस भावी भौतिकशास्त्री उन्हें मिले। कनाडा में श्री ईव, श्री ओवन्स, श्री सोडी, श्री ओटोहान जैसे लोगों का निर्देशकत्व उन्हें प्राप्त रहा है। मैनचेस्टर में तो श्री जीगर, श्री नागाओका, श्री मौस्ले, श्री नीलबोर, श्री चेडविक और इसके बाद केंब्रिज के जीवन में श्री आस्टन, श्री विल्सन, श्री कपिशा जैसी प्रतिभाओं ने उनकी प्रगति में चार चाँद लगा दिये। उनकी प्रमुख विशेषता यह बताई जाती है कि उनकी कल्पनायें रचनात्मक होती थीं और प्रयोगशाला जटिलता शून्य होती थी। परमाणु-रचना के कारण उनकी प्रयोगशाला अन्तर्राष्ट्रीय बन गई थी, और उन्हें स्वयं अनेकों बार विदेश भ्रमण करना पड़ा। उच्चकोटि के वैज्ञानिक होते हुए भी श्री रदरफोर्ड की वेशभूषा नितांत सादी थी और उन्हें अभिमान तो छू तक न गया था। सबसे बड़े आश्चर्य की बात तो उन्होंने तब कही जब उन्हें सन् १९०८ में रसायन शास्त्र के लिये नोबल-पुरस्कारसे सम्मानित किया गया, "मैंने बड़े-बड़े परिवर्तन देखे हैं, पर उन सबसे तीव्रगामी परिवर्तन यह है कि मैं इसी रात भौतिकशास्त्री से रसायनशास्त्री बन गया।" सचमुच ही परमाणु-रचना के प्रस्तावक होने के कारण उन्होंने भौतिक एवं रसायनशास्त्र की एक परम्परागत सीमा-रेखा को समाप्त कर दिया और दोनों की एक-मार्गता प्रदर्शित की। उनके कई शिष्य और सहयोगियों को भी उनके जीवनकाल में ही यह सम्मान मिला, जिनमें श्री आस्टन और श्री नीलबोर प्रमुख हैं।

संक्षिप्त जीवनी

श्री रदरफोर्ड का जन्म सन् १८७१ में न्यूजीलैंड के 'स्प्रिंगग्रोव' में एक निर्धन परिवार में हुआ था, जो कृषि और बढ़ईगीरी जैसे परिश्रमसाध्य माध्यम से जीविका चलाता था। इनका बचपन 'फॉक्सटिल' में बीता। दस वर्ष की उम्र में ये 'हैवलॉक' आ गये, जहाँ इनके पिता कृषि-विशेषज्ञ के रूप में आये थे। इनका लालन-पालन ग्रामीण वातावरण में हुआ जहाँ प्राकृतिक नद-नदी, पर्वतीय उपत्यकायें और पशु-पक्षी इनके आमोद के साधन थे। खेल-कूद, शिकार और बागवानी में इनकी अत्यन्त रुचि रही है।

दस वर्ष तक वे 'फॉक्सहिल' में पढ़ते रहे, जहाँ उनके अध्यापकों ने उनके 'होनहार' होने की बात भाँपी थी। 'हैवलॉक' में तो इनकी बुद्धि की तीव्रता और रचनात्मक प्रतिभा और भी प्रकट हुई जब इन्होंने एक कैमरा और बन्दूक पूरी तरह खोलकर फिर से बनाई और परीक्षा में छः सौ में से पाँच सौ अस्सी गुणांक प्राप्त किये।

प्रायमरी के बाद वे 'नेलसन' महाविद्यालय में पढ़ने लगे। उस समय विज्ञान ऐच्छिक विषय था और बहुत कम छात्र लेते थे। पर जो इसे पढ़ते थे उन पर विशेष ध्यान दिया जाता था। यहाँ उन्होंने गणित, इतिहास व अंग्रेजी में दक्षता प्रदर्शित की और कई पुरस्कार जीते। कहते हैं अध्ययन के समय वे इतने तल्लीन हो जाते थे कि प्रचंड शोरगुल में भी इनका ध्यान भंग नहीं होता था : ऐसी सहज एकाग्रचित्तता थी उनकी। यहाँ का पाठ्यक्रम समाप्त करने के बाद वे विश्वविद्यालय की छात्रवृत्ति प्राप्त करने की प्रतियोगिता में बैठे। एक दिन जब वे खेत में आलू खोद

रहे थे, तो उनकी माँ ने उन्हें छात्रवृत्ति-प्राप्ति का शुभ संवाद सुनाया, तो उन्होंने तुरन्त कहा, "अब मैं कभी आलू नहीं खोदूँगा।" सच पूछा जावे, तो इस छात्रवृत्ति ने ही इन्हें विश्वविख्यात वैज्ञानिक बनने का अवसर प्रदान किया। इक्कीस वर्ष की उम्र में वे बी० ए० हो गये और गणित में विशेष योग्यता प्राप्त की। अगले ही वर्ष गणित और भौतिक विज्ञान में वे एम० ए० हुए और सर्वप्रथम आये। यहाँ वे फुटबाल के प्रमुख खिलाड़ी थे और भाषण व वाद-विवाद में खूब भाग लेते थे। वे 'विज्ञान-समिति' के अध्यक्ष भी रहे और 'तत्त्वों के विकास' पर बोले।

अब उन्हें विज्ञान में विशेष रुचि उत्पन्न हुई और उन्होंने बी० एस-सी० करने की सोची। उस समय 'शोध-कार्य' करने पर ही यह उपाधि प्राप्त होती थी। फलतः उन्होंने रेडियो की ग्राहक प्रणाली को सुधारने के लिए श्री ब्रेनली के उपकरण में परिवर्धन किया और सफलता पाई। 'अत्युच्च आवृत्ति वाले आवेश से लोहे के चुंबकीकरण' विषय पर तेइस वर्ष की उम्र में इनका पहला शोधपत्र प्रकाशित हुआ। इसके बाद कुछ समय तक ये अध्यापक रहे: भाग्य से सन् १८९५ में इन्हें शोध-कार्य के लिये सन् १८५१-छात्रवृत्ति प्राप्त हो गई और इंग्लैंड की तत्कालीन केवेंडिश प्रयोगशाला में चालीस वर्षीय विश्वख्याति प्राप्त श्री थामसन के निर्देशन में वे शोध-कार्य करने आये जहाँ उन्होंने निर्वात विद्युत विसर्जन एवं रेडियोधर्मिता पर काम किया। यहाँ उन्हें कट्स-टॉटर छात्रवृत्ति भी मिली। इस समय ये पच्चीस वर्ष के थे और अपने परिश्रम तथा प्रतिभाशाली मस्तिष्क के कारण वे २७ वर्ष की उम्र में ही पी० एच० डी० हो गये और २७ वर्ष की अल्पायु में वे कनाडा के मेगिल विश्वविद्यालय में भौतिकशास्त्र के आचार्य बन गये। यहाँ वे नौ वर्ष रहे और रेडियोधर्मिता विषयक शोधकार्य के द्वारा इस विभाग को सर्व ज्ञात बना दिया। तदुपरांत १२ वर्ष तक वे मैनचेस्टर में भौतिकशास्त्र-विभाग के अध्यक्ष रहे, जहाँ उन्हें अपनी परमाणु-संबंधी खोजों के कारण पर्याप्त ख्याति मिली। इसी काल में उन्हें विभिन्न संस्थाओं की सदस्यता, सम्मान और नोबल-पुरस्कार मिला। सन् १९१९ में जब वे केवेंडिश-प्रोफेसर बनकर केंब्रिज आये, तब तक उनके नवीन सिद्धान्तों व अन्वेषणों ने विश्व को आकृष्ट कर लिया था। यहाँ शैक्षणिक जीवन के साथ उनको सार्वजनिक जीवन में भी भाग लेने के अगणित अवसर प्राप्त हुए। उन्होंने कई बार यूरप और अन्य देशों का दौरा किया और विभिन्न विश्वविद्यालयों व शोध-संस्थानों में उन्होंने अपने अन्वेषणों पर भाषण दिये। लोकप्रिय भाषण कला में तो उन्होंने पर्याप्त ख्याति अर्जित की वे अपने अन्तिम समय तक केंब्रिज में रहे।

विभिन्न समिति व संघों के वे सदस्य बने और अध्यक्ष भी हुए। इग्लैंड की रॉयल सोसाइटी, कनाडा की फिजिक्स सोसाइटी, ब्रिटिश असोसियेशन व वैज्ञानिक व औद्योगिक अनुसंधान परिषद् की अध्यक्षता प्रमुख है। विभिन्न संघों के वार्षिक अधिवेशन तथा विभागीय समितियों की अध्यक्षता तो उन्होंने अगणित बार की।

केंब्रिज और उसके पूर्व भी अपनी वैज्ञानिक शोधों के कारण उन्हें विभिन्न राजकीय एवं जन सम्मान भी ग्रहण करने का अवसर प्राप्त हुआ। उन्हें ब्रेसा पदक, अलबर्ट पदक और केपले पदक दिये गये। सन् १९१४ में वे नाइट बनाये गये, सन् १९२४ में O. M. उन्हें दिया गया और सन् १९३१ में वे बेरन बनाये गये। संसार के कम से कम तेइस विश्वविद्यालयों ने उन्हें अपनी उपाधियों से सम्मानित किया।

भारत के प्रति वे अत्यन्त उदार थे। उन्होंने प्रयत्न किया था कि सन् १८५१-छात्रवृत्तियाँ भारतीयों को भी दी जावें। वे भारतीय विज्ञान कांग्रेस व ब्रिटिश असोसियेशन की संयुक्त सभा में सन् १९३७ में भारत आने वाले थे, उनका भाषण भी तैयार था, पर अकस्मात् ही उनकी मृत्यु हो गई।

सादा जीवन उच्च विचार

श्री रदरफोर्ड 'सादा जीवन उच्च विचार'

के ज्वलन्त प्रतीक थे। लम्बे कद का बलिष्ठ शरीर और मूछों से युक्त प्रदीप्त चेहरा: देखने में वे विद्वान् नहीं, किसान से लगते थे। एकबार वे होटल में बैठे हुए थे। अचानक किसी विषय पर चर्चा चल पड़ी, तो उन्होंने अपनी वाक्पटुता से सबको प्रभावित कर दिया: बाद में पता चला वे कौन थे? एकबार जापान के सम्राट् ब्रिटेन आये जब उनका परिचय इनसे कराया गया, तो मुखमुद्रा देखकर उन्होंने कहा, "क्या ये प्रसिद्ध परमाणुशास्त्री श्री रदरफोर्ड के सुपुत्र हैं?" उनके विषय में कहा जाता है कि उन्होंने न तो कभी किसी को अपना शत्रु बनाया और न कभी किसी की मित्रता खोई। वे परोपकारी, कृतज्ञताप्रेमी व सबके श्रद्धाभाजन थे।

वे सच्चे वैज्ञानिक व्यक्ति थे। विज्ञान की प्रगति के प्रवाह में पूर्वाग्रही मनोवृत्ति ने बहुत व्याघात उत्पन्न किया है। इसके विपरीत श्री रदरफोर्ड की मान्यता थी कि पूर्वस्थापित सिद्धान्तों को मिटाकर नहीं, उनकी भित्ति पर ही विज्ञान उन्नति करता है। यही कारण है कि वे नये तथ्यों को स्वीकार करने के लिये सदा तत्पर रहते थे। श्री नीलबोर की परमाणु-रचना के नये प्रतिरूप को उन्होंने स्वीकार किया, न्यूट्रान और पोजिट्रन की भविष्यवाणी को अपने ही सामने सत्यापित हुआ देख वे अतिप्रसन्न हुए थे। उनका कथन था कि नये तथ्यों से हमारे सोचने की सामर्थ्य बढ़ती है जब कि परम्परायें व सामाजिक या बौद्धिक कट्टरतायें प्रायः संकुचित बना देती हैं। वे इनके पक्षपाती कभी नहीं रहे। यही कारण है कि यूरेनियमोत्तर तत्त्वों के आविष्कारकों को सन् १९३५ में उन्होंने उनकी संभाविता के संबल पर ही बधाई भेज दी थी। उनका मस्तिष्क प्रयोग परायण था: शोध के आधार पर तथ्य-निष्कर्षक था।

वैज्ञानिक होते हुए भी उनमें उदार मानवीय दृष्टि और जनसेवा की वृत्ति थी। वे विज्ञान को अन्तर्राष्ट्रीय मानते थे। यही कारण है कि युद्ध काल में भी वे विदेशों का दौरा करते थे और वैज्ञानिकों से सम्पर्क स्थापित कर ज्ञानभंडार में वृद्धि करते थे। वे युद्ध के विरोधी थे और कहते थे कि यदि युद्ध में बमबाजी बन्द हो जावे, तो इतिहास का मोड़ बदल जावे। उन्होंने हिटलर की नीति के कारण निष्कासित-प्रायः आठ सौ वैज्ञानिकों को अपने देश में काम दिया। अपने सहयोगियों के तो वे 'पापा' ही थे, जो उनकी अनुभूति-गरिमा के साथ ही उनके प्रेम सहानुभूति भरे व्यवहार से उत्पन्न श्रद्धा व आदर की भावना को व्यक्त करता है। अपने व्यस्त जीवन में भी वे अपने माँ-बाप का सदा स्मरण करते थे, जिनकी ग्यारह संतानों में से ये चतुर्थ क्रम पर थे। यह सही है कि कभी-कभी अन्वेषण-कार्य की तल्लीनता उन्हें पारिवारिक झंझटों का आह्वान करा देती थी, फिर भी उनका जीवन सुखमय था। उनका परिवार भी अल्प था—प्रेमविवाह और एक सुन्दर पुत्री: प्रारम्भिक आर्थिक कठिनाइयों के बावजूद भी उन्होंने एक मकान बनवा लिया था और एक 'कार' ले ली थी, और प्रकृति के प्रांगण में निरन्तर रमण करते हुए विज्ञान की प्रगति में योगदान करते हुए आदर्श सुखमय जीवन बिताया।

वैज्ञानिक जीवन और अनुसंधान-कार्य

श्री रदरफोर्ड का वैज्ञानिक जीवन सन् १८९४ ई० से प्रारम्भ हुआ और लगभग ४० वर्षों तक वे सक्रिय रहे। उनका काम केवल नये तथ्यों का उद्घाटन करना ही नहीं था, अपितु उन्हें समुचित रूप में साहित्य-सृजन द्वारा अथवा लोकप्रिय भाषणों द्वारा जनता तक पहुँचाना भी था। अतः हम उन्हें न केवल लगनशील व परिश्रमी शोधकर्ता के रूप में ही पाते हैं, अपितु अपने अगणित शोधपत्रों, तीन प्रसिद्ध पुस्तकों और देश-विदेश में लोकप्रिय भाषणों के रचयिता और प्रदाता के रूप में भी देखते हैं। उनके अनुसंधान-कार्य की तीन दिशायें प्रमुख रही हैं, जिनमें बेतार के तार को छोड़कर अन्य परस्पर सम्बन्धित हैं। इनका संक्षिप्त विवरण हमें जान लेना चाहिये—

(अ) बेतार के तार सम्बन्धी अनुसंधान -

अपनी बी० एस०-सी० की उपाधि के लिये

उन्होंने रेडियो तरङ्गों को ग्रहण करने के लिये एक परिवर्धित उपकरण बनाया जिससे वे ६० फीट की दूरी तक बेतार संदेश भेजने में सफल हुए। इस कार्य को उन्होंने कैंब्रिज में और भी आगे बढ़ाया और वे आधी मील तक की दूरी के संदेश ग्रहण कर सके। यह सन् १८९३ की बात है जब रेडियो आविष्कारक श्री मार्कोनी के प्रयोग प्रारम्भिक अवस्था में थे। यदि श्री रदरफोर्ड अपने इन प्रयोगों को कुछ समय और चालू रखते, तो संभव है, रेडियो-आविष्कार का श्रेय उन्हें ही मिलता। इस सम्बन्ध में उनका एक शोधपत्र भी प्रकाशित हुआ और सन् १८९६ में एक दूसरा शोधपत्र उन्होंने रॉयल सोसायटी में पढ़ा।

(ब) रेडियोधर्मिता संबंधी अनुसंधान

कैम्ब्रिज में श्री थामसन के संकेत पर उन्होंने 'गैसीय माध्यम में विद्युत् का परिचालन' विषय पर काम शुरू किया और एक्स किरणों का भी उपयोग किया। उन्होंने थामसन द्वारा प्रयुक्त उपकरण में सुधार किया और बताया कि एक्स किरणों के प्रवाह से गैसों में आयनीकरण हो जाता है। उन्होंने आयनों को भिखारी के समान सर्वत्र सुलभ बताया। नील लोहितोत्तर प्रकाश के प्रभाव से यशद-पट्ट से जो कण प्राप्त होते हैं, वे इलेक्ट्रान हैं, यह उन्होंने सिद्ध किया और एक ऐसा उपकरण भी निर्मित किया जिससे आयनों की गति ज्ञात की जा सके। इसके बाद उन्होंने यूरेनियम से उत्सर्जित किरणों का अध्ययन किया और बताया कि वे तीन प्रकार की होती हैं। ग्रीक प्रणाली पर अल्फा, बीटा व गामा—नामकरण भी उन्होंने ही किया। उन्होंने यह भी बताया कि गामा किरणें तो एक्स किरण ही हैं और बीटा किरणें इलेक्ट्रान हैं।

अल्फा कणों की प्रकृति जानने के लिए पर्याप्त प्रयोग करने पड़े। उनके शिष्य श्री ओवन्स ने थोरियम के संबंध में प्रयोग किये और थोरियम के द्वारा "उपपादित" रेडियोधर्मिता एवं कुछ नये कणों का ज्ञान किया जो यूरेनियम के उत्सर्जन से भिन्न थे। उन्होंने यूरेनियम और थोरियम के विकिरणों को सावधानीपूर्वक दुहराया और बताया कि इस प्रक्रिया में हीलियम गैस प्राप्त होती है। श्री सॉडी के साथ प्रयोग करने पर उन्होंने देखा कि रे० और थो० के परमाणु विकिरण-जन्य परिवर्तनों के कारण विभाजित होते जा रहे हैं जिससे अल्फा तथा बीटा कणों के रूप में नवीन कण तो प्राप्त होते ही हैं और अन्त में एक सरल परमाणु बच रहता है। यह परमाणु-विभाजन की क्रिया प्रकृति में निरंतर चलती है, इस पर भी परमाणु-अविभाजित माना जाता रहा? यह शंका उन्होंने अपने एक भाषण में व्यक्त भी की थी। उन्होंने बताया कि यूरेनियम अन्त में सीसे में परिणत हो जाता है। यह कीमियागिरी के विरुद्ध दुर्लभ धातु की सरल धातु में परिणत होने की क्रिया है। उन्होंने विकिरणीधर्मी श्रेणियों का पता लगाया और रेडियोधर्मिता का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। इस विषय पर उन्होंने एक पुस्तक लिखी और आठ वर्षों में लगभग पचास शोध-पत्र इस विषय पर प्रकाशित हुए। अल्फा कणों की प्रकृति तो उन्हें मैनचेस्टर में आने पर ज्ञात हुई, जब उन्होंने रेडियम पर भी प्रयोग किये और श्री जीगर के उपकरण से यह देखा कि एक मिलीग्राम रेडियम से १,३६००० अल्फा कण उत्सर्जित होते हैं। कणों की गणना से जहाँ परमाणु की दृश्यता प्रगट हुई, वहीं अल्फाकणों का भार भी ज्ञात हो गया, जो लघुतम हाइड्रोजन परमाणु से दुगना पाया गया। फलतः अल्फाकण हीलियम गैस के आवेशित कण हैं, यह सिद्ध हो गया।

(स) परमाणु-संबंधी अनुसंधान

रेडियोधर्मी परिवर्तनों के अध्ययन से यह तो स्पष्ट ही हो गया था कि परमाणु ठोस गेंद के समान नहीं हैं और वे खंडित होते रहते हैं। इन परिवर्तनों में इलेक्ट्रान प्रत्येक प्रयोग में प्राप्त हुए, फलतः परमाणुओं को इलेक्ट्रानमय ही माना जाने लगा। श्री रदरफोर्ड को यह बात नहीं जँची : मात्र ऋणावेशित परमाणु स्थायी कैसे हो सकता है? उसमें धनात्मक अवयव अवश्य होना चाहिए। उन्होंने इसे जानने के लिए परमाणुओं

पर अल्फाकणों की तेज बौछार की, जिसमे उन्होंने देखा कि काफी कण तो पार हो जाते हैं, पर वापस लौट आते हैं। जो किसी ठोस धनात्मक प्रतिरोधक के कारण ही है। फलतः परमाणु की सौर-रचना सन् १६-११ में प्रस्तावित हुई, जिसमें धनात्मक नाभि के चारों ओर इलेक्ट्रान भ्रमित होते रहते हैं। जो परमाणु जितना ही बड़ा होगा, उसकी नाभि भी उतनी ही भारी होगी एवं उसमें इलेक्ट्रानों की संख्या भी उतनी ही अधिक होगी। श्री नीलबोर के सहयोग से उन्होंने क्वाण्टम-सिद्धान्त के आधार पर नवीन परमाणु-प्रतिरूप उपस्थित किया जिसमें इलेक्ट्रान विशिष्ट कक्षों में व निश्चित संख्या में नाभि के चारों ओर परिभ्रमण करते हैं। थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ यह रचना आज भी प्रचलित है। उन्हें इस रचना के विषय में एक शंका सन् १६२० में उठी कि यह अटपटा-सा लगता है कि केवल धनावेशित प्रोटान में ही परमाणु का सारा भार केन्द्रित हो। उन्हें धनावेशित इलेक्ट्रानों की सम्भावना में आकर्षण था, जिनका पता श्री आर्डर्सन ने १६३० में 'पोजिट्रान' के रूप में प्रकट किया। इसी प्रकार उन्हें अल्फाकणों से हल्के कणों की संभावना भी तीव्रतर बौछारों के लिए प्रतीत हुई, जिसकी प्रकृति शिथिल हो। इसे वे स्वयं तो प्रयोग सिद्ध न कर सके पर श्री चेडविक ने सन् १६३२ में 'न्यूट्रान' के रूप में इन कणों को भी परमाणु के अवयव के रूप में प्रमाणित कर दिया।

(द) तत्वांतरण की क्रिया

श्री मार्सडन के प्रयोगों से उत्साहित होकर सन् १६१६ में उन्होंने नाइट्रोजन पर अल्फाकणों की बौछार की, तो उन्हें हाइड्रोजन-नाभि प्राप्त हुई। इससे स्पष्ट है कि नाइट्रोजन परमाणु भीतर से भी खंडित हो गया। यह एक अभूतपूर्व प्रक्रिया थी जिसमें प्रयोगशाला में परमाणु विभाजित होने लगे। यही नहीं, बौछारों से जो कण प्राप्त होते थे, उनके साथ प्रभूत ऊर्जा भी प्राप्त हुई। इस ऊर्जा का विकास श्री रदरफोर्ड के समय में तो नहीं, पर उनकी मृत्यु के आठ वर्ष बाद परमाणु बम के रूप में हुआ, यह सभी जानते हैं। उन्होंने देखा कि अल्फाकणों की सहायता से कुछ तत्त्व ही विभाजित किये जा सकते हैं, क्योंकि वे भारी परमाणुओं की नाभि से धनावेशित होने के कारण विकर्षित या प्रभावहीन हो जाते हैं। अतः उन्हें सन् १६२० में अल्फा-कणों से लघुतर पर वेगवान कणों की सम्भावना में प्रयत्न करने पड़े। उन्होंने नाइट्रोजन से अल्पमात्रा में आक्सीजन प्राप्त किया था, जिसका सत्यापन सन् १६३२ में उन्हीं के सहयोगी श्री कोकक्रोफ्ट और वाल्टन ने किया। उन्होंने लिथियम पर प्रोटानों की बौछार से हीलियम प्राप्त किया। इसके बाद तो विभिन्न प्रयोगों में कई तत्त्वों को तत्त्वांतरित किया गया और उससे प्राप्त ऊर्जा का मान ज्ञात किया। उन्होंने बताया कि परमाणु की नाभि बड़ी संकीर्ण होती है, जहाँ सूक्ष्मतम दूरी पर वैद्युत-नियम लागू नहीं होते हैं। नाभि के विभंजन के कारण ही तत्त्वांतरण होता है। हाँ, उन्होंने ऊर्जा की व्यावहारिकता के विषय में अवश्य ही निराशावादी मत व्यक्त किया था, जो उनके देश में ही प्रगति का प्रतीक बनकर प्रस्तुत हो रही है।

(य) समस्थानिक-संबंधी शोध

अमेरिका के श्री युरे ने हाइड्रोजन के समस्थानिकों के सम्बन्ध में शोध की थी : उससे प्रेरित होकर सन् १६३३ में उन्होंने भी इस विषय पर काम किया। ब्रिटेन में इस विषय पर मतभेद भी चला, पर उन्होंने बताया कि समस्थानिक उन्होंने प्राप्त कर लिये हैं। उन्होंने ड्यूटीरियम के अतिरिक्त हाइड्रोजन के एक अन्य समस्थानिक, ट्रिटियम, की सम्भावना व्यक्त की, इस सम्बन्ध में उन्होंने कोई टन पानी को उद्वास्थित भी किया, पर वे इसे प्राप्त न कर सके। श्री ओलिफेंट ने तो ११,०० टन पानी विश्लेषित कर ३०६-सेमी०जल प्राप्त किया, पर उससे भी यह प्राप्त न हो सका। पर्याप्त समय बाद ट्रिटियम को प्रमाणित किया गया।

(क) विविध शोधकार्य

प्रथम विश्वयुद्ध के समय उन्होंने एक हाइड्रोफोन

विकसित किया, जिसकी सहायता से पानी के भीतर पनडुब्बियों की स्थिति का पता चलाया जा सकता था। कनाडा में भी उन्होंने डायनमो के कम्पनों का सूचक-यंत्र तैयार किया। उन्होंने विश्व-किरण एवं रेडियम-चिकित्सा पर भी थोड़ा बहुत काम किया है।

(ख) लेखन और भाषण

श्री रदरफोर्ड न केवल वैज्ञानिक शोधशास्त्री ही थे, वे एक उच्चकोटि के लेखक थे और अपने जीवन काल में उन्होंने "रेडियो एक्टिविटी", "हिस्टरी ऑव केवेंडिश लेबोरेटरी" (१९०८-१०) और 'न्युवर अलकेमी' (१९३७) नामक तीन पुस्तकें लिखीं जिनकी प्रामाणिकता आज भी मान्य है। इनमें उन्होंने अपने प्रयोगों और सिद्धान्तों का उपस्थापन किया है। उनका विश्वास रहा है कि वैज्ञानिक प्रगति की जानकारी सामान्य जनता को भी होनी चाहिये। फलतः वे 'लोकप्रिय भाषण' कला के आदर्श रूप पाये जाते हैं। परमाणु-रचना जैसे गूढ़ विषयों को सामान्य जन को मनोरंजक विधि से समझाना उनका ही काम था। उन्होंने 'बेतार-के तार', 'परमाणु का तौलना', परमाणु-रचना का विकास उनकी गणना, इलेक्ट्रान जैसे विषयों पर अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, जर्मनी, इंग्लैंड आदि अगणित देशों में लोकप्रिय भाषण दिये। रॉयल इंस्टीट्यूशन के सन् १९२३ के छः भाषण तो लोकप्रिय भाषण-कला के उत्कृष्ट नमूने माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त श्री क्यूरी और लार्ड लिस्टर के विषय में दिये गये उनके लेख व भाषण उनके असामान्य ज्ञान व विचार-शीलता को पुष्ट करते हैं।

(ग) आदर्श वैज्ञानिक

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि श्री रदरफोर्ड की प्रतिभा चतुर्मुखी थी और उनका जीवन सचमुच ही आदर्श और अनुकरणीय रहा है। उनके अनुसंधानों का ही यह प्रभाव है कि आज हम परमाणु-युग के कल्याणकारी रूपों की योजना बनाने में लगे हुए हैं। उन्होंने प्रचंड आर्थिक कठिनाइयों व व्यक्तिगत असुविधाओं का ख्याल न करते हुए भी अपने वैज्ञानिक कार्यों में अविराम गति से तल्लीनता प्रकट की, यह उनकी विशालता और सफलता की सबसे बड़ी कुंजी है। आज के युग में पग-पग पर व्याघात आने के कारण निराशावाद से ग्रस्त लोगों के लिये उनका जीवन महान् प्रेरणादायी और उत्साहवर्धक है। उन्होंने सचमुच विज्ञान के अन्तर्राष्ट्रीय रूप और वैज्ञानिक मनोवृत्ति के उदार एवं पूर्वाग्रह-रहित होने की परंपरा का प्रारम्भ कर एक नवीन दिशा दी है जो अनुकरणीय ही नहीं, अपितु आदर्श भी है।

---

१. विद्युत का सम्भाव्य स्रोत—वाइरस

क्या नन्हें वाइरसों से नौका चलाने के लिए चालक-शक्ति प्राप्त हो सकती है ? क्या वे बिजली के लट्टुओं को प्रकाशित और रेडियो को संचालित कर सकते हैं ?

जी हाँ, यह न केवल सम्भव है, बल्कि ठीक इस क्षण एक वैज्ञानिक प्रयोगशाला में ये सभी कार्य सच-मुच सम्पन्न कर रहे हैं।

क्या नन्हें-नन्हें जीव समस्त नगरों को प्रकाशित कर सकते हैं ? क्या वे भविष्य के लिए विद्युतशक्ति के एक सम्भाव्य एवं विशाल नये स्रोत के रूप में अणु-शक्ति के पूरक बन सकते हैं अथवा उसका स्थान ग्रहण कर सकते हैं ? जी हाँ, ऐसा ही आभास मिलता है।

अमेरिका के दो वैज्ञानिक—डा० फ्रेडरिक सिस्लर और डा० राबर्ट सारवाचर—इसी प्रकार के वैज्ञानिक अनुसन्धान में संलग्न हैं। वे एक ऐसी 'जीवाणविक बैटरी' का निर्माण कर चुके हैं, जो बिजली उत्पन्न करने के लिए अम्ल और धातु के बजाय कीटाणुओं का प्रयोग करती है।

वाइरस 'खाने और जीवित रहने' की सरल प्रक्रिया द्वारा विद्युत्-शक्ति उत्पन्न करते हैं। वे वस्तुतः एक विशेष जाति के कीटाणु हैं, जिनकी सही किस्म अभी गोपनीय है, क्योंकि उसके सम्बन्ध में अमेरिकी सरकार के साथ हुए एक अनुबन्ध के अन्तर्गत वैज्ञानिक अनुसन्धान कर रहे हैं। डा० सिस्लर ने सबसे पहले यह खोज की कि परीक्षण के उद्देश्य से उन्होंने समुद्र के पानी में पाये जाने वाले कीटाणुओं के एक ट्यूब में जब एक विद्युदग्र युग्म प्रविष्ट किया तो उन सूक्ष्म जीवाणुओं से बिजली की अत्यन्त क्षीण किन्तु माप्य धारा उत्पन्न हुई। जनरल सायंटिफिक कार्पोरेशन के डा० सारबाचर ने विद्युदग्रों पर कीटाणुओं की पर्तें चढ़ाने की विधि का पता लगा लिया, जिसके फल-स्वरूप २ वोल्ट की बिजली उत्पन्न होने लगी। इस प्रकार तैयार बिजली की मात्रा एक शुष्क सेल बैटरी द्वारा उत्पन्न बिजली की अधिकतम मात्रा, अर्थात् २·५ वोल्ट से कुछ ही कम थी। इस बिजली से लट्टू प्रकाशित करने तथा ट्रांजिस्टर रेडियो चालित करने में केवल तार जोड़ने की देर थी।

कीटाणुओं से बिजली को एक नये और सस्ते स्रोत की खोज जितनी महत्त्वपूर्ण थी, उतना ही महत्त्वपूर्ण इस प्रक्रिया के दौरान प्राप्त एक उप परिणाम था। ये नन्हें कीटाणु भोजन के रूप में जिन वस्तुओं का प्रयोग करते हैं, वे ऐसी हैं जिन्हें सर्वथा व्यर्थ समझ कर फेंक दिया जाता है। कूड़ा-करकट अथवा कोई भी सड़ी-गली वस्तु इनका भोजन होती है। परीक्षण के दौरान यह देखा गया कि कीटाणु इन सड़ी-गली वस्तुओं को खा कर बिजली उत्पन्न करते हैं, किन्तु स्वयं खाने के बाद कोई गन्दगी उत्पन्न नहीं करते। अतः कितने ही वैज्ञानिकों को यह आशा हो चली है कि ये कीटाणु न केवल नगरों को प्रकाशित करने के लिए बिजली उत्पन्न करेंगे, बल्कि नदी के पानी की सफाई भी करेंगे, जिससे गन्दगी साफ करने वाले संय-न्त्रों की आवश्यकता नहीं रह जायेगी।

अभी सैद्धान्तिक रूप में इस बात का निर्धारण नहीं हो सका है कि कीटाणुओं द्वारा कितनी बिजली उत्पन्न होगी। इस प्रक्रिया की खोज करने वाले वैज्ञानिकों का कहना है कि सम्भवतः विश्व भर में काला सागर विद्युत् उत्पन्न करने वाले कीटाणुओं के लिए खाद्य-पदार्थ का सबसे बड़ा स्रोत है। डा० मिस्लर का विश्वास है कि ऐसे विद्युदग्र विकसित हो सकते हैं, जो यूरोप और एशिया के कुछ भागों में बिजली की व्यवस्था करने के लिए सम्भाव्य बिजली को नियन्त्रित करने में समर्थ हों। जीवाणविक बैटरी जीव-वैज्ञानिकों के लिए उन्मुक्त हो रहे नये-नये क्षितिजों में से केवल एक का प्रदर्शन करती है।

१६७६ के उस समय से, जब हालैण्ड में एन्टन वान ल्यूवैनहूक ने साधारण काँच से पहली बार देखे गये नन्हें कीटाणुओं का उल्लेख किया था, अब तक मनुष्य श्रेष्ठतर सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र द्वारा अनेक सूक्ष्मातिसूक्ष्म कीटाणुओं से परिचित हो चुका है। इन्हीं में 'खटमल' भी हैं। सम्भवतः कीटाणु पृथ्वी पर पाये जाने वाले जीवन के सबसे सामान्य रूप को प्रस्तुत करते हैं। वे एक-कोषीय जीव हैं, जो दो भागों में विभाजित हो कर अपनी संख्या में वृद्धि करते रहते हैं। इनमें से कुछ तो प्रत्येक १५ मिनट पर नये कीटाणु को जन्म देते हैं। पृथ्वी पर उनकी संख्या इतनी अधिक है कि सामान्यतः विश्वास करना कठिन हो जाता है। उदाहरण के लिए, मिट्टी के मामूली से टुकड़े में २० करोड़ तक कीटाणु पाये जा सकते हैं।

पाश्चूर, लिस्टर तथा उन्हीं जैसे अनेक अन्य चिकित्सा-वैज्ञानिकों के अनुसन्धान ने इस बात की कि कुछ नन्हें वाइरस (विषाणु) रोगों को जन्म देते हैं। अन्य वैज्ञानिकों ने यह भी प्रदर्शित किया कि कुछ कीटाणु मनुष्य के लिए लाभप्रद होते हैं। उन्होंने यह खोज की कि कुछ कीटाणु हानिकारक कीटाणुओं का प्रतिरोध करके उनका विनाश कर देते हैं।

आज हम अनेक प्रकार के कीटाणुओं को फेन, फफूंद शुक्र आदि श्रेणियों में विभक्त करने में समर्थ हैं। अभी हाल में ऐसे विषाणुओं की भी खोज हुई है, जिन्हें लगभग १ लाख गुना बड़ा करके ही आंख से देखना सम्भव है। अब तक कीटाणुओं की २,००० किस्मों को पहचाना जा चुका है। सम्भवतः अभी उनकी अनेक किस्में अज्ञात हैं।

बहुत दिनों से यह बात एक स्वयं-सिद्धि के रूप में स्वीकार की जा चुकी है कि पदार्थ—चाहे वह निर्जीव हो या सजीव सतत बिजली उत्पन्न करता रहता है। बिजली का सृजन रासायनिक अथवा यान्त्रिक क्रिया द्वारा होता है। उदाहरण के लिए कुछ प्रकार की ईल (जल व्याल) मछलियां अपने भीतर बिजली उत्पन्न करती हैं। इसी प्रकार मनुष्य के शरीर के भीतर रासायनिक प्रक्रियाएँ बिजली की ऐसी धाराएँ उत्पन्न करती हैं, जिन्हें नापा जा सकता है और जिन्हें आज कल चिकित्सा वैज्ञानिक प्रायः मनुष्य के हृदय और मस्तिष्क की गतिविधियों द्वारा अंकित करने में समर्थ हैं।

अत्यन्त सूक्ष्म जीवाणु अपनी बिजली किस प्रकार उत्पन्न करने में समर्थ हैं? अभी तक इस प्रश्न का उत्तर इस जानकारी से आगे नहीं दिया जा सका है कि जीवित पदार्थ बिजली उत्पन्न करते हैं और यह बिजली रासायनिक क्रिया का परिणाम होती है। किन्तु, कीटाणुओं से बिजली के एक सस्ते और सम्भाव्य स्रोत की खोज कर के दोनों अमेरिकी वैज्ञानिकों ने उस विधि का संकेत कर दिया है जिसके द्वारा मनुष्य के लिए बिजली के और भी अधिक सस्ते स्रोत की खोज सम्भव है।

२. मौसम के सम्बन्ध में सही जानकारी

मार्कट्वेन का कथन है, प्रत्येक व्यक्ति मौसम के सम्बन्ध में बातचीत करता है, किन्तु कोई भी व्यक्ति इसके विषय में कुछ करता नहीं है। लेकिन, वे व्यक्ति जो कल के मौसम के सम्बन्ध में ठीक-ठीक बता सकते हैं, अपरोक्ष रूप में, इसके विषय में कुछ करने की

अनुमति देते हैं। मौसम सम्बन्धी भविष्यवाणियाँ किसान को शीघ्र अपनी फसल उठाने को प्रोत्साहित कर सकती हैं और मछुए को तूफान के खतरे से सावधान कर सकती हैं।

मौसम सम्बन्धी भविष्यवाणी करने के लिये नये योग्य व्यक्ति खोजने की इच्छा से तथा जनता को मौसम सम्बन्धी ठीक-ठीक समाचार देने के लिये अमेरिका के मौसम सम्बन्धी ब्यूरो ने ७ वर्ष पूर्व एक अद्भुत योजना प्रारम्भ की। यह योजना 'दि प्रेक्टिस फोरकास्टिङ्ग प्रोग्राम' के नाम से प्रसिद्ध है। इस योजना के अन्तर्गत एक उपयोगी शौक के रूप में ब्यूरो के सैकड़ों कर्मचारियों को मौसम सम्बन्धी भविष्यवाणियाँ करने के अभ्यास के लिए सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं।

अमेरिका के अनेक शहरों में और हवाई अड्डों पर, तथा प्वेर्टोरिको और प्रशांत के कुछ द्वीपों में अमेरिका के मौसम सम्बन्धी विभाग ने लगभग ३०० कार्यालयों की व्यवस्था कर रखी है। इसके अलावा, फेडरल एवियेशन जैसी कुछ सरकारी एजेन्सियों के कर्मचारियों, राज्य तथा नगरपालिका के दलों, हवाई कम्पनियों तथा गैर-सरकारी नागरिकों द्वारा लगभग ६७५ स्थानों से मौसम सम्बन्धी समाचार भेजे जाते हैं। इसके अलावा, मौसम सम्बन्धी ब्यूरो के लगभग १२,३०० उपकेन्द्र हैं, जो मुख्य कार्यालयों द्वारा लिये गये समाचारों की पूर्ति के लिए कम जटिल समाचार उपलब्ध करते हैं। अतः प्रतिदिन ५,००० तापमानों तथा ११,४०० निरीक्षण स्थानों से मौसम सम्बन्धी समाचार प्राप्त होते हैं। लगभग ४,००० ऐसे उपकेन्द्र भी हैं, जो कृषि-सेवाओं, तूफान सम्बन्धी चेतावनियों और अन्य कार्यों के लिए तार अथवा टेलीफोन द्वारा मौसम सम्बन्धी आँकड़े भेजते रहते हैं।

अमेरिका के मौसम सम्बन्धी ब्यूरो के ऐसे कर्मचारियों को ब्यूरो द्वारा मौसम सम्बन्धी भविष्यवाणियाँ करने का प्रशिक्षण दिया जाता है जिन्होंने पहले मौसम के विषय में शिक्षा नहीं पायी हो। अब इसके ७वें वर्ष में, अमेरिका के मौसम ब्यूरो के केन्द्रों में दूसरे कार्य करने वाले लगभग ४०० कर्मचारी सन् १६५२ के मौसम सम्बन्धी भविष्यवाणियाँ करने के अभ्यास-कार्यक्रम के दौरान प्रशिक्षण प्राप्त करेंगे।

मौसम सम्बन्धी जानकारी प्राप्त करने में विशेष कुशलता और दक्षता का परिचय देने वालों को हर वर्ष तीन महीने के प्रशिक्षण-क्रम में भाग लेने के लिए कैन्सास नगर भेजा जाता है।

मौसम केन्द्र के 'प्रैक्टिस फोरकास्ट प्रोग्राम' के मुख्य अधिकारी टामस डब्ल्यू० रूल के अनुसार मौसम के सम्बन्ध में सही और उपयोगी भविष्यवाणी करने में पटु बनने के लिए यह परमावश्यक है कि प्रशिक्षणार्थी को अपने कार्य में अत्यधिक दिलचस्पी और लगन हो। उनके अनुसार अपने काम में पूरी तरह लीन हो जाने वाला व्यक्ति ही एक कुशल मौसम-भविष्यवक्ता बन सकता है।

बौइस (आइडाहो) के एक मौसम-भविष्यवक्ता श्री जौन पी० शेरो का कथन है कि उन्हें बचपन से ही विज्ञान के प्रति अटूट लगाव था। वह ग्रीष्म ऋतु में सारे दिन वृक्षों के नीचे पड़ा रहता और आकाश में छाए बादलों की ओर निहारता रहता था। वह दस वर्ष की आयु से ही मौसम सम्बन्धी रेकार्ड रखने लगा था और उसको यह कार्य करते हुए अब लगभग ३३ वर्ष हो गए हैं। वह इस कार्य की गणना एक कला के रूप में करता है।

मौसम केन्द्र द्वारा "प्रैक्टिस फोरकास्ट प्रोग्राम" मार्च, १६५५ में प्रारम्भ किया गया था। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत मौसम की जानकारी प्राप्त करने सम्बन्धी कार्यों की शिक्षा लेने वाले व्यक्ति को अगले १२, २४ और ३६ घण्टों के तापमानों और वर्षा इत्यादि के बारे में भविष्यवाणी करना पड़ती है।

जनवरी माह में एक प्रशिक्षणार्थी को स्पोकेन (वाशिंगटन) और डिमोइन्स (आयोवा) के मौसम के बारे में भविष्यवाणी करनी पड़ सकती है। फरवरी

में उसे चार्ल्सटन, (वेस्ट वर्जीनिया) और मेडफर्ड (ओरेगॉन) के मौसम के बारे में भविष्यवाणी करने के लिए कहा जा सकता है। उसे पूरे वर्ष तक हर माह दो भिन्न स्थानों के दैनिक तापमान और वर्षा इत्यादि के बारे में भविष्यवाणी करनी पड़ती है। उसकी भविष्यवाणियों की तुलना मौसम सम्बन्धी सरकारी भविष्यवाणी और वास्तविक मौसम से की जाती है।

मौसम केन्द्र द्वारा इस प्रकार के प्रशिक्षणार्थियों को कई प्रकार के उपकरण प्रदान किए जाते हैं। इनमें 'डेटाकार्ड' भी शामिल होता है। इसके अलावा उन्हें विभिन्न केन्द्रों की वर्षा और तापमान सम्बन्धी नवीनतम आँकड़े भी सुलभ किए जाते हैं। हर ६ घण्टे बाद उसके मौसम केन्द्र को अन्य स्टेशनों के मौसम के बारे में टेलीटाइप सूचनाएँ प्राप्त होती हैं।

मौसम के ब्यूरो द्वारा हर तीन घण्टे बाद समस्त देश में वायु की दिशा और गति की सूचना देने वाले विशेष मानचित्र भी प्रसारित किए जाते हैं। इनसे भविष्यवाणी करने वालों को वायु की गति, दिशा और परिमाण इत्यादि की जानकारी प्राप्त करने में महत्त्वपूर्ण सहायता मिलती है। उसे उस स्थान की भौगोलिक स्थिति और रचना इत्यादि के बारे में भी पूरी जानकारी होनी चाहिए जहाँ के मौसम के बारे में उसे भविष्यवाणी करनी है।

ब्यूरो द्वारा ऊपरी वायुमण्डल की स्थिति के जो कार्ड तैयार किए जाते हैं, वे भी उन्हें समय-समय पर प्राप्त होते रहते हैं। यही नहीं, उन्हें समस्त अमेरिका के मौसम को प्रभावित करने वाले तथ्यों जैसे ध्रुवीय शीत लहरों, कनाडा, अलास्का से चलने वाली शुष्क हवाओं, और समुद्र से चलने वाली नम हवाओं—का भी पूरा ध्यान रखना पड़ता है।

इस प्रकार आवश्यक तथ्यों और आंकड़ों से पूरी तरह परिचित रहते हुए मौसम भविष्यवक्ता अपने केन्द्र के मौसम के बारे में भविष्यवाणी करता है।

इस कार्य में अभी तक उन्होंने जो सफलता प्राप्त की है, वह इस बात की द्योतक है कि वे १० बार में से नौ बार मौसम की काफी सही भविष्यवाणी करने में समर्थ रहे हैं। यद्यपि विशेषज्ञों द्वारा की जाने वाली भविष्यवाणी अधिक सही होती है, फिर भी पिछले वर्ष २२ शौकिया भविष्यवक्ताओं की भविष्यवाणियाँ अधिकृत मौसम भविष्यवक्ता से अधिक सही निकलीं।

४. अन्तरिक्ष यान का पथ-निर्देशन

एक अन्तरिक्ष यान की दिशानिर्देश एवं सन्तुलन प्रणालियाँ पूर्णतया त्रुटिरहित होनी चाहिए। एक उपग्रह-अन्तरिक्ष यान को सही-सही दिशा प्रदान करने का अर्थ है कि चारों ओर के निकटतम आकाश-पिण्डों—पृथ्वी, चन्द्रमा, सूर्य तथा नक्षत्रों—के सम्बन्ध से उसकी बिलकुल निश्चित स्थिति सुनिश्चित बनायी जाए।

अन्तरिक्ष यान का पथ-निर्देशन स्वयंचालित रूप से भी किया जा सकता है और हाथों के जरिये भी। इस प्रकार अन्तरिक्ष यान का नियंत्रण पूरी तरह विमान के नियन्त्रण के समान है। किन्तु एक अन्तरिक्ष यान तथा एक आधुनिक विमान में उड़ान की हालतों के बीच मूलभूत अन्तर है।

यह बात सर्वविदित है कि एक उड़ाका अपने शरीर की स्थिति मुख्यतया दृष्टि-ज्ञान से, मांसपेशियों और त्वचा की संवेदनशीलता से और शरीर के सन्तुलन को स्थिर रखने वाली ज्ञानेन्द्रिय से निश्चित करता है। भारहीनता की अवस्थाओं में केन्द्रीय स्नायविक प्रणाली इन तमाम ज्ञानेन्द्रियों से सही-सही संकेत नहीं प्राप्त कर सकेगी। इसलिए अन्तरिक्ष यात्री के लिए केबिन में अपनी स्थिति का निर्णय करना, 'ऊपर' और 'नीचे' का भेद करना कठिन होगा।

उदाहरणार्थ जब आप बस में सफर करते होते हैं, तो बस के पास से तेजी से ओझल होते मकानों, सड़क के किनारे लगे रोशनी के खम्भों तथा पेड़ों के जरिये बस की रफ्तार का अनुमान आसानी से लगा

सकते हैं। यदि आप अपनी आँखों को बन्द भी कर लें, तब भी इंजन के शोर तथा धक्के से आप इस रफ्तार का आभास पा सकते हैं। अन्तरिक्ष यात्री अपनी उड़ान के दौरान निकट दूरी पर कोई भी चीज नहीं देख सकता, अतः वे उसे स्थिर प्रतीत होती हैं। यह चीज और इंजनों के बन्द कर दिये जाने पर केबिन में व्याप्त स्तब्धता, पूर्ण आराम का प्रभाव उत्पन्न करती हैं और अन्तरिक्ष यात्री को ऐसा प्रतीत होता है कि अन्तरिक्ष यान शून्य में स्थिर 'लटका हुआ है', जबकि पृथ्वी, यदि वह उसे दिखाई देती हो, धीरे-धीरे घूमती है।

इस प्रकार, अन्तरिक्ष यात्री अन्तरिक्ष में अपने दृष्टि ज्ञान द्वारा बराबर अपनी स्थिति का सही अन्दाजा नहीं लगा सकता। उसे यन्त्रों का सहारा लेना पड़ता है, केवल यन्त्र ही उसे वस्तुगत रूप से और शीघ्रता से यान की ऊँचाई, रफ्तार एवं दिशा के बारे में और अन्तरिक्ष में उसकी स्थिति के बारे में बतला सकते हैं। यह जानकारी प्राप्त होने पर, अन्तरिक्ष यात्री विश्वासपूर्वक अपने यान का संचालन एवं पथ-निर्देशन कर सकता है। आखिर विमान चालकों को भी आकाश में अपने विमानों की स्थिति के बारे में भ्रम हो जाता है और तब वे यन्त्रों की मदद से अपने विमानों का पथ-निर्देशन करते हैं। कभी-कभी विमान चालक को ऐसा भी धोखा हो जाता है कि उसका विमान एक ओर को झुक गया है अथवा उलटा होकर उड़ रहा है। ऐसी हालत में उड़ाकों का यह उत्तम नियम उसे आकाश में अपनी स्थिति को दुरुस्त करने में मदद करता है कि यन्त्रों के इंगितों पर विश्वास करो, खुद अपने संवेदनों पर नहीं।

भारहीनता की स्थिति, यान के नियन्त्रण को भी पेचीदा बना देती है। गतियों का सही सुसम्बद्धीकरण गड़बड़ा जाता है, हरकतों के लिए आवश्यक माँसपेशियों के प्रयास बदल जाते हैं।

किन्तु यही सारी कहानी है। दिनों-दिन जीवन में घटने वाले सभी तथ्यों के बारे में हमारा मस्तिष्क आभास पा लेता है। किन्तु, जब गति की रफ्तार बहुत तेज हो जाती है, तो आभास की प्रक्रिया बिलकुल भिन्न हो जाती है। यह बात सुविदित है कि २००० किलोमीटर या अधिक प्रति घंटे की रफ्तार से उड़ने वाले ध्वनि-भेदी विमानों की उड़ानों में, उड़ाके के लिए यह लगभग असम्भव होता है कि चन्द दर्जन मीटरों की दूरी पर अचानक प्रकट हो जाने वाली बाधा के प्रति वह सचेत हो सके। इसका कारण यह है कि आँख की पुतली से मस्तिष्क तक स्नायविक संकेत के पहुँचने में लगने वाला समय उससे अधिक होता है जितने में विमान उस बाधा तक जा पहुँचता है। मस्तिष्क समय रहते संगत सूचना को प्राप्त नहीं कर सकता। इस व्यापार को दूरीगत-दृष्टिगत अन्धता कहा जाता है। यह बात स्पष्ट ही है कि ३०००० किलोमीटर या अधिक की रफ्तार से उड़ने वाले अन्तरिक्ष यानों के चालन और उन्हें परस्पर निकट लाने में इस चीज को ध्यान में लेना कितना महत्वपूर्ण है। क्योंकि इस मामले में "अन्धी" दूरियाँ और भी अधिक होंगी।

हम कभी-कभी कहते हैं "विचार जैसा त्वरित"। किन्तु एक आधुनिक विमान की उड़ान ने विचार की रफ्तार को पीछे छोड़ दिया है। इस बात को देखते हुए कि स्नायु के द्वारा उत्तेजन के संचार की गति ७०-८० मीटर प्रति सेकण्ड है, यह बात स्पष्ट ही है कि इससे सौ गुनी रफ्तार से उड़ने वाले अन्तरिक्ष यान का नियन्त्रण कितनी कठिनाइयों से भरा है। इसका अर्थ है कि परस्पर निकट आते अन्तरिक्ष यानों का संचलन एवं निर्देशन केवल सर्वथा त्रुटिरहित स्वचालित नियंत्रण व्यवस्थाओं के जरिये ही किया जा सकता है।

इस सबके लिए यह आवश्यक है कि अन्तरिक्ष यात्रियों की पर्यवेक्षण-शक्ति अत्यन्त सूक्ष्म और उत्तम हो, वे अपने ध्यान को सही-सही बाँट सकें और विभिन्न ब्यौरों को अपने दिमाग में टाँक सकें जिससे

[शेष पृष्ठ ६५ पर]

१. अस्पतालों में नये विद्युदणु-यन्त्र

अमेरिका में ऐसे विद्युदणु-यन्त्र का आविष्कार किया गया है जिसके द्वारा अस्पताल में १२ अथवा अधिक रोगियों की एक ही साथ जाँच करके प्रत्येक की दशा को एक निश्चित केन्द्रीय स्थान पर दर्ज किया जा सकता है।

'बॉडी फंक्शन रिकार्डर' नामक इस यन्त्र की सहायता से एक परिचारिका एक साथ सभी रोगियों की देख-भाल रख सकती हैं और संकटकाल में शीघ्र चिकित्सकों को बुला सकती है। इसकी सहायता से रोगियों की अधिक अच्छी तरह देख-भाल की जा सकती है। अनेक नर्सों को दूसरे कार्य करने के लिए समय मिल जाता है और अस्पताल का व्यय घट जाता है।

इस यन्त्र द्वारा स्थायी रेकार्ड तैयार हो जाते हैं। यह रेकार्ड बाद में किये जाने वाले विश्लेषणों, चिकित्सा सम्बन्धी अनुसन्धानों तथा चिकित्सकों और परिचारिकाओं को प्रशिक्षण देने के लिए उपयोगी होते हैं।

बॉडी फंक्शन रिकार्डर स्वचालित यन्त्र हैं। प्रत्येक दो मिनट के पश्चात् यह रोगियों के तापमान, नाड़ी की गति, श्वास तथा रक्त-चाप को नापता रहता है: जाँच सम्बन्धी सभी आँकड़े विभिन्न रंगों में फीते पर अंकित हो जाते हैं और प्रत्येक रोगी की दशा के विषय में सभी आँकड़े केन्द्रीय नियन्त्रण केन्द्र पर प्रदर्शित हो जाते हैं।

जिस केन्द्रीय स्थान पर रोगियों की दशा के सम्बन्ध में आँकड़े प्रदर्शित किये जाते हैं वहाँ एक ऐसा यन्त्र लगा हुआ है जो रोगी की दशा में गड़बड़ी हो जाने पर परिचारिका को तुरन्त चेतावनी दे सकता है।

उपर्युक्त यन्त्र द्वारा रोगी की दशा के विषय में जो आँकड़े प्राप्त किये जाते हैं वे तीन उपकरणों द्वारा नापे जाते हैं। वे उपकरण ट्रांसड्यूसर्स के नाम से पुकारे जाते हैं और उन्हें सरलता तथा शीघ्रता के साथ रोगी से सम्बद्ध किया जा सकता है।

मिनेसोटा की प्रसिद्ध मेयो क्लिनिक के चिकित्सा-विशेषज्ञों तथा टैक्निकल विशेषज्ञों से मिनियापोलिस हानीवेल रेग्यूलेटर कम्पनी द्वारा इस उन्नत विद्युदणु-यन्त्र का विकास किया गया है। अस्पताल के गैर टैक्निकल कर्मचारी इसके विषय में थोड़े समय तक शिक्षा पाने के पश्चात् इसका आसानी से प्रयोग कर सकते हैं।

'बॉडी फंक्शन रिकार्डर' उन सब रोगियों की जाँच कर सकता है जो आँकड़े प्रदर्शित करने वाले केन्द्रीय स्थान से ५०० फुट तक दूरी पर लेटे हों। इसके उपकरणों को पृथक करके अलग-अलग रोगियों की दशा की जाँच की जा सकती है। रोगियों की देख-भाल करने के लिए आवश्यक ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त करने के हेतु इस यन्त्र का विकास किया गया है।

२. अल्ट्रावायलेट प्रकाश

न्यूयार्क की अल्ट्रा डाइनेमिक्स कार्पोरेशन औव् थोर्नवुड ने 'अल्ट्राडिओन' नामक एक ऐसे यन्त्र का

विकास किया है जिसकी सहायता से जल साफ किया जा सकता है। जल में उत्पन्न होने वाले समस्त कीटाणुओं को नष्ट करने के लिए इसमें अल्ट्रावायलेट किरणों का प्रयोग किया जाता है। यह यन्त्र घरेलू उपयोग के लिए तैयार किया गया है। इस यन्त्र द्वारा एक घण्टे में ५०० गैलन जल स्वच्छ किया जा सकता है।

३. वायु को स्वच्छ करने वाला यन्त्र

मिनियापोलिस (मिनेसोटा)—की मिनियापोलिस हानी वेल रेग्यूलेटर कम्पनी ने एक ऐसे विद्युदणु-यन्त्र का विकास किया है जो वायुमण्डल में से ९० प्रतिशत धूल तथा धुआँ तथा १०० प्रतिशत तक बेक्टीरिया आदि दूर कर सकता है। इस यन्त्र का वजन २८ पौण्ड है और इसे आसानी से इधर-उधर ले जाया जा सकता है। पहियों वाले धातु के एक विशेष स्टैंड पर रख कर इस यन्त्र को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता है।

४. दूध छिड़कने से पौधों के रोगों की रोक-थाम

एक अमेरिकी वैज्ञानिक ने यह समाचार दिया है कि गन्ने की फसल पर दूध का छिड़काव करके एक ऐसे भयंकर रोग की रोकथाम की जा सकती है जिससे गन्ने की फसलें नष्ट हो जाती हैं। लुइजियाना स्टेट यूनिवर्सिटी के पौधों के रोगों सम्बन्धी विभाग के डा० लुइस एंजालोन, जूनियर ने हाल में बताया कि गौ के दूध को छिड़कने से पौधों की अनेक रोगों से रक्षा की जा सकती है।

५. कोयले से निकोटिनिक एसिड

कजाख विज्ञान अकादमी के रसायन संस्थान ने निकोटिनिक एसिड के संश्लेषण की सस्ती विधि बताई है। कोयले से कोक बनाने पर जो उपजात पदार्थ उपलब्ध होते हैं, उससे बड़ी मात्रा में निकोटिनिक एसिड तैयार की जा सकेगी। निकोटिनिक एसिड गेहूँ, कपास और अंगूरों की वृद्धि में सहायक होती है मिट्टी में थोड़ी सी मात्रा में यह एसिड डाल देने से वह पौधों की चयापचय क्रिया में तीव्रता लाती है, फसल में वृद्धि करती है और फसल में गुणगत सुधार करती है।

६. मेडिकल कालेजों में भर्ती

स्वास्थ्य सचिवालय ने श्री लक्ष्मण-स्वामी मुदलियार-समिति का यह सुझाव स्वीकार कर लिया है कि मेडिकल कालेजों में छात्रों की भर्ती केवल योग्यता के आधार पर ही की जाय।

स्वास्थ्य-सचिवालय शीघ्र ही राज्यों को विदित करेगा कि उपर्युक्त सिद्धांत स्वीकार करने पर ही अनुदान मिलेगा और जो अनुदान वर्तमान में मिल रहा है वह इस सिद्धान्त का पालन न होने पर बन्द हो सकता है। मेडिकल कालेजों में परिगणित जातियों के लिए स्थान सुरक्षित रखने के प्रश्न पर सरकार का मत है कि यद्यपि परिगणित जातियों के लिए सांविधिक स्थान संरक्षण रहना ही चाहिये तथापि कम से कम केन्द्रीय कालेजों में उन स्थानों की पूर्ति न्यूनतम संख्या में योग्यता के ही आधार पर होनी चाहिये।

७. चिकित्सा ग्रन्थों के लिए पुरस्कार योजना

नयी दिल्ली, १२ अक्टूबर। केन्द्रीय स्वास्थ्य सचिवालय ने चिकित्साविषयक प्रतिमानित स्तर के ग्रंथों के हिन्दी और क्षेत्रीय भाषाओं में तैयारी पर एक पुरस्कार-व्यवस्था स्थापित करने का निश्चय किया है।

इस योजना द्वारा चिकित्सा-वैज्ञानिकों को भारतीय भाषाओं में ऐसे ग्रंथ-प्रकाशन की प्रेरणा मिलेगी जिनका उपयोग मेडिकल कालेजों की पढ़ाई में हो सकेगा।

यद्यपि श्री लक्ष्मणस्वामी मुदलियार-समिति ने सुझाव दिया है कि चिकित्सा-शिक्षा में शिक्षण का माध्यम अंग्रेजी ही रहनी चाहिये। तथापि, स्वास्थ्य-सचिवालय का मत है कि इस बारे में केन्द्रीय सरकार

की आम नीति को ध्यान में रखकर चलना होगा। पर ऐसा अनुभव किया गया है कि अंग्रेजी का स्थान हिन्दी या क्षेत्रीय भाषाओं के लेने की बात अभी आगामी कुछ काल-तक सम्भव न होगी। तथापि हिन्दी या भाषाओं के क्षेत्र में तैयारी की दृष्टि से पुरस्कारों की एक योजना बनायी गयी है।

प्राविधिक विषयों में भाषा के उत्तम ग्रंथों के प्रकाशन पर १० हजार, ५ हजार और ३ हजार रुपये के पुरस्कार प्रति वर्ष दिए जायंगे। इसके सिवा लघु पुरस्कारों की भी एक व्यवस्था नीम-चिकित्सक व्यक्तियों के लिए उपयोगी ग्रंथों के निमित्त रहेगी।

८. प्रत्येक प्रदेश में कृषि विश्वविद्यालय

रांची, १३ अक्तूबर। केन्द्रीय कृषि मंत्रालय के राज्य मंत्री डाक्टर रामसुभग सिंह ने भारतीय कृषि शिक्षा-परिषद् के खुले अधिवेशन में कहा—चौथी पंचवर्षीय योजना के दौरान प्रत्येक राज्य में कृषि-विश्वविद्यालय स्थापित हो जायेंगे। इस समय देश में कुल ५ कृषि-विश्वविद्यालय कार्य कर रहे हैं तथा तृतीय योजना काल में ही तीन और ऐसे ही विश्वविद्यालय स्थापित कर लेने का कार्यक्रम है।

उन्होंने कहा—स्कूलों, कालेजों में कृषि सम्बन्धी पढ़ाई के लिए परिषद् पाठ्य पुस्तकें तैयार करायेगी। यह काम अति शीघ्र सम्पन्न कर दिया जायगा।

[पृष्ठ ६२ का शेष]

प्रतिक्रिया की त्वरा एवं सञ्चापन सुनिश्चित हो सके। यह काफी स्नायविक-भावनात्मक दबाव से निकट रूप से सम्बन्धित है और अन्तरिक्ष यात्री के स्नायविक एवं मानसिक क्रिया-कलाप की विशेष अपेक्षा करती है।

जैसा कि हम आन्द्रियान निकोलायेव और पावेल पोपोविच की शानदार उड़ानों से देख सकते हैं, सोवियत अन्तरिक्ष यात्री इन पेचीदा कामों को सफलतापूर्वक पूरा कर रहे हैं और आत्मविश्वास के साथ ब्रह्माण्ड में नये पथ आलोकित कर रहे हैं।

चीनी आक्रमण

गत मास चीनी फौजों ने हमारे देश की उत्तरी-पूर्वी सीमा एवं लद्दाख-क्षेत्र में जो आकस्मिक हमला कर दिया है उसके कारण राष्ट्र के ऊपर अनेक जिम्मेदारियाँ आ खड़ी हुई हैं। ये जिम्मेदारियाँ न केवल राष्ट्र की सुरक्षा से सम्बन्धित हैं वरन् देशवासियों में आत्म-विश्वास से भी सम्बन्धित हैं। हर्ष का विषय है कि देशवासियों ने एक स्वर से संयम पूर्वक दृढ़ रहने एवं सभी प्रकार से त्याग करने का संकल्प किया है जिससे हमारे राष्ट्रीय कर्णधारों को बल प्राप्त हुआ है और वे यह घोषणा करने में तनिक भी नहीं हिचके कि दुश्मन का सामना तब तक वीरता पूर्वक किया जावेगा जब तक कि अधिकृत भू-भाग को सर्वथा मुक्त नहीं कर लिया जावेगा। जनता ने तन, मन, धन एवं स्वर्ण के दान द्वारा राष्ट्रीय सुरक्षा में योग देने का जो संकल्प किया है वह भी हमारी प्राचीन त्याग एवं आदर्श-परम्परा के अनुकूल ही है।

इसमें संदेह नहीं कि आज का युद्ध मुख्यतः वैज्ञानिक शस्त्रास्त्रों के बल पर लड़ा जाता है। विश्व के सभी उन्नत राष्ट्र किसी न किसी रूप में ऐसे शस्त्रास्त्रों का निर्माण करते रहे हैं। हमारा देश शान्ति-प्रिय देश था और उसी दिशा में अब भी प्रवाहित हो रहा था। चीन के इस आकस्मिक आक्रमण से भारतीय वैज्ञानिकों की सुप्त चेतनायें जागृत हो उठी हैं—उनकी निद्रायें टूटने लगी हैं और अब वे प्राणपण से ऐसे शस्त्रास्त्रों के निर्माण में योग देने के लिये सन्नद्ध हैं जो देश के साधनों एवं उनकी अपनी क्षमताओं के बल पर निर्मित हो सकते हैं।

सभी वैज्ञानिकों एवं विज्ञान प्रेमियों का धर्म है कि आत्मरक्षा एवं राष्ट्रीय सुरक्षा के लिये वे अथक प्रयत्न करें और उन समस्त साधनों को जुटाने में कोई कसर न रखें, जिनके द्वारा सुरक्षा में काम आने वाले हथियार बन सकें। यदि उन्हें अहर्निश काम करना पड़े और यदि उन्हें और भी त्याग करने पड़े तो उसके लिये उन्हें तैयार रहना चाहिए। देश के कण-कण की रक्षा एवं भारतीयता की मर्यादा स्थापित बनाये रखने के लिए वैज्ञानिकों को आगे बढ़ कर यह घोषित करना होगा कि हमारे देश पर किसी प्रकार के आक्रमण का अर्थ होगा उसकी प्रतिक्रिया में हमारे द्वारा उससे भी भीषण आक्रमण। सुरक्षित देश में ही शान्ति स्थिर रह सकती है। कहा भी है:—

शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे, शास्त्रचिन्ता प्रवर्तते।

'विज्ञान' में विज्ञापन की दरें

	प्रति अंक	प्रति वर्ष
आवरण के द्वितीय तथा तृतीय पृष्ठ	४० रु०	४०० रु०
आवरण का चतुर्थ पृष्ठ (अन्तिम पृष्ठ)	५० "	५०० "
भीतरी पूरा पृष्ठ	२० "	२०० "
,, आधा पृष्ठ	१२ "	१२० "
,, चौथाई पृष्ठ	८ "	८० "

प्रत्येक रंग के लिये १५) प्रति रंग अतिरिक्त लगेगा।

विज्ञापन के नियम

१—विज्ञापन के प्रकाशित करने अथवा उसके रोकने के लिये एक मास पूर्व सूचना कार्यालय में आनी चाहिये।

२—विज्ञापन का मूल्य पहले ही आ जाना चाहिये। यदि चेक द्वारा भुगतान करना हो तो साथ में बैंक-कमीशन जोड़ कर भेजा जाय।

साथ भेजे हुए ब्लाकों को परिषद् स्वीकार करेगा।

भाग ९६
संख्या ३
अग्रहायण
० २०१९ वि०
सम्बर १९६२

विज्ञान परिषद् प्रयाग का मुख पत्र

ते अंक ४० न. पै.
ार्षिक ४ रुपये

सम्पादक—डॉ० शिवगोपाल मिश्र

विज्ञान परिषद्, प्रयाग

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ।३।५।

भाग ९६ | अग्रहायण २०१९ विक्र०, १८८४ शक, दिसम्बर १९६२ | संख्या ३

वायरस

रमेश चन्द्र तिवारी

जीवाणुओं के अन्वेषण के समय से ही वायरस को "विष" अथवा "रोग उत्पादक कीटाणु" के नाम से सम्बोधित किया जाता था। इस सामान्य शब्द "विष" का प्रयोग बहुत दिनों तक होता रहा और जब **पैथोजेनिक जीवाणु** का पता चला तभी से इस शब्द को विष न कहकर वायरस कहा जाने लगा।

जीवाणु शास्त्र के इतिहास के पूर्वकाल से ही यह ज्ञात हुआ कि कुछ ऐसे निस्यन्दक हैं जिनके द्वारा निस्यन्दन से जीवाणु निस्यंदक पर बच रहते हैं और एक जीवाणु-रहित निस्यन्द प्राप्त हो जाता है। रोग उत्पादक तरलों का परीक्षण, पैथोजेनिक जीवाणुओं की उपस्थिति में उनका निस्यन्दन करके छनित पदार्थ का प्रयोग करके किया जाता था और वायरस जो कि निस्यन्द में आ जाता है, निस्यन्देय जीवाणु के नाम से प्रचलित था। १८९२ ई० में एक रूसी वैज्ञानिक **आवनोस्की** ने, वायरस द्वारा उत्पन्न तम्बाकू के मुजैक रोग से प्रभावित एक पौधे का रस निकाला और उसे एक स्वस्थ तम्बाकू में इन्जेक्ट करके देखा कि रस के जीवाणु रहित होते हुए भी पौधा मुजैक से बुरी तरह प्रभावित हो गया जिससे यह स्पष्ट हो गया कि वायरस एक निस्यन्देय जीवाणु है और तभी से इसे **निस्यंदेय-वायरस** करके सम्बोधित किया जाने लगा।

कुछ शताब्दियों के पश्चात् जीववैज्ञानिक निस्यन्देय शब्द काटकर केवल **वायरस** शब्द का प्रयोग करने लगे। तभी से वायरस शब्द का प्रयोग सर्वमान्य हो गया।

यह पहले से ही ज्ञात है कि यदि एक स्वस्थ पौधे में थोड़ा सा वायरस इन्जेक्ट कर दिया जाय और कुछ समय पश्चात् उस पौधे का रस निकालकर परीक्षण किया जाय तो इस रस में वायरसों की पूर्व इन्जेक्टेड मात्रा की अपेक्षा कई लाख गुना वायरस-कण मिलते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि वायरस में स्वयं-प्रजनन होता है। यह भली-भाँति मालूम है कि वायरसों में मेटाबोलिक क्रियायें नहीं होतीं और इनका प्रजनन उन्हीं के द्वारा प्रभावित पोषक (होस्ट) के कोशिकाओं द्वारा होता है।

वायरस एक अनिवार्य जीवोपजीवी पदार्थ है और पोषक (होस्ट) कोशिकाओं के बाहर इनकी वृद्धि नहीं

हो सकती। इतना ही नहीं कोशिकात्मक (साइटोलाजिकल) अध्ययन के अनुसार वायरसों का प्रजनन एक अन्तःकोशिकीय क्रिया है। वायरसों के अतिरिक्त कुछ जीवाणु एवं रिकेसी भी अनिवार्य जीवोपजीवी हैं जिनको वायरसों से पृथक् करने में कठिनाई होती है, केवल निस्पन्दन करके ही पृथक किया जा सकता है, जब कि वायरस को छोड़कर सभी जीवाणु निस्पंदक पर बच रहते हैं। अतः उपर्युक्त सभी परीक्षणों और तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् वायरस को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है: **"वायरस तमाम सूक्ष्म जीवाणुओं से संगठित रोग उत्पादक वे निस्पंदेय-कण हैं** (साधारणतया ३०० मिलीमाइक्रॉन से कम व्यास वाले) **जिनका प्रजनन एक विशिष्ट होस्ट कोशिका के अन्दर ही होता है।"**

वायरसों का समूह विभाजन

वायरसों को उनके पोषकों (होस्ट) के गुणों के अनुसार विभाजित किया गया है। वायरसों को तीन मुख्य समूहों में रक्खा गया है।

(१) **जीव-वायरस** : इस समूह के वायरस कण, जानवरों के जीवोपजीवी पदार्थों से संगठित वे विजातीय पदार्थ हैं जो कि संरचना में उच्च प्रोटीन अणुओं से भी ज्यादा जटिल होते हैं तथा इनको केवल अणुवीक्षण यंत्रों द्वारा ही पहचाना जा सकता है। इनको पुनः कई उपसमूहों में वर्गीकृत किया गया है।

(क) **प्रथम समूह** : इसके वायरसों में "जटिल शारीरिक विकाश चक्र" के मध्य, वीक्षण-यंत्रों द्वारा दृश्य एक *अन्तःस्थपिंड का निर्माण होता है तथा प्रतिजैविक पदार्थों के प्रयोग से इन्हें नष्ट किया जा सकता है। इनका व्यास लगभग ३०० मिलीमाइक्रॉन होता है। इसके उदाहरण सिटाकोसिस, लिम्फोग्रेनुलोमा, तथा ट्रेकोमा आदि हैं।

(ख) **पाक्स-वायरस समूह** : इनमें भी अन्तःस्थ पिंड का निर्माण होता है परन्तु इनका व्यास लगभग २३०×३०० मिलीमाइक्रॉन होता है। इन पर प्रतिजैविक पदार्थों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। चेचक, मुर्गी-माता, वैक्सीनिया, चुहियों का इलेक्ट्रोमेलिया रोग आदि इसके उदाहरण हैं।

(ग) **इनफ्लूएंजा समूह** : इनका व्यास लगभग १/१० माइक्रान होता है। जहाँ तक रासायनिक संगठन का प्रश्न है इनका शरीर प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट्स, लाइपिड्स, तथा राइबोन्यूक्लिक अम्ल के सयोग से बना होता है। रासायनिक संगठन, होस्ट के चरित्र पर निर्भर करता है। होस्ट कोशिकाओं द्वारा उत्पादित "स्वतन्त्र वायरस कण" जटिल जीवन चक्र की सुप्तावस्था में पाये जाते हैं और ये न्यूनाधिक रूप में अन्तः कोशिकीय प्रजननीय वायरस के समान होते हैं।

इस मुख्य समूहों के अतिरिक्त, पीतज्वर मम्प्स तथा पोलियोमाइलिटिस उत्पन्न करने के वायरस भी देखे गये हैं।

(२) **पौध वायरस** : पेड़ पौधों के तमाम भयानक रोग वायरस के आक्रमण के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं। पौध-वायरसों का एक से दूसरे पौधे में समावेश कीटपतङ्गों और सांयोगिक दूषण के द्वारा होता है। लगभग सभी मुख्य-मुख्य पौध-वायरसों का शोधन एवं स्फाटीकरण सुगमता से किया जा सकता हैं क्योंकि वायरसों द्वारा प्रभावित पौधों में इनकी मात्रा शोधन एवं स्फाटीकरण के लिए पर्याप्त होती है। रासायनिक अध्ययन के अनुसार सभी स्फाटीय पौध वायरस, राइबोन्यूक्लियोप्रोटीन की ही देन है। न्यूक्लिक अम्ल को पौध-वायरसों का आनुवंशिक पदार्थ कहा जा सकता है जबकि प्रोटीन का उनके प्रजनन से कोई भी सीधा सम्बन्ध नहीं होता। वायरसों से प्रभावित तम्बाकू के पौधे से राइबोन्यूक्लियोप्रोटीन निकालकर इससे आरोग्य प्रोटीन तथा आरोग्य

---

*अन्तःस्थ पिण्ड : इस शब्द का प्रयोग वायरसों की प्रजनन क्रियाओं के मध्य निर्मित एक असामान्य अन्तःकोशिकीय रचना के लिए किया जाता है जो या तो होस्ट कोशिका में अथवा पौधों के साइटोप्लाज्म के न्यूक्लियस में निर्मित होते हैं।

न्यूक्लिक अम्ल का रासायनिक विधियों द्वारा पृथक्कीकरण किया जा सकता है।

पौध-वायरस समूह के कुछ मुख्य सदस्य

वायरस	रूप	आकार (मि० माइक्रॉन)
तम्बाकू का मुजैक	छड़ाकार	३०० × १५
तम्बाकू का कुर्चा-रोध	गोलाकार	२२
तम्बाकू का परिगलन रोग	,,	२५
शलजम का पीला मुजैक	,,	१७
सेम का मुजैक	,,	२०

जीवाणुभोजी-वायरस

बहुत से जीवाणु, उच्च, विशिष्ट, जीवाणुभोजियों के शिकार हो जाते हैं। यह आक्रमण या तो उसी जाति के जीवाणु द्वारा या उसी श्रेणी के किसी अन्य जाति के जीवाणुओं द्वारा होता है। इस्करीचिया कोलाई (Escherichia coli) स्ट्रेन "ब" पर आक्रमण करने वाले सभी जीवाणुभोजियों के कणों का विस्तृत अध्ययन किया जा चुका है जिनमें से सात किस्म के जीवाणुभोजियों का, अक्षर "T" का प्रयोग करके (T_1 T_2 T_3 T_4 T_5 T_6 T_7) नामकरण भी किया गया है।

जीवाणुभोजियों का शारीरिक संगठन

उपर्युक्त सातों जीवाणुभोजियों को इलेक्ट्रॉन सूक्ष्म-वीक्षण यंत्रों द्वारा पृथक किया जा सकता है। इनका शरीर षटकोणीय (अनुप्रस्थ काट के अनुसार) आकार का होता है। शरीर में एक समपार्श्वीय शिर तथा एक पूछ भी होती है। इसी पूँछ की सहायता से होस्ट कोशिकाओं तथा जीवाणुभोजियों का आपसी सम्पर्क स्थापित होता है।

गुण एवं चरित्र के अनुसार T_2, T_4 तथा T_6 एक दूसरे के बहुत कुछ समान होते हैं। उनका शरीर व्यास में ६५ × ६५ मिलिमाइक्रॉन होता है। पूँछ २५ मिलिमाइक्रॉन चौड़ी और १०० मिलीमाइक्रॉन लम्बी होतीहै। T_1 तथा T_5भी चरित्र एवं गुणों में लगभग समान होते हैं और इनका आकार प्रथम श्रेणी के सदस्यों की तुलना में छोटा होता है। T_3 और T_7 की पूँछें अतिसूक्ष्म होती हैं।

इनके शरीर का शुष्क भार के आधार पर रासायनिक विश्लेषण करने से यह निष्कर्ष निकला है कि शरीर का ४० प्रतिशत **डीआक्सीराइबो न्यूक्लियोप्रोटीन** तथा डीआक्सीराइबोन्यूक्लिक अम्ल (DNA) के संयोग से बना है तथा शेष भाग प्रोटीन आवरण के अतिरिक्त अन्य पदार्थों से संगठित है। एक से दूसरे पौधे पर आक्रमण, प्रजनन तथा अन्य शारीरिक क्रियाओं का सम्पूर्ण श्रेय इसी DNA को ही है। प्रोटीन-आवरण के दो मुख्य कार्य हैं :—

(१) अपने एक मजबूत आवरण द्वारा DNA की बाहरी प्रतिकूल परिस्थितियों से रक्षा करना।

(२) होस्ट कोशिकाओं एवं जीवाणुभोजियों का एक दूसरे से सम्पर्क स्थापित करना।

जीवाणुभोजीय वायरस का जीवन-चक्र

एक सक्रिय जीवाणु द्वारा जीवाणुभोजियों के स्वतन्त्र कणों के अवशोषण के साथ ही इनका जीवन चक्र प्रारम्भ होता है। अवशोषण के पश्चात् ही, न्यूक्लिक अम्ल, प्रोटीन-आवरण को त्यागकर होस्ट-कोशिका में प्रवेश करता है। यह प्रोटीन-आवरण

होस्ट कोशिका की सतह द्वारा अवशोषित कर लिया जाता है। इधर जीवाणुभोजी-वायरस का न्यूक्लिक अम्ल (DNA) कोशिका के अन्त में प्रजनन प्रारम्भ कर देता है और अल्प काल में ही नव अवस्था कणों की उत्पत्ति के लिए स्वतन्त्र कणों का पर्याप्त उत्पादन कर लेता है।

प्रजननीय पदार्थ को **वानस्पतिक रूप** कहते हैं। यदि इस प्रजनन काल में होस्ट कोशिका का कृत्रिम कोशविलयन हो जाता है तो किसी भी नव अवस्था का उत्पादन नहीं हो पाता। इसीलिए प्रजनन के इस अवस्था को **ग्रहणकाल** कहा जाता है। ग्रहणकाल के अन्त में (वानस्पतिक रूप) कणों पर प्रोटीन आवरण बन जाता है। होस्ट कोशिका का कोशविलयन हो जाता है और एक परिपक्व रूप उपस्थित होने के पश्चात् इसी अवस्था में एक नये होस्ट पर आक्रमण हो जाता है। परन्तु यदि नये होस्ट का अभाव है तो यह अन्तिम रूप अक्रिय अवस्था में अनिश्चित काल तक पड़ा रहता है और जब नया होस्ट मिल जाता है तो यह अपना जीवन-चक्र पुनः आरम्भ कर देता है। चित्र नं० १ में जीवन चक्र को स्पष्ट रूप में समझाया गया है।
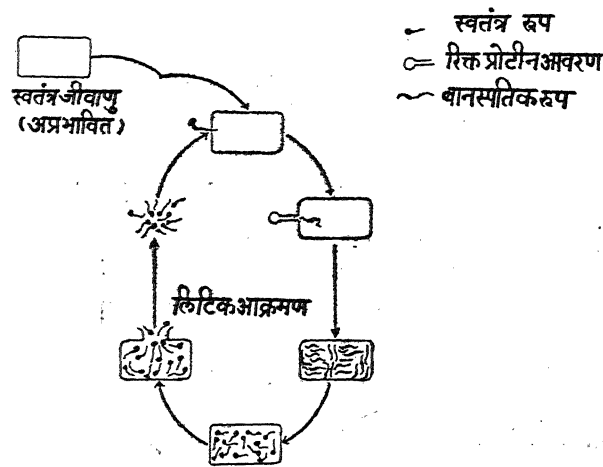
चित्र १—वायरस का जीवन चक्र

जीवाणुभोजियों का अन्तः कोशिकीय विकास

जीवाणुभोजियों के विकास में मुख्य हाथ प्रोटीन का है अथवा न्यूक्लिक अम्ल का इसी प्रश्न के स्पष्टीकरण के लिए १९५२ ई० में **हर्सी** एवं **चेज** ने रेडियोसक्रिय $P^{32}O_4$ तथा $S^{35}O_4$ का प्रयोग करके बताया कि विकास का सम्पूर्ण श्रेय न्यूक्लिक अम्ल को ही है। प्रोटीन की अनुपस्थिति में भी प्रजनन-क्रिया नियमित रूप से चलती रहती है। न्यूक्लिक अम्ल PO_4 की देन है तथा SO_4 प्रोटीन का मुख्य अंग है। इसीलिए अध्ययन को सुगम एवं पुष्ट बनाने के लिए इनके रेडियो-सक्रिय रूपों का प्रयोग किया गया।

एक अप्रभावित होस्ट कोशिका पर S^{35} तथा P^{32} का प्रयोग करके देखा गया कि S^{35} कोशि-

काओं की सतह पर ही अवशोषित हो जाता है तथा इसका प्रजनन से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। जबकि P^{32} होस्ट कोशिका के न्यूक्लियस में पहुँचकर प्रजनन कार्य प्रारम्भ कर देता है।

लाइसोजेनी—लिटिक जीवन-चक्र के अतिरिक्त जीवाणुभोजियों का **होस्ट जीवोपजीवी** सम्पर्क दूसरे प्रकार से भी होता है जिसे "लाइसोजेनी" शब्द से सम्बोधित किया जाता है। इसके अन्तर्गत, प्रभावित होस्ट जीवाणु, अपना प्रजनन व विकास सामान्य एवं सुचारु रूप से करता रहता है तथा जीवाणुभोजियों के आक्रमण का उन पर कोई तत्काल प्रभाव नहीं पड़ता है। कुछ काल पश्चात् प्रभावित होस्ट कोशिका एकाएक फट जाती है और जीवाणुभोजियों के नये स्वतन्त्र कण उपस्थित हो जाते हैं। जिससे यह स्पष्ट है कि इस प्रभावित काल में होस्ट कोशिकाओं में जीवाणुभोजियों का अन्तः विकास निरन्तर होता रहता है। इस प्रकार के जीवाणु को **लाइसोजेनिक जीवाणु** कहते हैं।

जीववैज्ञानिकों के सजीव एवं निर्जीव श्रेणी-विभाजन के अनुसार वायरस को सजीव पदार्थों की श्रेणी में सजाया गया है। ल्यूरिने ने भी यही स्पष्टीकरण किया कि यदि किसी पदार्थ में एक से अधिक न्यूक्लिक अम्ल-अणु उपस्थित हों और उनका स्वयं-प्रजनन इन्हीं न्यूक्लिक अम्लों द्वारा होता हो तो वे सजीव पदार्थ हैं। अतः स्वास्थ्य विज्ञान में भी इसके अध्ययन का काफी महत्व है।

आधुनिक फैशन—परीक्षण नलिका की देन

शमीम अहमद

आधुनिक युग में दिन प्रतिदिन फैशन बढ़ता जा रहा है। नायलान, टेरीलीन, रेयाँन आदि कृत्रिम तन्तुओं ने क्रान्ति मचा रखी है। कहीं पूर्ण रूप से पारदर्शक वस्त्र देखने में आते हैं, कहीं पर बढ़िया से बढ़िया रेशम को मात करने वाले; पर इनकी उत्पत्ति कहाँ से हुई—रूखे वैज्ञानिक के कवाड़खाने की परीक्षण नलिका से। यह सब आधुनिक फैशन केवल परीक्षण नलिका की ही देन है। अब देखा जाय कि किस प्रकार इनका उत्पादन किन द्रव्यों के उपयोग से होता है ?

कृत्रिम तन्तुओं की उत्पादन-रीति पर आधारित तीन प्रकार के तन्तु पाए जाते हैं। १—पिघलाकर खींचे जाने वाले धागे २—सूखे खींचे जाने वाले धागे तथा ३—नम खींचे जाने वाले धागे। अब हम उपर्युक्त श्रेणियां का एक-एक करके वर्णन प्रस्तुत करेंगे।

प्रथम श्रेणी

नायलान—सर्वप्रथम नायलान का आविष्कार डू पाँण्ट कम्पनी में, एच० कैरोथर ने किया था। यहीं से वास्तव में कृत्रिम तन्तु क्षेत्र का सोपान आरम्भ हुआ। नायलान साधारणतया हेक्सामेथिलीन डाइएमीन तथा एडिपिक एसिड की साथ-साथ प्रतिक्रिया से उत्पन्न होता है। इसमें से जब जल निकाल लिया जाता है और बहुलीकृत किया जाता है तो पॉली हेक्सामेथिलीन एडिपामाइड बनता है जिसे हम नायलान कहते हैं। इसके लिए चार द्रवों की आवश्यकता होती है—

१—बेंजीन जिससे सायक्लोहेक्सेन मिलता है।

२—फरफ्युरल

३—सायक्लोहेक्सेन के लिए पेट्रोल

४—ब्युटाडाइन के लिए पेट्रोल।

प्रथम नायलान का उत्पादन फेनॉल की प्रतिक्रिया द्वारा किया गया था।

उत्पादन—हेक्सामेथिलीन - डाई - अमोनियम-एडिपेट के घोल को एक ऐसे प्रकोष्ट में पहुँचाया जाता है जहाँ पर कमरे के ताप पर सान्द्रीकरण की प्रक्रिया होती है और घोल सान्द्र हो जाता है। बहुलीकरण के लिए इस घोल में एसिटिक अम्ल मिला देते हैं जिससे श्यानता अचर हो जाती है और स्थिर हो जाती है। इसके उपरान्त एक जैकेट दार ऑटोक्लेव में घोल को ले जाते हैं और उस पर वाष्प प्रवाहित की जाती है। इसके उपरान्त अवशेष जल को अलग कर दिया जाता है और तब टाइटेनियम आक्साइड मिला दिया जाता है और तत्पश्चात् बहुलीकरण की घटना घटित होती है।

जब बहुलीकरण की प्रक्रिया समाप्त हो जाती है तो पिघले हुए चिपचिपे पालीमर को महीन-महीन छेदों से होकर गुजारा जाता है। प्रत्येक २००० पौण्ड द्रव के धागा खींचने में १ घंटे का समय लगता है। इसके ऊपर पानी का छींटा दिया जाता है जिससे धागा जमकर कठोर हो जाता है और पुनः इच्छानुसार काम में लाया जाता है। इसके पश्चात् इन धागों को पुनः २६३° से० पर आक्सीजन की अनुपस्थिति में पिघलाते हैं और इसके बाद इच्छानुसार पतले धागे खींच लिए जाते हैं। जब ये धागे हवा में आते हैं तो सूखकर कड़े हो जाते हैं और फिर

आर्द्रता कक्ष में प्रवेश कराते हैं जिससे आवश्यकतानुसार आर्द्रता धागों में आ जाय। इसके बाद स्नेहक द्रव्यों के उपयोग से धागों को और उपयोगी बनाते हैं और इस प्रकार नायलान के बने धागे में आवश्यक गुण आ जाते हैं।

नायलान के अन्दर कुछ विशेष गुण हैं जो प्राकृतिक तन्तुओं में नहीं पाए जाते हैं। ये धागे प्राकृतिक धागों की अपेक्षाकृत मजबूत और खींचने योग्य होते हैं। इसको हर प्रकार के एसिड, एसीटेट, पिगमेण्ट तथा क्रोम रंगों से रंगा जा सकता है। काटन सल्फर तथा वाट डाई के प्रति यह कम क्रियाशील होता है।

नायलान के विभिन्न प्रकार भिन्न-भिन्न कामों में लाए जाते हैं। उदाहरणस्वरूप—६१०—नायलान का उपयोग ब्रश, खेल के सामान आदि के उत्पादन में होता है। इसका गलनांक २१५° से ० है और बहुत कम आर्द्रता अवशोषित करता है। ६६—नायलान का विवरण पहले ही दिया जा चुका है। ६—नायलान कैपरो लैक्टम होता है, इसका बहुलीकरण पानी की उपस्थिति में होता है जो बाद में गर्म करके हटा दिया जाता है। ११—नायलान का उत्पादन कैस्टर-आयल से किया जाता है। इसके ऊपर अन्य नायलान की अपेक्षा पानी का कम प्रभाव पड़ता है।

डैकरॉन— यह एक प्रकार का पालीएस्टर है जो डाईमेथिलटेरीथैलेट तथा ईथिलीन ग्लाइकॉल का संघनन-प्रतिफल है। ०·३१ पौण्ड ग्लाइकाल तथा ०·८६ पौण्ड एस्टर को प्रतिकारक कक्ष में मिला दिया जाता है जिससे १ पौण्ड डैकरान प्राप्त होता है। बहुलीकरण उच्च ताप पर वातिशून्य अवस्था में होता है। इसके बाद डैकरान को छानकर अलग कर लिया जाता है और पुनः नायलान की विधि से इसके भी धागे तैयार कर लिए जाते हैं। इसके धागे पूर्व लम्बाई की चार गुनी लम्बाई तक पुनः खींचे जा सकते हैं और इसीलिए स्वेटर, मोजे, समर सूट, कमीज तथा स्त्रियों के ब्लाउज बनाने के लिए काम में लाए जाते हैं। ये स्टेपुल तथा धागे दोनों रूप में प्राप्त किए जा सकते हैं।

सैरान—यह विनाइल क्लोराइड तथा विनाइलीडीन क्लोराइड का कोपालीमर है। इसको उपर्युक्त द्रवों को एक उत्प्रेरक की उपस्थिति में मिलाकर गर्म करके बनाया जाता है। इसी अवसर पर इसमें रंगीन द्रव भी मिला देते हैं। इस पालीमर को १८०° पर पिघला कर साँचे से गुजारा जाता है और हवा में ठंडा करके पुनः खींच लिया जाता है। सैरान के ऊपर बैक्टीरिया, फफूँद तथा अन्य कीटों की हानिकारक प्रवृत्ति का कोई असर नहीं पड़ता है। इसके ऊपर रसायनिक पदार्थों का भी कोई असर नहीं पड़ता इसलिए इसके बने हुए कपड़े छन्ने के लिए इस्तेमाल किए जाते हैं। इसका उपयोग आटोमोबाइल में सीट के कवर के लिए भी बहुत किया जाता है।

काँच तन्तु—सर्वप्रथम सन् १८९३ ई० में माइकेल जे० ओवेन्स ने काँच-तन्तुओं का निर्माण किया था परन्तु ये तन्तु आज की अपेक्षा अधिक भद्दे थे। इसके लिए पहले काँच को २८००° फा० पर पिघला लिया जाता है और उसके बाद आवश्यकतानुसार नाप के छेदों द्वारा धागे के रूप में प्राप्त कर लिया जाता है।

इनका उपयोग इलेक्ट्रिकल इन्सुलेटर, पर्दे आदि जहाँ पर आग लगने का डर हो, फायर-प्रूफ दीवारों के ऊपर की खोल तथा इलेक्ट्रिक मोटर तथा जेनरेटरों में होता है।

द्वितीय श्रेणी

ऑरलान—सर्वप्रथम इस जाति के धागों का व्यावसायिक निर्माण ड्यू पाण्ट ऑरलान ने किया था और इसीलिए इसका नाम भी ऑरलान ही रखा गया। इस जाति के धागों में पालीएक्रिलोनाइट्राइल एक मुख्य अंश होता है। परन्तु रँगने योग्य धागे तो कोपॉलीमर होते हैं। ऑरलान को एक्रिलोनाइट्राइल के बहुलीकरण के पश्चात् प्राप्त किया जाता है। इस हाँथी दाँत जैसे सफेद पालीमर को डाई-मिथाइल

फारमामाइड नामक कार्बनिक घोलक में घोला जाता है, यद्यपि यह लीथियम ब्रोमाइड, सोडियम थायोसाइनाइड या डाईमेथाइल एसिटैमाइड और टेट्रामेथिलीन साइक्लिक सल्फोन में भी घोला जा सकता है। इसके बाद घोल को छान लेते हैं और शुष्क विधि से आवश्यकतानुसार धागे खींच लिए जाते हैं। इसके बाद इन धागों को एक विशेष मशीन में उच्च ताप पर सुखाया जाता है। इसके बाद इन धागों को इनकी लम्बाई के ३ गुने से लेकर आठ गुने तक खींच कर बढ़ा दिया जाता है। इस खींचने से बड़े-बड़े अणु एक समान्तर क्रम में आ जाते हैं और धागा अपनी अत्यधिक मजबूती को प्राप्त कर लेता है। ये धागे प्राकृतिक रेशम की तरह मुलायम और मजबूत होते हैं। इनके बुने हुए वस्त्रों पर मौसम या रासायनिक पदार्थों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

विनयान—९०% विनाइल क्लोराइड और १०% विनाइल एसीटेट को बहुलीकृत करने पर बने हुए पालीमर का व्यापारिक नाम विनयान रखा गया है। इसके पश्चात् पालीमर को एसीटोन में घोल कर २०% घोल बनाते हैं और पुनः धागों के रूप में ढाल लिए जाते हैं। इसके पश्चात् तन्तुओं को ऐंठ कर खींच लेते है। चूँकि इनके ऊपर अम्ल, क्षार, धूप, प्रकाश का कोई प्रभाव नहीं पड़ता इसलिए इनका उपयोग ताप रक्षक कपड़ों, मिस्त्रियों के कपड़ों, छन्ना कपड़ों तथा अन्य उपयोगी सामानों के बनाने में किया जाता है।

विनयान के बने कपड़ों के ऊपर आग का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। इनका उपयोग ऊनी कपड़ों के स्थान पर भी होता है। इनके बने कम्बल, पहन कर काम करने वाले कपड़े, विशेष प्रकार के ऊनी कपड़ों के स्थान पर काम आने वाले कपड़े आदि काफी टिकाऊ और सस्ते पड़ते हैं।

तृतीय श्रेणी

डाइनेल—एक्रिलोनाइट्राइल तथा विनाइल क्लोराइड से बने स्टेपुल धागों को कार्बन से प्रक्रिया कराके कारबाइड बनाने पर डाइनेल नाम दिया जाता है। इसमें ६०% एक्रिलोनाइट्राइल तथा ४०% विनाइल क्लोराइड को बहुलीकृत किया जाता है। इसके बाद इस रेजिन को एसीटोन में घोल लेते हैं और विस्कोज रेयान की विधि से स्टेपुल के रूप में धागे प्राप्त हो जाते हैं। डाइनेल कई बातों में ऊन के बराबर होता है। इसका उपयोग कपड़ों, पानी हल्का करने वाले बैग, रंगों के डिब्बे, छन्ने कपड़ों, कम्बल, स्वेटर तथा अन्य ओढ़ने और पहनने के कपड़ों में होता है।

जीन तन्तु—जीन नामक अनाज की प्रोटीन से मुख्यतया 'विकारा' नामक तन्तु बनाया जाता है। जीन को अनाज से अलग करने के लिए सोडियम हाइड्राक्साइड घोल का उपयोग किया जाता है और उस घोल में प्रोटीन घुल जाता है। पुनः अम्लीय करने पर प्रोटीन अवक्षेपित हो जाता है। इसके लिए पुनः क्षार में घोल बनाकर साचों से गुजारा जाता है और ये धागे अम्लीय घोल में तैयार होते हैं। इसके बाद इन धागों को कई एक ऐसे विशेष घोलों से गुजारा जाता है जिससे काफी मजबूत हो जाय और उसके बाद इनको ऐसे रासायनिक द्रवों के संसर्ग में लाते हैं जिसके कारण इनके ऊपर उबलते पानी का कोई असर नहीं पड़ता है अन्यथा बिना ऐसा किए ये उबलते पानी में घुल जाते। प्रोटीन से 'आरडिल' जैसे और भी धागे बनाए जाते हैं।

'सेल्युलोजिन तन्तुओं' को आग से न जलने वाला बनाने के लिए बोरैक्स और बोरिक एसिड के अमोनियम लवणों का उपयोग करते हैं। मिलडिउ से बचाने के लिए तन्तुओं के ऊपर क्लोरीनेटेड फेनाल, सैलिसिलएनिलाइड, कार्बनिक मरकरी यौगिक, कॉपर अमोनियम क्लोराइड, कॉपर अमोनियम कार्बोनेट, साधारणतया काम में लाए जाते हैं। क्वार्टरनरी अमोनियम यौगिकों के उपयोग से तन्तुओं के ऊपर पानी नहीं टिकता। न सिकुड़ने वाले तन्तुओं के लिए मेलामाइन फारमलडीहाइड का उपयोग होता है। सेल्यूलोज से बने तन्तुओं में स्थायी तह लाने के लिए यूरिया फारमलडीहाइड और मेलामाइन फारमलडीहाइड का उपयोग होता है।

जब तन्तु बनकर परीक्षण नलिका से बाहर आ जाते हैं तो वे तुरन्त कपड़े में नहीं बुन दिये जाते हैं बल्कि कुछ अन्य प्रक्रियाएँ उन पर की जाती हैं—

स्कोरिंग—अशुद्धियों को दूर करने की कला को स्कोरिंग कहते हैं। साबुन तथा रासायनिक डिटरजेंट की सहायता से यह प्रक्रिया की जाती है। उपर्युक्त तन्तुओं में वसा, तैल या मोम जैसे द्रव लगे होते हैं जो इस प्रक्रिया से अलग किए जाते हैं और इसके बाद तन्तु स्वच्छ हो जाता है।

लुबरिकेशन—स्कोरिंग के पश्चात् तन्तुओं के बीच घर्षण बढ़ जाता है जिसके लिए उचित प्रकार के स्नेहक की आवश्यकता होती है। इसलिए उचित वानस्पतिक या खनिज तैल अथवा पेट्रोलियम से प्राप्त स्नेहक का उपयोग किया जाता है। वानस्पतिक तैलों को अधिक महत्ता दी जाती है क्योंकि इनको आसानी से साबुन से धोकर अलग किया जा सकता है। वास्तविक स्नेहक पदार्थ तो पानी में घुलनशील होना चाहिए। स्नेहक के प्रयोग से तन्तुओं के धरातल का घर्षण बहुत कम हो जाता है इसलिए बुनने में आसानी होती है।

साइजिंग—बुनाई के समय रगड़ के कारण तन्तु का नाश हो सकता है इसलिए उसकी रक्षा के हेतु एक विशेष प्रकार की रासायनिक पर्त चढ़ा दी जाती है। इस क्रिया को साइजिंग कहते हैं। आमतौर से स्टार्च का उपयोग साइजिंग के लिए होता है। परन्तु रेयॉन, एसीटेट तथा अन्य कृत्रिम तन्तुओं के लिए यह उपयुक्त नहीं होता है और उसके स्थान पर जिलेटिन पालीविनाइल ऐल्कोहल इस्तेमाल किया जाता है।

रँगना—रँगना उस क्रिया को कहते जिसमें रंग के जलीय विलयन में तन्तुओं को डाल दिया जाता है और तब तक छोड़ दिया जाता है जब तक कि आवश्यकतानुसार रंग तन्तुओं द्वारा अवशोषित नहीं हो जाता है। प्राकृतिक सेल्यूलोज तथा प्रोटीन से प्राप्त तन्तुओं के लिए अम्लीय रंग अच्छा होता है। परन्तु और कृत्रिम तन्तुओं का रंगना कठिन होता है और इसके लिए बड़ी जटिल क्रियाएँ करनी पड़ती हैं।

फिनिशिंग—फिनिशिंग के लिए रोज़िन कार्बाक्सीमेथाइल सेल्यूलोज, हाइड्राक्सीइथाइल सेल्यूलोज उपयोग में लाया जाता है परन्तु ये कड़े होते हैं। पानी से न भीगने वाला कपड़ा बनाने के लिए मोम की तह दी जाती है। परन्तु स्थायी गुण के लिए एल्यूमीनियम, जिरकोनियम के लवण काम में लाए जाते हैं। सर्वोत्तम फिनिशिंग के लिए स्टीयरायलामाइड पीरीडीनियम क्लोराइड है। इस गुण के लिए सिलिकोन का भी उपयोग किया जाता है। सिलिकोन से फिनिश किए गए तन्तुओं के ऊपर पानी उसी प्रकार नहीं ठहरता है जैसे गुलाब की पंखुड़ियों पर।

यूरिया फारमलडीहाइड तथा मेलामाइन फारमलडीहाइड का उपयोग करने पर वस्त्र की तह नहीं बिगड़ता है।

दिन प्रतिदिन अनेक उन्नति होती जा रही हैं और अगले कुछ वर्षों में किस प्रकार के तन्तु और बनाए जा सकेंगे कहा नहीं जा सकता है। परन्तु ये सब कहाँ से आते हैं? केवल वैज्ञानिक के कबाड़खाने की परीक्षण नलिका की देन हैं। देखिए आगे क्या-क्या गुल खिलते हैं?

ऊर्जा तथा उसके संप्रयोग

डॉ० जगदीशसिंह चौहान

हम रोज ही ऊर्जा के बारे में बातचीत करते हैं और इस प्रकार से ऊर्जा का कोई न कोई स्वरूप हमारे मस्तिष्क में पहले से ही है। वैज्ञानिक भाषा में, कार्य करने की क्षमता को 'ऊर्जा' कहते हैं। कोई भी मशीन, चाहे वह मानव हो अथवा कोई और उसमें जितनी अधिक क्षमता कार्य करने की होगी, उतनी ही अधिक उसमें ऊर्जा होगी।

अनादि काल से ही प्रत्येक मनुष्य को, चाहे वह राजा हो, चाहे शान्ति-दूत, या युद्ध-प्रिय, यहाँ तक कि प्रत्येक मनुष्य का यह अभीष्ठ ध्येय रहा है कि वह जितनी अधिक सम्भव हो सके, ऊर्जा एकत्र करे और उस पर नियन्त्रण करे। विज्ञान के विकास के पहले मनुष्यों के मस्तिष्क में ऊर्जा का एक बहुत ही अस्पष्ट रूप था और इसीलिए इसका कोई भी उपयुक्त वर्गीकरण न हो सका। परन्तु अब हमारे पास ऊर्जा का क्रमवद्ध ज्ञान है तथा द्रव्य के साथ इसका क्या सम्बंध है यह हम भलीभाँति जानते हैं। स्थितिज (potential), गतिज (kinetic), ऊष्मा, प्रकाश, विद्युत, ध्वनि तथा चुम्वकत्व ऊर्जा के प्रकार हैं। इनमें विद्युत तथा चुम्वकत्व की खोज सबसे बाद में हुई और मनुष्य ने व्यावहारिक जीवन में इनका उपयोग किया।

स्थितिज ऊर्जा किसी पिण्ड में उसकी स्थिति के कारण होती है, जैसे चढ़ी हुई कमान। गतिज ऊर्जा किसी भी पिण्ड में उसकी गति के कारण उत्पन्न होती है, जैसे बन्दूक से छोड़ी हुई गोली में। दूसरे प्रकार की ऊर्जाओं के बारे में हम सभी को काफी ज्ञान है। यह भी ज्ञात है कि सभी प्रकार की ऊर्जायें एक दूसरे में परिणत की जा सकती हैं। इसका वर्णन करना, इस लेख का प्रयौजन नहीं है।

उपर्युक्त ऊर्जायें अनेकों स्रोतों से प्राप्त की जा सकती हैं जिनका वर्गीकरण किया जा सकता है। पहले तो यह कि वे प्राकृतिक हैं अथवा मानव जनित। प्राकृतिक ऊर्जाओं में सूर्य, तड़ित तथा वेगवती वायु आदि हैं। दूसरा वर्गीकरण इस बात पर आधारित है कि वे भौतिक हैं अथवा रासायनिक अथवा रसायन-भौतिक और फिर यदि वे रासायनिक हैं तो उनका उद्भव कार्बनिक है अथवा अकार्बनिक। इसके अतिरिक्त वे परमाण्विक है अथवा अण्विक।

प्राकृतिक ऊर्जायें

पृथ्वी के जन्म से ही सूर्य ऊर्जा का स्रोत रहा हैं। यहाँ इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि पृथ्वी पर प्राप्त ऊर्जा केवल सूर्य से ही आती है और इस सम्बन्ध में हम आकाश के अन्य ग्रहों की उपेक्षा कर सकते हैं। सूर्य अपने जन्म से ही हमें ऊर्जा की एक असीमित मात्रा, ऊष्मा तथा प्रकाश के रूप में हर दिशा में भेजता रहा है। सूर्य से पृथ्वी को कितनी ऊर्जा मिलती है इसका अनुमान हम इस प्रकार लगा सकते हैं कि जितनी ऊर्जा एक परमाणु बम से निकलती है, उससे दुगनी ऊर्जा प्रतिदिन पृथ्वी का एक एकड़ सूर्य से ग्रहण करता है; या इस प्रकार अनुमान लगाइये कि यदि पूरो पृथ्वी को एक फुट मोटी बर्फ से ढक दिया जाय और सूर्य की ऊष्मा की ऊर्जा जो सभी दिशाओं में विकिरित होती है, उसे केवल पृथ्वी पर ही केन्द्रित होने दिया जाय तो पूरी बर्फ बिना कुछ समय लिये ही पिघल जायगी।

सूर्य की इस असीम ऊर्जा ने ही वैज्ञानिकों को यह सोचने को बाध्य किया कि सूर्य केवल ऊष्मा का एक गर्म गोला ही नहीं है, क्योंकि ऐसा होने पर वह कभी का ठंढा हो गया होता। अब हमें यह ज्ञात है कि सूर्य का ताप नाभिकीय परिवर्तनों के होते रहने के कारण स्थिर रहता है। सूर्य की ऊर्जा का स्पष्टीकरण ही आगे चलकर परमाणु तथा हाइड्रोजन बम बनाने का आधार बना।

ऊँचे स्तर से बहने वाले पानी तथा वेगवती वायुएँ भी ऊर्जा के स्रोत हैं। नार्वे, स्वीडन तथा अमेरिका में ऊँचे-ऊँचे प्रपात हैं और इनकी स्थितिज ऊर्जा से ये देश सस्ती विद्युत उत्पन्न करते हैं और दूसरी बड़ी मशीनें चलाते हैं। हालैण्ड ही एक ऐसा देश है जो वेगवती वायुओं का सबसे अधिक उपयोग करता है और इससे विशेषतः चक्कियाँ चलाई जाती हैं।

बिजली ऊर्जा का एक स्रोत है। यह उन प्रतिक्रियाओं को जन्म देती है जिनसे ऐसे उत्पाद बनते हैं जो वनस्पति की उपज के लिए आवश्यक होते हैं। बिजली द्वारा उत्पन्न परिवर्तन बहुत ही क्षणिक होते हैं और हम इनकी भविष्यवाणी नहीं कर सकते। यही कारण है कि हम इससे उत्पन्न ऊर्जा को व्यावहारिक कार्यों में उपयोग नहीं कर सकते। सम्भवतः आप यह न जानते होंगे कि एक औसत मेघगर्जन में इतनी ऊर्जा निकलती है जितनी लगभग एक हजार परमाणु बमों से निकलेगी।

मानव जनित ऊर्जायें

मनुष्य द्वारा उत्पन्न ऊर्जाओं में सबसे पहले रासायनिक ऊर्जा की खोज हुई। रासायनिक ऊर्जा के अर्थ हैं वह ऊर्जा जो कार्बनिक अथवा अकार्बनिक पदार्थों के विघटन से उत्पन्न होती है। अकार्बनिक पदार्थ चूँकि जलते नहीं हैं अतः वे कार्बनिक यौगिकों की तरह ऊर्जा उत्पन्न करने में असमर्थ होते हैं। अकार्बनिक पदार्थ तभी ऊर्जा देते हैं जब उन्हें प्रज्वलन अथवा अधिस्फोट (Detonation) द्वारा विस्फोटित किया जाय। इस प्रकार का सबसे अच्छा पदार्थ लेड-ऐजाइड है। इससे कम प्रभाव वाले पदार्थों में पारद-फल्मिनेट तथा पोटैशियम क्लोरेट मुख्य हैं।

कार्बनिक ऊर्जा

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक ऊष्मा, केवल लकड़ी, लकड़ी के कोयले, पत्थर के कोयले और ऐसे ही अन्य पदार्थों को जलाकर प्राप्त की जाती थी। उस समय आजकल जैसा तीव्र प्रकाश उत्पन्न करने का भी कोई साधन नहीं था। उन दिनों का मध्यम प्रकाश, जन्तु तथा वानस्पतिक तेलों को जलाकर प्राप्त किया जाता था। १९वीं शताब्दी के अन्त में प्रकाश उत्पन्न करने वाले कुछ और पदार्थों की खोज हुई जिनमें कोल-गैस, मिट्टी का तेल तथा स्प्रिट मुख्य थे। इनके अतिरिक्त विद्युत की भी खोज हो गयी थी और इसका उपयोग एक सस्ती ऊर्जा के रूप में सड़कों, घरों तथा कारखानों में होना प्रारम्भ हो गया था।

विद्युतधारा दो स्रोतों से प्राप्त की जा सकती है:—या तो कोयले को जलाकर या ऊँचाई से गिरते हुए पानी की सहायता से। कोयले को जलाने से उत्पन्न ऊर्जा कार्बनिक ऊर्जा है और यह कोयले के जलने से उत्पन्न ऊष्मा की ऊर्जा को विद्युत ऊर्जा में परिवर्तित करके प्रयुक्त की जाती थी। दूसरे स्रोत से प्राप्त ऊर्जा अकार्बनिक नहीं है और यह गिरते हुए पानी द्वारा टर्बाइनों (Turbines) द्वारा प्राप्त होती है। केवल उन देशों को छोड़ कर जहाँ ऊँचाई से गिरने वाले पानी हैं अब भी विद्युत केवल कार्बनिक स्रोत से ही प्राप्त की जाती है। भारतवर्ष में रेहण्डबाँध, भाकड़ा नंगल बाँध, दामोदर घाटी योजना आदि अकार्बनिक स्रोतों से विद्युत उत्पन्न करने के केन्द्र हैं।

इस प्रकार ऊष्मा, प्रकाश तथा विद्युत ऊर्जा के वे रूप हैं जो विशेषतः कार्बनिक पदार्थों से प्राप्त होते हैं अथवा यह कहना उचित होगा कि कार्बनिक पदर्थों के जलने अथवा दहन से प्राप्त होते हैं।

यहाँ इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि जलना जलने वाले पदार्थ तथा वायुमण्डलीय आक्सिजन के बीच एक तीव्र प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न वस्तु है, रसायनज्ञ इस प्रक्रिया को ऑक्सीकरण कहते हैं।

ऑक्सीकरण द्वारा ऊर्जा उत्पन्न होती है जो कभी-कभी इतनी अधिक भी हो सकती है जिससे आग उत्पन्न हो सके। आग का उत्पन्न होना, ऑक्सीकरण के प्रक्रम में अधिक मात्रा में उत्पन्न ऊष्मा तथा प्रकाश के कारण होता है। ऑक्सीकरण में आग उत्पन्न होने के लिए यह आवश्यक है कि प्रतिक्रिया आगे की दिशा में बहुत तीव्रता से हो। उदाहरण के लिए हम सरसों का तेल लें। यह तेल जब एक बत्ती की सहायता से वायु में जलता है तो प्रकाश उत्पन्न करता है। यही तेल हमारे शरीर में कम ताप पर ऑक्सीकृत होता है जिसमें ताप तो उत्पन्न होता है परन्तु कोई प्रकाश की ज्वाला उत्पन्न नहीं होती। यह बता देना उचित होगा कि तेल की समान मात्रा, ऊर्जा की एक ही मात्रा उत्पन्न करेगी, चाहे वह दीपक में शीघ्रता से जले अथवा मनुष्य के शरीर में धीरे-धीरे। ऊर्जा निकलने की दर भिन्न हो सकती है, उसकी मात्रा तो समान ही होगी।

नीचे जो कुछ बताया जायगा, उससे स्पष्ट है कि कार्बनिक ऊर्जा का भी सूर्य की ऊर्जा से सम्बन्ध है। हरे पौधे सूर्य से उसी प्रकार ऊर्जा ग्रहण करते हैं जिस प्रकार वायु की चक्कियाँ, वायु से ग्रहण करती हैं। वायु से ऊर्जा ग्रहण करने के लिए वायु की चक्कियाँ अपने घूमने वाले भागों को वायु के बहने की दिशा की ओर घुमा देती हैं। हरे पौधे भी अपने कार्य करने वाले भाग सूर्य की ओर घुमा देते हैं और इस प्रकार सूर्य की विकीर्ण ऊर्जा को ग्रहण करते हैं। यहाँ ऊर्जा पौधों में समय के उपरान्त अनेक रासायनिक प्रतिक्रियाओं को जन्म देती है जिनके फलस्वरूप पौधों में अनेकों कार्बनिक यौगिकों की रचना होती है।

पौधों में सूर्य के विकिरण को ग्रहण करने की कितनी क्षमता होती है, यह इससे स्पष्ट हो जायगा कि गन्ने में चीनी के प्रति ग्राम अणु (३४२ ग्राम) बनने के लिए लगभग १३५० किलोकैलरी की आवश्यकता पड़ती है :—

$$12\ CO_2 + 11\ H_2O \rightarrow C_{12}H_{22}O_{11} + 12\ O_2 + 1349{\cdot}6\ \text{K.Cal.}$$
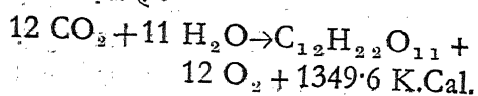
अथवा हम कह सकते हैं कि एक पौण्ड चीनी में इतनी ऊर्जा होती है जो ४$\frac{1}{2}$ गैलन पानी को साधारण ताप से उसके उबलने के ताप (१००°) तक पहुँचाने के लिए काफी है। ऊर्जा की इतनी ही मात्रा तब उत्पन्न होती है जब चीनी हमारे शरीर अथवा पौधों में कार्बन-डाइ-आक्साइड तथा पानी में आक्सीकृत होती है। दूसरे शब्दों में एक मनुष्य एक साल में जितनी चीनी (लगभग ५० पौण्ड) खाता है, यदि उससे ऐलकोहल बनाया जाय तो इतना ऐलकोहल बनेगा जिससे एक छोटी मोटर लगभग १०० मील तक चलाई जा सकती है।

अन्य मशीनों की भाँति, मानव मशीन को चलाने के लिए भी ऊर्जा की आवश्यकता पड़ती है। भिन्न-भिन्न काम करने वाले मनुष्यों को ऊर्जा की मात्रा भिन्न-भिन्न चाहिए। औसतन एक आराम करने वाले मनुष्य को प्रतिदिन लगभग १६०० किलोकैलरी की, घर में काम करने वाली स्त्री को २८०० किलोकैलरी की, एक सक्रिय मनुष्य के लिए ३००० किलोकैलरी और एक मजदूर को ३५०० से ५००० किलोकैलरी तक की आवश्यकता होती है। इस प्रकार एक सक्रिय मनुष्य के प्रतिदिन के लिए आवश्यक ऊर्जा लगभग २६ औंस चीनी अथवा ११ औंस वसा से प्राप्त हो सकती है। परन्तु मनुष्यों में यह ऊर्जा केवल एक अथवा दो पदार्थों से ग्रहण नहीं की जाती है अपितु अनेकों प्रकार के भोज्य पदार्थों से मिलती है।

मशीनों को चलाने के लिए ऊर्जा विभिन्न ईंधनों, जैसे कोयला, पेट्रोल, ऐलकोहल आदि से मिलती है। यदि ऐसा सम्भव हो सकता कि मनुष्य कार्बोहाइड्रेट, वसा तथा ऐसे ही अनेकों पदार्थों की भाँति अन्य ईंधन भी ठीक से पचा सकता तो वह प्रतिदिन की आवश्यक ऊर्जा लगभग ३०० ग्राम कोयला, ७५ ग्राम हाइड्रोजन, २५० घ० सें० पेट्रोल अथवा ५५० घ० सें० विशुद्ध ऐलकोहल से प्राप्त कर सकता था।

विस्फोटकों से प्राप्त ऊर्जा

कार्बन विस्फोटक

बहुत से कार्बनिक यौगिक ऐसे हैं जो प्रज्वलित

अथवा अधिस्फोट करने पर एकदम ऊर्जा निकालते हैं। ऐसे यौगिकों को विस्फोटक कहा जाता है। विस्फोटन एक बहुत ही तीव्रगति वाली रासायनिक प्रतिक्रिया है जिसमें ऊर्जा एकदम निकलती है और ऊँचे ताप पर एक बड़े आयतन में गैसें बनती हैं। ऐसा साधारणतः यौगिक के आक्सीकरण द्वारा होता है परन्तु सदा इस प्रक्रम में यौगिक का आक्सीकरण ही नहीं होता। बहुत बड़े दाब के अन्दर कुछ गैसें भी विस्फोट करती हैं। गैसों के मिश्रण का विस्फोटन तुलनात्मक दृष्टि से हल्का होता है। इनका उपयोग उपयुक्त आकार के इंजनों से किया जा सकता है जहाँ ये बाहरी भार के विपरीत, पिस्टन को चलाती हैं। मोटरों में पेट्रोल तथा वायु के मिश्रण का उपयोग इसी सिद्धांत पर आधारित है। उन विस्फोटकों के, जिनके अणुओं में आक्सीजन अधिक होती है जिनके दहन के लिए आक्सीजन, वायु अथवा किसी अन्य यौगिक से लेने की आवश्यकता पड़ती है।

बारूद से नाइट्रोग्लिसरीन (ग्लिसराइल ट्राइनाइट्रेट) अधिक शक्तिशाली विस्फोटक है। इसका अनुमान हम इस प्रकार लगा सकते हैं कि बारूद के एक आयतन का विस्फोटन होने के पश्चात् प्रसार ४००० आयतन होता है जबकि उन्हीं दशाओं में नाइट्रोग्लिसरीन का प्रसार १०,००० आयतन तक होता है। नाइट्रोग्लिसरीन का प्रसार कितनी शीघ्रता से होता है यह हम इस प्रकार समझ सकते हैं, मानो एक, दो फीट लम्बा रूल एक पलक झपकने में २ मील चला जाय।

इसी प्रकार ट्राइनाइट्रो टाल्वीन (T.N.T.) जब खुले में जलाया जाता है तो शान्तिपूर्वक जलता है परन्तु जब किसी उपयुक्त अधिस्फोटक द्वारा छोड़ा जाता है तो इसके अणु का एकदम विघटन होता है और बड़े आयतन में गैसें उत्पन्न होती हैं।

कार्बनिक विस्फोटकों का आवश्यक गुण यह नहीं होता कि उनमें ऊर्जा स्थित है परन्तु यह कि वे उस ऊर्जा को शीघ्रता से तथा पूर्ण रूप से निकाल सकते हैं जिसके गैसीय उत्पाद बड़े आयतन में बनते हैं। एक पौंड चीनी में एक पौंड नाइट्रोग्लिसरीन से दुगनी ऊर्जा होती है और एक पौण्ड ईंधन में पाँचगुनी, परन्तु इस ऊर्जा को निकालने के लिए, चीनी तथा ईंधन दोनों को समय तथा वायुमण्डलीय आक्सीजन की आवश्यकता पड़ती है।

अकार्बनिक विस्फोटक

अकार्बनिक विस्फोटकों में केवल लेड ऐज़ाइड एक ऐसा विस्फोटक है जो कार्बनिक विस्फोटकों की भाँति अणु-विघटन द्वारा विस्फोटित होता है।

सन् १९४५ में परमाणु बम के रूप में एक अद्वितीय प्रकार का अकार्बनिक विस्फोटक का आविष्कार हुआ। परमाणु ऊर्जा, अणु ऊर्जा से कहीं अधिक होती है, परन्तु परमाणुओं का विघटन भी अणुओं के विघटन से अधिक कठिन होता है। फिर भी कुछ परमाणु शीघ्रता से विघटित हो जाते हैं और ऐसा होने पर वे बड़ी मात्रा में ऊर्जा निकालते हैं। ऐसे पदार्थों को विकिरणशील कहते हैं। रेडियम इस प्रकार के पदार्थों में सबसे मुख्य है।

इस प्रकार का परमाणु-विघटन सबसे पहले १९४५ में सम्भव हो सका जब सबसे भारी (अणुभार २३८) प्राकृतिक तत्त्व यूरेनियम के किसी समस्थानिक के परमाणु का विघटन किया गया। इस प्रकार एक नये प्रकार की ऊर्जा जो स्वयं परमाणु में उपस्थित थी और जिसका आक्सिजन से कोई सम्बन्ध नहीं था, लोगों के समक्ष आई। यह ऊर्जा इतनी सान्द्र तथा गठित थी जिसकी तुलना और किसी प्रकार की ऊर्जा से नहीं की जा सकती। यूरेनियम के विघटन से दूसरे विकिरणशील पदाथ बनते हैं और द्रव का, प्रसिद्ध समीकरण $e = mc^2$ द्वारा ऊर्जा में परिवर्तन होता है। इस विघटन में जो ऊर्जा उत्पन्न होती है वह समान आयतन वाले कोयले अथवा तेल द्वारा उत्पन्न ऊर्जा से कई करोड़ गुना अधिक होती है।

हाइड्रोजन बम, परमाणुबम से कहीं अधिक ऊर्जा वाला होता है। हाइड्रोजन बम द्वारा ऊर्जा का उत्पन्न होना, एक दूसरे सिद्धान्त पर आधारित है। परमाणु बम में ऊर्जा, परमाणु के विघटन से उत्पन्न होती है।

परन्तु हाइड्रोजन बम में ऐसा नहीं होता। यहाँ हाइड्रोजन (परमाणुभार १.००८) के चार परमाणु मिल कर हीलियम (परमाणुभार ४.००२) का एक परमाणु बनाते हैं जिसका भार चार हाइड्रोजन परमाणुओं से कम होता है। भार में जो अन्तर होता है वह ऊष्मा तथा प्रकाश रूपी ऊर्जाओं में परिणत हो जाता है। इस प्रकार परमाणु बम एक विघटन बम और हाइड्रोजन बम एक संगलन बम है। यह गणना द्वारा ज्ञात किया जा चुका है कि हाइड्रोजन से एक औंस हीलियम बनने में इतनी ऊर्जा निकलती है जिससे १०० अश्व-शक्ति वाली मोटर ८ वर्ष तक बराबर चलती रहे। एक औंस कोयले के जलने से उत्पन्न हुई ऊर्जा ऐसा केवल कुछ सेकेंड तक ही कर सकेगी। सूर्य के आस-पास के वायुमण्डल में सदा हाइड्रोजन, हीलियम में बदलती रहती है और यही कारण है कि इस प्रक्रम में उत्पन्न हुई ऊर्जा से ही सूर्य का ताप स्थिर रहता है।

ये अणु तथा परमाणु ऊर्जाएँ इतनी अधिक होती हैं कि यदि इनको क्रमशः नियन्त्रित करते हुए स्वतंत्र किया जाय तो कोयला तथा पेट्रोल को ईंधन के रूप में खर्च करने की आवश्यकता नहीं रहेगी और इनका उपयोग अन्य रासायनिक कार्यों में किया जा सकता है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त, ऊर्जा के एक दूसरे पहलू पर भी विचार करना चाहिये, वह है ऊर्जा का क्षय होना। जब ऊर्जा ऐसा रूप धारण करती है जिसका उपयोग व्यावहारिक कार्यों में नहीं हो सकता तो हम कहते हैं कि ऊर्जा का क्षय हो गया। उदाहरणार्थ, जब गोली लक्ष्यभेद करती है तो उससे उत्पन्न ऊष्मा वायु में विकीरित हो जाती है और हमारे किसी काम में नहीं आती। इसी प्रकार जब ऊष्मा कार्य में बदलती है तो उसकी बहुत बड़ी मात्रा नष्ट हो जाती है, क्योंकि हमारे यन्त्रों की क्षमता बहुत ही कम है। हमारे शरीर का यन्त्र ही ऐसा है जिसकी क्षमता अन्य सभी यन्त्रों से अधिक है। परन्तु इस ऊर्जा के क्षय होने का प्रक्रम इतना धीमा है कि इसका गहरा प्रभाव हम पर बहुत समय बाद पड़ेगा। वर्तमान समय में यदि अणु-तथा परमाणु ऊर्जाओं का सदुपयोग करें तो वह मानव जाति को और अधिक सुखी तथा समृद्ध बना देगा और यही प्रत्येक वैज्ञानिक का अभीष्ट लक्ष्य है।

पेनेसिलीन

अ. बि. सीरवाणी

पेनेसिलीन का नाम तो पाठकों में से प्रायः सभी ने सुना ही होगा। यह एक साधारण अवलोकन है कि गीले स्थानों पर बासी रोटी, अचार, पुराने जूते इत्यादि पर सफेद, पीले अथवा काले रंग के कपास के जैसे फफोले या फफूंदी आ जाती है जो इन वस्तुओं को सड़ा देती है। ये फफोले वास्तव में विशेष प्रकार के पौधे ही हैं जो रङ्गहीन होते हैं और सड़ी-गली चीजों पर ही बढ़ते हैं। संसार में इस प्रकार के ७००० पौधे पाए जाते हैं और बहुत से पाठकों को यह जान कर आश्चर्य होगा, कि पेनेसिलीन भी एक विशेष प्रकार के फफोले से ही प्राप्त किया जाता है। इस पौधे का नाम है **पेनेसिलियम** और जो जातियाँ पेनेसिलीन उत्पन्न करती हैं वे हैं, **पेनेसिलियम नौटेटम्** तथा **पेनेसिलियम क्राइजोजीनम**।

पेनेसिलीन के गुण जितने आश्चर्यजनक हैं उतना ही इसका आविष्कार भी, क्योंकि वह खोज बड़ी ही आश्चर्यजनक विधि से हुई। सन् १९२९ में लन्दन में सरअलेक्जेण्डर फ्लेमिंग ने अपने अस्पताल में देखा

कि काँच के कुछ बसीयों में, जिनमें उन्होंने कुछ बीमारियों के शाकाणु डाल रखे थे, शाकाणुओं के साथ एक फफोला भी बढ़ रहा था। विशेष ध्यान में रखने योग्य यह बात उन्होंने देखी कि जिन बसीयों में यह फफोला आ गया था उनमें शाकाणुओं की वृद्धि बन्द हो चुकी थी और फफोले के पास के शाकाणु नष्ट हो चुके थे। यह फफोला प्रो० चार्ल्स थाम द्वारा जाँचा गया जिन्होंने देखा कि यह पेनेसिलियम नौटेटम का पौधा था और इसलिए इसके द्वारा उत्पन्न की गई औषधि का नाम रखा गया "पेनेसिलीन।" इस पौधे का ज्ञान लोगों को कई शताब्दियों पूर्व ही था किन्तु इसमें इस प्रकार के गुण हैं यह पहिली बार सन् १९२९ में ही मालूम हुआ। डा० फ्लेमिंग ने पेनेसिलीन के गुणों का पता लगाया किन्तु पेनेसिलीन किस प्रकार का पदार्थ है इसका नहीं, क्योंकि उन्होंने पेनेसिलीन को अलग निकाल कर प्रयोग नहीं किये।
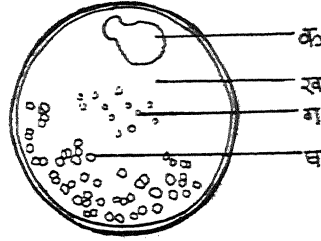
चित्र (१)—शाकाणुओं के साथ पेनेसिलियम

क—पेनेसिलियम, ख—शाकाणु रहित हिस्सा, ग—नष्ट होते हुए शाकाणु, घ—शाकाणु

डा० फ्लेमिंग का यह महत्त्वपूर्ण आविष्कार पूरे दस वर्ष अन्धेरे में रहा। किसी ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। सन् १९४० में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के प्रो० फ्लोरी ने शाकाणुओं पर प्रयोग करते समय उसी प्रकार के फफोले देखे। उन्होंने इन पौधों को निकाल कर अलग से बढ़ने दिया और देखा कि इनसे एक गाढ़ा तरल पदार्थ बाहर निकलता है जिसे चूहों को देने से उसमें अनेक प्रकार की बीमारियाँ नहीं होतीं। वही बात मनुष्यों पर प्रयोग करने पर भी पाई गयी। बस फिर क्या था, पेनेसिलियम के पौधे द्वारा उत्पन्न किया गया यह पदार्थ, रसायनशास्त्र के विद्वानों द्वारा अलग किया गया और कई रासायनिक क्रियाओं के बाद उसे मणिभीय चूर्ण के रूप में प्राप्त किया गया। यह था पेनेसिलीन का अन्तिम रूप १९४० में, और वही आज भी है।

सन् १९४५ में कुछ वैज्ञानिकों ने इसे कृत्रिम

विधि से तैयार करने का प्रयत्न किया ताकि भविष्य में पेनेसिलियम पौधे पर निर्भर होने की आवश्यकता न हो, किन्तु उन्हें इस दिशा में बहुत कम सफलता प्राप्त हुई। आज भी पेनेसिलीन, उसी फफोले (पौधे) से ही प्राप्त किया जाता है।

पेनेसिलियम का पौधा हर स्थान पर, मिट्टी तथा सड़ी-गली सब्जियों पर उत्पन्न होता है। इसके बीजाणु बहुत सूक्ष्म होते हैं और बिना सूक्ष्मदर्शी के इन्हें देखा नहीं जा सकता। ये बीजाणु हवा में सदा फैले रहते हैं और बढ़ने योग्य वातावरण प्राप्त होते ही अंकुरित हो जाते हैं और फफोला बना लेते हैं। इस फफोले से कुछ दिनों बाद एक गाढ़ा द्रव निकलता है जो पेनेसिलीन निकालने के लिये काम में लाया जाता है।
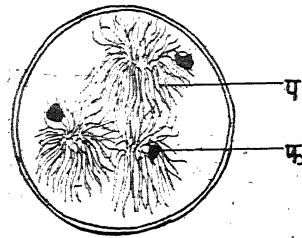
चित्र (२)—पेनेसिलियम पौधे के फफोले

प—फफोला, फ—तरल पदार्थ जिससे पेनेसिलीन निकलता है

कारखानों में इस पौधे को बढ़ने के लिये "लैक्टोज़-कार्न-स्टीप-लिकर" नामक एक तरल माध्यम का उपयोग किया जाता है क्योंकि इन्हें इस माध्यम से खूब भोजन प्राप्त होता है और इनकी वृद्धि अच्छी होती है। यह माध्यम एक निश्चित दाब, ताप तथा शुद्ध हवा की उपस्थिति में सन्तुलित किया जाता है। इनमें यदि कुछ भी गड़बड़ी हो जाय तो उसका प्रभाव पेनेसिलीन के उत्पादन पर पड़ता है। एक्स किरणों का प्रयोग भी पेनेसिलियम की वृद्धि में उपयोगी सिद्ध हुआ है।

आरम्भ में पेनेसिलीन की कीमत बहुत अधिक थी और वह साधारण मनुष्य द्वारा उपयोग में नहीं लाया जा सकता था, किन्तु अब उसका उत्पादन खूब बढ़ चुका है और अब इसे सर्वसाधारण के लिए भी उपयोग में लाया सकता है। अमेरिका के अंकों के अनुसार १९४३ में एक अरब इकाई मात्रा पेनेसिलीन की कीमत २०० डालर (लगभग १००० रु०) थी और १९५४ में उतनी ही मात्रा की कीमत केवल ०'१०

डालर (पचास नये पैसे) हो गई। १९४३ ई० में उसका उत्पादन २९ पौंड था और १९५४ में ७६०,००० पौंड। भारत में पूना के पास पिंपरी में पेनेसिलीन का कारखाना है जहाँ से पूरे भारत को पेनेसिलीन भेजा जाता है और इसे अब प्रत्येक मनुष्य खरीद कर निमोनिया आदि जैसी कई शाकाणुओं द्वारा उत्पन्न किये गये रोगों के लिये उपयोग कर सकता है। अब पेनेसिलीन मल्हम भी बनता है जो बाहर के फोड़े की शाकाणुओं से रक्षा करता है।

औषधि संसार में "ऐन्टीबायटिक्स" कहलाने वाले पदार्थों में से पेनेसिलीन का स्थान सर्वप्रथम है और उसके बाद ही अन्य ऐन्टीबायटिक्स प्रकाश में आए हैं। पेनेसिलीन का बढ़ता उपयोग यह प्रदर्शित करता है कि विज्ञान किस तेजी से प्रगति कर रहा है। एक विशेष बात और सीखने को मिलती है, वह यह कि किसी भी वैज्ञानिक अनुसन्धान में एक व्यक्ति को पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं हो सकती।

संक्षिप्त जीवन परिचयमाला—१३

विज्ञानाचार्य स्व० नील्स बोह्र

शमीम अहमद

'Nobody knows how the stand of our knowledge about the atom would be wthout him. Personally, Bohr is one of the most amiable colleagues I have met. He utters his opinions like one who is perpetually groping, never like one who believes himself to be in the possession of definite truth.' संसार के महान् तत्वदर्शी आइन्सटाइन के ये शब्द विज्ञानवेत्ता नील्स बोह्र में एक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। डेनमार्क का महान वैज्ञानिक यद्यपि आज हमारे बीच न रहा, पर आज भी डेनमार्क को क्या समस्त वैज्ञानिक जगत को उस पर गर्व है।

विज्ञान के इस महारथी का जन्म ७ अक्टूबर १८८५ ई० में कोपेनहेगेन में, फिजियालाजी के प्रोफेसर क्रिश्चियन बोह्र के यहाँ हुआ था। नील्स बड़े मेधावी छात्र रहे और इन्होंने अपना अध्ययन कोपेनहेगेन विश्वविद्यालय में किया। २२ वर्ष की अवस्था में नील्स को, सर्फेस टेन्शन की मौलिक गवेषणा करने पर डैनिश साइंटिफिक सोसायटी का स्वर्ण-पदक प्राप्त, हुआ। इसके अतिरिक्त नील्स बोह्र तथा उनके भाई हेराल्ड सासर के प्रसिद्ध खिलाड़ी भी थे।

सन् १९११ ई० में बोह्र ने पी० एच० डी० की डिग्री प्राप्त की और उसके पश्चात् कैवेण्डिश लैबोरेटरी इंग्लैण्ड में इलेक्ट्रान जन्मदाता जे० जे० टामसन के अध्यापन में शिक्षा ग्रहण करने गए। वहाँ पर इन्होंने सर अर्नेस्ट रदरफोर्ड के साथ काम किया और जीवन-पर्यन्त उनके साथी बने रहे। बोह्र ने अपने लड़के का नाम अर्नेस्ट इसीलिए रखा था।

सन् १९१३ ई० में बोह्र ने परमाणु-रचना का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। यद्यपि आज यह काफी परिवर्द्धित किया जा चुका हैं, परन्तु फिर भी आज उसका

महत्व कम नहीं, क्योंकि उस समय इस सिद्धान्त ने भौतिकी तथा रसायन के आगे बढ़ने में काफी सहायता की।

यद्यपि बोह्र के 'परमाणु सिद्धान्त' का उतना जोरदार समर्थन अन्य अन्वेषणों की तरह नहीं हुआ, परन्तु सन् १९२२ ई० में नोवेल पुरस्कार-समिति ने उसकी क्षमता पहचान ली और बोह्र को संसार के महत्तम पुरस्कार से पुरस्कृत किया। उस समय तक के नोबेल पुरस्कार विजेताओं में बोह्र सबसे कम उम्र के वैज्ञानिक थे। परन्तु बोह्र को नोबेल पुरस्कार मिलने से पहले ही कोपेनहेगेन विश्वविद्यालय में सैद्धान्तिक भौतिकी का पद प्राप्त हो चुका था।

फिर क्या था संसार के प्रत्येक भाग से मेधावी विद्यार्थी डेनमार्क पढ़ने के लिए आने लगे। जनवरी सन् १९३९ ई० में लीसे मीटनर तथा उनके भतीजे ओटोफ्रिश जो नील्सबोह्र प्रयोगशाला में काम कर रहे थे, उन्होंने कुछ जर्मनी के वैज्ञानिकों के निबन्ध पढ़े और यह अनुमान लगाया कि यूरेनियम के परमाणु को दो लगभग बराबर भागों में विभाजित किया जा सकता है। जब नाभिक विभाजित होगा तो बहुत ऊर्जा प्राप्त होगी जो युद्ध के लिए बहुत आवश्यक थी। इसी बीच बोह्र अमेरिका पहुँचे और आइन्सटाइन तथा अन्य लोगों से मिले। उन्होंने उपर्युक्त समस्या पर फरमी से जो उस वक्त कोलम्बिया विश्वविद्यालय में काम कर रहे थे, बहस की। थोड़े ही दिनों में मीटनर-फ्रिश धारणा सत्य हुई और उसके बाद क्या हुआ, इसका उत्तर 'एटम बम' है।

बोह्र डेनमार्क लौट आए और अपनी संस्था में काम करना आरम्भ कर दिया। इसके उपरान्त सन् १९४४ में जब जर्मनी ने डेनमार्क पर हमला किया तो ६००० डैनिश जिउ में से ५००० बाहर निकल गए। बोह्र भी नाजियों के पंजे से बचकर निकल गए। वे अपने परिवार सहित स्वीडेन में एक छोटी नाव पर सवार होकर निकल गए। आश्चर्य की बात यह हुई कि नाजियों ने इनका घर छान मारा पर नोबेल पुरस्कार का स्वर्ण पदक न प्राप्त कर सके। ऐसा हुआ कि पदक एक बोतल तेजाब में घोल लिया गया था ताकि युद्ध समाप्त होने पर पुनः प्राप्त किया जा सकता।

स्वीडेन से बोह्र यू० एस० ए० पहुँचे और लास एलमाह के एटामिक प्रोजेक्ट में अपने पुत्र 'आगे' के साथ करने लगे। जब युद्ध समाप्त हुआ तो बोर अपनी मातृभूमि कोपेनहेगेन लौटे। अक्टूबर सन् १९५७ ई० में बोह्र को 'फोर्ड ऐटम फार पीस' का ७५ हजार डालर का पुरस्कार मिला।

परमाणु रचना सम्बन्धी सिद्धान्त

बोह्र ने रदरफोर्ड के परमाणु रचना सम्बन्धी सिद्धान्त के दोषों का निवारण करते हुए प्रयोगों से मेल खाने वाले, प्रमात्रा सिद्धान्त पर आधारित एक नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। रदरफोर्ड ने बताया कि परमाणु में एक नाभिक होता है, जिस पर धनात्मक आवेश होता है और उसके चारों ओर इलेक्ट्रान गतिमान रहते हैं। परन्तु इलेक्ट्रान गतिकी के अनुसार जब एक आवेशित कण गतिमान होता है तो उससे ऊर्जा विकिरित होती है, जिसके फलस्वरूप उसका पथ परिवर्तित होता रहता है। इस सिद्धान्त के अनुसार रदरफोर्ड के नाभिक में इलेक्ट्रान की टक्कर हो जानी चाहिए जो कि वास्तव में नहीं होता। इसके अतिरिक्त वर्णक्रम-रेखाओं का कोई सूत्र नहीं मिलता।

इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए बोह्र महोदय ने एक नवीन रास्ता ढूँढ निकाला। उन्होंने यह मान लिया कि नाभिक पर धनात्मक आवेश होता है और इलेक्ट्रान एक निश्चित वेग से उसके चारों ओर वृत्ताकार पथ पर चक्कर लगाता है। परन्तु इलेक्ट्रान का पथ निश्चित होता है और उस दशा में न तो उर्जा विकिरित होती है और न तो अवशोषित। उस अवस्था में कोणीय घूर्णन का मान $\frac{h}{2\pi}$ का सरल गुणक होता है तथा आकर्षक बल नाभिक तथा इले-

क्ट्रान के बीच) केन्द्रप्रसारी बल के बराबर होता है। इस मान्यता के आधार पर विभिन्न पथ प्राप्त होते हैं जिन पर जब इलेक्ट्रान होता है तो साधारण अवस्था होती है। परन्तु जब इलेक्ट्रान एक पथ से दूसरे पथ में जाता है तो ऊर्जा का अवशोषण अथवा विकिरण होता है। इन मान्यताओं के आधार पर बोह्र महोदय ने इलेक्ट्रान-पथ का व्यास, वेग आदि तथा ऊर्जाओं का मान निकाला और सर्वप्रथम वर्ण-क्रमीय रेखाओं का सैद्धान्तिक स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया। सैद्धान्तिक मान लाइमन, बामर, पास्चन, ब्रैकेट, आदि के प्रयोगात्मक मानों से आश्चर्यजनक रूप में मेल खा गए। यह केवल बोह्र की बुद्धिमत्ता के कारण हो सका।

बोह्र महोदय ने स्टोनर के साथ काम करके एक नियम बनाया जिसके अनुसार परमाणु के अन्दर विभिन्न क्वाण्टम संख्याओं में इलेक्ट्रानों की संख्याएँ मालूम की जा सकती हैं। इस प्रकार उन्होंने परमाणु का एक पूर्ण माडल प्रस्तुत कर दिया था।

बोह्र का करेस्पांडेंस सिद्धान्तः—बोह्र के परमाणु-विवेचन में वर्णक्रम रेखाओं का स्पष्टीकरण तो हो जाता है परन्तु ध्रुवण की क्रिया का कोई समाधान नहीं मिलता इसके लिए उन्होंने चिरप्रतिष्ठित भौतिकी तथा नवीन क्वाण्टम भौतिकी में एक कड़ी की सहायता से सम्बन्ध स्थापित किया। इसका सम्बन्ध करने वाले सिद्धान्त को करेस्पाण्डेंस सिद्धान्त कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार—"अत्यधिक संख्या के क्वाण्टम नम्बर की दशा में परमाणु धीरे-धीरे चिरप्रतिष्ठित भौतिकी द्वारा प्रदत्त नियमों का पालन करने लगता है।" इस सिद्धान्त की सहायता से प्राप्त गणनाएँ प्रयोगात्मक गणनाओं से आश्चर्य-जनक रूप में मेल खा जाती हैं। इसकी सहायता से स्पेक्ट्रल रेखाओं की तीव्रता तथा ध्रुवण की सहज में गणना हो जाती है।

स्टार्क प्रभाव—जिसका अर्थ होता हैं स्पेक्ट्रल रेखाओं का विस्तार वैद्युतीय क्षेत्र की उपस्थिति में—का भी स्पष्टीकरण बोह्र महोदय ने प्रस्तुत किया था जो वास्तव में परटरबेशन नियम पर आधारित था।

बोह्र का नाभिकीय विखंडन सिद्धान्त—सन् १९३९ में बोह्र साहब ने नाभिकीय-विखण्डन का सिद्धान्त प्रस्तुत करते हुए कहा कि—हम नाभिक को एक द्रव की बूंद की शक्ल में मान सकते हैं। जब कोई कण तेजी के साथ इस पर आघात करता है तो नाभिक उसको अवशोषित करके एक नवीन नाभिक का रूप धारण करता है। और पुनः उसके पश्चात् नवीन कणों की उत्पत्ति होती है जिनको आघाती कण से ही ऊर्जा प्राप्त होती है।

इसी आधार पर बोह्र तथा ह्वीलर ने गणना करके बताया कि आवर्त तालिका में ११० संहति संख्या के ऊपर के नाभिकों का तल तनाव उनके अन्दर के स्थिर वैद्युतीय तनाव से अधिक हो जाता है। इसलिए वे नाभिक असंतुलित तथा अस्थायी हो जाते हैं और उनसे अधिक मात्रा में ऊर्जा विखण्डन के स्वरूप प्राप्त की जा सकती है।

महान वैज्ञानिक का व्यक्तित्व एवं रुचि—

बोह्र परमाणु-भौतिकी-विद होते हुए भी हमेशा शांति के पुजारी रहे। ज्योंही 'ऐटम बम' का सफल, विनाशकारी परीक्षण हुआ बोह्र ने तुरन्त अन्तर-राष्ट्रीय नियन्त्रण की अपील की, परन्तु कौन सुनता है राजनीतिज्ञों की भीड़ में। सन् १९५५ ई० में जेनेवा में 'शांति के लिए परमाणु' पर होने वाली कान्फ्रेन्स के चेयरमैन भी चुने गए थे। बोह्र महाशय शायद समस्त वैज्ञानिकों में सर्वाधिक पुरस्कार तथा मेडल प्राप्त करने वाले थे। संभवतः आज तक इतना सम्मान किसी को नहीं मिला।

डा० बोह्र बड़े विनोदी स्वभाव के थे। एक बार कणिका भौतिकी के एक सिद्धान्त के बारे में उन्होंने कहा था—"we are all agreed that the theory is crazy. The question that divides us

[शेषांश पृष्ठ ९९ पर]

सार संकलन

१—रक्त के संबंध में विशेष जानकारी

रक्त क्या है ?

उस लाल तरल पदार्थ को जो हमारे शरीर की शिराओं और धमनियों में प्रवाहित होता है, रक्त कहते हैं। जो खाना हम खाते हैं, उसी से यह बनता है। गलत रहन-सहन, खान-पान से रक्त कम बनता हैं और अशुद्ध भी हो जाता है, जिससे बहुत-सी बीमारियाँ पैदा हो जाती हैं।

हृदय द्वारा भेजा गया शुद्ध रक्त जो लम्बी शिराओं और धमनियों द्वारा सारे शरीर में घूमता रहता है, शरीर के लिए आवश्यक और पोषक तत्वों को शरीर के प्रत्येक भाग में पहुँचाता है और शरीर-को हानि पहुँचाने वाले तत्वों को बाहर करता है।

शरीर में वहने वाला रक्त शरीर के तापमान को नियंत्रण में रखता है, जिससे शिराओं में रक्त-कोष जीवित रह सकें और रोग पैदा करने वाले कीटाणुओं को नष्ट कर सकें।

जन्म से लेकर मृत्यु तक यह क्रिया शरीर में होती रहती है, इसमें कमी या अधिकता होने पर शरीर रोगी हो जाता है।

जब किसी चोट या अन्य कारण से शरीर से रक्त अधिक मात्रा में निकल जाता है, तो मनुष्य मर जाता है। ऐसा ही नहीं, यदि एक क्षण भी दिमाग को खून मिलने में देर हो जाय या कम मात्रा में पहुँचे, तो मनुष्य संज्ञाहीन (बेहोश) होने लगता है और मौत के मुँह में जाने के लक्षण दिखाई देने लगते हैं। ऐसे समय में रक्त की कमी को दूर करने के लिए बाहर से शरीर में रक्त पहुँचाया जाता है।

रक्त के वर्ग (Blood Groups)

सबका रक्त एक जैसा नहीं होता, यहाँ तक कि पिता-पुत्र, भाई-भाई, भाई-बहन, माँ-बेटी आदि किसी का रक्त-एक सा नहीं होता।

अध्ययन और वैज्ञानिक खोजों ने मानव-रक्त को चार मुख्य वर्गों (ग्रुपों) में बाँट दिया है, जो अपनी विशेषता के कारण एक दूसरे से भिन्न है। ये चारों वर्ग ए, एबी, बी और ओ के नाम से जाने जाते हैं।

एक वर्ग का रक्त, दूसरे रक्त-वर्ग वाले मनुष्य को नहीं दिया जा सकता है। जैसे यदि किसी मनुष्य का रक्तवर्ग ए है और रक्त की आवश्यकता है, तो उसे केवल ए वर्ग के ही रक्त वाले मनुष्य से प्राप्त रक्त दिया जा सकता है, न कि किसी अन्य रक्त वर्ग वाले मनुष्य का। अधिक आवश्यकता के समय जब कि उसी का रक्त प्राप्त न हो, तो सामान्यतः चिकित्सक ओ वर्ग के रक्त वाले व्यक्ति से प्राप्त रक्त का प्रयोग करता है। ओ वर्ग का रक्त किसी भी वर्ग वाले मनुष्य को दिया जा सकता है इसलिए इस रक्त वर्ग को सार्वभौम वर्ग या यूनीवर्सल डोनर (Universal Donor) कहते हैं।

एबी रक्त-वर्ग वाले मनुष्य को हर वर्ग का रक्त नहीं दिया जा सकता है। एबी वर्ग का रक्त केवल एबी वर्ग वाले व्यक्ति को ही दिया जा सकता है। इन सब प्राविधिक बातों को ध्यान में रखते हुए किसी भी व्यक्ति को खून चढ़ाने से पूर्व यह ज्ञात करना अत्यन्त आवश्यक है कि जो रक्त दूसरे मनुष्य

को दिया जा रहा है वह उसके रक्त से मिलता है या नहीं। सबसे पहले जिस व्यक्ति को खून दिया जाना है, उसके खून के ग्रुप की जानकारी करती है। उसके बाद उसी वर्ग के रक्तदानी द्वारा प्राप्त रक्त में उसका मिलान (क्रास मैच) करना होता है। यदि ठीक है, तो कोई हानि नहीं है। यदि मिलने पर पिण्ड बन जाता है या अन्य किसी प्रकार की खराबी दिखाई पड़े, और दोनों आपस में नहीं मिलते तो जिसे भी ऐसा रक्त दिया जाएगा, वह मर भी सकता है। इस मिलान की क्रिया को क्रासमैचिंग कहते हैं।

इसके अतिरिक्त उपवर्ग भी हैं, जो खास तौर पर ए और एबी वर्ग में पाए जाते हैं जो क्रमशः 'ए१' और 'ए२'—'ए१बी' और 'ए२बी' के नाम से जाने जाते हैं।

अन्य अतिरिक्त वर्ग

आर० एच० वर्ग (Rh. Factor)

उपर्युक्त वर्गों और उपवर्गों के अतिरिक्त भी कुछ और वर्ग हैं, जिनमें से एक को 'आर० एच० फेक्टर' कहते हैं। इसके अन्तर्गत भी दो विभाग हैं, जिन्हें आर० एच० नेगेटिव और दूसरे को 'आर० एच० पोजीटिव के नाम से जाना जाता है। यहाँ भी एक वर्ग का रक्त दूसरे एक ही वर्ग वाले व्यक्ति को नहीं दिया जा सकता है।

आर० एच० नेगेटिव वर्ग का रक्त बहुत कम मात्रा में पाया जाता है। अधिकतर स्त्री-जाति में यह वर्ग होता है और इसका सम्बन्ध भी स्त्री-जाति से ही अधिक है। गर्भावस्था में रक्त की कमी की दशा में इसका अधिक भय रहता है। यदि पाजीटिव वर्ग का रक्त नेगेटिव रक्त-वर्ग वाली महिला को दिया जाय, तो वह शरीर में पहुँचकर उस महिला के रक्त में एन्टीबाडीज पैदा कर देता है। प्रत्यक्ष रूप में, उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, परन्तु गर्भ में रहने वाले बच्चे पर उसका प्रभाव बुरा पड़ता है; और वह या तो मरा हुआ पैदा होता है अथवा पैदा होने के कुछ काल बाद मर जाता है, उसका जीवित रहना कठिन ही है। ऐसा होने के दो कारण हैं।

यदि नेगेटिव वर्ग की महिला को पोजीटिव वर्ग का रक्त चढ़ाया जाएगा, तो उस महिला के रक्त में एन्टीबाडीज पैदा हो सकते हैं। इस प्रकार के लगातार रक्त चढ़ाने से यदि स्थिति भयानक नहीं होती तो भी गम्भीर अवश्य हो जायेगी, क्योंकि जो भी आर० एच० पोजीटिव कोष, आर० एच० एन्टीबाडीज से मिलेगा, तो वह फट जाएगा और रक्त दूषित हो जायेगा।

यदि आर० एच० नेगेटिव वर्ग की स्त्री और आर० एच० पोजीटिव वर्ग के पुरुष से गर्भधारण करती है, तो ऐसी स्थिति में गर्भ का बालक आर० एच० पोजीटिव वर्ग का हो सकता है। जब बच्चा गर्भ में होता है, उसका पालन माँ के रक्त से ही होता है, जो बालक के शरीर में होकर फिर बाद में माँ के शरीर में पहुँचता है। इस प्रकार जब माँ के रक्त से बालक का रक्त नहीं मिलता है, तब वह माँ के रक्त में एन्टीबाडीज पैदा कर देता है और इस प्रकार पैदा होने वाले एन्टीबाडीज जब वापस बालक के शरीर में जाते हैं, तो वह बालक के रक्त को दूषित करते रहते हैं और बार-बार ऐसा होने से बालक का रक्त पूर्णतया दूषित हो जाता है और बालक या तो पेट में ही मर जाता है अथवा रोगग्रस्त रहेगा।

इसलिए गर्भाधान के बाद स्त्री की रक्त-परीक्षा करके यह मालूम किया जाना चाहिए कि उसके शरीर में एन्टीबाडीज तो नहीं है और बच्चे को कोई खतरा तो नहीं है। यदि है, तो उसे चिकित्सा द्वारा दूर करने के उपाय किए जाने चाहिए। आर० एच० वर्ग द्वारा पैदा होने वाली कठिनाइयों में इलाज से कमी की जा सकती है।

यदि बच्चा पैदा होने के बाद पीलिया रोग से पीड़ित हो तब उसके रक्त की परीक्षा करके ठीक

तरह से खून चढ़ाया जाए, तो वह जीवित बच सकता है।

एम० एच० वर्ग (M. H. group)

यह एक विशेष वर्ग है। इससे किसी प्रकार की हानि नहीं होती और न रक्त-संक्रामण पर ही इसका कोई असर होता है। यह वर्ग भी प्रत्येक मुख्य रक्त-वर्ग के साथ पाया जाता है।

इस वर्ग द्वारा यह जाना जा सकता है कि रक्त किस मनुष्य, स्त्री अथवा बालक का है।

ये वर्ग जहाँ जीवन-दान और चिकित्सा के बड़े पक्षों से सम्बन्धित हैं, वहीं यह अपराधी संसार की एक बहुत बड़ी गुत्थी को भी सुलझा सकते हैं। जिस प्रकार हमारी सरकार अपराधियों की अँगुलियों के निशान रखती है, उसी प्रकार अगर अपराधियों के रक्तवर्ग और अतिरिक्त वर्ग का विवरण रखे, तो किसी अपराधी व्यक्ति को पहचानना आसान हो जायेगा।

रक्त की मात्रा

आमतौर पर स्वस्थ व्यक्ति के शरीर में १२ या १३ पाइण्ट खून होता है या साधारण भार का लगभग १/१०वाँ भाग।

रक्त के भाग

वैज्ञानिकों के अथक परिश्रम से यह ज्ञात हुआ है कि रक्त कई चीजों का मिश्रण है। रक्त में लाल कोष (Red Cells), श्वेत कोष (White Cells), प्लेटलेट्स (Platlets) और प्लाजमा (Plasma) होते हैं।

लाल कोष बटन की शक्ल के होते हैं और सामान्यतः इनका आकार और प्रकार एक ही होता है।

श्वेत कोष लाल कोषों से आकार में बड़े होते हैं और इनके बीच में नाभिक (बीज) होता है, जो श्वेत कोष का आवश्यक अंग है।

प्लेटलेट्स बिना किसी रंग के कोष होते हैं, जिनमें कोई बीज नहीं होता है और विभिन्न आकार के होते हैं।

प्लाजमा हल्के पीले रंग का एक द्रव होता है, जो रक्त से लाल कोषों को अलग करने के बाद बाकी रह जाता है।

उत्पत्ति और कार्य

रक्त-न्यूनता (Anaemia)

लाल कोषों की बनावट में कमी होने पर अथवा अन्य किसी कारण से जब शरीर में रक्त की अधिक कमी हो जाती है तब वह स्थिति एनीमिया कहलाती है।

लौह-तत्व की कमी (Iron Deficiency)

शरीर में रक्त की कमी न होने देने में लौह-तत्त्व बहुत सहायक होता है। जब लोहे की कमी होने लगती है, तो रक्त में हीमोग्लोबीन कम होने लगता है जिससे रक्त कमजोर हो जाता है, और मनुष्य पीला पड़ने लगता है। हर समय थकान महसूस करता है। यह लौह-तत्त्व शरीर को, जो खाना खाया जाता है, उससे मिलते हैं। लौह-तत्त्व की कमी भी एक प्रकार की रक्तहीनता ही है।

अपकारक रक्त न्यूनता (परनीसस एनीमिया)

परनीसस एनीमिया भी रक्त न्यूनता की भयानक स्थिति है। यह पुरानी बीमारी है जो रक्त और रक्त बनाने वाले अंगों से सम्बन्धित है। इस हालत में रक्त बनाने वाले अंग काम करना छोड़ देते हैं, परिणामस्वरूप शरीर को उचित मात्रा में रक्त मिलना बंद हो जाता है। चिकित्सक इस रोग की रोक-थाम के लिए लीवर एक्सट्रेक्ट देते हैं। इसमें जो तत्व होते हैं, वे लाल कोषों की बनावट के लिए बहुत उपयोगी हैं। शरीर पर पीलापन आ जाना सदा ही रक्तहीनता का लक्षण नहीं होता।

प्रयोगशाला में रक्त की परीक्षा से पता चलता है कि रोगी रक्तहीनता से पीड़ित है अथवा नहीं, और अगर है तो रक्तहीनता की बहुत-सी किस्मों में से किस प्रकार की रक्तहीनता से पीड़ित है।

ल्यूकेमिया (Leukemia)

श्वेत कोषों में अनावश्यक वृद्धि और उनमें संक्रामक रोग पैदा हो जाने को ल्यूकेमिया कहते हैं

स्वयं रोगग्रस्त श्वेत कोष शरीर की रोग से रक्षा नहीं कर पाते। इस रोग का अभी कोई खास इलाज नहीं है।

हेमोफिलिया (Haemophilia)

मनुष्य को चोट लग जाने या अन्य किसी कारण से शरीर से जब रक्त निकलना बंद नहीं होता या जमता नहीं है, तो इस बीमारी को **हेमोफिलिया** कहते हैं। इस बीमारी में रक्त में उन तत्वों की कमी हो जाती है या अभाव रहता है जो रक्त को जमाने में (clot) सहायक होते हैं।

रक्त का चिकित्सा में प्रयोग

रक्त मनुष्य को रोगमुक्त करने में काफी महत्त्व रखता है। प्रत्येक **गम्भीर आपरेशन**, वक्षशल्य तथा **मस्तिष्क सर्जरी में** रक्त का प्रयोग अत्यन्त लाभकारी सिद्ध हुआ है।

इसके अतिरिक्त आए दिन आकस्मिक दुर्घटनाएँ होती रहती हैं, और शरीर से अधिक मात्रा में रक्त निकल जाता है। ऐसे समय बाहर से शरीर में रक्त पहुँचाने से रक्त की मात्रा पूरी हो जाती है और घायल मनुष्य का जीवन बच जाता है। **आघात** तथा **अग्निदाह** (जलना) अथवा और किसी कारण से शरीर में रक्त द्रव की कमी हो जाने पर बहुत से जीवन संकट में पड़ जाते हैं। ऐसे समय में रक्त-संक्रामण ही जीवन-रक्षा का एक साधन रह जाता है।

अकस्मात शरीर से बहुत-सा रक्त निकल जाता है। कभी-कभी तो रक्त का बहना ही बंद नहीं होता। ऐसी स्थिति में रक्त-संक्रामण शरीर में रक्त की कमी को ही पूरा नहीं करता वरन् बहने वाले रक्त की मात्रा में भी कमी करता है और बहाव को रोकता है।

सम्पूर्ण रक्त (Whole Blood)

लाल तरल पदार्थ, जो मनुष्य के शरीर में बहता है, उसे रक्त या सम्पूर्ण रक्त कहते हैं। यह शरीर से बाहर निकलने पर जम जाता है, इसे जमने से रोकने के लिए कुछ दवाएँ मिलाकर बोतलों में बंद करके भविष्य के प्रयोग के लिए प्रशीतकों में ४० से ६० सेंटीग्रेड ताप पर रखा जाता है। सुरक्षित रक्त का प्रयोग अधिक-से-अधिक २१ दिन तक किया जा सकता है, उसके बाद वह उपयोगी नहीं रहता।

पैक्ड सैल्स (Packed Cells)

यह सम्पूर्ण रक्त का एक भाग है—रक्त में से तरल पदार्थ को वैज्ञानिक रीति से पृथक करने के बाद, जो लाल भाग रह जाता है, उसे पैक्ड सैल्स कहते हैं। इसका प्रयोग भयात्मक **रक्तहीनता** (सीवियर एनीमिया) तथा रक्त-कोषों की कमी के समय किया जाता है।

प्लाजमा (Plasma)

रक्त-कोषों से अलग किया गया पीला तरल पदार्थ प्लाजमा कहलाता है। इसका प्रयोग शरीर में तरल पदार्थ की कमी में किया जाता है—प्रोटीन की कमी के समय भी यह काम आता है।

वैज्ञानिक-पद्धति से तैयार किया हुआ यह द्रव काफी समय तक इस्तेमाल के लिए रखा जा सकता है। जबकि सम्पूर्ण रक्त केवल कुछ दिन। इसका प्रयोग रक्त के अभाव में, रक्त की मात्रा पूरा करने के लिए किया जाता है।

इसको वैज्ञानिक क्रियाओं द्वारा सुखाकर भी रखा जाता है, सुखाया हुआ प्लाजमा केवल **ओ** रक्त-वर्ग से बनाया जाता है और उसे हर वर्ग के रोगी को दिया जा सकता है।

प्लाजमा में से प्रोटीन को अलग कर सुखा दिया जाता है जिसे फ्रेक्शन्स कहते हैं।

प्लाजमा के आधे प्रोटीन तत्त्व **सीरम एलबूमिन** कहलाते हैं। यह गुर्दे और जिगर की बीमारियों में काम आता है।

इम्यून सीरम ग्लोबुलिन (Immune Serum globulin)

इसका प्रयोग कुछ संक्रामण रोगों का इलाज करने में होता है, जैसे चेचक आदि।

एण्टी-हेमोफिलिक ग्लोबुलिन (Anti-Haemophelie Globulin)

यह हेमोफिलिया रोग में रक्त-प्रवाह बंद करने के काम आता है। इसका इंजेक्शन देने से शरीर से जो खून निकलता रहता है और बंद नहीं होता, उसको रोकता है।

फ्रेब्रीनोजन (Fibrinogen)

यह खून को जमाने में सहायक होता है। कुछ दशाओं में जब खून बहना बंद नहीं होता, इसका प्रयोग लाभकारी है।

थ्रोम्बीन (Thrombin)

यह फ्रेब्रीनोजन के साथ रक्त को जमाता है, दोनों को मिलाने से **फिबरीन फिल्म** तथा **फिबरीन फोम** तैयार होता है।

फिबरीन फिल्म (Fibrin Film)

यह एक प्रकार की **सेल्यूलाइट** की तरह पट्टी होती है, जिसका प्रयोग दिमाग तथा नसों के आपरेशन के समय ऊतकों को जोड़ने में होता है।

फिबरीन फोम (Fibrin Foam)

यह स्पंज की तरह होता है और इसका प्रयोग आपरेशन या दुर्घटना में हुए घावों से खून का बहना बंद करने के लिए होता है।

२—अन्तरिक्ष-युग संबंधी खोजों से लाभ

अन्तरिक्ष-युग अभी अपने शैशव काल में ही है, परन्तु पाँच वर्षों की इस संक्षिप्त अवधि में ही इसने मानव जाति को अनेक प्रत्यक्ष और व्यावहारिक लाभ सुलभ कर दिए हैं।

अन्तरिक्ष सम्बन्धी अनुसन्धान पर जो विशाल धन-राशि व्यय की जा रही है उसका वास्तविक और आधारभूत औचित्य तो ब्रह्माण्ड के बारे में और अधिक जानकारी प्राप्त करने और वहाँ प्रस्तुत चुनौती का सामना करने विषयक मानव की उत्कट अभिलाषा और संकल्प में ही निहित हो सकता है, परन्तु इस में तनिक भी सन्देह नहीं कि अन्तरिक्ष-युग ने पृथ्वी पर ही मानव जाति के समक्ष नए क्षितिजों और नई सम्भावनाओं का द्वार उन्मुक्त कर दिया है जैसे मौसम सम्बन्धी भविष्यवाणी, दूरगामी संचार-व्यवस्था और जलयानों एवं विमानों के लिए नयी मार्ग-दर्शन-प्रणाली।

इनमें से अधिकांश लाभ उन अनेक और जटिल अन्तरिक्ष अनुसन्धान-योजनाओं के परिणाम हैं, जो अमेरिका ने अब तक क्रियान्वित की हैं। १९५७ के ग्रीष्मकाल—जब कि अन्तर्राष्ट्रीय भू-भौतिक वर्ष ने पृथ्वी के वायुमण्डल से बाहर स्थित अन्तरिक्ष का अनुसन्धान करने की उत्कट प्रेरणा मनुष्य के हृदय में जगाई—से लेकर अब तक अमेरिकी वैज्ञानिक ७५ से भी अधिक अन्तरिक्ष वाहन प्रक्षिप्त कर चुके हैं। इनमें से ३५ अन्तरिक्ष-वाहन अब भी पृथ्वी की परिक्रमा कर रहे हैं और इनमें से बहुत से अब भी भूमि पर स्थित केन्द्रों को महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्रेषित कर रहे हैं। अन्तरिक्ष में पहला उपग्रह सोवियत रूस द्वारा प्रक्षिप्त किया गया और उसने ऐसे राकेटों का भी निर्माण किया है, जिनमें धक्का देने की शक्ति अमेरिका द्वारा प्रक्षिप्त किए गए राकेटों से कहीं अधिक है। लेकिन उसके द्वारा अन्तरिक्ष में भेजे गए अन्तरिक्ष यानों की संख्या अमेरिका से कहीं कम है। यही नहीं, उसके (रूस के) अन्तरिक्ष यानों की तुलना में अमेरिका द्वारा प्रक्षिप्त अन्तरिक्ष यान अधिक सूक्ष्म और महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक उपकरणों और यन्त्रों से युक्त थे। १९६२ की ग्रीष्म ऋतु तक सोवियत रूस ने अन्तरिक्ष में २१ उपग्रह स्थापित किये थे, जिनमें से केवल ५ इस समय पृथ्वी की परिक्रमा कर रहे हैं।

अमेरिकी अन्तरिक्ष विज्ञानवेत्ताओं की दृष्टि में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात न तो प्रक्षिप्त किए गए उपग्रहों अथवा अन्तरिक्ष यानों की संख्या है (जिसमें अमेरिका आगे है) और न उनका आकार है (जिसमें रूस आगे है) बल्कि महत्त्वपूर्ण बात तो इन उपग्रहों में रखे गए यन्त्रों और उपकरणों की जटिलता और उपयोगिता

तथा उनके द्वारा पृथ्वी को प्रेषित सूचना है। अन्तर्राष्ट्रीय भू-भौतिक वर्ष की भावना के अनुरूप अमेरिका ने अन्तरिक्ष विज्ञान के क्षेत्र में की गई प्रगति की विस्तृत रिपोर्ट संसार के सभी भागों के वैज्ञानिकों के लाभार्थ प्रकाशित कर दी है।

अमेरिका के 'टाइरोस' शृङ्खला के उपग्रहों ने पृथ्वी के वायुमण्डल में छाए बादलों के टेलीविजन चित्र तथा वायुमण्डल सम्बन्धी ऐसे बहुत से आंकड़े प्रेषित किए हैं, जिनसे मौसमवेत्ताओं को प्रचण्ड तूफानों की खोज करने और उनकी गति एवं दिशा का पता लगाने में महत्त्वपूर्ण सहायता मिली है। इन उपग्रहों के कारण अब कुछ हद तक हरीकेन और टायफून जैसे भयंकर और प्रचण्ड तूफानों के आगमन की पूर्व चेतावनी देना सम्भव हो गया है। इनसे प्राप्त सूचना के द्वारा अब तक तूफानों से जन और सम्पत्ति की रक्षा करने में महत्त्वपूर्ण सहायता मिल चुकी है। बहुत से व्यक्तियों की प्राण-रक्षा की गई है और लाखों डालरों की सम्पत्ति को नष्ट होने से बचा लिया गया है।

मौसम की भविष्यवाणी के क्षेत्र में मामूली-सी प्रगति भी किसानों, भवन-निर्माताओं, मेला आयोजकों, खेल-आयोजनों और इसी प्रकार के अन्य सामाजिक क्रियाकलापों को उल्लेखनीय लाभ प्राप्त हो सकता है।

अमेरिका के संचार उपग्रह भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। इन संचार उपग्रहों का प्रादुर्भाव ऐसे समय हो रहा है जब कि समुद्री केबिलों तथा संचार के अन्य सामान्य सन्धानों पर संचार सम्बन्धी माँगों का दबाव निरन्तर बढ़ता जा रहा है। अतः इनके विकास से संचार के वर्तमान साधनों पर बढ़ रहा दबाव भी काफी कम हो जावेगा।

अमेरिका के बैलून के आकार के संचार उपग्रह इको-१ ने यह सिद्ध कर दिया कि अन्तरिक्ष-स्थित स्टेशनों का उपयोग समुद्रों के पार स्थित विस्तृत क्षेत्र तक रेडियो सन्देश प्रसारित करने के लिए सफलतापूर्वक किया जा सकता है। १९६२ ई० के उत्तरार्द्ध में इको-२ उपग्रह प्रक्षिप्त किया गया और इसके बाद कई टेलस्टार, रिले तथा अन्य उपग्रह भी छोड़े गये। ये उपग्रह रेडियो-संकेतों की शक्ति को बढ़ा कर उन्हें पुनः पृथ्वी को प्रसारित करेंगे। इस प्रकार एक अत्यन्त उन्नत प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय संचार-प्रणाली का विकास करना सम्भव हो जाएगा।

विशेषज्ञों का अनुमान है कि १० वर्षों में संचार उपग्रहों के माध्यम से अन्तर्महाद्वीपीय टेलीफोन एवं टेलीग्राम सन्देश प्रेषित होने लगेंगे और रेडियो और टेलीविजन सेवाओं का भी विस्तार हो जाएगा।

जलयानों और विमानों की मार्गदर्शन प्रणालियों में सुधार करने के लिए 'ट्रांजिट' शृङ्खला के उपग्रहों का प्रयोग किया जा रहा है। यात्रा के मध्य सही स्थिति का पता लगाने के लिए कोई भी जलयान वा विमान ४०० मील की ऊँचाई पर पृथ्वी की परिक्रमा करने वाले 'ट्रांजिट' उपग्रह से सम्पर्क स्थापित कर सकता है। इतनी ऊँचाई पर परिक्रमा करने के कारण यह उपग्रह मौसम सम्बन्धी गड़बड़ियों से मुक्त रहेगा। चूँकि उसका परिक्रम-पथ ज्ञात रहेगा, अतएव उपग्रह और किसी जलयान, पनडुब्बी या विमान की तुलनात्मक स्थिति को दृष्टि में रखते हुए जलयान अथवा विमान का अपनी वास्तविक स्थिति का शीघ्रतापूर्वक पता लगाना सम्भव हो जाएगा।

कई सफल परीक्षणों द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि 'ट्रांजिट' उपग्रह कितनी सामर्थ्य रखता है। यह भविष्यवाणी की गयी है कि ५ वर्षों के अन्दर संसार के सभी भागों में जलयानों और विमानों के मार्ग-दर्शकों को अपनी स्थिति का पता लगाने के लिए इतना सही और विश्वसनीय साधन प्राप्त हो जाएगा, जितना इतिहास में कभी सुलभ नहीं रहा।

अस्पतालों के लिए अधिक उन्नत प्रकार के चिकित्सा-यन्त्र, उद्योगों के लिए अधिक उत्कृष्ट प्रकार के उपकरण एवं घरों में अधिक सुख-सुविधाएं अन्तरिक्ष अनुसन्धान के फलस्वरूप सुलभ ये तथा अन्य नाना प्रकार के अप्रत्यक्ष लाभों का उपभोग या तो लोग

करने लगे हैं अथवा ये लोगों की पहुँच के अन्दर जाने लगे हैं।

अमेरिकी अस्पतालों में गम्भीर रूप से बीमार रोगियों की हालत के प्रति नर्सों को पूरी तरह सतर्क और जागरूक रखने के लिए उस अत्यन्त सूक्ष्म और संवेदनशील सेंसर उपकरण का उपयोग किया जा रहा है, जिसका उपयोग अन्तरिक्ष यात्रा के दौरान अन्तरिक्ष यात्री की हृदय की धड़कनों को नापने के लिए होता है।

पक्षाघात रोग से पीड़ित कुछ व्यक्ति अन्तरिक्ष-यात्री द्वारा पहने जाने वाले विशेष प्रकार के अन्तरिक्ष प्रेसर-सूट को पहन कर चलने-फिरने और काम करने में समर्थ हो गए हैं। इस सूट का उपयोग दबाव पड़ने पर भी रक्त प्रवाह की क्रिया को सामान्य बनाए रखने के लिए किया जाता है।

अन्तरिक्ष अनुसन्धान के लिए सूक्ष्म आकार के विद्युदणु यन्त्रों का विकास करने के प्रयत्न में एक ऐसी सूक्ष्म विद्युदणु-विधि का विकास किया गया है, जिस का उपयोग कुछ बधिर लोगों को श्रवण-शक्ति देने के लिए किया जा रहा है। इसी प्रकार एक कृत्रिम स्वर-यन्त्र, जो सूक्ष्म बैटरियों द्वारा संचालित होता है, का उपयोग कुछ मूक व्यक्तियों को वाणी देने के लिए प्रयुक्त हो रहा है।

लैसर (लाइट एम्पलीफिकेशन बाई स्टिमुलेटेड एमीसन औव रेडियेशन) की चमत्कारिक शक्ति के रूप में शल्य-चिकित्सकों को एक ऐसी प्रकाश-किरण सुलभ हो गई है जो शल्य-चिकित्सा के लिए प्रयुक्त किए जाने वाले किसी भी औजार से कहीं शक्तिशाली और अधिक तेज धार वाली है। इन तेज धार वाली किरणों का उपयोग नेत्रों की शल्य-चिकित्सा के लिए सफलतापूर्वक किया भी जा चुका है।

'लैसर' वैज्ञानिक कथा-जगत की कोई वस्तु-सी प्रतीत होती है। अप्रत्याशित रूप से शक्तिशाली यह सूक्ष्म प्रकाश-किरण सामान्य सूर्य-प्रकाश से १० लाख गुना अधिक तेज होती है और इतनी तेज होती है कि इससे हीरों को आसानी से काटा और तराशा जा सकता है। निकट भविष्य में सम्भवतः कभी इनका उपयोग ध्वनि और टेलीविजन-प्रसारण के लिए भी किया जा सकेगा। सुरक्षात्मक शस्त्र के रूप में ये किरणें प्रहार करने के लिए अग्रसर अन्तरमहाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्र को भी नष्ट करने में समर्थ हैं।

अन्तरिक्ष में उपयोग के लिए विद्युत शक्ति के जिन स्रोतों का परीक्षण और उपयोग किया गया है, उनके आधार पर ऐसी एकजुट विद्युत-शक्ति प्रणाली का विकास हो सकता है, जिनसे घर को गर्म करने, ठण्डा करने और प्रकाशित करने की व्यवस्था की जा सके। मनुष्य के हाथ के आकार का विद्युत शक्ति उत्पादक यन्त्र बना लेना सम्भव होने के कारण मोटरों को चलाने के लिए नए प्रकार के ईंधन का उपयोग किया जा सकता है। अमेरिका के अन्तरिक्ष अनुसन्धान कार्यक्रम में सक्रिय सहयोग देने वाली ९,००० अमेरिकी फर्मों को दैनिक उपयोग की नई-नई और अप्रत्याशित वस्तुओं की जानकारी प्राप्त हो रही है। अर्थशास्त्रियों का विश्वास है कि हम एक ऐसे नए युग की ओर तेजी से अग्रसर हो रहे हैं, जिसके समक्ष १९वीं सदी की औद्योगिक क्रान्ति द्वारा प्राप्त की गई सफलताएँ भी फीकी पड़ जायेंगी।

●●

१—नया डायोड

रेडियो और टेलीविजन-संकेतों जैसी सूचना-वाहक विद्युत्धारा को सूचना-वाहक लघु लाल प्रकाश में परिणत करने के लिए एक नये प्रकार का डायोड विकसित हुआ है। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि यह नया डायोड संचार सम्बन्धी अनेक समस्याएँ सुलझाने में सहायक सिद्ध होगा। ट्रांजिस्टर की भाँति डायोड एक ऐसा यन्त्र है, जिसका प्रयोग 'ठोस-अवस्था' विषयक भौतिक विज्ञान के नवीन संसार में सबसे अधिक हो रहा है। इसमें दो विद्युदग्रों को तार से इस तरह जोड़ दिया गया है, जो बिजली की धारा को एक ही दिशा में प्रवाहित करने में योग देते हैं। इसकी विद्युत चालकों और अर्द्ध चालकों की व्यवस्था ऐसे कार्य सम्पन्न कर रही है, जो पहले निर्वात-नलिका द्वारा सम्पन्न होते थे।

इस नये डायोड में अर्द्धचालकों के रूप में जर्मेनियम या सिलिकोन के बजाय **गैलियम आर्सेनाइड** का प्रयोग होता है। डायोड वैद्युत ऊर्जा को लघु लाल प्रकाश में शत-प्रतिशत सफलता के साथ परिणत कर सकता है। मैसाचूसेट्स इन्स्टीट्यूट ऑव् टैक्नोलॉजी की लिंकन प्रयोगशाला में इस नये डायोड को विकसित करने के सम्बन्ध में अनुसन्धान-कार्य हो रहा है। वहाँ के वैज्ञानिकों का कहना है कि इस नये यन्त्र द्वारा बहुत से ऐसे कार्यों को जिन्हें 'लैसर' द्वारा सम्पन्न किया जाता था, बहुत पहले ही सम्पन्न करना सम्भव हो गया है। 'लैसर' से ऐसी सम तरङ्ग दैर्घ्य वाला प्रकाश प्रादुर्भूत होता है, कि इसे एक रेडियो-तरङ्ग की भाँति ध्वनि या सङ्गीत का वाहक बनाया जा सकता है। मैसाचूसेट्स इन्स्टीट्यूट ऑव् टैक्नोलाजी के वैज्ञानिकों के अनुसार नये डायोड का महत्व इस बात में निहित है कि यह 'लैसर' से कहीं अधिक सरल है और सूचना सम्प्रेषित करने के लिए एक भिन्न ढङ्ग पर प्रकाश का प्रयोग करता है।

डायोड से निःसृत प्रकाश इतना चमकता है कि आँखें एक लाल चमक देख सकती हैं। इस प्रकाश की तरङ्ग दैर्घ्य का प्रसार अत्यन्त संकुचित होता है। अतः नये डायोड के प्रकाश की तरङ्ग दैर्घ्य को लैसर के प्रकाश की तरङ्ग दैर्घ्य की भांति परिवर्तित नहीं किया जा सकता। इसके बजाय संकेत को बिजली की धारा के आकार के परिवर्तनों के रूप में सम्प्रेषित किया जाता है।

नया डायोड प्रति सेकण्ड ३५ करोड़ मेगासाइकिल की गति से संचालित होता है। यह गति टेलीविजन-प्रसारण में सामान्यतः प्रयुक्त अत्यन्त उच्च आवृति वाले रेडियो की गति के १ करोड़ गुने के बराबर है। इस उच्च क्षमता के कारण एक अत्यन्त संकुचित आवृति बैण्ड के भीतर अनेक संचार-पथों को स्थापित करना सम्भव है। उदाहरण के लिए, नये डायोड के एक प्रयोगात्मक नमूने ने, जिसका सक्रिय क्षेत्र सुई की नोंक के आकार का है, पूरी सफलता के साथ वैद्युत टेलिविजन संकेतों को लघु लाल प्रकाश की सशक्त रश्मि में परिणत किया है। नये डायोड का प्रयोग करके एक ही परिपथ किसी एक समय २० टेलीविजन संचार-पथों या टेलीफोन की २,००० वार्ताओं को वहन कर सकता है। वैज्ञानिकों का विश्वास है कि १५,०००

वाट या उससे भी अधिक क्षमता वाले बड़े डायोड तैयार किये जा सकते हैं।

इसमें एक गम्भीर दोष यह है कि नये डायोड की लघु लाल प्रकाश वाली तरङ्ग दैर्घ्य बादलों या गहरी वर्षा या हिम को भेद नहीं पाती। फिर भी, वैज्ञानिकों के मतानुसार, नया डायोड मौसम के प्रभाव से मुक्त स्थानों पर अथवा अंतरिक्ष में १० मील से अधिक ऊंचाई पर संचार के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगा। वैज्ञानिकों का यह भी कहना है कि यह नया डायोड सम्भवतः अन्तरिक्ष से वापिस आने में पृथ्वी के वायुमण्डल में अन्तरिक्ष-यान के पुनः प्रवेश करने के समय रेडियो सम्पर्क विच्छिन्न होने की समस्या सुलझाने में सहायक हो सकता है। अमेरिकी अन्तरिक्ष-यात्री मैल्कम स्काट को अन्तरिक्ष से लौटते समय ऐसी स्थिति का सामना करना पड़ा था।

२—मौसम की भविष्यवाणी में गणक यंत्र

वाशिंगटन में अमेरिकी मौसम परिषद् की अनुसन्धानशाला में एक शक्तिशाली विद्युदाणविक गणक यन्त्र लगाया गया है। आशा है कि इससे विश्व भर में मौसम सम्बन्धी स्थितियों विषयक दीर्घकालीन भविष्यवाणियों के सुधार में महत्वपूर्ण योग प्राप्त होगा।

यह गणक यन्त्र मौसम के स्वरूपों का विश्लेषण करेगा। आशा है कि अन्त में चलकर यह विश्व भर में १०,००० स्थानों पर दिन-प्रतिदिन के मौसम सम्बन्धी परिवर्तनों का विश्लेषण करके विश्व भर के लिए मौसम सम्बन्धी भविष्यवाणियाँ करने में सहायक सिद्ध होगा। २४ घण्टे की अवधि में मौसम में होने वाले सामान्य परिवर्तनों के विश्लेषण के लिए १,००० करोड़ गणनाओं की आवश्यकता होगी और गणक यन्त्र इतनी गणनाएँ करने में पूर्णतया समर्थ है। वैज्ञानिकों का विश्वास है कि इसके विश्लेषण से मौसम को कृत्रिम रूप से परिवर्तित करने वाले साधनों का संकेत मिल सकता है, जिनसे मानव मात्र को लाभ होगा।

गणक यन्त्र की रूपरेखा इस तरह तैयार की गयी है जिससे यह विश्व भर के १०,००० केन्द्रों पर ९ वायुमण्डलीय स्तरों के सम्बन्ध में सांख्यिकी सूचनाएँ अंकित कर सके। इन केन्द्रों पर चाप, ताप मान, वायु की गतिशीलता और आर्द्रता सम्बन्धी सूचनाएँ संग्रहीत होंगी। इन केन्द्रों पर, मौसम पर पहाड़ों, समुद्रों और रेगिस्तानों के प्रभाव सम्बन्धी विवरण एकत्र होंगे। यहाँ पृथ्वी से लुप्त होने वाले ताप तथा पृथ्वी पर पड़ने वाली सूर्य की किरणों से प्राप्त शक्ति के भी आंकड़े अंकित होंगे। जब कुछ ऐसे सूत्र तैयार कर लिए जायेंगे, जो प्राकृतिक मौसम के बहुत कुछ अनुरूप होंगे, तो उनका प्रयोग मौसम सम्बन्धी दीर्घकालीन भविष्यवाणियों के लिए आसानी से किया जा सकेगा।

३—कृत्रिम कंठ-नली

अब विश्व भर में सर्वत्र एक ऐसी कृत्रिम विद्युदाणविक कण्ठ-नली उपलब्ध है, जिसकी सहायता से मूक व्यक्ति भी बोल सकता है। यह कण्ठ-नली विश्व स्वास्थ्य संघटन द्वारा सुलभ हो सकती है। यह विद्युदाणविक कण्ठ-नली पहले अमेरिका और कनाडा में ही उपलब्ध थी। उसे अमेरिका की बेल टेलीफोन लैबोरेटरीज नामक कम्पनी ने विकसित किया। इसका निर्माण वेस्टर्न इलेक्ट्रॉनिक कम्पनी लाभोपार्जन न करने के आधार पर कर रही है। इसका प्रयोग वे लोग कर सकते हैं जिनकी कण्ठ-नली को शल्यचिकित्सा द्वारा निकाल दिया गया है, अथवा जिनकी स्वर-नलिकाएँ निष्क्रिय हो चुकी हैं।

इस योजना के अन्तर्गत विश्व-स्वास्थ्य-संगठन से सम्बन्ध ११२ राष्ट्रों के निवासियों को यह कृत्रिम नली ४५ डालर मूल्य पर मिल सकेगी। इस प्रकार की मांगों को विश्व स्वास्थ्य संगठन के विदेशों में स्थित ६ क्षेत्रीय कार्यालय पैन अमेरिकन सैनिटरी ब्यूरो, वाशि-

गंटन, डी० सी० के पास भेज देंगे। वहाँ से प्रत्येक कण्ठ-नली के साथ इसके प्रयोग सम्बन्धी निर्देश वाली पुस्तिकाएँ भी, जो ५ भाषाओं में छपी हैं, भेज दी जाती हैं।

४—नयी विषाणु नाशक औषधि

परीक्षण के लिए ६० से अधिक रोगियों पर 'ओक्सासिलिन' नामक विषाणुनाशक औषधि का निरोध करने में साधारण पेन्सिलिन से अधिक प्रभावकारी है। जिन रोगियों को इस औषधि द्वारा ठीक किया गया, उनमें ६ निमोनिया से, ५ सिर और गले के छूत वाले रोगों से तथा ३ जलन से पीड़ित थे।

ओक्सासिलिन एक प्रकार की समन्वित पेंसिलिन है, जो मेथिसिलिन की अपेक्षा ८ गुनी या उससे भी अधिक प्रभावकारी है। इसे खाया जाता है। इस औषधि सम्बन्धी परीक्षण के परिणाम की सूचना सियेटल स्थित वाशिंगटन विश्वविद्यालय के स्कूल औव मेडिसिन के डाक्टरों ने अपनी रिपोर्ट में दी है। उन का कहना है कि 'ओक्सासिलिन' एक महत्त्वपूर्ण प्रगति की सूचक है।

५—पेय जल में पुनः स्वाद उत्पन्न करने वाला यन्त्र

अमेरिका की अमेरिकन मशीन्स एण्ड फौउण्ड्री कम्पनी ने एक नयी छलनी विकसित की है, जो पीने तथा खाना पकाने वाले पानी की दुर्गन्ध को मिटा कर उसमें झरने के ताजे पानी का स्वाद उत्पन्न कर देती है।

इसे किसी ठण्डे पानी के नल में सीधे सिंक के नीचे लगा दिया जाता है। इसका नाम 'ए० एम० एफ०-क्यून पी०-५० टेस्ट एण्ड ओडर रिमूवल वाटर फ़िल्टर' है। यह पानी में से क्लोरीन, गंधक, सड़ांध, लौह तत्त्व आदि को निकाल देती है।

इस उपकरण में एक पारदर्शी पेटी सम्मिलित है, जिसमें हजारों की संख्या में विशेष रूप से तैयार कार्बन के टुकड़े भरे होते हैं। पानी कार्बन की ७ इंच मोटी तह से होकर गुजरता है और वह तह उसकी गन्ध और गन्दगी को साफ कर देती है।

६—पानी की शुद्धि के लिये अतिकाशनी प्रकाश का प्रयोग

यार्नवुड, न्यूयार्क के अल्ट्राडायनामिक्स कार्पोरेशन ने पानी को शुद्ध करने के लिए 'अल्ट्राडियन' नामक एक यन्त्र विकसित किया है, जो समस्त जलजीवी कीटाणुओं का नाश करने लिए अतिकाशनी प्रकाश का प्रयोग करता है। घर पर प्रयोग करने के लिए तैयार किये गये इस यन्त्र की एक इकाई प्रति घण्टे ५०० गैलन पानी साफ कर सकती है।

७—कपास के कीड़ों को मारने के लिए नया कीटाणुनाशक

सोवियत रसायनशास्त्रियों ने कपास में लगने वाले कीड़ों को मारने के लिए एक नया द्रव तैयार किया है जिसका नाम कीटाणुनाशक एम-८१ है।

यह द्रव कपास की फसल में अत्यधिक अभिवृद्धि कर देता है। परीक्षणों से ज्ञात हुआ है कि यह पशुओं तथा मनुष्यों के लिए पूर्णतया हानिरहित है। कृषि में इसका व्यापक उपयोग सुनिश्चित है।

कीटाणुनाशक एम-८१ वैज्ञानिकों द्वारा हाल में कृषि के लिए सुझाये गये दस द्रवों में से एक है। सात द्रवों का अभी परीक्षण चालू है।

८—रासायनिक कारखाना

महाराष्ट्र के मुख्य मंत्री श्री वाई० बी० चव्हाण ने २ करोड़ रुपये की लागत के एक रासायनिक (केमिकल) कारखाने का ८ नवम्बर को शुभारम्भ किया। भारत में पहली बार यह कारखाना कृत्रिम विटामिन ए तैयार करेगा। यह कारखाना बम्बई से २५ मील दूर थाना में स्थापित हुआ है।

बताया जाता है कि इस कारखाने से प्रति वर्ष १ करोड़ विदेशी मुद्रा की बचत होगी।

पुस्तक-समीक्षा

हिन्दी विश्वकोष, खंड २, इलेक्ट्रानिकी से काहिरा तक—

नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, पृ० सं० ५०८, सन् १९६२, मूल्य १२॥)

हिन्दी विश्वकोष के द्वितीय खण्ड के प्रकाशन से उन हिन्दी-प्रेमियों को सन्तोष हुआ जो राष्ट्रभाषा हिन्दी में ज्ञान के अक्षय भण्डार को संकलित रूप में देखना चाहते हैं। सचमुच ही हिन्दी में विश्वकोष का प्रकाशन एक महत्त्वपूर्ण घटना है। विषयों का चुनाव एवं अधिकारी विद्वानों द्वारा उन पर उपयोगी एवं सामयिक सामग्री का लेखन कोई सरल कार्य नहीं। इस दृष्टि से प्रथम खण्ड के बाद अल्पावधि में ही इस द्वितीय खण्ड के प्रकाशित करने के लिए सम्पादक बधाई के पात्र हैं। इसमें कोई अत्युक्ति नहीं कि हिन्दी विश्वकोष के इन दोनों खण्डों तथा और भी जितने खण्ड छपेंगे, उनका किसी भी पुस्तकालय में होना गौरव और गर्व की बात होगी। साहित्य एवं विज्ञान के छात्रों के लिए ये समान रूप से उपयोगी सिद्ध होंगे।

विश्वकोष प्रथम खण्ड और द्वितीय खण्ड में जो विषमतायें दृष्टिगोचर होती हैं उनमें सर्वप्रमुख है हिन्दी शब्दों की बराबरी में अंग्रेजी के समानार्थी शब्दों की उपस्थिति। सम्भवतः ऐसे शब्दों की सर्वाधिक उपस्थिति वैज्ञानिक विषयों से सम्बन्धित है। उदाहरणार्थ पृ० २९६-२९७ में कीटों के वंशों का उल्लेख हिन्दी अक्षरों में और बगल में अंग्रेजी अक्षरों में साथ-साथ प्रचुरता से मिलेगा।

एक दूसरी विषमता है सूत्रों के लेखन में। इस खण्ड में हिन्दी के साथ अंग्रेजी में भी वही सूत्र दिए गये हैं। आश्चर्य होता है कि अंग्रेजी अंकों को क्योंकर स्थान दिया गया? किन्तु नहीं, यह तो केन्द्रीय सरकार की सिफारिशों के अनुकूल ही है। हमें इसमें आपत्ति तो है किन्तु जिस भी उद्देश्य से नागरी अंकों के स्थान पर अंग्रेजी अंकों को मान्यता मिली हो इस विश्वकोष से उसकी शतांश भी परिपुष्टि नहीं होती। चाहिए तो यह था कि समस्त विश्वकोष में अंग्रेजी अंकों का व्यवहार होता, परन्तु ऐसा नहीं हुआ जिससे इस धारणा की पुष्टि होती है कि अन्ततः नागरी अंकों का बोल-बाला होकर रहेगा।

यहाँ पर रसायन सम्बन्धी कतिपय पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख कर देना सप्रांसगिक होगा। पृ० २३७ पर "ऐसिड" शब्द का प्रयोग नितान्त अनुपयुक्त है क्योंकि इसके लिए "अम्ल" शब्द स्वीकृत हुआ है। फिर "ऐसिड ऐमाइड" तथा "फार्मिक ऐसिड" दोनों में ऐसिड शब्द को उसी रूप में रखना तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता।

पृ० २४४ पर "प्रांगारिक" शब्द व्यवहृत है, इसके स्थान पर सरलता से 'कार्बनिक' प्रयुक्त हो सकता था। पृ० २४३ पर "गरमी" शब्द का व्यवहार हुआ है, इसके स्थान पर "ऊष्मा" उपयुक्त होता।

रासायनिक सूत्रों के लेखन में जिन हिन्दी संकेतों का व्यवहार हुआ है उसके लिये पहले किसी एक पृष्ठ पर सूचना होनी आवश्यक है अन्यथा इस प्रकार से हिन्दी में सूत्रों या संकेतों के द्योतन के लिए कोई मान्य नियम नहीं विकसित हो सकेगा। उदाहरणार्थ हम 'आक्सिजन' लिखते हैं परन्तु इसका संकेत (पृ० २३८) 'औ' रखा गया है।

संदर्भ ग्रंथों का उल्लेख करते समय अंग्रेजी पुस्तक का नाम हिन्दी अक्षरों में रखा गया है। चाहिए यह था कि सन्दर्भ द्योतन में अंग्रेजी शीर्षकों को उसी रूप में अवश्य दिया जाता, परन्तु ऐसा नहीं किया गया।

हमें आशा है कि भविष्य में इस एकरूपता के प्रति विज्ञान विभाग के सम्पादक जागरूक रहेंगे, क्योंकि इस विश्वकोष के द्वारा हम एक नवीन परम्परा को जन्म दे रहे हैं और नई दिशा दिखा रहे हैं। इसमें सतर्कता की अत्यधिक आवश्यकता है।

●●

[पृष्ठ ८७ का शेषांश]

is whether it is crazy enough to have a chance of being correct. My own feeling is that it is not crazy enough."

आज से कुछ ही दिनों पूर्व बोह्र भारी भरकम शरीर, घनी सफेद भौहों वाले, दादा सदृश्य मानव थे। वे बड़ी कोमल तथा द्रुत भाषा बोलते थे। एक विज्ञान महारथी होते हुए भी वे एक कुशल खिलाड़ी, नाविक तथा बाइसिकिल चालक थे। उनकी सबसे बड़ी विशेषता एकाग्रता तथा स्वस्थ साहस था। अपने बुढ़ापे में भी बोह्र महाशय अध्यापन तथा शोध-कार्य करते रहे। उन्हें थकावट का नाम नहीं छूता था।*

विज्ञान का यह महारथी १८ अक्टूबर सन् १९६२ ई० को एक ऐसे लोक सिधारा जहाँ जाकर मानव पुनः उसी रूप में नहीं लौटता है और जिसके बारे में आज का विज्ञान मौन है। हम विज्ञान के प्रेमियों की ईश्वर से यही प्रार्थना है कि उनकी दिवंगत आत्मा को शांति प्रदान करें।

---

*प्रो० नील्स बोह्र पिछले भारतीय साइंस कांग्रेस के अवसर पर भारत पधारे थे और यहाँ की प्रयोगशालाओं का निरीक्षण किया था।

—सम्पादक

हमारा दायित्व

किसी देश के ऊपर आपत्ति छाई हो, और उसके वासी जागृत न हों, यह विडम्बना ही होगी। हमारे देश पर चीनी आक्रमण के फलस्वरूप देश का बच्चा-बच्चा तैयार है कि वह आगे बढ़कर शत्रु का सामना करे; फिर युवकों एवं वयस्कों का क्या कहना। देश की महिलाओं में भी उत्साह की कमी नहीं है। सभी मिलकर रक्त, धन एवं सोना अर्पित कर रहे हैं और मातृ-भूमि की बलिवेदी पर निछावर होने के लिये सन्नद्ध हैं।

शान्ति के अग्रदूत भारत पर चीनियों का यह आक्रमण उनकी विस्तारवादी प्रवृत्ति का ही द्योतक नहीं है वरन् "पंचशील" के समस्त सिद्धान्तों पर तीव्र प्रहार भी है। कुछ वर्ष पूर्व हमने जिस शान्ति एवं सहअस्तित्व की सुखद कल्पना को साकार करने के लिए जो बीज बोये थे वे अब कंटकों में परिणत हो चुके हैं।

चूँकि हमारी स्वाधीनता को हमसे छीनने अथवा हमारे गर्वोन्नत मस्तक को नीचा बनाने के उद्देश्य से ही यह चीनी आक्रमण किया गया है अतः हम सबका पुनीत कर्त्तव्य हो जाता है कि हम प्राणों की बाजी लगाकर अपनी प्राणों से भी प्रिय स्वाधीनता की रक्षा करें।

प्रश्न यही है कि विभिन्न वर्ग एवं विभिन्न बौद्धिक स्तर के लोग किस प्रकार से अपनी शक्तियों को पुंजीभूत करें। यह सत्य है कि हम शान्ति प्रिय बने रहें, और आक्रामक न सिद्ध हों किन्तु इससे भी अधिक आवश्यक यह है कि वर्तमान संकट के समय हम कृत-संकल्प होकर संकट का सामना करें। ऐसा करने के लिये हमें ईंट का जवाब पत्थर से देना होगा, हमें अहर्निश काम करना होगा और करना होगा स्वार्थों का परित्याग।

इस दृष्टि से वैज्ञानिकों को बहुत कुछ करना है। यद्यपि हमारे देश को स्वाधीन हुये १५ वर्ष हुए परन्तु इस अवधि में जो वैज्ञानिक प्रगति हुई है, वह सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती। इस बीच भारतीय वैज्ञानिकों ने स्वतन्त्र भारत के लिए न तो कोई चमत्कार पूर्ण खोज ही भेंट की और न सुदृढ़ वैज्ञानिक संगठन ही निर्मित कर सके हैं। इससे भी बड़ी बात यह हुई है कि जितने भी कुशल कार्यकर्ता थे वे विपुल धन प्राप्त करने की लिप्सा से विदेशों को प्रस्थान कर गये हैं।

आज जब कि देश पर संकट छाया हुआ है, क्या हम यह कामना करें कि वे अनेक भारतीय वैज्ञानिक जो अमेरिका, यूरप, आस्ट्रेलिया या अन्य भागों में महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं अपनी मातृ-भू की गुहार पर वापस लौटकर उसको चिन्तामुक्त करेंगे !! यदि ऐसी घड़ी में भी वे आने को तैयार नहीं होते, तो उन्हें हम भले ही देशद्रोही न कहें किन्तु हमारी भावी पीढ़ी उनके मस्तक पर यह कलंक का टीका लगाये बिना नहीं रहेगी।

अब यह भली-भाँति मान्य हो चुका है कि कोई भी राष्ट्र वैज्ञानिक श्रेष्ठता के बिना न तो समुन्नत बन सकता है और न आत्मनिर्भर ही। यदि हमारे इस संकट के समय अमरीकी एवं ब्रिटेनी सहायता युद्धास्त्रों के रूप में न पहुँची होती तो हम टिक न पाते अतः स्पष्ट है कि हम सभी प्रकार के आधुनिक अस्त्र-शस्त्र तैयार करने में जुट जायँ और शान्ति के समय अपनी शक्तियों का सदुपयोग कल्याणकारी योजनाओं में करें।

●●

भाग ६७
संख्या १
चैत्र
० २०२० वि०
अप्रैल १९६३

अंक ४० न. पै.
र्षिक ४ रुपये

सम्पादक—डॉ० शिवगोपाल मिश्र

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ।३।५।

भाग ९७ | चैत्र २०२० विक्र०, १८८५ शक अप्रैल १९६३ | संख्या १

रासायनिक शामक

डॉ० शिवप्रकाश

कमरे में रखी हुई मेज को आक्सीजन मिलती रहती है, किन्तु पर्याप्त ऊष्मा न होने के कारण उसके जल उठने का कोई भय नहीं रहता। यही हाल सभी दहनशील पदार्थों का होता है। हम जानते हैं कि जब तक ऊष्मा इतनी अधिक न हो कि किसी वस्तु का ताप उसके प्रदीतांक से भी अधिक हो जाय तब तक वह वस्तु जल नहीं सकती। यदि कोई वस्तु जल रही हो और किसी उपाय द्वारा आक्सीजन को उस स्थान तक पहुँचने से रोक दिया जाय तो आक्सिजन के अभाव में वह अग्नि बुझ जायगी। इससे प्रकट होता है कि अग्नि के लिए तीन बातों का होना परम आवश्यक है—१. ज्वलनशील पदार्थ २. ऊष्मा ३. आक्सीजन। इस प्रकार यदि हम अग्नि को बुझाना चाहें तो प्रथमतः दहनशील पदार्थ को उस स्थान से हटा दें। किन्तु ऐसा हम प्रत्येक दशा में नहीं कर सकते। कोई मकान जल रहा हो तो उसे हम हटा कर दूसरे स्थान पर तो नहीं ले जा सकते! दूसरा उपाय यह हो सकता है, आक्सीजन को अग्नि तक पहुँचने से रोक दिया जाय और तीसरा उपाय यह है कि अग्नि को ठंडक पहुँचा कर ऊष्मा की मात्रा को ही कम कर दिया जाय।

जब किसी मनुष्य के शरीर में अग्नि लग जाती है तो उसे इधर-उधर दौड़ने से रोका जाता है, क्योंकि दौड़ने से उसे आक्सीजन अधिक मिलेगी और अग्नि के उग्र रूप धारण करने की सम्भावना रहती है। इसके विपरीत उस मनुष्य को कम्बल से लपेट देने की सलाह दी जाती है। ऐसा करने से उस मनुष्य के शरीर तक आक्सीजन न पहुँच पायेगी और अग्नि बुझ जायगी। ठंडक पहुँचा कर अग्नि बुझाने के लिए जल अत्यन्त सरल माध्यम है। जल बहुतायत से मिलता है और उसके लिए व्यय भी

अधिक नहीं करना पड़ता। किन्तु इसके अतिरिक्त जल में जो महत्त्वपूर्ण गुण है वह है उसका वाष्प का उच्च गुप्त ऊष्मा (५३६ कैलरी) जिसके कारण जल में अग्नि को अवशोषित करने की अत्यधिक क्षमता होती है। जल को हम प्रत्येक दशा में प्रयोग में ला भी सकते हैं अथवा नहीं, यह जानने के पूर्व हम अग्नि को चार वर्गों में विभाजत करते हैं जिनसे वह उत्पन्न होती है।

(क) दहनशील पदार्थ जैसे लकड़ी, कपड़ा, जूट आदि।

(ख) जलनशील द्रव जैसे ऐल्कोहल, बेंजीन, ऐसीटोन, पेट्रोल आदि।

(ग) विद्युत।

(घ) धातुयें, जैसे सोडियम, ऐल्यूमीनियम, मैगनीशियम आदि।

(क) वर्ग की अग्नि को बुझाने के लिए जल का उपयोग किया जा सकता है, किन्तु (ख) वर्ग की अग्नि में हम जल का उपयोग नहीं कर सकते, क्योंकि जब जल को बलपूर्वक द्रव के तल पर फेंका जायगा तो द्रव बर्तन के बाहर हो जायगा और वहाँ जलने लगेगा। इसके अतिरिक्त जल भारी होगा तो नीचे बैठ जायगा और ऊपरी तल पर द्रव जलता रहेगा। जल विद्युत का चालक है अतः (ग) वर्ग की अग्नि में भी इसका उपयोग तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि हम अग्नि से पर्याप्त दूर न रहें और जल की धार सतत फेंकने की आवश्यकता न हो। गरम मैगनीशियम, ऐल्यूमीनियम आदि धातुयें जल को विच्छेदित कर देती हैं जिससे हाइड्रोजन जैसी दहनशील गैस उत्पन्न हो जाती है अतः (घ) वर्ग की अग्नि में भी जल का उपयोग नहीं कर सकते। अब हम देखेंगे कि परिस्थितियों के अनुसार जल बुझाने के लिए कौन से माध्यम का चयन करते हैं।

यदि अग्नि बहुत भीषण न हो तो हम कुछ शामकों (Extinguishers) द्वारा उसे बुझा सकते हैं। जब जल का उपयोग करना होता है तो उसके लिए **सोडा एसिड शामक** का उपयोग किया जाता है। इस यंत्र में सोडियम बाईकार्बोनेट तथा गंधक अम्ल का उपयोग किया जाता है। अभिक्रिया द्वारा उत्पन्न कार्बन-डाइ-आक्साइड जल को जोर से बाहर फेंक देती है। २५-३० फुट की दूरी तक इसका उपयोग किया जा सकता है।

(ख), (ग) तथा (घ) वर्ग की अग्नि को बुझाने लिए जिन शामकों का प्रयोग किया जाता उन्हें रासायनिक शामक कहते हैं। ये कई प्रकार के होते हैं जिनमें से चार मुख्य हैं १. झाग शामक २. कार्बन टेट्राक्लोराइड (सी० टी० सी०) शामक ३. कार्बन डाइ-आक्साइड शामक ४. सूखा पाउडर शामक।

ज्वलनशील द्रवों के जलने से उत्पन्न अग्नि को बुझाने के लिए यह आवश्यक है कि आक्सीजन को द्रव तक पहुँचने न दिया जाय और द्रव का वाष्प बनना रोक दिया जाय। इस अग्नि को बुझाने के लिए झाग शामक का प्रयोग किया जाता है। इसमें सोडियम बाईकार्बोनेट तथा ऐल्यूमीनियम सल्फेट भरा रहता है। इसके अतिरिक्त इसमें सैपोनीन, लिकोरिक अथवा टर्कीरेड आयल मिला रहता है जो झाग स्थाई बनाने में सहायक होता है। स्थाई बनाने के साथ यह झाग को चिपचिपा भी बना देते हैं। जलते हुए द्रव के तल पर झाग के बुलबुले स्वतन्त्रता से फैल जाते हैं। इससे आक्सीजन भी कम हो जाती है और द्रव का वाष्प बनना भी बन्द हो जाता है। यह झाग पर्याप्त स्थाई होता है और द्रव को पुनः प्रदीपन से बचाता है। यह झाग ३०′ दूरी तक फेंका जा सकता है। (ख) वर्ग की अग्नि को बुझाने का यही एक मात्र शामक है।

सी० टी० सी० शामक—कार्बन टेट्रा क्लोराइड (सी० टी० सी०) एक तीखी गंध वाला द्रव है जो शीघ्र ही वाष्पित हो जाता है। वाष्प के रूप में वह वायु से ५ गुना भारी है अतः इसके वाष्प अग्नि के पास निलम्बित रहते हैं और ऐसे आवरण का निर्माण करते हैं जो आक्सीजन

को अग्नि तक पहुँचने से रोक देता है। इस शामक का उपयोग करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि कार्बन टेट्रा क्लोराइड का वाष्प अधिक न सूँघ लिया जाय। ऐसे स्थान पर जहाँ रोशनदान (गवाक्ष) न हो और सी०टी० सी० के वाष्प बाहर निकलने का मार्ग न हो उस स्थान पर साँस लेने वाले यंत्र के साथ ही इस शामक का उपयोग किया जा सकता है क्योंकि उस दशा में कार्बोनिल क्लोराइड अथवा फॉसजीन जैसी विषैली गैस बनती है जो घातकसिद्ध हो सकती है। विद्युत से उत्पन्न अग्नि बुझाने में यह यह अति उत्तम है। मैगनीशियम समूह की धातुओं, जूट, रुई आदि की उपस्थिति में इसका उपयोग नहीं करना चाहिए।

कार्बन-डाइ-आक्साइड शामक—कार्बनडाइ आक्साइड एक रंगहीन गैस है जो वायु से १·५ गुना भारी है। शामक में यह गैस ७४४ पौंड दबाव पर भरी जाती है जिसके कारण यह द्रवीभूत हो जाती है। शामक का ताप ६०° F रखा जाता है। जब द्रव कार्बन-डाइ-आक्साइड शामक के बाहर आती है तो दबाव एकदम कम हो जाने के कारण यह गैस में परिवर्तित हो जाती है और अग्नि के निकट के वायुमण्डल में आयतन के अनुसार १६ से २६% तक में मिश्रित हो जाती है। इसके कारण आक्सीजन अग्नि तक पहुँच नहीं पाती। कार्बन-डाइ-आक्साइड स्वयं अज्वलनशील गैस है और जलने में सहायता भी नहीं करती। यह गैस विद्युत की कुचालक भी है। ७ फुट दूरी तक इसका उपयोग किया जा सकता है। चूँकि यह गैस बनकर तुरंत उड़ जाती है इसलिए इसका व्यवहार उन सभी वस्तुओं को बुझाने में उत्तम रहेगा जिनमें जल का उपयोग करने पर उनके नष्ट होने का भय रहता है। मूल्यवान वस्तुयें, रेशमी तथा उनी कपड़े, इन सबके लिए यह उत्तम है। इसके अतिरिक्त उन विद्युत यंत्रों में जो बंद रखे जाते हैं और जिनकी अग्नि बुझाने के लिए कार्बन टेट्राक्लोराइड उपयुक्त नहीं है, यह उपयुक्त है, क्योंकि यह उन यंत्रों के अन्दर तक पहुँच सकती है। मैगनीशियम धातु पर इसका प्रयोग नहीं किया जा सकता है. क्योंकि उससे यह कार्बन में विच्छेदित हो जाती है, जो दहनशील है।

सूखा चूर्ण—इसे सूखा रासायनिक शामक भी कहते हैं। इसमें सूखे रासायनिक चूर्ण का उपयोग किया जाता है। यह शामक उन सभी दशाओं में अति उत्तम है जिनमें जल से अथवा कार्बन-डाइ-आक्साइड से अभिक्रिया होने का भय रहता है अर्थात् धात्वीय अग्नि को बुझाने के लिए यह अत्यधिक उपयोगी है। एक प्रकार के शामक में ४५% खड़िया का चूर्ण (चाक पाउडर), ४५% स्लेट पाउडर तथा १०% ऐलूमीनियम स्टियरेट होता है। दूसरे प्रकार के शामक में ९७% सोडियम बाईकार्बोनेट तथा ३% कैल्शियम और मैगनीशियम का फास्फेट होता है। इस शामक में कार्बन डाइ-आक्साइड की एक 'कार्ट्रिज' होती है जो पाउडर को बाहर भेजने में दबाव डालती है। विद्युत से उत्पन्न अग्नि में तथा धात्वीय अग्नि को बुझाने में इसका मुख्य रूप से प्रयोग किया जाता है।

अन्य रासायनिक शामकों में मेथिल ब्रोमाइड का तथा क्लोरोब्रोमोईथेन का उपयोग किया जाता है। मेथिल ब्रोमाइड विषैला द्रव है और खाल पर फफोले डाल देता है अतः बड़ी सावधानी की आवश्यकता रहती है। यह ज्वलनशील द्रवों की अग्नि बुझाने के लिए उपयुक्त है। क्लोरो ब्रोमोईथेन वायुमण्डल के ताप पर मेथिल ब्रोमाइड से कम विषैला है किन्तु अग्नि के सम्पर्क में आने से यह दोषपूर्ण हो जाता है। यह रंगहीन द्रव है तथा इसका क्वथनांक उच्च होता है। इसका भी उपयोग ज्वलनशील द्रवों की अग्नि बुझाने में किया जा सकता है।

●●

जीवाणुओं द्वारा प्रकाश-संश्लेषण

रमेशचन्द्र तिवारी

हरे पौधों की भाँति कुछ जीवाणु भी प्रकाश से ऊर्जा प्राप्त कर शर्कराओं का संश्लेषण करके अपनी वृद्धि करते हैं। सामान्य रूप में "हरे पौधों में उपयुक्त कार्बन डाइ-आक्साइड, प्रकाश तथा जल की उपस्थिति में शर्कराओं की संश्लेषण क्रिया को प्रकाश-संश्लेषण कहते हैं।"

जीवाणुओं में यह क्रिया, पौधों की क्रिया से बहुत कुछ भिन्न रूप में सम्पन्न की जाती है। जीवाणुशास्त्र में इसे जीवाणविक-प्रकाश संश्लेषण कहते हैं। इस क्रिया में, जीव कोशिका, न्यून विकीर्ण ऊर्जा को रासायनिक ऊर्जा में परिवर्तित कर देती है और यही ऊर्जा संश्लेषण क्रिया की विभिन्न अवस्थाओं पर प्रयुक्त होती है। जीवाणुओं को प्रकाश-संश्लेषण क्रिया को अवातजाती (एनीरोबिक) क्रिया बताया गया है तथा इसको सम्पन्न करने वाले जीवाणु मुख्यतया अवातजातीय कहलाते हैं।

प्रकाश-संश्लेषण करने वाले जीवाणु

परिस्थिति की एवं पोषण के आधार पर प्रकाश-संश्लेषण करने वाले जीवाणुओं को दो मुख्य समूहों में विभाजित किया गया है। सभी जीवाणु अवातजातीय और ग्राम-ऋणी स्वभाव के होते हैं। इनका समूह-विभाजन निम्नलिखित ढंग से किया गया है।

१—फोटोलिथोट्राफ्स

(क) हरे-सल्फर जीवाणु (कुल = क्लोरोबैक्टिरियेसी)

(ख) बैंगनी-सल्फर जीवाणु (कुल = थायोरोडेसी तथा एथायोरोडेसी)

२—फोटोऑर्गेनाट्राफ्स (कुल = एथायोथोडेसी)

फोटोलिथोट्राफ्सः—प्रकाश-संश्लेषण करने वाले इन जीवाणुओं द्वारा कार्बनिक पदार्थों की पूर्ण अनुपस्थिति यह में क्रिया सम्पन्न की जाती है। इनमें रंग द्रव्य के रूप में क्लोरोबियम क्लोरोफिल तथा पीले रंग के कैरोटिन्वायड्स पाये जाते हैं। ये जीवाणु मुख्यतया उन झीलों तथा काली मिट्टियों में पाये जाते हैं जिनमें सल्फेट के अपचयन के फलस्वरूप हाइड्रोजन सल्फाइड पर्याप्त मात्रा में उपस्थित रहती है। प्रकाश-संश्लेषण चयापचयन में इसी हाइड्रोजन सल्फाइड का सल्फेट में आक्सीकरण तथा कार्बन डाइक्साइड का जीव कोशिकाओं द्वारा अपचयन होता है, हाइड्रोजन सल्फाइड जीव का पूर्ण आक्सीकरण दो अवस्थाओं से होकर अन्तिम फल पर पहुँचता है जिसकी अंत: घटित प्रतिक्रियाओं में तात्विक सल्फर का भी निर्माण हो जाता है। जीवाणुओं के कोशिकाओं के अतिसूक्ष्म होने के कारण इस तात्विक सल्फर का अन्तः एकत्रण नहीं हो पाता और यही सल्फर जीवाणुओं के बाहरी आवरण पर अमणिभीय निक्षेप के रूप में एकत्र हो जाता है। जब कभी भी हाइड्रोजन-सल्फाइड की पूर्ति रुक जाती है अथवा नहीं हो पाती है तब यही निक्षिप्त सल्फर, सल्फेट में आक्सीकृत हो जाता है। इन जीवाणुओं की प्रकाश-संश्लेषण क्रिया को रासायनिक ढंग से निम्न प्रकार समझाया जा सकता है।

प्रकाश की उपस्थिति में एक अणु हाइड्रोजन

सल्फाइड, दो अणु जल तथा दो अणु कार्बन डाइ-आक्साइड में क्रिया होती है तथा फलस्वरूप एक अणु सल्फेट ऋणायन दो अणु फर्मलडीहाइड (CH_2O) तथा दो हाइड्रोजन अणुओं ($2H^+$) का निर्माण होता है। इस श्रेणी के मुख्य उदाहरण क्लोरोबियम स्पीसीज के जीवाणु हैं।

बैंगनी-सल्फर जीवाणुओं का आकार सीधे छड़ की तरह होता है जिनके दोनों ध्रुव कशाभी (फ्लेजलेटेड) होते हैं। इनमें एक विशिष्ट प्रकार का हरित पदार्थ पाया जाता है जिसे बैक्टिरियो-क्लोरोफिल कहते हैं। इसके अतिरिक्त इनमें पीले एवं लाल रंग के कैरोटिन्वायड्स भी पाये जाते हैं। इस उपसमूह के जीवाणुओं में हाइड्रोजन सल्फाइड के आक्सीकरण की प्रतिक्रिया के मध्य निर्मित तात्विक सल्फर इनकी कोशिकाओं में एकत्रित होती है। शेष चयापचयन क्रियाएँ हरे-सल्फर जीवाणु की की तरह ही होती हैं।

फोटो आर्गेनोट्राफ्सः—इस समूह के जीवाणुओं द्वारा जो प्रकाश-संश्लेषण होता है उसके अन्तर्गत अपचित सल्फर यौगिकों के स्थान पर कार्बनिक पदार्थों का प्रयोग किया जाता है। यद्यपि इनमें प्रकाश-संश्लेषण, प्रकाश की उपस्थिति में अवातीय (एनीरोबिक) दशाओं में होता है फिर भी समूह के कुछ सदस्य अँधेरे में भी कार्बनिक पदार्थों के आक्सीकरण से प्राप्त ऊर्जा का प्रयोग करके संश्लेषण क्रिया को नियमित रखते हैं। इनके प्रकाश संश्लेषण में, जीवाणु-कोशिकाओं का निर्माण कार्बन डाइ-आक्साइड के अपचयन के फलस्वरूप होता है। कार्बनिक किण्वभोज, इस क्रिया के प्रारम्भ में कार्बन-डाइआक्साइड के अपचयन में हाइड्रोजन-प्रदाता का कार्य करता है। आइसोप्रोपिल एलकोहोल के आक्सीकरण से प्राप्त एसीटोन इसका एक स्पष्ट उदाहरण है जिसमें आइसोप्रोपिल एलकोहल हाइड्रोजन प्रदाता का काम करता है और एसीटोन का पुनः आक्सीकरण नहीं होता है।

प्रकाश-संश्लेषण पर सामान्य विचार

सम्पूर्ण प्रकाश संश्लेषण को निम्नलिखित समीकरण द्वारा स्पष्ट किया जाता है :—

$$2H_2A + CO_2 \xleftarrow{\text{प्रकाश}} 2A + (CH_2O) + H_2O$$
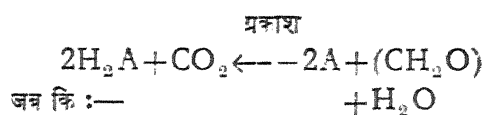
जब कि :— H_2A = अपचित सल्फर यौगिक जैसे हाइड्रोजन सल्फाइड अथवा
= एक कार्बनिक पदार्थ जैसे आइसोप्रोपाइल एलकोहल इत्यादि।

उपर्युक्त समीकरण की सम्पूर्ण क्रिया, दो अर्द्ध-प्रतिक्रियाओं के पश्चात् सम्पन्न होती है। इसकी प्रथम अर्द्ध-प्रतिक्रिया आक्सीकृत प्रतिक्रिया होती है और इसीके विपरीत दूसरी अपचित प्रतिक्रिया के रूप में सम्पन्न होती है।

हरे पौधों में प्रकाश-संश्लेषण की क्रिया में जल अणु हाइड्रोजन प्रदाता का काम करता है। इस क्रिया में जल के दो अणुओं से हाइड्रोजन के ४ अणु निकल जाते हैं और ऑक्सीजन मुक्त होती है, यही परमाणुविक आक्सीजन जल का आक्सीकृत भाग होती है। हरे तथा बैंगन सल्फर जीवाणुओं द्वारा सल्फर के निर्माण की क्रिया उसी प्रकार होती है जैसे कि पौधों में आणविक आक्सीजन की। अन्तर केवल यह कि जल के स्थान पर जीवाणुओं में हाइड्रोजन सल्फाइड प्रयुक्त होती है।

तत्पश्चात् यह सल्फर, सल्फेट में आक्सीकृत होता है। यह आक्सीकरण प्रतिक्रिया अत्यन्त जटिल है क्योंकि इसमें प्रत्येक सल्फर परमाणु से ६ इलेक्ट्रॉनों का विस्थापन होता है। इस प्रतिक्रिया में दो जलीय सल्फर परमाणुओं के आक्सीकरण के साथ ही साथ तीन कार्बनडाइ आक्साइड अणुओं का अपचयन भी होता है।

फोटोआर्गेनोट्राफ जीवाणुओं के चयापचयन में, कार्बनिक किण्वभोज, कार्बनडाइआक्साइड अपचयन में हाइड्रोजन प्रदाता का कार्य करता है। कार्बन

डाइआक्साइड, कार्बनिक यौगिकों के विघटन अथवा आक्सीकरण के फलस्वरूप प्राप्त होती है और हाइड्रोजन ग्राहक का काम करती है। अतः स्पष्टीकरण के लिए यदि यह मान लिया जाय की कार्बनिक किण्व-भोज का संगठन सूत्र फार्मलडिहाइड (CH_2O) है तो हम यह कह सकते हैं कि विभिन्न प्रतिक्रिया युगल के पश्चात् इसी संगठन सूत्र की जीव कोशिका निर्मित हो जाती है। इस प्रतिक्रिया में सर्वप्रथम CH_2O और जल के एक-एक अणुओं से हाइड्रोजन के चार परमाणु मुक्त हो जाते हैं और कार्बन डाइआक्साइड निकलती है। यहां कार्बन-डाइ आक्साइड जल से प्राप्त ४ हाइड्रोजन परमाणुओं से क्रिया करके CH_2O को पुनः पैदा कर देती है।

$$CH_2O \longrightarrow CH_2O$$
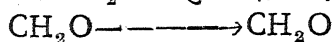
(कार्बनिक किण्व-भोज) (कोशिका पदार्थ)

इसके अतिरिक्त कुछ बैंगनी-जीवाणु आणुविक हाइड्रोजन का प्रयोग करके CH_2O का निर्माण करते हैं। दो अणु हाइड्रोजन गैस और एक अणु कार्बन-डाइ-आक्साइड की क्रिया के फलस्वरूप एक अणु CH_2O एवं एक अणु जल की उत्पति होती है। इस प्रतिक्रिया में हाइड्रोजन अणु ही स्वयं आक्सिकृत होता है और (A) जैसे किसी डीहाइड्रोजेनेटेन पदार्थ की उत्पति नहीं होती है।

जीवाणु के रंग-द्रव्य (पिगमेंट)

जीवाणुओं में उपस्थित रंग द्रव्य जो उनके प्रकाश-संश्लेषण क्रिया के मुख्य अंग हैं, लगभग उसी रंग, रूप और संरचना के होते हैं जैसे कि हरे पौधों के। मुख्यरूप से हरित पदार्थ तथा कैरोटिन्वायड्स ही इस प्रतिक्रिया में हाथ बटाते हैं।

हरित पदार्थ—हरे रंग का यह रंग द्रव्य एक जटिल कार्बनिक अणु है जो संरचना में साइटोक्रोम में उपस्थित हीम के समान होता है। अन्तर केवल यह है कि हीम की आणविक संरचना में उपस्थित लोह परमाणु के स्थान पर हरित पदार्थ में मैगनीशियम अणु संगठित रहता है।

हरे सल्फर जीवाणु तथा बैंगनी जीवाणु में दो विभिन्न प्रकार के हरित पदार्थ पाये जाते हैं। पेड़ों में पाये जाने वाले हरित पदार्थ **अ** तथा हरित पदार्थ **ब** और जीवाणुओं में उपस्थित दो भिन्न-भिन्न हरित पदार्थों की संरचना में नाममात्र का अन्तर होता है। संरचना में भिन्नता होने के कारण ही उनके प्रकाश अवशोषण वर्णक्रमों (स्पेक्ट्रा) में भी कुछ अन्तर होता है। पौधों के हरित पदार्थ **अ** और **ब** में प्रकाश अवशोषण वर्णक्रम (स्पेक्ट्रम) के लाल रंग वाले भाग में होता है जबकि जीवाणविक हरित पदार्थों में प्रकाश अवशोषण अवरक्त क्षेत्र के पास, दृश्य वर्णक्रम के बाहर, दीर्घ तरंग पर होता है।

प्रकाश-संश्लेषणीय रंग-द्रव्यों द्वारा अवशोषित प्रकाश ही जीवाणुओं की इस निराली क्रिया में काम आता है। जिस स्थान पर वृद्धि के लिए परिस्थितियाँ प्रतिकूल हैं और जहाँ पेड़-पौधों का उगना असम्भव है वहाँ भी ये जीवाणु, अदृश्य अवरक्त प्रकाश का प्रयोग करके सफलतापूर्वक वृद्धि करते देखे गये हैं। इतना ही नहीं, यह भी ज्ञात हुआ है कि काली मिट्टियों की सतह पर उगी काई (एल्गी) के नीचे भी हरे एवं बैंगनी जीवाणु वृद्धि कर सकते हैं। इन दशाओं में जीवाणु अपनी वृद्धि, उन अवरक्त किरणों का प्रयोग करके करते हैं जो कि काई को पार करके निचली सतह पर आ जाती हैं।

कैरोटिन्वायड्स:—कैरोटिन्वायड्स वसाओं में विलेय उच्च अणुभार वाले कार्बनिक पदार्थ हैं। इनका रंग लाल होता है तथा ये रंग-द्रव्य उन जीवों में भी पाये जाते हैं जिनमें प्रकाश-संश्लेषण जैसी कोई क्रिया नहीं होती। हरित पदार्थों की भाँति ये भी प्रकाश अवशोषण का कार्य करते हैं तथा अवशोषित प्रकाश ऊर्जा को हरित पदार्थ स्थानान्तरित कर देते हैं। इससे यह लाभ है कि जो प्रकाश हरित पदार्थों द्वारा अवशोषित नहीं हो पाता वह भी इस क्रिया में काम आ जाता है।

जीवाणु कोशिका में रंग-द्रव्य का स्थानः— हरित पदार्थ और कैरोटिन्वायड्स, जीवाणु कोशिकाओं में वृहत्-आणविक संरचना के रूप में संयुक्त रहते हैं जिसे क्रोमेटोफोरस के नाम से जाना जाता है। प्रत्येक जीवाणु कोशिका में क्रोमेटोफोरस लाखों की संख्या में पाये जाते हैं और इनकी उपस्थित संख्या पर ही प्रकाश-संश्लेषण क्रिया निर्भर करती है।

प्रकाश-संश्लेषण प्रक्रमः—इस प्रक्रम में सर्वप्रथम प्रकाश रासायनिक क्रिया होती है जिसके द्वारा हरित पदार्थों की प्रकाश-अवशोषण क्षमता में वृद्धि के पश्चात् अधिक ऊर्जा प्राप्त होती है। इसी ऊर्जा की सहायता से जल का हाइड्रोजन (आपचयक पदार्थ $=H^+$) एवं हाइड्राक्सिल (अक्सीकृ} पदार्थ) आयनों में प्रकाश-विश्लेषण (फोटोलिसिस) हो जाती है।

$$H_2O \xrightarrow[\text{हरित पदार्थ}]{\text{प्रकाश}} \{H^+\} + \{OH$$
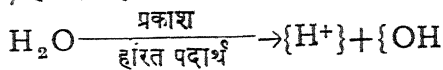
तत्पश्चात् इस अपचायक पदार्थ (अर्थात हाइड्रोजन) का प्रयोग कार्बन-डाइ आक्साइड को कोष-पदार्थों को अपचित करने के लिए होता है। इधर हाइड्राक्सिल अणु निरर्थक ही बच जाता है। हरे पौधों में हाइड्राक्सिल अणु की उत्पत्ति से पहले परॉक्साइड बनती है और तब आणविक आक्सीजन मुक्त होती है। परन्तु जीवाणुओं में ऐंजाइमों की अनुपस्थिति के कारण आक्सीजन का उत्पादन नहीं होता और यही कारण है कि जीवाणविक प्रकाश-संश्लेषण में अपचित सल्फर अथवा कार्बनिक पदार्थों का प्रयोग होता है, जो स्वयं आक्सीकरणीय किण्वभोज का काम करके हाइड्राक्सिल अणु को बाहर निकालते हैं। हरे पौधों के संश्लेषण में उत्पन्न चार हाइड्राक्सिल अणु टूट कर, एक अणु आक्सीजन, तथा जल के दो अणुओं का उत्पादन करते हैं तथा जीवणुओं में इनका प्रयोग विभिन्न हाइड्रोजन प्रदाताओं के आक्सीकरण के लिए किया जाता है।

कार्बन-डाइ-आक्साइड का कोशिका पदार्थों में रूपान्तरण :—जल के प्रकाश-विश्लेषण से प्राप्त अपचायक हाइड्रोजन (H) मूलक, CO_2 को कार्बनिक पदार्थों में परिवर्तित करता है। CO_2 के कोशिका पदार्थों में रूपान्तरित होने की क्रिया में, फास्फोरिलेटेड पंचकार्बन-धारित शर्कराओं का (रिबुलेज डाइफास्फेट) मुख्य हाथ होता है। उस शर्करा से त्रि-कार्बन-धारित कार्बनिक यौगिकों के दो अणुओं की उत्पत्ति होती है। यह निर्मित यौगिक फास्फोग्लसरिक अम्ल होता है जो हाइड्रोजन (H) मूलक के द्वारा ग्लिसरैलडिहाइड फास्फेट के रूप में आ जाता है और इसी यौगिक से कुछ प्रतिक्रियाओं के पश्चात् रिबुलोज डाइफास्फेट पुनः प्राप्त होता है तथा यही चक्र निरंतर चलता रहता है। रिबुलोज डाइफास्फेट के तीन अणुओं के संश्लेषण के लिए पाँच ग्लिसरैलडिहाइड फास्फेट अणुओं की आवश्यकता होती है। रिबुलोज डाइफास्फेट के तीन अणुओं पर पर्याप्त CO_2 की क्रिया के पश्चात् ग्लिसरिक अम्ल के छः अणु प्राप्त होते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक तीन CO_2 अणुओं के अपचयन से ग्लिसरैलडिहाइड फास्फेट के चार अणु बनते हैं। और CO_2 के प्रत्येक तीन अणुओं के अपचयन के लिए बारह हाइड्रोजन (H) मूलकों की आवश्यकता होती है। कार्बन-डाइ-आक्साइड स्थिरीकरण की इस सम्पूर्ण क्रिया के लिए आवश्यक ए० टी० पी (A. T.P.) प्रकाश-संश्लेषणीय (फासफोरीकरण) फास्फोरिलेसन के द्वारा प्राप्त होता है।

●●

गणितम् मूर्द्धनि स्थितम्

दयालसिंह कोठारी

यूनान के फ़ीनोन से लाखों वर्ष पूर्व शून्याकार अनन्त प्रकाश के काले अजिन पर नीहारिकाओं से सौर मंडल की उत्पत्ति के समय प्रकृति ने अपनी कलम से समकोणिक कुण्डली बनाई व अनेक पिण्डों को गणितीय स्वरूप प्रदान कर शून्य में स्थापित कर दिया। तब से आज तक ये विभिन्न कक्षाओं में घूम रहे हैं। सूर्य रूपी गोले के चारों ओर उसी परिवार का एक सदस्य आकाश के अदृश्य पर्दे पर वर्षों से दीर्घवृत्त बनाने के कार्य में तल्लीन है और अन्धकार व प्रकाश, शीत व घाम का क्रम उपस्थित करता रहा है। मनुष्य की दुर्बल आँखों के सामने नाचते हुए असंख्य परमाणुओं के भीतर सजी हुई प्रयोग-शाला में भी यही क्रम निरन्तर चलता जा रहा है। टूटते हुए तारों व विद्युत प्रकाश से अंकित रेखाएँ न जाने कितनी ही बार बनती-बिगड़ती रही हैं। सहज बालू से लेकर अमूल्य हीरे तक, नमक से लेकर बर्फ तक सभी विविध ज्यामितीय स्वरूपों में अपने रूप को सँजोये हमारी ओर निहार रहे हैं।

वर्षा की पहली बौछार के साथ हरियाली का वैभव व ऋतुराज वसंत के आगमन के साथ वायु मंडल में आमों की महक किसी कैलेण्डर से सूचना पाकर भर जाती है व कमल और कुमुदनी ने मुकु-लित होने के लिए कब मानव निर्मित घड़ी की ओर देखा? प्रकृति केलेण्डर एवं घड़ी तो यह विशाल व्योम मण्डल है जिसमें असंख्य तारकारत्न जड़े हैं। वनस्पति जगत के अंग-प्रत्यंग, शाखाओं पर पत्तियाँ, फलियों में बीज, फूलों में पंखड़ियाँ, निश्चित संख्या, समानता व सरूपता लिए हुए प्रकृति के किसी गूढ़ मर्म को अपने अंचल में छिपाये खड़े हैं। वनस्पति वर्ग ही क्यों, पशुवर्ग भी बाह्य साम्यता के साथ-साथ शरीर के भीतर मांसपेशियों, संस्थानों व अस्थियों में यह अभूतपूर्व साम्य उपस्थित कर रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सृष्टि के ताने-बाने में गणित की सत्ता भासमान है। केण्ट ने इसे अनुभव किया और कहा कि सृष्टि का रहस्य संख्या व आकार में व्याप्त है। सत्य की प्राप्ति ही ईश्वरत्व की प्राप्ति है—इससे प्रेरित प्लेटो ने कहा कि गणि-तीय सत्य ईश्वरीय सत्य है व ईश्वर सभी वस्तुओं को ज्यामितीय आकार प्रदान करता है। महावीरा-चार्य्य तो इससे भी कहीं आगे बढ जाते हैं और कहते हैं कि इस सचराचर त्रैलोक्य में, जो संख्याओं के असंख्य दीपों से प्रदीप्त है, जो कुछ है वह गणित ही है। प्रकृति का सारा संचालन गणितीय नियमों से हो रहा है। समय व आँधी के थपेड़े इन नियमों में कोई परिवर्तन न ला सके। भास्कर, केपलर व न्यूटन के आकर्षण सम्बन्धी नियम व युक्लिड की अनेक रेखागणितीय स्वयंसिद्धियाँ, आइन्सटीन के सापेक्ष्यवाद के जन्म के साथ अशुद्ध व भ्रामक सिद्ध हो गए परन्तु गणित के प्रकृति में व्याप्त नियम अटल व अपरिवर्तनशील बने रहे।

प्रकृति में व्याप्त अनेक गणितीय नियमों से मानव मस्तिष्क सदा से अनुप्राणित रहा है। दो स्थानों में से कौन सा अधिक दूर है—इसे जानने के लिए मनुष्य को किसी पटरी की आवश्यकता नहीं थी। दो भूखंडों अथवा चर्मखंडों में कौन अधिक बड़ा है, क्षेत्रफल के ज्ञान के बिना ही मानव मस्तिष्क

अनुमान लगा लेता था। अन्न के ढेरों का परिमाण ज्ञात करने के लिए भी उसे घनफल अथवा मात्रा की पुस्तिका की आवश्यकता नहीं थी। मिठाई के दो टुकड़ों में से कौन सा बड़ा है—यह नन्हा सा बच्चा भी पहचानता रहा है। बच्चा ही क्यों अनेक पशु भी इसे समझते हैं। कुत्ते को भिन्न-भिन्न परिमाण के दो रोटी के टुकड़े डालने से यह भली प्रकार स्पष्ट हो जाएगा। सिंह अपने शिकार पर व मनुष्य निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने के लिए सरल रेखीय मार्ग का ही अनुसरण करेगा। इसके लिए उसे न तो सरल रेखा के पारिभाषिक इतिहास की अथवा रेखागणित के उस स्वयंसिद्धि के ज्ञान की, जिसके अनुसार त्रिभुज की दो भुजाओं का योग तीसरी से अधिक होता है, आवश्यकता है। दार्शनिक व गणितज्ञ जेनो की तर्कना से भले ही द्रुतगामी एकिलिस कछुए को पकड़ने में सफल न हो परन्तु आखेटप्रिय पशु अपना व अपने शिकार की चाल को पहचान कर ही उसका पीछा करता है। अजगर को यह जानने के लिए कि वह हिरन को नहीं पकड़ सकेगा अथवा सिंह को यह जानने के लिए कि वह गीदड़ को पकड़ने में समर्थ है किस शाला में समय व दूरी के प्रश्नों का शिक्षण दिया गया? शत्रु व मित्रों के दो दलों के परिमाण को भी मनुष्य व पशु अपनी अपनी मति के अनुसार पहचानते रहे हैं। पशु वर्ग अपने परिवार के किसी सदस्य के खो जाने की कमी अथवा किसी अन्य के सम्मिलित हो जाने से हुई वृद्धि को पहचानता रहा है। बन्दर पाँच-छः सदस्यों के दल अथवा उससे भी बड़े दल को पहचान लेता है। पाषाण युग का मानव भी पर्याप्त बड़े समूहों का लेखा रख लेता था।

इस प्रकार सिद्ध है कि प्रकृति का ताना-बाना न केवल गणित के अत्यन्त पतले तारों से बुना हुआ है वरन् उसके संवेदनशील वर्ग में गणित के परिक्रमों को समझने की क्षमता बनी रही है। सभ्यता के विकास के साथ २ गणित के नियमों व मनुष्य की उक्त क्षमता में विकास होता रहा है। लान्सिलोट हॉगबन ने अपने ग्रन्थ 'मैथेमेटिक्स फॉर मिलियन्स' में इसीलिए गणित को सभ्यता का दर्पण (Mirror of Civilization) कहा है। कन्दमूल फल अथवा शिकार पर आश्रित घुमक्कड़ मनुष्य ने जब एक स्थान पर बसकर कृषि करना प्रारम्भ किया तबसे उसे अपने निर्वाह के लिए गृह व बाड़ निर्माण-वस्त्रों व कृषि-यंत्रों, आत्मरक्षार्थ शस्त्रों की आवश्यकता के साथ-साथ जमीन के नापने में लम्बाई, फसल बोने व काटने के लिए ऋतु, दैनिक लेन-देन में मात्रा के पैमाने के ज्ञान की आवश्यकता पड़ी जिसके फलस्वरूप बालिश्त, हाथ, दण्ड, फर्लाङ्ग, फुट, सेर आदि नापतोल के पैमाने आविष्कृत हुए। सभ्यता के विकास के साथ-साथ जहाँ इन पैमानों की संख्या बढ़ती गई वहाँ लेखा व परिगणन की समस्याएँ भी जटिल होती गईं जिन्हें मनुष्य अपने सतत प्रयास से हल करता रहा व अपने अनुभवों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ाता रहा। ये अनुभव लेखन कला के अभ्युदय के साथ-साथ भित्तियों, शिलालेखों, ताड़पत्रों, ताम्रपत्रों व पुस्तिकाओं में अंकित होकर ज्ञान की अमूल्य धरोहर के रूप में सुरक्षित होकर आगे बढ़ते रहे।

प्रारम्भ में आधुनिक युग की तरह गणित की पृथक सत्ता नहीं थी। ज्ञान के विशाल वृक्ष की शाखाओं के रूप में यह भी अन्य विषयों के साथ पल्लवित होता रहा। गणित अन्य विषयों अथवा ज्योतिष (सिद्धान्त) का अङ्ग था। सभ्यता के विकास के साथ-साथ विषयों के वर्गीकरण की आवश्यकता हुई जिससे गणित पर स्वतन्त्र रचनाएँ की जाने लगीं। धीरे-धीरे गणित, पाटीगणित, बीजगणित आदि उपशाखाओं में विभाजित हुआ और आज हम देखते हैं कि अङ्कगणित से लेकर सापेक्ष्यवाद तक अनेक उपशाखाओं में गणित का यह विशाल वृक्ष पल्लवित हो रहा है।

प्राचीन भारत में, जब कि यह देश अध्यात्म-

वाद में उन्नति के उत्तुङ्ग शिखर पर पहुँचा हुआ था वहाँ गणित भी अपने परम वैभव पर थी। मोहेनजोदड़ो व हड़प्पा की सभ्यता इसके पर्याप्त साक्ष्य हैं। गणित के बिना सभ्यता के ये केन्द्र, जहाँ की सुन्दर चौड़ी सड़कें, विशाल स्नानागार, सुयोजित भवन व धातुओं के उपकरण आकर्षण का विषय है, कदापि विकसित न हो सकते। वेदांग ज्योतिष (१२०० ई० पू० से पूर्व) में गणित को सर्वोपरि स्थान देते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है:—

यथा शिखा मयूराणाम् नागानाम् मणयो यथा,
तद्वदवेदांग शास्त्राणाम् गणितम् मूर्द्धनि स्थितम्।

अर्थात् मोर के मस्तिष्क पर कलंगी, नाग के फणों में मणि का जो स्थान है, वेदांग ज्योतिष में गणित का सर्वोपरि स्थान है। गणित को इतना ऊँचा स्थान प्रदान करना सिद्ध करता है कि आज से साढ़े तीन हजार वर्ष पूर्व देश में गणित का प्रकाश कितनी तीव्रता से फैल रहा था। सूर्य-सिद्धांत सी उत्कृष्ट रचना बिना गणित के समुचित विकास के कभी सम्भव नहीं थी। गणित का शिक्षण अध्यात्मवाद में किसी प्रकार की रुकावट नहीं करता था वरन् उसके विकास में सहायक था। महात्मा महावीर व बुद्ध ने वर्षों तक गणित का अध्ययन किया। छान्दोग्य उपनिषद् में नारद सनत्कुमार से अपराविद्या की याचना करते हैं तो सनत्कुमार को अपने पूर्वज्ञान का विवरण प्रस्तुत करते हुए ७२ कला व विज्ञान के साथ-साथ गणित ज्ञान का होना बतलाते हैं। सम्राट खारवेल ने (१६३ ई० पू०) १६ से २५ वर्ष तक की आयु तक गणित का अध्ययन किया था। जैन अनुयोग के गणितानुयोग में गणित के विभिन्न परिक्रमों का वर्णन किया है व जैन सन्तों को गणितानुयोग का ज्ञान प्राप्त करना परमावश्यक बताया है। कौटिल्य (४०० ई० पू०) ने अपने अर्थशास्त्र में स्पष्ट कहा है कि यज्ञोपवीत के पश्चात् विद्यार्थी रूप लेख व गणना का ज्ञान प्राप्त करे। भारत के बाहर भी गणित को अध्यात्मवाद के विकास के सहायक के रूप में मान्यता मिलती रही है। केण्ट ने कहा कि गणित वह दण्ड है जिसके द्वारा समय के भौतिकवादियों पर प्रहार किया जा सकता है। प्लेटो ने तो अपने द्वार पर यह लिखकर टाँग दिया कि रेखागणित से अनभिज्ञ कोई भी व्यक्ति मेरे द्वार में प्रवेश न करे।

गणित के अध्ययन से जहाँ आत्मविश्वास, आत्मनिर्भरता व तर्कना शक्ति का विकास होता है वहाँ उसमें अनुशासित व्यक्तित्व का निर्माण होता है। देश-काल की सीमाओं की परवाह न कर एक देश दूसरे देश द्वारा ज्ञात नियमों को निःसंकोच अपना लेता है। भारत की नव अङ्कों, शून्य व स्थानीय मान पर आधारित अङ्क प्रणाली जहाँ पाश्चात्य देशों ने अपनायी वहाँ भारत ने भी पाश्चात्य देशों द्वारा आविष्कृत अनेक गणितीय नियम अपना लिए। इसके अध्ययन के समय मनुष्य का बाह्य जगत से सम्बन्ध टूट जाता है। वह विषय के साथ एकाकार हो जाता है। अर्जुन को जिस प्रकार पेड़-पत्ते न दिखाई देकर केवल चिड़िया की आँख दिखाई देती थी, गणितज्ञ को भी रेलों की चाल सम्बन्धी प्रश्न हल करते समय मनुष्य के चेहरे व चाट की दूकानें नहीं दिखाई देतीं वरन् उसका लक्ष्य तो यही रहता है कि कब रेलें मिलेंगी अथवा एक दूसरे को पार करेंगी। विषय के अध्ययन के साथ-साथ कितनी एकाग्रता उत्पन्न होती है यह आर्किमिडीज के जीवन से स्पष्ट होगा। घमासान युद्ध हो रहा था परन्तु आर्किमिडीज अपने प्रश्न के हल में तल्लीन था। नंगी तलवार लिए रोमन सिपाही ने जब गणितज्ञ को ललकारा तो उन्होंने कहा ठहरो मुझे अपना प्रश्न हल करने दो। सिपाही की तलवार किसी प्रश्न की प्रतीक्षा नहीं करती। वह तो जय व पराजय को ही पहचानती है। दूसरे ही क्षण वह गणितज्ञ के गर्दन से पार हो गई और उसका सिर अपने आराध्य देव की गोदी में अर्पित हो गया। प्रश्न के हल में जहाँ आत्मविश्वास जाग्रत होता

है वहाँ अपूर्व आनन्द से हृदय हिल्लोर उठता है। पाइथेगोरस (६०० ई० पू०) को, जो आवागमन में विश्वास रखता था उस साध्य की जिसके अनुसार समकोण त्रिभुज में कर्ण का वर्ग अन्य दो भुजाओं के वर्गों के योग के तुल्य होता है उपपत्ति ज्ञात करने में इतनी प्रसन्नता हुई कि उन्होंने आटे के सौ बैलों की बलि देकर उसे व्यक्त किया। गणित के क्षेत्र में तात्कालिक लाभ की परवाह न कर गणितज्ञ निःस्वार्थ भाव से कार्य करता रहता है।

व्यावहारिक जीवन में गणित का पग पग पर उपयोग है। प्रातःकाल घड़ी की टंकार से जगकर रात्रि को निद्रादेवी के आगमन से घड़ी का स्वर सुनाई देना बन्द हो जाता है तब तक जीवन के प्रत्येक कार्यकलाप में गणित का सतत प्रयोग होता रहता है। इस तथ्य को, प्रख्यात गणितज्ञ महावीर (८२५ ई०) ने अपने गणित संसार-ग्रह नामक ग्रंथ में बड़े सुन्दर ढंग से यों व्यक्त किया है :—

"लौकिक, वैदिक तथा सामयिक जो भी व्यापार हैं उन सबमें गणित का उपयोग है। काव्यशास्त्र, अर्थशास्त्र, गान्धर्व शास्त्र, नाट्यशास्त्र, पाकशास्त्र, आयुर्वेद, वास्तुविद्या आदि वस्तुओं में, छंद, अलंकार, काव्य, तर्क, व्याकरण इत्यादि में तथा कलाओं के समस्त गुणों में गणित अत्यन्त उपयोगी है। सूर्यादि ग्रहों की गति में, ग्रहण में, ग्रहों की द्युति में, दिक-देश और काल को ज्ञात करने में, चन्द्रमा के लेख में, सर्वत्र गणित अंगीकृत है। द्वीपों, समुद्र और पर्वतों की संख्या, व्यास और परिधि, लोक, अन्तलोक, ज्योतिर्लोक, स्वर्ग और नरक के रहने वाले सबके श्रेणीबद्ध भवनों, सभाभवनों एवं गुम्वदाकार मन्दिरों के प्रमाण तथा अन्य विविध प्रमाण गणित की सहायता से ही जाने जाते है। प्राणियों के संस्थान, उनकी आयु और आठ गुण आदि, यात्रा तथा संहिता आदि से सम्बन्ध रखने वाले विषय, सभी गणित पर निर्भर हैं। अधिक कहने से क्या प्रयोजनी सचराचर त्रैलोक्य में जो कुछ भी वस्तु है उनका अस्तित्व गणित के बिना संभव नहीं हो सकता।"

साढ़े ग्यारह सौ वर्ष पूर्व भारत में विभिन्न विषयों में गणित का इतना उपयोग, जबकि अन्य देशों में गणित अपने शैशवावस्था में ही था, सराहनीय है। आज के बदलते हुए युग में जब कि मनुष्य देश व काल की सीमाओं को लाँघ कर तेजी से आगे बढ़ रहा है, गणित का महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है। गणक की वह प्राचीन परिभाषा जिसके अनुसार संकलन से प्रारम्भ होने वाले बीस परिकर्मों व छाया में अन्त होने वाले आठ व्यवहारों को पृथक-पृथक जानने वाला व्यक्ति ही गणक है, अब कहीं अधिक विस्तृत व परिवर्धित हो गई है। जल, थल व अम्बर को चीरने वाले विभिन्न यान व राकेट, भीमकाय मशीनों, राडर व परमाणु शक्ति का वैभव सभी गणित के सफल उपयोग पर आधारित हैं। विज्ञान की विभिन्न शाखाएँ गणित की सुदृढ़ नींव पर खड़ी होकर पूर्णता को प्राप्त करती जा रही हैं या यों कहिए कि विज्ञान पूर्णता के अपने प्रयास में गणितमय होता जा रहा है। विज्ञान की प्रत्येक शाखा में गणित के अत्यधिक प्रयोग के कारण ही उसे निरपेक्ष विज्ञान की संज्ञा से सम्बोधित किया गया है। प्रोफेसर बाल के शब्दों में 'आज का वैज्ञानिक पहले गणितज्ञ है फिर वैज्ञानिक।' 'वैज्ञानिक गवेषणाओं को समझने के लिए उसे गणित में होने वाले अनुसंधानों से परिचित होना आवश्यक है।'

इस प्रकार व्यावहारिक, सांस्कृतिक व अनुशासनात्मक दृष्टिकोणों से गणित एक परमोपयोगी विषय है। इसी दृष्टि से आधुनिक पाठ्यक्रम में उसे जो स्थान प्रदान किया है वह न्यायसंगत है। गणित को आज हाई स्कूल व उच्चतर माध्यमिक स्कूलों के पाठ्यक्रम में अनिवार्य विषय के रूप में स्वीकार किया गया है परन्तु अनिवार्य विषय बना देने मात्र से ही शिक्षाशास्त्री अपने दायित्व को

निभा पावेंगे यह समझना भारी भूल होगी। गणित को आज स्वतन्त्र विषय के रूप में नहीं वरन् सामाजिक ज्ञान व सामान्य विज्ञान के साथ पढ़ाया जा रहा है। यह वर्गीकरण किस मनोवैज्ञानिक आधार पर किया गया है यह तो हमारे शिक्षाशास्त्री ही जानें परन्तु यह अवश्य ही निश्चित है कि इसके परिणाम निराशाजनक हैं। गणित से गम्भीर विषय को उक्त विषयों के साथ बाँधने से विद्यार्थी वर्ग गणित में वह कुशलता प्राप्त नहीं कर पा रहा है जिसके लिए अनिवार्य विषय घोषित किया गया है। राजस्थान में आज गणित में स्वतन्त्र रूप से सफल होना अनिवार्य नहीं है। विद्यार्थी को तीनों विषयों में मिलाकर किसी प्रकार न्यूनतम अंक प्राप्त कर लेने हैं और इसके लिए भी दसवीं से लेकर ग्यारहवीं की पूरक परीक्षा तक उसके पास उत्तीर्ण होने के चार अवसर हैं। अच्छे अंक प्राप्त करने का भी कोई महत्व नहीं। ऐसी अनाकर्षक स्थिति में दोषपूर्ण पाठ्यक्रम व अव्यावहारिक पुस्तकों के द्वारा गणित को प्रदान किए गए अत्यल्प समय में प्रश्नपत्रों में चयन की भारी सुविधा का उपभोग कर पंचमांश अंक प्राप्त कर लेने मात्र से विद्यार्थी गणित का कितना ज्ञान प्राप्त कर पाता होगा, यह एक विचारणीय व गम्भीर प्रश्न है जिसके हल किए बिना शिक्षाशास्त्री अपने दायित्व से वंचित नहीं हो सकते।

ऐच्छिक विषय के रूप में गणित को आज एक दूसरे प्रकार की समस्या का सामना करना पड़ रहा है। पाठ्यक्रम में गणित को जहाँ ह्यूमेनिटीज व विज्ञान खंडो में समुचित स्थान प्रदान किया गया है वहाँ व्यवहार में गणित को ऐच्छिक विषय के रूप में अध्ययन करने के अवसर साधारणतया वहीं प्रदान किए जाते हैं जहाँ ऐच्छिक विज्ञान में और वह भी भौतिक शास्त्र में शिक्षण होता है। गणित विज्ञान की भाषा है जिसका प्रश्रय लेकर विज्ञान आज पूर्णता को प्राप्त करता जा रहा है अतः विज्ञान के साथ उसे पढ़ाया जाना उचित है परन्तु उसे विज्ञान कक्षा तक ही सीमित करना भारी भूल होगी। गणित का इतिहास बतलाता है कि वह कभी भी विज्ञान की छत्रछाया में पल्लवित नहीं हुआ। यदि ऐसा होता तो विशुद्ध गणित जो आज के विज्ञान का जीवन है उसका कभी भी विकास नहीं होता। सापेक्ष्यवाद का जन्मस्थल कोई विशिष्ट प्रयोगशाला नहीं थी वरन् महान गणितज्ञ आइन्सटीन की कुटीर थी। गणित जगत में ऐसे अनेक साधक हुए हैं जिन्हें विज्ञान की हवा तक न लगी। यदि गणित भविष्य में भी इसी प्रकार विज्ञान शाखाओं की चहारदीवारी में आबद्ध रही तो वह दिन दूर नहीं जब माता भारती अपने अनेक मेधावी पुत्रों की सेवाओं से वंचित हो जाएगी।

इस प्रकार देश में जहाँ गणित अध्ययन की व्यापक सुविधा प्रदान करने की आवश्यकता है वहाँ अनिवार्य विषय के रूप में गणित शिक्षण में बरती गई शिथिलता के फलस्वरूप गणित के गिरते हुए स्तर से देश को बचाने की परम आवश्यकता है। यह बड़े हर्ष का विषय है कि आज के बदलते हुए वैज्ञानिक संसार में एक सुसंस्कृत, अनुशासित व स्वस्थ व्यक्तित्व के निर्माण में गणित का कितना महत्वपूर्ण योग है—इसे हमारे विधायकों ने भली प्रकार समझा है। मेधावी गणितज्ञ श्री निवास रामानुजम के सम्मान में २२ दिसम्बर '६२ को १५ नए पैसे का डाक टिकिट जारी करना व डा० बी० एन० प्रसाद को पद्मविभूषण की उपाधि से अलंकृत करना इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। गणितज्ञों को सम्मानित करने की इस परम्परा के साथ ही गणित शिक्षण व अनुसन्धान की सुविधाएँ भी यदि विकसित होती रहीं तो वह दिन दूर नहीं जब वेदांग ज्योतिष के प्रणेता की यह वाणी 'गणितम् मुर्द्धनि स्थितम्' फिर से साकार हो उठेगी और यह देश फिर गणित संसार में अपना सर्वोच्च स्थान स्थापित कर सकेगा।

पौधे तार करते हैं !

अ० बि० सीरवाणी

शीर्षक पढ़ कर कई पाठकों को आश्चर्य होगा कि पौधा कैसे तार कर सकता है ! पौधों की जीवनचर्या में वास्तव में कई आश्चर्यजनक हलचलें होती हैं, जिन्हें समझने के लिये थोड़ी तार्किक बुद्धि के उपयोग की आवश्यकता हो जाती है । इसके बिना हम वनस्पति संसार का रस नहीं ले सकते । पौधे को तार करने की हलचल में देखना इसका अच्छा उदाहरण है :—

संसार भर में केवल एक ही ऐसा पौधा है जिसकी हलचल तार करते समय किये गए संकेतों के समान होती है । इस पौधे का नाम है डेस्मोडियम गाइरन्स (Desmodium Gyrans) । अंग्रेजी में इसे तार करने वाला पौधा (टेलेग्राफ प्लांट) कहा जाता है । यह पौधा समशीतोष्ण एशिया में पाया जाता है । भारत में यह पौधा देहरादून तथा अन्य ऐसे स्थानों पर जो करीब ७००० फुट की ऊँचाई पर हों, पाया जाता है । यह पौधा तीन या चार फुट तक ऊँचा होता है ।

इस पौधे में संयुक्त पत्ते होते हैं और प्रत्येक पत्ता तीन पत्तियों का बना रहता है, एक बड़ी पत्ती चोटी पर और दो छोटी बाजू में । चोटी वाली पत्ती में कोई हलचल नहीं होती, किन्तु बाजू की पत्तियों की विशेषता है तार के समान संकेत करना । (चित्र १)

सूर्य-प्रकाश में जब ताप ७२° फ० या उससे अधिक हो जाता है तो बाजू की दो पत्तियाँ एकदम झटके के साथ लगातार ऊपर नीचे, नक्षत्र-पथ में घूमने लगती हैं जैसे कि पौधा इन पत्तियों के द्वारा तार के संकेत कर रहा हो । कभी-कभी ये पत्तियाँ एक मिनिट में १८० बार ऊपर-नीचे कम्पन करती हुई पाई जाती हैं । गोलाकार घूमने के साथ ये पत्तियाँ अपने अक्ष पर भी घूमती हैं जैसा कि तार करने वाले यंत्र में होता है । तार के ये संकेत हवा में तथा हवा बन्द रहने पर एक-से होते हैं, अर्थात् ये कम्पन हवा के कारण नहीं होती किन्तु यह इस तार करने वाले पौधे की निजी विशेषता है । (चित्र २)

(चित्र १)

डेस्मोडियम गाइरन्स का एक संयुक्त पत्ता केवल बाजू वाली दो पत्तियाँ ही तार के संकेत करती हुई दिखायी देती हैं ।

साधारणतः तार के ये संकेत सुबह से शाम तक

१
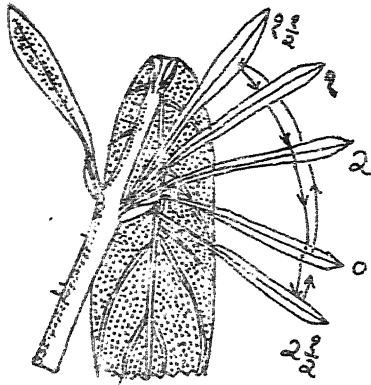
(चित्र २)

डेस्मोडियम गाइरन्स का पत्ता। तार करते समय ० से २½ मिनटों में दाहिने ओर की पत्ती ने २½ मिनट में एक चक्कर पूरा किया। तीर पत्ती के घूमने की दिशा बताते हैं।

देखे जाते हैं, और बाद में सब पत्तियाँ हताश हो कर सो जाती हैं किन्तु कभी-कभी तार करने का यह कार्य रात में देर तक होता रहता है जब तक कि दिन में पौधे द्वारा प्राप्त की हुई शक्ति समाप्त न हो जाय। चार्ल्स डार्विन के मतानुसार, तार के समान संकेतों से इस पौधे को कोई लाभ नहीं होता किन्तु फिर भी यह संकेत उसमें क्यों पाए जाते हैं यह अभी तक अज्ञात है।

तार करने वाला यह पौधा जंगलों में होता है और जानवरों के लिये यह एक उपयुक्त चारा है, किन्तु कई लोग अब इस पौधे को अपने घरों में लगाते हैं और प्रकृति की इस असाधारण देन का आश्चर्यचकित होकर अवलोकन करते हैं।

●●

"सन् १९६३ के लिए भौतिक विज्ञान पर "तैलङ्ग पुरस्कार"

"विज्ञान" में भौतिक विज्ञान पर प्रकाशित होने वाले सर्वोत्कृष्ट निबन्धों पर एक ३००) रु० का "तैलङ्ग" पुरस्कार वितरित किया जायगा। यह पुरस्कार उक्त पत्र में अप्रैल ६३ से नवम्बर ६३ तक प्रकाशित निबन्धों पर दिया जायगा।

लेखों के लिए सामान्य नियम एवं सूचनाएँ निम्न हैं

(१) लेखों में प्रतिपाद्य विषय का साङ्गोपाङ्ग वर्णन आवश्यक होगा (यदि आवश्यक हो तो विस्तार के कारण लेख को पत्र के कई अङ्कों में भी क्रमशः प्रकाशित किया जा सकता है।

(२) लेखों में मौलिकता का होना अनिवार्य है एवं जो लेख उक्त पत्र में प्रकाशित हों अन्यत्र न प्रकाशित किये जायँ,

(३) लेख में यदि किसी अत्याधुनिक 'वाद' या 'सिद्धान्त' का प्रतिपादन या वर्णन किया जाय तो वह जिस पुस्तक आदि से लिया गया है उसका सुस्पष्ट विवरण दिया जाय।

प्रत्येक लेखक को पुरस्कर्ता द्वारा गठित 'निर्णायक कमेटी' का निर्णय मान्य होगा।

पुरस्कर्ता :
बालमुकुन्द दीक्षित 'तैलङ्ग'"

—१६

सुप्रसिद्ध कृषि वैज्ञानिक डा० रायचौधरी

संकलित

डा० रायचौधरी भारतवर्ष के सुप्रसिद्ध मृत्तिका वैज्ञानिक हैं। इनका पूरा नाम डा० सत्य-प्रसाद रायचौधरी है। इनका जन्म २३ अप्रैल सन् १९०४ में कलकत्ता में हुआ था। उनके स्वर्गीय पिता श्री दक्षिणाप्रसाद रायचौधरी ग्राम सैयदपुर, जिला २४ परगना पश्चिम बंगाल के एक जमींदार थे। डा० रायचौधरी की अधिकांश शिक्षा कलकत्ता में हुई और उन्होंने स्कूलों एवं विद्यालयों की समस्त परीक्षायें विशेष योग्यताओं के साथ उत्तीर्ण कीं। ये बहुत सी छात्रवृत्तियों एवं रजत व स्वर्ण-पदकों के विजेता भी रहे। सन् १९२१ की कलकत्ता विश्वविद्यालय की मैट्रीकुलेशन परीक्षा में गणित में प्रथम स्थान प्राप्त करने के उपलक्ष में इनको कीर्तिचन्द मेकेञ्जी पदक प्रदान किया गया। सन् १९२७ में इन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय की रसायन-शास्त्र की परीक्षा "भौतिक रसायनशास्त्र थीसिस समूह" को प्रथम श्रेणी एवं प्रथम स्थान के साथ उत्तीर्ण किया तथा विश्वविद्यालय के स्वर्ण पदक विजेता हुए। इन्होंने विश्वविद्यालय के विज्ञान एवं टेकनिकल विभाग के प्राध्यापक डा० जे० एन० मुखर्जी की संरक्षता में "भूमि कलिलों एवं कलिलों के विद्युत रसायन" पर अनुसंधान-कार्य आरम्भ रक्खा। सन् १९२९ में सक्रियीकृत काष्ठ कोयला पर एक महत्त्वपूर्ण अनुसंधान करने के उपलक्ष में नागार्जुन पुरस्कार और कलकत्ता विश्वविद्यालय का स्वर्ण-पदक भी प्राप्त किया। भूमि अम्लता एवं भूमि की धनायन-विनिमयता का अध्ययन करके इन्होंने जुबली अनुसंधान पुरस्कार तथा विश्वविद्यालय का स्वर्ण-पदक जीता। सन् १९३० में ही "कलिलों के विद्युत रसायन" पर थीसिस लिखने के उपलक्ष में

इन्हें प्रेमचन्द रायचन्द छात्रवृति और माऊत स्वर्ण-पदक प्रदान किये गये। सक्रियीकृत काष्ठ कोयला एवं कलिलों के विद्युत रसायन पर थीसिस लेखन के लिए इन्हें सन् १६३२ में डी० एस-सी० की उपाधि मिली। कलकत्ता-विश्वविद्यालय के विज्ञान एवं टेकनॉलाजी विभाग में सर पी० सी० राय अनुसंधान छात्र के रूप में भी इन्होंने अपना शोध कार्य चालू रक्खा। सन् १६३४ में कलकत्ता विश्वविद्यालय की सर टी० एन० पलित विदेश छात्रवृति प्राप्त कर कृषि रसायन-शास्त्र में उच्च अध्ययन के लिए इंगलैण्ड की विख्यात रोथैमस्टेड अनुसंधानशाला में गये। वहाँ इन्होंने रसायन विभाग के अध्यक्ष डा० ई० एम० क्रेदर की संरक्षता में कार्य करके सन् १६६३ में लंदन विश्वविद्यालय की पी० एच-डी० की उपाधि ग्रहण की। १६३७ में लन्दन से लौटने के पश्चात् कलकत्ता विश्वविद्यालय में सर पी० सी० राय फेलो के रूप में कुछ काल तक कार्य करते रहे। तत्पश्चात् १६३७ से १६४४ तक ढाका विश्वविद्यालय में कुछ समय तक कृषि अनुसंधान रसायन शास्त्री तथा बाद में भौतिक रसायन के अध्यापक के रूप में कार्य करते रहे। १६४४ में वे भारतीय कृषि अनुसंधान शाला, नई दिल्ली में भूमि सर्वेक्षण अधिकारी नियुक्त किये गये। सन् १६४४ में इन्होंने भारत की लाल मिट्टी और लैटराइट भूमियों पर महत्त्वपूर्ण कार्य करके लन्दन विश्वविद्यलय की डी० एस-सी० की उपाधि प्राप्त की और उसी वर्ष इनको आयरलैण्ड तथा ग्रेटब्रिटेन के "रॉयल इन्स्टीट्यूट आफ केमिस्ट्री" के एक फेलो के रूप में प्रवेश दिया। सन् १६४७ में भारत सरकार की ओर से इन्हें भूमि-संरक्षण का उच्च अध्ययन करने के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका भेजा गया और वहाँ से लौटने के पश्चात् इन्हें भारतीय खाद्य एवं कृषि मंत्रालय के एक विशेष भूमि संरक्षण अधिकारी के पद पर नियुक्त किया जहाँ पर इन्होंने लगभग एक वर्ष तक कार्य किया। जुलाई सन् १६४६ से लेकर मार्च १६५८ तक ये भारतीय कृषि अनुसंधान शाला के भूमि विज्ञान एवं कृषि रसायनशास्त्र विभाग के अध्यक्ष के पद पर रहे। इसके पश्चात् उसी अनुसंधानशाला में मुख्य भूमि सर्वेक्षण अधिकारी नियुक्त हुए। वहाँ से अवकाश प्राप्त करने के अनन्तर अक्टूबर सन् १६६१ में इन्हें वरिष्ठ विशेषज्ञ के पद पर पुनः नियुक्त कर दिया गया, जहाँ आज भी वे कुशलतापूर्वक कार्य कर रहे हैं।

डा० सत्यप्रसाद रायचौधरी बहुत सी भारतीय एवं विदेशी वैज्ञानिक समितियों और परिषदों के सम्पर्क में रहे हैं। १६५२ में आप नेशनल इन्स्टीट्यूट आफ साइन्सेज, इण्डिया के फेलो निर्वाचित किये गये। ये अमेरिकन भूमि संरक्षण समिति के भी सदस्य हैं। सन् १६५५ में इनका निर्वाचन इण्डियन नेशनल एकेडमी आफ साइन्सेज के एक फेलो के रूप में भी हुआ। सन् १६६० से दो वर्षों तक के लिए वे इंडियन सोसाइइटी आफ स्वालय सांइस के अध्यक्ष भी रहे। डा० रायचौधरी १६५२ से ही जर्नल आफ इण्डियन सोसाइटी आफ सायल सान्इस का जिस तत्परता से सम्पादन करते आ रहे हैं वह स्तुत्य है। आपने (१६४५-५६) भूमि विज्ञान के अन्तर्राष्ट्रीय समिति की आयोग द्वितीय उप-सभापति के रूप सेवा की तथा १६५६-५७ में वे भारतीय सांइस कांग्रेस समिति के ४३ वें अधिवेशन के कृषि विज्ञानशाखाओं के सभापति पद को भी सुशोभित किया।

सन् १६६१ से ही डा० रायचौधरी एफ० ए० ओ० यूनेस्को योजना के अन्तर्गत चालित विश्व के भूमि मानचित्र निर्माण के अन्तराष्ट्रीय भूमि विशेषज्ञों की परामर्श समिति के सदस्य भी रहे हैं और उसी पद पर रहते हुए इन्होंने जून १६६१ में रोम में होने वाली भूमि मानचित्र निर्माण की परामर्श समिति की सभा में भाग लिया। सितम्बर १६६२ में सोवियत रूस के तासकन्द में एशिया के भूमि मानचित्र

निर्माण के अन्तर्राष्ट्रीय सेमिनार में भी उपस्थित रहे। इसके साथ ही साथ अगस्त १९६२ में ताशकन्द सोवियत रूस में मृदा लवणता तथा सिंचाई विषय पर आयोजित सेमिनार में भी भाग लिया। आप इण्डियन केमिकल सोसइटी तथा भारतीय भूमि संरक्षण समिति के भी एक फेलो हैं।

डा० रायचौधरी एक विख्यात भूमि वैज्ञानिक हैं और इन्होंने कुल १५० पुस्तकें एवं शोध-पत्र प्रकाशित किए हैं। इनके अध्ययन के मुख्य विषय हैं भूमि उर्वरता, भूमि संरक्षण, भूमि सर्वेक्षण, भूमिकलिल, मृत्तिका खनिज और भूमि प्रयोग सम्बन्धी समस्यायें। इन्हीं विषयों पर इन्होंने मुख्य कार्य किया है। इन्होंने कैलिफोर्निया के हैन्स जेनी के साथ एक महत्वपूर्ण पुस्तक "Effect of climate and cultivation on nitrogen and organic matter reserves in Indian soil." लिखी है। उनकी ही संरक्षता में कृषि अनुसंधानशाला, नई दिल्ली द्वारा भारतवर्ष का भूमि मानचित्र भी तैयार किया गया है।

मिट्टी पर किये गये इन महत्त्वपूर्ण अध्ययनों के अतिरिक्त इन्होंने प्राचीन भारत में प्रचलित कृषि-पद्धतियों में अत्यधिक रुचि के कारण कुछ साहित्य भी प्रकशित किया है। इसके साथ ही साथ "प्राचीन भारत की कृषि-पद्धति" पर अँग्रेजी में एक विस्तृत विवरण भी लिखा है जो कि भारतीय कृषि-अनुसंधानशाला, नई दिल्ली द्वारा शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है।

कलकत्ता तथा ढाका विश्वविद्यालयों के एवं कृषि-अनुसंधानशाला, नई दिल्ली के असंख्य छात्रों को डा० रायचौधरी की संरक्षता में एम० एस-सी० तथा पी० एच-डी० की उपाधि लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। डा० रायचौधरी अपने कठिन परिश्रम के लिए विख्यात हैं और विज्ञान की ऐसी महान देनों के लिए वे आज विश्वविख्यात वैज्ञानिक के रूप में मान्य हैं।

डा० चौधरी आदर्श अनुसंधानकर्ता, शिक्षक तथा पथ-प्रदर्शक होने के साथ ही मानवीय गुणों से सर्वथा ओतप्रोत हैं। इनकी सरलता, मृदुहास्य, निष्कपट व्यवहार, छोटों के साथ भी समानता का व्यवहार, परोपकारिता—ये सभी ऐसे गुण हैं जो भारतीय आदर्शों को याद दिलाने वाले हैं। ५८ वर्ष से भी अधिक आयु व्यतीत कर लेने पर भी आप अत्यन्त स्वस्थ हैं। अभी भी हमें अपने इस मृत्तिका वैज्ञानिक से बड़ी बड़ी आशाएँ हैं।

इनकी ५९ वीं वर्ष गाँठ के अवसर पर हम अपनी शुभकामनायें व्यक्त कर रहे हैं।

सार संकलन

१. अपराध विरोधी अभियान में अणुशक्ति का योगदान

अमेरिकन न्यूक्लियर सोसायटी की वाशिंगटन, डी० सी० में हाल में आयोजित एक बैठक में अणु-विज्ञान की एक आश्चर्यजनक रूप से सम्वेदनशील प्रविधि का विवरण प्रस्तुत किया गया, जिसके द्वारा अपराध का पता देने वाले ऐसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म संकेतों को भी पहचाना जा सकता है, जिन्हें किसी अन्य साधन द्वारा पहचान पाना सर्वथा असम्भव है। जेनरल डायनामिक्स कार्पोरेशन के डा० विंसेण्ट पी० ग्विन ने वैज्ञानिक ढंग पर अपराधों का पता लगाने के लिए इस प्रविधि के प्रयोग के सम्बन्ध में अमेरिकी अणुशक्ति आयोग के लिए संचालित एक अनुसंधान के परिमाणों के विषय में रिपोर्ट प्रस्तुत की है। इस अपराध-टोहक प्रविधि को 'न्यूट्रॉन सक्रियता विश्लेषण' कहते हैं।

डा० ग्विन ने बताया कि इस प्रविधि द्वारा हाल मे बन्दूक दागने वाले व्यक्तियों के हाथों से प्राप्त किए गये बारूद के अवशेषों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म संकेतों का उद्घाटन और माप करने की दिशा में आश्चर्यजनक परिणाम प्राप्त हुए हैं। उन्होंने कहा कि यह प्रविधि ऐसे अपराधों की पहेली बुझाने में भी सहायक सिद्ध हो सकती है, जिनमें अन्य प्रकार के विस्फोटक पदार्थों का प्रयोग किया गया हो।

सैनडिगो, कैलिफोर्निया में जेनरल डायनामिक्स कार्पोरेशन की प्रयोगशालाओं में किये जा रहे अनुसंधानों के अन्तर्गत, प्रमाणों के अत्यन्त लघु नमूनों को आणविक अनुसन्धान के लिए प्रयुक्त एक 'ट्रिगा' प्रतिक्रियावाहक में न्यूट्रानों की अत्यन्त तीव्र बौछार द्वारा रेडियोसक्रिय बना दिया जाता है। रेडियो-सक्रिय हो जाने पर नमूने के अनेक तत्व अपनी उपस्थिति को प्रकट कर देते हैं और उनके 'निशान' एक 'ओसिलोस्कोप' के पर्दे पर अंकित हो जाते हैं।

इस अति-संवेदनशील आणविक प्रविधि द्वारा बारूद के अवशेषों के १ ग्राम के १००० करोड़वें अंश के बराबर सूक्ष्म संकेतों को उद्भासित करने, पहचानने और नापने में सफलता मिली है।

डा० ग्विन ने कहा कि 'न्यूट्रॉन सक्रियता विश्लेषण' में यह सम्भावना निहित है कि यह बारूद के संकेतों के लिए गोली चलाने वाले व्यक्ति के हाथों का परीक्षण करने में तथाकथित 'पैराफिन परीक्षण' का स्थान ग्रहण कर लेगा। कानून लागू करने वाले अधिकारियों की राय में पैराफिन परीक्षण' विधि अविश्वसनीय सिद्ध हुई है।

अमेरिका की संघीय जाँच-पड़ताल परिषद् (फेडरल ब्यूरो ऑव इन्वेस्टिगेशन) तथा अनेक अमेरिकी पुलिस प्रयोगशालायें इस अनुसन्धान के परिणामों की टोह लेती रही हैं। लोसएन्जेलस, केलिफोनिया के पुलिस विभाग की अपराध-टोहक प्रयोगशाला बारूद के अवशेष तथा अपराध की जाँच-पड़ताल के सिलसिले में मिले अन्य पदार्थ — जैसे चिकनाई, प्लास्टिक, रंग-रोगन, मोटर के

ड्रायर, स्याही, काँच और मिट्टी—पुनम करके इस अनुसन्धान में सहयोग प्रदान कर रही हैं।

डा० ग्विन ने अपनी रिपोर्ट में कहा है, अब तक के अध्ययन से यह संकेत मिलता है कि सक्रियता-विश्लेषण से न केवल यह पता चल सकता है कि किसी व्यक्ति ने गोली दागी है या नहीं, बल्कि कुछ मामलों में यह भी पता चल सकता है कि कितनी बार बन्दूक दागी गयी थी। इस समय वैज्ञानिक ढंग पर अपराधों का पता लगाने में सक्रियता विश्लेषण के प्रयोग के अनेक पहलुओं पर अध्ययन हो रहा है और बमबाजी के मामलों में भी इस विधि को प्रयुक्त करने का प्रश्न विचाराधीन है।

बम-विस्फोट के मामलों की जाँच-पड़ताल करने में विकारों की खोज करने के लिए विस्फोट वाले क्षेत्र में दीवारों तथा अन्य वस्तुओं की जाँच करना सम्भव हो सकता है। ध्वंसावशेष के किसी छोटे से टुकड़े में प्राप्त इस प्रकार के विकारों की किस्म और तीव्रता इस बात का निर्धारण करने के लिए पर्याप्त सिद्ध हो सकती है कि बम का प्रयोग सचमुच हुआ था, विस्फोट कहाँ हुआ था तथा विस्फोट पदार्थ की किस्म क्या थी।

डा० ग्विन ने कहा कि रिवाल्वर में प्रयुक्त सभी प्रकार की गोलियों में अंजन जैसा एक घोल प्रयुक्त होता है। उनका निर्माण जिन अन्य तत्वों से होता है, उनमें एक बैरियम घोल भी हो सकता है। इन घोलों के अति सूक्ष्म चिह्न गोली दागने वाले व्यक्ति के हाथों पर लगे रह जाते हैं।

बारूद के अवशेषों के विश्लेषण की क्रमागत प्रक्रिया का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा कि किसी सन्देहास्पद व्यक्ति के हाथ से अनेक विधियों द्वारा चिह्न का पता लगाया जा सकता है। इन विधियों में सबसे व्यावहारिक विधि यह है कि उसके हाथ को नाइट्रिक अम्ल के एक घोल से धो दिया जाय।

उसके बाद उसके अत्यन्त लघु नमूने को एक खोल में प्रविष्ट कर दिया जाता है। फिर उसे 'ट्रिगा' प्रतिक्रियावाहक में डाल दिया जाता है, जहाँ उस पर ३० से ४० मिनट तक न्यूट्रानों की बौछार की जाती है। इससे नमूने में सम्मिलित विभिन्न तत्व रेडियो-आइसोटोपों में परिणत हो जाते हैं, जिनमें से प्रत्येक पर उसका विशिष्ट 'निशान' अंकित होता है। निःसृत गामा विकिरण की ऊर्जा ही वह 'निशान' होती है। रेडियो-रासायनिक पृथक्करण का प्रयोग नमूने में निहित बाहरी रेडियो-सक्रियता का निष्कासन करने के लिए होता है।

बारूद के अवशेष में निहित अंजन और बैरियम के चिह्नों के विशिष्ट निशानों को गामा-किरण स्पेक्ट्रोमेट्री द्वारा पहचान लिया जाता है। फिर विद्युदाणविक गणना और पृथक्करण प्रविधियों द्वारा चिन्ह का संख्यात्मक माप किया जाता है।

डा० ग्विन ने कहा कि विभिन्न किस्मों की गोलियों और बारूदों के रासायनिक विश्लेषण का अध्ययन इस बात का निर्धारण करने के लिए हो रहा है कि प्रत्येक किस्म का निर्माण में किन-किन तत्वों का कितनी-कितनी मात्रा में प्रयोग हुआ है।

अब तक इस प्रकार अपराधियों का पता लगाने के लिए रासायनिक विश्लेषण और चित्र विश्लेषण की जिन विधियों का प्रयोग परम्परा से होता आ रहा है, उनसे रेडियो-सक्रियता विश्लेषण विधि अधिक उपयोगी है। अत्यधिक संवेदनशील होने के कारण, इसके द्वारा अत्यन्त नन्हें और सूक्ष्म नमूनों, जैसे काँच के रेशे या रंग के गुच्छे का भी विश्लेषण हो जाता है। यदि नमूना बड़ा हो, तो उसके कई लाखवें अंश के बराबर चिह्न का भी पता लगाना सम्भव है।

अपराधों की जाँच-पड़ताल के लिए अनेक मामलों में यह प्रविधि किंचित् मात्र विनाशकारी नहीं। अतः मूल नमूनों और प्रमाणों को न्यायालय में पेश करने के लिए सुरक्षित रखा जा सकता है।

२. अन्तरिक्ष-औषधियों की खोज से मानव-कल्याण में वृद्धि

हर बार, जब कोई अमेरिकी अन्तरिक्ष-यात्री अन्तरिक्ष-यात्रा पर जाता है, तो उसके द्वारा अर्जित अनुभव से इस पृथ्वी पर निवास करने वाले सामान्य मनुष्य के स्वास्थ्य को कोई न कोई लाभ अवश्य पहुँचता है। यद्यपि 'प्रोजेक्ट-मरकरी' नामक समानव अन्तरिक्ष यात्रा एवं अनुसन्धान-कार्यक्रम को प्रारम्भ हुए अभी कुछ ही वर्ष हुए हैं, परन्तु इस संक्षिप्त अवधि में ही उसके लाभ दृष्टिगोचर होने लगे हैं। इस कार्यक्रम से प्राप्त लाभों के कारण आज डाक्टरों के पास चिकित्सा के लिए पहुँचने वाले औसत अमेरिकनों को पहले से कहीं अधिक उत्तम डाक्टरी सेवा सुलभ हो रही है। उदाहरणार्थ, अन्तरिक्ष-यात्री की हृदय-गति, श्वास-क्रिया और रक्त-चाप को मापने के लिए आविष्कृत सूक्ष्म विद्युदणु विधियों का उपयोग अमेरिकी अस्पताल एवं डाक्टरों के दवाखानों में सामान्य रोगियों के रोगों का निदान करने के लिए किया जा रहा है। इन सूक्ष्म विद्युदणु विधियों एवं उपकरणों की सहायता से डाक्टर रोगियों की हृदय गति एवं रक्त-चाप इत्यादि का पहले से अधिक सूक्ष्म एवं सही माप लेने में समर्थ हो गए हैं।

यही नहीं, ऐसे सूक्ष्म संवेदनशील उपकरणों का विकास किया गया है, जो इतने अधिक सही हैं कि रोगी के-हृदय की गति में उत्पन्न सूक्ष्मतम दोष का बिल्कुल सही पता लगा लेते हैं और उनके द्वारा प्राप्त यह सूचना रोग के निदानार्थ रेडियो अथवा टेलीफोन द्वारा दूसरे महाद्वीप में रहने वाले चिकित्सा-विशेषज्ञों को पहुँचाई जा सकती है। टेलस्टार संचार उपग्रह द्वारा अनेक इलेक्ट्रो-कार्डियोग्राम सफलता-पूर्वक भेजे गए हैं।

विद्युदणु-विधियों के क्षेत्र में भी, एक अतिसूक्ष्म ट्रांसमिटर और रेडियो-रिसीवर यन्त्र (संदेश ग्राहक यन्त्र), जिसका विकास अन्तरिक्ष-औषधि-विज्ञान के क्षेत्र में हुआ है, डाक्टरों द्वारा मोटरों अथवा घरों से अस्पतालों, रोगियों अथवा अपने दवाखानों के कर्मचारियों को आवश्यक सूचना प्रेषित करने के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है।

हाइड्राजीन से निर्मित एक द्रव पदार्थ, जिसका विकास मूलतः प्रक्षेपणास्त्रों में इस्तेमाल किए जाने वाले द्रव ईंधन के रूप में हुआ था, कई मानसिक रोगों एवं क्षय रोग के उपचार में उपयोगी सिद्ध हो रहा है।

चिकित्सा की दृष्टि से, ब्रह्माण्ड किरणों के अध्ययन के फलस्वरूप कैंसर-रोग की चिकित्सा में उल्लेखनीय प्रगति हुई है।

चिकित्सा-विज्ञान सम्बन्धी टेक्निकल सूचनाओं के संग्रह एवं उसमें नवीनतम सूचनाओं को स्थान देने के कार्य में अन्तरिक्षीय चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में हो रही उल्लेखनीय प्रगति से बहुत सहायता मिलेगी। स्वचालित विधियों द्वारा सभी प्रकार के चिकित्सा आँकड़े रिकार्ड करने की अधिक उत्तम एवं समय बचाने वाली विधियाँ, स्पेशल पंच कार्ड प्रणालियाँ, तेजी से खोजे जा सकने वाले स्वास्थ्य-सम्बन्धी रिकार्ड—इन सब का विकास एवं आविष्कार मूलतः अन्तरिक्ष-यात्रियों को चुनने के लिए किया गया था।

अन्तरिक्ष अनुसन्धान कार्यक्रम के फलस्वरूप विकसित एक अन्य उल्लेखनीय विधि 'फाइबर ग्लास डिवाइस' है। दाँतों के आपरेशन के समय यह यन्त्र मुख में रख दिया जाता है, जिससे शल्य-चिकित्सक और उसकी सहायता करने वालों को आपरेशन की क्रिया बिल्कुल स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती रहती है।

अमेरिकी वायु सेना के सर्जन जनरल मेजर जनरल ओलिवर के नीस ने अभी हाल में पनामा नहर क्षेत्र में आयोजित 'यू० एस० एयर फोर्स लैटिन अमेरिकन मेडिकल कान्फ्रेंस' में कहा कि हम

डाक्टरों को अन्तरिक्षीय औषधि-विज्ञान के सम्बन्ध में जो कुछ भी जानकारी प्राप्त हुई है, उसका लाभ असैनिक रोगियों को भी प्राप्त हो रहा है। यही नहीं इस प्रकार प्राप्त की जाने वाली समस्त जानकारी का विनिमय अन्य देशों के साथ बिना किसी रोक-टोक के हो रहा है।

आजकल एक ऐसी विकिरण निरोधक औषधि का निर्माण करने का कार्य प्रगति पर है, जिसे रोगी लोग, फ्ल्युरोस्कोपी अथवा एक्सरे कराने के पूर्व ले सकेंगे।

मानसिक स्वास्थ्य के सुधार की दृष्टि से मिलने वाले लाभों की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जैसे-जैसे प्रत्येक अन्तरिक्ष-यात्री को अधिकाधिक दबाव सहन करने का अभ्यस्त बनाया जा रहा है, डाक्टरों को इस बारे में अधिकाधिक जानकारी प्राप्त हो रही है कि मनुष्य उन मानसिक तनावों और उनसे उत्पन्न प्रभावों पर किस प्रकार काबू पा सकते हैं, जो उन्हें अपने पारिवारिक जीवन में अथवा कोई कार्य करते हुए सहन करने पड़ते हैं।

'यू० एस० एयरफोर्स स्कूल ऑफ एयरोस्पेस मेडिसिन' के डा० ई० लेम्ब ने इस योजना पर अभी हाल में विचार प्रकट करते हुए कहा :

यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि कार्य-व्यस्तता के दौरान मनुष्य की सही मानसिक स्थिति का पता लगाने वाले परीक्षण एवं साधन भविष्य में औद्योगिक औषधि विज्ञान के लिए परम उपयोगी सिद्ध होंगे, क्योंकि भविष्य में डाक्टर किसी रोगी के हृदय, श्वास-प्रणाली और केन्द्रीय नाड़ी मण्डल पर उसके पेशे अथवा कार्य के प्रभावों को माप कर ही उसे इस बात का परामर्श देंगे कि उसके लिए आगे काम करना उचित होगा या नहीं।

उन्होंने आगे कहा कि इस समय डाक्टर रोगी को जो परामर्श देते हैं, वह शरीर में उत्पन्न होने वाले उन दोषों के आधार पर प्राप्त, जिनकी ओर रोगी द्वारा डाक्टर का ध्यान आकृष्ट किया जाता है, अपर्याप्त आँकड़ों अथवा सूचना पर आधारित होता है।

डा० लैम्ब का कार्य चिकित्सा-विज्ञान की दृष्टि से उम्मीदवार अन्तरिक्ष यात्रियों की योग्यता एवं क्षमता को आँकना है। उनका कहना है कि अन्तरिक्ष-यात्रियों को चुनने के लिए जिस प्रकार के विशिष्ट अध्ययन की आवश्यकता पड़ रही है, उस से पृथ्वी पर रहने वाले मानव रोगियों की चिकित्सा करने में अत्यन्त उल्लेखनीय सहायता मिलेगी।

उन्होंने कहा कि डाक्टर लोग सामान्यतः उन व्यक्तियों की परीक्षा करते हैं, जो उनके पास बीमार होने पर अथवा यह अनुभव करने पर कि वे बीमार हैं, आते हैं। डाक्टरों ने चिकित्सा-विज्ञान के सम्बन्ध में अधिकांश अनुभव और ज्ञान इसी ढंग पर प्राप्त किया है।

इसके विपरीत अन्तरिक्ष-यात्रियों का चुनाव करते समय डाक्टरों का वास्ता ऐसे व्यक्तियों से पड़ता है, जो यह समझते हैं कि वे बिलकुल स्वस्थ हैं और जो बाहर से बिलकुल स्वस्थ दिखते भी हैं। यद्यपि चिकित्सा-विज्ञान ने रोग के उग्र स्वरूप अथवा रोग के अत्यन्त उलझनपूर्ण लक्षणों के बारे में काफी जानकारी प्राप्त कर ली है, परन्तु बिना लक्षण प्रकट हुए रोग को प्रारम्भ में ही पकड़ लेने अथवा स्वस्थ व्यक्तियों के शरीर में छिट-पुट रूप में पाए जाने वाले साधारण विकारों के महत्त्व को समझने में इसने अभी तक विशेष प्रगति नहीं की है।

इस कथन की पुष्टि में डा० लैम्ब ने यह बताया कि केवल एयरो-मेडिकल कार्यक्रम के द्वारा ही उन रोगियों के रोगों का व्यवस्थित और विस्तृत रिकार्ड बना पाना सम्भव हो सका है, जो 'वोल्फ पार्किन्स-व्हाइट स्लाइड्रोम' नामक एक असामान्य हृदय-रोग से पीड़ित हैं। इस रोग से पीड़ित व्यक्ति में बहुधा हृदय-रोग के कोई लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होते

और इसीलिए उनकी इलेक्ट्रो-कार्डियोग्राफी –जिस के द्वारा रोग का पता चलता है—नहीं कराई जाती।

लेकिन सभी उड़ाकों के लिए इलेक्ट्रो-कार्डियोग्राफी अनिवार्य करके समानव अन्तरिक्ष-यात्रा कार्यक्रम ने इस प्रकार के बहुत से रोगियों का पता लगाया है और एक ऐसे रोग के बारे में पर्याप्त जानकारी प्राप्त की है, जिससे सामान्य जनता उससे कहीं अधिक संख्या में ग्रस्त हो सकती है, जिसका कि अनुमान किया जा सकता है।

इस प्रकार की खोजों द्वारा अन्तरिक्ष-चिकित्सा-विज्ञान के साधन अब अमेरिका के नगरों में प्रैक्टिस करने वाले सामान्य डाक्टरों की पहुँच में आते जा रहे हैं।

३. अन्तरिक्ष-अनुन्धान के ५ वर्ष

३१ जनवरी को अमेरिका के अन्तरिक्ष-अनुसंधान कार्यक्रम को प्रारम्भ हुए ५ वर्ष पूरे हो गये। इस अवसर पर जो विश्वव्यापी समारोह मनाए गये, उनमें भारत भी शामिल हुआ, क्योंकि अन्तरिक्ष-वाहनों की टोह लेने के लिए संसार के भागों में अन्तरिक्ष टोहक केन्द्रों की स्थापना हुई है, उनमें भारत भी एक है।

संसार के विभिन्न भागों में स्थापित अन्तरिक्ष टोहक संजाल ने अमेरिकी राष्ट्रीय उड्डयन एवं अन्तरिक्ष प्रशासन (नैसा) के निर्देश पर ३१ जनवरी, १९५८ को अमेरिका द्वारा प्रक्षिप्त एक्सप्लोरर-१ नामक उपग्रह की टोह लेने के लिए कार्य करना प्रारम्भ किया था।

उसके बाद से लेकर अब तक की अवधि में अन्तरिक्ष-उपग्रहों और वाहनों की टोह लेने तथा उनके द्वारा प्रेषित सूचना का अध्ययन करने के लिए १६ देशों ने अमेरिका के साथ मिल कर २८ टोहक-केन्द्रों की स्थापना की है। इनमें से दूरबीन द्वारा कृत्रिम अन्तरिक्ष उपग्रहों की टोह लेने वाला एक महत्त्वपूर्ण टोहक केन्द्र नैनीताल (उत्तर प्रदेश, भारत) स्थित उत्तर प्रदेश सरकार की वेधशाला में है। इसकी स्थापना १९५७-५८ में कैम्ब्रिज (मैसाचूसेट्स, अमेरिका) स्थित स्मिथसोनियन एस्ट्रौफिजिकल आब्जरबेटरी के सहयोग से की गई।

इसी प्रकार का एक दूसरा टोहक केन्द्र—एक टेलिमीटरी स्टेशन भौतिक अनुसंधानशाला की देख-रेख में अहमदाबाद में स्थित है। एक वातानुकूलित गाड़ी में स्थित इस चलते-फिरते टोहक केन्द्र की स्थापना नवम्बर, १९६१ में की गई थी और इसके लिए आवश्यक उपकरण एवं यन्त्र 'नैसा' द्वारा ही सुलभ किए गए हैं। इस चलते-फिरते टोहक केन्द्र की सबसे बड़ी उल्लेखनीय विशेषता एक विशिष्ट स्पर्श-दण्ड, एक अत्यन्त संवेदनशील रेडियो-संदेश ग्राहक यंत्र तथा एक अत्यन्त उच्चकोटि का रिकार्डिङ्ग यंत्र है। स्पर्श-दण्ड का मुख किसी भी दिशा कोण पर गुजरते हुए उपग्रह की ओर मोड़ा जा सकता है। रेडियो-यंत्र एक बार उपग्रह के संकेत को पकड़ लेने के बाद फिर उससे बराबर सम्पर्क बनाए रखता है तथा रिकार्डिङ्ग-प्रणाली यूनिट को एक सेकेण्ड के सौवें हिस्से तक बिल्कुल सही समय बताती है।

अन्तरिक्ष-वाहनों की टोह लेने के महत्त्व का पता तो इसी बात से भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि बिल्कुल सही कक्षा में स्थापित तथा उत्कृष्टतम और सूक्ष्मतम वैज्ञानिक उपकरणों से युक्त उपग्रह भी उस समय तक बिल्कुल व्यर्थ रहता है, जब तक यह विदित नहीं होता कि उसकी स्थिति क्या है और जब तक उसके द्वारा प्रेषित सूचना को पृथ्वी पर ग्रहण कर के रिकार्ड नहीं कर लिया जाता। रिकार्ड किए गए आँकड़ों को तथ्यों और आँकड़ों में परिवर्तित करना पड़ता है ताकि वैज्ञानिकगण अपने अन्तरिक्ष-परीक्षणों के परिणामों का विश्लेषण कर

सकें।

इस महत्वपूर्ण कार्य को पूरा करने के लिए गोडार्ड अन्तरिक्ष उड़ान केन्द्र (गोडार्ड स्पेस फ्लाइट सेण्टर) 'नैसा' के टोहक केन्द्र संजाल की धुरी (केन्द्र-विन्दु) के रूप में कार्य करता है। दूसरे शब्दों में, अमेरिका ने संसार के विभिन्न भागों में, जिनमें भारत भी शामिल है, उपग्रहों और समानव अन्तरिक्षयानों की टोह लेने के लिए जो टोहक-संजाल स्थापित किया है, जहाँ उनके द्वारा प्राप्त की गई समस्त सूचनाएं उक्त धुरी-केन्द्र पर पहुँचती हैं, जहाँ उनका अन्तिम अध्ययन और विश्लेषण किया जाता है।

नैनीताल में उपग्रहों और अन्तरिक्ष वाहनों की टोह लेने के लिए जिस टोहक-केन्द्र की स्थापना की गई है, वह अन्य दूरवीक्षण टोहक-केन्द्रों के समान ही लगभग इस प्रकार कार्य करता है—टोहक-केन्द्र को 'एस ए ओ' से केबिलों द्वारा उपग्रह के गुजरने के समय के बारे में तथा उससे सम्बन्धित अन्य टैक्निक्ल सूचनाएँ नियमित रूप से प्राप्त होती रहती हैं। तार प्राप्त होते ही केन्द्र तेजी से कार्य करना प्रारम्भ कर देता है। 'कोड' के रूप में प्राप्त सन्देश को अविलम्ब आंकड़ों में परिवर्तित किया जाता है। इसी बीच केन्द्र के एक दूसरे भाग में स्थित तीन टन वजन के विशालकाय 'बैकर-नून कैमरे' को अपना काम करने के लिए तैयार कर दिया जाता है। यह कैमरा पृथ्वी से २,५०० मील की दूरी पर दृष्टिगोचर ६ इंच या इससे अधिक व्यास की किसी भी चमकीली वस्तु का चित्र खींच लेने में समर्थ है। यह कैमरा इस प्रकार फिट किया जाता है ताकि लम्बाकार अथवा समानान्तर धुरियों पर चारों तरफ घूम सके। कैमरे के शटर के साथ एकक्वार्ट्ज-घड़ी फिट है जो एक सेकेण्ड के दस हजारवें भाग तक सही समय देती है।

उपग्रह के चित्र खींचने की तैयारी सूर्यास्त के उपरान्त ही प्रारम्भ हो जाती है। इस कार्य के लिए दो पर्यवेक्षक नियुक्त कर दिए जाते हैं। कैमरे के ऊपर की छत धीरे-धीरे एक ओर सरक जाती है और कैमरे के ३०″ व्यास के शीशे के ऊपर लगा कैनवास हटा लिया जाता है। इसके उपरान्त एक अत्यन्त संवेदनशील फिल्म कैमरे में लगा दी जाती है और शटर की गति निश्चित कर दी जाती है। उपग्रह के गुजरने से कुछ क्षण पूर्व ही कैमरे का स्विच दबा दिया जाता और कैमरा आकाश के उस क्षेत्र के विभिन्न भागों के, जहाँ से उपग्रह के गुजरने की सम्भावना रहती है, ५ मिनट तक चित्र उतारता रहता है। ये चित्र पहले से निर्धारित फ्रीक्वेन्सी पर लिए जाते हैं। यह फ्रीक्वेन्सी १ सेकेण्ड में एक से लेकर हर ३२ सेकेण्ड बाद एक तक हो सकती है। फिल्म के हर चित्र के एक्सपोजर का ठीक-ठीक समय एक यांत्रिक समय-प्रणाली की सहायता से फोटोग्राफिक फिल्म पर स्वतः ही अंकित होता रहता है।

उपग्रहों के चित्रों की पृष्ठभूमि में अनेक तारे भी दृष्टिगोचर रहते हैं। तारों और नक्षत्रों के बीच गतिमान उपग्रह की पहचान करने के लिए अत्यधिक सरल विधि अपनायी जाती है। यदि उपग्रह के कक्षा पथ की ओर उन्मुख कैमरे की गति उतनी कर दी जाए, जितनी गति से पृथ्वी अपनी धुरी पर चक्कर काटती है, तो तारे पिन-विन्दुओं जैसे और उपग्रह टूटती हुई रेखा जैसे दृष्टिगोचर होंगे। लेकिन, यदि कैमरे की गति को उपग्रह की गति के समकक्ष कर दिया जाए, तारे डैशों के आकार के तथा उपग्रह पिन-विन्दुओं जैसे दृष्टिगोचर होंगे।

रात्रि को चित्र उतारने के बाद फिल्म को सावधानी के साथ धोया जाता है। उन पर आए चित्रों का विशेषज्ञगण आकाश के विस्तृत चार्टों की सहायता से सावधानी के साथ अध्ययन करते हैं। इस अध्ययन से प्राप्त आँकड़े तार द्वारा 'एस ए ओ' प्रेषित कर दिए जाते हैं तथा इसके तुरन्त बाद ही

'एयरमेल' से फिल्म भी भेज दी जाती है। वहाँ पर इस फिल्म की अन्य केन्द्रों से प्राप्त फिल्मों तथा आँकड़ों को दृष्टि में रखते हुए अत्यन्त सावधानी से परीक्षा की जाती है।

पृथ्वी पर रहने वाला मानव अपने ग्रह को केवल अपनी आत्मनिष्ठ दृष्टि से देखता आया है, लेकिन उपग्रहों द्वारा पृथ्वी की परिक्रमा सम्भव हो जाने के बाद से उसे न केवल ब्रह्माण्ड में मौजूद अन्य ग्रहों और नक्षत्रों के बारे में एक नया दृष्टिकोण निर्धारित करने बल्कि अपनी इस छोटी-सी दुनिया को 'वस्तुनिष्ठ' दृष्टि से देखने में भी समर्थ बना दिया है। इसके फलस्वरूप अनेक पूर्व सिद्धान्त खण्डित हो गए हैं। यह बहु प्रचलित सिद्धान्त कि अन्तरिक्ष में पदार्थ निर्माण की प्रक्रिया धीमी गति से जारी रहती है, एक्सप्लोरर-११ द्वारा गलत सिद्ध कर दिया गया, जिसने यह सूचना प्रेषित की है कि उक्त मान्यता की पुष्टि के लिए अन्तरिक्ष में विकिरण की जो मात्रा होनी चाहिए, वह वहाँ नहीं है—इस मात्रा के केवल १ हजारवें भाग के बराबर विकिरण ही वहाँ पाया गया। एक्सप्लोरर-८ से यह सूचना प्राप्त हुई कि पृथ्वी से ६०० मील की ऊँचाई से लेकर १,५०० मील की ऊँचाई तक हीलियम गैस की एक परत मौजूद है। एक्सप्लोरर-१० से यह मालूम हुआ कि अन्तरिक्ष ग्रहों के मध्य स्थित चुम्बकीय क्षेत्र अनुमान से कहीं अधिक घने हैं। इसी उपग्रह से यह भी जानकारी प्राप्त हुई कि पृथ्वी से ४० हजार मील की दूरी पर पृथ्वी का चुम्बकीय क्षेत्र सूर्य के चुम्बकीय क्षेत्र में मिल जाता है। एक्सप्लोरर-१२ ने यह खोज की कि दो वानएलन विकिरण पट्टियाँ मिल कर एक ऐसे क्षेत्र का निर्माण करती हैं, जहाँ सूर्य से आने वाले शक्तियुक्त कण पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र में फँस जाते हैं। वैनगार्ड-१ और ट्रांजिट उपग्रहों की परिक्रमाओं से यह उल्लेखनीय सूचना प्राप्त हुई कि पृथ्वी का आकार बिल्कुल गोलाकार न होकर नासपाती जैसा है। इस जानकारी से पृथ्वी को ठीक-ठीक नापने में हमें सहायता मिलेगी।

अन्तरिक्ष में पृथ्वी की परिक्रमा करने वाले यन्त्र सज्जित उपग्रहों की बढ़ती हुई संख्या तथा ब्रह्माण्ड के अनेक रहस्यों के अध्ययन एवं उद्घाटन के हेतु प्रस्तावित अनेक अन्तरिक्ष-यात्राओं के कारण उपग्रह टोहन के कार्य का महत्त्व आज बहुत अधिक बढ़ गया है। इस विशाल, रोमांचकारी और चुनौती पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय कार्य में, ३१ जरी, १९६३ को जिसे प्रारम्भ ५ वर्ष पूरे हो जायँगे, भारत महत्त्वपूर्ण योग दे रहा है।

टोहक केन्द्र संजालों विषयक ज्ञातव्य

प्रथम टोहक केन्द्र संजाल ३१ जनवरी, १९५८ को अंतरिक्ष में प्रक्षिप्त एकसप्लोरर-१ नामक भू-उपग्रह की टोह लेने के लिए सचालित हुआ। इस संजाल के अंतर्गत, 'मिनिट्रेक' केन्द्र सम्मिलित थे, जो मुख्यतः पश्चिमी गोलार्द्ध में स्थापित थे। उसके बाद, अन्य संजाल स्थापित हुए, जिन्होने अमेरिका द्वारा प्रक्षिप्त भू-उपग्रहों और अंतरिक्ष वाहनों के लिए सही अर्थ में एक विश्वव्यापी टोहक संजाल और आँकड़ा-सचालन-प्रणाली का निर्माण किया है।

ये संजाल उन्मुक्त सहयोग के ढाँचे तथा अंतरिक्ष अनुसन्धान में रुचि और योग्यता के विस्तार मे योग प्रदान करने का अपूर्व सुअवसर प्रस्तुत करते हैं। राष्ट्रीय उड्डयन एवं अन्तरिक्ष प्रशासन ने भिन्न-भिन्न १६ राजनीतिक क्षेत्रों में २८ समुद्रपारीय टोहक सुविधाएँ स्थापित कर रखी हैं। उनमें से लगभग दो तिहाई सुविधाएँ विदेशी नागरिकों की सहायता से संचालित हो चुकी हैं। राष्ट्रीय उड्डयन एवं अन्तरिक्ष प्रशासन के संजाल-केन्द्रों में से अनेक के संचालन का व्यय-भार सहयोग करने वाले राष्ट्र

सामान्यतः विदेशी पहले के प्रत्यक्ष परिणाम के रूप में, पूर्ण रूप से वहन करते हैं। प्रत्येक संजाल प्रत्येक प्रमुख अन्तरिक्ष कार्यक्रम की विशिष्ट आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए विशेष रूप में तैयार हुआ है।

१—अंतर्राष्ट्रीय भू-भौतिक वर्ष में स्थापित मिनिट्रैक संजाल मानव रहित वैज्ञानिक भू-उपग्रहों, जैसे वैनगार्ड और एक्सप्लोरर की गतिविधियों की टोह लेता और उनके द्वारा सम्प्रेषित आँकड़े एकत्र करता है। मिनिट्रैक केन्द्रों की संख्या ८ है, जो ७ राजनीतिक क्षेत्रों में स्थापित है।

२—गहन अन्तरिक्ष उपकरण सुविधाएँ (डीप स्पेस इन्स्ट्रूमेंटेशन फैसिलिटीज) ऐसे शक्तिशाली ट्रांसमीटरों और सम्वेदनशील रिसीवरों से सुसज्जित हैं जो चन्द्रमा तथा उससे आगे अन्तरिक्ष में उड़ान भरने वाले अन्तरिक्ष यानों से सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं।

३—मरकरी संजाल का निर्माण मरकरी योजना की विशिष्ट आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए हुआ। यह संजाल मिनिट्रैक की अपेक्षा तीव्रतर गति से आँकड़े ग्रहण करने और टोह लेने में समर्थ है। यह संजाल प्रक्षेपण-काल से लेकर भूमि पर उतरने के समय तक, मरकरी खोल (कैप्स्यूल) के लगातार भू-सम्पर्क, जाँच-पड़ताल और संचार-सम्पर्क बनाये रखने की व्यवस्था करता है ताकि अन्तरिक्ष यात्री की सुरक्षा का निश्चित आश्वासन प्राप्त रहे। इस प्रकार के कुल ८ भू-स्थित मरकरी केन्द्र अमेरिका के बाहर ७ राजनीतिक क्षेत्रों में स्थापित हैं।

४—स्मिथसोनियम खगोल-भौतिक वेधशाला

टोहक-संजालों में अन्य देशों का सहयोग

देश	मरकरी	मिनिट्रैक	डीप स्पेस	ऑप्टिकल
अर्जेण्टाइना				+
आस्ट्रेलिया	++(२)	+	+	+
बरमूडा (ब्रिटेन)	+			
ब्राजील		+		
कनाडा		+		
कैण्टन द्वीप (ब्रिटेन)	+			
चिली		++(२)		
कुराको (हालैण्ड)				+
इक्वेडोर		+		
इंग्लैण्ड		+		
भारत				+
ईरान				+
जापान				+
मैक्सिको	+			
नाइजीरिया	+			
पेरू		+		+
दक्षिण अफ्रीका गणतन्त्र		+	+	+
स्पेन	+			+
जंजीबार (ब्रिटेन)	+			
कुल केन्द्र	८	९	२	९

की स्थापना राष्ट्रीय उड्डयन एवं अन्तरिक्ष प्रशासन के एक अनुदान द्वारा हुई है। यह 'बेकर-नन' दूरवीक्षण-कैमरों की एक विश्वव्यापी प्रणाली का संचालन करती है। यह दर्शन-टोह (ऑप्टिकल ट्रैकिंग) भूमि पर स्थित रेडियो स्टेशनों के लिए एक प्रोत्साहक-प्रणाली का कार्य सम्पन्न करती है। यह वायुमण्डलीय घनत्व के विषय में सूचना प्रदान करती है और पृथ्वी पर दूरियों के सही-सही निर्धारण में प्रयुक्त होती है। अमेरिका के बाहर ६ देशों में 'बेकर-नन' केन्द्र स्थापित है।

इन संजालों की स्थापना और इनके संचालन की व्यवस्था, १९५८ के राष्ट्रीय उड्डयन एवं अन्तरिक्ष अधिनियम में निहित है। उस अधिनियम द्वारा अमेरिकी काँग्रेस ने राष्ट्रीय उड्डयन एवं अन्तरिक्ष प्रशासन पर यह उत्तरदायित्व सौंपा कि वह 'इस अधिनियम के अनुरूप किये जाने वाले कार्यों में तथा उनके परिणामों के शान्तिपूर्ण उपयोग में—अन्य राष्ट्रों और राष्ट्र-समूहों के साथ' सहयोग करते हुए सहकारी अन्तरिक्ष कार्यक्रम कार्योन्वित करे।

इस समय राष्ट्रीय उड्डयन एवं अन्तरिक्ष प्रशासन ने ५८ देशों के साथ सहकारी कार्यक्रम संचालित कर रखे हैं। इन कार्यक्रमों के अंतर्गत निम्नलिखित सम्मिलित हैं :

१—**सहकारी परियोजनाएँ**—इनका उद्देश्य संयुक्त रूप से भू उपग्रहों और ध्वनिकारी राकेटों को अन्तरिक्ष में प्रक्षिप्त करना और मौसम, संचार तथा भूमि पर अयनमण्डलीय अनुसन्धान सम्बन्धी विविध प्रकार के अनुसन्धान कार्य सम्पन्न करना है।

२—**संचालन सहायता**—उपर्युक्त टोहक केन्द्रों को संचालित करने में सहायता प्रदान करना।

३—**कर्मचारियों का आदान-प्रदान**—इसके अन्तर्गत, सहकारी परियोजनाओं में राष्ट्रीय उड्डयन एवं अन्तरिक्ष प्रशासन के साथ कार्य करने वाले उच्च विदेशी वैज्ञानिकों के लिए सहायता-वृत्तियों की व्यवस्था; विदेशी राष्ट्रीय अंतरिक्ष समितियों की ओर से भेजे गये स्नातक वर्ग के छात्रों के लिए चुने-चुनाये अमेरिकी विश्वविद्यालयों में अध्ययन के उद्देश्य से अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन-वृत्तियों की व्यवस्था; तथा विशिष्ट सहकारी परियोजनाओं से संबद्ध विदेशी वैज्ञानिकों के लिए कार्य-प्रशिक्षण की व्यवस्था सम्मिलित है।

●●
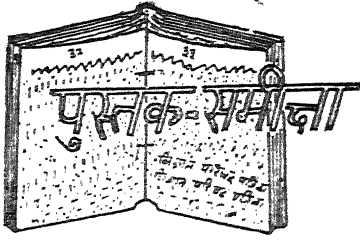
पशुपालन, जनवरी १९६३, भरतीय कृषि अनुसन्धान परिषद् द्वारा प्रकाशित त्रैमासिक। वार्षिक मूल्य चार रुपये। एक प्रति का मूल्य १ रुपया।

राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम से विज्ञान के विविध अंगों की प्रगति को सामान्य जनों तक पहुँचाने के उद्देश्य से भारत सरकार ने विविध पत्रिकाओं का प्रकाशन आरम्भ किया है। इसी दिशा में सबसे नूतन प्रयास है पशुपालन सम्बन्धी जानकारी को कृषकों तक पहुँचाने के लिए भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद् द्वारा प्रकाशित एक नवीन त्रैमासिक पत्रिका, "पशुपालन"। पत्रिका का नाम विषय के सर्वथा अनुरूप है। भारतीय पशुओं, पालतू जानवरों और पशुजात सम्पत्ति के विभिन्न पक्षों पर वैज्ञानिक एवं आधिकारिक सूचनायें प्रस्तुत करने के क्षेत्र में यह पत्रिका अग्रणी सिद्ध होगी, इसमें सन्देह नहीं। पशुपालन जैसे सामान्य विषय पर हिन्दी में अभी तक कोई पत्रिका नहीं निकलती थी। केन्द्रीय सरकार ने 'पशुपालन" के प्रकाशन द्वारा इस अभाव की पूर्ति के लिए ठोस कदम उठाये हैं। यदि हम यह कहें कि पशुपालन क्षेत्र में हिन्दी की यह प्रथम वैज्ञानिक पत्रिका है तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी। यह पत्रिका पशुपालन विषय को पढ़ने वाले विद्यार्थियों, पशुपालन सम्बन्धी समस्याओं पर शोध करने वाले व्यक्तियों एवं सामान्य कृषकों को समान रूप से प्रेरणा प्रदान करने में समर्थ होगी।

यह 'पशुपालन' का प्रथम अंक ही इसकी भविष्य की रूपरेखा को स्पष्ट कर देता है। आकर्षक रंगीन आवरण पृष्ठ, भीतर अनेकानेक चित्रों से युक्त अधिकारी विद्वानों के लेख, साफ-सुथरी छपाई, त्रुटियों का अभाव, सरल एवं सुबोध भाषा—ये सभी चीजें इस पत्रिका के उज्ज्वल भविष्य में सहायक हैं।

प्राचीन काल से ही हमारे देश में विभिन्न प्रकार के धनों में पशुधन को भी महत्त्व प्राप्त था। कृषि पराशर, कौटिल्य का अर्थशास्त्र अथवा बाद में घाघ-भड्डरी की कहावतों में पशुओं में से बैल, गाय आदि के प्रकारों उनकी रक्षा के उपायों, उनके भोजन आदि की सम्यक् चर्चा मिलती है। आधुनिक युग में आहार-विज्ञान तथा दुग्ध-विज्ञान की उन्नति के साथ ही पशुओं के समुचित भोजन एवं उनकी देखभाल पर काफी ध्यान दिया जाने लगा है। कृषकों को इन्हीं वैज्ञानिक प्रगतियों से परिचित बनाये रहने के लिए "पशुपालन" लाभदायक सिद्ध होगा।

इस नवीन प्रयास के लिए सम्पादक को अनेकानेक बधाइयाँ। आशा है अगले अंक समय से प्रकाशित होकर पाठकों को उपलब्ध होते रहेंगे और पत्रिका में पशुपालन सम्बन्धी सर्वाङ्गीण सामग्री को स्थान मिलता रहेगा।

विज्ञान वार्ता

१. पृथ्वी पर जीवन का प्राचीनतम प्रमाण

वाशिंगटन के कार्नेगी संस्थान के एक वैज्ञानिक ने अपनी रिपोर्ट में इस बात का प्रमाण प्रस्तुत किया है कि पृथ्वी पर कम से कम २७० करोड़ वर्ष पूर्व पौध जीवन का अस्तित्व था।

पृथ्वी पर प्रादुर्भूत प्रथम जीव की आयु का जो अनुमान इसके पूर्व लगाया गया था, वह इससे १०० करोड़ वर्ष कम था।

डा० टी० सी० होरिंग ने अपनी रिपोर्ट में बताया कि प्राचीन जीवन का जो नया प्रमाण प्राप्त हुआ है, उसके अन्तर्गत 'एलगा' नामक एक कोषीय हरे पौधों के, जो आजकल तालाबों में फेन के रूप में दिखलायी पड़ते हैं, रासायनिक अवशेष सम्मिलित हैं। इन सामान्य रासायनिक अवशेषों की खोज पृथ्वी पर पायी गयी प्राचीनतम तलछटी चट्टान से की गयी है जो दक्षिणी रोडेशिया से लाया गयी है। इस खोज की सूचना कार्नेगी संस्थान की ६० वीं वार्षिक रिपोर्ट में दी गयी है। वैज्ञानिकों का मत है कि पृथ्वी स्वयं लगभग ४५० करोड़ वर्ष पुरानी है। कार्नेगी संस्थान की रिपोर्ट में जिन अन्य महत्त्व-पूर्ण बातों पर प्रकाश डाला गया है, वे हैं :

सृष्टि की बाह्यतम द्रष्टव्य सीमा कम से कम कई हजार करोड़ प्रकाश-वर्ष की दूरी पर स्थित है। एक प्रकाश-वर्ष उस दूरी का प्रतीक है, जिसे प्रकाश १,७६,३०० मील प्रति सेकेण्ड की गति से चल कर एक वर्ष में तय करता है।

आकाश गंगा की नक्षत्रावली, जिसमें हमारे सूर्य के अतिरिक्त लगभग १०,००० करोड़ अन्य सितारे भी सम्मिलित हैं, लगभग १,००० करोड़ वर्ष प्राचीन है।

पृथ्वी पर पायी जाने वाली धातुएँ और अन्य भारी तत्त्व सूर्य से तथा उससे भी दूरस्थ 'सुपरनोवा' नामक प्रस्फुटित नक्षत्रों से पृथ्वी पर आये।

'डी एन ए' (डिऑक्सीरिबोन्यूक्लिइक एसिड) व्यूहाणुओं को तौलने में पहली बार सफलता मिली है। उसका व्यूहाणविक भार पानी जैसे साधारण व्यूहाणु की अपेक्षा ८·४ करोड़ गुना अधिक है।

पृथ्वी स्थित राडारों और रेडियो-दूरवीक्षण यन्त्रों से प्राप्त नये प्रमाण से यह संकेत मिलता है कि शुक्र ग्रह के वायुमण्डल का तापमान बहुत परिवर्तित होता रहता है।

२. पौध रोगों पर नियन्त्रण की नवीन विधि

अमेरिका के अनेक पश्चिमी राज्यों में अंगूर की लताओं तथा अन्य पौधों में लगे हुए रोगों की रोकथाम के लिए पौधों को चरने वाले झींगुरों (वीविल) का प्रयोग किया जा रहा है और उनकी संख्या बढ़ायी जा रही है। पौधों में लगने वाले इन रोगों से किसानों को भारी आर्थिक हानि उठानी पड़ती है। इस प्रकार के रोग से शहरों में भी पेड़-पौधों को काफी क्षति होती है। अमेरिकी कृषि विभाग द्वारा संचालित इस अभियान में इधर हाल में न्यू-मैक्सिको राज्य भी सम्मिलित हो गया है। इस राज्य के कृषि-विभाग को झींगुरों की संख्या बढ़ाने सम्बन्धी कार्यक्रम को संचालित करने के लिए संघीय

कृषि-विभाग कर्मचारियों की टोली सहायता प्रदान कर रही है। इसके साथ ही कैलिफोर्निया एरिजोना में इनके प्रजनन को बढ़ावा देने के लिए अनेक क्षेत्र निर्धारित कर दिये गये हैं, जहाँ पौधों के रोगों की रोकथाम में अत्यधिक सफलता मिली है।

अमेरिका में झींगुरों की इस किस्म को इटली से लाया गया है। किन्तु लाने के पहले इसकी अच्छी तरह परीक्षा कर ली गयी थी।

३. जुगनुओं के प्रकाश का रहस्योद्घाटन

बरसात और गर्मी के मौसम में रात के समय देहातों में जुगनुओं के चमकते-बुझते प्रकाश से सभी लोग परिचित हैं। किन्तु सदियों से उनका यह प्रकाश मनुष्य के लिए जटिल पहेली बना हुआ है।

सैकड़ों वर्षों से वैज्ञानिक इस रहस्य का उद्घाटन करने के लिए प्रयत्नशील हैं कि यह प्रकाश किस प्रकार उत्पन्न होता है और किसी जीव को इस प्रकार का प्रकाश उत्पन्न करने की क्षमता से क्या लाभ होता है। किन्तु पिछले कुछ वर्षों से इस दिशा में अनुसन्धान की प्रगति तीव्रतर हो उठी है। इस प्रकार, अनुसन्धान करने वाले वैज्ञानिकों ने जुगनुओं के अनेक रहस्यों का उद्घाटन करने में सफलता पायी है। हाल के अनुसन्धान का अधिकांश दशाब्दों पूर्व किये गये प्रारम्भिक अध्ययनों पर आधारित है।

जीवद्युति (बायोल्युमिनिसेन्स) नामक इस प्रकाश के अध्ययन की दिशा में प्रारम्भिक प्रयास करने वाले वैज्ञानिकों में एक थे—फ्रांस के शरीर-वैज्ञानिक रैफैल डुबोई, जो १९ वीं शताब्दी में हुए। शंख की एक द्युतिमान किस्म का अध्ययन करने के सिलसिले में डुबोई ने जीव-द्युति की प्रक्रिया से सम्बद्ध दो मूलभूत तत्त्वों की खोज की। उन्होंने इन तत्त्वों को 'ल्यूसिफेरिक' और 'ल्यूसिफेरस' की संज्ञा दी। ये दोनों शब्द 'ल्यूसिफर' शब्द के आधार पर गढ़े गये, जिसका अर्थ है द्युतिमान या प्रकाश-वहन करने वाला।

डुबोई की खोजों का अनुसरण करते हुए, प्रिंस्टन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर स्वर्गीय ई० न्यूटन हार्वे ने खोज करके यह प्रदर्शित किया कि प्रकाश का निस्सरण 'इन्जाइम' (जीवाणविक पदार्थ जो पौधों या जीवों में रासायनिक परिवर्तन उत्पन्न करने में योग देता है) से सम्बद्ध प्रक्रिया है। उन्होंने अनेक प्रकार के जीवों में ल्यूसिफेरिक-ल्यूसिफेरस प्रतिक्रियाओं का वर्णन किया और यह प्रदर्शित किया कि ये प्रतिक्रियाएँ विभिन्न प्रकार की हैं।

जोन्स हौपकिन्स विश्वविद्यालय के दो जीव-रसायनशास्त्रियों ने 'सायंटिफिक अमेरिकन' नामक पत्रिका के हाल के एक अंक में प्रकाशित एक लेख में, इस समय उपलब्ध जीव-द्युति सम्बन्धी अधिकांश जानकारी प्रस्तुत की है। इसमें इस वैज्ञानिक कल्पना का भी उल्लेख हुआ है कि विकास के क्रम में जीव-द्युति का उद्भव किस प्रकार हुआ।

जोन्स हौपकिन्स विश्वविद्यालय के जीव-विज्ञान-विभाग के अध्यक्ष, डा० विलियम डी० मैक् एलरोय, और जीव-विज्ञान के अनुसन्धान-सहायक, डा० होवर्ड एच० सेलिगर ने अपनी रिपोर्ट में बताया है कि 'जीव-द्युति की प्रक्रिया में निहित प्रमुख चरणों की पुष्टि हो चुकी है, इसकी क्षमता को नाप लिया गया है और इसमें सम्मिलित मुख्य तत्त्वों को पहचान लिया गया है।'

डा० मैक् एलरोय और जोन्स हौपकिन्स में उनके सहयोगियों ने स्वयं अपनी प्रयोगशाला में जुगनू के 'ल्यूसिफेरिक' को पृथक करने में सफलता प्राप्त कर ली है। हौपकिन्स के रसायन-विभाग के डा० एमिल ह्वाइट के सहयोग में कार्य करते हुए, उन्होंने इस तत्त्व के रासायनिक ढाँचे का निर्धारण कर लिया है और तत्सम्बन्धी घोल को समन्वित करके अपने परिणामों की जाँच कर ली है। उन्होंने यह प्रदर्शित कर दिया है कि उपयुक्त स्थितियों में यह तत्त्व चमकने लगता है। इसी प्रकार, उन्होंने 'ल्यूसिफेरस' को भी पृथक् कर लिया है।

जीव-द्युति की एक विचित्र विशेषता यह है कि जिन जीवों में प्रकाश के निस्सरण की क्षमता पायी जाती है, उनकी किस्में विविध प्रकार की हैं। सुपरिचित जुगनुओं के अतिरिक्त, इस कोटि के जीवों में अनेक प्रकार के सूक्ष्म कीटाणु फफूँद, स्पंज, कीड़े और अनेक समुद्री जीव, जैसे शंख, घोंघे तथा कई प्रकार की मछलियाँ सम्मिलित हैं।

डा० मैक् एलरोय और सेलिगर ने अपनी रिपोर्ट में बताया है कि अधिक विकसित जीवों से निकलने वाला नैसर्गिक प्रकाश कई व्यावहारिक कार्य सम्पन्न करता है। जुगनू में यह प्रकाश-निस्सरण समागम या मैथुन का सूचक होता है, गहरे समुद्र की मछली के लिए यह एक प्रलोभन सिद्ध होता है, और कुछ मछलियों और समुद्री. जीवों के लिए यह एक संरक्षक आवरण का काम देता है। कुछ निम्नतर जीवों में इस प्रकार के प्रकाश के उद्देश्य का पता आसानी से नहीं चलता। वस्तुतः, प्रकाश करने वाले कीटाणुओं और फुफूँदों को ऐसी परिस्थितियों में विकसित करना सम्भव है, जिनमें प्रकाश का स्वतः प्रादुर्भूत होना कठिन है। इस प्रकार की परिस्थितियों में विकसित होने पर भी उनके विकास या उनकी शक्ति पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता।

इस सामान्य वैज्ञानिक विश्वास के आधार पर कि पृथ्वी पर जीवन के प्रारम्भिक रूपों का विकास ऑक्सीजन के अभाव में हुआ और आदि कालीन जीवों के लिए ऑक्सीजन का अस्तित्व विषैला सिद्ध हुआ, जोन हौपकिन्स के वैज्ञानिकों ने यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि प्रारम्भ में जीव-द्युति उन रासायनिक प्रतिक्रियाओं के साथ प्रादुर्भूत हुई, जिन्होंने इन जीवों की प्रणालियों से ऑक्सीजन का उन्मूलन किया।

बाद में, जब जीवों ने ऑक्सीजन का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया, तो प्रकाश की ऑक्सीजन-उन्मूलक प्रतिक्रिया अनावश्यक हो गयी, किन्तु, फिर भी, वह आसानी से लुप्त नहीं हुई। इस व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि बहुत से जीवों में कोई कार्य न सम्पन्न करने पर भी जीव-द्युति पायी जाती है।

जीव-वैज्ञानिकों का कहना है कि उनके निष्कर्ष केवल 'तर्क-संगत अनुमान' हैं, जो वर्तमान जानकारी पर आधारित हैं। उन्हें आशा है कि भविष्य में अनुसन्धान की प्रगति के फलस्वरूप वे रहस्यपूर्ण जीव-द्युति सम्बन्धी और भी रहस्यों का उद्घाटन करने में सफल रहेंगे।

४ शिशु रोग और नया आहार

संसार में अतिसार सम्बन्धी रोगों से प्रति वर्ष लगभग ५० लाख शिशु काल-कवलित हो जाते हैं। अधिकांशतः दरिद्रता से पीड़ित क्षेत्रों में यह रोग अत्यन्त घातक सिद्ध होता है।

मृत्यु के मुख्य कारण के रूप में इन रोगों का उन्मूलन केवल उसी दशा में होता है, जब कोई समाज रहन-सहन और सफाई का सामान्यतः उच्च स्तर प्राप्त कर लेता है। क्या इस कारण होने वाली मृत्यु की संख्या को आर्थिक और सफाई सम्बन्धी स्तरों में सुधार की प्रतीक्षा किये बगैर कम करने का कोई उपाय सम्भव है?

अमेरिका के चिकित्सा-वैज्ञानिक, डा० अलबर्ट बी० सैबिन, जिन्होंने पक्षाघात का मुख से खाया जा सकने वाला टीका विकसित किया, यह मानते हैं कि यदि शिशुओं के जीवन के प्रथम दो वर्ष के दौरान उन के आहार की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया जाये, तो अतिसार सम्बन्धी रोगों से होने वाली शिशुओं की मृत्यु की संख्या बहुत कम हो सकती है।

उन्होंने अपने प्रस्ताव पर एक निबन्ध में विचार व्यक्त किया, जिसे उन्होंने 'अल्प-विकसित क्षेत्रों के लाभार्थ विज्ञान और टैकनोलॉजी के प्रयोग' सम्बन्धी संयुक्तराष्ट्र-संघीय सम्मेलन में प्रस्तुत किया। यह सम्मेलन इस समय जेनीवा में चल रहा है।

डा० सैबिन का कहना है कि अतिसार सम्बन्धी रोगों के कई कारण हैं। उन रोगों को जन्म देने वाले

[शेषांश पृष्ठ ३२ पर]

सम्पादकीय

१. हिन्दी की भर्त्सना और अँग्रेजी-प्रेम

यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन के सदस्य डा० महाजनी ने गत ५ मार्च को प्रयाग विश्वविद्यालय के वाणिज्य संघ के विद्यार्थियों के समक्ष भाषण करते हुए स्कूलों में दीर्घकाल तक अँग्रेजी पढ़े जाने की सिफारिश की। साथ ही नूतनतम शोधों से परिचित कराने के लिए शोधछात्रों को हिन्दी सीखने की सलाह दी।

डा० महाजनी ने ये विचार व्यक्त किये कि हिन्दी को शिक्षा के माध्यम के रूप में स्वीकार करने पर कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित होंगी, विशेषतः उन छात्रों को जो एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में जाते हैं अथवा विश्व-विद्यालयों में ख्यातिलब्ध अध्यापकों एवं प्रोफेसरों की नियुक्ति की जाती है। यही नहीं, यदि केन्द्रीय अथवा प्रादेशिक जन-सेवा आयोगों की स्पर्धाओं में अँग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को मान्यता प्रदान करने से प्रतिद्वंदियों में वरेण्यता का निर्धारण कर पाना कठिन हो जावेगा।

डा० महाजनी ने आगे यह भी कहा कि मध्यम वर्ग के लोग उच्च नौकरियों में स्थान इसीलिए नहीं प्राप्त कर पाते क्योंकि प्रथम कोटि के सरकारी अफसरों के पुत्र मिशन स्कूलों में अँग्रेजी के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करते रहते हैं और उन्हें ऐसी शिक्षा दी जाती है कि आगे चलकर वे उच्च स्थान ग्रहण कर लें। इसके उपचार के लिए उन्होंने प्रस्तावित किया कि ७ वर्ष की आयु से ही स्कूलों में अँग्रेजी का अध्ययन हो और अँग्रेजी में वार्तालाप करने में विशेष बल दिया जाय।

वैज्ञानिक विषयों को अंग्रेजी के माध्यम से पढ़ाये जाने की उन्होंने जोरदार अपील की। उन्होंने यह स्वीकार किया कि अंग्रेजी साहित्य का प्रादेशिक भाषाओं में अनुवाद करना उपयोगी सिद्ध हो सकता है किन्तु गणितीय सूत्र अथवा रासायनिक समीकरणों का हिन्दी-करण वृथा होगा।

डा० महाजनी के विचारों से हमें ऐसा लगता है कि वे शिक्षा के मूल उद्देश्य को उच्च नौकरी की प्राप्ति ही समझते हैं। शिक्षा का उद्देश्य अत्यन्त व्यापक है और यदि शिक्षा देश की राष्ट्र-भाषा के माध्यम से दी जाती है तो इसमें सन्देह नहीं कि हम उन तमाम छिपी हुई प्रतिभाओं को ऊपर लाने में सहायक होते हैं जो अन्यथा वृथा पड़ी रहतीं। एक बार राष्ट्र भाषा स्वीकार हो जाने पर वैज्ञानिक कार्यों में हिन्दी प्रयुक्त न करना हिन्दी के प्रति अन्याय ही नहीं होगा वरन् अन्याय होगा उन तमाम भारतीयों के प्रति जो हिन्दी के ही माध्यम से शिक्षा ग्रहण करने में समर्थ हैं जो मिशन स्कूलों में पढ़ने के लिए धन नहीं जुटा सकते, उच्च नौकरी में नहीं जाना चाहते, किन्तु विज्ञान की सेवा करना चाहते हैं।

जो लोग अँग्रेजी का समर्थन करते हैं वे हिन्दी की सामर्थ्य से अनभिज्ञ बने रह कर ही ऐसा कर रहे हैं। इंटरमीडिएट तक की कक्षाओं के लिये आवश्यक वैज्ञानिक पाठ्य-क्रम का सृजन हो चुका है। हाँ विश्व-विद्यालय अभी यह नहीं तै कर पा रहे हैं कि अँग्रेजी और हिन्दी दोनों में से कौन सी राष्ट्रभाषा है। यही कारण है कि विद्यार्थियों को बड़ी असुविधा होती है। विश्वविद्यालयों को चाहिए कि हिन्दी की सामर्थ्य एवं

शक्ति को पहचानें। अभी ही काफ़ी विलम्ब हो चुका है और आगे सोने की आवश्यकता नहीं है।

२. एक सुखद समाचार

केन्द्रीय गृह मंत्रालय ने यह निश्चय किया है कि भविष्य में जितने भी सरकारी वैज्ञानिक संस्थान हैं उनका निर्देशन लब्ध-प्रतिष्ठ वैज्ञानिकों के ही द्वारा होगा। अभी तक इन संस्थानों की देख-रेख भारतीय शासन-सेवा द्वारा नियुक्त अधिकारी किया करते थे।

इस नवीन व्यवस्था के कारण भारतीय वैज्ञानिकों को कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता हो जावेगी और वे उस शासकीय नियन्त्रण से मुक्त हो जावेंगे जिसके वे शिकार होते रहे हैं। प्रायः शासकीय सेवा के उच्चाधिकारी वैज्ञानिकों के कार्यों में विविध प्रकार के हस्तक्षेप किया करते थे जिससे वैज्ञानिक असन्तुष्ट रहते थे। इस नवीन व्यवस्था से भारत के बाहर गये हुए अनेक वैज्ञानिकों के देश वापस आने की सम्भावना बढ़ गयी है।

ऐसा मुक्त वातावरण निश्चित रूप से वैज्ञानिक क्षेत्र में भारतीय वैज्ञानिकों को अधिकाधिक कार्य करने की प्रेरणा प्रदान करेगा और यदि निष्पक्ष भाव से वैज्ञानिकों की नियुक्ति होती रही, तो कुछ ही वर्षों में भारत आगे बढ़ जावेगा।

●●

[पृष्ठ ३० का शेषांश]

कीटाणु और विषाणु गन्दे हाथों वाले लोगों द्वारा बच्चों में पहुँच जाते हैं। बहुत से बच्चों को ऐसा आहार मिलता है, जो कीटाणुओं से भरा होता है। आहार में पूरा पोषक तत्त्व न प्राप्त करने वाले बच्चों पर—उन बच्चों पर, जिन्हें स्वच्छ, शरीर को शक्ति प्रदान करने वाला और सन्तुलित आहार प्राप्त नहीं होता—अतिसार उत्पन्न करने वाले कीटाणुओं का प्रभाव विशेष रूप से पड़ता है।

डा० सैबिन ने बताया है कि आर्थिक दृष्टि से विकसित देश अनेक पक्षों से इस समस्या पर कुठाराघात करके अतिसार से होने वाली शिशु-मृत्यु को कम करने में स्पष्टतः सफल हुए हैं। ऐसा करने में अनेक बातों की आवश्यकता है, जैसे अधिक और श्रेष्ठतर आहार, श्रेष्ठतर आवास, प्रचुर मात्रा में शुद्ध जल, सफाई के प्रसाधनों की सुलभता, स्वास्थ्य-शिक्षा का उच्च स्तर, दूध का शुद्धीकरण, घर पर वस्तुएँ ठण्डी करके रखने की व्यवस्था, चिकित्सोपचार में सुधार, माताओं को शिशु-पोषण की उचित शिक्षा।

ये रोग मुख्यतः अल्प-विकसित देशों में पाये जाते हैं। ये देश रहन-सहन और सफाई का ऐसा उच्च स्तर तत्काल प्राप्त करने में असमर्थ हैं, जो अतिसार के रोगों के उन्मूलन के लिए आवश्यक है। अतः डा० सेबिन यह सलाह देते हैं कि बच्चों को उचित आहार देकर इस रोग को उन्मूलित करने का प्रयत्न करना चाहिए।

विशेष रूप से उनका सुझाव है कि एक ऐसा आहार तैयार करना चाहिए जो दूध का स्थान ले सके। यह आहार सुरक्षित कीटाणुनाशक औषधियों तथा ऐसे अन्य तत्त्वों से तैयार होना चाहिए, जो गन्दी से गन्दी स्थितियों में भी कीटाणुओं को बढ़ने से रोक सके। यह आहार सस्ता, प्रोटीन और विटामिनों से युक्त तथा स्वादिष्ट होना चाहिए।

डा० सैबिन को पूरा विश्वास है कि आधुनिक विज्ञान और टेक्नोलॉजी इस प्रकार का आहार तैयार करने में सफल हो सकती है। इससे संसार के उन बच्चों को, जिन्हें उचित और पौष्टिक आहार नहीं मिल पा रहा है, स्वास्थ्यप्रद भोजन मिलने लगेगा।

●●

ाग ६७
ख्या २
शाख
२०२० वि०
ई १९६३

विज्ञान

ंक ४० न. पै.
क ४ रुपये

सम्पादक—डॉ० शिवगोपाल मिश्र

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

	मूल्य
१—विज्ञान प्रवेशिका भाग १—श्री रामदास गौड़, प्रो० सालिगराम भार्गव	३७ नये पैसे
२—वैज्ञानिक परिमाण—डा० निहालकरण सेठी	१ रु०
३—समीकरण मीमांसा भाग—१ पं० सुधाकर द्विवेदी	१ रु० ५० नये पैसे
४—समीकरण मीमांसा भाग २—पं० सुधाकर द्विवेदी	६२ नये पैसे
५—स्वर्णकारी—श्री गंगाशंकर पचौली	३७ नये पैसे
६—वर्षा और वनस्पति—श्री शंकरराव जोशी	३७ नये पैसे
७—व्यंग चित्रण—ले० एल० ए० डाउस्ट, अनुवादिका—डा० रत्न कुमारी	२ रुपया
८—तैरना डा० गोरख प्रसाद	१ रुपया
९—वायुमंडल की सूक्ष्म हवायें—डा० संत प्रसाद टंडन	७५ नये पैसे
१०—खाद्य और स्वास्थ्य—डा० ओंकार नाथ पर्ती	७५ नये पैसे
११—फल संरक्षण—डा० गोरख प्रसाद, वीरेन्द्र नारायण सिंह	२ रु० ५० नये पैसे
१२—शिशु पालन—श्री मुरलीधर बौड़ाई	४ रुपया
१३—मधुमक्खी पालन—श्री दयाराम जुगड़ान	३ रुपया
१४—घरेलू डाक्टर—डा० जी घोष, डा० उमाशंकर प्रसाद, डा० गोरख प्रसाद	४ रुपये
१५—उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर—डा० गोरखप्रसाद, डा० सत्यप्रकाश	३ रु० ५० न०पै०
१६—फसल के शत्रु—श्री शंकरराव जोशी	३ रु० ५० नये पैसे
१७—साँपों की दुनिया—श्री रामेश वेदी	४ रुपया
१८—पोर्सलीन उद्योग—श्री हीरेन्द्र नाथ बोस	७५ नये पैसे
१९—राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ	२ रुपये
२०—गर्भस्थ शिशु की कहानी—अनु० प्रो० नरेन्द्र	२ रुपया ५० नये पैसे
२१—रेल—इंजन परिचय और संचालन—श्री ओंकारनाथ शर्मा	६ रुपया
२२—भरतीय कृषि का विकास—डा० शिवगोपाल मिश्र	५ रुपया

अब आपके इन पुस्तकों के लिए सीधे निम्न पते पर पत्रव्यवहार करें क्योंकि अब लाला रामनारायण लाल बेनीप्रसाद हमारे एक मात्र वितरक नियुक्त हुए हैं।

मिलने का पता :

लाला रामनारायणलाल बेनीप्रसाद
कटरा, इलाहाबाद

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुख-पत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ।३।५।

भाग ९७ | बैशाख २०२० विक्र०, १८८५ शक, मई १९६३ | संख्या २

ऊर्जा का नवीन स्रोत—गैस

डा० जगदीश सिंह चौहान

सभ्यता के प्रारम्भ से ही मनुष्य आग और ईंधन के लाभ से परिचित थे और इसीलिए वे सूखी लकड़ी, सूखी पत्तियाँ आदि जला कर आग को प्रज्वलित रखते थे। सभ्यता की प्रगति के साथ-साथ मनुष्य ने ऊर्जा के अन्य स्रोत भी ढूँढ़ निकाले और उनका उपयोग ईंधन के रूप में करते रहे। पहले यह ऊर्जा जङ्गलों से मिलती थी, बाद में लोगों ने इसे वायु तथा पानी से भी प्राप्त किया और अब यह ऊर्जा भूगर्भ में विद्यमान कोयला, प्राकृतिक गैस तथा पेट्रोलियम से प्राप्त की जा रही है।

भारतवर्ष में ईंधन के रूप में प्रयोग की जाने वाली ऊर्जा के पर्याप्त स्रोत विद्यमान हैं। यदि उनका उपयोग नियमित योजना से किया जाय तो हमारे रहन-सहन के स्तर में बहुत आसानी से वृद्धि की जा सकती है और साथ ही साथ देश के औद्योगीकरण में पर्याप्त प्रगति की जा सकती है।

भारतवर्ष में ऊर्जा के स्रोत

भारतवर्ष में उपलब्ध ऊर्जा-स्रोतों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) प्राथमिक स्रोत तथा (२) द्वितीयक स्रोत। प्राथमिक स्रोतों में कोकवर्ती कोयला, अकोकवर्ती कोयला, लिग्नाइट, पेट्रोलियम, तेल तथा प्राकृतिक गैसें आती हैं। द्वितीयक स्रोतों में जलाने की लकड़ी, काठ कोयला और गोबर से बनाये हुए उपले (कण्डे) आदि मुख्य हैं।

अनुमानतः भारत में कोकवर्ती कोयला ४३०००००,००० टन परिष्कृत करके कोक के रूप में लाया जाने वाला कोयला, ६८००,०००,००० टन तथा अकोकवर्ती कोयला २०,०००,०००,००० टन है। इन कोयलों की खानें पश्चिमी बङ्गाल, महाराष्ट्र, आसाम, मध्य प्रदेश तथा आन्ध्र प्रदेश में फैली हुई हैं। लिग्नाइट मद्रास, राजस्थान, सौराष्ट्र तथा काश्मीर में पाया जाता

है। इसके अतिरिक्त पेट्रोलियम तथा तेल ४६०००,००० टन तथा प्राकृतिक गैस ७५६,०००,०००,००० घन फुट है। विद्युत भी ऊर्जा का प्राथमिक स्रोत है।

यह भली-भाँति विदित है कि भारतवर्ष में अधिकांश लोग आवश्यक ऊर्जा द्वितीयक स्रोतों से प्राप्त करते हैं। अब तक प्राप्त आँकड़ों के अनुसार भारत में १२०,०००,००० टन कोयले के तुल्य ऊर्जा घरों में व्यय हो जाती है। इसमें द्वितीयक स्रोतों से प्राप्त ऊर्जा का उपयोग ९०,०००,००० टन से भी अधिक है। इसमें ५०,०००,००० टन कोयले के तुल्य कण्डों से, ३३,०००,००० टन लकड़ी और काठ-कोयले से और १०,०००,००० टन अन्य स्रोतों से उपलब्ध होती है। इससे स्पष्ट है कि खाद के लिए उपयोगी गोबर का अनुचित उपयोग किया जा रहा है। साथ ही साथ लकड़ी काटने से हमारे वे वन भी कम होते जा रहे हैं जिनका रहना भारत जैसे कृषि-प्रधान देश के लिए अत्यावश्यक है। यह पता लगाया गया है कि रसोई घर में हम इतने कण्डे जला लेते हैं कि जिनका उपयोग यदि खाद के रूप में किया जाय तो प्रतिवर्ष लगभग ६०००,००० टन अनाज की पैदावार बढ़ सकती है। अनुमान लगाया गया है कि इस तरह से प्रतिवर्ष इतनी खाद कण्डों के रूप में जला डालते हैं जितनी सिंदरी का कारखाना १२ साल में उत्पन्न करेगा।

उद्योग तथा गृह-कार्यों में प्रयुक्त होने वाले ईंधन

इन ईंधनों को हम निम्न तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं :—

(१) **अकोकवर्ती कोयला**—इसका उपयोग निम्न रूपों में किया जा सकता है :—

(अ) गैस बनाकर, गैस पाइपों द्वारा उपभोक्ता तक पहुँचाया जा सकता है।

(ब) इसका कम ताप पर कार्बनीकरण करके इसमें उपस्थित मूल्यवान पदार्थों को निकालकर बचे हुए साफ्ट कोक को गृह-कार्यों में ईंधन के रूप में प्रयोग किया जा सकता है।

(स) इससे विद्युत उत्पन्न करके इसे ऊँचे विभव पर उपभोक्ताओं तक पहुँचाई जा सकती है।

(२) **प्राकृतिक गैस**—यह स्वयं गैस के रूप में अथवा इससे विद्युत उत्पन्न कर विद्युत के रूप में प्रयुक्त की जा सकती है।

(३) **पेट्रोलियम के उत्पाद**—इनका उपयोग निम्न प्रकार से किया जा सकता है :—

(अ) इसमें उपस्थित कच्चे नैफ्था को गैसीय रूप में, गैस-पाइपों द्वारा दूरवर्ती स्थानों में भेजा जा सकता है।

(ब) द्रव-पेट्रोलियम से गैस बनाकर इसका उपयोग ईंधन के रूप में किया जा सकता है। इस गैस के साथ एक अच्छी बात यह और है कि इसे बड़े-बड़े बर्तनों में बन्द करके दूर-दूर तक भेजा जा सकता हैं जहाँ से यह पाइपों द्वारा वितरित की जा सकती है।

गैस तथा विद्युत की अपेक्षा यद्यपि कोयले का परिवहन सस्ता पड़ेगा, परन्तु कोयले की कार्य-क्षमता कम होने के कारण इसका उपयोग गैस तथा विद्युत से सस्ता नहीं पड़ेगा। औद्योगीकरण की प्रगति तथा अपना रहन-सहन स्वास्थ्यप्रद तथा उच्चस्तरीय बनाने के लिए गैस का उपयोग अधिक सहायक हो सकता है। यदि इन ईंधनों की दहन-क्षमता पर ध्यान दिया जाय तो ज्ञात होगा कि इनका उपयोग करके हम ५० प्रतिशत से अधिक कोयला बचा सकते हैं। इसके साथ ही साथ गैस पर नियन्त्रण भी आसानी से किया जा सकता है।

लघु-उद्योगों में गैस का उपयोग

सस्ती गैस का उपयोग, आधुनिक युग में केवल घरों में ही नहीं बल्कि औद्योगिक क्षेत्रों में भी आवश्यक सा हो गया है। जहाँ कहीं भी उचित ताप का नियन्त्रण करना होता है और जिन क्षेत्रों में बनी हुई

वस्तुओं का मूल्य उनके बनाने में प्रयुक्त ईंधन के मूल्य से नियन्त्रित होता है, उन सभी क्षेत्रों में गैस का उपयोग आवश्यक हो गया है। ऐसे क्षेत्रों में छोटे-छोटे इंजीनियरिंग के उद्योग, रासायनिक उद्योग, बेकरीज आदि मुख्य हैं।

धातुकर्म तथा सीमेंट बनाने वाले कारखानों में भी गैस का उपयोग बड़ी बचत के साथ किया जा रहा है। वात-भट्टी में कोयले के स्थान पर गैस का प्रयोग करने से लगभग १२ से १६% तक कोयले की बचत हो सकती है और साथ ही साथ भट्टी की क्षमता में कुछ वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार इन भट्टियों में कोयले के स्थान पर गैस का प्रयोग करके हम कठोर कोयले (हार्डकोक) की बचत कर सकते हैं, और भट्टी की क्षमता बढ़ा सकते हैं। बहुत से सीमेंट के कारखानों में कोयले के स्थान पर गैस का उपयोग बहुत ही लाभदायक सिद्ध हुआ है।

घरों में गैस का उपयोग

घरों में गैस के उपयोग से अनेकों लाभ हैं। गैस के उपयोग से (१) घर साफ रहता है, (२) उपभोक्ता को इसे लाने और घर में कहीं रखने की आवश्यकता नहीं होती (३) इसकी कार्य-क्षमता अधिक है, (४) गैस पर आसानी से नियन्त्रण किया जा सकता है, (५) विकिरण द्वारा ऊष्मा का क्षय नहीं होता, (६) जलाने में कोई खर्च नहीं होता (७) कोयले तथा विद्युत की भाँति प्रारम्भ तथा अन्त में ऊष्मा का क्षय नहीं होता तथा (८) राख इत्यादि को बटोरने तथा फेंकने की कोई समस्या नहीं रहती।

गैस के उपयोग से प्रमुख लाभ तो यह है कि इसके उपयोग से धुआँ नहीं होता और हम इस कष्टप्रद असुविधा से बच जाते हैं। पूरा घर साफ रहता है और धुआँ न होने से काला नहीं पड़ता। ये सभी बातें स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। गैस का प्रयोग, विशेषतः गर्मियों में भट्टी की तरह गर्म रसोई घर में काम करने वाली 'गृह-लक्ष्मियों के लिए अत्यन्त सुविधा-जनक सिद्ध होगा। आग बुझ जाने पर उसे फूंककर जलाने में जो कष्ट तथा आँखों को हानि होती है वह भी गैस के उपयोग से नहीं होगी।

कोयले से चलाये जाने वाले बहुत से कारखानों में ईंधन के लिए प्रयुक्त गैस उपफल के रूप में प्राप्त होती है। इसका उपयोग घरों में बहुत आसानी से किया जा सकता है। इसीलिए भविष्य में योजना बनाते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कम से कम दो उद्योगों के साथ गैस-लाइन अवश्य सम्बन्धित कर दी जाय। ये दो उद्योग हैं, (१) कम ताप पर कार्बनी-करण करने वाले उद्योग तथा (२) संश्लेषण द्वारा तेल बनाने के उद्योग।

कोयले की गैस बहुत दिनों से बनाई जा रही है, परन्तु हानिकारक होने के कारण, कार्बन मोनॉक्साइड की अधिक मात्रा उपस्थित होने के कारण तथा उसका ऊष्मीय मान कम होने के कारण इसका उपयोग गृह-कार्यों के लिये उचित नहीं है। यदि इस गैस को और परिष्कृत कर दिया जाय तो इसका उपयोग गृह-कार्यों में हो सकता है। दाब के अन्दर कोयले का गैसीकरण करने से जो गैस बनती है उसका भी ऊष्मीय मान अधिक होता है और वे घरों में उपयोग के उपयुक्त होती हैं। सभी प्रगतिशील देश, कोयलों की खानों के पास उत्पादित गैस को गैस-लाइनों द्वारा दूरवर्ती नगरों तक पहुँचाते हैं।

भारतवर्ष में गैस-लाइन

फ्युएल रिसर्च इन्स्टीट्यूट वाले भारतवर्ष के बड़े-बड़े औद्योगिक नगरों में गैस-लाइन द्वारा गैस पहुँचाने की दिशा में अग्रसर हो रहे हैं। यदि गैस-लाइनों द्वारा एक स्थान पर उत्पादित गैस दूसरे स्थान पर पहुँचाई जाय तो इन्स्टीट्यूट के निदेशक डा० लहरी के अनुसार भारतवर्ष को निम्न पाँच भागों में बाँटा जा सकता है :—

१. सिन्दरी से कलकत्ता—इस क्षेत्र के लिये गैस, क्षेत्र में पाये जाने वाले घटिया कोयले से उत्पादित

गैस तथा भट्टियों में अवशेष गैस से प्राप्त की जायगी।

२. गंगा की घाटी—(सिंगरौली से दिल्ली तक)—सिंगरौली में उत्पन्न घटिया कोयले से उत्पादित गैस का उपयोग किया जायगा।

३. विजयवाड़ा से बम्बई—इस क्षेत्र के लिये गैस बनाने में, कोठागुड़िया में उत्पन्न कोयला तथा बम्बई के कच्चे नैफ्था का उपयोग किया जायगा।

४. मद्रास से त्रिवेन्द्रम—नेवेली के लिग्नाइट तथा भविष्य में प्राप्त होने वाले नैफ्था से गैस बनाई जायगी।

५. सूरत से अहमदाबाद—अखिलेश्वर की प्राकृतिक गैस इस क्षेत्र के काम में आ सकती है।

इनमें से जनसंख्या तथा औद्योगिक दृष्टिकोण से गंगा की घाटी की योजना अधिक महत्व की है। इसमें वाराणसी से दिल्ली तक के नगर तथा छोटे-छोटे कारखाने आते हैं। यदि हम इन सबकी आवश्यकता गैस द्वारा पूरी करना चाहें तो लगभग १००,०००,००० घन फुट गैस प्रति दिन व्यय होगी। योजना प्रारम्भ करने के लिये प्रतिदिन लगभग ३०,०००,००० घन फुट गैस का उत्पादन करना चाहिए जो दस या पन्द्रह साल में बढ़ते-बढ़ते १००,०००,००० घन फुट तक पहुँच जायगी।

गंगा की घाटी के लिये गैस के उत्पादन के लिये सबसे उपयुक्त स्थान सिंगरौली के कोयले की खानें हैं क्योंकि वहाँ पर शक्ति तथा पानी दोनों ही आसानी से उपलब्ध हैं। यहाँ पर उत्पन्न गैस पूरी घाटी में भेजी जा सकती है। यदि इस कोयले का गैसीकरण कम ताप पर किया जाय तो गैस के साथ-साथ कुछ अन्य बहुमूल्य पदार्थ भी प्राप्त होंगे और बचा हुआ कोयला साफ्ट कोक होगा जो गरीब लोगों के काम में आ सकता है। घर के कार्यों में जो गैस प्रयुक्त की जायगी, अनुमान है कि उसका मूल्य लगभग ४ से ५ रुपया प्रति १०० घन फुट होगा।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यदि गैस का उचित उपयोग किया जाय तो हम अभी जलावन के रूप में नष्ट होने वाली बहुत सी खाद बचा सकते हैं, जिससे हमारी खाद्य-समस्या पर्याप्त हल हो सकती है। साथ ही साथ हम अपने वनों की भी रक्षा कर सकते हैं जो हमारे कृषिप्रधान देश के लिये अत्यावश्यक हैं। इन सबके अतिरिक्त गैस के उपयोग से हमारे घर साफ रहेंगे, जो हमारे स्वास्थ्य के लिये प्राथमिक आवश्यकता है। रसोईघरों में कार्य करने वाली गृहणियों के लिये, हानिकारक धुएँ तथा कष्टप्रद गर्मी से बचने के लिये गैस का उपयोग बहुत ही लाभदायक सिद्ध होगा।

●●

डा० भाभा सम्मानित

अमेरिका की नेशनल एकेडमी आफ साइंसेज ने भारत के एण्टामिक इनर्जी कमीशन के चेयरमैन डा० एच० जे० भाभा को एकेडमी का "फारेन एसोशिएट" चुनकर सम्मान प्रकट किया है। यह पद अमेरिका से बाहर के वैज्ञानिकों के प्रति सर्वाधिक सम्मान का सूचक होता है।

भारत और चीन में कोयला और तेल

लेखक—एस० राजन
अनुवादक—जटाशंकर द्विवेदी

श्रेष्ठ अर्थ-व्यवस्था तथा सामरिक परिस्थितियों के अध्ययन की दृष्टि से कोयला और तेल दोनों ही भारत के लिये अत्यन्त मूल्यवान हैं। इस समय जब भारत को विवश होकर चीन से संघर्ष करना पड़ रहा है तब इन दोनों देशों के कोयला और तेल के साधनों का तुलनात्मक अध्ययन विशेष महत्वपूर्ण हो गया है। यह कहने में अतिशयोक्ति न होगी कि दोनों देशों की आपेक्षिक शक्ति का आकलन इस तुलनात्मक अध्ययन से किया जा सकेगा। साधनों से हमारा अभिप्राय उन पदार्थों से है जिन्हें या तो इस समय उपयोग में लाया जा रहा है या भविष्य में उपयोग में लाने की सम्भावना है। जब देश के साधनों के सम्बन्ध में कहा जाता है तो उसका अर्थ मुख्य रूप में कोयला, लोहा और पेट्रोल ही होता है। किन्तु ये साधन इन पदार्थों तक ही सीमित न होकर अन्य व्यवस्थाओं पर भी निर्भर करते हैं, यथा सामाजिक साम्य, राजनीतिक विचारधारा, ज्ञान, स्वतन्त्रता, स्वास्थ्य आदि। सच्चे अर्थों में साधनों में इन सभी ज्ञात और अज्ञात स्थितियों का सक्रिय समावेश रहता है। इसलिए जब हम इन साधनों से युद्ध में विजय पाने के लिए सोचें तो हमें कोयले और तेल के सब साधनों और उन सभी सम्बन्धित विषयों पर विचार करना होगा जो इन साधनों की उपलब्धि और प्रयोग से सम्बन्ध रखते हैं।

पेट्रोल

यद्यपि आण्विक शक्ति के उत्पादन में आशातीत प्रगति हुई है फिर भी अभी पर्याप्त समय तक आण्विक शक्ति तैलीय पदार्थों का स्थान पूर्णतया न ले सकेगी। अर्द्ध विकसित देशों की परिस्थितियों को देखते हुए औद्योगिक देशों की तुलना में तेल का स्थान अभी काफी समय तक महत्वपूर्ण रहेगा। इसलिए हमें इस समय तेल को विशेष महत्व देना होगा। पेट्रोल से प्राप्त आधे पदार्थ परिवहन में काम आते हैं। अधिकांश मोटरगाड़ियाँ यथा कारें, मोटर साइकिलें, ट्रकें अथवा वायुयान सभी गैसोलीन, डीजलतेल या किसी अन्य अवस्था में पेट्रोल को ईंधन के रूप में प्रयोग में लाते हैं। तैल पदार्थों के अतिरिक्त पेट्रोलियम पदार्थों का उपयोग भोज्य पदार्थों, औषधियों, वस्त्रों, आवास व्यवस्थाओं आदि में भी खूब किया जाता है। यह सबसे बड़ा स्नेहक है और मशीनों के ठीक से कार्य करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यह परिष्कारकों, नाइलान, संश्लिष्ट रबर, प्लास्टिक, खाद, मोम, डामर, संश्लिष्ट तन्तुओं के निर्माण में तथा अन्य अनेकों कामों में उपयोग में लाया जाता है।

कुछ आवश्यक घटक

आधुनिक युद्धों में गतिशीलता सबसे बड़े महत्व की है। तेल के अच्छे साधनों का अर्थ है अच्छी गतिशीलता और अच्छी गतिशीलता युद्ध की संतुलन क्रियाओं में ऐसा झुकाव उत्पन्न कर देती है जिससे युद्ध में विजय प्राप्त की जा सकती है। इसके अतिरिक्त पेट्रोलियम से टैंकों, वायुयानों, ट्रकों, जलयानों के लिए प्रचुर मात्रा में ईंधन और स्नेहक तो प्राप्त होते ही हैं साथ में शोलाफेंकों और अग्नि बमों के लिए ईंधन भी मिलता है। इससे बमों और खोलों के लिए आवश्यक टी-- एन -- टी के निर्माण के लिये टाल्वीन, तम्बुओं के जलादोधन के लिये विभिन्न यौगिक, हवाई अड्डों के अवतरण पथ के लिये डामर और घायलों की चिकित्सा के लिए प्रयुक्त मरहमों में काम आने वाले पदार्थ प्राप्त होते हैं। इन सब उपयोगों को देखकर पेट्रोलियम का महत्व आँका जा सकता है। ईरान तथा एशिया के तैल-क्षेत्रों में इंग्लैण्ड का स्वत्व

जर्मनी का सरदर्द बना हुआ था मेसोपोटामिया में जर्मनी के तैल हित ही द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रमुख कारण थे और कहा जा सकता है कि मित्र राष्ट्रों ने तेल की बाढ़ पर तैरकर विजय-श्री लाभ की। इस प्रकार तेल के कारण युद्ध भी होते हैं और युद्ध जीते भी जाते हैं। आधुनिक संसार में तेल की स्थिति को जे० एस० डेविड के इन शब्दों में संक्षेप में कहा जा सकता है :—"पेट्रोलियम ईंधन, स्नेहन और संवर्षण का सबसे बड़ा स्रोत है।"

भारत और चीन

यदि तेल के प्राप्य कच्चे माल की दृष्टि से भारत और चीन का तुलनात्मक अध्ययन करें तो हम देखेंगे कि दोनों देशों में से कोई भी देश संसार के १२ सर्वाधिक पेट्रोलियम पदार्थ उत्पादित करने वाले देशों में से नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि भारत के ४ लाख वर्गमील क्षेत्र में तेल पाये जाने की संभावना है जिसमें से केवल १ लाख वर्गमील के क्षेत्र में ही खोज की जा सकी है, फिर भी इस क्षेत्र में चीन भारत से आगे है। सारणी १ में भारत और चीन के कच्चे तेल-के उत्पादन की तुलनात्मक मात्रायें दी गयी हैं। चीन का उत्पादन सदैव ही भारत से अधिक रहा है। चीन में तिब्बत के विलय से चीन के तैल-स्रोतों में और वृद्धि हो जावेगी। फिर भी यदि संतुष्ट होने के लिए कोई कारण नहीं है तो निराश होने की भी आवश्यकता नहीं। सारणी २ में तेल स्रोतों की वृद्धि और अनुसंधान-कार्य का सम्बन्ध दिखाया गया है। अनुसंधान के लिए खोदे गये नलकूपों की संख्या और तेल उत्पादन में वृद्धि का यदि हम मिलान करें तो यह स्पष्ट हो जावेगा कि उत्पादन में वृद्धि की माप अनुसंधान की तीव्रता है। इसलिए भारत में तेल के उत्पादन को बढ़ाने के लिये तेल की खोज की गति में तीव्रता लानी होगी। हमारे उत्पादन की वृद्धि में बाधायें इस उद्योग से सम्बन्धित जटिलताओं के कारणों से ही होती हैं। अनुसंधान के विभिन्न अंगों यथा विकास और उत्पादन, परिवहन, शोधन, विपणन और वितरण और पेट्रोलियम सम्बन्धी रसायनों में पर्याप्त समन्वय होना चाहिये।

उपभोग प्रतिरूप

सन् १९५७ और १९६२ में क्रमशः ५८ लाख टन और ६० लाख टन पेट्रोलियम पदार्थ उपयोग में लाये गये। तेल-मंत्रणा-समिति ने सन् १९६६ के लिये संशोधित अनुमानपत्र में यह मात्रा अब १ करोड़ ७० लाख टन कर दी है जब कि तृतीय पंचवर्षीय योजना में यह मात्रा १ करोड़ ४० लाख टन ही थी। वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए यह संख्या और भी अधिक हो सकती है। इसका अभिप्राय है कि हमें १ करोड़ ८५ लाख टन कच्चे तेल की आवश्यकता है। नहर कटिया और अंकलेश्वर के तैल-क्षेत्रों से १९६६ तक हमें ७० लाख टन कच्चा तेल और मिलने लगेगा। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि हमारे सामने कितना बड़ा कार्य पड़ा है। तृतीय पंचवर्षीय योजना के अंत तक जो सात परिष्करण-शालायें काम करने लगेंगी उनसे १ करोड़ ७ हजार ५ सौ टन शोधित तेल प्राप्त होने लगेगा। स्पष्ट है कि हमारे ये आयोजित प्रयत्न पर्याप्त नहीं हैं। तेल के लिये ११५ करोड़ रुपया विनिधानित किया गया है। इसका परिमाण बढ़ाना होगा। प्रशिक्षित कार्मिकों की संख्या कई गुनी करनी होगी। इस सम्बन्ध में यह जानकर संतोष होता है कि तेल और प्राकृतिक गैस-आयोग सक्रिय है। १४० से अधिक व्यक्ति प्राविधिक शिक्षा के लिए विदेश भेजे गये हैं और विदेशी विशेषज्ञों को इस तैल-प्रयास में सहायतार्थ निमन्त्रित किया गया है। फिर भी बहुत कुछ करना बाकी है। गौहाटी के समीप की परिष्करणशाला अभी कार्य करने में समर्थ नहीं हो सकी है और बरौनी की परिष्करणशाला की प्रगति अनुसूचित लेख से पीछे है। राजकीय क्षेत्र की कार्यविधि में अभी काफी कमी है। ये असंगतियाँ ठीक होनी चाहिये।

चीन के सामने भी कुछ समस्यायें हैं और विशेष कर वे जो उसकी भाव-प्रणालीय वचनबद्धता से सम्बन्धित हैं। किन्तु जहाँ तक प्रशिक्षित कार्मिकों और कार्य जानने वाले व्यक्तियों का सम्बन्ध है उसे मित्र देश होने का लाभ है। साम्यवादी गुट के सदस्य होने के कारण उसे कुछ विशेष सुविधायें प्राप्त हैं क्योंकि उन्हें सहायता अधिक शीघ्रता से मिल जाती है।

किन्तु इस सहायता की अब इस समय के रूस-चीन के बीच बढ़ती हुई खाईं को दृष्टिगत करते हुए समझना होगा। इस मतभेद के कारण रूस के गुट के देशों ने चीन को दी जाने वाली सहायता में कमी कर दी है। फिर चीन के समान साम्यवादी देशों द्वारा दिये गये आँकड़े सदैव विश्वसनीय नहीं होते। मेट्रिक टनों में चीन का सन् १९५८ का उत्पादन ४ लाख टन था। सन् १९५४ का लक्ष्य ५ लाख टन, १९५८ का दावा २२ लाख ३० हजार टन और सन् १९५९ का दावा ३७ लाख टन है जिसमें कच्चा पेट्रोलियम, कच्चा शेल तेल, कोयले के कार्बनीकरण से प्राप्त तेल और कोयले से संश्लिष्ट तेल भी सम्मिलित है।

चीन में कोयला

जहाँ तक प्राकृतिक भण्डारों का प्रश्न है चीन भारत की अपेक्षा अधिक अच्छी अवस्था में है। कोयला-भण्डारों की दृष्टि से चीन का स्थान एशिया में पहला और विश्व भर में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, सोवियत रूस और कनाडा के बाद चौथा है। सारणी ३ में चीन और भारत के कोयला-उत्पादन के आँकड़े दिये गये हैं जिनसे उनकी तुलना सरलता से की जा सकती है। भारत के पास अच्छे गुण धर्म का पकाने वाला कोयला सीमित मात्रा में है। भारत का उपलभ्य कोयला ५०० करोड़ टन है जिसका ८० प्रतिशत बिहार और बंगाल में है।

कोयले को औद्योगिक रसायनों, रंगों, विद्युतशक्ति (एक औंस कोयले से उतनी बिजली उत्पन्न होती है जितनी १०० टन पानी के एक फुट नीचे गिरने पर) के उत्पादन, सड़क के ऊपरी तल बनाने और अन्य उपयोगी रासायनिक यौगिक बनाने में काम में लाया जाता है। किन्तु हमारे लिए यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण इसलिए है, क्योंकि उसके उपयोग हमारी आर्थिक व्यवस्था के आधार हैं। यह महत्त्वपूर्ण औद्योगिक ईंधन है और लोहे और इस्पात-उद्योग के लिए अत्यावश्यक है।

समस्यायें

गत वर्षों में कोयला उद्योग की समस्याओं में कोई सुधार नहीं हुआ। इन समस्याओं का वर्गीकरण इन विभागों में किया जा सकता है :—यातायात, मूल्य, विद्युतशक्ति, विस्फोटक और आयात। इस समय की और भविष्य की गतिविधि देखते हुए अन्तिम तीन की कमी है। इस सम्बन्ध में अधिक उदार आयात व्यवस्था की आवश्यकता है। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक इस उद्योग की आवश्यकताओं की पूर्ति रेलें उस समय तक कर सकेंगी। सन् १९६६ के अंत तक का कोयले का उत्पादन लक्ष्य ९ करोड़ ७० लाख टन रखा गया है। रेलों द्वारा १९६५-६६ में परिवहनीय कोयले का लक्ष्य ८ करोड़ ७५ लाख टन है। इसका अभिप्राय है कि रेलवे को प्रतिदिन १२ हजार वैगन इस कार्य के लिए देने पड़ेंगे जबकि इस समय केवल ६२०० वैगन प्रतिदिन प्राप्त होने की ही व्यवस्था है। इसका अभिप्राय है कि रेलों को एक अत्यन्त बड़ा बोझ उठाना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त कोयले के मूल्य इतने अधिक नहीं हैं कि उत्पादक इस उद्योग में अधिक धन लगा सकें। सरकार ने जो थोड़ी सी मूल्य-वृद्धि की है वह उत्पादकों की आशाओं से बहुत कम है।

वृहत साधन

चीन के लगभग प्रत्येक प्रान्त में कोयला पाया जाता है। प्रमुख क्षेत्र उत्तरी और उत्तरी पूर्वी चीन हैं। उपलभ्य कोयले का ८० प्रतिशत ३० और ४० उत्तरी अक्षांशों के बीच पाया जाता है। सन् १९४५ की चीनी भू-विज्ञान सर्वेक्षण संस्था के अनुसार उपलभ्य कोयले की मात्रा २६ करोड़ ५३ लाख ११ हजार टन थी। किन्तु सन् १९४७ की राष्ट्रीय साधन स्रोत समिति ने नये स्रोतों से प्राप्त होने वाले कोयले को मिलाकर कुल उपलभ्य मात्रा ४४ करोड़ ४५ लाख ११ हजार टन बताई। चीन के कुछ कोयला-क्षेत्रों में आधुनिक मशीनों को

काम में लाया जाता है और उत्पादन की नई विधियों से काम होता है। ठीक स्थिति का पता नहीं है। वैसे ३१ कोयला खानें सन् १९६० के अन्त तक १० लाख टन प्रति खान के हिसाब से उत्पादन करने का का लक्ष्य लेकर काम कर रही थीं। इस साल तक बड़ी ५ खानों का उत्पादन लक्ष्य इस प्रकार था :— कलवाँ ९६'८ लाख टन, फूशू ९३ लाख टन, फूशीन ८४'५ लाख टन, हुआईनान ९८'५ लाख टन और तातुङ्ग ६४'५ लाख टन। इसलिये आजकल की अवस्था चाहे जो हो, चीन कोयला-उत्पादन में भारत से आगे है। फिर भी स्थिति ऐसी गम्भीर नहीं है जैसी पहली दृष्टि में मालूम होती है। इसमें सन्देह नहीं कि चीन के कोयले और तेल दोनों के भी उपलभ्य भंडार भारत से अधिक हैं, किन्तु साधन और उपलब्ध हो सकने वाली मात्रायें उपलभ्य मात्राओं से भिन्न होती हैं।

अब हम उन अदृश्य कारकों पर विचार करेंगे जो संसार के उपलभ्य भण्डारों की उपलब्धि को वास्तविकता में परिवर्तित करने के लिए आवश्यक हैं। चीन की अर्थ-व्यवस्था चरम साम्यवादी विधि से परिचालित होती है। राजकीय नियंत्रण की सर्वाधिकारी विधि के प्रयोग के कारण तनाव अत्यधिक रहता है। प्रजातान्त्रिक देशों की अर्थ-व्यवस्था की तुलना में साम्यवादी देशों में बाह्य गत्यात्मकता अधिक हो सकती है, किन्तु यह संदेहास्पद है कि अन्ततोगत्वा यह गत्यात्मकता देश के लिए उपयोगी सिद्ध होगी। जिस अर्थ व्यवस्था में मूल अर्थतान्त्रिक नियमों की अवहेलना की जाय, लोगों पर बोझ डाला जाय और उनकी प्रारम्भिक स्वतन्त्रता के स्वत्वों का अपहरण कर लिया जाय वह अर्थ-व्यवस्था एक तनाव की स्थिति में रहती है और उसके परिणाम कभी-कभी शीघ्र ही और कभी-कभी देर में प्रकट होते हैं। अब तक रूसी गुट ने चीन की समस्यायें हल करने में सहायता दी है, किन्तु अब रूस और चीन के बीच में मतभेद होने के कारण इसे सहायता का इतना अधिक महत्व नहीं रह गया है।

इस संदर्भ में भारत में भी एक असंगति है। कोयले के असार्वजनिक क्षेत्र में यह असंगति और भी स्पष्ट हो जाती है। इससे यह पता लगता है कि चीन के कोयले और तेल के उपलभ्य स्रोत भारत से अधिक भले ही हों, भारत को एक ऐसे स्वतन्त्र राष्ट्र होने का लाभ है जिसमें प्रजातान्त्रिक पद्धति है। इसलिए यदि आवश्यक गत्यात्समता सम्भव है तो हमारी आशायें पूरी होंगी और भारत अवश्य विजयी होगा।

सारणी—१

कच्चा पेट्रोलियम (हजार मेट्रिक टनों में)

	१९५०	१९५५	१९५९	१९६०	१९६१
भारत	२५२	३३०	४२०	४४९	५००§
चीन	—	९६६	२२००‡‡	३५००‡‡	४५००‡‡

§ शेल तेल को छोड़कर। सन् १९५९ में शेल तेल और कोयले से बनाये तेल की मात्रा १६'५ लाख टन और सन् १९६१ में १७ लाख टन थी।

‡‡ प्रस्तावित अनुमान

सारणी २

तेल-स्रोतों में वृद्धि और अनुसंधान-प्रयत्न १९५७ के लिये जिनमें १९५६ भी सम्मिलित है।

	स्रोतों में वृद्धि करोड़ बैरल में		वार्षिक प्रयत्न प्रति ५००० वर्ग मील भू-विज्ञान-सर्वेक्षण के —मास	खोजे गये कुयें
	कुल	प्रति ५० हजार वर्ग मील		
कनाडा	३४९	२९	११३	५५
मेक्सिको	१६०	३८	५०	८
अर्जेण्टाइना	४४	४	८	२
भारत	३०	९	५	०·५
नार्वे-स्वेडन	१६	६०	१११	४०
फ्रान्स	१५०	७७	७४	१५

सारणी ३

सन् १९६० के लिये कोयले का उत्पादन

भारत	लगभग ४,२१,४६,००० टन
चीन	लगभग ५,१३,५६,००० टन

एक ही आवाज है
एक ही स्वर है
एक ही नारा है
काश्मीर से कन्याकुमारी तक
कच्छ से कामरूप तक

कि

आक्रमणकारी को निकाल बाहर करने के लिए
अधिक मेहनत करेंगे
अधिक पैदा करेंगे
अधिक बचत करेंगे

और

बचत का धन
राष्ट्रीय सुरक्षा योजनाओं में लगायेंगे

अन्तरिक्ष अभियान—मानवता के लिए चुनौती

डॉ० शिवगोपाल मिश्र

प्रारम्भ से ही मानव मन की प्रेरणा रही है कि नई-नई चीजें खोज निकाली जायँ और प्रकृति पर विजय प्राप्त की जाय। फलतः उसने अनेकानेक खोजें एवं आविष्कार किये हैं। प्रस्तर युग, लोह युग, परमाणु शक्ति युग एवं अन्तरिक्ष अभियान ये उसकी प्रगति के विभिन्न सोपान हैं। जब कोई परमाणु शक्ति की विभीषिकाओं से विचलित होता है तो उससे परमाणु के शान्तिकालीन उपयोगों को हृदयंगम करने को कहा जाता है, किन्तु जब कोई समर्थ आलोचक अन्तरिक्ष विजय के सम्बन्ध में अपने सन्देह प्रकट करता है और इसमें होने वाले व्यय एवं इससे उत्पन्न आशंकाओं की ओर लक्ष्य करके कुछ कहना चाहता है तो उसके पक्षपाती दो दलीलें पेश करते हैं :—

(१) अन्तरिक्ष उड़ान से मनुष्य को अनन्त वैज्ञानिक ज्ञान अर्जित होगा।

(२) मानव की सहज प्रवृत्ति प्रकृति की सीमाओं को तोड़कर बाहर निकलने की चेष्टा रही है। अन्तरिक्ष उड़ान से न केवल इस मानवीय आकांक्षा की पूर्ति होगी वरन् हम उससे भी आगे बढ़ सकेंगे।

जहाँ तक प्रथम दलील है उसके सम्बन्ध में नोबेल पुरस्कार विजेता भौतिकशास्त्री डा० मैक्सबार्न का अभिमत है, "इन अन्तरिक्ष विजयों में जितना भी धन व्यय किया जा रहा है उसकी तुलना में प्राप्त परिणाम तुच्छ होंगे। मेरी समझ में तो इसके अतिरिक्त न जाने कितनी अन्य वैज्ञानिक एवं मानवीय समस्यायें हैं जो अन्तरिक्ष से प्राप्त ज्ञान की अपेक्षा अत्यधिक आवश्यक हैं।" उन्होंने सन् १९५८ में ही ऐसी अन्तरिक्ष यात्राओं के प्रति लोगों को सचेष्ट किया था और यह भी कहा था कि इस प्रकार की अन्तरिक्ष यात्रायें भले ही मानव मस्तिष्क की अद्वितीय सफलतायें हों, किन्तु जहाँ तक उद्देश्य की पूर्ति का प्रश्न है उस सम्बन्ध में वे घोर विफलता के रूप में हैं।

फिर भी सन् १९५८ के पश्चात् अन्तरिक्ष यात्राओं में लगातार प्रगति होती रही है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका एवं सोवियत रूस एक दूसरे की प्रतिस्पर्द्धा में न जाने कितने वैज्ञानिकों का श्रम एवं समय, न जाने कितनी सामग्री एवं सम्पत्ति स्वाहा करते जा रहे हैं। यदि ध्यान पूर्वक विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि नाभिकीय शस्त्रास्त्रों से सज्जित हो रासायनिक एवं जैविकीय विध्वंसकों की सहायता से अब हमारी सभ्यता अपने आत्मविनाश के द्वार पर पहुँच चुकी है।

इसी विनाश से आतंकित होकर जर्मन वैज्ञानिक मैक्सबार्न ने सबों को सचेष्ट किया था। इसी से प्रभावित हो ब्रिटेन के अग्रगण्य मनीषियों एवं वैज्ञानिकों ने भी अपनी आवाजें उठाई हैं। हार्वेल स्थित ब्रिटिश न्यूक्लियर रिसर्च सेंटर के भूतपूर्व अध्यक्ष, सर जान काकराफ्ट ने यह बताया है कि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने चन्द्रलोक की यात्रा के लिये २०,०००-३०,००० लाख डालर प्रतिवर्ष व्यय करने का निश्चय किया है। यदि इस राशि को मानव कल्याण में खर्च किया जाय तो इससे प्रत्येक व्यक्ति की आय १० वर्ष में २५ प्रतिशत बढ़ सकती है। इतनी अनन्त राशि जब अन्तरिक्ष यात्राओं को सफल बनाने में प्रतिवर्ष व्यय होगी तो इसमें सन्देह नहीं कि मानव के हित-साधन वाली अनेक योजनाओं की या तो उपेक्षा होगी या

मनुष्य को त्याग सीखना पड़ेगा।

विज्ञान के क्षेत्र में एकांगी प्रगति हितकर नहीं होती। प्रथम उत्थान काल अन्धकारपूर्ण मध्य युग के रूप में तिरोहित हो गया था, क्योंकि उसमें मानव की समस्त प्रतिभा शिल्प (रोम आर्कीटेक्ट) के विकास में ही लग गई थी—भवन, मार्ग-निर्माण हो मानों चरम उत्कर्ष रहा हो। यही बात इस द्वितीय उत्थान काल – वर्तमान काल के लिये लागू कही जा सकती है, जिसमें मानव-कल्याण की अन्य योजनाओं की उपेक्षा करते हुए सर्वाधिक श्रम एवं धन अन्तरिक्ष यात्राओं की योजनाओं में व्यय किया जा रहा है।

अब मैनचेस्टर स्थित जोड्रेल बैङ्क की वेधशाला के प्रमुख नक्षत्रविद् एवं अध्यक्ष सर बर्नार्ड लावेल का भी अभिमत यही है कि यद्यपि अन्तरिक्ष सम्बन्धी गवेषणाओं से भविष्य के उज्ज्वल बनने की पूर्ण आशा है, किन्तु सैन्य नुसज्जा एवं उसके नियन्त्रण में होने के कारण ये गवेषणायें घातक सिद्ध हो सकती हैं। इसके पूर्व सर लावेल ने उन प्रत्येक कृत्रिम उपग्रहों का स्वागत किया है जो अन्तरिक्ष में छोड़े गये।

रूस तथा अमेरिका ने अत्यधिक ऊँचाई पर जो नाभिकीय विस्फोट प्रारम्भ किये हैं उनसे पृथ्वी की प्राकृतिक विकिरण पेटी असन्तुलित हो गई है। फिर भी रूसी तथा अमरीकी वैज्ञानिकों को अपने प्रयोगों एवं तज्जनित सफलताओं का गर्व है जब कि ब्रिटिश वैज्ञानिकों का दृष्टिकोण इससे सर्वथा भिन्न है। उनका कथन है कि विकिरण कटिबन्ध सम्बन्धी हमारा ज्ञान, पृथ्वी की ऊर्जा सन्तुलन के लिए इसकी महत्ता तथा रेडियो संचार के लिए इसकी उपयोगितायें ये सभी सीमित हैं। अतः इन पर पड़ने वाले प्रभावों को जाने या अध्ययन किये बिना हस्तक्षेप करना अत्यन्त अनुत्तर-दायित्वपूर्ण होगा। यही बात अन्तरिक्ष यात्रियों के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन ने भी दुहराई थी, किन्तु रूस तथा अमरीकी के सैन्य वर्ग भला इसकी परवाह कहाँ करने लगे। तमाम विरोध के बावजूद भी अन्तरिक्ष-प्रयोग एवं यात्रायें चलती रहीं।

एक दूसरी कठिनाई भी आ खड़ी हुई है। नित-प्रति छोड़े जाने वाले उपग्रहों के कारण पृथ्वी के निकट ही कक्षा में अनगिनत पिण्ड एकत्र हो रहे हैं। प्रथम स्पुतनिक छोड़े जाने के पश्चात् से अब तक २०० से अधिक पिंड छोड़े जा चुके हैं जो पृथ्वी की परिक्रमा लगा रहे हैं। इनमें से तो अनेक ऐसे हैं जो कालान्तर में मन्द गति होकर वायुमण्डल में नीचे आकर जल जावेंगे, किन्तु कुछ तो ऐसे हैं जो हजारों वर्ष की परि-क्रमा के अनन्तर स्थायी रहेंगे और कुछ अनन्त काल तक परिक्रमा करेंगे। इसमें यह भी सन्देह नहीं कि भविष्य में अधिकाधिक ऐसे कृत्रिम उपग्रह छोड़े जावेंगे, किन्तु यह सोचना कि इनसे मनुष्य की शोध-तृष्णा की तृप्ति होगी, घोर निराशा होगी। शीघ्र ही पृथ्वी के चारों ओर का अन्तरिक्ष ऐसे उपग्रहों से उसी प्रकार भर जावेगा जैसे किसी पर्व पर गंगा स्नान के लिए भीड़ हो जाती है। अतः स्पष्ट है कि इन उपग्रहों के छोड़े जाने का उद्देश्य शोध सम्बन्धी पूर्णता की उपलब्धि न होकर व्यापारिक एवं सैन्य हित-साधन है।

टेलस्टार जैसे उपग्रह सैन्य दृष्टि से सुरक्षित नहीं समझे जाते, क्योंकि वे किसी भी समय निशाना लगा कर नीचे गिराये जा सकते हैं, भले ही उनके प्रयोगों द्वारा रेडियो, टेलिविजन या बेतार के तार में कितने ही सुधार क्यों न लाये जा सकें। यही कारण है कि अन्तरिक्ष-यानों की ऐसी डिजाइनें बनाई जा रही हैं जो दुर्जेय हों। इस नवीन योजना के अन्तर्गत पृथ्वी के कई सौ मील ऊपर लगभग ३५०० लाख तारों के टुकड़ों का जाल कक्षा में स्थापित कर दिया जावेगा। यह जाल पृथ्वी के इर्द-गिर्द परावर्तक वलय का काम करेगा और वैद्युत-चुम्बकीय तरङ्गों को परावर्तित किया करेगा। दुश्मनों के द्वारा इसके क्षतिग्रस्त होने अथवा विनाश होने का भय नहीं है, किन्तु क्या इस प्रश्न का जवाब है कि दुश्मन भी समान रूप से इस जाल का वैसा ही उपयोग नहीं कर सकेगा? तब भला इसका सैन्य उपयोग कैसा?

इस जाल के बनने से नक्षत्रविदों को अपने कार्य में बाधा उपस्थित हो सकती है, किन्तु इस युक्ति के कारण एक लाभ की सम्भावना है। यह परावर्तक वलय पृथ्वी के अन्धकारपूर्ण भाग को प्रकाशित कर सकेगा, जिससे अनेक धूमिल किन्तु महत्वपूर्ण नैसर्गिक पिंड लक्षित हो सकेंगे। रेडियो दूरदर्शी (टेलिस्कोप) अन्तरिक्ष में से अत्यन्त मन्द रेडियो संकेत प्राप्त करते हैं। इनका तरङ्ग दैर्घ्य प्रायः उतना ही होता है जितना कि हम पृथ्वी पर रेडियो तथा टेलिविजनों में समाचार सम्प्रेषण के समय प्रयुक्त करते हैं। अभी तक पृथ्वी की वक्रता के कारण दूरदर्शी पृथ्वी पर रेडियो सम्प्रेषण के अनेक विक्षोभों से सुरक्षित रहते थे, किन्तु पृथ्वी के चारों ओर स्थित उपग्रह एवं तार-खण्डों के जाल उन विक्षोभों को परावर्तित करेंगे जिससे भविष्य में अन्तरिक्ष से रेडियो संकेतों को ग्रहण करने में असुविधा होगी। जब विश्व के नक्षत्रविदों को यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने इस योजना का तीव्र विरोध किया। यह कितनी बड़ी दुर्घटना होगी कि पुरातन से चली आती नक्षत्र विद्या अब सदा के लिए इसलिए समाप्त हो जाय कि एक और उपयोगी योजना का सूत्रपात होने जा रहा है। क्या ही अच्छा होता कि इस विद्या को एवं इसके वेत्ताओं के हित को ध्यान में रखा जाता।

इसी प्रकार से राकेट सम्बन्धी शोधों एवं अन्तरिक्ष यात्राओं पर भी प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक होगा। सितम्बर सन् १९५७ में रूसियों ने चन्द्रमा पर राकेट द्वारा अपना झण्डा गाड़ दिया है। क्या इसके द्वारा वहाँ संदूषण नहीं हुआ होगा ? भविष्य में मङ्गल तथा शुक्र ग्रहों में उतरने की तैयारियाँ हो रही हैं, किन्तु इन ग्रहों में जीवन की विद्यमानता आदि के सम्बन्ध में अभी तक कोई ज्ञान नहीं उपलब्ध हो सका। अतः बिना पूर्व ज्ञान के इन नक्षत्रों में प्रवेश करने के परिणाम घातक सिद्ध हो सकते हैं।

जीव कैसे आया, इस विषय में हमारी जानकारी अत्यन्त न्यून है। यदि हम यह मानते हैं कि सभी ग्रह सूर्य से विलग होने पर निर्मित हुए हैं तब क्या इसकी सम्भावना नहीं कि अन्य ग्रहों में भी पृथ्वी के ही समान जीवन होगा। अतः आवश्यकता इस बात की है कि यथाशीघ्र योजना बनाकर इन ग्रहों में जीवन के उद्भव का अध्ययन किया जाय। हो सकता है कि प्राप्त होने वाले ज्ञान से पृथ्वी में जीव-उत्पत्ति पर कुछ प्रकाश पड़े। यदि ऐसी योजना बनाये बिना ही एकाएक किसी ग्रह पर राकेट द्वारा जा धमका जायगा तो सम्भावना यही है कि पृथ्वी के जीवाणुओं के संदूषण से वहाँ का वातावरण विषाक्त हो जाय और सदा के लिए नक्षत्र-जीवविज्ञान के द्वार बन्द हो जायँ। नक्षत्रों के जीवों की जानकारी कितनी आवश्यक है, कहा नहीं जा सकता। इस दिशा में अमेरिका ने कुछ सतर्कता दिखाई भी है किन्तु रूस में भी ऐसा ही प्रयास हो रहा है, इसका लेशमात्र भी पता किसी को नहीं है।

अन्तरिक्ष यात्राओं का उद्देश्य नक्षत्र सम्बन्धी गवेषणा न रह कर उद्देश्यों के सर्वथा प्रतिकूल बन गया है। यह तो ऐसी गवेषणा के लिए खतरा सिद्ध हो रहा है। इससे वैज्ञानिक विधियों के मानव-कल्याण में प्रयुक्त किये जाने के बजाय सैन्य शक्ति को दृढ़ करके उसके विनाश के बीज बोये जा रहे हैं। मनुष्य की आन्तरिक प्रेरणा कि वह प्रकृति पर विजय प्राप्त करे, न्यूटन, रदरफोर्ड एवं आइंस्टाइन जैसे विचारकों द्वारा पुष्ट होती है, न कि कृत्रिम उपग्रहों के निर्मायकों द्वारा अथवा दुस्साहसी अन्तरिक्ष यात्रियों द्वारा। अतः स्पष्ट है कि आज के युग की सर्वोत्कृष्ट वैज्ञानिक सफलता के पीछे मानव का भविष्य अंधकार-पूर्ण बन रहा है।

●●

ऊसर भूमि में कार्य करने की दार्शनिक पृष्ठभूमि

वीरेन्द्र चन्द्र

अनुसंधान केन्द्र बन्थरा‡ (रिसर्च स्टेशन) का नाम भारत में नहीं वरन् सारे संसार में प्रसिद्ध हो गया है। साढ़े छः वर्ष पूर्व १९५६ ई० में जब यह अनुसंधान कार्य प्रारम्भ हुआ, उस समय से आज तक इस भूमि में कितना परिवर्तन हुआ है, इसका वास्तविक अनुभव वहाँ के निकट ग्रामवासी ही कर सकते हैं।

अनुसंधान क्षेत्र बन्थरा की भूमि ऊबड़-खाबड़ ऊसर थी। थोड़ी ही वर्षा होने पर यह भूमि कीचड़दार व फिसलनेवाली तथा सूखने पर बहुत सख्त हो जाती थी। इस भूमि में कहीं-कहीं पर ३-४ फुट की गहराई पर ही कंकड़दार तह थी। रासायनिक परीक्षणों से ज्ञात हुआ कि इसमें विभिन्न लवणों की मात्रा एक निश्चित मात्रा से कहीं अधिक होती है। इसमें सोडियम कार्बोनेट भी अधिक मात्रा में पाया जाता है। पी. एच. भी ९ से ११ तक था तथा काली-काली छोटी-छोटी गोलियाँ इसमें भरी पड़ी थीं। जाँच से पता चला है कि ये गोलियाँ लोहे व अन्य तत्वों से मिलकर बनी हैं। ऐसी भूमि में गर्मी में नीचे से क्षारीय पदार्थ ऊपर आ जाते हैं और जमीन को खारी या 'ऊसर' बना देते हैं।

इस भूमि में घास न थी और जहाँ कहीं थी भी तो केवल नाम-मात्र के लिए। इसमें पेड़-पौधे की कौन कहे इस स्थान पर मनुष्य, पशु-पक्षी भी नहीं ठहर पाते थे। यदि निकट के ग्राम-वासियों से पूछते कि इतना बड़ा मैदान खाली क्यों है? खेती क्यों नहीं होती? तो वे यही उत्तर देते कि यह वीरान ऊसर भूमि है। ऐसी भूमि में कुछ नहीं उपजता है।

बन्थरा फार्म का निर्माण स्वावलम्बन और श्रम के महत्वपूर्ण एकीकरण में निहित है। यहाँ के कार्यकर्ताओं ने रहने के लिए छप्पर स्वयं छाये और वर्षा का पानी जमा करने के लिए गड्ढे खोदे तथा वर्षा के पानी का उपयोग जरूरी कामों में किया। इस प्रकार खोद कर निकाली हुई मिट्टी का उपयोग ईंटों एवं मकान, छप्पर बनाने में किया गया। पास की भूमि फावड़े से खोद कर क्यारियाँ बनाई गयीं; इसके बाद घास तथा कुछ अन्य इस प्रकार के पौधों को यहाँ लगाया गया जो इस तरह की भूमि पर उग सकें। इसके बाद नलकूप बनाये गये जिसमें ३७०० रुपया प्रति नलकूप व्यय हुआ। हर नलकूप से १३,००० गैलन पानी प्रति घंटा मिला।

भूमि-सुधार की बन्थरा विधि

१. सर्वप्रथम भूमि की हदबन्दी करके भूमि के चारों तरफ गहरी चौड़ी ८ फुट से १० फुट की खाइयाँ खोदनी चाहिये।

२. जो मिट्टी निकले उसका अन्य कार्यों में प्रयोग जैसे सड़क, कच्ची ईंट, मेड़ आदि बनाने में करना चाहिये। इससे भूमि का कटाव रुक जाता है। इन खाइयों में वर्षा-काल में पानी भर जाता है और पानी रुकने से खाइयाँ झील-रूप धारण कर लेती हैं।

३. इसमें सबसे पहले सिवार डालनी चाहिये। सिवार से पी. एच. कम होता है। जब पी. एच. कम

‡बन्थरा अनुसंधान क्षेत्र, लखनऊ-कानपुर मार्ग पर १२·६ मील पर स्थित है।

हो जाय, तो अन्य पानी में होने वाले पौधे जैसे कमल, कसेरू, कोकावेल, सिंगाड़ा आदि सभी आसानी से उगाये जा सकते हैं और इस पानी में आर्थिक लाभ के लिए मछलियाँ भी डाली जा सकती हैं, जो एक ही वर्ष में अधिक संख्या में बढ़ कर आर्थिक पूर्ति कर सकती हैं।

४. भूमि की हदबन्दी के पश्चात् भूमि के ढाल के विपरीत छोटी-छोटी मेड़ें बनानी चाहिये, और भूमि को आश्यकतानुसार छोटे-छोटे टुकड़ों (प्लाट) में काट लेना चाहिये। अधिक सुगमता तो भूमि के समान टुकड़ों में काटने पर होगी जिससे जुताई, सिंचाई तथा बोवाई आदि में आसानी हो जाती है।

५. इन टुकड़ों या खेतों की पहले खुदाई-गुड़ाई करनी चाहिये। वर्षा के पश्चात् फावड़े या हलों द्वारा भूमि को खोद देना चाहिये।

६. जो खेत (भूमि) अधिक क्षारमय (६ से ११ पी. एच.) हैं, एवं साधन में कुछ कमी हो तो इस क्षारमय खेत में **पैराग्रास** तथा दूब घास लगा देनी चाहिये। इसके लगाने से क्षार में कमी हो जाती है तथा जानवरों को चारा मिल जाता है।

७. वर्षाकाल में ही आइपोमिया कार्निया (बेहया) का पौधा १ फुट की दूरी पर पंक्तियों में लगाया जा सकता है। पौधे एक साल में दो-ढाई फुट ऊँचे हो जाते हैं। १ वर्ष के बाद इनको खेत में से उखाड़कर धान की फसल ली जा सकती है। इस प्रकार देखा गया है, कि जहाँ पर एक वर्ष पहले धान नहीं हो पाता था वहाँ धान की उपज हो सकती है।

८. ऐसे स्थानों पर नमी संचित रखनी अति आवश्यक है। इसके लिए गर्मियों के दिनों में लू का प्रकोप रोकने के लिए खेतों के इर्द-गिर्द वायुरोधक (विण्ड ब्रेक) लगाना अति ही लाभदायक है। इस दिशा में अभी तक जैत, देशी बबूल तथा बेर उपयोगी सिद्ध हुए हैं। जैत को निम्नलिखित प्रकार से लगाना चाहिये :—

प्रत्येक खेत के किनारे दो फुट चौड़ी दो फुट गहरी नालियां आवश्यकतानुसार खोद कर उसमें खर-पतवार डाल कर पाट देना चाहिये और फिर पानी लगा देना चाहिये। लगभग २०-३० दिन में भूमि गोड़ाई योग्य हो जाय तो गोड़ाई व ठीक से बराबर करके पंक्तियों में जैत (*ससबानियाँ इजिप्टिका*) का बीज बोना चाहिए। यह पौधा छः माह में ही लगभग १०-१२ फुट ऊँचा हो जायेगा।

९. इसके अतिरिक्त और उपयोगी पौधे भी लगाये जा सकते हैं, जैसे शीशम, कचनार, बबूल, कन्नेर, थिवेटिया, विभिन्न प्रकार की घासें आदि। ये पौधे खेतों के चारों तरफ खेती को हानि पहुँचाये बिना लगाये जा सकते हैं।

सन् १९५९-६० इन वर्षों में जो अनुसंधान हुए हैं उनसे यह सफलता मिली है कि पहले ही वर्ष से धान की खेती की जा सकती है।

इस कार्य में सत्यानासी के पौधों (*आर्जीमोन मैक्सिकाना*) का चूर्ण यदि खेत में डाला जाय तो धान की पैदावार में २२% की बढ़ोत्तरी पायी जाती है। सत्यानासी को भरभण्डा, कंडुआ आदि नामों से भी पुकारा जाता है। यह भारतवर्ष के सभी भागों में लगभग पाया जाता है। भटकटइया का पौधा, आम के पत्ते, नीम व अन्य पौधों के पत्ते भी लाभकारी सिद्ध हुए हैं, परन्तु अभी तक आर्जीमोन मैक्सिकाना का प्रयोग सबसे महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है। प्रयोगों से यह सिद्ध हुआ है कि यह ऊसर भूमि के पी. एच. को भी कम करता है। आर्जीमोन की रासायनिक जाँच करने पर निम्नलिखित गुण पाये गये :—

इस जाँच से ज्ञात हुआ कि आर्जीमोन में विलेय अम्ल (कार्बन एसिड) है जो कि क्षार को कम करने में काफी लाभकारी है। पोटेशियम नाइट्रेट व कैलशियम सल्फेट आदि लवण काफी मात्रा में हैं जो सूक्ष्म वनस्पति की क्रिया को बढ़ाने के लिए आवश्यक है और पौधों को भी आसानी से प्राप्त हो सकते हैं। इस प्रकार आर्जीमोन भूमि के लिए एक अच्छा पदार्थ है।

आर्जीमोन के रासायनिक अवयव

एल्कैलॉयड	प्रोटोपीन नाइट्रेट	०·०३ प्रतिशत
	बरबरीन नाइट्रेट	०·०५ ,,
वसीय अवयव	सिरिल ऐलकोहल	०·६ ,,
	बीसिटओस्ट्रल	०·४ ,,
	एलकोहल ६२०	६३
जल विलेय	मर्सीनिक, साइट्रिक,	
	टारटेरिक, मैलिक अम्ल	४·२ प्रतिशत
ऐमिनो अम्ल (मुक्त)	ग्लाइसीन, ऐलानीन, बैलीन,	
	फिनाइल ऐलानीन, डाईओजीन, लाईसीन,	
	ऐस्पैरेजीन ग्लुटामिक अम्ल ।	
एक-शर्करायें	ग्लूकोज, फ्रक्टोज	९·८-१३·२ प्रतिशत
अकार्बनिक लवण	पोटेशियम नाइट्रेट	१·८ ,,
	कैलशियम फॉसफेट	०·३ ,,
	कैलशियम सल्फेट	४ ,,

आर्जीमोन को प्रयोग में लाने की रीति:—

इनके पौधों को फरवरी-मार्च में जमा करके छायादार स्थान में सुखा कर चूर्ण बनाकर रख लेना चाहिए। यह चूर्ण मशीन द्वारा बनाया जा सकता है। इस चूर्ण को खेतों में धान रोपने से तीन-चार दिन पहले डाला जाता है। चूर्ण डालने के बाद खेत में पानी भर दिया जाता है और मिट्टी को गारे की तरह बनाकर पलटने वाले हल द्वारा पलट दिया जाता है, इसके तीसरे-चौथे दिन धान की रोप लगा दी जाती है। अभी तक जो प्रयोग हुए हैं उनसे यह सिद्ध हुआ है कि धान भली प्रकार बढ़ता तथा फूलता है और प्रति एकड़ धान की उपज में बढ़ोत्तरी होती है।

आर्जीमोन-चूर्ण के प्रयोग से भूमि धीरे-धीरे सुधरने लगती है तथा भूमि में सोडियम के स्थान पर कैलशियम आने लगता है; खेत की भौतिक अवस्था में अन्तर आ जाता है और मिट्टी धीरे-धीरे भुरभुरा रूप ग्रहण करने लगती है।

वैज्ञानिक आधार

किसी भी भूमि की उपज उस भूमि के सूक्ष्म वनस्पतियों (माइक्रोफलोरा) की संख्या पर निर्भर होती है। ऊसर भूमि में लवण की अधिकता के कारण पौधों के खाद्य पदार्थों की उपलब्धि में कमी आ जाती है अर्थात् अधिक पी. एच. में पौधों को कैलशियम, पोटेशियम, मैगनीशियम, नाइट्रोजन, सल्फर, फॉसफोरस लौह तथा बोरन, मैंगनीज आदि सूक्ष्म तत्व भी कम मात्रा में प्राप्त होने लगते हैं।

भूमि में अधिक क्षार खाद्य पदार्थों की कमी के कारण सूक्ष्म वनस्पति संख्या बहुत ही कम या बिलकुल नहीं रह जाती इसलिए ऐसी भूमि में पैदावार बिलकुल नहीं होती। जीवांश पदार्थ को ऊसर भूमि में डालने से, भूमि के जीवाणु क्रियाशील हो जाते हैं और ये जैव पदार्थ को सड़ा कर अम्लीय पदार्थ उत्पन्न कर देते हैं। यह अम्लीय पदार्थ क्षारीय पदार्थों की मात्रा को धीरे-धीरे नष्ट कर देते हैं। इसलिए अधिक मात्रा में जैव पदार्थों को भूमि में मिलाकर भूमि की सूक्ष्म

वनस्पति की क्रिया में वृद्धि करना ही ऊसर-भूमि-सुधार का रहस्य है। इस रीति को जैव तथा ऐग्रोनोमिकल रीति का नाम दिया है। इस रीति में जीव-विज्ञान, कृषि विद्या, दोनों ही का साथ-साथ प्रयोग किया गया है। इस रीति को सफल बनाने के लिए किन-किन शिक्षाओं का ज्ञान होना अनिवार्य है, वह इस लेख में दिया गया है।

यह ज्ञातव्य है कि भूमि एक जीवित वस्तु है। इसमें जीवन है। भूमि में जितनी अणु वनस्पतियों की संख्या अधिक होगी, उतनी ही भूमि की उत्पादन शक्ति अधिक होगी। इसको भली प्रकार जान लेना है। बन्यरा रीति (बाईलोजिकल ऐग्रोनोमिक मेथड आफ स्वायल इम्प्रूवमेण्ट) को समझना है।

साथ ही साथ वनस्पतियों तथा उनके गुणों को जानना व कौन कौन सी जाति के पौधे किस प्रकार की भूमि में हो सकते हैं, इन सब का ज्ञान भी आवश्क है। इस प्रकार एक कार्यकर्ता को भूमि का ज्ञान और वनस्पति का ज्ञान होना अनिवार्य है। यदि आप कृषि विशेषज्ञ हैं तो पौधा लगाने के पहले वे सब प्रबन्ध करने होंगे, जो पौधों को जीवित रहने के लिए आवश्यक हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि ऊसर भूमि में कार्य करने वालों को अपने ज्ञान के अतिरिक्त अन्य विद्याओं का अध्ययन करना पड़ता है जैसे किसी स्थान पर वृक्ष लगाना या खेती करना हो तो मौसम की अनुकूलता, स्थानीय भूगोल की जानकारी, भूमि की रासायनिक या भौतिक बनावट, जल-विद्या, कृषि यंत्रकारी विद्या, उद्यान विज्ञान, भूमि विद्या, संरक्षण, आदि ज्ञान होना अनिवार्य है। साथ-साथ मनोविज्ञान, ग्राम संबन्धी रहन-सहन का ज्ञान, आर्थिक शास्त्र, सहकारिता का ज्ञान भी आवश्यक है।

मानवोचित गुण

यदि आप वीरान भूमि के कार्य प्रबन्धक हैं तो इन सबके अतिरिक्त आपको एक साहसी पुरुष होना, अपने कार्य को भलीभाँति जानना; सदा नई जानकारी की इच्छा रखना, सामूहिक रूप में मिलकर कार्य करवाना व प्रभावशाली होना आदि व्यक्तिगत गुणों का रहना भी आवश्यक है।

स्वयं कार्य करना

ऊसर भूमि में कार्य करने में नित्य नई समस्याएँ आती रहती हैं उनको हल करना भी प्रबन्धक का ही कर्तव्य है। हर स्थान की समस्या एक दूसरे से भिन्न होती है, इसलिए कोई एक नियम नहीं बनाया जा सकता। समस्या को अपने गुणों से हल करना ही सफलता की तरफ बढ़ना है।

वीरान तथा ऐसे ऊसर स्थानों पर प्रायः चोरों व लुटेरों का राज्य होता है इसलिए अपनी सुरक्षा का ढंग भी स्थान के अनुसार करना पड़ता है। ऐसे स्थानों में स्वयम् ही अपने स्वास्थ का ध्यान रखना पड़ता है। जल को साफ व उबाल कर पीना, गर्मियो में अधिक नमक का सेवन करना आदि का ध्यान रखना अति आवश्यक है।

किसी वैज्ञानिक प्रयोग को पूर्ण करने के लिए कार्यकर्ता को स्वयं अपने प्रयोग के लिए सामग्री एकत्र करनी पड़ती है तथा इनकी शुद्धता जानना भी इन्हीं का कार्य है। कृषि-प्रयोग करने में भी स्वयम् ही वस्तुओं की जाँच आवश्यक है। जरा भी अशुद्धता हो जावे तो सारे वर्ष का कार्य निष्फल हो सकता है।

अतः साहसी होना अत्यन्त आवश्यक है। अभावों से हार मान लेना और टूटे दिल से कार्य आरम्भ करना ही सफलता को सदा के लिए दूर भगा देना है। साहस के साथ में अपना धैर्य रखना व अपने कार्य में तन-मन-धन से लीन हो जाना ही कठिनइायों पर विजयी होने का सरल ढंग है। परिश्रम तथा तल्लीनता के साथ-साथ कार्य से प्रेम होना, कार्य को समझना व उचित रीति से करना आदि एक अच्छे प्रबन्धक के आवश्यक गुण हैं और इन्हीं गुणों से ही उन्नति होती है!

प्रशासकीय योग्यता

जहाँ भी आप भूमि सुधारक बनकर जायें वहाँ आप अपने साथ कार्यकर्ता रक्खें और आस-पास के ग्राम निवासी से जानकारी करें। अपने आप व उन सबके परिश्रम से कार्य पूरा होगा। कार्य की सफलता के लिए आप को बुद्धिमत्ता, चतुराई और सहृदयता से कार्यकर्ता की देख-भाल करनी होगी। किसी भी विभाग का गौरव वहाँ के कार्यकर्ता के व्यवहार और सच्चरित्रता पर निर्भर करता है। इसलिए प्रबन्धक को अनुशासन प्रिय होना चाहिये। इसके साथ ही साथ कर्मचारियों से सहृदयता का व्यवहार अनिवार्य है। तभी उनके सहयोग से कार्य सफल होंगे। प्रबन्धक अपने साथ के कार्य करने वालों के लिए आदर्श उदाहरण है। उसकी कार्य-दक्षता, नियमों का बरतना इत्यादि इन सबका प्रभाव उसके साथ काम करने वालों पर पड़ता है। इस कारण प्रबन्धक को सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि उससे कोई कार्य नियम के विरुद्ध न हो जाये। इसी प्रकार एक प्रबन्धक कर्मचारी को नियम पूर्वक कार्य दे सकता है।

प्रत्येक नवीन कार्य के प्रारंभ में लोगों का मत उसके पक्ष तथा विपक्ष में होता है। कार्यकर्ता को दृढ़ता और लगन से काम करके विपक्ष वालों को भी अपने पक्ष में कर लेना चाहिये। यह तभी सम्भव है जब काम सच्चाई और परिश्रम से किया जावे। आलोचना और निन्दा की उपेक्षा कर निष्ठापूर्वक कार्य में ध्यान लगाना चाहिये। प्रबन्धक अपनी दूरदर्शिता, संगठन-शक्ति, कार्य-दक्षता तथा व्यवहार कुशलता से सब बाधाओं को दूर कर काम को सफल बना सकता है।

बहुत ही कम व्यक्ति कल्याणकारी कार्य में सफल होते हैं। उनकी जीवनी से पता चला है कि उनमें कोई-न-कोई ऐसा गुण था जिससे लोग उनके बताये हुए मार्ग पर आज तक चले जा रहे हैं। आदर्श पद प्रदर्शक के लिए बहुत से चारित्रिक गुणों की आवश्यकता है। उच्च पद पाना कठिन नहीं परन्तु उस पद की मर्यादा को निबाहते हुए लोगों में मान और प्रतिष्ठा पाने के लिए सच्चाई, परहित व्रत सुसंचालन, उच्च शिक्षा, उदारता आदि गुण होना आवश्यक है। काम को किसी तरह से चलाये जाने और उस काम को सफल बनाकर नई सम्भावनाओं को वास्तविक रूप देने का प्रयत्न करना चाहिये। कार्यक्षेत्र की उन्नति, उसका सुसंचालन, नये-नये प्रयोग द्वारा देश की सेवा करना और इन भावनाओं को साथ में काम करने वालों में भरना एक आदर्श प्रबन्धक के आवश्यक गुण हैं।

वीरान भूमि के कार्यकर्ता को मनोविज्ञान का कुछ ज्ञान होना बहुत आवश्यक है। हर कर्मचारी से बात करके उसकी रुचि तथा योग्यता का ख्याल करके काम सौंपा जाये तो काम अच्छी तरह तथा शीघ्रता से चल सकता है। प्रबन्धक को हर काम का पूरा ज्ञान रहना चाहिये। उसे काम को किस तरह से करना है इसका अनुभव रहना अति आवश्यक है। साथ ही साथ कर्मचारी की कार्यक्षमता किस प्रकार की है, इसका भी ख्याल रखना तथा प्रसन्न रहना भी एक सुयोग्य प्रबन्धक का मुख्य गुण है।

सारे दिन के परिश्रम के बाद मनुष्य थक जाता है। ऐसे समय अपने सहयोगियों को अवकाश देना चाहिये। उनके साथ कभी-कभी मनोरंजक बातें करना उनमें एक नये जीवन का संचार एवं कार्यक्षमता होने की शक्ति को बढ़ाना है।

किसी भी कार्य को यदि वैज्ञानिक ढंग से किया जाए तो प्रायः वह सफल होता है। कार्य को क्रमशः सोच समझ कर करने को ही वैज्ञानिक रीति कहते हैं। कृषि के लिए स्थानीय वातावरण, जनता, भूमि की बनावट और वहाँ पर क्या-क्या फसल अच्छी हो सकती है, किस प्रकार कार्य करने से लाभ होगा—इन सभी बातों की यथाक्रम जानकारी ही वैज्ञानिक दृष्टिकोण है।

इस युग में कार्यकर्ता से प्रतिदिन यही पूछा जाता है कि किस कार्य में क्या लाभ है, और उसमें

काम करने से क्या लाभ है ? हमारे देश में बहुत सी भूमि समुद्रतट, दलदल, रेगिस्तान व पथरीले स्थान बेकार हैं। ऐसे स्थानों को कृषि-योग्य बनाने से क्या आर्थिक लाभ है ? इस प्रश्न का उत्तर सरल नहीं है। ऐसे स्थानों को उपजाऊ बनाने में काफी धन परिश्रम की आवश्यकता होगी। धन लगाने के बाद उपज आशानुसार होगी और आर्थिक लाभ भी होगा। इन बातों का अनुमान एक विद्वान कृषि-विशेषज्ञ तथा अर्थशास्त्री ही लगा सकता है। कृषि प्रधान होते हुए भी हमारा देश भारतवर्ष पृथ्वी के अधिक देशों से कृषि में पीछे है। हमारे देश में उत्तर प्रदेश में ही लगभग ३० लाख एकड़ भूमि तथा पंजाब में पचीस लाख एकड़ भूमि बेकार है। इस भूमि में खाद्यान्न उत्पन्न किया जा सकता है जैसा कि बन्थरा में किया गया है।

—१७

भौतिक शास्त्री मैक्सबार्न

डॉ शिवगोपाल मिश्र

जब सन् १९५४ ई० में मैक्सबार्न को उनकी खोजों के लिए नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया तो उनकी आयु ७२ वर्ष की थी। तब उस समय उन्होंने एक अत्यन्त सारगर्भित भाषण दिया था—"मैंने न तो कोई महान खोज की है और न कोई उपयोगी चीज ही ढूँढ़ निकाली है, जैसे कि नाइलान या निआन प्रकाश। मैंने तो केवल एक नवीन प्रकार की विचारधारा को जन्म दिया है।"

वास्तव में इस नवीन विचारधारा ने ही भौतिकी के क्षेत्र में एक क्रान्ति मचा दी। इसने पुराने भौतिकशास्त्रियों को भौतिकी को नये सिरे से अध्ययन करने के लिए बाध्य कर दिया क्योंकि वे अनेक तथ्य जो अभी तक अन्तिम सत्य के रूप में माने जाते थे सहसा असत्य सिद्ध हो गये। वे प्राकृतिक नियम जो विज्ञान जगत में चरम सत्य माने जाते थे अब सांख्यिकीय विश्लेषण की वस्तु बन गये। निश्चयवाद एवं कारणता भौतिक के ये दो दृढ़ स्तम्भ चूर-चूर हो गये। ऐसी थी मैक्सबार्न द्वारा प्रस्तुत की गई विचारधारा। इसीलिए पहले लोगों ने उन्हें नोबेल पुरस्कार प्रदान करते समय आनाकानी बरती किन्तु भला उन्हें इस पुरस्कार से कौन रोक सकता था। वे महान भौतिकशास्त्री एवं क्वांटम यान्त्रिकी के संस्थापकों में से एक, जर्मनी के गोटिंजेन स्कूल के अध्यक्ष हैं जहाँ से वर्नर हाइसेनवर्ग, पाउली, फर्मी, जोर्डन, डिरैक जैसे वैज्ञानिकों का विकास हुआ।

गत दिसम्बर मास में बड़े धूम-धाम के साथ जर्मनी में उनकी ८०वीं वर्षगाँठ मनाई गयी।

मैक्सबार्न ने पुरस्कार ग्रहण करते हुए जो भाषण दिया था उसमें उन्होंने अपनी विचारधारा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बताते हुए कहा—"जब हम आज से ३० वर्ष पूर्व गोटिंजेन में अपनी इस नवीन विचार धारा को जन्म देने जा रहे थे तो यह सारा अनुमान-स्वरूप था। सन् १९२५ की ग्रीष्म ऋतु में वर्नर हाइसेनवर्ग ने क्रांतिकारी सूझ दी। उन्होंने कहा कि वे समस्त पद एवं धारणायें जो भौतिक रूप से प्रेक्षित किसी तथ्य से मेल नहीं खातीं उनका वहिष्कार होन

चाहिए ।

हाइसेनबर्ग ने नवीन गणितीय संकेतों का सूत्र-पात किया । बस इसके बाद वे ज्वराक्रान्त होकर समुद्र की ओर उपचार हेतु चले गये । तब मैक्सबार्न ने अपने बाल्यकाल में जिस आव्यूह (मैट्रिक्स) परिगणना" को अपने गुरु रोजेन्स से ब्रेसला में रहकर सीखा था, स्मरण किया । मैट्रिक्स शतरंज के बोर्ड की भांति का एक संख्यात्मक संजाल का पारिभाषिक शब्द है । यह मैट्रिक्स परिगणना भारतीयों एवं अरब वासियों की देन है और गणितात्मक परिगणना की संक्षिप्त विधि है जिसके द्वारा अनेक पृथक तत्वों के साथ क्रमबद्ध परिगणन सम्भव है ।

इस प्रकार से मैक्सबार्न को अनुभव होने लगा कि किन्हीं किन्हीं दशाओं में गणित तर्कशास्त्र से भी श्रेष्ठ सिद्ध होती है । फिर जोर्डन एवं हाइसेनबर्ग इन दो वैज्ञानिकों की सहायता से मैक्सबार्न ने "क्वांटम यांत्रिकी" के सिद्धान्त का विकास किया जिससे भौतिक घटनाओं के सांख्यिकीय-विश्लेषण का द्वार खुल गया । तब तो परमाणु-तन्त्रों के यान्त्रिकी एवं मापनीय संख्याओं में व्यक्त होने वाली सम्बद्ध समस्याओं के लिए क्वांटम यांत्रिकी एक सामान्य गणितीय भौतिक सिद्धान्त बन गया । इस सिद्धान्त की पुष्टि पाउली ने की । डिरैक भी अपनी परिगणन विधि के सहारे इसी अभिमत पर पहुँचे । किन्तु फिर भी अनेक विषमतायें थीं जिनके सम्बन्ध में समझौता शेष था । वर्नर हाइसेनबर्ग ने अपना कारणता सिद्धान्त (जिसे कभी-कभी निर्वारण सिद्धान्त भी कहते हैं) विकसित किया । इस नवीन सिद्धांत के द्वारा मैक्सबार्न के सिद्धान्त के समस्त दोषों का निराकरण हो गया । इस प्रकार से यह मान्य हो गया कि नाभिकीय घटनायें कारण रूप नियमों का पालन नहीं करतीं किन्तु वे सांख्यिकी द्वारा संचालित होती हैं । तब तो, 'जब भी... सदैव" इस सिद्धान्त के स्थान पर "जब भी...तो एक निश्चित प्रतिशत" पद प्रयुक्त होने लगा । इस सिद्धान्त को अनेक प्रतिक्रियावादियों ने ग्रहण नहीं किया क्योंकि उनके लिए तो "कारणता" का विनाश हो रहा था । आंइस्टाइन एवं मैक्स-प्लांक को भी यह सिद्धान्त मान्य नहीं हुआ ।

किन्तु गोटिंजेन का यह स्कूल बहुत दिनों तक स्थिर न रह सका । धीरे-धीरे कोपेनहेगेन ही सैद्धान्तिक-भौतिकशास्त्रियों का अड्डा बनने लगा । मैक्सबार्न ने सन् १९३३ ई० में गोटिंजेन से प्रस्थान कर दिया और कुछ काल तक कैम्ब्रिज एवं बंगलोर में रहकर वे एडिनबरा में जा बसे । यहाँ आकर उन्होंने भौतिकशास्त्र एवं दर्शन शास्त्र के बीचाबीच के विषय में अपना सारा समय लगाना प्रारम्भ कर दिया । किन्तु उन्हें एडिंगटन तथा जीन्स जैसी ख्याति नहीं मिल पाई । इसके बाद उन्होंने अनेक पुस्तकें लिखीं । वे सन् १९४५ में फिर जर्मनी लौट गये । तब उनकी पुस्तक "Physics in the Change of My Time" प्रकाशित हुई जिसमें उनके भाषण संग्रहीत हैं । इस पुस्तक के अध्ययन से पता चलता है कि सन् १९२१ में वे निश्चयवादी थे, १९५१ में वे सांख्यिकी के रूप में सोचते थे । उनके जीवन के साथी हैं सूक्ष्म कण, बल एवं क्षेत्र । तत्वमीमांसा (मेटाफिजिक्स) से, जहाँ कि तर्कशास्त्र के आधार पर ही पूरा विचार होता है, उनका कोई प्रयोजन नहीं रहता । आइंस्टीन ने जिस यान्त्रिकीय निश्चयवाद को आजीवन नहीं छोड़ा, वह मैक्सबार्न के लिए शास्त्रीय भौतिकी का ढोंग मात्र था । एक बार आइंस्टीन ने उनके पास लिखा था, 'अब हम प्रतिध्रुवस्थ हो गये हैं । तुम्हारा विश्वास है कि ईश्वर पाँसे डालता है और मैं पूर्ण एवं परम नियमों के रूप में सोचता हूँ ।'

इतने वर्ष पार कर चुकने के अनन्तर भी मैक्स-बार्न का अभिमत है कि यह संसार 'आत्मा के बंधन' से बँधा हुआ है । वे 'अन्तरिक्ष शोध' जैसे मानवीय ज्ञान की भर्त्सना करते हैं क्योंकि ये मानवता के लिये अहितकर हैं । वे यह जानते हैं कि उनके कहने से ही उनकी जीत नहीं होगी, किन्तु वे यह बता देना चाहते हैं कि भविष्य के लोग कम से कम यह तो कहेंगे कि आखिर एक व्यक्ति ऐसा था जो ऐसी शोधों का विरोध करता था । मैक्सबार्न उन वैज्ञानिकों में से हैं जिन्होंने नाभिकीय युद्धास्त्रों के विरुद्ध आवाज उठाई है । उनका अभिमत है कि मानव संहार की विभीषिकाओं पर आधारित शान्ति वास्तविक शान्ति नहीं हो सकती ।

सार संकलन

१. दर्द

जहाँ कहीं थोड़ी सी भी चोट लगी कि 'पीड़ा' होने लगती है। इसे हम बोलचाल की भाषा में 'दर्द' कहते हैं। वेदना भी इसी के लिये प्रयुक्त होता है। किन्तु यह देखा गया है कि कभी-कभी हाथों में दर्द का अनुभव नहीं होता। इसका कारण होता है एक प्रकार की बीमारी, जिसे श्रंगोमेलिया (Syringomyelia) कहते हैं जो स्पाइनल मेडुला (Spinal medulla) की बीमारी है। इस बीमारी से प्रभावित रोगी यदि जलते हुये तवे को भी हाथ से छू लेता है तो उसे किसी प्रकार का दर्द नहीं होता। किन्तु दर्द का अनुभव न होना लाभदायक सिद्ध न होकर भयप्रद होता है। ऐसे रोगियों के हाथ में ऐसी चित्तियाँ पड़ जाती हैं जिनसे इस विशिष्ट रोग का पता चल जाता है। यदि किसी स्वस्थ पुरुष का हाथ जलते तवे पर पड़े तो प्रतिक्रियावश वह उछल पड़ेगा क्योंकि ऐसी दशा में दर्द ही मुख्य सूचक होता है।

दर्द के सम्बन्ध में मैंज विश्वविद्यालय के देह-भौतिकी विद्यालय के निदेशक डा० हैंस श्रीवर ने बहुत अध्ययन किया है। उनका अभिमत है कि इतने अध्ययन के बाद भी केवल त्वचा के दर्द के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी हो पाई है। पेशियों, संधियों एवं अंत्रों में दर्द की गहराई के सम्बन्ध में अब भी बहुत कम ज्ञात है। बोलचाल में दर्द की मात्रा को या उसके प्रकार को व्यक्त करने के लिये अनेक शब्द प्रचलित हैं—यथा, मीठा-मीठा दर्द, कोंचने वाला दर्द, कसकने वाला दर्द, असह्य दर्द, दुःसाध्य दर्द, मर्मान्तिक दर्द इत्यादि। किन्तु इनमें से कौन सा दर्द प्राथमिक है और कौन सा मिश्रित, यह कहना कठिन है। अभी तक वैज्ञानिक अनुसन्धानों के फलस्वरूप केवल दो प्रकार के दर्दों के सम्बन्ध में जानकारी है—(१) ऊपरी दर्द (२) भीतरी दर्द अथवा गहरा दर्द। ये दोनों प्रकार के दर्द दो प्रकार के स्नायु-तंतुओं द्वारा उत्पन्न होते हैं। अन्य सभी प्रकार के दर्द इन्हीं दोनों के मिश्रण से अनुभव किये जाते हैं।

सभी प्रकार के दर्द उतने महत्वपूर्ण नहीं होते किन्तु इनमें से कुछ द्वारा अवश्य ही शरीर की कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में सूचना प्राप्त होती है। इन दर्दों के द्वारा यदि किसी भी ऊतक पर कोई बुरा प्रभाव पड़ने वाला होता है तो उसकी पूर्व सूचना हो जाती है। मनुष्य की त्वचा में स्थान-स्थान पर ऐसे केन्द्र हैं जिनमें दर्द का अनुभव हो जाता है किन्तु त्वचा से दर्द का एकसमान वितरण नहीं हो पाता क्योंकि त्वचा के संवेदनशील केन्द्रों द्वारा एक जैसा दर्द अनुभव नहीं होता। शरीर के विभिन्न अंग किसी भी दर्द को भिन्न-भिन्न मात्रा में अनुभव करते हैं।

दर्द की सूचना-प्रणाली के लिये यह आवश्यक है कि दर्द की सूचना समय से दे अन्यथा किसी ऊतक पर आघात हो जाने या क्षति पहुँच जाने के बाद उसकी कोई उपयोगिता नहीं रह जाती। उदाहरणार्थ जलती हुई चीज को छूने के लिये त्वचा की शक्ति

४३-४८° से० है। इसके ऊपर के ताप पर त्वचा को क्षति पहुँचेगी।

अब दर्द को मनुष्य की रासायनिक अनुभव शक्ति के रूप में माना जाने लगा है। यह ज्ञात किया जा चुका है कि रासायनिक उत्तेजनों में उतनी प्रखरता नहीं होती। उत्तेजनों के फलस्वरूप शरीर में ऐसे पदार्थ बनते हैं जो सामान्यतया शरीर में उत्पन्न नहीं होते। इन्हीं पदार्थों से शरीर में दर्द प्रारम्भ होने लगता है। यही नहीं, कुछ ऐसे पदार्थ भी बन सकते हैं जो स्वयं दर्द पहुँचाने वाले होते हैं। त्वचा दर्द में हिस्टामिन नामक औतकीय हार्मोन विशिष्ट कार्य करता है। इसी प्रकार उत्तेजनों के फलस्वरूप और भी अनेक पदार्थ बन सकते हैं। यही कारण है कि उत्तेजना दूर होने पर भी शरीर में दर्द बना रहता है और छोटे-छोटे उत्तेजनों के कारण तीव्रतर दर्द हो सकता है। जब भी इस प्रकार का दर्द अनुभव होता है, स्नायु-प्रणाली द्वारा वह मस्तिष्क तक पहुँचता है। मस्तिष्क ही समस्त प्रकार के दर्दों को बताने में सहायक होता है।

२. हमें ठंडक क्यों लगती है ?

गत वर्ष शीतलहरी के कारण मनुष्यों एवं पशुओं को जो कष्ट हुआ, वह अकथनीय था। पशु बेचारे निस्सहाय होने के कारण मरे तो मरे किन्तु न जाने कितने गरीब लोग भी समुचित वस्त्र न होने के कारण काल कवलित हो गये। चारों ओर पेड़ों का काट-काट कर होलियाँ जलाई गईं किन्तु क्या शीत गई ? नहीं।

अचानक ही शीत का प्रकोप बढ़ जाने से सबों के मनों में यह उत्सुकता होती है कि आखिर यह शीत हमें क्यों कर अनुभव होती है ? इसमें सन्देह नहीं कि सभी प्रकार के स्पर्शों का अनुभव मस्तिष्क द्वारा नियन्त्रित होता है, किन्तु कभी-कभी मस्तिष्क को धोखा भी हो जाता है। त्वचा द्वारा जितने ताप का अनुभव होता है, उसी पर मस्तिष्क निर्भर रह जाता है। फल यह होता है कि यदि ध्यान दिया जाय तो हमें कोई कोई ठंडी चीज उतनी ठंडी नहीं जान पड़ती। अथवा हमें ठंडक का वास्तविक आभास नहीं हो पाता।

ठंडक का अनुभव होना, यह एक प्राकृतिक रक्षा का साधन है। यदि हाथ, पाँव एवं मुँह को ठंडक लगती है तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि पूरे शरीर को ठंडक लग रही है। यह देखा गया है कि अधिक जाड़े के दिनों में हृदय, यकृत एवं अन्य आन्तरिक इन्द्रियों का ताप बाहर के ताप से अधिक रहता है अर्थात् जाड़े में भी वे गरम रहती हैं। यही कारण है कि शीत काल में हृदय रोग के आक्रमण अधिक होते हैं।

शीत को सहन करने की क्षमता व्यक्तियों पर निर्भर करती है। बेचारे गरीब जाड़े में भी रात्रि के समय फटे वस्त्रों को पहने घूमते रहते हैं जब कि धनवान रजाइयों के भीतर भी सिकुड़ते जाते हैं। समान ठंडक में कुछ दाँत कटकटावेंगे, कुछ में कँपकँपी छूट जावेगी किन्तु कुछेक ऐसे होंगे जो अप्रभावित रहेंगे।

ठंडक को बताने वाली है हमारी चेतना। पहले पहल ठंडक की विरोधी शक्ति कार्यशील होती है जिसके फलस्वरूप मांसपेशियाँ हिलने लगती हैं। इससे बदन में गरमी आने लगती है किन्तु पेशियों का यह हिलना अब और भीतर की ओर बढ़ता है। अन्त में जबड़े की हड्डियाँ प्रभावित होती हैं जिससे दाँत कटकटाने लगते हैं। किन्तु ये सभी लक्षण केवल ठंडक के ही कारण नहीं उत्पन्न होते। यह देखा गया है कि भयभीत होने पर भी इसी प्रकार की सिहरन उत्पन्न होती है। अतः यह स्पष्ट है कि ठंडक के कारण जन्य कँपकँपी या दाँतों की कटकटाहट ठंडक के भय के कारण है और मनोवैज्ञानिक हैं। यदि यह न ज्ञात हो कि ठंडक बुरी चीज है और हम उससे बीमार पड़ जावेंगे तो ये लक्षण हमारे शरीर में न उत्पन्न हों। ठंडक का भय ताप केन्द्रों के द्वारा सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है।

चिकित्सकों का अभिमत है कि हमारे शरीर में

"ठंड के विशिष्ट कटिबन्ध" हैं। सबसे पहले सिहरन का प्रारंभ बाहुओं से होता है और फिर छाती में। बहुत बाद में पाँवों की बारी आती है। यह भी देखा गया है कि जब सारे शरीर का ताप अत्यन्त न्यून हो जाता है और "खतरा" आने वाला होता है तब जाकर जाँघ की पेशियाँ प्रभावित होती हैं। शीत के ऐसे प्रभावों का अध्ययन प्रत्येक मांसपेशी की गति के कारण उत्पन्न विद्युत धारा को माप कर किया जाने लगा है। इस विधि को "इलेक्ट्रोमाइयोग्रैफी" कहते हैं। यह इलेक्ट्रोकार्डियोग्राफी के ही समान है—जिसमें हृदय की बलिष्ठतम पेशी की विद्युत नापी जाती है। जितनी ही बड़ी माँसपेशी होगी, विद्युत धारा का मापन उतना ही सरल होगा। इसके लिये विद्युदग्रों को मांसपेशियों से चिपका कर रखना पड़ेगा। सबसे सरल विद्युदग्र लोहे की सुई है जिसे पेशी के अन्दर प्रविष्ट करके धारा नापी जा सकती है।

३. शोरगुल का अन्त हो

सन् १९१० ई० में तपेदिक के जीवाणुओं के अन्वेषक रावर्ट कोख (Koch) ने यह भविष्यवाणी की थी कि एक न एक दिन मनुष्य को शोरगुल के विरुद्ध वैसी ही लड़ाई करनी पड़ेगी जैसी कि हैजे के रोग के साथ। इस महान् वैज्ञानिक की भविष्यवाणी सत्य उतरी है, क्योंकि दिनप्रति दिन शोरगुल के कारण शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ रहा है। फिर भी इससे छुटकारा पाने के प्रयत्नों की दिशा में अभी तक कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। यद्यपि यह भलीभाँति ज्ञात है कि लगातार ध्वनिकीय सम्पर्क में रहने से स्वास्थ्य खराब हो जाता है किन्तु इसके उपचार के विषय में चिकित्सक पंगु से बने हैं।

यह ज्ञात किया जा चुका है कि स्नायुतंत्रिका पर लगातार शोरगुल का प्रभाव पड़ने से विभिन्न अंग प्रभावित होंगे। ५०-६० फोन के स्तर का शोरगुल रुधिर प्रणाली पर बुरा प्रभाव डालता है। इस स्तर का शोरगुल नगरों की सड़कों में होता है जो शहर में मकानों के भीतर खिड़कियों से प्रविष्ट होता रहता है। यद्यपि निद्रा के समय इस प्रकार के शोरगुल से किसी प्रकार की हानि प्रतीत नहीं होती किन्तु इसका प्रभाव रक्त-प्रवाह पर पड़ता है। रक्त सम्पूर्ति ठीक से न होने के कारण विभिन्न इन्द्रियों की कार्य क्षमता में बाधा आ सकती है। यह भी देखा गया है कि कोलाहल से पूर्ण नगरों में रहने वाले बच्चों की वृद्धि पर बुरा प्रभाव पड़ता है। शोरगुल के कारण उनकी बाढ़ रुक जाती है। यही नहीं, हवाई अड्डों या रेलवे स्टेशन के पास के अस्पतालों में रहने वाले रोगियों पर भी शोरगुल का बुरा प्रभाव पड़ता है।

शोरगुल की प्रतिक्रिया मनोवैज्ञानिक भी है। कुछ लोगों पर शोरगुल का कोई प्रभाव नहीं देखा जाता। इसका कारण यह है कि वे इसके "आदी या अभ्यस्त हैं" किन्तु अभ्यस्त होना यह नहीं प्रदर्शित करता कि उन पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा। इसीलिये अमेरिका वायुसेना विभाग द्वारा इस सम्बन्ध में खोज हो रही है। सुपरसानिक जहाजों के आवागमन के कारण कर्मचारियों के वासस्थल बेकार हो जाते हैं। यद्यपि वर्षों से काम करने के कारण कर्मचारी अभ्यस्त हो जाते हैं किन्तु शोरगुल के कारण उनकी धड़कन बढ़ जाती है, पेशियों में तनाव आ जाता है और वैस्कुलर प्रणाली में संकोच होने लगता है। जो रोगी हृदय रोग से पीड़ित हैं अथवा जिन रोगियों की वृहत शल्य क्रिया होनी है, उनका ठीक रहना इस बात पर निर्भर करता है कि वे शोरगुल से सर्वथा पृथक किये जा सकते हैं या नहीं। आधुनिक मशीनों के युग में शोरगुल से मुक्ति पाना कठिन है किन्तु इस दिशा में अधिकाधिक प्रयत्नों की आवश्यकता हैं।

४. दो नये टीके

अमेरिका के सर्जन जनरल लूथर टैरी ने आशा प्रकट की है कि दो नये लाइसेंस-प्राप्त टीके विश्व के

सब से बड़े शिशु-रोग—खसरा या छोटी चेचक—के लिए उन्मूलक-साधन सिद्ध हो सकते हैं। इनमें से एक 'मृत' विषाणु टीका है और दूसरा एक "सजीव" दुर्बल विषाणु टीका। उन्होंने आगे कहा है कि यदि सभी शिशुओं को ये टीके लगा दिये जायें, तो आदर्श के रूप में यह लक्ष्य अमेरिका में दो वर्ष में पूरा हो सकता है। विदेशों में, जहाँ ये टीके बाद में प्रयुक्त होंगे, छोटी चेचक (मिजिल्स) के उन्मूलन में अपेक्षाकृत अधिक समय लगेगा।

उन्होंने आशा प्रकट की कि ये दोनों टीके कुछ ही महीनों के भीतर राष्ट्र के चिकित्सकों को सामान्य रूप से सुलभ हो जायेंगे। उन्होंने कहा कि शीघ्र ही, अमेरिकी सहायता कार्यक्रम के अन्तर्गत, थोड़ी मात्राओं में ये टीके एक दर्जन अफ्रीकी राष्ट्रों को भेजे जायेंगे।

अमेरिका में प्रति वर्ष औसत रूप से ४० लाख बच्चे छोटी चेचक से पीड़ित होते हैं, जिससे लगभग ४०० बच्चों की मृत्यु हो जाती है, और रोग में जटिलता उत्पन्न हो जाने के कारण हजारों अन्य बच्चे शारीरिक दृष्टि से असमर्थ हो जाते हैं।

संसार के अन्य भागों में इस रोग का बहुत अधिक भीषण रूप पाया जाता है, उदाहरण के लिए, लेटिन अमेरिका और अफ्रीका में, छोटी चेचक से पीड़ित बच्चों में से लगभग ५० प्रतिशत बच्चे मृत्यु के गाल में समा जाते हैं। मरने वाले बच्चों की कुल संख्या में से २५ प्रतिशत से अधिक का कारण छोटी चेचक ही है।

छोटी चेचक के ये दोनों टीके हारवर्ड विश्व-विद्यालय के नोबेल पुरस्कार-विजेता डा० जान एण्डर्स और उनके एक सहयोगी डा० टामस पीबुल्स, के अनुसन्धान के परिणाम हैं। उन्हें १९५४ में, छोटी चेचक के विषाणु के तन्तु को पृथक करने में सफलता मिली थी। १९५८ में उन्होंने एक सजीव विषाणु टीका तैयार किया।

पिछले कई वर्षों में अमेरिका के लगभग ५० हजार बच्चों और भारत, फिनलैण्ड, इसरायल, ब्राजील, चिली, दक्षिण अफ्रीका, नाइजीरिया, जापान, यूगोस्लाविया, सोवियत रूस, आइसलैण्ड, ब्रिटेन और कनाडा के हजारों अन्य बच्चों पर इन टीकों के सफल परीक्षण किये गये।

डा० टैरी ने कहा कि पिछले पतझड़ में अपर वोल्टा अफ्रीका में ७ लाख बच्चों को टीका देने का एक व्यापक कार्यक्रम लागू किया गया। आशा है कि उस के फलस्वरूप अनुमानतः एक लाख से लेकर पौने दो लाख तक की संख्या में बच्चे मौत से बच जायेंगे।

'मृत' विषाणु टीका एक-एक महीने के अन्तर से तीन बार दिया जाता है। सजीव विषाणु टीके के अन्तर्गत, एक टीके की एक सुई दी जाती है, किन्तु उसके साथ ही 'गामा ग्लोबुलिन' की भी एक सुई लगायी जाती है। 'गामा ग्लोबुलिन' एक रक्त तत्व है, जो चेचक के टीके के प्रतिकूल प्रभावों को दूर कर देता है।

डा० टैरी ने कहा कि यद्यपि सार्वजनिक स्वास्थ्य विभाग यह नहीं कहना चाहता कि इनमें से कोई एक टीका दूसरे से श्रेष्ठतर है, किन्तु इतना अवश्य है कि 'मृत' विषाणु टीके का प्रभाव लगभग एक वर्ष के बाद पूर्णतया उतर जाता है। उन्होंने कहा कि छोटी चेचक या मिजिल्स (रुब्योला, को भ्रम वश 'रुबेल्ला या जर्मन मिजिल्स समझने की गलती नहीं की जानी चाहिए) वस्तुतः रुबेल्ला' नामक जर्मन मिजिल्स के लिए अभी तक कोई टीका नहीं बना है। उन्होंने कहा कि पिछले वर्ष अमेरिकी अनुसन्धानकर्त्ताओं ने 'रुबेल्ला' के विषाणु को भी पृथक कर लिया। वे उसे प्रयोगशाला में विकसित कर रहे हैं जिससे यह आशा की जा सकती है कि उसका भी टीका दो या तीन वर्ष में तैयार हो जायेगा।

५. बहरे सुनने लगेंगे

बहरे लोगों को अपने बहरेपन का ज्ञान बहुत सताता है जिसकी वजह से वे अनेक खुशियों से वंचित

रहते हैं। श्रवण शक्ति का ह्रास अक्सर लोगों को अपना पेशा छोड़ने अथवा बदलने के लिए बाध्य कर देता है।

बहरेपन का सबसे आम कारण कान के अन्दर नर्म हड्डी का बन जाना (ओटोस्क्लेरोसिस) है, जिससे बहुत से लोग पीड़ित होते हैं। अनेक वर्षों के अनुसन्धान कार्य ने सिद्ध कर दिया है कि ओटोस्कले-रोसिस तरुणावस्था से ही शुरू हो जाता है। श्रवण शक्ति का ह्रास उन श्रवण-अस्थिकाओं की गति-शीलता के क्षतिग्रस्त हो जाने के कारण होता है जो ध्वनि-लहरियों को कान के पर्दे से मध्य-कर्ण के स्नायु-केन्द्र तक पहुँचाती हैं जो ध्वनि को सुनता है। इसके अतिरिक्त एक नयी हड्डी के बनने के कारण, सबसे छोटी श्रवण-अस्थिका वलयक आंतरकर्ण को जाने वाले अंडाकार द्वार में अचल रूप से जम जाती है और रोगी अपनी श्रवण-शक्ति खो देता है।

ऐसे रोगी सिर्फ अपनी श्रवण-शक्ति ही नहीं खो देते, उनके कान दिन-रात बजते रहते हैं जिससे उन्हें बहुत परेशानी होती है। शान्त वातावरण में यह कान बजना और तीव्र हो जाता है।

ओस्टोक्लेरोसिस पर हर रोगी की प्रतिक्रिया अलग अलग होती है— किन्तु एक बात सबमें समान होती है— वे सभी एकान्त जीवन बिताते हैं। वे यह सुनने के लिए डाक्टर के पास जाने से डरते हैं कि यह रोग असाध्य है और इसका परिणाम ठेठ बहरापन हो सकता है।'

अनेकों सदियों तक ओटोस्कलेरोसिस से पीड़ित लोगों के मामले को दुःसाध्य समझा जाता रहा। फिर भी वैज्ञानिकों ने बहरेपन के खिलाफ बराबर अधिका-धिक सक्रिय संघर्ष जारी रखा। लगभग १० वर्ष हुए शल्य क्रिया द्वारा वलयक की गतिशीलता पुनः स्थापित करने के प्रयासों को पुनः आरम्भ किया गया। यह बहुत ही नाजुक आपरेशन होता है क्योंकि कान के पर्दे को बिना कोई क्षति पहुँचाए हटाना होता है, और फिर सर्जन को बहुत गहरे में आपरेशन करना होता है जहाँ औजार की जरा-सी भी चूक का अर्थ विफलता हो सकती है।

सोवियत संघ में पहले-पहल प्रोफेसर **ए० आई० कोलोमीचेंको** ने बहरेपन को दूर करने के लिए ये आपरेशन शुरू किये। पहले इस काम में काफी कठिनाइयाँ आयीं। अत्यन्त सूक्ष्म औजार तथा प्रकाश-यंत्र तैयार करने जरूरी थे। अतः जब १०० में से केवल ५० आपरेशन सफल हुए, तो सर्जन को संतोष नहीं हुआ किन्तु रचनात्मक अनुसन्धान के द्वारा आप-रेशन की विधि में बहुत निखार आया है और अब ९२ प्रतिशत आपरेशन सफल होते हैं।

पिछले छः वर्षों में प्रोफेसर ए० आई० कोलो-मीचेंको और उनके निकटतम सहायकों ने कीव में ओटोस्क्लेरोसिस से पीड़ित रोगियों की श्रवण-शक्ति को पुनः ठीक करने के लिए ३५०० से अधिक आपरेशन किये हैं। हजारों व्यक्तियों को वे निस्तब्धता के सूने जङ्गल से निकाल कर ध्वनियों की रङ्गीन दुनिया में ले आये हैं।

१. भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् के दो नये त्रैमासिक

"भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्' ने पशु जाति सम्पत्ति पर अभी दो नयी लोकप्रिय और सचित्र त्रैमासिक पत्रिकायें 'इंडियन लाइव स्टाक' अंग्रेजी में और 'पशुपालन' हिन्दी में निकालनी प्रारम्भ की है।

इन पत्रिकाओं का मुख्य उद्देश्य पशुपालकों को पशुओं के पालन-पोषण, प्रजनन, आहार, रोग नियंत्रण आदि की वैज्ञानिक विधियों के बारे में जानकारी देना है।

'पशुपालन' और 'इंडियन लाइव स्टाक' के प्रथम अंक प्रकाशित हो चुके हैं। इन अंकों में पशुपालन सम्बन्धी नवीनतम अनुसंधानों का सार, पशुओं के मेले, पशुपालन विकास की योजनायें, मुर्गी-पालन, भेड़-बकरी-पालन आदि पर अधिकारपूर्ण लेख सचित्र प्रकाशित किये गये हैं। इनका मूल्य प्रति अंक एक रुपया और वार्षिक चार रुपये है। इनको निम्नलिखित पते से प्राप्त किया जा सकता है :—

व्यवसाय प्रबन्धक,
भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्,
कृषि भवन, नयी दिल्ली।

२. कोयले से नए उर्वरक का निर्माण

अमेरिकी और कनाडियन वैज्ञानिकों ने मिलकर कोयले से एक ऐसे नए रासायनिक पदार्थ का निर्माण करने में सफलता प्राप्त की है, जिसे उर्वरा शक्ति से हीन भूमि को पुनः उर्वर बनाने के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त इसे खेतों में सामान्य रासायनिक उर्वरक के रूप में भी इस्तेमाल किया जा सकेगा।

अनुसंधान से यह विदित हुआ है कि यह कई प्रकार की बेकार मिट्टियों को उपजाऊ मिट्टी के रूप में परिणत करने तक में पूरी तरह समर्थ है।

अनुसंधान-कर्ताओं का कथन है कि संसार के उन भागों में, जहाँ की कृषि-भूमि सदियों के कृषि-कार्यों के फलस्वरूप अपनी उर्वरा शक्ति को लगभग खो बैठी है, इस नए पदार्थ के उपयोग से फार्मों को पुनः उपजाऊ बनाया जा सकेगा। उक्त रासायनिक पदार्थ की खोज की घोषणा अमेरिका के डाक्टर रोजर डब्ल्यू॰ यंग्स तथा डा॰ एन॰ बर्कोविट्ज (कनाडा) ने अमेरिकन कैमिकल सोसाइटी के १४३ वें सम्मेलन में की है।

उक्त डाक्टरों ने उक्त रासायनिक उर्वरक 'लिगनाइट' नामक नरम कोटि के कोयले से प्राप्त किया है। इस नए रासायनिक उर्वरक में ह्यूमिक अम्लों की बहुलता है। इन अम्लों का 'ह्यूमस' नामक उस प्राकृतिक तत्व से घनिष्ठ सम्बन्ध है, जो उर्वरा मिट्टी में सामान्य रूप से विद्यमान रहता है।

'यू॰ एस॰ ब्यूरो ऑव माइन्स' की ग्रेण्ड फार्क्स (उत्तरी डकोटा) स्थित लिगनाइट अनुसंधान परीक्षणशाला के डाक्टर यंग ने कहा है कि खेतों में अमोनिया के साथ मिला कर इस पदार्थ का उपयोग करने पर बुवाई करने में आसानी होने के साथ-साथ मिट्टी की नमी को बनाए रखने तथा पौधों को अधिक तेजी के साथ पोषक खनिज तत्त्व पहुँचाने में सहायता

मिलेगी। उन्होंने यह भी बताया कि संसार के अनेक भागों के लिए, जहाँ की मिट्टी में इन तत्वों की कमी है अथवा जहाँ दीर्घकालीन और व्यापक कृषि कार्यों के फलस्वरूप भूमि की उर्वरा शक्ति क्षीण हो गई है, यह नया रासायनिक उर्वरक बहुत उपयोगी सिद्ध होगा।

रिसर्च काउंसिल ग्रौव् एलबर्टा (एडमौण्टन, कनाडा) की कोयला अनुसंधानशाला के अध्यक्ष डा० बर्क विट्ज ने बताया है कि कई प्रकार की मिट्टियों को उपजाऊ मिट्टी में बदलने के लिए ह्यूमिक अम्लों का बड़े पैमाने पर उपयोग किया जा सकता है। उन्होंने कहा कि नए अनुसंधान परिणामों से यह प्रतीत होता है कि ह्यूमिक अम्लों से जनित पदार्थों का उपयोग चमड़ा कमाने वाले कृत्रिम पदार्थों का निर्माण करके भूमि में ड्रिल (छिद्र) करने के मार्ग में बाधा उपस्थित करने वाली कड़ी मिट्टी को मुलायम करने तथा आणविक भट्टियों के कृत्रिम ग्रेफाइट का निर्माण करने के लिए इसे प्रयुक्त किया जा सकता है।

३. ध्रुव विषुवत रेखा की ओर आ रहे हैं

प्रसिद्ध सोवियत महासागर विद्याविद् वासिली नजारोव के मतानुसार उत्तर और दक्षिण ध्रुव इस समय अपने स्थान से विषुवत् रेखा की ओर खिसक रहे हैं। उनकी राय में अगर ध्रुवों के हटने की वर्तमान प्रवृत्ति एक लाख वर्ष और बनी रही, तो पृथ्वी के जलवायु क्षेत्रों में परिवर्तन हो जाएगा।

न्यूफाउण्डलेण्ड और कनाडा के क्षेत्र काफी ठंडे हो जायेंगे। दक्षिणी गोलार्द्ध में आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड का भी यही हाल होगा। उधर साइबेरिया चुकोत्का, जापान, चीन, अर्जेण्टाइना और उरुगुए कुछ उष्ण हो जाएँगे। इस परिवर्तन का परिणाम यह, होगा कि क्यूबा बीच के अक्षांशों में आ जायगा, जब कि अमेजन नदी उत्तरी गोलार्द्ध में होगी।

४. यती के रहस्य पर प्रकाश

'यदि हम यती के अवशेषों की खोज करें, तो वे मिल सकते हैं, परन्तु जीवित प्राणी नहीं मिल सकता।' यह मत प्रसिद्ध भूगोलवेत्ता तथा पर्वतारोही ब्लादीमीर रातसेक ने व्यक्त किया है। रातसेक मध्य एशिया के पर्वतों के बारे में प्रामाणिक जानकारी रखने वाले प्रमुख व्यक्ति माने जाते हैं।

'भयानक हिम-मानव' के प्रश्न का अध्ययन करने के लिए सोवियत विज्ञान अकादमी ने जो आयोग गठित किया था, रातसेक उसके सदस्य थे। रातसेक ने 'भयानक हिम-मानव का रहस्य' नाम की पुस्तक भी लिखी है। उनका कहना है कि 'हिम-मानव' सम्बन्धी अनेक अभियानों का कोई नतीजा नहीं निकला बल्कि उनसे इस तर्क का खण्डन हो गया है कि यह प्राणी विद्यमान है।

हिम-मानव के होने का केवल एक आश्वस्तकारी प्रमाण है जिसका खण्डन नहीं हुआ। वह है इस रहस्यमय जीव के बारे में काकेशिया, पामीर, तियेन-शान और हिमालय के २००-२५० लाख वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में फैली दन्तकथाएँ।

जनता की स्मृति में कोई चीज आकस्मिक नहीं होती। परियों की कहानियों का भी कुछ आधार है। हिम-मानव के बारे में भी यही बात सच है।

५. कार के लिए सबसे सुरक्षित रंग

अमेरिकन मेडिकल एसोसियेशन द्वारा प्रकाशित 'टुडेज हेल्थ' नामक पत्रिका के हाल के एक अङ्क में प्रकाशित एक लेख के अनुसार, मोटर चलाने में सुरक्षा की दृष्टि से कार के नीले और पीले रङ्ग सबसे अधिक सुरक्षित रङ्ग हैं।

लेख में बताया गया है कि किसी मोटर गाड़ी का रङ्ग जीवन और मृत्यु का अन्तर उपस्थित कर सकता है। लोसएंजेल्स के केलिफोर्निया विश्वविद्यालय में किये गये अनुसन्धान से पता चला है कि निकट आती हुई मोटर गाड़ी का रङ्ग निश्चित रूप से

चालक के इस निर्णय को प्रभावित करता है कि वह गाड़ी कितनी दूरी पर है।

२०० फुट की दूरी से देखने पर कुछ विशेष रङ्गों वाले पदार्थ अन्य रङ्गों की अपेक्षा ६ फुट के आस-पास निकटतर प्रतीत होते हैं। अनुसन्धान-कर्ताओं का कहना है कि सामान्य स्थितियों के अंतर्गत दूरी का अनुमान लगाने में ६ फुट की गल्ती के कारण गम्भीर दुर्घटना हो सकती है। विभिन्न प्रकार की १६४ गाड़ियों पर किये गये रङ्ग सम्बन्धी परीक्षणों में यह देखा गया कि नीले और पीले रङ्गों के कारण दूरी की वस्तुएँ, रात या दिन—दोनों ही अवस्था में सबसे निकट दिखलायी पड़ती हैं। इसके विपरीत भूरे रङ्ग के कारण वस्तुएँ सबसे अधिक दूर दिखलायी पड़ती हैं। दिन के प्रकाश और कुहरे में नीला रङ्ग और रात में पीला रङ्ग सबसे अधिक सुरक्षित प्रतीत हुआ।

६. गेहूँ से निकाले गये रसायन

अमेरिकन केमिकल सोसायटी की एक हाल की बैठक में प्रस्तुत एक रिपोर्ट में बताया गया कि गेहूँ से कुछ ऐसे रसायन निकाले गये हैं, जो घावों को शीघ्रता से भरने में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं। पुर्ड्यू विश्वविद्यालय के जीव-रसायन शास्त्री प्रोफेसर हैनरी सी० रीट्ज ने बताया कि जिन रसायनों का प्रयोग हुआ है, उनमें ग्लूटेन सल्फेट और सल्फेटेड स्टार्च सम्मिलित हैं। ग्लूटेन सल्फेट गेहूँ के आटे से तैयार होने वाला एक घाव भरने वाला पाउडर है, जब कि सल्फेटेड स्टार्च रक्त को सूख कर चकत्ता न बनने देने वाला रसायन है।

एक सावधानी से नियन्त्रित परीक्षण के अन्तर्गत चूहों के घावों पर इन दोनों पदार्थों के समान घोलों को छिड़क दिया गया। उसके बाद प्रोफेसर रीट्ज और उनके सहयोगियों ने एक स्वविकसित नयी विधि द्वारा उनके घावों के भरने की गति को नापा। यह देखा गया कि १५ दिन तक की भिन्न-भिन्न अवधियों के बाद उनके घावों का भरना प्रारम्भ हो गया।

प्रोफेसर रीट्ज ने बताया कि एक अन्य चिकित्सक ने इसी ग्लूटेन सल्फेट का प्रयोग अपने रोगियों पर किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि इसके प्रयोग से घाव शीघ्र ही भरने लगते हैं। पुर्ड्यू विश्वविद्यालय के जीव-रासायनिकों ने अब प्रयोग द्वारा इस निष्कर्ष की पुष्टि कर दी है।

प्रोफेसर रीट्ज ने कहा कि परीक्षणों से पता चलता है कि अकेले ग्लूटेन सल्फेट के प्रयोग से घाव भरने की गति ३५ प्रतिशत बढ़ जाती है। उन्होंने बताया कि चूहों पर इसके प्रयोग से घाव अधिक शीघ्रता से भरते देखे गये।

उन्होंने बताया कि सभी सल्फेटेड कार्बनिक घोल घाव को भरने में उपयोगी सिद्ध नहीं होते। किन्तु प्रयोग से पता चला कि खून को चकत्ता बनने से रोकने वाला रसायन ही ग्लूटेन सल्फेट से अधिक तीव्र गति से घाव को भर सकता है।

७. धरती के इर्द-गिर्द हाइड्रोजन का बादल

सोवियत ज्योतिर्विद् प्योत्र श्चेग्लोव ने धरती के इर्द-गिर्द हाइड्रोजन के चौरस किस्म के बादल की खोज की है। कोई अन्तरिक्ष यात्री चन्द्रमा की सतह से विशेष यंत्र की सहायता से इस बादल को देख सकता है। इसका आकार शनि-वलय से मिलता-जुलता है। अनुमानों से पता चलता है कि यह बादल धरती से इतनी ऊँचाई पर तिरता है जो १० हजार किलोमीटर से अधिक नहीं है। बादल बहुत बड़ा है और हमारे क्रान्ति वृत्त की सतह पर है।

ज्योतिर्विद् ने प्रतिपादित यह किया है कि हाइड्रोजन पुंज अन्तर्ग्रह गैस से करीब १००० गुना घना है। नये अति स्पन्दनशील यंत्रों की बदौलत इसकी खोज करना सम्भव हुआ।

इन यंत्रों से जो संकेत मिले हैं, उनके अनुसार इस बादल की गति पाँच किलोमीटर प्रति सेकेण्ड है। हाइड्रोजन की यह चौरस तश्तरी अचल है।

इसके पूर्व सिर्फ इतना मालूम था कि पानी और मिथेन ८० किलोमीटर की ऊँचाई पर उठकर विघटित

(शेष पृष्ठ ६४ पर)
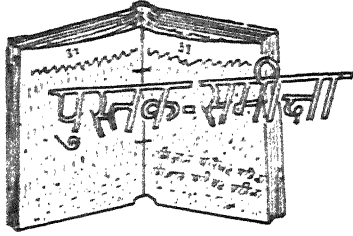
इशारात नक्लबन्दी—सन् १८७४ में प्रकाशित एक अनूदित पुस्तक। समीक्षक —बाबूराम वर्मा, देहरादून।

वन अनुसन्धानशाला, देहरादून में २१ व २२ नवम्बर १९६१ को सम्पन्न हुए वैज्ञानिक वानिकी के शताब्दी समारोह ने जनता और विद्वज्जनों के सम्मुख वैज्ञानिक वानिकी को जैसे सशरीर ही लाकर प्रस्तुत किया है। वन-पालक स्वभावतया अधिकतर भारतीय वनों का वैज्ञानिक ढंग से प्रबन्ध करने में लगे रहते हैं और उन्हें वानिकी पर वैज्ञानिक चिन्तन करने या उसके विषय में प्रचुरता से नवीन उद्भावनाओं को प्रगट करने का बहुत कम समय मिल पाता है। इतना होने पर भी १८६१ ई० में विभिन्न प्रान्तों में वन-विभागों की स्थापना के उपरान्त वानिकी पर भारत में भी साहित्य उपलब्ध होने लग गया था। वन विभाग की स्थापना के आरम्भिक वर्षों तथा विकास-क्रम में काफी अधिक समय तक इन वन विभागों के निदेशक ही नहीं अपितु अधिकांश उच्च कर्मचारी भी ब्रिटिश रहे, अतः उनके द्वारा लिखित साहित्य, जैसे कि आशा की जा सकती है, उनकी मातृभाषा अर्थात् अंग्रेजी में ही प्रकाशित हुआ। १९०६ ई० में देहरादून में वन अनुसन्धानशाला की स्थापना के पश्चात् यह साहित्य-रचना विविध और अनेक विषयों पर की जाने लगी, क्योंकि अनुसन्धान कार्य से नये-नये परिणाम सामने आए जिसके फलस्वरूप इस साहित्य में वन-संवर्द्धन, कीटविज्ञान, औद्भिदी जैसे विषयों से लेकर अभियांत्रिकी तक के विषयों पर लिखा हुआ साहित्य समाविष्ट था। ये रचनाएँ अत्यन्त महत्वपूर्ण थीं, क्योंकि चाहे मूल वैज्ञानिक सिद्धान्तों को योरप से ग्रहण किया गया हो, उन सिद्धान्तों का व्यावहारिक परीक्षण और उपयोग भारतीय वनों या भारतीय प्रकाष्ठों के सन्दर्भ में किया गया था। इसी कारण से इस साहित्य का पाश्चात्य संसार में भी बड़ा मान हुआ। अंग्रेजों और अंग्रेजी के अभ्युदय तथा गौरव काल में भारतीय भाषाओं में किसी ने वानिकी से सम्बद्ध वैज्ञानिक विषय पर लेखनी चलाकर साहित्य प्रणयन करने की ओर ध्यान नहीं दिया और इसे सौभाग्य ही समझना चाहिए कि किसी दूरद्रष्टा ने इन परित्यक्ताओं के माध्यम से भी अंग्रेजी से अनुवाद करके या विभिन्न स्रोतों से सामग्री एकत्र करके या अपने चिन्तन, मनन, परीक्षण के आधार पर मौलिक रचना करने का सत्साहस किया। वानिकी से सम्बद्ध विषयों पर किए गये इन प्रयत्नों का ऐतिहासिक कालानुक्रमानुसार अध्ययन करना, इसलिए, उतना ही लाभप्रद है जितना कि अन्य प्राविधिक या मूल विज्ञानों के विकासक्रम का अध्ययन करना, क्योंकि इन विज्ञानों का स्थान भी वैज्ञानिक जगत में अब नगण्य या उपेक्षणीय नहीं रह गया है।

हिन्दी को दिये गये महत्व और अन्तर्राज्यीय व्यवहार की भाषा, आधुनिक विचारधारा का वाहन

और भारतीय प्रायद्वीप में वैज्ञानिक ज्ञानराशि का प्रचार व प्रसार करने के कार्य को पूरा करने के लिए इस भारतीय भाषा को मिली हुई भूमिका को देखते हुए मुझे यह मालूम करने की प्रेरणा हुई कि भारतीय स्वतन्त्रता उपलब्धि के उपरान्त हिन्दी को मिली हुई प्रधानता, संरक्षण और ध्यान से पूर्व इसमें वानिकी या वानिकी से सम्बद्ध विषयों पर किसी प्रकार की साहित्य रचना हुई थी अथवा नहीं, और यदि हुई, तो वह कौन सी पुस्तक है, चाहे वह अनुवादित रहा हो या वह मौलिक रचना हो, जो वानिकी या वानिकी से सम्बद्ध विज्ञानों पर सर्वप्रथम पुस्तक होने का गौरवपूर्ण पद प्राप्त करने की अधिकारिणी हो सकती है। इस खोज में प्रवृत्त होने पर मैंने एक मूलभूत मान्यता को अपने सामने रखा है कि हिन्दी और उर्दू दो अलग-अलग भाषाएँ नहीं हैं, क्योंकि मैं भी सामान्य रूप से अधिकांश विद्वानों और जनता द्वारा ग्रहीत इस मान्यता का पक्षपाती हूँ कि हिन्दी और उर्दू एक ही भाषा को लिखने के दो प्रकार, दो शैलियाँ या दो ढंग हैं, जिनका मुख्य भेद लिपि का और कुछ सीमा तक गौण भेद शब्दों के व्यवहार में विशेष प्रकार के शब्दों के चयन करने का है। फलतः हिन्दी के जिस रूप में फारसी-अरबी प्रधान या उनसे अनुस्यूत शब्दों के प्रयोग पर बल दिया जाता है उसे उर्दू नाम से पुकारा जाता है परन्तु हिन्दी के जिस रूप में संस्कृत तत्सम या उन्हीं के तद्भव या प्राकृत शब्दों का अधिक उपयोग किया जाता है, उसी को सामान्य रूप से हिन्दी कहने का चलन है। यदि इन गौण अन्तरों को दृष्टिगत न किया जाए तो दोनों तथाकथित भिन्न भाषाएँ चलते-चलते एक ही स्तर पर पहुँच जाती हैं जो शब्द चयन, वाक्य रचना, व्याकरण और रचनाशैली में आश्चर्यजनक रूप से समान हो जाता है। इसी कारण अपनी खोज में मैंने फारसी लिपि में लिखी गई रचनाओं को हिन्दी की ही स्वीकार किया है परन्तु किसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न न होने पाए इसलिए उर्दू का भी स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है।

इस स्थापना को स्पष्ट करने के पश्चात् मैं मूल विषय पर आता हूँ, और मेरा निवेदन है कि इस समय उपलब्ध जानकारी को देखते हुए यह गौरवपूर्ण पद उर्दू (या फारसी प्रभावित हिन्दी) में श्री बी० रिबनट्रॉप की 'पुस्तक हिंट्स ऑन आर्बोरीकल्चर फॉर पंजाब के लिये अनुवाद इशारात नख्लबन्दी, पंजाब को प्राप्त है जिसका प्रकाशन सन् १८७४ई० में लाहौर से किया गया था। श्री रिबनट्रॉप की मूल अंग्रेजी पुस्तक का पहला संस्करण १८७३ ई० में निकला, और उसके पीछे-पीछे फौरन १८७४ ई० में यह उर्दू अनुवाद आ पहुँचा। इस मूल्यवान पुस्तक की प्रति वन अनुसन्धानशाला एवं महाविद्यालय देहरादून के केन्द्रीय पुस्तकालय में वर्तमान हैं। इसकी वर्तमान वर्गीकरण संख्या A 27 R/B और अवाप्ति (प्राप्ति) (Accession) संख्या एफ० ८८८० है। यह अवाप्ति संख्या भ्रामक है, क्योंकि वन अनुसन्धानशाला के केन्द्रीय पुस्तकालय में कर्मचारियों की कमी और वर्गीकरण पद्धति बदलते रहने से यह अवाप्ति संख्या काफी कालोपरान्त लगी है। वैसे इस पुस्तक का १९३८ में प्रकाशित की गई वर्गीकृत पुस्तक सूची (१९३४) में उल्लेख है और वर्गीकरण संख्या १२४ के नीचे पृष्ठ ४२२ पर इसका नाम अंकित है। इससे पहले वाली पुस्तक रिबनट्रॉप लिखित हिंट्स आन आर्बोरीकल्चर फॉर पंजाब ही है। केन्द्रीय पुस्तकालय वाली प्रति पर कपड़े की पक्की जिल्द बँधी हुई है जिसके ऊपर चिट चिपकाकर पुस्तक का नाम छापा गया है। यही पद्धति अंग्रेजी वाली प्रति में अपनाई गई और उर्दू वाली प्रति उसका अक्षरशः अनुकरण करती है।

इस पुस्तक का उर्दू अनुवाद सन् १८७४ ई० में ला० ठाकुरदास बी० ए० हेडमास्टर, नार्मल स्कूल लाहौर ने किया, परन्तु इस तथ्यमात्र के अतिरिक्त अनुवादक महोदय के विषय में पुस्तक से कुछ ज्ञात नहीं होता। अनुवाद से पूर्व किसी प्रकार की भूमिका या प्रस्तावना आदि नहीं है और अनुवाद मूल पुस्तक

के १८७३ ई० में छपे हुए प्रथम संस्करण का पूरी अनुकरण करता है। मुद्रक का नाम भी इसमें नहीं दिया गया, और न पुस्तक प्राप्त करने का पता या स्थान जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि संभवत: पुस्तक की बिक्री अनुवादक द्वारा ही की जाती होगी या यदि इसका प्रकाशन पंजाब वन-विभाग के आदेश पर हुआ हो तो इस कार्य को पंजाब वन-विभाग की पुस्तकों को सामान्य रूप से बेचने वाला अभिकरण ही करता होगा। मुद्रक आदि के नाम का अभाव इसलिए है कि उस समय शायद कॉपीराइट अधिनियम नहीं था, जिसके अनुसार अब ऐसा करना अनिवार्य बनाया गया है।

पुस्तक चार अध्यायों (बाबों) में विभक्त है जिनमें से अन्तिम अर्थात् चतुर्थ अध्याय, जिसमें पंजाब के अनेक महत्वपूर्ण (वन) वृक्षों को उगाने और उनकी देख-रेख पर विस्तारपूर्वक लिखा गया है, सबसे बड़ा है। पुस्तक अच्छे, भूरापन लिये हुए श्वेत कागज पर छपी है जो इतना अधिक काल बीत जाने पर भी अच्छी दशा में है। प्रत्येक पृष्ठ पर सामान्यत: १६ पंक्तियाँ हैं, परन्तु जहाँ बीच में शीर्षक आ गये हैं या चित्र हैं या सारणियां हैं, वहाँ पर स्वभावत: पंक्तियाँ कम हैं। कहीं-कहीं एक से अधिक शीर्षक भी उसी पृष्ठ पर आए हैं, वहाँ पर तो पंक्तियों की संख्या और भी कम है। शीर्षकों को मोटे अक्षरों में लिख कर स्पष्ट रूप से अलग किया है। पृष्ठ संख्या १३२+९ +१ है जिसमें मूल ग्रन्थ के अतिरिक्त उससे पहिले के ९ पृष्ठों पर दो कालमों में लिखी हुई विषय सूची है १-पृष्ठ पर अति संक्षिप्त भूमिका है जिसमें बताया गया है कि चारों अध्यायों में अलग-अलग क्या-क्या बताया गया है। इसकी भाषा फारसी प्रभाव युक्त उर्दू (या आपकी इच्छा हो तो इसे आप हिन्दी भी कह सकते हैं) जिसे सभी अच्छी तरह पढ़ और समझ सकते हैं। फारसी प्रधान होने पर भी इसमें दुरूहता नहीं है। पारिभाषिक शब्दों के हिन्दी या उर्दू पर्यायों का प्रयोग तो किया गया है, परन्तु कोष्ठकों में उनके प्रति-शब्दों को नहीं रखा गया, जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अनुवादक का तात्पर्य यही था कि उसके पाठक उन शब्दों के द्वारा ही भाव ग्रहण करने का प्रयत्न करें और अग्रज प्रति-शब्दों को समझने और उनसे तुलना करने के चक्कर में न पड़ें (जैसा कि आजकल आवश्यक समझा जाता है)। इसका कारण यही होगा कि उस समय अंग्रेजी जानकारों का ही अभाव था जैसा आजकल नहीं रहा। दूसरा कारण यह स्वीकार करना चाहिए कि अनुवाद करते समय अंग्रेजी पारिभाषिकों की पूरी विवेचना करने के पश्चात् ही अनुवादक ने उर्दू का शब्द रखा होगा, और उसे उसकी उपयुक्तता में पूरा विश्वास था। उसको उपयुक्त घोषित कराने के लिए उसको अंग्रेजी पारिभाषिक के साक्ष्य की अनवरत आवश्यकता मालूम नहीं हुई। मूल अंग्रेजी पुस्तक के सादे रेखा-चित्रों को उस उर्दू अनुवाद में भी रखा गया है जिन्हें पुस्तक के पृष्ठ १३४ से १४२ व १४६-७ पर देखा जा सकता है। इनको रखने का तात्पर्य विषयवस्तु को स्पष्ट करके समझाना है। पुस्तकों में प्रयुक्त आजकल के चित्रों को देखते हुए ये रेखाचित्र अब साधारण और अटपटे हैं। परन्तु उस युग में अवश्य ही उपयोगी रहे होंगे। पाठकों को यह जानना मनोरंजक होगा कि अंग्रेजी पुस्तक के १८७४ में प्रकाशित किये हुए दूसरे संस्करण में इन रेखाचित्रों को स्थान नहीं मिला है और उन्हें छोड़ दिया गया है। वृक्षों के लातीनी या औद्भिदिक नामों को इसमें नहीं रखा गया जबकि मूल अंग्रेजी पुस्तक में औद्भिदिक नामों को रखा गया है। अंग्रेजी पुस्तक के भारतीय नामों को तो लिया गया है परन्तु इस अनुवाद में केवल भारतीय नाम लिए गए हैं। हो सकता है कि औद्भिदिक नामों को इसलिए छोड़ दिया गया हो कि सामान्य जनता के लिए उसका कोई उपयोग नहीं है। न तो वह इन्हें समझती ही है और न समझने का कष्ट ही उठाना चाहती है। आजकल भी स्थिति लगभग वैसी ही है। सत्य तो यह है कि वैज्ञानिकों के लिए भी ये दुरूह नाम और

अटपटे शब्द-समूह आतंक ही हैं और वैज्ञानिक साहित्य के अतिरिक्त जनता में उनकी पूछ कहीं नहीं होती। अनुवादक महोदय ने इनको नहीं रखा तो सामान्य जनता भूल भूलैयां में पड़ से बची ही होगी।

इस पुस्तक के विषय में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि १८७४ ई० में भी आर्बोरीकल्चर (वृक्ष-संवर्धन) जैसे विषयों में जनता रुचि लेती थी (तभी तो रचना हुई होगी), जबकि भूतकाल की अपेक्षा अधिक शिक्षित और जागरूक आजकल की जनता पर सामान्य आरोप लगाया जाता है कि उनको वैज्ञानिक विषयों पर लिखी गयी पुस्तकों में रुचि नहीं है, जो एकदम निराधार है। जनता की रुचि को ध्यान में रखते हुए ही अनुवादक ने इस पुस्तक का पूरा-पूरा और बिना एक शब्द घटाए या बढ़ाए, उर्दू अनुवाद प्रस्तुत करने का कष्ट किया होगा। यह भी हो सकता कि स्वयं रिबनट्रॉप महोदय ने अपने विभाग के अधीनस्थ कर्मचारियों के उपयोगार्थ अपनी पुस्तक का अनुवाद तैयार कराया हो (अपनी अँग्रेजी पुस्तक की भूमिका में उन्होंने कहा है मुझे आशा है कि यह पैम्फ-लेट जिला अधिकारियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा जिनकी ओर से इसे प्रकाशित किया जा रहा,[१] परन्तु पुस्तक में ऐसा कोई आलेख नही है जिनके आधार पर इस स्थापना को बढ़ाया जा सके। यह अटकल मात्र है, परन्तु यदि यही सत्य हो तो रिबनट्रॉप महोदय को इस दूरदृष्टि का श्रेय देना अनिवार्य हो जाता है।

जब तक ऐसा सिद्ध न हो जाए तो हमको वानिकी से अति निकट सम्बन्ध रखने वाले विषय, वृक्ष-संवर्धन पर प्रथम (अनुवादित) पुस्तक प्रणयन करने का पूरा (अविभाजित) श्रेय लाहौर के श्री ठाकुर दास बी० ए० को ही देना पड़ेगा। हमारी केवल यही कामना है कि इस पथीकर्ता दूरद्रष्टा अनुवादक (लेखक) के विषय में हमें कुछ अधिक जानकारी मिल पाती, जिन्होंने अपने समय से इतने आगे की आवश्यकता को अनुभव किया और आज से लगभग ८४ वर्ष पूर्व वानिकी से सम्बद्ध विषय पर पहली पुस्तक की रचना की। इसी दिशा में इतने वर्षों पश्चात् अब राज्य सरकारें मिलकर कार्य करने लगी हैं और उसने कार्य को आगे बढ़ाएँगी।

वृक्ष-संवर्धन (आर्बोरीकल्चर) पर 'दरख्त' नामक मौलिक पुस्तक की रचना इसके कहीं बाद जाकर १९०१ में हुई जिसके लेखक श्री देवीदयाल थे। यह पुस्तक भी उर्दू भाषा (फारसी प्रभावित हिन्दी) में लिखित है, पर आश्चर्य की बात यह है कि इसके लेखक को रिबनट्रॉप को अंग्रेजी पुस्तक के इस उर्दू अनुवाद का पता नहीं था। अपनी भूमिका में उन्होंने रिबनट्रॉप की अंग्रेजी पुस्तक का उल्लेख तो किया है, परन्तु भारतीय भाषाओं के विषय में लिखा है कि अनेक प्रयत्न करने पर उनको इस विषय पर उर्दू या किसी अन्य भारतीय भाषा में लिखी हुई कोई पुस्तक नहीं मिली। क्या यह पुस्तक उस समय अप्राप्य हो गयी थी या इसको बताने वाला उस समय कोई मौजूद नहीं रहा था? यह भी सम्भव है कि अपनी पुस्तक की गौरव वृद्धि करने के लिए उन्होंने जानबूझ कर इस उर्दू अनुवाद का उल्लेख छोड़ दिया हो। जो भी हो, निश्चयात्मक रूप से कुछ भी इस विषय में कहने के लिए तथ्यात्मक सामग्री का इस समय अभाव है।

इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में उपलब्ध समय-समय पर लिखे गये वैज्ञानिक विषयों से सम्बन्धित साहित्य का विस्तृत इतिहास लिखने के लिए उन पुस्तक-पुस्तिकाओं के बारे में पूरी-पूरी सामग्री एकत्र की जाए। विशेष-कर हिन्दी या इसके फारसी प्रभावित रूप उर्दू में क्योंकि हिन्दी अब भारतीय संघ की राजभाषा का स्थान धीरे-धीरे ग्रहण करती जा रही है और इसमें लिखे साहित्य का अवगाहन भविष्य की साहित्य रचना में सहायक होगा। ●

1. That "This pamphlet may prove of use to the District officers in whose behalf it has been published".

(पृष्ठ ५९ का शेष)

होते हैं और उनसे हाइड्रोजन निकलता है। इससे अधिक इस गैस के बारे में कुछ ज्ञात न था यद्यपि हाइड्रोजन विश्व ब्रह्माण्ड का निर्माण करने वाला मुख्य अवयव है।

भाषा सम्बन्धी सरकारी नीति

इस बार संसद के समक्ष एक विकट समस्या उत्पन्न हो गयी जब भारत के गृहमंत्री ने भाषा सम्बन्धी बिल को सर्वस्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया। वस्तुतः इस बिल को संसद के समक्ष लाने का प्रमुख उद्देश्य यह बताया जाता है कि हिन्दी के साथ-साथ अंग्रेजी भाषा का प्रयोग सन् १९६५ के पश्चात् भी अनन्त काल तक होता रहे। इस बिल के सम्बन्ध में संसद सदस्यों के दो प्रकार के विरोधी विचार थे—एक तो वे जो यह शंका करते हैं कि इस बिल के स्वीकृत होने पर हिन्दी को आघात लगेगा और दूसरे वे जो यह कहते हैं कि अहिन्दी भाषियों पर अन्याय किया जा रहा है, क्योंकि प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरू ने बहुत पहले से आश्वासन दे रखा था कि उनकी इच्छानुसार ही हिन्दी को राष्ट्रभाषा पद प्रदान किया जावेगा। इन विरोधी मतों से यही प्रकट होता है कि भाषा सम्बन्धी यह बिल द्विधामूलक है, किन्तु फिर भी यह सर्वसम्मति से स्वीकृत हो चुका है। नेहरूजी ने हिन्दी के समर्थकों तथा अहिन्दी भाषियों इन दोनों के हित में इस बिल को बताया है। हो सकता है कि बात अन्ततः ऐसी ही सिद्ध हो, किन्तु जिस रूप में और जिस घड़ी में यह बिल संसद के समक्ष आया है उससे तो यही प्रतीत होता है कि हमारी सरकार की नीयत ठीक नहीं। हिन्दी को केन्द्र एवं राज्यों के बीच विचार विनिमय की 'शृंखला' मात्र मानना कितना गर्हित होगा जब कि विगत १५ वर्षों से उसे राष्ट्रभाषा का पद प्रदान किया जाता रहा है। साथ ही अंग्रेजी को सहायक भाषा मानना कितना हास्यास्पद प्रतीत होता है! एक ओर जहाँ त्रिभाषा सूत्र लागू किये जाने की सिफारिश की जाती है वहाँ अंग्रेजी को सहायक भाषा भी मानने को कहा जाता है तो क्या यह सच नहीं कि आगे चलकर अधिकांश विद्यार्थी राष्ट्रभाषा हिन्दी इस एक भाषा को न पढ़कर जीवन के अधिकाँश समय तक एक से अधिक भाषाओं पर अधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहेंगे। इस तरह से, भगवान जाने, हिन्दी की अभिव्यंजना शक्ति कब तक सुधरेगी! अपने राष्ट्र में अपनी राष्ट्रभाषा का न होना कितनी भारी भूल है!

विज्ञान

भाग ९७
संख्या ३
ज्येष्ठ
सं० २०२० वि०
जून १९६३

विज्ञान परिषद् प्रयाग का मुख पत्र

प्रति अंक ४० न. पै.
वार्षिक ४ रुपये

सम्पादक—डॉ० शिवगोपाल मिश्र

विज्ञान परिषद्, प्रयाग

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुखपत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ।३।५।

भाग ९७	ज्येष्ठ २०२० विक्र०, १८८५ शक जून १९६३	संख्या ३

तैलंग पुरस्कार प्रतियोगिता—१

पदार्थ एवं प्रति-पदार्थ

शमीम अहमद

पदार्थ वह है जिसमें मात्रा हो तथा एक आयतन हो। परन्तु यह परिभाषा आज ठीक उसी प्रकार है जैसे कि यह कहना कि सूरज एक आग का दहकता हुआ गोला है। यद्यपि इन परिभाषाओं में सत्य की कमी नहीं है परन्तु आज के वैज्ञानिक युग ने इतनी अधिक एवं जटिल सूक्ष्मताओं के बारे में अध्ययन कर लिया है कि उसके आगे ये परिभाषाएँ एक प्रतीकमात्र रह गई हैं। फिर भी पदार्थ तो पदार्थ है ही, केवल उसके सम्बन्ध की हमारी धारणाएँ मात्र परिवर्तित तथा परिमार्जित होती गई हैं।

यदि देखा जाय तो वास्तव में पदार्थ हर दशा में उपर्युक्त नियम का पालन करता है, परन्तु जटिलताओं के नाते हमें और अनेकों फल प्राप्त होते हैं। आज पदार्थ एक स्थूल रूप में मीमांसा का विषय नहीं है, परन्तु सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप के अध्ययन में महान वैज्ञानिक दिन रात जुटे पड़े हैं। पदार्थ की रचना क्या है—इसको समझ लेना ही आज की आधुनिक भौतिकी का मुख्य-ध्येय है। इस ध्येय की पूर्ति में हम को सफलताएँ भी अधिक मिल चुकी हैं और आशा की जाती है कि भविष्य में और रहस्यों का उद्घाटन होगा और तब हम पदार्थ के बारे में और ध्यान दे सकेंगे।

भौतिक जगत के पर्यवेक्षणमात्र से हमारे प्राचीन वैज्ञानिक इस तथ्य पर पहुँचे थे कि पदार्थ तीन भौतिक अवस्थाओं में पाया जाता है—ठोस, द्रव तथा गैस। ये तीनों अवस्थाएँ पदार्थ की एक दूसरे में परिवर्तनीय अवस्थाएँ हैं और बहुत कुछ इनकी संभावना ताप तथा दबाव से स्थिर की जाती है। उदाहरणार्थ, पानी जो शून्य अंश तापमान पर ठोस में परिवर्तित हो जाता है एक विशेष परि-

स्थिति में शून्य से नीचे के तापमान पर भी द्रव ही बना रहता है। इसलिए यह कहना कि केवल अमुक ताप पर अमुक पदार्थ केवल एक स्थिति में ही रह सकता है, सारहीन है। परन्तु इस विभाजन से कोई विशेष फल नहीं प्राप्त हुआ।

आगे चलकर रसायन-शास्त्रियों ने पदार्थ का विभाजन एक दूसरी रीति से किया —उन्होंने कहा कि समस्त रचना तीन प्रकार की पदार्थ-अवस्थाओं से बनी है—तत्व, यौगिक और मिश्रण। तत्व पदार्थ का वह रूप है जो अकेला अपनी तरह का होता है अथवा उसमें अन्य कोई पदार्थ नहीं पाया जा सकता। यौगिक पदार्थ का वह रूप है जो एक से अधिक तत्वों के एक निश्चित संयोग से प्राप्त होता है तथा सदैव, सर्वत्र उसी रूप में रहेगा। मिश्रण-किसी प्रकार के दो पदार्थों के मिश्रण का नाम दिया गया।

रसायनशास्त्रियों के इस विभाजन ने समस्त ज्ञान को आगे बढ़ाने में योग दिया और इन्हीं रसायनशास्त्रियों ने पदार्थ की वास्तविक इकाई की महत्ता को प्रमाणित करके भौतिकविदों को दे दिया, जिसका फल आज हम अपनी आँखों से देख रहे हैं।

पदार्थ-रचना सम्बन्धी धारणाएँ

पदार्थ का अध्ययन करते हुए जॉन डाल्टन नामक एक रसायनशास्त्री ने अपना सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि पदार्थ एक प्रकार के सूक्ष्म कणों से मिलकर बना होता है जिसे हम ऐटम कहते हैं। वास्तव में यह सिद्धान्त तत्व के लिए प्रतिपादित किया गया था और इसी आधार पर डाल्टन ने बताया कि—

ये सूक्ष्म कण आपस में सर्वथा समान होते हैं।

इनका विभाजन नहीं किया जा सकता है।

ये सूक्ष्म कण ही वास्तव में पदार्थ की इकाई हैं जिनसे मिलकर पदार्थ बना है। इसलिए पदार्थ के समस्त भौतिक तथा रासायनिक गुण इन कणों में विद्यमान होते हैं।

इस सिद्धान्त के प्रतिपादन के पश्चात् एक अन्य सिद्धान्त का समर्थन किया गया जिसने बताया कि यौगिकों की इकाई 'ऐटम' न होकर अणु अथवा मालीक्यूल है और तत्पश्चात् एवोगैड्रो ने अपना विख्यात नियम प्रस्तुत किया। इसके बाद अधिक दिनों तक पदार्थ अध्ययन (रचना सम्बन्धी) एक प्रकार से बन्द सा ही था और वैज्ञानिक पदार्थ की अन्य विशेषताओं के खोज में लगे हुए थे।

अचानक सन् १८८४ ई० में टामसन महोदय ने एक अद्भुत परीक्षण किया जिसने विश्वव्यापी डाल्टन के परमाणुवाद को समूल नष्ट करने की क्षमता दिखाई। इस प्रयोग में टामसन महोदय ने एक काँच की नलिका के अन्दर अत्यन्त कम दाब पर गैस लेकर, वैद्युतीय विसर्जन कराया जिसके फलस्वरूप उनको एक प्रकार की किरणों का आभास मिला जिसको उन्होंने बाद में प्रमाणित कर दिया कि ये किरणें अत्यन्त सूक्ष्म कणों से बनी हुई हैं। इन कणों में मात्रा, वेग तथा ऋणात्मक इकाई का आवेश होता है। इसको इलेक्ट्रान कहा गया। इस प्रकार टामसन महोदय के परीक्षण ने सर्वप्रथम ऐटम (अविभाज्य) शब्द की परिभाषा को गलत साबित करके एक परीक्षणीय प्रमाण प्रस्तुत किया कि परमाणु विभाजित किया जा सकता है।

परमाणु विभाजित किया जा सकता है—इतना हो जाने पर प्रश्न उठा कि तब परमाणु की रचना किस प्रकार की है—इसके उत्तर में टामसन महोदय ने अपना मत दिया कि परमाणु के अन्दर इलेक्ट्रान एक समअवयवी धनात्मक आवेश वाले पिण्ड के अन्दर समान रूप से विस्तृत हैं और उनके आपस के प्रतिकर्षण बल का सन्तुलन उनके तथा धनात्मक आवेश के बीच के आकर्षण बल से होता है। उनका यह मत निम्न प्रकार के तथ्यों के स्पष्टीकरण के लिए दिया गया था :—

(i) पदार्थ से गर्म करने पर प्रकाश निकलता है।

(ii) पदार्थ को कैथोड रश्मियों के आघात से एक्स किरण का स्रोत बनाया जा सकता है।

(iii) भारी परमाणुओं से अल्फा, बीटा, गामा रश्मियाँ प्राप्त की जा सकती हैं।

उपर्युक्त वक्तव्य में टामसन महोदय ने कहा कि—परमाणु के अन्दर जो इलेक्ट्रान समूह एक जाल-सा बनाता है, जब कम्पन करता है तो रश्मियों की उत्पत्ति होती है। इसके अतिरिक्त जब धनात्मक आवेशों का जाल कम्पन करता है तो प्रकाश की उत्पत्ति होती है।

इसके उपरान्त टामसन महोदय के प्रिय शिष्य रदरफोर्ड ने एक विचित्र प्रयोग किया। उन्होंने एक स्वर्ण की पतली पट्टी लेकर अल्फा कणों से आघात किया और उसके बाद यह पाया कि अधिक अल्फा कण बिना किसी रुकावट के आर-पार निकल गए। कुछ तो अपने रास्ते से मुड़ गए। इस परीक्षण से निम्न तथ्य प्राप्त हुए :

(i) परमाणु एक ठोस रचना न होकर खोखली-सी रचना मालूम होती है अन्यथा अल्फा कण इतनी आसनी से उस पार नहीं जा सकते।

(ii) इसके अतिरिक्त रास्ता बदले हुए अल्फा कणों की स्कैटरिंग की गणना करने से विदित हुआ कि परमाणु के अन्दर एक अत्यधिक घनत्व का कोई भाग है जो कि धनात्मक आवेशमय है और इसी के कारण अल्फा कणों का पथ बदल जाता है।

उपर्युक्त परीक्षणों के आधार पर सन् १९११ में डा० रदरफोर्ड ने अपना मत प्रस्तुत किया। जैसा हम देख आए हैं, टामसन महोदय ने अपने मन्तव्य में परमाणु रचना में धनात्मक आवेशों को समस्त परमाणु के अन्दर समावयवी रूप से स्थित माना है और यदि इसको सत्य मानकर गणना की जाय तो अल्फा कणों का विक्षेप अत्यन्त कम आता है। इसके अतिरिक्त यदि समस्त धनात्मक आवेशों को एक स्थान पर केंद्रित मान कर विक्षेप की गणना की जाय तो उसका मान टामसन-सिद्धान्त द्वारा प्राप्त मान से काफी अधिक आता है और अल्फा कणों के अध्ययन से इस मत की पुष्टि हो जाती है। इसलिए परमाणु के अन्दर में एक नाभिक होता है जो परमाणु की लगभग पूर्ण मात्रा होता है तथा समस्त धनात्मक आवेश इसी नाभिक पर केन्द्रित होता है।

उपर्युक्त रीति से रदरफोर्ड का परमाणु हमारे समक्ष आया। इसी अध्ययन के फलस्वरूप हमें यह भी ज्ञात हो गया कि नाभिक का आकार लगभग $१०^{-१३}$ सें० मी० के होता है जबकि परमाणु का व्यास लगभग $१०^{-८}$ सें० मी० के होता है इससे यह मालूम होता है कि नाभिक और इलेक्ट्रानों के बीच में काफी अधिक रिक्त स्थान होता है। इसीलिए बहुत से अल्फा कण आसानी से बिना नाभिक से प्रभावित हुए ही आर-पार निकल जाते हैं।

रदरफोर्ड की उपर्युक्त सर्वमान्य धारणा से प्रभावित होकर जीन पेरिन नामक वैज्ञानिक ने परमाणु रचना का खाका इस प्रकार बताया—परमाणु रचना को हम एक छोटे से सौर-परिवार के रूप में मान सकते हैं जिसके अन्दर नाभिक वृत्ताकार इलेक्ट्रानों के पथ के केन्द्र पर केन्द्रित होता है। चूंकि नाभिक के ऊपर धनात्मक आवेश होता है इसलिए इलेक्ट्रान तथा नाभिक के बीच आकर्षण बल होगा जिसके सन्तुलन के लिए माना गया कि इलेक्ट्रान अपने पथ पर चक्कर काटते रहते हैं और इस प्रकार केन्द्रापसारी बल, नाभिक तथा इलेक्ट्रान के बीच के आकर्षण बल को सन्तुलित किए रहता है।

परन्तु यदि वैद्युत चुम्बकीय सिद्धान्त के ऊपर दृष्टिगत किया जाय तो उसके अनुसार यदि इलेक्ट्रान अपने पथ पर चक्कर लगाता रहे तो उससे ऊर्जा विकिरित होगी जिसके फलस्वरूप पथ की सीमा छोटी होती जायगी और इस प्रकार एक अवस्था ऐसी आयेगी जबकि इलेक्ट्रान सर्पिल पथ का अनुसरण करते हुए नाभिक से टकरा जायगा। इससे

हमें निम्न कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है :

(i) परमाणु रचना असंतुलित हो जाएगी।

(ii) परमाणु के अन्दर से सदैव विकिरण होता रहेगा और वह विकिरण सतत (continuous) होगा अर्थात् रेखिल वर्णक्रम नहीं प्राप्त होगा जो कि परीक्षणों से ठीक उल्टी ओर ले जाता है।

रदरफोर्ड के सर्वमान्य सिद्धान्त के समक्ष ये कठिनाइयाँ उपस्थित हुईं और इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि या तो रदरफोर्ड की नाभिकीय रचना में कहीं गलती है, नहीं तो प्राचीन वैद्युत चुम्बकीय सिद्धान्त गलत है क्योंकि उपर्युक्त वर्णित कठिनइयाँ परीक्षणों से असंभव सिद्ध की जा चुकी हैं। इस समस्या का समाधान सन् १६१३ ई० में नील्स बोह्र नामक भौतिकज्ञ ने एक अनूठे ढंग से प्रस्तुत किया।

सन् १६०० ई० में, जबकि 'काली वस्तु विकिरण' की समस्या वैज्ञानिकों के समक्ष विद्यमान थी, मैक्स प्लैङ्क नामक विज्ञान-महारथी ने एक सुझाव दिया जिसने केवल श्याम वस्तु विकिरण (Black Body Radiation) का स्पष्टीकरण ही नहीं बल्कि आधुनिक भौतिकी को जन्म दिया। मैक्स प्लैङ्क के सिद्धान्त के अनुसार ऊर्जा का विकिरण सतत रूप से न होकर, ऊर्जा के छोटे-छोटे अंशों के रूप में होता है, जिसको क्वाण्टम कहा गया। एक क्वाण्टम का मान hv होता है जबकि h एक विश्व नियतांक है तथा v उस विकिरण की आवृत्ति होती है। प्लैङ्क के क्वाण्टम सिद्धान्त का उपयोग करके श्याम वस्तु के विकिरण के वे वक्र जो रैले, जीन्स आदि वैज्ञानिकों के सूत्रों से मेल नहीं खा रहे थे, आसानी से स्पष्ट कर दिए गए। इसके अतिरिक्त आइन्सटाइन ने क्वाण्टम-सिद्धान्त का उपयोग प्रकाश वैद्युतीय घटना की व्याख्या में सफलतापूर्वक किया।

उपर्युक्त क्वाण्टम सिद्धान्त का उपयोग करके नील्स बोह्र ने सन् १६१३ ई० में हाइड्रोजन परमाणु रचना का परीक्षणीय फलों से अत्यधिक मेल खाता हुआ एक सफल खाका प्रस्तुत किया। बोह्र की समस्त गणनाएँ सैद्धान्तिक थीं। उन्होंने निम्न नियमों के आधार पर अपना सिद्धान्त खड़ा किया—

(i) सर्वप्रथम नियम यह था कि इलेक्ट्रान कुछ निश्चित पथ पर ही नाभिक के चारों ओर चक्कर लगाते हैं और जब तक ये अपने पथ पर चक्कर लगाते हैं किसी प्रकार की ऊर्जा न तो अवशोषित होती है और न विकिरित होती है। अर्थात् ये पथ ऐसे होते हैं जहाँ पर इलेक्ट्रान संतुलित अवस्था में चक्कर काटते हैं। इसके अतिरिक्त इन पथों पर चक्कर काटते समय साधारण यांत्रिकीय तथा स्थिर वैद्युतीय नियमों का पालन होता है।

(ii) द्वितीय नियम यह बताता है कि जब एक इलेक्ट्रान एक पथ से दूसरे पथ पर जाता है तो पथ की स्थिति के अनुसार ऊर्जा का अवशोषण अथवा विकिरण होता है जिसके फलस्वरूप वर्णक्रम की रेखाएँ प्राप्त होती हैं।

उपर्युक्त सूत्रों के आधार पर गणना करने से समस्त प्राप्य—लाईमन, बायर, पाश्चन, बैकेट, फुंड आदि वर्णक्रमीय सीरीजों का सैद्धान्तिक स्पष्टीकरण हो जाता है तथा रिडबर्ग नियतांक का मान बड़ी शुद्धता के साथ परीक्षणों से प्राप्त मान से मेल खा जाता है। इस प्रकार परीक्षणों से पुष्ट बोह्र सिद्धान्त का उपयोग सर्वप्रथम वर्णक्रमीय रेखाओं की विवेचना के लिए किया गया।

इस सिद्धान्त की सर्वप्रमुख देन इलेक्ट्रान-पथ एवं ऊर्जा क्वाण्टमित होती है। परन्तु बोह्र का मॉडल भी उतना सफल नहीं हो सका, क्योंकि अत्यधिक शक्तिशाली विभेदनशीलता वाले उपकरणों की सहायता से यह पता चला कि एक वर्णक्रम रेखा केवल अकेली न होकर अनेक रेखाओं का

समूह मात्र है इसलिए अब प्रश्न उठा कि बोह्र सिद्धान्त से इसका स्पष्टीकरण किस प्रकार किया जा सकता है ? वास्तव में बोह्र सिद्धान्त इस समस्या पर चुप रह गया। उसके पश्चात् सामरफील्ड महोदय ने बोह्र मॉडल को परिष्कृत करके 'फाइन स्ट्रक्चर' की व्याख्या करने का प्रयत्न किया। इसके पहले ही आइन्सटाइन ने अपना सापेक्षवाद का सिद्धान्त दे दिया था। सापेक्षवाद के विशिष्ट सिद्धान्त के अनुसार वेग के बढ़ने से मात्रा में वृद्धि होती है। इस नियम की सहायता सामरफील्ड महोदय ने निम्न प्रकार से ली थी।

जहाँ पर बोह्र महोदय ने इलेक्ट्रान-पथ वृत्ताकार माना था, सामरफील्ड ने उसको और सामान्य करके दीर्घ वृत्ताकार माना और उसके उपरान्त यह कहा कि दीर्घवृत्तीय पथ पर चलने वाले इलेक्ट्रान का कोणीय तथा व्यासीय घूर्णन दोनों क्वाण्टमित होते हैं। इस प्रकार इस सिद्धान्त ने एक के स्थान पर दो क्वाण्टम संख्याओं को जन्म दिया तथा यह भी बताया कि एक ही उर्जा के किसी पथ के कुछ निश्चित पर भिन्न-भिन्न उत्केन्द्रता के पथ हो सकते हैं। चूँकि हम जानते हैं कि दीर्घ वृत्तीय पथ पर गमन करने वाले पिंड का वेग हर स्थान पर समान नहीं होता है इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इलेक्ट्रान का वेग परिवर्तनशील होता है जिसके कारण मात्रा में भिन्नता आ सकती है। इसी प्रकार सामरफील्ड ने यह भी माना कि दीर्घ वृत्ताकार पथ का तल भी निश्चित नहीं होगा बल्कि एक निश्चित गति से गतिमान होगा। इन धारणाओं की सहायता लेकर सामरफील्ड ने 'फाइन स्ट्रक्चर' का स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया लेकिन यह सिद्धान्त और जटिलताओं को हल नहीं कर सका। इसलिए नए सिद्धान्त का आह्वान किया गया।

बोह्र सामरफील्ड माडल जब फाइन स्ट्रक्चर को स्पष्ट नहीं कर सका तो एक नवीन धारणा का आश्रय लिया गया। इसके अनुसार निम्न तथ्य प्राप्त हुए—

जिस प्रकार बोह्र सामरफील्ड माडल में इलेक्ट्रान-पथ क्वाण्टमित माना गया था उसी प्रकार नवीन धारणा में भी माना गया परन्तु, इसके अतिरिक्त यह भी माना गया कि इलेक्ट्रान न केवल नाभिक के चारों ओर चक्कर लगाता है बल्कि अपने स्थान पर भी घूमता रहता है। इसका सरल सा उदाहरण पृथ्वी की चाल से मिल जाता है क्योंकि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर एक वर्ष में चक्कर लगा आती है जब कि अपनी धुरी पर २४ घंटे में एक पूरा चक्कर घूम लेती है। चूँकि इलेक्ट्रान पर आवेग होता है तथा गति होती है इसलिए इसको हम वैद्युतीय धारा के रूप में मान सकते हैं तथा इसके कारण चुम्बकीय घूर्ण उत्पन्न होता है। इसलिए अब दो प्रकार के चुम्बकीय घूर्ण उत्पन्न होंगे—ऑरबिटल तथा स्पिनिंग मैग्नेटिक मोमेण्ट्स जबकि बोह्र सामरफील्ड मॉडल में केवल ऑरबिटल मैगनेटिक मोमेंट होता था। यह भी बताया गया कि ये भौतिक राशियाँ क्वाण्टमित होंगी। इस धारणा के अनुसार गणना करने पर जो फल प्राप्त हुए वास्तव में उनको परीक्षणों में सत्य पाया गया। इस प्रकार इस वेक्टर एटम मॉडल ने अनेक जटिलताओं का समाधान करके प्रकाशीय वर्णक्रम सम्बन्धी अनेक समस्याओं का अनूठा हल प्रस्तुत कर दिया।

सापेक्षवाद सिद्धान्त की देन

जैसा कि हम पहले ही कह आए हैं कि सामरफील्ड ने सापेक्षवाद के विशिष्ट सिद्धान्त का उपयोग करके 'फाइन-स्ट्रक्चर' को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया था परन्तु पदार्थ सम्बन्धी देन कहीं इससे भी आगे है। सर्वप्रथम आइन्सटाइन ने ही यह प्रमाणित करके दिखाया (सैद्धान्तिक गवेषणा) कि ऊर्जा और पदार्थ में सम्बन्ध होता है और उसको एक छोटे से बीजमंत्र के रूप में हमारे समक्ष रखा। वह सूत्र था—

$$E = mc^2 \text{———} (i)$$

जहाँ पर E ऊर्जा का मान, m पदार्थ की मात्रा तथा

c^2 प्रकाश-वेग का वर्ग है। इस महान सूत्र ने तो एक प्रकार भौतिक तथा सूक्ष्म जगत में नाता जोड़ दिया। यह सूत्र केवल सैद्धान्तिक आधार पर ही नहीं मान लिया गया अपितु इसकी सत्यता अनेक परीक्षणों से पुष्ट की जा चुकी है। इसी की सहायता से आज हम नाभिकीय प्रक्रियाओं की व्याख्या तथा परमाणु ऊर्जा का स्पष्टीकरण करते हैं। इस सूत्र के अनुसार यदि m मात्रा के पदार्थ को पूर्णतया ऊर्जा में परिवर्तित कर दिया जाय तो E मात्रा की ऊर्जा प्राप्त होगी।

यद्यपि सापेक्षवाद का सिद्धान्त अत्यन्त विस्तृत सिद्धान्त है परन्तु उसका सम्बन्ध सीधे पदार्थ से नहीं है इसलिए यहाँ वर्णनीय नहीं है।

विशिष्ट-सापेक्षवाद सिद्धान्त के अनुसार किसी पदार्थ की ऊर्जा का मान एक नवीन समीकरण से दिया गया—

$$E = \pm c\sqrt{(p^2 + m_0^2 c^2)} \text{——(ii)}$$

E = उर्जा c = प्रकाश वेग (३ × १०^१० से० मी०/सेकण्ड) p = मोमेण्टम (घूर्णन) m_0 = मात्रा जबकि पदार्थ विश्रामावस्था में हो।

इस समीकरण के अनुसार ऊर्जा का मान धनात्मक, ऋणात्मक दोनों आता है। उस समय तक कोई भौतिकज्ञ इस रहस्य को न जान सका जब तक कि डिरैक ने अपना सिद्धान्त नहीं प्रस्तुत किया। वास्तव में इसी सूत्र के कारण प्रतिपदार्थ की ओर भौतिकज्ञों का ध्यान गया और इसी की देन है जो आज के वैज्ञानिक प्रतिपरमाणुओं के बारे में इतना ज्ञान प्राप्त कर सके। यह समीकरण एक गणितीय विधि-सा मालूम देता है क्योंकि ऊर्जा का ऋणात्मक होना कोई सार्थक अभिप्राय नहीं रखता।

तरंग यांत्रिकी तथा अनिश्चितता का सिद्धान्त

अब तक पदार्थ की रचना समझने हेतु चिर प्राचीन यांत्रिकी, सापेक्षवादीय यांत्रिकी तथा प्रमात्रा-सिद्धान्त का उपयोग किया गया। बोह्र-सामरफील्ड मॉडल में क्वाण्टम-सिद्धान्त को प्राचीन यांत्रिकी (Classical Mechanism) के ऊपर लादकर व्याख्या की गई थी। सापेक्षवादीय-यांत्रिकी में समस्त नियम सतत भौतिकीय राशियों से सम्बन्धित हैं जबकि क्वाण्टम की प्रकृति असतत अथवा टुकड़ों के रूप में है। इसलिए क्वाण्टम धारणा के आधार पर काम करने वाली यांत्रिकी अवश्य ही उपर्युक्त यांत्रिकीय विधियों से भिन्न होगी।

नवीन यांत्रिकी (तरंग यांत्रिकी) ने क्वाण्टम यांत्रिकी से निम्न नियम—विकिरण असतत (Discontinuous) होता है, उधार लेकर तथा अपनी तरफ से यह जोड़कर कि इलेक्ट्रान-तरंग प्रकृति का होता है, आगे कदम बढ़ाया।

सन् १९२५ ई० में लुइस दे ब्रोगली ने अपना अनोखा सिद्धान्त प्रस्तुत किया। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि किसी पदार्थ कण का घूर्णन p हो तो उस पदार्थ कण के साथ एक तरंग संलग्न होगी जिसकी तरंग दैर्घ्य निम्न सूत्र से दी जायगी—

$$\lambda = \frac{h}{p}$$ जहाँ पर λ = तरंग दैर्घ्य p = घूर्णन

h = प्लैंक नियतांक।

परन्तु इस तरुण वैज्ञानिक के आश्चर्यजनक सिद्धान्त की पुष्टि परीक्षणीय रूप से तुरन्त प्रमाणित न हो सकी, लेकिन अधिक समय भी नहीं लगा। सन् १९२७ ई० में डैविसन तथा जर्मर और जी० पी० टामसन ने इलेक्ट्रान विवर्तन का प्रयोग करके यह प्रमाणित कर दिया कि पदार्थ के साथ ब्रोगली के मतानुसार ठीक उतनी ही तरंग दैर्घ्य की तरंग सन्निद्ध होती है जितनी कि उनके समीकरण से प्राप्त होती है। इलेक्ट्रान विवर्तन के इस प्रयोग ने ब्रोगली सिद्धान्त को इतना बल दिया कि उसे विश्व के वैज्ञानिकों में गिना जाने लगा।

पदार्थ-तरंग की घोषणा के पश्चात् ब्रोगली ने यह प्रयत्न किया कि पदार्थ की तरंगीय तथा कणीय प्रकृति में सामञ्जस्य कैसे स्थापित किया जाय ? क्यों-कि जहाँ पर हम इलेक्ट्रान को एक कण मानते हैं और उसका $\frac{e}{m}$ निकालते हैं वहीं पर इलेक्ट्रान-विवर्तन इलेक्ट्रान समूह तरंग प्रकृति प्रदर्शित करते हैं। इसी समय अन्य वैज्ञानिक भी प्रयास में लगे हुए थे। हाइजेनवर्ग महोदय ने प्रावेबिलिटी का आधार लेकर एक नवीन धारणा—'प्रावेबिलिटी वेव प्रस्तुत किया। इस नवीन धारणा को प्रधानता भी मिली।

सन् १९२६ ई० में श्रोडिंजर नामक भौतिक ने चिर प्राचीन यांत्रिकी की सहायता से तरंग यांत्रिकी की ओर सैद्धान्तिक गवेषणा का काम आरंभ किया और इस प्रकार तरंग यांत्रिकी की उन्नति बराबर आगे ही बढ़ती गई। इन नवीन यांत्रिकी में प्रत्येक तरंग को ψ से अभिहित करते हैं। ψ को अन्य भागों में निम्न प्रकार में विभक्त कर सकते है—

$$\psi = a_1,\psi,+ a_2\psi a_2 + a_3\psi a_3 + \psi$$

जहाँ पर a_1 उस तरंग का जिसका कम्पनांक v_1 है, का आयाम का मान है। इस प्रकार किसी भी तरंग को अनेक मोनोक्रोमेटिक तरंगों में विभाजित किया जा सकता है। यहाँ पर यदि प्राचीन भौतिकी की ओर देखा जाय तो मालूम होगा किसी a_1 a_2 या अन्य a_n का वर्ग करने पर उस विशेष तरंग की चण्डता प्राप्त होगी, परन्तु तरङ्ग यांत्रिकी में a_n का वर्ग करने पर यह सम्भावना प्राप्त होगी कि तरंग विशेष की ऊर्जा जो कण से निकलेगी- $E_n = Hv_n$ होगी।

अब यदि किसी मोनोक्रोमेटिक तरंग की ओर ध्यान दिया जाय तो पता चलेगा कि उसके तरंग दैर्ध्य तथा कम्पनांक दोनों स्थिर हैं। इसलिए तरंग स्रोत कण की ऊर्जा भी अचर होगी अर्थात अनिश्चि-तता ($\triangle E = 0$) का मान शून्य होगा। परन्तु उक्त दशा में इलेक्ट्रान का स्थान विशेष नहीं बताया जा सकता, क्योंकि समस्त दिक में तरङ्ग विस्तृत रूप से फैली होगी अर्थात् अनिश्चितता स्थान विशेष की ($\triangle x = \infty$) अनन्त होगी। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है कि यदि कण का घूर्ण निश्चित हो तो उस कण के द्वारा उत्पन्न तरङ्ग की प्रकृति निश्चित होगी, परन्तु इसी के साथ-साथ उसकी स्थिति अनिश्चित होगी। अब मान लिया जाय कि इलेक्ट्रान समूह का स्थान हमें निश्चित करना है तो उस समय हमारे समक्ष दो पहलू दिखाई पड़ते हैं—प्रथम तो यह कि यदि स्पष्ट रूप से इले-क्ट्रान को देखना है तो हमें तीव्र प्रकाश-तरङ्ग उसके ऊपर डालनी होगी, किन्तु दूसरी विशेषता—घूर्ण का सत्य मान नहीं प्राप्त होगा, क्योंकि प्रकाश-तरङ्ग के कारण इलेक्ट्रान के घूर्ण में अन्तर पड़ जायगा। दूसरी स्थिति यह है कि यदि कण के घूर्ण को मापना हो तो ऐसी प्रकाश-तरङ्ग का प्रयोग किया जाय जिससे इलेक्ट्रान के ऊपर कम से कम अथवा बिल्कुल ही प्रभाव न पड़े। उस दशा में इलेक्ट्रान के घूर्ण का सही-सही मान तो निकाल सकते हैं, परन्तु इलेक्ट्रान के स्थान के बारे में बिल्कुल ही नहीं बता सकते।

इसी को हाइडेनवर्ग का "अनिश्चितता सिद्धान्त" कहा जा सकता है। इस सिद्धान्त ने तरंग तथा कण के बीच के संघर्ष को समाप्त करके मेल पैदा कर दिया। इस अनिश्चितता के कारण ही चिर-प्राचीन यांत्रिकी, तरंग यांत्रिकी में परिवर्तित हो गई। कार्टीजियन नियामकों के संस्थान में x दिशा में किसी कण की अनिश्चितता का मान निम्न सूत्र से दिया जाता है—

$$\triangle x.\triangle v = \frac{h}{2\pi m}$$

जहाँ पर $\triangle x$ = स्थानीय अनिश्चितता, $\triangle v$ =

वेगीय अनिश्चितता, m = मात्रा, h = प्लैंक का नियतांक।

इस सूत्र में हम देखते हैं कि यदि $\frac{h}{m}$ का मान साधारण वस्तुओं के लिए गणना किया जाय तो शून्य के बराबर आएगा परन्तु ज्यों-ज्यों m का मान कम होता जाय $\frac{h}{m}$ का मान अधिक होगा। यही कारण है कि भौतिक जगत के पदार्थों की अनिश्चितता शून्य होती है जबकि मूलभूत कणों की अनिश्चितता कुछ होगी क्योंकि m का मान बहुत कम होगा।

अब प्रश्न उठता है कि तरंग यांत्रिकी को किस प्रकार, परमाणु रचना को स्पष्ट करने के लिए इस्तेमाल कर सकते हैं? इसके लिए यह माना जाता है कि जब इलेक्ट्रान किसी पथ पर चक्कर लगाता है तो उसके कारण अनेक परन्तु एक निश्चित अनुपात की तरंग दैर्ध्यों की तरंग की उत्पत्ति होती है जिसके अनुसार विभिन्न ऊर्जाओं का आगमन होता है। परन्तु उस दशा में $\triangle x$ का मान असीम होता है। इस प्रकार तरंग-यांत्रिकी के उपयोग से परमाणु रचना का प्रश्न भी हल हो जाता है। इस नवीन यांत्रिकी की सहायता से समस्त परीक्षणीय फलों की सरलता से व्याख्या की जा सकी है और इस प्रकार इसकी महानता का परिचय प्राप्त किया जा चुका है।

डिरैक सिद्धान्त—प्रतिकणों का जन्मदाता

श्रोडिंजर नामक वैज्ञानिक ने सर्वप्रथम चिर प्राचीन यांत्रिकी के नियमों का पालन करके तरंग-यांत्रिकी का पथ-प्रदर्शन किया। परन्तु श्रोडिंजर महोदय ने अपनी गणना में इलेक्ट्रान की भ्रमि को कोई स्थान नहीं दिया। इसके अतिरिक्त तरङ्ग प्रकृति को प्रकट करने वाले ψ को उन्होंने स्केलर (Scalar) अंक मान लिया जिसमें केवल मात्रा होती है। इस कमी को दूर करने के लिए पाउली ने श्रोडिंजर के ψ को इस प्रकार माना जिसमें दो भाग थे और प्रत्येक, भ्रमि की एक-एक दिशा निर्दिष्ट करते थे। परन्तु पाउली महोदय के मत ने केवल श्रोडिंजर सिद्धान्त का परिमार्जन ही किया और सारी मान्यताएँ चिर प्राचीन ही रहीं।

चिर प्राचीन यांत्रिकी के अनुसार किसी कण की ऊर्जा निम्न समीकरणों से प्रदर्शित की जाती है—

$$W = \frac{1}{2}mv^2 \quad \text{या} \quad W = \frac{1}{2m}p^2$$

जहां पर W = ऊर्जा m = मात्रा v = वेग p = घूर्ण = mv

इन समीकरणों से ऊर्जा का मान धनात्मक आता है अर्थात् ऊर्जा धनात्मक होती है, परन्तु यदि सापेक्षवादीय नियम का पालन करके ऊर्जा का मान निकाला जाय तो हमें निम्न सूत्र प्राप्त होता है—

$$W = \pm\sqrt{(m_\circ{}^2c^4 + c^2p^2)}$$

जहां पर c = प्रकाश वेग mo = विश्राम मात्रा इस सापेक्षवादीय समीकरण से ऊर्जा के धनात्मक, ऋणात्मक दो प्रकार के मान आते हैं। वास्तव में इसी समीकरण को प्रति कणों के जन्म का मुख्य कारण कहा जा सकता है।

जब डिरैक महोदय ने श्रोडिंजर समीकरण को सापेक्षवादीय रूप में परिणत किया तो उसमें ψ के चार कम्पोनेण्ट प्राप्त हुए। इस प्रकार सापेक्षवाद के उपयोग न केवल भ्रमि तथा घूर्ण को तरङ्ग यांत्रिकी में स्थान दिया, बल्कि उस समय तक की समस्त समस्याओं यहाँ तक कि 'एनामालस' जीमान प्रभाव की भी व्याख्या करने की समता को प्रदान कर सका। परन्तु हम जानते हैं कि इलेक्ट्रान का वेग प्रकाश वेग से अत्यधिक कम होता है इसलिए डिरैक सिद्धान्त में ψ के दो प्रभागों को हम सरलता से छोड़ सकते हैं। इस प्रकार दो प्रभागों

की उपस्थिति पाउली सिद्धान्त से भी मेल खा जाती है।

६ दिसम्बर सन् १९२९ ई० के शोध-पत्र में डिरैक महोदय ने अपनी आश्चर्यजनक प्रतिभा से सापेक्षवाद द्वारा प्रदत्त कणों की ऋणात्मक ऊर्जा की व्याख्या प्रस्तुत की।

जैसा कि हम पहले कह आए हैं कि चिर प्राचीन यांत्रिकी और सापेक्षवादीय यांत्रिकी में ऊर्जा का वितरण सतत होता है। जब कि यदि सापेक्षवादीय समीकरण द्वारा प्राप्त ऊर्जा का मान यदि विश्रामावस्था के इलेक्ट्रान के लिए निकाला जाय तो $+m_0c^2$ तथा $-m_0c^2$ आता है। इन मानों में से केवल धनात्मक मान ही चिर प्रतिष्ठित यांत्रिकीय तथा सापेक्षवादीय यांत्रिकीय नियमों के अन्तर्गत आता है क्योंकि उपर्युक्त संस्थानों में ऊर्जा का परिवर्तन सतत होता है। इसलिए प्राचीन यांत्रिकी तथा सापेक्षवादीय यांत्रिकी की सहायता से m_0c^2 से $-m_0c^2$ के बीच की खाईं की व्याख्या नहीं की जा सकती है। परन्तु प्रमात्रा सिद्धान्त अथवा तरङ्ग यांत्रिकी में तो ऊर्जा की प्रकृति ही क्वाण्टमित बताई जाती है इसलिए बड़ी सरलता से उपर्युक्त समस्या का समाधान तरङ्ग यांत्रिकी में प्राप्त हो जाता है। अर्थात् ऋणात्मक ऊर्जा का भी वास्तविक अस्तित्व अवश्य संभव है। परन्तु केवल गणितीय विधियों से संभावना की पुष्टि हो जाने से काम नहीं चलता, समस्त विशिष्टता भौतिक व्याख्या पर आधारित होती है। इसलिए डिरैक ने ऋणात्मक ऊर्जा वाले इलेक्ट्रान की प्रकृति क्या होगी इस पर अनेक जटिल गणनाएँ कीं और अन्त में इस तथ्य पर पहुँचे कि ऋणात्मक ऊर्जा वाले इलेक्ट्रान चुम्बकीय क्षेत्र में, धनात्मक ऊर्जा वाले इलेक्ट्रानों की विपरीत दिशा में विक्षेपित होंगे अर्थात् उनके ऊपर धनात्मक आवेश होगा।

दिसम्बर सन् १९२९ ई० के शोध-पत्र में डिरैक ने लिखा था—"Thus an electron with negative energy moves in an external field as though it carries a positive charge. This result has led people to suspect a connection between negative energy electron and proton or hydrogen nucleus." फिर लिखते हैं—"one can't however assert that a negative energy electron is a proton, as that would lead to following paradoxes - a transition of an electron from a state of positive to one of negative energy would be interpreted as a transition of an electron into a proton which would violate the law of conservation of electric charge....A negative energy electron will have less energy the faster it moves and will have to absorb energy in order to be brought to rest. No particle of this nature have ever been observed. [Proc. Roy Soc A-126, 360-365 (1929–30)] इस प्रकार डिरैक ने अपनी सूझ-बूझ से ऋणात्मक ऊर्जा वाले इलेक्ट्रान और प्रोटान के अन्तर को स्पष्ट किया।

इसके उपरान्त डिरैक ने ऋणात्मक ऊर्जा वाले कणों की व्याख्या निम्न मौलिक ढंग से प्रस्तुत की जिसे 'Theory of Holes' के नाम से जाना जाता है। इस सिद्धान्त की व्याख्या निम्न प्रकार से है—

जैसा कि हम जानते हैं कि निम्नतम ऊर्जा का कण अधिकतम स्थायित्व वाला होता है। इसलिए डिरैक ने अपने सिद्धान्त में यह माना कि कुछ को छोड़कर बाकी समस्त ऋणात्मक ऊर्जा वाले स्थान असंख्य इलेक्ट्रानों से पूर्ण हैं। चूँकि अधिकतम

स्थायित्व ऋणात्मक ऊर्जा वाले कणों में होगा इसलिए ये समस्त इलेक्ट्रान अत्यन्त स्थायी होंगे। केवल कुछ ही स्थान ऐसे होंगे जिसमें इलेक्ट्रान नहीं जा सकते और इन्हीं इलेक्ट्रानों को हम परीक्षणों में प्राप्त कर सकते हैं और इन्हीं की ऊर्जा धनात्मक होगी। ऋणात्मक ऊर्जा वाले और समस्त कण अधिकतम स्थायित्व के कारण परीक्षणों में प्राप्त नहीं किए जा सकते हैं। इस प्रकार इन कुछ स्थानों को जो ऋणात्मक ऊर्जा क्षेत्र में इलेक्ट्रान से रिक्त पड़े हैं 'लैकूने' या होल' कहा गया।

डिरैक ने इन 'होल्स' की प्रकृति की संभावनाओं की खोज की। उन्होंने यह प्राप्त किया कि वैद्युत चुम्बकीय क्षेत्र में होल ठीक उसी प्रकार गमन करता है जिस प्रकार धन आवेश का इलेक्ट्रान, धनात्मक ऊर्जा के साथ करेगा। इस प्रकार डिरैक ने अपना मन्तव्य यह दिया कि ये ऋणात्मक ऊर्जा वाले कण प्रोटान ही हैं। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि क्यों डिरैक ने तुरन्त नवीन कण की घोषणा नहीं कर दी? इसका कारण यह था कि उपर्युक्त सिद्धान्त इतना सूक्ष्म सैद्धान्तिक हो गया था कि उसके लिए किसी परीक्षणीय आधार को प्राप्त करना आवश्यक हो गया था। इसलिए डिरैक ने उस समय तक ज्ञात प्रोटानों की सहायता ली।

परन्तु २९ मई सन् १९३१ ई० के शोध-पत्र में डिरैक ने यह स्पष्ट कर दिया कि परीक्षणों से प्राप्त तथ्य इस बात की सूचना देते हैं कि ऋणात्मक ऊर्जा वाले इलेक्ट्रान की मात्रा साधारण इलेक्ट्रान की मात्रा के बराबर ही होगी। डिरैक ने वील और ओपेनहीमर की शोधों का भी उद्धरण दिया जिसमें उन्होंने ऋणात्मक ऊर्जा वाले इलेक्ट्रान को एक नवीन कण मानने का सुझाव दिया था। इस प्रकार डिरैक ने ऋणात्मक ऊर्जा वाले कणों को 'प्रति इलेक्ट्रान' का नाम दिया और यह भी बताया कि इसकी स्थिति का पता हमें परीक्षणों से इसलिए नहीं प्राप्त होता है क्योंकि ये बड़ी सरलता से साधारण इलेक्ट्रानों से संयोग करके ऊर्जा में परिवर्तित हो जाते हैं।

उपर्युक्त रीति से डिरैक सिद्धान्त ने सर्वप्रथम यह प्रमाणित कर दिया कि पदार्थ का ऊर्जा में परिवर्तन तथा ऊर्जा का पदार्थ में परिवर्तन संभव है तथा इस प्रतिइलेक्ट्रान सिद्धान्त ने यह भी दर्शित कर दिया कि प्रोटान भी अपना शत्रु प्रति प्रोटान रख सकता है। हम उस उर्जा का मान निकाल सकते हैं जिसके कारण एक इलेक्ट्रान और एक प्रति-इलेक्ट्रान का सृजन हो सकता है। इसका मान ११ लाख इलेक्ट्रान वोल्ट आता है। डिरैक के इस नवीन कण की विशेषताएँ निम्न है—

	इलेक्ट्रान	प्रतिइलेक्ट्रान
आवेश—	-१.६×१०^{-१९} कू०	$+१.६ \times १०^{१९}$ कू०
मात्रा—	०.९१×१०^{-२७} ग्राम	०.९१×१०^{-२७} ग्राम
भ्रमि—	$\frac{१}{२}$	$\frac{१}{२}$
चुम्बकीय घूर्ण—	$-eh/4\pi mc$	$+eh/4\pi mc$

इस प्रकार हम देखते हैं कि इलेक्ट्रान तथा प्रति इलेक्ट्रान समस्त रूपों में एक दूसरे के समान हैं, केवल आवेश में अंतर है जिसके कारण चुम्बकीय घूर्ण में अन्तर पड़ जाता है।

डिरैक सिद्धान्त का सत्यापन

जैसा कि हम पहले कह आए हैं कि परमाणु के अन्दर दो भाग होते हैं—प्रथम इलेक्ट्रान समूह, द्वितीय नाभिक। अब तक जितने परमाणु माडलों का विवेचन किया गया है उसमें नाभिक के अन्तर में क्या है इसकी ओर ध्यान नहीं दिया गया। परन्तु यह शाखा ऐसी ही नहीं रही। इस ओर भी बहुत शोधें हुई हैं और उन्हीं के फलस्वरूप भौतिकी इतनी अग्रसर हो सकी है।

सन् १९१९ ई० में रदरफोर्ड नामक भौतिक

शास्त्री ने नाइट्रोजन गैस में अल्फाकण अथवा हीलियम नाभिकों को प्रवाहित किया जिसके फलस्वरूप उन्हें आक्सीजन गैस के परमाणु प्राप्त हुए। आक्सीजन परमाणुओं के अतिरिक्त प्रोटान नामक कण प्राप्त हुए जिनके ऊपर इकाई धनात्मक आवेश होता है तथा मात्रा इलेक्ट्रान की मात्रा की लगभग १८३६ गुनी होती है। इस प्रकार इस महत्वपूर्ण खोज ने यह प्रमाणित कर दिया कि प्रोटान नाभिक की एक मूलभूत इकाई है। १९२० ई० तक ये प्रयोग अनेक प्रयोगशालाओं में दोहराए गए और तत्पश्चात् यह पूर्ण रूप से सिद्ध कर दिया गया कि नाभिक की इकाई प्रोटान है।

उपर्युक्त परीक्षणों के अन्तर्गत ही जब बोरान, बेरीलियम, फ्लोरीन तथा ऐल्यूमीनियम आदि परमाणुओं को अल्फाकणों से प्रहारित किया गया तो एक आश्चर्यजनक तीक्ष्णता वाले कणों की बौछार प्राप्त हुई जो बाद में चलकर चैडविक नामक वैज्ञानिक के द्वारा यह प्रमाणित की गई कि इस विकिरण में लगभग प्रोटान के बराबर मात्रा वाले बिना आवेश के कण विद्यमान हैं जिन्हें 'न्युट्रान' का नाम दिया गया। आगे चलकर इरिन तथा जोलियो क्यूरी दम्पति ने सन् १९३४ ई० में कृत्रिम रेडियोधर्मिता की खोज की। इन्हीं न्युट्रानों के गुणों का पर्यवेक्षण करके 'नाभिकीय विखण्डन प्रक्रिया का जन्म हुआ जो आज हमारे लिए एक अमूल्य साधन है।

१९३० ई० के लगभग अनेक वैज्ञानिक पदार्थों द्वारा अल्फा, बीटा तथा गामा रश्मियों के अवशोषण के अध्ययन में लगे हुए थे। इसी अध्ययन के अन्तर्गत वैज्ञानिकों के समक्ष एक समस्या आ खड़ी हुई—वह थी—जब थोरियम द्वारा उत्पन्न गामा रश्मि का अवशोषण होता है तो कुछ अप्रत्याशित फल प्राप्त होते हैं। इस घटना ने वैज्ञानिकों का ध्यान कास्मिक रश्मियों की ओर आकृष्ट किया। कास्मिक रश्मियों की खोज लगभग सन् १९१० ई० में ही हो गई थी और सन् १९२९ ई० में रूसी वैज्ञानिक स्कोबेल्जिन ने यह भी प्रमाणित कर दिया था कि कास्मिक रश्मियों में १५० लाख इलेक्ट्रान वोल्ट तक की ऊर्जा होती है। सन् १९३२ ई० में ऐण्डरसन तथा मिलिकन ने विल्सन क्लाउड चेम्बर की सहायता से कास्मिक रश्मियों के अन्तर्गत पाए जाने वाले कणों का अध्ययन करना आरम्भ किया। विल्सन क्लाउड चेम्बर द्वारा प्राप्त फोटोग्राफों को देखते हुए ऐण्डरसन को धनात्मक आवेशमय इलेक्ट्रान के पथ का दिग्दर्शन हुआ परन्तु केवल पथ को देखकर ही कह देना आसान काम नहीं है। तदुपरान्त अन्य परीक्षणों द्वारा यह पुष्ट किया गया कि वह पथ जो इलेक्ट्रान पथ के विपरीत दिशा में परन्तु उतनी ही वक्रता का, जितनी इलेक्ट्रान पथ में थी, था, वास्तव में धनात्मक इलेक्ट्रान का ही था और उसे पाजीट्रान नाम दिया गया।

अब इसके बाद वैज्ञानिकों ने गामा रश्मियों की समस्या की ओर ध्यान दिया। हम यह जानते हैं कि यह विकिरण फोटान का बना होता है। फोटान की मात्रा शून्य होती है परंतु उर्जा $E = h\nu$ सेप्राप्त होती है। यदि गामा रश्मियों को किसी पदार्थ पर डाला जाय तो वास्तव में गामा रश्मियों का प्रभाव इलेक्ट्रान पर पड़ेगा। इस प्रभाव का अध्ययन करते हुए वैज्ञानिकों को दो तथ्य प्राप्त हुए जो निम्न है—

(१) प्रकाशवैद्युतीय प्रभाव।
(२) काम्पटन प्रभाव।

प्रकाश वैद्युतीय प्रभाव में यह बताया जाता है कि जब फोटान इलेक्ट्रान से संघट्ट करते है तो उसके उपरान्त फोटान की समस्त ऊर्जा इलेक्ट्रान को प्राप्त हो जाती है और इस प्रकार जब इलेक्ट्रान की गतिज ऊर्जा एक सीमा से अधिक हो जाती है तो वह पदार्थ को छोड़ कर बाहर निकल पड़ता है।

आइन्सटाइन ने प्रमात्रा सिद्धान्त की सहायता से सर्वप्रथम इस घटना की व्याख्या की थी।

काम्पटन प्रभाव में इलेक्ट्रान को प्रोटान की आंशिक ऊर्जा प्राप्त होती है और बाकी ऊर्जा अन्य तरङ्ग दैर्ध्य की तरङ्ग के रूप में पुनः प्राप्त होती है। इन दोनों प्रभावों को ध्यान में रखते हुए वैज्ञानिकों ने गामा रश्मियों की चण्डता की कमी, जब वे लेड धातु के प्लेट से प्रवाहित की गई, का अध्ययन किया तो उसके फलस्वरूप उन्हें निम्न नियम प्राप्त हुआ—

$$\triangle I = I\,N\,(^{\circ}ph + {^{\circ}c})\,dx.$$

जहाँ पर I = पूर्ववत चण्डता

N = इकाई आयतन में परमाणुओं की संख्या, जिस पदार्थ से पास किया गया।

dx = पदार्थ की मोटाई।

$^{\circ}ph$ = प्रकाश वैद्युतीय अवशोषण

$^{\circ}c$ = काम्पटन प्रभाव द्वारा अवशोषण

जब दस लाख इलेक्ट्रान वोल्ट से अधिक ऊर्जा की गामा रश्मियों को अवशोषक पदार्थ से होकर प्रवाहित किया गया तो $\triangle I$ का मान सैद्धान्तिक रूप से प्राप्त मान से अधिक आया। इसकी व्याख्या निम्न प्रकार से प्रस्तुत की गई—

क्यूरी दम्पति ने बताया कि जब फोटान जिनकी ऊर्जा १० लाख इ० वो० से अधिक होती है किसी अशोषक से होकर गुजारा जाता है तो इलेक्ट्रान तथा पाजीट्रान की साथ-साथ उत्पत्ति होती है। इसके सत्यापन से लिए उन्होंने क्लाउड चेंबर के फोटोग्राफ को लेकर दिखाया कि इलेक्ट्रान तथा पाजीट्रान के पथ एक ही विन्दु से आरम्भ होकर विपरीत दिशाओं को विक्षेपित होते हैं। इस प्रकार फोटान जब इलेक्ट्रान, एवं पाजीट्रान में परिवर्तित हो जाता है तो उसका अस्तित्व खत्म हो जाता है। इसलिए $\triangle I$ का मान वास्तविक प्रयोग में अधिक हो जाता है।

उपर्युक्त मत का समर्थन डिरैक सिद्धान्त से भी होता है क्योंकि यदि हम $2m_0c^2$ का मान निकालें तो हमें इसका मान १·०२ Mev के बराबर प्राप्त होता है। अर्थात् इलेक्ट्रान तथा पाजीट्रान की उत्पत्ति के लिए १·०२ मे० इ० वोल्ट से अधिक ऊर्जा वाले फोटान की आवश्यकता पड़ती है।

इसके अतिरिक्त डिरैक ने अपने सिद्धान्त में प्रतिइलेक्ट्रान का जीवन काल लगभग ०·३ माइक्रो सेकण्ड के, गणना किया था जो बाद में चलकर पूर्णतया सत्य प्रमाणित हुआ। पाजीट्रान का यह जीवन काल वायुमण्डलीय दबाव पर वायु के माध्यम से प्राप्त किया गया था।

इसी वर्ष सन् १९३३ में क्यूरी दम्पति और थिबाउड ने ऊर्जा का पदार्थ में रूपान्तरण भी प्रमाणित कर दिया जब कि क्लाउड चेम्बर की सहायता से ऊर्जा में पदार्थ का रूपान्तरण पहले ही प्रमाणित किया जा चुका था।

इतना सब हो जाने के बाद सन् १९३३ ई० में डिरैक ने साल्वे कांग्रेस में जो ब्रूसेल्स में हुई थी, यह वक्तव्य दिया कि पाजीट्रान की सारी विशेषताएं उनके सिद्धान्त द्वारा शोधित प्रतिइलेक्ट्रान से एकदम मेल खाती हैं और इस प्रकार प्रथम प्रति-कण का जन्म तथा उसकी पुष्टि हुई।

नाभिक के अन्तराल में और आगे

इसके पहले हम नाभिक के अन्दर न्युट्रान तथा प्रोटान कणों की विद्यमानता की चर्चा कर चुके हैं और यह भी बता चुके हैं कि किस प्रकार उनकी उपस्थिति की पुष्टि की गई थी। इसके बाद अब आगे बढ़ने पर और तथ्य प्राप्त हुए जिनके कारण और नवीन कणों के बारे में ज्ञान प्राप्त हुआ।

जब रेडियधर्मी फास्फोरस का अध्ययन (P^{32}_{15}) किया गया तो फल में हमें S^{32}_{15} मिला। दोनों समस्थानिकों की गणना से, प्राप्त होने वाले β कणों की उर्जा का मान १·७ मि० इ० वोल्ट आता

है जब कि वास्तविक परीक्षण में β कणों की ऊर्जा ० से लेकर १·७ मि० इ० वो० तक सतत रूप से वितरित मिलती है। इस समस्या का समाधान पाउली महोदय ने यह मानकर किया कि β-कणों के साथ-साथ एक ऐसा नवीन कण और निकलता है जिसके ऊपर कोई आवेश नहीं होता और मात्रा इलेक्ट्रान मात्रा की लगभग १०⁻³ गुनी होती है। इस प्रकार के मत को मान लेने पर, β-रश्मियों के लिए प्राप्त होता है, सतत वर्णक्रम, की व्याख्या तो हो जाती है परन्तु इस प्रकार के कणों की स्थिति का पता किसी परीक्षण से नहीं चल सका है। कारण इसका यह है कि न तो इस कण के ऊपर आवेश है और मात्रा भी लगभग शून्य के बराबर होती है परन्तु इस कण की भ्रमि ½ होती है। आज के भौतिकशास्त्री इस नवीन कण के प्रतिकण अर्थात् एण्टीन्युट्रिनों की खोज में लगे हुए हैं क्योंकि डिरैक-सिद्धान्त यह बताता है कि अवश्य इस कण का प्रतिकण होगा। इस न्युट्रानों तथा एण्टीन्युट्रिनों के सिद्धान्त ने β रश्मि वर्णक्रम की अप्रत्याशित फलदायिनी प्रवृत्ति की व्याख्या और सरल कर दी है क्योंकि एण्टीन्युट्रिनों का अवशोषण, न्युट्रिनों के निष्कासन के बिल्कुल समान है इसलिए—

$$_0n'+\nu \longrightarrow {}_1p'+e^-$$
$$_1p'+\nu \longrightarrow {}_0n'+e^+$$
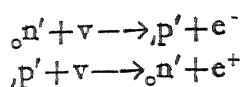
इन दो समीकरणों से समस्त घटना साफ-साफ हल हो जाती है।

अब प्रश्न उठा कि—किस प्रकार नाभिक में प्रोटान समूह न्युट्रनों के साथ जुड़े हुए होते हैं? इसके उत्तर के लिए हाइड्रोजन अणु का उदाहरण
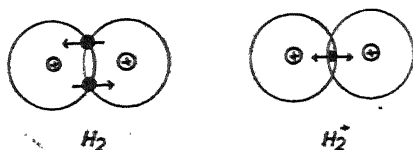
लिया गया। हाइड्रोजन अणु में दो परमाणु होते हैं। प्रत्येक परमाणु में एक इलेक्ट्रान तथा नाभिक में एक प्रोटान होता है। हाइड्रोजन अणु में दोनों इलेक्ट्रानों की भ्रमि विपरीत दिशा में होती हैं जिसके कारण अणु संतुलित अवस्था में होता है। परन्तु हाइड्रोजन आयन में केवल एक ही इलेक्ट्रान होता है। तरङ्ग यांत्रिकी के सिद्धान्तों के अनुसार इस दशा में इलेक्ट्रान दोनों नाभिकों के बीच दोलित होता रहता है। इसी आधार पर नाभिक के अन्तर्गत भी दो नाभि कणों के बीच न्युट्रिनों तथा इलेक्ट्रानकणों के विनिमय बल का अनुमान किया गया परन्तु न्युट्रिनों तथा इलेक्ट्रान को यदि कारण माना जाय तो नाभिक का आकार वास्तविक आकार से बड़ा हो जाता है। इसलिए अवश्य ही कोई ऐसा कण है जो कि अन्य कणों से सर्वथा भिन्न है।

सन् १९३५ ई० में जापानी भौतिकशास्त्री युकावा ने अपना सिद्धान्त देते हुए बताया कि नाभिकणों के बीच के आकर्षण का कारण एक प्रकार का कण है जो मात्रा में इलेक्ट्रान से लगभग दो सौ गुना बड़ा होगा और उसका जीवन काल माइक्रोसेकण्ड के लगभग होगा।

मई सन् १९३७ ई० में कास्मिक रश्मियों के अध्ययन ने युकावा कण की पुष्टि कर ही दी। इस प्रकार प्राप्त प्रथम मेसान की मात्रा इलेक्ट्रान मात्रा की २१० गुनी थी जिसमें, परीक्षण को सैद्धान्तिक फल से आश्चर्यजनक रूप से मिला दिया। क्लाउड चेम्बर फोटोग्राफों ने दो प्रकार के धनात्मक तथा ऋणात्मक कणों की उपस्थिति को बताया। इस प्रकार इन कणों में प्रतिकण की उपस्थिति अपने आप प्रमाणित हो गई। इन मेसानों को μ—मेसान कहा गया। बाद के प्रयोगों से यह पता चला कि μ—मेसान भी एक अन्य प्रकार के π—मेसानों से प्राप्त होते हैं। ये π—मेसान तीन प्रकार के होते हैं—धनात्मक, ऋणात्मक तथा अनावेशित। धनात्मक ऋणात्मक π—मेसानों की मात्रा २७५ Me होती है तथा जीवनकाल २·८×१०⁻⁸ से०

होता है जबकि अनावेशित π —मेसानों की मात्रा २६५ Me होती है और जीवनकाल $१०^{-१५}$ से० के लगभग होता है। वास्तव में युकावा के मेसान यही π —मेसान ही हैं, क्योंकि इनके कारण निम्न प्रक्रियाएँ होती हैं—

$$\text{(i) } P \rightleftarrows N + \pi^{+} \qquad \text{(iii) } N \rightleftarrows P + \pi^{-}$$

$$\text{(ii) } P \rightleftarrows P + \pi^{\circ} \qquad \text{(iv) } N \rightleftarrows + N + \pi^{\circ}$$
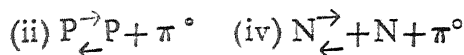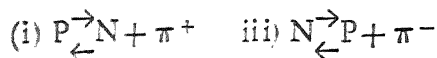
सर्वप्रथम मेसान केवल कास्मिक रश्मियों से प्राप्त हुए थे परन्तु युकावा ने यह भी बताया था कि मेसान की उत्पत्ति अत्यधिक गति वाले नाभिकणों के संघट्ट के कारण भी हो सकती है, जिसको निम्नरीति से प्रदर्शित किया जा सकता है :—

$$N_1 + N_2 \rightarrow N_1' + N_2 + \pi$$
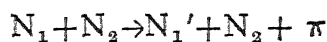
परन्तु इसके लिए ऐसी मशीनों की आवश्यकता पड़ी जिनकी सहायता से अत्यधिक तीव्र वेग वाले कणों को उत्पन्न किया जा सके। इसलिए अब हम नाभिकीय मशीनों के बारे में थोड़ा सा जानने का प्रयत्न करेंगे।

वैद्युत नाभिकीय मशीनें तथा प्रतिकणों की उत्पत्ति

साल्वे कांग्रेस की बैठक में वैज्ञानिकों के ध्येय के अन्तर्गत एक योजना सम्मिलित थी—तत्वों को तीव्र त्वरित अल्फा कणों अथवा प्रोटानों द्वारा विखण्डित किया जाना। परन्तु काक्राफ्ट नामक भौतिकज्ञ ने यह बताया कि तरंगयांत्रिकी के अनुसार नाभिक विभेदन केवल तीव्र ऊर्जा वाले कण से सम्भव नहीं, बल्कि उसके लिए अत्यधिक वेग वाले विखण्डक कणों की धारा की आवश्यकता पड़ेगी। इस पर ध्यान देकर काम शुरू हुए लेकिन उनमें अनेक कठिनाइयाँ आयीं जिसके कारण अपेक्षित उन्नति न हो सकी।

इसके पश्चात् काक्राफ्ट और वाल्टन महाशयों ने त्वरित प्रोटानो की सहायता से लीथियम नाभिक को दो अल्फा कणों में परिवर्तित कर दिया इस शोध-पत्र को इन्होंने जब, नाभिक विज्ञान के जन्मदाता रदरफोर्ड के समक्ष १९३३ ई० की साल्वे कांग्रेस की बैठक में पढ़ा तो वैज्ञानिकों के अन्दर जागृति की एक नवीन लहर दौड़ गई जिसके फलस्वरूप भौतिकी की एक नवीन शाखा का जन्म हुआ।

समस्त कण-त्वरकों का एक साधारण सा नियम है—

(i) आवेशमय कण जब दो भिन्न विभव से होकर गुजरते हैं तो उनकी गति त्वरित अथवा ह्रासित हो जाती है।

(ii) समस्त कण-त्वरकों में एक ऐसा कक्ष होता है जिसके अन्दर या तो हाइड्रोजन गैस अथवा हीलियम अत्यन्त कम दबाव पर ($१०^{-३}$ — $१०^{-४}$ से० मी० पारद दबाव) भरी होती है तथा इसी के आयनीकरण के कारण आवेशमय कण प्रोटान अथवा हीलियम से अल्फा कण प्राप्त होते हैं।

(iii) इसके अतिरिक्त और कक्ष होता है जिसमें वायु दबाव अत्यन्त कम अथवा शून्य के लगभग ($१०^{-६}$ से $१०^{-७}$ से० मी० पारद) होता है। इस शून्य कक्ष में आवश्यक कणों को डाला जाता है तथा उनको इच्छानुसार त्वरित किया जाता है। जब ये कण त्वरित हो जाते हैं तो उनको पुंज के रूप में एक रास्ते से निकाला जाता है। इस पुंज की तीव्रता बड़ी ही सूक्ष्मता से नापी जा सकती है।

उपर्युक्त सामान्य नियमों के आधार पर निम्न मुख्य-मुख्य कणत्वरकों का निर्माण किया गया है। इनका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है। कारण यह कि इन त्वरकों की सहायता से प्रतिकणों का निर्माण किया जा सकता है।

सर्वप्रथम कणत्वरक जिसको कैवेंडिश प्रयोगशाला में काक्राफ्ट तथा वाल्टन ने बनाया था, बड़े सरल सिद्धान्त पर आधारित था। हम यह जानते

हैं कि यदि किसी Ze आवेश वाले कण को v वोल्ट विभवान्तर से गुजारा जाय तो उस कण पर Zev मात्रा की ऊर्जा लगती है और मात्रा के अनुसार त्वरित होता है। उपरोक्त मशीन में १००००० वोल्ट विभवान्तर का उपयोग किया गया था। इसी सिद्धान्त पर वानडी ग्राफ जनित्र भी काम करता है जिसमें एक अन्तहीन पट्टी किसी कुचालक की लगी होती है जिसके चलने पर आवेश एकत्रित होकर अत्यधिक विभवान्तर उत्पन्न करते हैं। रैखिल-त्वरक तथा वानडी ग्राफ जनित्र का उपयोग अब भी होता है लेकिन बहुत ही कम प्रयोगशालाओं में।

उपर्युक्त मशीनों के बाद ही महत्वपूर्ण कण-त्वरक साइक्लोट्रान का जन्म लारेन्स नामक वैज्ञानिक के कारण हुआ। इसमें वास्तव में दो अर्द्ध-वृत्ताकार कक्ष होते हैं जिन्हें डी कहते हैं। इन दोनों अलग-अलग रखे गए डी का सम्बन्ध तीव्र कम्पनांक वाली प्रत्यावर्ती वैद्युतीय धारा से होता है। प्रत्यावर्ती धारा के कारण इन दो डी के ऊपर प्रत्यावर्त्ती विभवान्तर उत्पन्न हो जाता है। इसके अतिरिक्त डी के धरातल से लम्बवत् दिशा में कार्य करते हुए चुम्बकीय क्षेत्र का उपयोग किया जाता है। जिस आयन को त्वरित करना होता है उसके स्रोत को डी केन्द्र के पास रखते हैं। जब आयन निकलेगा तो उसका मार्ग वृत्ताकार होगा (चुम्बकीय क्षेत्र की उपस्थिति के कारण) परन्तु ज्योंहीं कण एक डी से दूसरे डी के बीच के स्थान से होकर गुजरेगा उसके अन्दर विभवान्तर के कारण त्वरण उत्पन्न हो जायगा और इस प्रकार दूसरे डी में उस कण का पथ और भी अधिक वक्रता अर्द्धव्यास का हो जाएगा। यदि प्रत्यावर्त्ती विभवान्तर ऐसा हो कि पुनः जब कण दूसरे डी के बीच की रिक्त स्थान की स्थिति में पहुँचे तो त्वरक में दूसरे डी पर विभव हो तो इस प्रकार प्रत्येक चक्कर में दो बार कण त्वरित होगा और सर्पिलाकार पथ का अनुसरण करते हुए एक निश्चित संख्या के पथों का अनुसरण कर लेने पर उर्जा का निश्चित मान रखते हुए बाहर प्रक्षेपित किया जा सकता है।

साधारण गणितीय विधियों से यह प्राप्त होता है कि अधिकतम प्राप्य गतिज ऊर्जा का मान, चुम्बकीय क्षेत्र में वृत्ताकार पथ के अर्द्धव्यास, प्रत्यावर्ती विभवान्तर के कम्पनांक तथा चुम्बकीय क्षेत्र की चण्डता पर आधारित होती है। सर्वप्रथम लारेंस साइक्लोट्रान में निम्न प्रकार के संस्थान थे—

विद्युदग्रों का व्यास—५० से० मी०

ड्यूट्रान पुंज की ऊर्जा—३.६ Mev.

वैद्युतीय चुम्बकों का व्यास— ११४ से० मी०

साइक्लोट्रान में बहुधा चुम्बकीय क्षेत्र की चण्डता ५००० से १५००० गाउस के आसपास होती है।

इस वर्णन में हम देख आए हैं कि किस प्रकार त्वरण उत्पन्न होता है। परन्तु त्वरित कण का वेग ज्यों-ज्यों प्रकाश-वेग नजदीक पहुँचने लगता है त्यों-त्यों उस कण की मात्रा भी परिवर्तित होने लगती है जिसके कारण पथ का वक्रता-अर्द्धव्यास भी परिवर्तित होने लगता है। फलतः कण का दो डी के बीच के रिक्त स्थान के पास पहुँचने तथा दोनों डी पर अधिकतम विभावान्तर लगने में कलान्तर उत्पन्न हो जाता है। जब यह कलान्तर (Phase diff) ९०° के बराबर हो जाता है तो त्वरण का मान शून्य हो जाता है अर्थात् कण एक निश्चित वेग से एक निश्चित पथ पर चक्कर काटने लगता है। इस प्रकार इससे आगे हम कण को त्वरित करने में असमर्थ हो जाते हैं।

परन्तु यदि ऐसा प्रबन्ध किया जाय कि, ज्यों-ज्यों कण वेग बढ़ता जाय और उसके कारण पथ का वक्रताअर्द्धव्यास कम होता जाय, ठीक उसी प्रकार प्रत्यावर्त्ती विभवान्तर का कम्पनांक कम होता जाय तो कण का वेग तथा ऊर्जा बड़ी सरलता से बढ़ते जायेंगे। इस सिद्धान्त पर जो मशीन काम

करती है उसे सिंक्रोसाइक्लोट्रान (Synchro cyclotron) कहते हैं। इस प्रकार की मशीन सन् १६४६ बर्कले में बनकर तैयार हुई जिसमें २०० मे० इ० वोल्ट ऊर्जा के ड्युट्रान कणों का पुंज तथा ४०० मे० इ० वोल्ट उर्जा के प्रोटान कणों का पुंज प्राप्त किया गया। इस भीमकाय मशीन में ३५०० टन इस्पात लगा था।

इसके उपरान्त इलेक्ट्रान कणों को त्वरित करने के लिए बीटाट्रान नामक मशीन की रचना की गई। इस मशीन में एक प्रत्यावर्ती चुम्बकीय क्षेत्र, H, के द्वारा प्रत्यावर्ती विभवान्तर, E, उत्पन्न किया जाता है जिसके कारण H' चण्डता की चुम्बकीय चन्डता प्राप्त होगी। H' का काम H' के परिवर्तन का विरोध करना होगा। इस प्रकार के प्रबन्ध में पहले इलेक्ट्रानों को ६० कि० इ० वोल्ट ऊर्जा तक त्वरित करके तब मशीन में डालते हैं और एक खोखली सर्पिलाकार कक्षीय रचना में उनको त्वरित करते हैं।

'बीटाट्रान' इलेक्ट्रान कणों को २५ मे० इ० वो० तक त्वरित कर सकता है। इसका भार ५ टन के लगभग होता है।

बीटाट्रान तथा साइक्लोट्रान सिद्धान्तों की सहायता से 'सिंक्रोट्रान' का निर्माण किया गया। इसमें एक निश्चित वक्रताअर्द्धव्यास के पथ पर आयनों को अनेक त्वरक विद्युदग्रों की उपस्थिति में गुजारा जाता है। इस प्रकार अनेक त्वरण के सम्मिलित प्रभाव से आयनों की गति एवं ऊर्जा भीषण रूप से बढ़ जाती है। इलेक्ट्रान सिन्क्रोट्रान में पहले इलेक्ट्रानों को 2Mev तक ऊर्जा दे देने के बाद सिंक्रोट्रान में प्रवेश करने दिया जाता है।

कार्नेल विश्वविद्यालय के साइक्लोट्रान का भार ७३८ पौंड है तथा पथ का अर्द्धव्यास १ मीटर है। इससे ३०० मे० इ० वोल्ट तक उर्जा वाले इलेक्ट्रान प्राप्त किए जा सकते हैं।

प्रोटान सिन्क्रोटान में पहले वॉन डी ग्राफ जनित्र में प्रोटानों को त्वरित करके पुनः सिन्क्रोट्रान में प्रविष्ट कराया जाता है। प्रोटान सिंक्रोट्रान की रचना निम्न प्रकार से हैं—

भार—१६५० टन इस्पात। चुम्बकीय ताल में अत्यधिक धारा—७००० अ०

७० टन ताम्र पथ का अर्द्धव्यास—१० मी०

कणों की उर्जा ३००० मे० इ० वोल्ट।

उपर्युक्त विशेषताएँ ब्रुकहेवेन के कास्मोट्रान की थी जबकि बर्कले के बीवाट्रान ने कास्मोट्रान का भी कान काटकर ६२०० मि० इ० वो० की ऊर्जा के प्रोटान दिए हैं।

अब आइए देखा जाय कि उपर्युक्त मशीनों की सहायता से (Pair Production) जुड़वाँ उत्पत्ति किन-किन कणों की, संभव है? हम जानते हैं कि इलेक्ट्रान युग्म उत्पत्ति के हेतु १.०२ मे० इ० वो० की आवश्यता होगी। इसी प्रकार मेसान, जिनकी मात्रा २०० इलेक्ट्रान मात्रा होती है, के युग्म की उत्पत्ति के लिए २०० Mev से अधिक ऊर्जा की आवश्यकता पड़ेगी। प्रोट्रान की मात्रा १८३६ इ० मात्रा के लगभग होती है इसलिए १८७६ मे० इ० वो० से अधिक ऊर्जा की आवश्यकता प्रोट्रान-युग्म की उत्पत्ति के लिए आवश्यक होगी। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि आज हम किसी भी नाभिकीय कण को प्राप्त कर सकते हैं।

इसके उपरान्त बर्कले में किए गए परीक्षणों से प्राप्त फलों ने बताया कि नाभिकणों की उत्पत्ति के लिए लगभग ६००० मे० इ० वोल्ट उर्जा के कणों की आवश्यकता पड़ेगी जो कि आज की विशालकाय मशीनरी बड़ी सरलता से प्रदान कर सकती है।

प्रतिकणों की उत्पत्ति

प्रतिकणों में प्रति इलेक्ट्रान अथवा पाजीट्रान की उत्पत्ति का वर्णन हम पहले ही कर चुके हैं। अब

आइए देखा जाय कि अन्य प्रतिकणों की उत्पत्ति किस प्रकार से होती है ?

प्रतिप्रोटान—

प्रति इलेक्ट्रान के बाद प्रश्न उठता है प्रति-प्रोटान का। प्रति प्रोटान की उत्पत्ति के लिए सैद्धान्तिक रूप से दो विधियाँ काम में लाई जा सकती हैं—

(१) प्रथम विधि प्रोटान तथा नाभिकरण के संघट्ट की है जिसको हम निम्न समीकरण की सहायता से व्यक्त करते हैं—

$$p+N \rightarrow p+N^{1}+p+p^{-}$$
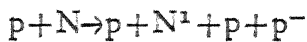
जहाँ पर p = प्रोटान N = नाभिकण p^{-} = प्रति प्रोटान। इस प्रकार की नाभिकीय प्रक्रिया में संघट्ट करने वाले प्रोटान की ऊर्जा ५६०० MeV तक होनी चाहिए।

(२) द्वितीय विधि में दो भागों में प्रक्रिया सम्पन्न होती है। पहले चरण में १००० मे० इ० वो० की ऊर्जा से अधिक मान वाले π मेसान की उत्पत्ति की जाती है। तथा द्वितीय चरण में ये अधिक ऊर्जा वाले मेसान नाभिकणों से संघट्ट करके प्रोटान तथा प्रति-प्रोटान देते हैं—

$$\pi+N \rightarrow N^{I}+p+p^{-}$$

यह प्रक्रिया यद्यपि अधिक जटिल होती है परन्तु इसके लिए कम ही ऊर्जा (लगभग ४१०० MeV) के प्रोटानों की आवश्यकता पड़ती है।

अब प्रश्न उठता है—कि किस प्रकार प्रति-प्रोटान उत्पन्न किए जायँ तथा किस प्रकार उनकी उपस्थिति का पता लगाया जाय ? वास्तव में जिन विधियों का विस्तार में उपयोग किया गया इसका वर्णन यहाँ पर अवांछनीय है। इसलिए हम संक्षेप में किसी विधि का वर्णन करेंगे।

प्रतिप्रोटानों को उत्पत्ति के लिए बर्कले के 'बीवाट्रान' का उपयोग किया। बीवाट्रान से प्राप्त अत्यधिक उर्जा वाले प्रोटान को ताम्र पट्ट पर डाला गया जिसके फलस्वरूप प्रति प्रोटान, मेसान तथा अन्य आवेशमय कण उत्पन्न हुए। बीवाट्रान के चुम्बकीय क्षेत्र विक्षेपण से सर्वप्रथम ऋणात्मक आवेशमय कणों को एक ओर निकाला गया। इन कणों में प्रति प्रोटान तथा π – मेसान थे। अब समस्या उठी कि किस प्रकार इन दोनों प्रकार के कणों को अलग किया जाय ? इनके अलग करने के लिए इनकी भिन्न मात्राओं का सहारा लिया गया। इसके उपरान्त निम्न विधि से प्रति प्रोटानों की स्थिति का पता २४ अक्टूबर सन् १९५५ में चला।

जिस विधि का उपयोग बर्कले में किया गया था उसका संक्षिप्त सांकेतिक रेखा चित्र नीचे दिया गया है। इसमें M_1 Q_1 Q_2, M_2 आदि चुम्बकीय ताल संस्थान हैं जिनकी सहायता से π – कणों तथा प्रति प्रोटानों को विक्षेपित किया जाता है। इन कणों को S_2 नामक सिन्टीलेशन काउण्टर से होकर जाने दिया जाता है। इसके उपरान्त कण S_2 नामक सिन्टीलेशन काउण्टर से होकर गुजरते हैं। चूंकि दोनों कणों की मात्राओं में काफी अन्तर होता है। इसलिए S_1 से S_2 तक चलने में π – मेसान ४०×१०$^{-८}$ से० तथा प्रति प्रोटान कण ५·१× १०$^{-८}$ से० लेते हैं। अब S_1 और S_2 के साथ ऐसा सम्बन्ध किया जाता है कि दो स्केल पर भिन्न-भिन्न समयान्तरों वाले कणों के पहुँचने की सूचना मिलती है। वास्तव में π – मेसान को इस प्रकार अलग कर लिया जाता है। इसके उपरान्त परीक्षण को और पुष्ट करने के लिए C_1 और C दो
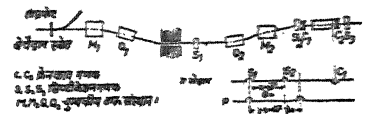
क्रेनकाव काउन्टर लगा देते हैं तथा उसके बाद पुनः एक और सिन्टीलेशन काउन्टर लगा देते हैं। C_1

गणक को ०.७६ C वेग तथा इससे अधिक के लिए सुग्राही बनाते हैं तथा C_2 को .७५८ से .७८ C वेग तक के लिए सुग्राही बना लेते हैं। इस प्रकार C_1 काउन्टर π – मेसानों की गणना करता है तथा C_2 गणक प्रतिप्रोटनों की गणना करता है। इस प्रकार उपर्युक्त रीति से, २४ अक्टूबर सन् १६५५ को बर्कले के वैज्ञानिकों ने यह घोषित कर दिया कि उन्होंने ६० प्रति-प्रोटानों को उस दिन गिना।

इसके अतिरिक्त फोटोग्राफिक प्लेटों में भी प्रति-प्रोटानों का पता चला। प्रति प्रोटानों के विनाश (Annihilation) के कारण ८ किरणों वाला स्टार प्वाइण्ट भी मिला। सन् १६५६ ई० में, बीवाट्रान द्वारा त्वरित प्रोटानों को जब फोटोग्राफिक प्लेट पर डाला गया तो उसके उपरान्त दो अधिक ऊर्जा वाले स्टार प्वाइण्ट एक रेखा से जुड़े मिले। उस जोड़ने वाली रेखा की पुष्टि प्रति प्रोटान के पथ के रूप में हुई जिसकी ऊर्जा ७१० मे० इ० वो० थी। द्वितीय स्टार प्वाइण्ट से गणना करने पर पता चला कि उत्पन्न ऊर्जा लगभग १४० मे० इ० वो० से ज्यादा ही रही होगी। इस प्रकार प्रथम स्टार तो प्रोटान नाभिकण की टक्कर से उत्पन्न प्रति प्रोटान के कारण था तथा द्वितीय विन्दु केवल प्रतिकण के विनाश के कारण था।

इसके बाद वैज्ञानिकों ने यह प्रयत्न किया कि प्रोटान तथा प्रति-प्रोटान मिलने पर क्या होता है? क्या इनके मिलने पर भी मात्रा विनष्टि और फोटान उत्पत्ति होती है? इसके ऊपर शोध करते हुए बताया गया कि फोटान के साथ-साथ π मेसानों की उत्पत्ति की संभावनाएँ अधिक हैं। इसके अतिरिक्त फर्मी ने बताया कि ऊर्जा इतनी अधिक उत्पन्न होती है कि दो मेसानों के अतिरिक्त अन्य भारी कण भी प्राप्त हो सकते हैं जैसा कि फोटोग्राफीय प्लेटों से पूर्णतया सिद्ध किया गया है।

प्रति-न्युट्रान

चूँकि न्युट्रान तथा प्रति-न्युट्रान में चुम्बकीय घूर्ण के अतिरिक्त कोई अन्तर नहीं होता इसलिये प्रति न्युट्रान की उपस्थिति का पता लगाना अत्यन्त कठिन मालूम पड़ता है। परन्तु जब प्रति-न्युट्रान, न्युट्रान से मिलते हैं तो जो ऊर्जा प्राप्त होती है उसका मान तो सरलता से मालूम किया जा सकता है। इसलिए इसी विधि का उपयोग किया गया।

वास्तविक परीक्षण में पहले प्रति-प्रोटानों को बीवाट्रान से प्राप्त किया गया तथा उसके उपरान्त प्रति-प्रोटानों को एक प्रति-न्युट्रान परिवर्तक में से होकर गुजारा गया जिसके फलस्वरूप प्रति-न्युट्रान मिले। इन प्रति-न्युट्रानों के विनष्टीकरण से निष्कासित ऊर्जा के आधार पर उनकी उपस्थिति की गणना की गई। इस प्रयोग में ३००-६०० प्रति प्रोटान देने वाले स्रोत का उपयोग किया गया था।

इसी प्रकार के अन्य परीक्षणों द्वारा भौतिकज्ञों ने अन्य प्रतिकणों को ढूँढ़ निकाला है और आज तक जितने मूलभूत कण मालूम हैं उनमें से लगभग प्रत्येक कण के प्रतिकण भी मालूम हैं और उनके अस्तित्व तथा उत्पत्ति का पता चल गया है। इसके आधार पर हम यदि कहें कि संसार अथवा ब्रह्माण्ड में कोई वस्तु बिना युग्म के नहीं है तो कोई कोरी कहावत नहीं होगी। वास्तव में सबका जोड़ा विद्यमान हैं चाहे वह जीव हो अथवा निर्जीव।

प्रति पदार्थ:—अब तक तो हम पदार्थ के बारे में प्राप्त सिद्धान्तों आदि के ऊपर विवेचन करते आए हैं। परन्तु अब प्रश्न उठता है कि आज हम पदार्थ को किस रूप में मानते हैं? डाल्टन ने परमाणु दिया। टामसन ने इलेक्ट्रान, रदरफोर्ड ने नाभिक तथा प्रोटान, चैडविक ने न्युट्रान, डिरैक ने प्रति-इलेक्ट्रान। इनके अतिरिक्त युकावा ने मेसान दिया जिसके आधार पर—न्युट्रान प्रोटान के द्वारा मेसानों की सहायता से नाभिक बना जिसके

चारों ओर इलेक्ट्रान मेघ उत्पन्न हुआ—पदार्थ की अन्तिम रचना दी गई।

क्या इसी प्रकार प्रति-पदार्थ भी हो सकता है? अवश्य यदि होगा तो ठीक इसी प्रकार उसका प्रति नाभिक—प्रति प्रोटान तथा प्रति न्यूट्रान से मेसानों की सहायता से बना होगा तथा उसके चारों ओर प्रति-इलेक्ट्रान चक्कर काटते होंगे। इसके बाद पुनः प्रश्न उठता है कि क्या प्रति-पदार्थ का सृजन संभव है?

इसके उत्तर में अभी विज्ञान मौन है क्योंकि अभी तक पदार्थ की रचना में ही अधिक कठिनाइयाँ हैं जैसे अत्यधिक ताप एवं दाब। यद्यपि नाभिकीय संगलन प्रक्रिया (Nuclear fusion Reaction) तो संभव है और उसकी सहायता से हाइड्रोजन बम का विस्फोट होता है परन्तु नियंत्रित रूप से प्रयोगशाला में अभी इतने बड़े पैमाने पर काम नहीं हो सका है यद्यपि ज़ीटा नामक यंत्र में संगलन ताप उत्पन्न किया जा चुका है।

यह धारणा है कि आकाश-गंगा में कुछ ऐसे नक्षत्र हैं जिनमें प्रति-पदार्थ विद्यमान है, परन्तु पृथ्वी पर इसका सृजन विनाशकारी ही होगा, क्योंकि यदि प्रति-पदार्थ बना लिया जाय तो वह तुरन्त पदार्थ से संयोग करके ऊर्जा में परिवर्तित हो जायगा। ईश्वर न करे कि कभी किसी प्रति-पदार्थ जगत का कोई भाग हमारी पृथ्वी से टकराए अन्यथा हमारी पृथ्वी का नाश हो जायेगा।

प्रति पदार्थ संहारक है, परन्तु इसके शोध में किए गए प्रयत्न अत्यधिक लाभदायक हैं, क्योंकि उनसे पदार्थ की अंतिम रचना को समझने में सहायता मिलती है। संदर्भ :—

(1) Atomic Physics—J. B. Rajam
(2) Foundations of Physics—R. B. Lindsay & H. Margeuau
(3) Atomic Physics—Max Born
(4) One two three infinity—G. Gamow
(5) Atomic Energy—J. L. Cramm-ers Pericrls.

●●

मिसाइल—सुरक्षा के साधन

महावीर सिंह मुडिया

बीसवीं शताब्दी में विज्ञान और टेक्नालाजी में अभूतपूर्व प्रगति हुई है। एक तरफ जहाँ विज्ञान ने मानव मात्र को सुखी बनाने के लिये नये-नये अद्भुत आविष्कार किये हैं वहाँ दूसरी ओर संहार के ऐसे अस्त्र भी तैयार किये गए हैं जो कि इस पृथ्वी से प्राणीमात्र का अस्तित्व ही मिटाने को पर्याप्त हैं। ऐसी परिस्थिति में राष्ट्रीय सुरक्षा का महत्व और अधिक हो जाता है, क्योंकि वही राष्ट्र अपनी सुरक्षा करने में समर्थ है जो आधुनिक अस्त्रों से पूर्ण रूप से सज्जित है।

सुरक्षा की दृष्टि से आज के युग में राकेट का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। विज्ञान के नित नये आविष्कारों के साथ-साथ युद्ध के तरीकों में भी परिवर्तन हो चुका है। आज का युद्ध बन्दूकों

और राइफलों से नहीं लड़ा जाता है। ये चीजें अब आधुनिक शस्त्रों के सामने पुरानी हो चुकी हैं। फिर इस प्रकार के अस्त्र चलाने के लिये काफी संख्या में सेना भी रखनी पड़ती है जिसका भार सामान्य रूप से जनता को ही उठाना पड़ता है। जो काम एक अत्यन्त विशाल सेना के द्वारा नहीं पूर्ण किया जा सकता, वही काम राकेट से बहुत जल्दी ही पूरा हो सकता है क्योंकि ये राकेट अत्यन्त तीव्रगति से जाते हैं तथा पूर्व निर्दिष्ट स्थान पर जाकर बम गिरा सकते हैं।

राकेट दो प्रकार के होते हैं :—

(१) द्रव ईंधन राकेट (Liquid fuel Rocket)

(२) ठोस ईंधन राकेट (Solid fuel Rocket)

प्रथम प्रकार के राकेट में द्रव ईंधन काम में लाया जाता है जैसे, ऐल्कोहल और द्रव ऑक्सीजन। इस प्रकार के राकेट को छोड़ने के लिये पहले से ही काफी तैयारियाँ करनी पड़ती हैं और स्थान भी पहले से चुनना पड़ता है जिसका पता शत्रु आसानी से लगा सकता है। अतः द्रव ईंधन राकेट जहाँ १५०००-२०००० मील प्रति घंटे की चाल से संचालित किये जा सकते हैं वहीं एक भय हमेशा यह बना रहता है कि शत्रु के आक्रमण के द्वारा किसी भी समय नष्ट न कर दिये जायँ। अतएव सुरक्षा की दृष्टि से अब ठोस ईंधन राकेट का महत्व नित्यप्रति बढ़ता जा रहा है।

ठोस ईंधन राकेट में ईंधन ठोस के रूप में होता है जैसे, पोटेशियम परक्लोरेट, पोटेशियम नाइट्रेट आदि। ये राकेट एक स्थान से दूसरे स्थान तक शीघ्र ही रेलमार्ग के द्वारा ले जाये जा सकते हैं और वहीं से किसी भी समय दागा जा सकता हैं। यह ठोस ईंधन राकेट की एक विशेषता ही है जिससे शत्रु के आक्रमण से ये बचाए जा सकते हैं। अमेरिका ने ऐसे 'मिनुटमेन मिसाइल' बना रखे हैं जिनमें ठोस ईंधन प्रयोग में लाया जाता है। ऐसे मिसाइलों को चारों ओर बिखेर दिया गया है और रेल-मार्ग के द्वारा किसी भी गोपनीय स्थान पर ले जा कर दागा जा सकता है। यही नहीं स्थायी रूप से ६० फीट गहरे गड्ढे जमीन के अन्दर खोदकर इनको रख दिया गया है और उधर से बिलकुल समतल जमीन कर दी गई है, ताकि वे जहाँ छिपे हुए हैं किसी को पता भी न लग सके। इनके चालक भी जमीन के अन्दर बनी कोठरियों में तैयार बैठे रहते हैं, ताकि सूचना मिलते ही बटन दबाकर मिसाइलों को दाग सकें। बटन दबाते ही केवल ३२ सेकण्ड के अन्दर ये मिसाइल जमीन से ऊपर आकर अपने पूर्व निर्धारित लक्ष्य की ओर अग्रसर हो जाते हैं और केवल १५ मिनिट में ही मारको पहुँच सकते हैं। ऐसे मिसाइल जमीन के अन्दर गाड़ कर रखे जाते हैं इसलिये शत्रु इनको नष्ट भी नहीं कर सकते। अतएव सुरक्षा की दृष्टि से ठोस ईंधन राकेट का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इस प्रकार के एक दर्जन मिसाइलों के द्वारा किसी भी भावी शत्रु का हौसला पस्त किया जा सकता है।

स्थल सेना तथा वायु सेना में भी इन राकेटों का प्रयोग होने लगा है। मुख्यतः चार प्रकार के राकेट तैयार किये गए हैं—

(१) जमीन से जमीन पर छोड़े जाने वाले मिसाइल (Ground to ground missiles) ऐसे मिसाइल जमीन से छोड़े जाकर शत्रु की स्थल सेना का तथा टैंकों का आसानी से विनाश कर सकते हैं।

(२) जमीन से आकाश की ओर छोड़े जाने वाले मिसाइल (Gorund to air missiles)। ये मिसाइल जमीन से आकाश की ओर किसी भी हवाई जहाज को मार गिरा सकते हैं। अमेरिका

के U_2 हवाई जहाज को रूस के ऐसे ही राकेट ने मार गिराया था।

(३) आकाश से आकाश की ओर छोड़े जाने वाले मिसाइल (Air to air Missiles)। इस प्रकार के मिसाइल आकाश से हवाई जहाज के द्वारा शत्रु के हवाई जहाजों को गिराने में अत्यन्त उपयोगी होते हैं।

(४) आकाश से जमीन की ओर छोड़े जाने वाले मिसाइल (Air to ground Missiles)। ये मिसाइल आकाश से स्थल सेना की ओर छोड़े जा सकते हैं तथा स्थल पर किसी भी वस्तु का निशाना लगा सकते हैं।

इस प्रकार के युद्ध के अस्त्रों से सारा युद्ध अब बिलकुल ही नये तरीकों से लड़ा जा सकता है।

इसी प्रकार से पोलेरिस मिसाइल भी तैयार किये गए हैं। इन मिसाइलों की प्रमुख विशेषता यह है कि इन्हें समुद्र के अन्दर से पनडुब्बियों से ही छोड़ा जा सकता है। ये पनडुब्बियाँ समुद्र में बराबर घूमती रहती हैं तथा किसी भी समय, किसी भी स्थान से मिसाइल को दाग सकती हैं। इस प्रकार के मिसाइल भी शत्रु की मार से बचे रहते हैं क्योंकि समुद्र के अन्दर रहने के कारण इनका पता लगाना एक अत्यन्त कठिन कार्य है। इस प्रकार के मिसाइल ५०-६० मेगाटन बम की मार से भी सुरक्षित रखे जा सकते हैं। अतः सुरक्षा की दृष्टि से ये मिसाइल काफी उपयोगी बन चुके हैं। इसी कारण पुराने मिसाइल थोर (Thor) और जुपीटर (Jupiter) अब बेकार हो गए हैं, जिनमें द्रव ईंधन प्रयोग में लाया जाता था। फिर मिसाइल तैयार करने में अधिक खर्च भी नहीं होता है। स्थल सेना को सामान्य हथियारों से लैस करने से भी कम खर्च इन मिसाइलों को तैयार करने में होता है और आजकल तो ये मिसाइल युद्ध लड़ने के लिये अथवा सुरक्षा की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक अंग बन चुके हैं। एक मिनुटमेन मिसाइल की लागत करीब करीब दो करोड़ रुपये होती है। पोलैरिस मिसाइल (Polaris Missile) जो कि समुद्र से छोड़े जा सकते हैं, की लागत तो और भी कम होती है। फिर इन मिसाइलों में परमाणु बम अथवा उद्‌जन बम रखे जा सकते हैं जिससे कि इनके संहार की शक्ति काफी बढ़ जाती है। इन्हीं कारणों से रूस ने अपनी नियमित स्थल सेना २४ लाख से घटा कर १२ लाख कर दी है। निस्सन्देह इन मिसाइलों के कारण युद्ध-विद्या में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया है। यही कारण है कि तृतीय विश्वयुद्ध यदि अचानक छिड़ गया तो कुछ ही घण्टों में समाप्त भी हो जायेगा। अनुमान लगाया गया है कि ऐसे युद्ध के प्रथम प्रहार ही केवल अमेरिका में ८-९ करोड़ व्यक्ति मारे जायेंगे। अपार जन और धन की हानि होगी। लेकिन अमेरिका भी मिनुटमेन और पोलेरिस मिसाइलों की मदद से इसी बीच रूस पर भीषण प्रहार कर वहाँ के समस्त सामरिक अड्डे, औद्योगिक केन्द्र तथा नगर नष्ट कर सकता है। वास्तव में ये मिसाइल सुरक्षा के अचूक साधन बन गये हैं। १५० मिनुटमेन और २०० पोलैरिस मिसाइल की विशाल ताकत के बल पर अमेरिका निश्चिन्त होकर चैन से रह सकता है। उसे किसी भी प्रकार के भावी आक्रमण का डर नहीं रहा है। यही कारण है कि दोनों महान शक्तिशाली राष्ट्र, रूस और अमेरिका युद्ध नहीं चाहते हैं। यह कहना ठीक ही है कि लड़ाई से बचने का सबसे अच्छा तरीका लड़ाई के लिये तैयार रहना है।

—१८

डा० सुन्दरलाल होड़ा

जगदीश प्रसाद अग्रवाल

नौकरी में क्या रखा है ? तुम व्यापार क्यों नहीं करते ? व्यापार की बराबरी कोई दूसरा काम नहीं कर सकता—एक पिता ने अपने पुत्र को समझाते हुए कहा। जिन दिनों रोजगार कार्यालय नहीं थे अपनी रुचि का रोजगार न मिलने की अवस्था में दैवयोग से जो भी रोजगार मिल जाए, उसी में रुचि उत्पन्न करनी होती थी और इस मूर्धन्य वैज्ञानिक को भी अपने पिता के आग्रह के प्रतिकूल शिमला में एक छोटी सी दूकान खोलने की अपेक्षा भारतीय प्राणि सर्वेक्षण (Zoological Survey of India) की एक छोटी सी नौकरी को अधिक महत्व देना पड़ा। हो सकता है उनके इस विकल्प पर पिता ने पुत्र में व्यावहारिक ज्ञान का अभाव अनुभव किया हो ! पर कौन जानता था कि व्यापार को ठोकर मारने वाला यह नवयुवक एक दिन उच्चकोटि का वैज्ञानिक, मेधावी और व्यवहार-कुशल व्यक्ति बन जावेगा। यह नवयुवक था डा० सुन्दरलाल होड़ा।

डा० सुन्दरलाल होड़ा डी० एस-सी०; एफ० आर० एस-सी०; एफ० एन० आई० का जन्म २ मई १८९६ को एक पंजाबी परिवार के स्वच्छन्द वातावरण में हुआ। इनके पिता लाला गोविन्द सहाय होड़ा रामनगर के निवासी थे तथा बड़े सरल स्वभाव के व्यक्ति थे। इनकी माता श्रीमती लक्ष्मी देवी ने इन पर अपनी गहरी छाप छोड़ी जो जीवनपर्यन्त सुन्दरलाल के मानस-पटल पर अंकित रही। प्रारम्भिक शिक्षा सनातन धर्म हाई स्कूल, जालन्धर में पूरी करने के उपरान्त उच्च शिक्षा के लिए उन्होंने १९१३ में गवर्नमेंट कालेज, लाहौर में प्रवेश प्राप्त किया। आरम्भ में डा० होड़ा अत्यन्त साधारण विद्यार्थी थे। पढ़ाई की कमजोरी ने निरन्तर कठिन परिश्रम करने को प्रेरित किया जिसके परिणाम-स्वरूप आगे चलकर वे विद्या में इतने निपुण हो गये कि जन्तु विज्ञान में आनर्स परीक्षा (Honours Course) के लिए उन्हें पारितोषिक मिला। उन दिनों राजकीय कालेज, लाहौर की गणना प्रान्त के श्रेष्ठतम विद्यालयों में होती थी और सर्वश्री शिवलाल कश्यप तथा बीरबल साहनी जैसे प्रसिद्ध वैज्ञानिकों को दीक्षा देने का श्रेय भी इसी विद्यालय को प्राप्त था। सौभाग्य से उन दिनों प्रोफेसर स्टीफेंसन और डा० बेनीप्रसाद जैसे सुलझे हुए शिक्षक भी यहाँ थे जिनके पथदर्शन में डा० होड़ा को अपने विषय में सच्ची लगन उत्पन्न करने का अवसर प्राप्त हुआ। इसी बीच वह एक बार भारतीय जन्तु सर्वेक्षण के अध्यक्ष डा० अनाण्डेल के सम्पर्क में आये जिनकी कृपा से वे १९१९ में एक अनु-

संधान सहायक के रूप में भारतीय जन्तु सर्वेक्षण में कलकत्ता चले गये। कलकत्ता आने के पश्चात् उन्होंने १६२० में कुमारी लज्जावती बत्रा को अपनी जीवनसंगिनी के रूप में चुना।

डा० होड़ा में गवेषणा के प्रति जागरूकता तथा विलक्षण प्रतिभा का समन्वय था। राजकीय कालेज के विद्यार्थी होते हुए भी इन्होंने मेंढक की पादस्थि (Limb Bone) में हेवरसीयन नालियों (Habersian Cannals) का पता लगा लिया था, तथा मत्स्य समुदाय पर आश्चर्यजनक तथा ठोस खोज-कार्य कर लिया था। वास्तव में एक जीव वैज्ञानिक के नाते डा० होड़ा ने अपना समय मत्स्य समुदाय के अध्ययन को समर्पित कर दिया। उन्होंने भारत, अफगानिस्तान, बर्मा, मलाया, चीन, ईराक और दूसरे पड़ोसी देशों की मछलियों का वर्गीकरण और उसमें संशोधन किया तथा कई नई जातियाँ खोज निकालीं। मत्स्य समुदाय पर किये गये इस उपयोगी कार्य पर डा० होड़ा को १६२२ में पंजाब विश्वविद्यालय की डी० एस-सी० की उपाधि मिली और १६२८ में वेगवती जलधारा के जीवों के निवास-बर्ताव और विकास से सम्बन्धित शोध-कार्य पर एडिनबरा विश्वविद्यालय ने एक और डी० एस-सी० की उपाधि प्रदान की। फिर डा० होड़ा उत्तरोत्तर उन्नति के पथ पर अग्रसर होते रहे। असिस्टेण्ट सुपरिन्टेन्डेण्ट से वह (१६४२) कार्यकारी सुपरिन्टेण्डेण्ट हो गये और पाँच वर्ष के लिए अविभाजित बंगाल के मत्स्य विभाग के निर्देशक का काम संभालते रहे। इसी बीच में वे केन्द्रीय मत्स्य अनुसंधान संस्था (Central Inland Fisheries Research Institute) के अवैतनिक मंत्री भी रहे। डा० सुन्दरलाल अद्भुत कार्यक्षमता सम्पन्न थे। अपने जीवन-काल में विविध विषयों पर उन्होंने करीब ४३० शोध निबन्ध लिखे जिनका प्रकाशन भारतीय तथा वैदेशिक लब्ध प्रतिष्ठित अनुसंधान पत्रों में हुआ। उन्होंने विकासवाद से लेकर जन्तु-भूगोल, जीवों के निवास, प्राचीन हिन्दुओं तथा मध्यकालीन भारतीयों का जन्तु वैज्ञानिक ज्ञान आदि प्राच्य क्षेत्रीय मछलियों तथा पहाड़ी नालों की मछलियों आदि पर कार्य किया तथा भारतीय जन्तु-सम्पति में मलाया के जन्तु तत्वों की उपस्थिति को समझने के लिए एक मौलिक विचार प्रस्तुत किया जो कि 'होड़ा-सतपुड़ा' अनुकल्पना के नाम से प्रसिद्ध है। दुर्भाग्य से वे अपने व्यस्त जीवन के कारण अनेक समस्याओं पर अपने आपको केन्द्रित नहीं कर पाते थे, जिसके फलस्वरूप उनकी सतपुड़ा अनुकल्पना तथा उनके विकासवाद सम्बन्धी विचार आज विवेचना के विषय बनकर रह गए। भोजन वृद्धि के लिए तडागीय मीन पालन (Pond Pisciculture) की उनकी विधि ने सारे संसार की दृष्टि को आकर्षित किया है। इस विधि से सम्बन्धित एक विचार-गोष्ठी में वादविवाद के लिए संयुक्त राष्ट्र-संघ की ओर से उन्हें एक बार अमेरिका भी आमंत्रित किया गया था। डा० होड़ा प्रकृति-प्रेमी तो थे ही पर उन्हें वन-जीवन बोर्ड (Indian Wild Life Board) के प्रथम अवैतनिक मंत्री और बम्बई नेचुरल हिस्ट्री सोसाइटी के भी सक्रिय सदस्य थे। वे बड़े विनम्र सहृदय और शीलवान व्यक्तियों में से थे और अपने विद्यार्थियों को जिनमें से बहुत से ऊँचे पदों में हैं हर प्रकार की सम्भव सहायता के लिए तत्पर रहते थे।

डा० होड़ा ने सदैव अपने विद्यार्थियों को कर्मयोग का पाठ पढ़ाया, उन्हें कठिन परिश्रम करने के लिये प्रेरित किया। वैज्ञानिक लेखों को लिखने में उन्हें आनन्द आता था और उन्होंने इसे अपने मनोरंजन का साधन बना लिया था। ख्याति-प्राप्त वैज्ञानिक और प्रतिभाशाली व्यक्तित्व के होते हुए भी वे अच्छे प्रशासक न बन सके। किसी भी निश्चय पर पहुँचना उनके लिये आसान काम

नहीं था। वे उत्तरदायित्व से दूर रहने की प्रत्येक सम्भव चेष्टा करते थे। वे देश-विदेश की अनेकों वैज्ञानिक संस्थाओं के सदस्य तथा पदाधिकारी रहे। एशियाटिक सोसाइटी के सदस्य, जय गोविन्द मेमोरियल पदक (१९४४) और भारतीय जन्तुविज्ञान संस्था (Zoologieal Socicty of India) के सर दोराब टाटा मेमोरियल पदक के विजेता थे। गतिविधियों के आधिक्य ने इनके स्वास्थ्य को झकझोर डाला और हृदय रोग के क्रूर आघात से ८ दिसम्बर, १९५५ को ६० वर्ष की आयु में उन्हें उनके तीन बच्चों से सदा के लिये छीन लिया।

डा० होड़ा की वैज्ञानिक उपलब्धियों पर देश को गर्व होना चाहिए।

सार संकलन

१. पृथ्वी के कृत्रिम उपग्रहों के कक्ष

अन्तरिक्ष युग की प्रगति इतनी तेज है कि पहले स्पुतनिक के कक्ष पर पहुँचने के पाँच वर्षों के भीतर ही हर कोई लघुतम दूरी और अधिकतम दूरी शब्दों से परिचित हो गया जो अब तक ज्योतिर्विज्ञान के कठिन पुस्तकों में ही मिलते थे।

लघुतम दूरी और अधिकतम दूरी किसी कृत्रिम उपग्रह की बड़ी निर्द्धारक परामितियाँ है। प्रत्येक कृत्रिम उपग्रह का कक्ष वायुमण्डल की घनी परतों से ऊपर होना चाहिए (अर्थात् १०० किलोमीटर से ऊपर), नहीं तो उपग्रह जल्द ही जल जायगा।

उपग्रह के कक्ष की अधिकतम ऊँचाई लाखों किलोमीटर हो सकती है। वह वास्तव में पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण से सीमित होती है। यदि उपग्रह बहुत अधिक दूर चला जायगा, तो पृथ्वी से उसका सम्बन्ध टूट जायगा। वह उसका उपग्रह न रह जायगा, बल्कि कृत्रिम ग्रह बन जायगा।

मानवचालित अन्तरिक्षयानों के कक्ष की ऊँचाई इस प्रकार चुनी जाती है, ताकि उपग्रह पृथ्वी के गोले के चारों ओर की विकिरण पट्टियों से होकर न गुजरे, उसके साथ आसानी से संचार बना रहे, उसकी टोह ली जा सके तथा उसे धरती पर वापस लाया जा सके।

ये आवश्यकतायें १५० से ३०० किलोमीटर की ऊँचाइयों के कक्षों से पूरी हो सकती हैं। वोस्तोक माला के सोवियत उपग्रह तथा मर्करी माला के अमरीकी उपग्रह इसी ऊँचाई में पहुँचाये गये थे।

इन ऊँचाइयों पर भी वायुमण्डल का आकर्षण प्रभाव काफी रहता है। जब मानवचालित उपग्रहों को हफ्तों, महीनों या वर्षों के लिए भेजने का समय आयेगा, तब उन्हें कहीं अधिक ऊँचाइयों पर भेजना होगा। धरती के ऊपर आच्छादित बादलों के फोटो लेने के लिए ऋतु उपग्रह काफी ऊँचाई पर उड़ सकते हैं। अमरीकी अपने टिरोस उपग्रह ६०० किलोमीटर की ऊँचाई पर गोलाकार कक्षों में भेजने का प्रयत्न कर रहे हैं।

कार्यक्रम रिले करने के लिये संचार उपग्रहों के कक्ष काफी ऊँचाई पर होने चाहिए, अन्यथा संचार बहुत थोड़े समय के लिए होगा।

यदि उपग्रह का कक्ष नीचा है, तो संचार थोड़े समय के लिए होगा, जब तक वह पृथ्वी की परिक्रमा कर दृष्टि-पथ पर न आ जायगा, दुबारा संचार न हो सकेगा।

अमरीकी प्रायोगिक संचार उपग्रह टेलस्टार—१ के कक्ष की लघुतम दूरी ९५३ किलोमीटर और अधिकतम ५६३७ किलोमीटर है। अमरीकी संचार रिले उपग्रह रिले—१ की लघुतम दूरी करीब १३०० किलोमीटर और अधिकतम ७३०० किलोमीटर है। अमरीकी और यूरोपीय स्टेशनों से टेलस्टार—१ का सचार १२ से १५ मिनट तक रहता है।

प्रायोगिक उपग्रह के लिए यह कार्य अच्छा है, परन्तु लक्ष्य तो यह है कि बराबर संचार बना रहे। इसके लिए टेलस्टार—१ जैसे २५ उपग्रहों की जरूरत है। ये उपग्रह एक के बाद अन्य माला के रूप में घूमेंगे और कोई न कोई बराबर दृष्टि-पथ पर रहेगा।

संचार उपग्रहों की कक्ष-ऊँचाई जितनी ही अधिक होगी तथा प्रत्येक उपग्रह से सम्पर्क की अवधि जितनी ही लम्बी होगी, उतने ही कम उपग्रहों की आवश्यकता होगी। क्या इसका अर्थ यह हुआ कि कोई ऐसी ऊँचाई है जहाँ से सिर्फ एक ही उपग्रह धरती के दो स्टेशनों से सम्पर्क रखने के लिए काफी होगा?

हाँ, ऐसी ऊँचाई (३६००० किलोमीटर) है जहाँ से उपग्रह धरती के एक ही स्थान पर लटका रहेगा और धरती के एक तिहाई रेडियो स्टेशनों से दिखाई देगा। इस तरह पूरी धरती के सभी स्टेशनों से दिखायी पड़ने के लिए केवल तीन स्थिर उपग्रहों की जरूरत है।

परन्तु उपग्रह यदि अपने कक्ष पर घूमता है, तो वह स्थिर कैसे रहेगा?

३६००० किलोमीटर की ऊँचाई पर उपग्रह २४ घंटे के भीतर धरती की एक परिक्रमा करता है, अर्थात् उतने समय में जितना कोई भी स्थान पृथ्वी की धुरी पर लेगा। हाँ, इतनी बात ध्यान में रखनी चाहिए कि उपग्रह को इस प्रकार विषुवत् रेखा के ऊपर लटकाया जाय।

कुछ उपग्रहों को बहुत ही विस्तारित अंडाकार कक्षों में पहुँचाया जाता है फलतः उनकी लघुतम दूरी कुछ सौ किलोमीटर होती है, जबकि अधिकतम दूरी हजारों या लाखों किलोमीटर तक हो सकती है।

ऐसे कक्षों की जरूरत क्यों पड़ती है? ऐसे कक्षों की जरूरत चन्द्रमा के पृष्ठ भाग की फोटो लेने के लिए पड़ सकती है। सोवियत स्वयंचालित स्टेशन जिसने ये फोटो लिये थे, ऐसा ही उपग्रह था। चन्द्रमा की परिक्रमा करने के लिए मानवचालित उपग्रह भी ऐसे ही कक्षों पर भेजे जायँगे।

वायुमण्डल का घनत्व नापने के लिए या विभिन्न ऊँचाइयों पर ब्रह्माण्ड विकिरण के स्तर जानने के लिए भेजे जाने वाले अनुसन्धान उपग्रहों के कक्ष भी अण्डाकार होंगे।

अगर कोई उपग्रह पहले से निर्दिष्ट कक्ष पर न पहुँचे, तो क्या होगा? यदि मानवयुक्त उपग्रह बहुत निचले कक्ष में जाता है जहाँ वायुमण्डल का घनत्व अत्यधिक है या विकिरण पट्टी से होकर गुजरता है, तो चालक के सामने गम्भीर खतरा उपस्थित हो जायगा। यदि ऐसा उपग्रह अति विस्तारित अण्डाकार कक्ष में चला जाता है, तो चालक को वापस लाना बहुत ही कठिन होगा।

संचार उपग्रह यदि स्थिर कक्ष में नहीं पहुँचता (अब तक ऐसे कक्ष में पहुँचाने का प्रयत्न नहीं हुआ), तो वह बेकार हो जाता है। चन्द्रमा की परिक्रमा के लिए भेजा मानवयुक्त उपग्रह यदि निर्धारित कक्ष पर न पहुँचे, तो शायद वह कभी न लौटे। अनुसन्धान उपग्रह का कक्ष यदि अण्डाकार न होकर गोलाकार हो, तो वह वे सारे काम न कर सकेगा, जो उसे सौंपे गये हैं।

२. अन्तरिक्ष यात्रियों के लिए पौष्टिक आहार

सोवियत वैज्ञानिक वर्षों से अति ऊँचाई पर उड़ने वाले विमान चालकों और इसके बाद अन्तरिक्ष यात्रियों के लिए पौष्टिक आहार की समस्या को हल करने में लगे हैं।

१९३८ में सोवियत वैज्ञानिक जार्जी आरुत्युनोव ने व्लादीमीर कोक्कीनोकी नामक उड़ाके के लिए जिसने मास्को से संयुक्त राज्य अमरीका की उड़ान बीच में बिना रुके पूरी की, वैज्ञानिक रीति से भोजन तैयार किया।

जार्जी आरुत्युनोव से पूछने पर कि सोवियत विज्ञान अन्तरिक्ष यात्रियों के पौष्टिक आहार की समस्या को अब किस तरह हल कर रहा है?'

उन्होंने कहा कि भारहीनता की अवस्था में कोई भी द्रव पदार्थ बहुत ही अनोखे ढङ्ग से काम करता है। भार न होने के कारण वह आसानी से बर्तन से बाहर चला जाता है और हवा में तिरने लगता है और वहाँ बूँद-बूंद करके अलग हो जाता है। ये तिरती हुई बूंदें अन्तरिक्ष यात्री के लिए बड़ी खतरनाक होती हैं, क्योंकि वे श्वास प्रणाली में जा सकती हैं। ठोस खाने का भी यही हाल होता है। मुँह में वह चूर-चूर हो सकता है और छोटे-छोटे टुकड़े न सिर्फ श्वास-प्रणाली में, बल्कि फेफड़ों में जा सकते हैं। इससे खाँसी आ सकती है और शायद सूजन भी हो जाय।

अन्तरिक्ष औषधि विज्ञान के सामने अब कठिन समस्या यह है कि काफी दिनों की, महीनों या वर्षों की अन्तरिक्ष उड़ान में मानव को पौष्टिक भोजन कैसे दिया जाय? अन्तरिक्ष यात्री पूरी मात्रा में भोजन और पानी अपने साथ नहीं ले जा सकता। इसीलिए वैज्ञानिकों का विचार है कि भोजन अन्तरिक्षयान में ही पैदा किया जाय। सोवियत वैज्ञानिक कोन्स्तान्तिन त्सियोल्कोव्स्की ने यह सुझाव दिया था कि कुछ हरे पौधों का उपयोग अन्तरिक्ष उड़ानों में किया जाय।

अन्य पौधों की अपेक्षा सागर शैवाल सौर-शक्ति अधिक पचा लेता है। उसमें सहनशक्ति असाधारण होती है और तेजी से बढ़ता है। अनुकूल अवस्थाओं में वह अपना भार १२ गुना तक बढ़ा सकता है। सागर शैवाल में प्रोटीन, वसा, कार्बोहाइड्रेट और विटामिन बड़ी मात्रा में होते हैं। सागर शैवाल का सबसे बड़ा गुण यह होता है कि वह मानव-मल के पदार्थों का करीब-करीब पूरा उपयोग कर सकता है।

अन्तरिक्ष उड़ान की सबसे कठिन समस्याओं में से एक है मानव के लिए पर्याप्त मात्रा में जल की व्यवस्था करना। मानव को एक दिन में औसतन चार लिटर पानी की जरूरत पड़ती है। वैज्ञानिक इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि पानी की समस्या भी भोजन की समस्या की तरह हल की जा सकती है।

वयस्क व्यक्ति औसतन २·५ लिटर पानी बाहर निकालता है। यदि इस पानी को किसी तरीके से शुद्ध किया जा सके, तो यह पीने योग्य हो जायगा। इस तरह शरीर से निकले व्यर्थ पदार्थों को शुद्ध करके मानव जीवन के लिए आवश्यक विभिन्न पदार्थ बनाये जा सकते हैं।

आरुत्युनोव ने बताया है कि नयी उड़ानों की तैयारी करते हुए हमने उन भोजनों का परीक्षण किया जो हमने उन अवस्थाओं में तैयार किये थे जैसी अन्तरिक्ष में होती हैं। भोजन स्वाद और विविधता की दृष्टि से पूर्ण रूप से स्वीकार्य सिद्ध हुआ। उसमें चयापचय क्रिया स्वाभाविक होती है।

वैज्ञानिक विभिन्न प्रकार के सागर शैवाल उगाने में लगे हैं, खासकर क्लोरल्ला उगाने में। यह आसानी से जड़ें पकड़ लेता है, पानी के तत्वों को तेजी से ग्रहण कर लेता है और इतना आक्सीजन तैयार करता है कि दूर के ग्रहों का वायुमण्डल यथा

समय पृथ्वी के जीवधारियों के लिए अनुकूल हो सकता है।

काई, पौधों तथा इनसे विकसित किस्म के पौधों की भी वैज्ञानिक सिफ़ारिश करते हैं। इनसे अन्तरिक्षयात्रियों को सब्जियाँ मिलेंगी। छोटे-छोटे पशु भी अन्तरिक्ष यान में रक्खे जायेंगे।

अन्तरिक्ष यान में सामान्य सन्तुलन का लेखा-जोखा इन सबमें विशेष महत्व का है।

वैज्ञानिक ऐसी विधियाँ निकालने में लगे हैं जिससे अन्तरिक्ष यात्री तरह-तरह की संगीन अवस्थाओं का मुकाबला कर सकें, जैसे आक्सिजन, भोजन या पानी की कमी। ऐसी दशा में विविध रसायनों के द्वारा और आसपास के वातावरण के तापमान को कम करके मानव प्राणी को उस प्रकार की सुप्तावस्था में रखा जाय जैसी हालत में कुछ शीतकाल में रहते हैं।

ऐसी दशा में मानव शरीर की महत्वपूर्ण क्रियायें तेजी से न होंगी। फलतः आक्सिजन, भोजन और पानी की खपत बहुत कम हो जायगी। उधर विविध अवस्थाओं का सामना करने की शरीर की क्षमता काफी बढ़ जायगी। इसका फल यह होगा कि जब प्रतिकूल परिस्थिति समाप्त हो जायगी, अन्तरिक्ष यात्री को उसकी पहले वाली अवस्था में बिना किसी तरह की हानि पहुँचाये लाया जा सकेगा।

३. अन्तरिक्ष-यान द्वारा सौर-ऊर्जा का उपयोग

सौर-ऊर्जा को अन्तरिक्ष-यान के लिए सहायक विद्युत शक्ति में परिणत करने विषयक एक सर्वथा नवीन धारणा को मूर्त रूप देने के उद्देश्य से, १९६२ का वर्ष समाप्त होने से पहले ही, एक नये प्रकार के अत्यन्त पतले सौर ताप-विद्युत पैनेल अंतरिक्ष में अपनी पहली यात्रा सम्पन्न करेंगे।

सौर ऊष्मा को विद्युत शक्ति में परिणत करने वाले ये नये पैनेल अमेरिका की एक फर्म, जेनरल डायनामिक्स कारपोरेशन द्वारा विकसित हुए हैं। ये पैनेल इस समय प्रयुक्त हो रहे सिलिकोन सौर-कोष उपकरणों से इस दृष्टि से श्रेष्ठतर हैं कि इन पर विकिरण का, जिसमें वान एलेन पट्टियों का विकिरण भी सम्मिलित है, कोई प्रभाव नहीं पड़ता। साथ ही, इनका सम्भावित भार और लागत अपेक्षाकृत कम है।

ये चौरस पैनेल बहुत से नन्हें ताप-विद्युत तत्वों द्वारा निर्मित हैं, जो धातु की दो पतली चद्दरों के बीच-जिनमें एक संग्रहकारी और दूसरी विकिरण-कारी है—दबा कर रखे गये एक सेमी-कण्डक्टर (अर्द्ध-विद्युत वाहक) पदार्थ द्वारा निर्मित हैं।

प्रारम्भ में, अंतरिक्षीय कक्षा में स्थापित होने वाले एक प्रयोगात्मक यंत्र-पुंज के साथ भेजे गये इस प्रकार के तीन वर्गाकार पैनेलों का परीक्षण किया जायगा, जिनका आकार ४ वर्ग इंच होगा।

ये पैनेल फोटो-इलेक्ट्रिक सौर-कोषों जैसे नहीं हैं, जो सूर्य की धूप को सीधे बिजली में परिणत कर देते हैं। उसके विपरीत, ये पैनेल सौर ऊर्जा को पहले ऊष्मा में और फिर बिजली में परिवर्तित करते हैं। ये पैनेल जिस सिद्धान्त पर संचालित होंगे, वह यह है कि एक ऊष्मा-विद्युत पदार्थ के आर-पार विद्यमान ताप का अन्तर बिजली की करेण्ट को प्रवाहित कर देता है। इस प्रकार तैयार बिजली का प्रयोग अंतरिक्ष यान के नियंत्रक-उपकरणों, निदेशक यंत्रों, वैज्ञानिक अनुसन्धान के यंत्रों, टेलिविजन तथा अन्य संचार प्रणालियों को संचालित करने के लिए किया जा सकता है।

अंतरिक्ष में पहुँच जाने पर ये पैनेल भू-उपग्रह से निकल कर बाहर फैल जायेंगे, और उनके ऊपर सूर्य की ऊर्जा पड़ने लगेगी। प्रत्येक पैनेल सूर्य की धूप में पड़ने पर $\frac{1}{2}$ वाट बिजली तैयारकर सकेगा।

बिजली उत्पन्न करने के लिए यह सौर ताप-

विद्युत पैनेल तापमान सम्बन्धी उस अंतर पर निर्भर करता है, जो संग्रहकारी और विकिरणकारी चद्दरों के बीच पाया जाता है। संग्रहकारी चद्दर का मुख सूर्य की ओर होता है, जबकि विकिरणकारी चद्दर का मुँह सूर्य के पीछे होता है। संग्रहकारी चद्दर सौर-ऊर्जा को ऊष्मा में परिणत कर देती है जो ऊष्मा-विद्युत तत्वों में संचारित हो जाता है। ये तत्व ऊष्मा को बिजली में परिणत कर देते हैं। इस बिजली को संचित किया जा सकता है।

आशा है कि कुछ वाट से लेकर कई सौ वाट तक की मात्रा में सौर बिजली उत्पन्न करने में ये पैनेल पृथ्वी की परिक्रमा करने वाले भू-उपग्रहों में सहायक विद्युत उत्पन्न करने के लिए प्रयुक्त अन्य यंत्र-प्रणालियों से अधिक हल्के और सस्ते सिद्ध होंगे।

इन नये पैनेलों में प्रयुक्त ऊष्मा-विद्युत तत्वों का आकार दियासलाई के सिरे से बड़ा नहीं है। इनका निर्माण नई विधियों द्वारा हुआ है। इनमें से प्रत्येक ऊष्मा-विद्युत तत्व आधे ऐम्पेयर (बिजली नापने का एक परिमाण) में लगभग २० मिलीवोल्ट बिजली उत्पन्न करने में समर्थ है और उसका भार केवल २० मिलीग्राम है। इतनी ही बिजली उत्पन्न करने वाले अन्य प्रकार के ताप-विद्युत तत्वों का आकार इससे कई सौ गुना बड़ा होता है।

अनुमान के अनुसार, अंतरिक्ष में इस प्रणाली का प्रयोग करके बिजली उत्पन्न करने वाले यंत्र में कई पैनेल—जिनमें से प्रत्येक की चौड़ाई एक इंच के केवल दसवें अंश के बराबर होगी—प्रयुक्त होंगे। इन्हें एक में जोड़ कर ऐसी चद्दरें तैयार की जायंगी, जिन्हें मोड़ कर प्रक्षिप्त किया जा सकेगा। अंतरिक्ष में पहुँचने पर ये चद्दरें फिर फैल जायेंगी।

अंतरिक्ष में जैसे-जैसे दूर चलते हैं, वैसे ही सूर्य से प्राप्त ऊर्जा की तीव्रता कम होती है। अतः उत्पन्न बिजली की प्रति इकाई पर सौर पैनेल का क्षेत्र भी दूरी के अनुसार परिवर्तित होगा। अनुमान लगाया गया है कि शुक्रग्रह के निकट संचालित होने के लिए १००० वाट क्षमता वाले जेनरेटर का वजन लगभग २० पौण्ड (६ किलोग्राम) होगा, जबकि पृथ्वी के निकट संचालित होने के लिए इसी प्रकार के अन्य जेनरेटर का वजन लगभग ६० पौण्ड (२७ किलोग्राम) होगा।

●●

विज्ञान वार्ता

१. कैंसर-निरोधक औषधि

एक रिपोर्ट में बताया गया है कि व्यापक रूप से प्रयुक्त एक कैंसर-निरोधक औषधि माइकोसिस फुंगाइड्स (शरीर के किसी भाग में छूत से उत्पन्न फफूँदी का रोग) नामक गन्दे और प्रायः घातक रोग को दूर करने में प्रभावकारी सिद्ध हुई है। 'मेथोट्रेक्सेट' नामक यह औषधि पिछले ६ वर्षों के दौरान १६ रोगियों को दी गयी, जिनमें से ६ रोगियों के सम्बन्ध में यह माइकोसिस फुंगाइड्स का बढ़ाव रोकने में सफल रही। गत वर्ष इस औषधि को रासायनिक साधनों द्वारा कैंसर रोग का प्रथम बार निवारण करने का भी गौरव प्राप्त हुआ।

माइकोसिस फुंगाइड्स के जिन रोगियों पर यह औषधि कारगर सिद्ध हुई, उनके सम्बन्ध में यह देखा गया कि अब तक उनके शरीर पर इस रोग के लक्षण—चमड़ी का सूज जाना तथा चेहरे और

शरीर पर फफूँद जैसे चकत्तों का निकल आना—कुल २३ महीने तक गायब रहे। इस परीक्षण के परिणामों की सूचना न्यूयार्क विश्वविद्यालय के मेडिकल सेण्टर के डा० जेन सी० राइट, डा० स्टीफेन एल० सम्पोर्ट और डा० फ्रेडरिक एम० गोलोम्ब ने अमेरिकन कैंसर सोसायटी के समक्ष प्रस्तुत रिपोर्ट में दी। इस सोसायटी ने ही इस अनुसन्धान के लिए वित्त की व्यवस्था की थी।

'मेथोट्रेक्सेट' एक कृत्रिम फोलिक एसिड है। यह शरीर के जीव-कोषों की क्रिया में नैसर्गिक फोलिक एसिड के उपयोग को अवरुद्ध करके कैंसर का निरोध करती है। इसका प्रयोग १० वर्ष से अधिक समय से अनेक प्रकार के कैंसर रोगों के विरुद्ध होता आ रहा है। इस सिलसिले में यह कैंसर की 'चोरियोकार्सिनोमा' नामक एक भयंकर किस्म के कैंसर के विरुद्ध पहली बार एक पचं-वर्षीय रामबाण सिद्ध हुई है। यह असाधारण कैंसर प्रायः गर्भवती स्त्रियों को हो जाता है।

माइकोसिस फुंगाइड्स एक असामान्य किन्तु अत्यन्त कष्टप्रद रोग है। यह प्रायः विकसित होकर पंछे के तन्तु का ल्यूकेमिया जैसा कैंसर बन जाता है जिससे १ से १० वर्ष तक की अवधि के भीतर रोगी की मृत्यु हो जाती है।

अभी तक एक्स-रे, हारमोन और नाइट्रोजन सरसो के उपचार इस रोग के विरुद्ध प्रायः अप्रभावकारी सिद्ध हुए हैं। इन से केवल थोड़े समय की ही राहत मिल पाती है। डाक्टरों ने बताया कि मेथोट्रेक्सेट की गोलियाँ रोगियों को महीनों तक दी गयीं। औसत रोगियों के मामले में कुछ ही सप्ताह के भीतर सुधार होने लगा। धीरे-धीरे कुछ घाव भरने लगे और अन्य लक्षण मिटने लगे।

कुछ मामलों में कुछ समय के बाद फिर रोग उभड़ने लगा। अतः उन्हें फिर गोलियाँ दी गयीं।

२. इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी

इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शियों के प्रयोग से रोग-निरोधक अभियान में महत्वपूर्ण प्रगति हो रही है। यह यन्त्र किसी पदार्थ को ऑप्टिकल सूक्ष्मदर्शी की अपेक्षा एक हजार गुना अधिक बड़े आकार में दिखलाता है और उसका फोटो तैयार करता है। अमेरिका में सजीव पदार्थ का अध्ययन करने में इसका व्यापक रूप से प्रयोग हो रहा है।

इस अनुसंधान के कुछ परिणामों के अन्तर्गत, प्रोटीन व्यूहाणुओं के चित्र; रोग उत्पन्न करने वाले विषाणुओं और कीटाणुओं के चित्र; तथा उस विधि की जानकारी सम्मिलित हैं, जिससे ये बाहरी विषाणु शरीर पर आक्रमण करके रोग उत्पन्न करते हैं। अब कैंसर सम्बन्धी अनुसंधान में भी इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी का प्रयोग होने लगा है।

३. रक्तवाहिनियों की मरम्मत

अमेरिकी वैज्ञानिकों ने क्षतिग्रस्त रक्तवाहिनियों को सीने के उपरान्त सिलाई के छिद्रों से रक्त प्रवाह को रोकने और घावों को शीघ्रतापूर्वक भरने के लिए एक अधिक लचीले गोंद जैसे पदार्थ की खोज की है। यह नया लेसदार लचीला पदार्थ रक्तवाहिनियों के सिले गये भाग पर छिद्रों के ऊपर लगाया जाता है। बोस्टन स्थित 'चिल्ड्रेन्स हास्पिटल, मेडिकल सेण्टर' के डाक्टरों और शल्य-चिकित्सकों के अनुसार यह नया पदार्थ हृदय की शल्य-चिकित्सा करने वाले डाक्टरों के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होगा।

पशुओं पर किए गए प्रारम्भिक परीक्षणों से यह विदित हुआ कि एक प्रकार के कृत्रिम राल, जिसे पोलियूरथेन प्रेपॉलीमर्स कहते हैं, से रक्तवाहिनियों के छिद्रों को पूरी तरह बन्द करने के लिए प्रभावशाली लेप का निर्माण किया जा सकता है। इस प्रकार से निर्मित पदार्थ हृदय की प्रत्येक धड़कन के साथ अपने आप फैलता और सिकुड़ता रहता है। दूसरे शब्दों में इसमें पर्याप्त लचीलापन रहता है।

कार्य के लिए अब तक जिन पदार्थों का विकास किया गया था, वे सन्तोषजनक नहीं थे, क्योंकि उनमें लचीलेपन का अभाव था तथा वाहिनियों के 'सूक्ष्म कोषों' के संसर्ग में आने पर 'कोषों' पर उनकी प्रतिकूल प्रतिक्रिया भी होती थी और वह बहुत सूज जाते थे।

इसके विपरीत नए पदार्थ का उपयोग करने पर सूक्ष्मकोषों पर बहुत ही मामूली सी सूजन आई। डाक्टरों के कथनानुसार यह नया पदार्थ चार प्रकार से विशेष उपयोगी सिद्ध हो सकता है। रक्तवाहिनियों को सिलाई करने के फलस्वरूप हुए छिद्रों को भर कर सिलाई को मजबूत बनाने के लिए; सूक्ष्म रक्त-वाहिनियों में हुए छिद्रों को भरने के लिए, हृदय-कक्ष की शल्य चिकित्सा के बाद लगाये जाने वाले टाँकों को मजबूत करने के लिए तथा मस्तिष्क की उन रक्तवाहिनियों को इतना अधिक फूलने से बचाने के लिए जिनसे उनके फट जाने का खतरा उत्पन्न हो जाता हो।

४. कनीनिका (आंख की पुतली) की दीर्घकालिक सुरक्षा

आयोवा विश्वविद्यालय के अस्पताल के शल्य उपचार के लिए कनीनिकाओं को कई सप्ताहों तक सुरक्षित रखने के लिये कई नए उपायों का सहारा लिया जा रहा है। अभी तक डाक्टरों को नेत्रदान करने वाले व्यक्तियों की मृत्यु के ३६ घण्टे के अन्दर ही उनकी पुतलियों का उपयोग करना पड़ता था, क्योंकि इससे अधिक समय तक उन्हें सुरक्षित नहीं रखा जा सकता था।

'कनीनिका' नेत्र की उस पारदर्शक पर्त को कहते हैं जो आँख की खिड़की का काम करती है। एक व्यक्ति की कनीनिका को किसी दूसरे व्यक्ति की आँख में लगाने की शल्य-क्रिया के समय दान करने वाले व्यक्ति की कनीनिका का थोड़ा सा अंश लेकर उस नेत्र-रोगी की आँखों में लगा दिया जाता है, जिसकी कनीनिका कई नेत्र-रोगों के कारण क्षतिग्रस्त हो जाती है।

अब आयोवा विश्वविद्यालय के अस्पताल के डाक्टर कनीनिका को ग्लिसरीन के अन्दर कई सप्ताह तक सुरक्षित रखने का प्रयास कर रहे हैं और इस प्रयास में उन्हें उल्लेखनीय सफलता भी प्राप्त हुई है। इस विधि के अन्तर्गत ३ माह तक कनीनिकाओं को ग्लिसरीन में पूरी तरह सुरक्षित रखा गया है और तदुपरान्त नेत्र रोगियों की आँखों में उन्हें सफलता पूर्वक लगा दिया गया है। डाक्टरों का तो यहाँ तक विश्वास है कि स्वस्थ कनीनिका को दीर्घकाल तक ग्लिसरीन में सुरक्षित रखा जा सकता है।

इस विधि से सबसे बड़ा लाभ यह है कि सहसा किसी दुर्घटना में कनीनिका के क्षतिग्रस्त होने के कारण नेत्र-ज्योति खो देने वाले व्यक्ति की नेत्र-ज्योति बचाई जा सकेगी और सुविधानुसार तथा बिना किसी घबराहट या जल्दबाजी के नेत्र की शल्य चिकित्सा सम्भव हो सकेगी।

आयोवा नेत्र बैंक की स्थापना १९५५ में हुई थी। इसको मिलाकर अब अमेरिका में नेत्र बैंकों की संख्या ३५ हो गई है। इन सभी नेत्र बैंकों ने मिलकर एक राष्ट्रीय एसोसिएशन की स्थापना करली है ताकि विभिन्न नेत्र-बैंकों के कार्यों में ताल-मेल और सहयोग स्थापित किए जा सके।

५. जल की कोटि का निर्धारण

डूलेथ (मिनासोटा, अमेरिका) में एक नई जल-परीक्षणशाला की स्थापना की गई है, जो विभिन्न कार्यों – घरेलू उपयोग, औद्योगिक उपयोग, जल-जीवों तथा वन्य पशुओं के उपयोग तथा इसी प्रकार के अन्य उपयोग के लिए इस्तेमाल किए जाने वाले जल की कोटि निर्धारित करेगी।

इस परीक्षणशाला का संचालन अमेरिकी सर-

कार का स्वास्थ्य विभाग करेगा। यह ऐसे उपायों का वैज्ञानिक अध्ययन करेगी, जिनके द्वारा जल को विषाणुओं इत्यादि से दूषित होने से रोका जा सके। यह परीक्षणशाला इस बात का भी अध्ययन करेगी कि जल में रहने वाले जन्तुओं पर जल के दूषित होने का क्या प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त यह परीक्षणशाला रेडियोसक्रिय वस्तु तथा सामग्री तथा जल को दूषित करने वाले अन्य तत्वों की जाँच के लिए एक कसौटी भी निश्चित करेगी। अपने अनुसन्धान प्रयासों के सिलसिले में परीक्षणशाला ऐसे उपायों और विधियों का विकास भी करेगी, जिनके द्वारा इस बात का पता लगाया जा सके कि जल की कोटि पर दूषित करने वाले तत्वों का क्या प्रभाव पड़ता है?

६. चर्म रोगों की सफल चिकित्सा

अमेरिकी डाक्टरों ने ऐसे चर्म रोगों के उपचार के लिए, जिनमें अंग पर सूजन आ जाती है, एक नई औषधि और नई ड्रेसिंग विधि की खोज की है।

वाशिंगटन में आयोजित इन्टरनेशनल कांग्रेस आॅफ डर्माटोलौजी में उक्त सूचना देते हुए पैसाडीना (कैलिफोर्निया) के डा० जूड आर० स्कोल्ज तथा उनके सहयोगी अन्य दो विज्ञानवेत्ताओं ने बताया है कि उन्होंने प्लास्टिक-फिल्मों की सहायता से 'कोटिकोस्टरायड' नामक एक रसायनिक मिश्रण को चर्म-रोग ग्रस्त अंग पर कई दिनों तक लगाए रखने की एक व्यावहारिक विधि खोज निकाली है। उन्होंने बताया कि चर्म-रोगों के उपचार की यह विधि बहुत सफल सिद्ध हुई है। इस विधि द्वारा चर्म-रोग ग्रस्त अंगों, यहाँ तक कि पूरे शरीर पर उक्त औषधि का उपयोग किया जा सकता है। अभी तक चर्म रोगों के उपचार के लिए उक्त दवा रोगियों को खानी पड़ती थी।

दो वर्षों की परीक्षण अवधि में लगभग १६०० रोगियों पर इस उपचार-विधि का उपयोग किया जा चुका है। खोजकर्ता डाक्टरों की रिपोर्ट के अनुसार इस विधि के द्वारा शरीर के अंगों में सूजन पैदा कर देने वाले ऐसे अनेक चर्म-रोगों का इलाज करना सम्भव हो गया है, जिनका पहले कोई उपचार नहीं किया जा सकता था। इस उपचार का रोगी के मन और शरीर पर कोई प्रतिकूल प्रभाव भी नहीं पड़ता।

७. विद्युतशक्ति संचित करने की नई विधि

वैज्ञानिकों ने ऐसे उपायों की खोज करली है, जिनके द्वारा वे विशेष प्रकार के चुम्बक शक्ति युक्त तारों में २६९° सेन्टीग्रेड के निम्न तापमान पर दीर्घकाल तक विद्युतशक्ति संचित रख सकते हैं। विद्युतशक्ति संग्रह करने की इस प्रकार की नई विधि का उपयोग सम्भवतः सर्व प्रथम अन्तरिक्ष में किया जाएगा, क्योंकि यह चुम्बकीय तार-समूह अपने भार तुल्य बैटरी की तुलना में कहीं अधिक विद्युत शक्ति सुलभ कर सकेंगे।

इस विधि के अन्तर्गत ऐसे विशेष प्रकार के तार-समूह (क्वायलों) का उपयोग किया जायगा, जो अपने शक्तिशाली चुम्बकीय क्षेत्र में २६०° से० के न्यूनतम तापमान पर विद्युतशक्ति संचित करने में समर्थ होगा। इस विधि का विवरण अभी हाल में सान्ता मोनिका (कैलिफोर्निया) में आयोजित अमेरिकन राकेट सोसाइटी स्पेस-पावर सिस्टम्स सम्मेलन में अन्तरिक्ष वैज्ञानिकों और इंजीनियरों के समक्ष अमेरिकी नौसेना के एक विज्ञानवेत्ता विलियम एफ० हैसल द्वारा प्रस्तुत की गई।

ऐसे तारों की सहायता से, जिनमें विद्युतशक्ति का प्रतिरोध करने की क्षमता बिल्कुल ही न हो, ऐसे 'क्वायलों' (तारों का मुड़ा हुआ चक्करदार आकार) का निर्माण किया जा सकता है, जो अत्यधिक शक्तिशाली चुम्बकीय क्षेत्र का सृजन कर सकते हैं।

सम्पादकीय

वैज्ञानिक जगत और राजभाषा विधेयक

स्वतन्त्रता के पूर्व भारत के अनेक विद्वान एवं मनीषी भावी राष्ट्रभाषा हिन्दी को सम्पन्न बनाने के लिए नाना प्रकार के यत्न कर रहे थे। डा० रघुवीर द्वारा पारिभाषिक कोष की जो अनूठी सृष्टि हुई उसकी सभी क्षेत्रों में प्रशंसा हुई। बहुत दिनों तक उसी के आधार पर विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों की रचना भी होती रही। क्या स्कूल, कालेज, क्या घर और हाट, चारों ओर रघुवीरी-हिन्दी की चर्चा चलने लगी। वस्तुतः इस ख्याति से ईर्ष्यालु होकर कुछ लोगों ने यह शोर मचाना प्रारम्भ किया कि रघुवीरी-हिन्दी अत्यन्त दुरूह है। उसमें से कुछेक शब्दों के लम्बे-लम्बे समानार्थियों को लेकर राजनीतिज्ञों एवं नेताओं के मध्य भी बहस शुरू हुई। फिर वर्धा की सरल किन्तु फूहड़ शब्दावली भी चारों ओर प्रचारित होने लगी। इन सबका परिणाम यह हुआ कि अन्त में केन्द्रीय सरकार को पारिभाषिक शब्दावली समिति का गठन करना पड़ा जिसने गत १३ वर्षों के अथक प्रयासों के फलस्वरूप "पारिभाषिक शब्द संग्रह" प्रस्तुत किया है। यह शब्दावली अनेकानेक आलोचनाओं के बावजूद भी सर्वग्राह्य एवं तर्कपूर्ण सिद्ध हुई है। अब तो केन्द्रीय निदेशालय की ओर से जितनी भी पुस्तकें अनूदित कराई जा रही हैं या मौलिक पुस्तकें लिखाई जा रही हैं, उन सबों में इसी शब्दावली का व्यवहार हो रहा है। माध्यमिक परीक्षाओं में तो वे ही पाठ्य पुस्तकें स्वीकृत हैं जिनमें इस शब्दावली का उपयोग हुआ है। तात्पर्य यह कि इतने दिनों से व्यवहार करते रहने से विज्ञान विषयों पर लिखने वाले अधिकारियों ने हिन्दी में अपने विषयों पर पुस्तकें लिखने में क्षमता प्राप्त करली है किन्तु राजभाषा विधेयक के पुनः परिमार्जित एवं उसके स्वीकृत होने से शंका होने लगी है और वह शंका यथार्थ भी है। अब अंग्रेजी को १९६५ के पश्चात् भी सहभाषा के रूप में मान्यता प्राप्त होती रहेगी। अतः वे लोग जो पहले से हिन्दी के विरोधी हैं और अंग्रेजी के पक्षपाती रहे हैं, अब यही तर्क प्रस्तुत करेंगे कि जब तक आवश्यकता समझी जाय तब तक विज्ञान का पठन-पाठन अंग्रेजी में ही होता रहे। सम्भावना भी यही है क्योंकि आये दिन शिक्षा-स्तर में ह्रास की जो दुहाई दी जाती है उसका कारण यही बताया जाता है कि हिन्दी द्वारा अंग्रेजी को स्थानान्तरित करने का अनैतिक प्रयास किया जा रहा था। नवीन राज भाषा विधेयक से दक्षिण भारत के ही लोग प्रसन्न हुये हों, ऐसी बात नहीं है। हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों के लोग भी कम प्रसन्न नहीं है। यह बड़े दुख की बात है। भावनाओं के क्षणिक प्रवाह में इस प्रकार बह जाना कितना घातक है। यदि हम स्वतन्त्र एवं अखण्ड राष्ट्र की कल्पना करते हैं तो उसमें किसी न किसी भारतीय भाषा को राष्ट्रभाषा स्वीकार करना होगा। चूंकि हिन्दी में राष्ट्रभाषा के सभी गुण प्राप्त हैं अतः वह भारत देश की राष्ट्रभाषा तो बनकर रहेगी ही। हाँ, जो दूरदर्शी नहीं हैं, और जो वर्तमान को ही अपने लिए लाभप्रद समझ कर कार्य कर रहे हैं वे मौज मार लें। अन्यथा भविष्य हिन्दी के सेवकों, हिन्दी और हिन्दी प्रेमियों के हाथ में तो रहेगा ही। हमें विज्ञान की सम्पूर्ण शिक्षा राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम से ही प्रदान करनी होगी और तब इसके विपक्षी अपना सर ऊपर उठा न सकेंगे।

विज्ञान

भाग ९७
संख्या ४
आषाढ़
२०२० वि०
जुलाई १९६३

अंक ४० न. पै.
र्षिक ४ रुपये

सम्पादक—डॉ० शिवगोपाल मिश्र

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

	मूल्य
१—विज्ञान प्रवेशिका भाग १—श्री रामदास गौड़, प्रो० सालिगराम भार्गव	३७ नये पैसे
२—वैज्ञानिक परिमाण—डा० निहालकरण सेठी	१ रु०
३—समीकरण मीमांसा भाग १ पं० सुधाकर द्विवेदी	१ रु० ५० नये पैसे
४—समीकरण मीमांसा भाग २—पं० सुधाकर द्विवेदी	६२ नये पैसे
५—स्वर्णकारी—श्री गंगाशंकर पचौली	३७ नये पैसे
६—वर्षा और वनस्पति—श्री शंकरराव जोशी	३७ नये पैसे
७—व्यंग चित्रण—ले० एल० ए० डाउस्ट, अनुवादिका—डा० रत्न कुमारी	२ रुपया
८—तैरना डा० गोरख प्रसाद	१ रुपया
९—वायुमंडल की सूक्ष्म हवायें—डा० संत प्रसाद टंडन	७५ नये पैसे
१०—खाद्य और स्वास्थ्य—डा० ओंकार नाथ पर्ती	७५ नये पैसे
११—फल संरक्षण—डा० गोरख प्रसाद, वीरेन्द्र नारायण सिंह	२ रु० ५० नये पैसे
१२—शिशु पालन—श्री मुरलीधर बौड़ाई	४ रुपया
१३—मधुमक्खी पालन—श्री दयाराम जुगड़ान	३ रुपया
१४—घरेलू डाक्टर—डा० जी घोष, डा० उमाशंकर प्रसाद, डा० गोरख प्रसाद	४ रुपये
१५—उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर—डा० गोरखप्रसाद, डा० सत्यप्रकाश	३ रु० ५० न०पै०
१६—फसल के शत्रु—श्री शंकरराव जोशी	३ रु० ५० नये पैसे
१७—साँपों की दुनिया—श्री रामेश वेदी	४ रुपया
१८—पोर्सलीन उद्योग—श्री हीरेन्द्र नाथ बोस	७५ नये पैसे
१९—राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ	२ रुपये
२०—गर्भस्थ शिशु की कहानी—अनु० प्रो० नरेन्द्र	२ रुपया ५० नये पैसे
२१—रेल—इंजन परिचय और संचालन—श्री ओंकारनाथ शर्मा	६ रुपया
२२—भरतीय कृषि का विकास—डा० शिवगोपाल मिश्र	५ रुपया

अब आपके इन पुस्तकों के लिए सीधे निम्न पते पर पत्रव्यवहार करें क्योंकि अब लाला रामनारायण लाल बेनीप्रसाद हमारे एक मात्र वितरक नियुक्त हुए हैं।

मिलने का पता :

लाला रामनारायणलाल बेनीप्रसाद
कटरा, इलाहाबाद

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुखपत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ।३।५।

भाग ९७ | आषाढ़ २०२० विक्र०, १८८५ शक जुलाई १९६३ | संख्या ४

जहाँ जीवन अमोनिया पर आधारित है

रमेशदत्त शर्मा

जल का एक पर्याय जीवन भी है। 'पानी बिन सब सून', सच ही कहा है। बड़ी देर से सूखे कंठ में जब-जब जल की बूँद पहुँचती है तो उसके स्वाद और तृप्ति की तुलना किसी और चीज से नहीं की जा सकती। कहना न होगा कि बिना जल के इस पृथ्वी पर तो जीवन की कल्पना ही असम्भव है। लेकिन 'जीवन केवल पृथ्वी तक ही सीमित है' यह अब एक पुरानी बात समझी जाती है। इस अण्डाकार ग्रह के अतिरिक्त और भी बहुत से ग्रह हैं जिनपर जीवन की उपस्थिति की बहुत कुछ सम्भावना है। लेकिन मंगल ग्रह के प्राणी—पौधे हों या जंतु, हमारी पृथ्वी जैसे ही हों; यह जरूरी नहीं है क्योंकि परस्थितियाँ, वातावरण यह सब कुछ भिन्न है। सबसे बड़ा भेद यह है कि पृथ्वी पर सभी जीवों का जीवनाधार है जल, जबकि अन्य ग्रहों पर जल की उपस्थिति की कोई सम्भावना नहीं है।

तो फिर इन ग्रहों के जीव जल के स्थान पर किस चीज का उपयोग करते हैं? यह प्रश्न बहुत दिनों से वैज्ञानिकों को उलझन में डाले रहा। इधर तारामौतिकीविद् (एस्ट्रोफिजिसिस्ट), रसायनज्ञ तथा जीववैज्ञानिकों ने इस क्षेत्र में जो अनुसन्धान किए हैं उनसे यह पता चलता है कि जिस तरह पृथ्वी पर जीवन का आधार जल है बिल्कुल उसी तरह शुक्र, मंगल आदि ग्रहों पर जीवन का आधार अमोनिया हो सकता है।

जल जीवन क्यों ?

जीवन का आधार रासायनिक तो है ही। हमारे शरीर में निरन्तर रासायनिक क्रिया-अभिक्रिया चलती रहती है और जब तक शरीर चलता है चलती रहती हैं। या जब तक रासायनिक क्रियायें चलती रहतो हैं शरीर चलता रहता है। इन सब

क्रियाओं के लिए 'पानी' अत्यावश्यक है। एक नमक की डली लें और एक तूतिया या नीले थोथा की। दोनों को कितना ही मिलाएँ, बारीक पीसकर एक दूसरे से मिश्रित कर दें, लेकिन उनमें कोई परिवर्तन नहीं होगा। क्योंकि कोई रासायनिक क्रिया नहीं होगी। और अब जरा नमक का 'घोल' लें, फिर उसमें तूतिया डालें तो फौरन रासायनिक क्रिया शुरू हो जाएगी। नमक होता है सोडियम क्लोराइड और नीला थोथा होता है कॉपर सल्फेट। दोनों घोलों को मिलाने पर कॉपर क्लोराइड और सोडियम सल्फेट बन जायगा।

कहने का मतलब यह है कि रासायनिक क्रियाएँ केवल घोल रूप में हो सकती हैं और पृथ्वी पर 'पानी' से बड़ा घोलक या विलायक कोई नहीं है। यह दूसरी बात है कि अब बहुत ऊँचे तापों या बहुत निम्न तापों पर वैज्ञानिकों ने कुछ और भी विलायक खोज लिए हैं किन्तु सामान्य परिस्थितियों में पानी की बराबरी कोई और पदार्थ नहीं कर सकता। और अगर कोई दूसरा पदार्थ है भी तो अमोनिया के सिवा कोई और नहीं हो सकता।

अमोनिया और पानी

रासायनिक भाषा में अमोनिया का सूत्र है NH_3 और पानी का H_2O। अर्थात् हाइड्रोजन गैस जब नाइट्रोजन से मिलती है तो अमोनिया बनता है और जब वह आक्सीजन से मिलती है तो पानी बन जाता है। पानी की ही तरह अमोनिया भी एक द्रव पदार्थ है। एक आदर्श विलायक में जो-जो गुण होने चाहिए वे पानी में तो हैं ही, अमोनिया में भी हैं। जैसे कि एक आदर्श विलायक प्राकृतिक रूप में जिस अवस्था में पाया जाता है, उससे दूसरी अवस्था में आसानी से परिवर्तनशील नहीं होना चाहिए। पानी द्रव है। ठोस बनाने के लिए बहुत ठंडा करना पड़ेगा और गैस या भाप बनाने के लिए उसको बहुत गरम करना होगा। इस पर भी जहाँ थोड़ी गरमी मिली कि बर्फ पिघलकर पानी हुई और जहां थोड़ी नमी मिली तो भाप द्रवित होकर पानी हो गई। यानी पानी का स्वभाव अपनी सहज दशा अर्थात् 'द्रव' के रूप में रहने का ही है। इसी भाँति अमोनिया भी सामान्य अवस्थाओं में द्रव ही रहता है। दूसरी बात यह है कि विलायक में चिपचिपाहट (श्यानता) नहीं होनी चाहिए। वैज्ञानिक दृष्टि से अमोनिया की अपेक्षा पानी कहीं ज्यादा चिपचिपा (श्यान) है।

इस प्रकार विलायक के रूप में अमोनिया किसी भी तरह जल से हीन नहीं है। बल्कि ए० जे० मी के अनुसार तो यह पानी से कहीं अच्छा विलायक है क्योंकि अमोनिया में पानी से अधिक तरलता होती है। किसी लवण के जलीय घोल की तुलना में उसका अमोनिया-घोल रासायनिक दृष्टि से अधिक क्रियाशील होता है। इसका कारण यह है कि कोई भी लवण जब विलायक में डाला जाता है तो ऋण और धन आयनों में विभाजित हो जाता है। अमोनिया में डालने पर आयनीकरण बहुत तेजी से होता है।

पानी और अमोनिया में स्व-विघटन की क्रिया भी समान होती है। नीचे दिए हुए रासायनिक सूत्र से यह समानता स्पष्ट हो जाती है :—

$$2\ H_2O \rightarrow H_3O^+ \quad + OH^-$$

$$2\ NH_3 \rightarrow NH_4^+ \quad + NH_2^-$$
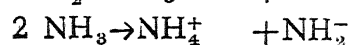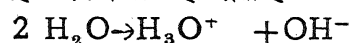
जिस तरह पानी स्व-विघटन (सेल्फ डिसोसिएशन) के बाद धनायन (केटायन) के रूप में हाइड्रोनियम (OH_3^+) देता है उसी तरह अमोनिया से अमोनियम (NH_4^+) निकलता है। दूसरी ओर ऋणायन (एनायन) भी एक दूसरे के समान ही होते हैं जैसे कि NH_2^- तो अमोनिया से और पानी से OH^-। इसी तरह अमोनिया से $NH^=$ और पानी से $O^=$। इनके अलावा एक और ऋणायन अमोनिया के विघटन पर प्राप्त होता है— $N^\equiv$ जिसका अनुरूप जलीय विघटन में नहीं मिलता लेकिन $O^=$ ऋणायन का एक

और अनुरूप माना जा सकता है। स्व-विघटन का वह गुण एक आदर्श विलायक में अवश्य रहना चाहिए और इस गुण में भी पानी की तुलना सिर्फ अमोनिया ही कर सकता है :—

विलायक	धनायन	ऋणायन
H_2O (जल) →	H^+, H_3O^+	$OH^-, O^{=}$
NH_3 (अमोनिया) →	H^+, NH_4^+,	$NH_2^-, NH^{=}, N^{\equiv}$

सबसे बड़ा अन्तर जो अमोनिया और पानी में है वह समक्षारीय धातु (एल्कली मेटल) से क्रिया करने का है। अमोनिया में समाक्षारीय धातुएँ जैसे सोडियम और पोटैशियम बिना किसी रासायनिक क्रिया के घुलकर 'नीले घोल' बनाती हैं। इन घोलों को उड़ाकर धातुओं को फिर अपने मूलरूप में प्राप्त किया जा सकता है। दूसरी ओर मैग्नीशियम, ऐल्यूमीनियम आदि धातुएँ तथा आयोडीन, सल्फर, सेलीनियम, फॉसफोरस आदि किसी हद तक अमोनिया में घुलनशील हैं। ये सभी तत्व किसी न किसी रूप में जीवन से सम्बद्ध हैं, और जीवद्रव्य अर्थात् प्रोटोप्लाज्म (प्लाविका) में पाए जाते हैं। अतः अमोनिया में इनकी घुलनशीलता हमारी इस धारणा की पुष्टि करती है कि पानी की तरह अमोनिया भी जीवन का आधार हो सकता है।

कार्बनिक यौगिक जिनको जैव यौगिक भी कहते हैं जैसा कि दूसरे नाम से स्पष्ट है, जीवों से सम्बद्ध यौगिक हैं। ये यौगिक पानी की अपेक्षा अमोनिया में आसानी से घुल जाते हैं। यहाँ फिर अमोनिया जीवन-क्रियाओं के लिए एक आदर्श विलायक सिद्ध होता है और पानी से बाजी मार लेता है।

अमोनो-क्रियाएँ

रसायन विज्ञान को जल की प्रधानता के कारण जलीय रसायन विज्ञान (') Aqua Chemistry भी कह देते हैं। बिल्कुल इसी तरह अमोनिया प्रधान रसायन विज्ञान की सम्भावना को नकारा नहीं जा सकता। इसको हम अमोनोकेमिस्ट्री या 'अमोनी रसायन-विज्ञान' कह सकते हैं।

जिस तरह पानी की क्रिया जलविश्लेषण (हाइड्रोलिसिस) होती है उसी तरह अमोनिया से 'अमोनोलिसिस' होती है। जलीय कार्बनिक यौगिकों में 'OH' वाले यौगिक हैं अलकोहल जो यों तो कार्बनिक समाक्षार हैं मगर कभी-कभी इस अम्ल की भाँति भी व्यवहार करते हैं। इसी भाँति ऐल्डीहाइड (C H O), कार्बोक्सिल (C O O H), एस्टर (C O O) आदि समूहों के यौगिक बनते हैं।

अमोनोकेमिस्ट्री में भी ऊपर बताए जलीय कार्बनिक यौगिकों की भाँति यौगिक बन सकते हैं। जरूरत सिर्फ जहाँ-जहाँ हाइड्रोक्सिल (O H) समूह हैं वहाँ अमीनो (NH_2) और जहाँ आक्सीजन (O) है वहाँ इमीनो (NH) समूह रख देने की है। इस तरह जो भी यौगिक बनेंगे उनमें आपस में वही सम्बन्ध और क्रिया-अभिक्रिया चलेगी जो उनके जलीय अनुरूपों में हैं। नीचे दिए हुए रासायनिक सूत्रों से जलीय कार्बनिक यौगिक और अमोनोकार्बनिक यौगिकों का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है :—

जलीय :— CH_4 मेथेन, CH_3OH मेथिल ऐलकोहल

$H-\overset{\overset{O}{\|}}{C}-H$ फार्मल्डीहाइड, $H-\overset{\overset{O}{\|}}{C}-OH$ फॉर्मिक एसिड

CH_3-O-CH_3 मिथाइल ईथर

अमोनो :— CH_3NH_2, $H-\overset{\overset{NH}{\|}}{C}-H$

$H-\overset{\overset{NH}{\|}}{C}-NH_2$, $CH_3-NH-CH_3$
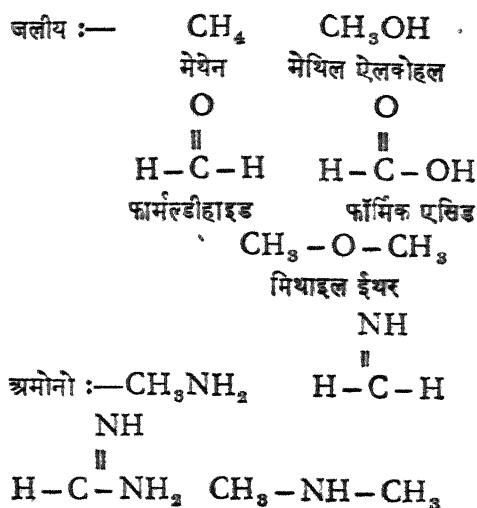
ऐसी बात नहीं है कि ऐमिनो कार्बनिक यौगिकों की बात एकदम काल्पनिक ही हो। वर्तमान कार्बनिक रसायन विज्ञान में 'एमिनोएसिड' बड़े महत्वपूर्ण यौगिक हैं। इनका महत्व तब से और भी बढ़ गया है जबसे यह पता चला है कि प्रोटीन जैसे जटिल यौगिकों की इकाई 'एमिनो एसिड' ही हैं। प्रोटीन हमारे जीवन के लिए कितने आवश्यक हैं इसका अनुमान सिर्फ इस बात से लगाया जा सकता है कि शरीर में जितनी भी रासायनिक क्रियाएँ हैं सबमें प्रोटीन अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। जितने भी हारमोन हैं सब प्रोटीन हैं। सभी महत्वपूर्ण एँजाइम और उत्प्रेरक जो रासायनिक क्रियाओं को प्रारम्भ ही नहीं करते बल्कि उनको तीव्रता भी प्रदान करते हैं, प्रोटीन के ही रूप हैं। मांस-पेशियों का 'मायोग्लोबिन' और रक्त का 'हीमोग्लोबिन' भी एक तरह के प्रोटीन ही हैं। और इन सबकी इकाई एमिनोएसिड क्या हैं? एक सामान्य कार्बनिक अम्ल (आर्गेनिक एसिड) के हाइड्रोजन का ऐमिनो समूह (NH_2) में बदल जाना जैसे कि एसिटिक अम्ल (CH_3COOH) में एक हाइड्रोजन की जगह NH_2 रख देने से ग्लाइसीन ($NH_2.CH_2.COOH$) बन जाता है। ये 'ऐमिनोएसिड' और बहुत सी ऐमिनो अम्लों से संघनन द्वारा मिलकर बहुलीकृत हो जाती हैं और फलस्वरूप 'प्रोटीन' बन जाता है जो कि जीवन का एक अपरिहार्य अंग है।

अब इसमें तो कोई सन्देह नहीं रह गया कि जल की ही भांति अमोनिया भी जीवन का आधार हो सकता है। देखना यह है कि ग्रहों पर अमोनिया है या नहीं।

ग्रहों पर 'अमोनिया'

जुपीटर (वृहस्पति), यूरेनस तथा शनि (सैटर्न) पर अमोनिया है, इस बात का वैज्ञानिकों ने ठीक-ठीक पता लगा लिया है। इन बड़े-बड़े महाग्रहों के अतिरिक्त उपग्रहों पर भी अमोनिया की उपस्थिति में कोई सन्देह नहीं है। विभिन्न ग्रहों, उपग्रहों के वर्णक्रमलेखों द्वारा यह जानकारी प्राप्त की गई है। यही नहीं, वैज्ञानिकों के अनुसार जब पृथ्वी अपनी शैशवावस्था में थी तो इसके वातावरण में हाइड्रोजन, अमोनिया और मेथेन का ही आधिक्य था। इसी आधार पर प्रो० बर्नाल का तो यह कहना है कि आज जो कार्बनिक अम्ल, वसा पदार्थ और शर्कराएँ आदि मिलती हैं ये सब अमोनो यौगिकों से ही आई हैं। अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में पृथ्वी पर भी अमोनो यौगिक ही थे, जलीय यौगिक धीरे-धीरे आए। विअमौनियाकरण (डीएमीनेशन) द्वारा ऐमिनोयौगिकों में से जब ऐमिनो अंश निकल गया और उसकी जगह हाइड्रोक्सिल (OH) आदि जलीय अंश आए तो आधुनिक एक्वोकेमिस्ट्री या जलीय रसायन विज्ञान का श्रीगणेश हुआ।

दो सम्भावनाएँ

दो बातें तो स्पष्ट हो गईं—एक तो यह कि ग्रहों पर अमोनिया है, जल नहीं है। दूसरी यह कि अमोनिया जल का स्थान ले सकता है। तो ग्रहों पर जीवन के सम्बन्ध में दो संकल्पनाएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं। एक तो ग्रहविज्ञान के मर्मज्ञ 'एक्सैल फर्सोफ' का मत है कि ग्रहों पर जो जीवन है वह अमोनिया पर निर्भर है। अर्थात् ग्रहमानव पानी की जगह अमोनिया पीते होंगे, अमोनिया से नहाते होंगे। जिस तरह हमारे शरीर का नब्बे प्रतिशत पानी है वैसे ही ग्रहमानव के शरीर का नब्बे प्रतिशत अमोनिया होगा।

दूसरी सम्भावना (लेखक के मत में) यह है कि शायदों ग्रहों पर अभी जिन्दगी शुरू ही न हुई हो। बहुत सम्भव है कि उन ग्रहों पर विकास की धारा केवल अजैव अथवा जड़ प्रकृति तक ही सीमित हो। अमोनो यौगिकों का राज है अभी, फिर लाखों करोड़ों वर्ष बाद जब जल यौगिकों का जमाना आएगा तब शायद हमारी पृथ्वी की भाँति

मंगल, शुक्र, बृहस्पति आदि ग्रहों पर भी जिन्दगी अंगड़ाई ले।

उल्काओं में सिवार

मेरी इस धारणा के पीछे एक वैज्ञानिक तर्क और भी है। वह यह कि ग्रहों की दुनिया से जो चीज पृथ्वी पर आती है और जिस पर अनुसंधान किया जाता है वह है 'उल्का'। १४ मई, १८६४ को एक उल्का फ्रांस में गिरी थी। वैज्ञानिकों ने इसका नाम ऑर्गुइल (Orgueil) उल्का रखा है। फोर्धाम यूनिवर्सिटी के डा० बार्थोलोम्यू नागी और डगलस हेनेसी एवम् एस्सो कम्पनी के डा० मीनस्वीन ने इस उल्का पर शोधकार्य किया। १९६१ में अपनी अपनी खोजों के परिणाम बतलाते हुए इन वैज्ञानिकों ने यह घोषणा की कि इस उल्का पर उन्होंने कुछ ऐसी आधारभूत चीजें खोज ली हैं जिनसे इस बात का पता लगता है कि ग्रहों पर जीवन अवश्य है।

एक तो इस उल्का में हाइड्रोकार्बन पाए गए हैं। ये हाइड्रोकार्बन केवल जीवित कोशिकाओं में ही बन सकते हैं ऐसा इन वैज्ञानिकों का विश्वास है। दूसरी चीज इसी उल्का में नवम्बर १९६१ में न्यूयार्क यूनिवर्सिटी मेडीकल स्कूल के वैज्ञानिकों ने खोजी थी। उन्होंने कुछ 'जीवों' जैसे 'पिंड' का पता लगाया। ये पिंड पानी में पाई जानेवाली 'सिवार' या 'शैवाल' नामक वनस्पति से मिलते-जुलते बताए गए।

लेकिन आकाश स्थित ग्रहों से टूटकर गिरी ये उल्काएँ पृथ्वी पर आने के बाद क्या वैसी ही रहीं जैसी कि मूल ग्रह में थीं। इतना लम्बा सफर करने के बाद, वातावरण की विभिन्न परतों में से गुजरने और धरती पर आने के बाद उनमें कुछ भी परिवर्तन न हो, यह असम्भव है। अतः जिन जैव-पिंडों की उपस्थिति का दावा किया जाता है, बहुत सम्भव है कि ये पिंड उस उल्का में पृथ्वी के संसर्ग में आने के बाद पैदा हुए हों।

मंगल ग्रह पर खीरा

कृष्ण जन्माष्टमी के दिन भगवान श्रीकृष्ण की मूर्ति अथवा सालिगराम की बटिया को खीरे में काट कर छिपा देना और फिर जन्म की घड़ी निकट आने पर संकीर्तन के साथ उस खीरे को खोलना, भारत में सर्वत्र प्रचलित है। मंगल ग्रह पर मानव है तो वह भी यदि जन्माष्टमी मनाता होगा तो इसी तरह मनाता होगा इसके बारे में हम कुछ नहीं कह सकते। क्योंकि इसका पता तो जब हम मंगल ग्रह पर पहुँचेंगे तभी लग सकेगा। लेकिन 'खीरा' आदि बहुत से उच्चश्रेणी के पौधे मंगल ग्रह पर मौजूद हो सकते हैं, यह निष्कर्ष वैज्ञानिकों ने अनेक परीक्षणों के बाद प्रस्तुत किया है।

यूनियन कार्बाइड रिसर्च इंस्टीटयूट, न्यूयॉर्क के कुछ वैज्ञानिकों ने लगभग ३० पौधों की विभिन्न जातियों पर प्रयोग किए। इन प्रयोगों में पौधों को उन्हीं परिस्थितियों में पनपाने की कोशिश की, जो मंगल ग्रह पर हो सकती हैं। इन प्रयोगों से यह पता चला है कि बहुत से पौधे तो नाम-मात्र की आक्सीजन से ही काम चला लेते हैं जबकि कुछ पौधों को उसकी भी जरूरत नहीं पड़ती। मंगल ग्रह के तापमान के सम्बन्ध में हम यह जानते हैं कि वहाँ रात में -१०° सेंटीग्रेड और दिन में $+२०^\circ$ सेंटीग्रेड तापमान रहता है। मंगल ग्रह के वातावरण में आक्सीजन नहीं के बराबर होती है और पराबैंगनी प्रकाश का आधिक्य होता है।

कुछ दिन पहले तक यह समझा जाता था कि ग्रहों पर पाई जाने वाली वनस्पतियाँ सिवार, फफूँदी, जीवाणु आदि निम्न श्रेणी की होंगी। लेकिन न्यूयार्क में इन वैज्ञानिकों ने जो प्रयोग किये हैं उनसे यह लगता है कि मंगल आदि ग्रहों पर हमारी पृथ्वी के समान ही वनस्पतियाँ हों तो कोई आश्चर्य नहीं।

खीरे के बीजों को एक घंटे तक एक ऐसे कृत्रिम वातावरण में उगाकर देखा गया जिसमें ९८ प्रतिशत आर्गन + २% आक्सीजन थी और जिसका तापमान –१०° सेंटीग्रेड था। अगर तापमान और ज्यादा घटाया गया तो बरफ के कणों के कारण बीजों में से निकले अंकुए मर गए। लेकिन जब २% प्रतिशत आक्सीजन वातावरण में मिलाई गई तो अंकुर स्वस्थ हो गये। लेकिन आर्गन में (जिसमें सिर्फ ०·००५% आक्सीजन थी)—१०° सेंटीग्रेड पर भी कहीं ज्यादा अंकुए फूले।

इसी तरह रेगिस्तानी जलवायु में उगने वाले पौधों—मरुद्भिदों (xerophytes) को लेकर भी प्रयोग किए गए। सामान्य हवा की अपेक्षा जब यूफोर्बिया क्लेवेरिटना (सेहुड़ की जाति का पौधा) को ०·२४% आक्सीजन, १·३६% आर्गन और ९८·२८% नाइट्रोजन में उगाया गया तो बहुत कम तापमानों पर भी ये पौधे फलते-फूलते रहे।

यद्यपि इन प्रयोगों में जलवाष्प मौजूद रही जिसके बारे में वैज्ञानिकों का यह अन्दाज है कि मंगल पर भी कुछ जलवाष्प वाली सूक्ष्म जलवायु (माइक्रोक्लाइमेट) हो सकती हैं जिनका अभी पता नहीं लग सका है।

इन प्रयोगों से यह चलता है कि पौधों में जलवायु के अनुसार बदलने की अर्थात् अनुकूलन (adaptation) की बड़ी क्षमता होती है। अतः जीवन के जिस रूप से हम आज परिचित हैं हो सकता है कि वही रूप मंगलग्रह पर तथा अन्य ग्रहों पर भी हो।

जीवन के मूल स्रोत

रमेश चन्द्र तिवारी

विगत कुछ सदियों से जीवविज्ञान और रसायन-शास्त्र एक दूसरे से घनिष्ट होते रहे हैं तथा एक दूसरे पर पूर्ण रूप से आश्रित भी हैं। इन विषयों के अध्ययन का आरम्भ सन् १८००-१८८२ के मध्य में फ्रेडरिच वूलर ने किया। वे मुख्य रूप से रासायनिक प्रयोगों में व्यस्त रहते थे। सन् १९२८ में उन्होंने ही अकार्बनिक पदार्थों से यूरिया का संश्लेषण भी किया। उस समय वैज्ञानिक विषयों की ओर जनता की कोई खास रुचि नहीं थी परन्तु जो कुछ भी वैज्ञानिक कार्य कर रहे थे वे एकाएक गंभीर होकर कार्य करने लगे। तभी से जीव रसायन शास्त्र का जन्म हुआ। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में जीव विज्ञान और जीव रसायन शास्त्र में कोई विशिष्ट अन्तर नहीं मिलता।

इन्हीं विषयों (अर्थात जीवरसायन एवं जीव विज्ञान) पर अनुसंधान करने वाले पाँच विश्व विख्यात वैज्ञानिकों के अथक परिश्रम से प्राप्त एक महत्वपूर्ण खोज के लिये उनको सन् १९६२ का नोबुल पुरस्कार प्रदान किया गया। यह पुरस्कार स्पेन के निवासी डा० सेवेरो ओचोवा (जो सन् १९५९ में भी नोबुल पुरस्कार विजेता थे और इस समय न्यूयार्क में कार्य कर रहे हैं), स्टेनफोर्ड विश्वविद्यालय केलिफोर्निया के आर्थर कोन बर्ग, हारवर्ड विश्वविद्यालय कैम्ब्रिज के एक जीववैज्ञानिक जेम्स डी० वाट्स तथा अन्य दो अंग्रेज वैज्ञानिक फ्रैन्सिस हैरी जी० क्रिक, और किंग्स महाविद्यालय लन्दन के मौरिस एच० एफ० विलकिन्स को मिला है। इन सभी वैज्ञानिकों को

अनुसंधान, प्रोटीन तथा प्रोटीन से सम्बन्धित अन्य महत्वपूर्ण विषयों पर हो रहा है। उनके अनुसंधान कार्यों के विषय "The deciphering of biological code," "The secret key of life," "Wiring Scheme of Cells." तथा D. N. A और R. N. A (डीसाक्सीराइबो न्यूक्लिक अम्ल तथा राइबोन्यूक्लिक अम्ल) पर सम्मिलित अनुसंधान आदि हैं।

"सम्पूर्ण जीवन रसायन है" (All life is Chemistry) यह १६५६ के नोबुल पुरस्कार विजेता वोचोवा का कथन है। D. N. A तथा R. N. A रसायन शास्त्र के दो जटिल रसायन हैं और प्रोटीन के मुख्य अंश भी हैं, इसलिये वर्तमान अनुसधानों के अनुसार इनको जीवन की कुन्जी कहते हैं। केलिफोनिया विश्वविद्यालय के प्राध्यापक प्रो० मोजया की घोषणा है कि "जीवविज्ञान में बहुत थोड़े से व्यापकीकरण हैं जिन्हें हम "प्राकृतिक नियम" (Natural Laws) कहते हैं। इनमें से अधिकांश व्यापकीकरण तो अपवाद स्वरूप हैं, परन्तु अभी तक ऐसे किसी भी अपवाद का पता नहीं चल पाया है जो इस नियम को स्पष्ट कर सके कि एक कोशिका का उत्पादन दूसरी कोशिका से किस प्रकार होता है।" स्कान और स्क्लेडेन ने १८३८-३६ में यह बताया कि सभी जीव, कोशिकाओं के बने हैं और ये कोशिकायें विभिन्न आकार-प्रकार और संरचना की होती हैं। एक कोशिका दो में विभाजित होती है और इस विभाजन से प्राप्त कोशिका फिर दो में, और इसी प्रकार कोशिकायें विभाजित होकर नई-नई कोशिकाओं को जन्म देती रहती हैं। ये नव-निर्मित कोशिकायें उसी रूप-रंग और आकार की होती हैं जिन कोशिकाओं से ये विभाजित होकर उत्पन्न होती हैं। इसी को पुनः द्विरूपकरण कहते हैं। यकृत, मस्तिष्क, बाल, माँसपेशियाँ और हड्डियों आदि की कोशिकाओं के मूल बनावट में ही भिन्नता होती हैं। ये कोशिकाएँ अतिसूक्ष्म तथा अत्यन्त जटिल संरचना की होती हैं। अभी तक विश्व भर में इन कोशिकाओं की असली संरचना का पता नहीं चल पाया है परन्तु अब यह ज्ञात हो गया है कि D. N. A इन्हीं कोशिकाओं में उपस्थित रहता है। D. N. A मायोटॉसिस क्रिया में भाग लेने वाले क्रोमोसोम्स का एक मुख्य अंश है। (मायोटासिस कोशिका विभाजन की एक अपरोक्ष विधि है जिसमें नाभिक क्रोमैटिन Chromatin पहले एक लम्बे धागे के रूप में आता है और फिर क्रोमोसोमों में टूट जाता है)। इसी क्रिया के द्वारा वंशानुगत कारक का प्रसारण होता है।

कोशिकाओं को एक अतिसूक्ष्म रासायनिक कारखाना कहा जा सकता है। विभिन्न प्रकार की कोशिकाओं में भिन्नता (जैसे अस्थि कोशिकाओं और मस्तिष्क कोशिकाओं में) का मुख्य कारण कोशिका-कारखानों एवं उनके अणुओं का विभिन्न प्रकार से संस्थापन है। कोशिकाओं का संस्थापन जीनों (Genes) के द्वारा होता है। (जीन वे तत्व है जिनसे वंशानुगत गुणों का प्रसारण और निर्धारण होता हैं)। जीनों का मुख्य कार्य उस प्रोटीन का उत्पादन और उसके उचित प्रयोग का नियंत्रण करना है जो कि प्रजनन और कोशिका विभाजन में प्रयुक्त होती है। यह देखा गया है कि अगर मुख्य संस्थापक जीनों को रेडियोसक्रियता से नष्ट करके उनको निष्क्रिय कर दिया जाय तो संस्थापन कार्य समाप्त हो जाता है। जिसके फल-स्वरूप कोशिकाओं का कार्य अनियमित हो जाता है तथा वांछित कार्य के स्थान पर अवांछित और अकाल्पनिक कार्य होने लगते हैं। फलत कैंसर आदि भयानक रोग हो जाते हैं।

D. N. A जो इसका मूल अंश है उसके निस्सरण की एक रासायनिक विधि का पता चला है। अनन्त रासायनिक प्रयोगों के उपरान्त यह ज्ञात हुआ कि D. N. A एक प्रकार की शर्करा, डीसा-क्सीरिबोज की लम्बी आणविक शृंखला तथा

फासफोरिक अम्ल से बना है। शर्करा और फासफोरिक अम्ल के अणुओं के एक के बाद एक नियमित संस्थापन से ही D. N. A का जन्म होता है परन्तु इन शर्कराओं के साथ कुछ क्षार भी जुड़े होते हैं जो कि संस्थापन में स्थित होते जाते हैं और ये क्षार भिन्न-भिन्न कोशिका निर्माण में विभिन्न रूप से जुड़ते हैं। एडेनिन और ग्वानीन (चित्र नं० १) जैसे प्यूरीन क्षार तथा थाइमीन और सिस्टीन जैसे पाइ-रीडीन क्षार इसके उदाहरण हैं। उपरोक्त विभिन्न क्षारों के शर्कराओं के साथ जुड़ने से भिन्न-भिन्न D. N. A अणुओं का निर्माण होता है और इसके फलस्वरूप विभिन्न-चरित्र और गुणों के जीन्स एवं कोशिकाओं का उत्पादन हो जाता है।

Chemical formulae for RNA bases
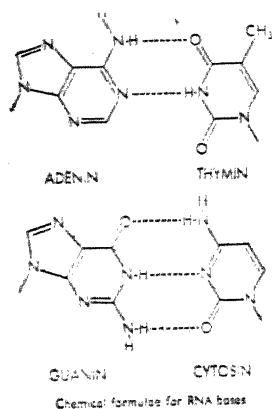
मनुष्यों के क्रोमोसोम्स, कोशिकाओं से बने होते हैं और ये कोशिकायें प्रोटीन की बनी होती हैं तथा D. N. A प्रोटीन का एक मुख्य अंश है। D. N. A में सूक्ष्म परिवर्तन होने पर प्रोटीन और इसके फलस्वरूप क्रोमोसोम्स में वृहत् परिवर्तन हो जाता है तथा पीढ़ी भी बदल जाती है। भौतिकोरसाय-निक मापन और इलेक्ट्रॉनिक सूक्ष्म दर्शकों की सहायता से लिये गये चित्रों से यह ज्ञात हुआ है कि, D. N. A का सबसे बड़ा अणु लगभग २०एंगस्ट्राम मोटा और ३० एंगस्ट्राम (एक एंगस्ट्राम $= \frac{१}{१००,०००,०००,००}$ से० मी० यह लम्बाई नापने की इकाई है) लम्बा होता है। पिछले वर्ष के दो नोबुल पुरस्कार विजेता डा० वाटसन तथा डा० क्रिक ने D. N. A अणु की बनावट को स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने अत्यन्त कठिन गणितीय कलन तथा अधिकतम जटिल एक्सरे मापिणकी का प्रयोग करके यह घोषित किया है कि एक D. N. A अणु में दो पेंचकस (Screw) आकार की या चक्कर सीढ़ी की संरचना पाई जाती है। और इन प्रत्येक संरचनाओं में हजारों लहरियाँ होती हैं। दोनों चक्कर परस्पर ग्रथित हैं और दो परस्पर जुड़े कार्क-स्क्रू की तरह होते हैं (चित्र नं० २)।
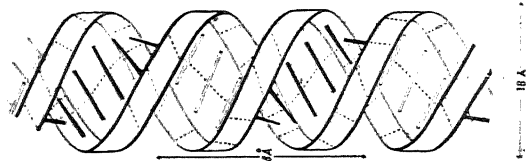
केशिका विभाजन में वंशानुगत कारक का स्थानान्तरण मोर्स कोड की तरह डैस (—) और डाट (०) के द्वारा होता है, अथवा यह कहा जा सकता है कि यह D. N. A अणु के पिरीडीन और प्यूरीन क्षार के स्वभाव या क्रम पर वंशानुगत स्था-नान्तरण आश्रित है। जब एक कोशिका दो नव-कोशिकाओं में विभाजित होता है तो दो कार्क-स्क्रू अथवा चक्करदार जीने (सीढ़ी) की एक-एक संरचना दोनों में बट जाती है, उनके जोड़े का एक भाग पुराने कोशिका में रह जाता है तथा दूसरा नव-कोशिका में आ जाता है। इसीलिये यह नव-कोशिका पूर्ण रूप से पुरानी कोशिका के समान होती है।

प्रश्न यह उठता है कि एक विशिष्ट कोशिका में जीन प्रोटीन को कैसे प्रभावित करते हैं? यह भली-भाँति ज्ञात है कि एक विशिष्ट D. N. A. अणु के द्वारा एक विशिष्ट एमीनो अम्ल प्राप्त होता है।

शेषांष पृष्ठ १२४ पर

—१६

राबर्ट ए० मिल्लिकान

डा० राबर्ट ए० मिल्लिकान बहुमुखी प्रतिभा वाले नोबेल पुरस्कार-विजेता, भौतिक वैज्ञानिक, विख्यात शिक्षाशास्त्री, दार्शनिक, परोपकारी और धार्मिक वृत्ति के मानव थे।

इनकी मृत्यु आज से १० वर्ष पूर्व हुई, किन्तु वैज्ञानिकों और जन-साधारण पर समान रूप से छाया हुआ उनका प्रभाव और उनकी प्रेरणा कम नहीं हुई है। उनका जीवन, जो अब्राहम लिंकन की मृत्यु के तीन वर्ष पश्चात् प्रारम्भ हुआ और अणु युग द्वारा पर्याप्त प्रगति कर लेने के समय तक समाप्त नहीं हुआ था, इतिहास के उस घटना-क्रम का प्रतिनिधित्व करता है जो उसकी अधिकतम चमत्कारपूर्ण शताब्दी के दौरान घटित हुआ। उन्होंने एक ऐसे लोकतन्त्रीय अमेरिकी समाज के निर्माण में प्रमुख भूमिका अदा की, जिसके अन्तर्गत जीवन विज्ञान द्वारा अत्यधिक प्रभावित है। यह कार्य उन्होंने अपने मानव बन्धुओं की चेतना, उनके हृदय और उनकी बुद्धि को प्रेरित एवं प्रभावित करके किया।

भौतिक विज्ञान के अध्ययन को एक निष्क्रिय शास्त्रीय विषय से उठा कर एक ऐसे प्रवैगिक और विकासशील क्षेत्र के स्तर पर ला खड़ा करने में, जो विश्व भर के लोगों के प्रतिदिन के जीवन को प्रभावित करता है, डा० मिल्लिकान की अनुसन्धान सम्बन्धी अपूर्व सफलताएँ अत्यन्त बहुमूल्य सिद्ध हुई। उन्होंने यह प्रमाणित किया कि समस्त इलेक्ट्रॉन एक-से विद्युत् आवेश (चार्ज) वहन करते हैं। उन्होंने उस विद्युत् आवेश का सफलता के साथ सही-सही माप करने में जो वैज्ञानिक प्रयोग किया, उसकी गणना आधुनिक भौतिक विज्ञान के शास्त्रीय प्रयोगों की कोटि में होती है। फोटो-इलेक्ट्रॉनों के सम्बन्ध में उन्होंने जो अनुसन्धान किया, वह प्रकाश की प्रकृति सम्बन्धी 'फोटोन' सिद्धान्त की स्थापना करने में एक महत्वपूर्ण चरण सिद्ध हुआ। उसने महान् अमेरिकी वैज्ञानिक एलबर्ट आइन्स्टाइन द्वारा प्रतिपादित प्रमाण की पुनः पुष्टि की। उन्होंने उच्च-वोल्टेज के विद्युत् स्फुलिंगों के सम्बन्ध में जो अध्ययन किया, उसके फलस्वरूप अति-अयनधर्मी अणुओं की विशेषताओं को श्रेष्ठतर ढंग पर समझना सम्भव हुआ।

उन्होंने ब्रह्माण्ड किरणों के महत्व की ओर ध्यान आकृष्ट करके और पदार्थ में सन्निहित नवीन तत्वों का उद्घाटन करने के लिए उनका प्रयोग करके भी विज्ञान जगत की एक महान् सेवा की। उन्हें १९२३ में भौतिक विज्ञान का नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ। उस समय तक वह केवल द्वितीय अमरीकी थे, जिसे नोबेल पुरस्कार पाने का गौरव प्राप्त हुआ था। अमेरिकी भौतिक-वैज्ञानिकों पर मिल्लिकान के प्रभाव को इस बात का विशिष्ट श्रेय है कि १९२३ के बाद के वर्षों में अमेरिका के १७ वैज्ञानिकों को भौतिक

विज्ञान का नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ।

शिक्षक के रूप में, राबर्ट मिल्लिकान ने प्रयोग-शाला-विधि की स्थापना की और १३ पाठ्य-पुस्तकों की रचना की जो आज भी व्यापक रूप से प्रचलित है। शिक्षक राबर्ट मिल्लिकान ५३ वर्ष की आयु में अमेरिका के पश्चिमी राज्य, कैलिफोर्निया चले गये, जहाँ उन्होंने नव-निर्मित कैलिफोर्निया इन्स्टीट्यूट ऑव टैक्नोलॉजी के विकास में सहयोग प्रदान किया। उनकी दृष्टि में, शिक्षा का मुख्य उद्देश्य 'मनुष्यों को वास्तविक कार्यों के लिए तैयार करना है, जिनमें अपने कार्य के बाहर प्रभावकारी ढङ्ग पर रहने का कार्य भी सम्मिलित है।' कैलिफोर्निया इन्स्टिट्यूट ऑव टैक्नोलॉजी की गणना आजकल संसार की सर्व प्रमुख शिक्षा-संस्थाओं की कोटि में होती है। वहाँ के छात्र साहित्य, इतिहास, अर्थशास्त्र, दर्शन और धर्मशास्त्र जैसे सांस्कृतिक विषयों के अध्ययन में भाग लेने के साथ-साथ टैक्नोलॉजी के वैज्ञानिक आधार की शिक्षा प्राप्त करते हैं।

राबर्ट मिल्लिकान लोकतन्त्र के महान पुजारी थे। उन्होंने राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी के अन्तर्गत एक ऐसी राष्ट्रीय अनुसन्धान परिषद् संगठित करने के लिए आन्दोलन का नेतृत्व किया, जो प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान अमेरिकी वैज्ञानिक साधनों को समन्वित और संगठित कर सके। एक विज्ञान और अनुसन्धान विभाग की स्थापना की गयी, जिसके कार्यवाहक अधिकारी और भौतिक विज्ञान सम्बन्धी अनुसन्धान निदेशक, डा० मिल्लिकान नियुक्त हुए। उन्होंने पनडुब्बियों की टोह और उड्डयन के नवोदित क्षेत्रों में प्रारम्भिक अनुसन्धान-कार्यों का निदेशन किया।

धार्मिक प्रवृत्ति वाले वैज्ञानिक और दार्शनिक के रूप में, राबर्ट मिल्लिकान ने एक ऐसे विषय पर, जो उन्हें अत्यन्त प्रिय था, सार्वजनिक रूप से विचार व्यक्त करने में कभी हिचक नहीं दिखलायी। यह विषय था—'विज्ञान और धर्म का अन्तः-सम्बन्ध।' उनका आधारभूत दर्शन यह था 'धर्म की भावना और विज्ञान (अथवा ज्ञान) की भावना' ही वे स्तम्भ हैं, जो मानवीय कल्याण और समस्त मानवीय उत्थान को आश्रय प्रदान करते हैं। अमेरिकी वैज्ञानिकों के एक विशाल समुदाय के प्रतिनिधि के रूप में उनके दृष्टिकोण तथा उन यथार्थवादियों के दृष्टिकोण में, जो धर्म को विज्ञान के ठीक विपरीत एक अंधविश्वासी प्रवंचना मानते थे, विरोधाभास उल्लेखनीय है। मिल्लिकान जैसे दृष्टिकोण वालों के लिए धर्म और विज्ञान मानव जीवन, प्रेरणा और ज्ञान के दो विशिष्ट पहलू हैं, जो परस्पर सम्बद्ध होने के बावजूद एक दूसरे के अनुरूप नहीं। मिल्लिकान के शब्दों में :—

'विज्ञान का उद्देश्य, बगैर किसी राग-द्वेष या पूर्वार्जित धारणा के तथ्यों, नियमों और प्रकृति की प्रक्रियाओं की जानकारी को विकसित करना है। दूसरी ओर, धर्म का इससे भी महत्वपूर्ण कार्य मानवता की चेतनाओं, आदर्शों और अभिलाषाओं को विकसित करना है।'

डा० राबर्ट मिल्लिकान के अद्भुत उत्साह, अध्यवसाय और विश्वास का मूलभूत रहस्य यह था कि वह समस्त मानवों के कल्याण के लिए यथा-शक्ति सब कुछ कर दिखाने के तीव्र उत्साह से प्रेरित थे। उन्होंने लिखा, "इतिहास में मानवता के समक्ष कभी भी ऐसी स्थिति नहीं आई, जिसने जगतीतल के प्रत्येक मनुष्य को अपने आप से यह प्रश्न पूछने के लिए बाध्य किया हो कि 'मैं विश्व को श्रेष्ठतर बनाने में किस प्रकार योग प्रदान कर सकता हूँ' ?" भौतिक शक्तियों के सम्बन्ध में उन्होंने अनेक प्रकार से मानवता की सेवा की। यदि अन्य मनुष्य भी उनके श्रेष्ठतर जीवन सम्बन्धी स्वप्न में विश्वास करें और उसे साकार करने के लिए प्रयत्नशील हों, तो वे भी असीमित पुरस्कार प्राप्त करने में निश्चित रूप से समर्थ हो सकते हैं।

सार संकलन

१. माउण्ट एवरेस्ट पर विजय

माउण्ट एवरेस्ट पर अभियान करने वाली अमेरिकी पर्वतारोही टोली के दो सदस्य २ मई, १९६३ को दोपहर १ बजे विश्व की सबसे ऊँची चोटी पर पहुँचने पर सफल हो गए। माउण्ट एवरेस्ट पर अमेरिकी पर्वतारोही टोली का यह प्रथम अभियान था। संचार सम्बन्धी बाधाओं के कारण इस समय चोटी पर सफल आरोहण करने वाले अमेरिकियों के नामों का पता नहीं चल पाया है।

पर्वतारोहण के इतिहास में यह तीसरा अवसर है, जब माउण्ट एवरेस्ट पर विजय प्राप्त की गई है। पहली बार १९५३ में ब्रिटेन के एडमण्ड हिलेरी और शेरपा पथ-प्रदर्शक तेनसिंह नोर्की ने माउण्ट एवरेस्ट पर चढ़ने में सफलता प्राप्त की थी। १९५६ में दूसरी बार स्विस पर्वतारोही दल इस चोटी पर चढ़ने में सफल रहा।

२० पर्वतारोहियों वाली इस अमेरिकी पर्वतारोही टोली का नेतृत्व श्री नार्मल डाइहर्नफर्थ कर रहे हैं। २९,०२८ फुट ऊँचे हिममण्डित माउण्ट एवरेस्ट पर विजय प्राप्त करने के लिए किया गया यह १९वाँ प्रयास था।

अमेरिकी एवरेस्ट अभियान टोली की विजय का समाचार प्राप्त होने पर प्रेसिडेण्ट केनेडी ने एक वक्तव्य जारी करते हुए कहा—

'माउण्ट एवरेस्ट पर अमेरिकी अभियान की सफलता का समाचार सुनकर मुझे प्रसन्नता हुई है। सहिष्णुता और अनुभव की अन्तिम सीमाओं तक पहुँचने वाले ये अमेरिकी पर्वतारोही भी उन प्रख्यात ब्रिटिश और स्विस पर्वतारोहियों के दल में शामिल हो गए हैं, जो पहले यह महान् सफलता प्राप्त कर चुके हैं। मुझे यह विश्वास है, कि इन बहादुर देशवासियों का अभिनन्दन करने में समस्त अमेरिकी राष्ट्र मेरे साथ है।'

श्री डाइहर्नफर्थ, १९५२ में माउण्ट एवरेस्ट पर चढ़ाई करने वाले उस स्विस अभियान दल के सदस्य थे, जो चोटी से केवल ८०० फुट दूर रह गया था। एवरेस्ट पर अभियान के लिए संगठित इस प्रथम अमेरिकी पर्वतारोही टोली की क्षमता को आंकते हुए श्री डाइहर्नफर्थ ने अभियान पर रवाना होने के समय् यह कहा था कि सम्भवतः अमेरिकी पर्वतारोही टोली के कम से कम १५ पर्वतारोहियों द्वारा एवरेस्ट पर चढ़ने का प्रयास किया जाएगा। इन सभी पर्वतारोहियों को यूरोप, अलास्का, दक्षिण अमेरिका और हिमालय में पर्वतारोहण का अच्छा अभ्यास और अनुभव है।

पिछले अभियान दलों की तरह अमेरिकी अभियान दल का कार्य एवरेस्ट पर विजय प्राप्त करने तक ही सीमित नहीं था। उसका लक्ष्य और भी अधिक दीर्घकालीन है। एवरेस्ट पर आरोहण करने के उपरान्त अभियान दल एक स्थायी प्रतिष्ठान की स्थापना करने का इरादा रखता है, जो मानसिक दशा पर ऊँचाई के प्रभावों, हिमनद-विज्ञान, भूगर्भ-विज्ञान, अन्तरिक्ष-विज्ञान और भू-भौतिक-विज्ञान

इत्यादि के सम्बन्ध में अध्ययन और अनुसन्धान करेगा। एवरेस्ट पर विजय प्राप्त करने के अतिरिक्त अमेरिकी पर्वतारोही दो अन्य चोटियों—लोहात्से और नूत्से—पर भी चढ़ने का प्रयास करेगी।

काफ़ी ऊँचाई का मनुष्य के मन और शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है और जीवन के अस्तित्व के लिए आवश्यक न्यूनतम परिस्थितियों में प्राणी किस प्रकार जीवित रह सकता है, इस पर भी टोली के वैज्ञानिकों द्वारा व्यापक वैज्ञानिक अनुसन्धान किया जाएगा। इस प्रकार के अध्ययन और अनुसन्धान से प्राप्त जानकारी अन्तरिक्ष के अनुसन्धान में बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।

आरोहण के उपरान्त यह अमेरिकी पर्वतारोही टोली भंग नहीं की जाएगी, बल्कि इससे ही एक स्थायी माउण्ट एवरेस्ट फाउण्डेशन की स्थापना की जाएगी, जिसमें तीन डाक्टर, एक मनोविज्ञान-शास्त्री और एक कैमरामैन शामिल होगा।

स्विटजरलैण्ड में जन्मे ४४ वर्षीय श्री डाइहर्न-फर्थ सान्ता मोनिका, कैलिफोर्निया में एक चलचित्र निर्माता हैं। वह हिमालय और अलास्का में अन्वेषण कार्य करने वाली ५ अन्य टोलियों का नेतृत्व कर चुके हैं।

अमेरिकी अभियान टोली के उपनेता डा० विलियम ई० सिरी कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय (बर्कले) में मनोविज्ञान-शास्त्री के रूप में कार्य करते हैं।

हिमनदों की उत्पत्ति और रचना से सम्बन्धित विज्ञान का अध्ययन मिशिगन स्टेट यूनिवर्सिटी के भूगर्भ विज्ञान विषय के प्रोफेसर डा० मेनार्ड एम० मिलर कर रहे हैं।

'नेशनल जियोग्राफिक' पत्रिका के सम्पादक-मण्डल के एक सदस्य श्री बैरी सी० बिशप अनुसन्धान कार्यक्रम और चोटी पर आरोहण करने के प्रयास में भाग ले रहे हैं। उनका एक मुख्य कार्य २७,५०० फुट की ऊँचाई पर सौर-विकिरण की घनता की माप करना है। इसके पूर्व पृथ्वी पर इतनी ऊँचाई पर सौर-विकिरण की घनता का माप अन्य किसी वैज्ञानिक ने नहीं की है। हिमालय में आने का श्री बिशप का यह दूसरा अवसर है। १९६०-६१ में सर एडमण्ड हिलेरी के नेतृत्व में जो हिमालय अभियान दल आया था, श्री बिशप उसके अधिकृत हिमनद विज्ञान-विशेषज्ञ और मौसम विशेषज्ञ थे। अमेरिका की नेशनल जियोग्राफिक सोसाइटी ने—जिसने अमेरिकी एवरेस्ट अभियान टोली की सहायता की है—श्री एडमण्ड हिलेरी के नेतृत्व में अनुसन्धान कार्य करने वाले उक्त हिमालय अभियान दल की भी सहायता की थी।

जनवरी, १९६३ में भारत के लिए रवाना होने के पूर्व अमेरिकी अभियान दल के सदस्य सितम्बर, १९६२ में माउण्ट रेनर (वाशिंगटन) में एकत्र हुए थे। यहाँ २ सप्ताह तक अभियान दल के सदस्यों ने पर्वतारोहण का अभ्यास किया, आरोहण उपकरण तथा वैज्ञानिक यन्त्रों की परीक्षा की, एक दूसरे के निकट सम्पर्क में आए और एवरेस्ट पर चढ़ाई करने के लिए अपने को तैयार किया।

अमेरिकी एवरेस्ट अभियान टोली के उपकरणों में विशेष प्रकार का ऐसा हल्का आक्सीजन सूट भी शामिल है, जिसका उपयोग अमेरिकी अन्तरिक्ष-यात्रियों ने अपनी उड़ान के समय किया है।

इस अमेरिकी एवरेस्ट अभियान टोली के साथ ३० शेरपा पथ-प्रदर्शक तथा ९०० कुली हैं। चोटियों के क्षेत्र में टोली द्वारा लगभग २९ टन वजन का साज-सामान पहुँचाया गया।

अमेरिकी एवरेस्ट अभियान टोली का अग्रिम दस्ता जनवरी माह के अन्त में काठमाण्डू पहुँचा। शेष सदस्य फरवरी में वहाँ पहुँचे।

नेपाल में शान्ति-दल के उपनेता डा० विलियम अनसोल्ड उस पर्वतारोही टोली के आरोहण-नेता नियुक्त किए गए, जिसे वस्तुतः चोटी पर पहुँचने का प्रयास करना था।

अभियान दल ने लगभग उसी मार्ग का अनुसरण किया जो उसके पूर्ववर्ती स्विस और ब्रिटिश दलों द्वारा १६५२ और १६५६ में तथा भारतीय दल द्वारा १६६२ में अपनाया गया था। अभियान दल २० फरवरी को काठमाण्डू से नामचा बाजार के लिए रवाना हुआ।

शेरपाओं का नेतृत्व कई अभियानों के अनुभवी शेरपा पथ-प्रदर्शक पासांग फूटा ने ग्रहण किया।

इसके पूर्व, एवरेस्ट पर चढ़ने के अन्तिम प्रयास मई माह के अन्त में किए गए थे। अमेरिकी अभियान दल ही पहला दल है, जिसने मई माह के प्रारम्भ में ही चोटी पर चढ़ाई करने की योजना बनाई थी।

अमेरिकी एवरेस्ट अभियान दल को एक दुर्भाग्य का भी सामना करना पड़ा। यह दुर्भाग्य था एक दुर्घटना में २७ वर्षीय श्री ब्रीटेनबाच की मृत्यु। शनिवार, २३ मार्च को दोपहर दो बजे जब कि अभियान दल खोम्बू गाँव से आगे निकल कर एवरेस्ट के दक्षिणी तल के निकट पहुँच रहा था, विशाल हिमराशि टूट कर गिरी और श्री ब्रीटेनबाच उसमें दब गए। वह उस समय मृत्यु को प्राप्त हुए, जबकि वह पिछले दिन दल द्वारा खोजे गए मार्ग को सुधारने का प्रयास कर रहे थे। उनका शरीर प्राप्त करने के सारे प्रयास छोड़ने पड़े, क्योंकि हिमराशि बहुत अधिक थी।

श्री लूथर जर्सटेड, रिचर्ड पोनाल और नामा तेनसिंग ने अप्रैल के तीसरे सप्ताह तक एवरेस्ट के दक्षिणी ढलान पर २६,००० फुट की ऊँचाई पर कैम्प न० ५ स्थापित किया। यह पहला अवसर था जबकि वर्ष में इस समय में इतनी ऊँचाई पर पहुँचने में सफलता प्राप्त की गई थी। इसके उपरान्त २७,८०० फुट की ऊँचाई पर कैम्प न० ६ स्थापित करने की तैयारियाँ शुरू हो गयीं। २६,०२८ फुट ऊँची एवरेस्ट की चोटी पर चढ़ने का अन्तिम प्रयास इसी कैम्प न० ६ से ही किया जाना था।

श्री डाइहर्नफर्थ का कहना है कि इस अभियान से व्यक्तिगत रूप से किसी को लाभ नहीं पहुँचेगा। लेखों, भाषणों तथा अभियान के फलस्वरूप सुलभ अन्य वस्तुओं अथवा जानकारी से प्राप्त होने वाली समस्त धनराशि स्थायी अमेरिकी एवरेस्ट प्रतिष्ठान के कोष में जमा कर दी जाएगी। इस प्रतिष्ठान की स्थापना संसार के सभी ऊँचे पर्वतीय क्षेत्रों में अनुसन्धान-कार्यों को प्रोत्साहन देने के लिए की गई है। यह एक निर्लाभ वैज्ञानिक एवं शैक्षणिक संस्था के रूप में कार्य करेगा।

अमेरिकी एवरेस्ट अभियान का आयोजन करने में नेशनल जियोग्राफिक सोसाइटी के अतिरिक्त जिन अनेक अमेरिकी वैज्ञानिक संस्थाओं ने योग प्रदान किया है, उनमें यू० एस० नेशनल साइंस फाउण्डेशन तथा कई सरकारी एजेन्सियाँ भी शामिल हैं। दर्जनों अमेरिकी व्यावसायिक फर्मों और व्यक्तियों ने पर्वतारोहण-उपकरण, परीक्षण-उपकरण, खाद्य-सामग्री, चिकित्सा-सामग्री तथा वित्तीय सहायता सुलभ की है।

२. मंगल ग्रह पर जीवन के अस्तित्व का पता

अमेरिकी वैज्ञानिक फरवरी, १६६३ से मंगल ग्रह के अवरक्त (इन्फ्रा-रेड) चित्र उतारने के लिए एक ऐसे अद्भुत गुब्बारे का उपयोग करने के सम्बन्ध में गम्भीरतापूर्वक विचार कर रहे हैं, जो पृथ्वी से १५ मील की ऊँचाई तक पहुँच कर अपने तीन टन वजनी शक्तिशाली दूरवीक्षण यन्त्र से मंगल ग्रह तथा अन्य ग्रहों और नक्षत्रों का सूक्ष्म निरीक्षण करेगा। तीन फुट के दर्पण से युक्त यह टेलिस्कोप दूरवीक्षण यन्त्र हीलियम गैस से भरे गुब्बारे में पूरी एक रात आकाश में रहेगा।

अमेरिकी वैज्ञानिकों ने इस योजना को 'स्ट्रैट-स्कोप-२' का नाम दिया है। पृथ्वी के वायुमण्डल में इतनी ऊँचाई से मंगल ग्रह पर जीवन और उस

से सम्बन्धित वस्तुओं के अस्तित्व का पता लगाने की दिशा में मानव का यह सर्वप्रथम प्रयास होगा।

'यू० एस० ऑफिस ऑव् नैवल रिसर्च' इस योजना के संचालकों में से एक है। इसका यह दृढ़ विश्वास है कि इस अनुसन्धान परीक्षण के फल-स्वरूप ज्योतिष-विज्ञान में एक क्रान्ति का सूत्रपात हो सकता है। योजना को क्रियान्वित करने में योग देने वाली दो अन्य अमेरिकी एजेन्सियों के नाम हैं: नेशनल साइंस फाउण्डेशन (राष्ट्रीय विज्ञान प्रतिष्ठान) और नैसा (राष्ट्रीय उड्डयन एवं अन्तरिक्ष प्रशासन)।

शक्तिशाली दूरवीक्षण यन्त्र से युक्त गुब्बारों द्वारा १९६३ के उत्तरार्द्ध में तथा उसके उपरान्त भी चन्द्रमा, नक्षत्रों तथा आठ अन्य ग्रहों के चित्र लेने का कार्य जारी रहेगा। यह पहला अवसर होगा जब कि ग्रहों के चित्रों से उनकी रचना और धरातल इत्यादि के बारे में अधिक विस्तृत और स्पष्ट जानकारी प्राप्त हो सकेगी। चूँकि गुब्बारे में फिट विशालकाय टेलिस्कोप पृथ्वी के ९६ प्रतिशत वायुमण्डल के परे तक पहुँच जाएगा, अतएव उसके द्वारा खींचे जाने वाले चित्र पृथ्वी स्थित सर्वाधिक शक्तिशाली दूरवीक्षण यन्त्रों द्वारा खींचे गए चित्रों की अपेक्षा तीन गुना अधिक स्पष्ट होंगे। 'स्ट्रैट-स्कोप-२' द्वारा सबसे पहले मंगल ग्रह का अध्ययन किया जाएगा, क्योंकि फरवरी और मार्च में यह ग्रह पृथ्वी से सर्वाधिक निकट रहता है। इन दिनों यह ग्रह पृथ्वी से इतना अधिक चमकदार दिखाई पड़ेगा, जितना कभी दृष्टिगोचर नहीं होता। इसके उपरान्त वह पृथ्वी से लाखों मील दूर हटता जाएगा। लाखों मील दूर हट जाने के उपरान्त १९६५ में वह पुनः पृथ्वी की ओर वापस लौटेगा।

'स्ट्रैटस्कोप-२' द्वारा मंगल ग्रह के जो अति-लाल चित्र उतारे जाएँगे उनके विश्लेषण से वैज्ञानिक पहली बार इस सम्बन्ध में अत्यन्त महत्व-पूर्ण सूत्र प्राप्त कर सकेंगे। मंगल ग्रह के वायुमण्डल में जलीय वाष्प कितने परिमाण में मौजूद है?

यही नहीं, इन चित्रों की सहायता से वैज्ञानिक इस बात का भी पता लगाने में समर्थ होंगे कि मंगल ग्रह के वायुमण्डल में कार्बन मोनो आक्साइड, कार्बन डाइ-आक्साइड तथा अन्य गैसीय तत्व कितने परिमाण में मौजूद हैं। यदि वहाँ मीथेन तथा अन्य इसी प्रकार की गैसों के अस्तित्व का पता चलता है, तो उससे यह मालूम किया जा सकता है कि क्या मंगल ग्रह पर पृथ्वी के ढंग के जीवन का अस्तित्व सम्भव है?

इस योजना पर जो वैज्ञानिक कार्य कर रहे हैं, उनमें एक हैं केलिफोर्निया विश्वविद्यालय के डा० कार्ल सागन। उनका दृढ़ विश्वास है कि मंगल ग्रह निवास करने योग्य है। 'स्ट्रैटस्कोप-२' योजना को मूर्त रूप देने का अधिकांश श्रेय प्रिंस्टन विश्व-विद्यालय के 'ज्योतिष विभाग' के डा० मार्टिन स्वार्ज चाइल्ड को है। उनका जन्म पोट्सडम (जर्मनी) में तथा लालन-पालन गोयरिंगटन में हुआ था। यहीं से उन्होंने पी० एच-डी० की डिग्री प्राप्त की। इसके उपरान्त १९३६ में उन्होंने ओस्लो विश्व-विद्यालय (नार्वे) के एक रिसर्च फेलो के रूप में अध्ययन किया। तदुपरान्त दूसरे ही वर्ष वह अमेरिका चले गए।

१९५७ और १९५९ में उन्होंने ही 'स्ट्रैटस्कोप-१' और जुलाई, १९६२ में 'स्ट्रैटस्कोप-२' की उड़ानों का संचालन किया।

'स्ट्रैटस्कोप—२' की नई प्रथम उड़ान पूर्वी टैक्सास के समतल क्षेत्र में पैलस्टाइन कस्बे के निकट स्थित नवीन वैज्ञानिक बैलून उड्डयन केन्द्र से की जाएगी। इस स्टेशन पर उड़ान करने की सुविधाएँ सम्पूर्ण वर्ष सुलभ रहती हैं। स्टेशन का संचालन 'नेशनल सेण्टर फार एटमौस्फियरिक रिसर्च' (वायुमण्डलीय अनुसन्धान सम्बन्धी राष्ट्रीय

केन्द्र) द्वारा किया जा रहा है। इस केन्द्र का कार्यालय कालोराडो में स्थित है। वस्तुतः यह केन्द्र एक प्रकार की आधारभूत अनुसन्धान परीक्षणशाला है, जिसका संचालन राष्ट्रीय विज्ञान प्रतिष्ठान द्वारा प्रदत्त एक ठेके के अन्तर्गत अमेरिका के १४ बड़े विश्वविद्यालय मिल कर करते हैं। इनमें मेसाचूसेट्स इंस्टिट्यूट औव टैक्नोलोजी, यूनिवर्सिटी औव् शिकागो, और जौन हौपकिन्स विश्वविद्यालय भी शामिल हैं।

इस बैलून-स्टेशन का उपयोग वे सभी वैज्ञानिक कर सकते हैं, जिनको बैलून उड़ाने के सम्बन्ध में अनुभव प्राप्त हैं। 'स्टेशन' द्वारा उन्हें टैक्निकल सहायता और क्षेत्रीय सेवाएँ सुलभ की जाती हैं।

किसी दिन, जब मौसम अच्छा और आसमान साफ होगा तथा सभी अनुसन्धानकर्ता और आवश्यक उपकरण एकत्र होंगे, तो निम्न योजना क्रियान्वित की जाएगी :

७५ फुट लम्बा बैलून निकाल लिया जाएगा तथा टैक्निशियन उसमें गैस भरना प्रारम्भ कर देंगे। यदि हवा की गति में बहुत अधिक वृद्धि हो जाती है अथवा आसमान पर बहुत अधिक बादल छा जाते हैं तो टैक्निशियन अपना कार्य अगले दिन के लिए स्थगित कर देंगे।

गुब्बारे में पर्याप्त हीलियम गैस भर देने के उपरान्त, टैक्निशियन उसे धीरे-धीरे १,०५० फुट लम्बी डोरी के सहारे धीरे-धीरे ऊपर उठने देंगे। यह लांच बैलून उस मुख्य बैलून (गुब्बारा) को ऊपर खींचेगा, जिसमें विशालकाय दूरवीक्षण यन्त्र तथा अन्य आवश्यक उपकरण सन्नद्ध होंगे।

यदि ५ बजे शाम तक मौसम सम्बन्धी भविष्यवाणी अनुकूल रही तो टैक्निशियन पूरे गुब्बारे को आकाश में उन्मुक्त कर देंगे। गुब्बारे समेत सभी उपकरणों का कुल वजन ७ टन होगा।

यह बैलून ८०० फुट प्रति मिनट की गति से आकाश में उठेगा। ४ हजार फुट की ऊँचाई पर पहुँचने पर मुख्य बैलून के अन्दर हीलियम गैस बढ़ने लगेगी। यह गैस उस समय तक बढ़ती रहेगी, जब तक मुख्य बैलून का व्यास २३० फुट तक नहीं पहुँच जाता। एक ट्रेकिंग एयर प्लेन बैलून का अनुसरण करेगा और इसे १५ मील से कुछ अधिक ऊँचाई पर कायम रखने के लिए आवश्यक संकेत देगा।

भूमि पर एक चलते-फिरते नियन्त्रण केन्द्र (जो एक ट्रक पर होगा) में उपस्थित ज्योतिष विज्ञान-शास्त्री पहले टेलिस्कोप पर फिट एक मामूली टेलिविजन कैमरे को किसी पूर्व-निर्धारित नक्षत्र को अपना लक्ष्य बनाने के लिए संकेत देंगे। इसके उपरान्त बड़ा टेलिस्कोप और सूक्ष्म टेलिविजन कैमरा उस नक्षत्र को अपना लक्ष्य बनाएगा। एक वैज्ञानिक एक बटन दबाएगा और टेलिस्कोप पूरी तौर से नक्षत्र के ऊपर केन्द्रित हो जाएगा। इसके उपरान्त वैज्ञानिक दूरगामी नियन्त्रण प्रणाली उपयोग कर अंग्रेजी शब्द 'एल' के आकार के टेलिस्कोप को किसी दूसरे नक्षत्र पर केन्द्रित कर देगा। इसके उपरान्त टेलिस्कोप का मुख शीघ्र ही मंगल ग्रह की ओर हो जाएगा और वह उसके इन्फ्रा-रेड (अति-लाल) चित्र भी उतारेगा।

तुलना के लिए साथ ही चन्द्रमा के भी कुछ चित्र उतारे जायेंगे। यदि सब कुछ ठीक-ठाक रहा तो टेलिस्कोप का उपयोग उसी रात शुक्र-ग्रह के चित्र उतारने के लिए भी किया जा सकता है।

टेलिस्कोप में मौजूद उपकरण इतने सही और ठीक हैं कि उससे १,००० मील की दूरी पर स्थित ६ इंच चौड़ी वस्तु को भी भली प्रकार देखा जा सकता है। टेलिस्कोप का क्वाटर्ज-नेत्र तो इतना सही और सूक्ष्मदर्शी है कि वह १,००० मील की दूरी पर स्थित दो बिन्दुओं को, जो एक दूसरे से केवल ३० इंच के फासले पर हों, बिल्कुल साफ-साफ पहचान सकता है।

नक्षत्रों का निरीक्षण इस तथ्य पर आधारित होता है कि प्रत्येक रासायनिक पदार्थ से जो प्रकाश निःसृत होता है उनकी 'वेव लेंथों' की व्यवस्था विशेष ढंगों पर होती है। वेव लेंथों का इन्फ्रा-रेड क्षेत्र दृष्टिगत प्रकाश के बाहर होता है अतएव वह आँख से दिखाई नहीं पड़ता। फिर भी, बैलून में विद्यमान उपकरणों से इस प्रकाश को ग्रहण किया जा सकेगा। ये उपकरण इस सम्बन्ध में प्राप्त सूचनाएँ रिकार्ड कर लेने के साथ-साथ उसे भूमि स्थित केन्द्र को भी प्रसारित करेंगे।

उषाकाल निकट आने पर टैक्निशियन बैलून को संकेत देंगे और इस संकेत के प्राप्त होते ही उससे हीलियम गैस बाहर निकलना प्रारम्भ हो जाएगी। पृथ्वी से एक मील की ऊँचाई पर पहुँचते ही बैलून का नीचे गिरना बन्द हो जाएगा। इस ऊँचाई पर वह उस समय तक रहेगा, जब तक 'कमाण्ड' हेलिकॉप्टर उस क्षेत्र में नहीं पहुँचता।

संकटकालीन स्थिति उपस्थित होने पर १०० फीट के दो पैराशूट टेलिस्कोप को सावधानी के साथ धरती पर उतार सकते हैं।

सामान्य परिस्थितियों में 'हेलिकॉप्टर' में मौजूद बैलून विशेषज्ञ बैलून की हीलियम गैस को उस समय तक बाहर निकालना जारी रखने का आदेश देंगे जब तक भूमि पर न उतर जाए। वैज्ञानिक इस बात का प्रयास करेंगे कि बैलून धीमी से धीमी गति से धरती पर उतरे ताकि टेलिस्कोप तथा अन्य उपकरणों को क्षति न पहुँचे।

इसके बाद के महीनों में अनुसन्धानकर्ता प्रथम उड़ान से प्राप्त आँकड़ों का विश्लेषण करेंगे और जटिल प्रणाली में और सुधार करेंगे। उन्हें आशा है कि अगस्त, १९६३ तक वे बैलून को दूसरी यात्रा के लिए तैयार कर लेंगे।

'स्ट्रैटस्कोप—२' की उड़ान से सम्बन्धित 'नैसा' वैज्ञानिक उन विधियों और उपकरणों की परीक्षा करेंगे, जिनका उपयोग परिक्रमागत ज्योतिष वेधशाला में किया जा सकेगा। इस प्रकार की एक उपग्रह-वेधशाला १९६४ में प्रक्षिप्त किये जाने की योजना है।

१९६०-७० के उत्तरार्द्ध में पृथ्वी से २२,५०० मील की ऊँचाई पर विशाल उपग्रह-वेधशाला स्थापित करने के लिए विशालकाय सैटर्न राकेट की आवश्यकता पड़ेगी।

३. चन्द्रमा का रंग—

अन्तरिक्ष में चन्द्रमा हमारा निकटतम पड़ोसी है।

धरती से दिखाई पड़ने वाले चन्द्र-तल का अध्ययन काफी अच्छी तरह किया गया है। फिर भी इस मामले में सर्वसम्मत उत्तर नहीं दिया जा सकता कि चन्द्रमा का तल कैसा है और चट्टानें किस प्रकार की हैं।

जैसा कि अनेक पर्यवेक्षणों से पता चल चुका है, चन्द्र-तल से प्रतिफलित होने वाला प्रकाश कुछ-कुछ हरे रंग का है। परन्तु दूरबीनों के पर्यवेक्षणों और वर्ण-फोटोमीटरी की नापों से पता चलता है कि चन्द्र-तल पर विभिन्न रंगों के क्षेत्र हैं। हलके रंग के पर्वतीय क्षेत्रों का रंग कुछ-कुछ लाल है, जब कि चन्द्र "सागर" के बड़े-बड़े गर्त या निचले हिस्से कुछ-कुछ हरे हैं।

ज्योतिर्विज्ञानविदों ने १७वीं सदी के अन्त में चन्द्र-तल का प्रथम विवरण प्रस्तुत किया था और चन्द्रमा के नक्शे बनाये थे। यद्यपि दूरबीन तब अपूर्ण ढंग की ही थीं, फिर भी तभी उन्होंने चन्द्र-तल के अलग-अलग रंगों का वर्गीकरण किया था। पूर्णिमा के चन्द्रमा के पर्यवेक्षणों के अनुसार वर्षा सागर नामक बड़े चन्द्र-गर्त की भूरी पृष्ठभूमि में विभिन्न रंगों के स्थान देखे गये थे। इनमें गहरे भूरे और कत्थई से लेकर हरे-भूरे और पीले-भूरे रंग तक थे। ज्योतिर्विदों ने उल्लेख किया कि ये

रंग कुछ धुंधले थे। परन्तु चन्द्रमा के कुछ क्षेत्रों के रंग पर्याप्त रूप से समझ में आते हैं। उदाहरण के लिए, उत्तरपूर्व के वलयाकार पर्वतों के बड़े क्षेत्र का बहुत चमकीला नारंगी रंग देखा जा सकता है। यह ऊबड़-खाबड़ पर्वतीय विस्तार कई किलोमीटर लम्बा है।

चन्द्र-मण्डल में अलग-अलग रंग कौन-कौन से हैं, इसकी जानकारी प्राप्त करने के लिए यूक्रेन जनतंत्र अकादमी के सदस्य निकोलाई बारावाशोव ने खारकोव राज्य विश्वविद्यालय की वेधशाला में दर्पण दूरबीन की सहायता से रंगीन फिल्म पर विधिवत् चित्र लिये। इस काम में सफलता मिली।

चन्द्र तल के विविध स्थानों में कुछ-कुछ हरे, लाल, पीले, गुलाबी, बैंगनी तथा दूसरे रंग साफ दिखाई पड़ते हैं।

इन रंगीन चित्रों से सिद्ध होता है कि यदि ठीक से व्यक्त (डेवलप) किया जाय, तो मामूली रंगीन फ़िल्म पर भी चन्द्रमा के अलग अलग रंगों को दिखाया जा सकता है।

चित्रों से पता चलता है कि लाल रंग सेरेनिटी सागर तथा दक्षिणी भाग के पर्वतीय क्षेत्रों में दिखाई पड़ता है। वर्षा सागर में कुछ-कुछ लाल और हरे रंग पाये जाते हैं। गेल्स महासागर में हरा रंग प्रधान है। चन्द्रमा के बीच में ज्यादा हरा रंग काफी बड़े क्षेत्र में देखा जाता है।

अनुसन्धान से पता चला है कि चन्द्र-तल के रंगों की तुलना धरती की काली ज्वालामुखी चट्टानों से की जा सकती है। सबसे अधिक साम्य लावा से होता है जिसके कण २ से ६ मिलीमीटर तक के होते हैं। ज्वालामुखियों की राख चन्द्रमा के "महाद्वीपों" के बदले चन्द्रमा के "सागरों" से मिलती-जुलती है।

यह अनुमान होता है कि चन्द्र-तल न बारीक धूल से और न पिघली हुई चट्टानों से ढँका है। चन्द्रमा पर जो लाल रंग दिखाई देता है, उसका कारण या तो यह हो कि जब ज्वालामुखी गैसें निकलीं, तब वे आक्सिजन गैस से मिल गयीं, या चन्द्रमा में विद्यमान पहले के घने वायुमण्डल के अवशेषों के प्रभाव से क्रमिक ऋतु प्रभाव का पड़ना।

४. चन्द्र-लोक की यात्रा—

अन्तरग्रहीय यात्रा का युग बिलकुल निकट आ गया है। आज कोई भी इस बात में सन्देह नहीं करता कि मनुष्य अन्ततः चन्द्रमा तथा सौर-मण्डल के अन्यग्रहों पर कदम रखेगा। मानव सहित अन्य ग्रहों की उड़ानों के सिलसिले में अनेकों वैज्ञानिक समस्याएं सामने आयेंगी, यथा अन्य ग्रहों के धरातल पर अपनी स्थिति को जानना। सचमुच चन्द्रमा तथा अन्य ग्रहों पर रास्ता न भूलने के लिए हमें किस चीज का सहारा लेना होगा – तारों का, कुतुबनुमा की सुई का, या शायद किन्हीं स्थानीय चिह्नों का?

प्रथम मानव सहित अन्तरिक्ष उड़ानों के बाद से स्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया है। वह समय बहुत दूर नहीं है जब स्थिति पता लगाने के लिए पृथ्वी पर विकसित विभिन्न तरीकों को अन्य ग्रहों पर भी प्रयुक्त किया जा सकेगा।

कल्पना कीजिये कि आप चन्द्रमा पर उतर गये हैं। अपने चारों ओर आप धूप में नहाये नुकीले चन्द्र-पर्वतों को देखेंगे। ये पर्वत जो छाया डालते हैं वे हमारी आँखों के लिए अत्यधिक तीखी और अत्यधिक काली होती हैं। चन्द्रमा का धरातल अत्यधिक खुरदरा है। चन्द्रमा का जो भाग पृथ्वी की ओर है, उसका दो-तिहाई हिस्सा पर्वत-मालाओं और ऊँचे-ऊँचे पर्वतों से ढका हुआ है जिनमें से कोई-कोई ८६ किलोमीटर ऊँचे हैं। चन्द्रमा के पर्वतों को वर्षा और हवा के क्षारणकारी प्रभावों का सामना नहीं करना पड़ता। वायुमण्डल, वर्षा और हवाओं के अभाव में चन्द्रमा का धरातल उस समय से ज्यों

का हयो है जब उसने जम कर ठोस रूप धारण किया था। पर्वतों के अतिरिक्त चन्द्रमा के धरातल की दूसरी विशिष्टता है उसकी विशाल धसकी हुई नीची जमीनें—"सागर" और "महासागर"। चन्द्रमा पृथ्वी से रुपहला दिखलायी देता है, किन्तु पास से यह केवल छल मात्र सिद्ध होता है। चन्द्रमा का धरातल उस पर पड़ने वाले प्रकाश के दशमांश से भी कम को परावर्तित करता है। पृथ्वी पर ऐसे प्रकाशीय गुणों वाली वस्तु काली या कम से कम गहरी-भूरी दिखायी देगी। चन्द्रमा हमें एक ज्योतिर्मय तश्तरी-जैसा इस कारण दिखायी देता है क्योंकि हम उसे एकदम अँधेरे आसमान की पृष्ठभूमि में देखते हैं। किन्तु चन्द्रमा की यात्रा करने वाले लोग लगभग एकदम अन्धकारपूर्ण धरातल पर चलेंगे।

चन्द्रमा पर राह भूलने से बचने के लिए सबसे पहले नक्शे की आवश्यकता होगी। ये नक्शे पृथ्वी की वेधशालाओं और स्वयंचालित अन्तरग्रहीय स्टेशनों से लिये गये अनेकों फोटो चित्रों के आधार पर तैयार किये जायेंगे। ये नक्शे चन्द्रमा के धरातल के बारे में सूक्ष्म से सूक्ष्म जानकारी प्रदान करेंगे।

इस्तेमाल से पहले नक्शे को सही ढंग से रखा जाना चाहिए। पृथ्वी पर, उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुव के कल्पित बिन्दु जिनसे होकर हमारे ग्रह के परिक्रमण की धुरी जाती है, स्थिति का पता लगाने के लिए "आधार चिह्न" का काम देती है। क्या चन्द्रमा पर भी ऐसे 'आधार चिह्न" हैं? ऐसा लगता है कि हैं। यद्यपि पृथ्वी की ओर सदा चन्द्रमा का एक ही पहलू रहता है किन्तु वह अपनी धुरी के चतुर्दिक एक परिक्रमा कोई ६४८ घंटों में पूरी कर लेता है और इस प्रकार उसके पास पृथ्वी के उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवों के तुल्य बिन्दु हैं। पृथ्वी के यात्री प्रायः ध्रुव तारे को देखते हैं जो पृथ्वी की परिक्रमण धुरी के विस्तार पर खगोलीय उत्तरी ध्रुव के निकट स्थित है। चन्द्रमा की परिक्रमण धुरी के विस्तार की दिशा कौन सी है? चन्द्रमा की धुरी का विस्तार ड्रैगन नक्षत्र और रावमाग के ध्रुव के निकट से गुजरेगा।

चन्द्रलोक के भावी यात्रियों को चन्द्रमा के आकाश पर इस नक्षत्र की स्थिति के बारे में उसी प्रकार आश्वस्त रहना होगा जिस प्रकार वे लघु सप्तर्षि में ध्रुव तारे की स्थिति के बारे में हैं। यह चीज इसलिए और भी अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि चन्द्रमा पर चुम्बकीय कुतुबनुमा बिलकुल बेकार सिद्ध होगा। सोवियत ल्यूनिक—२ ने चन्द्रमा पर चुम्बकीय क्षेत्र के और फलतः चुम्बकीय ध्रुवों के अभाव को प्रकट किया, किन्तु चन्द्रमा से तारे तो देखे ही जा सकते हैं। वहाँ वायुमण्डल के अभाव के कारण दिन में भी तारे साफ दिखलायी देते हैं।

चन्द्रमा से देखने पर, तारकीय गोलक हमारी पृथ्वी के मानदण्डों से देखने पर बहुत धीमी गति से घूमता है। इसके अलावा, चन्द्रमा के पृथ्वी की ओर वाले हिस्से पर यात्रा करने वाले यात्रियों का पथ-प्रदर्शन एक भव्य संकेत-दीप—स्वयं हमारी पृथ्वी करेगी, जो चन्द्र-गगन में एक विशाल नीली तश्तरी जैसी दिखायी देगी। पृथ्वी के चारों ओर तथा स्वयं अपनी धुरी पर घूमने की चन्द्रमा की प्रकृति ऐसी है कि पृथ्वी चन्द्रमा के धरातल के एक ही क्षेत्र पर लटकी रहती है। यह सच है कि पृथ्वी के चतुर्दिक चन्द्रमा की परिक्रमा की दीर्घवृत्तीय कक्षा, अन्य कारणों के अलावा चन्द्रमा के आवधिक "कंपन" को जन्म देती है जैसा कि पृथ्वी से दिखायी देता है और उसी तरह चन्द्र-गगन पर पृथ्वी की तश्तरी के कंपन को जन्म देती है। इस व्यापार को ध्यान में रखते हुए, चन्द्रलोक के यात्री अपनी स्थिति का पता लगाने के लिए पृथ्वी की तश्तरी पर पूरी तरह निर्भर कर सकेंगे।

साथ ही उनके पास एक और शक्तिशाली प्रकाश

दीप होगा—सूरज। चन्द्रमा पर सूरज का सहारा लेना, पृथ्वी की अपेक्षा अधिक सुविधाजनक होगा। इस प्रकार किसी जंगल में प्रवेश करते समय हम सूरज की स्थिति को नोट कर लेते हैं और अपनी दिशा की इसी के सहारे जाँच करते रहते हैं। चन्द्रमा से देखने पर, सूर्य बहुत धीमी गति से चलता है और इस कारण अपनी स्थिति का पता लगाने में बहुत आसानी रहती है।

चन्द्रमा के चारों ओर चक्कर काटने वाले रेडियो नेवीगेशन उपग्रहों की व्यवस्था की सम्भावना से भी इनकार नहीं किया जा सकता जो यात्री को स्वयमेव अपनी स्थिति का ज्ञान कराने में मदद देगी।

इस समय हम अन्तरग्रहीय मानव-सहित उड़ानों के युग के बिलकुल सन्निकट हैं और हमें पूरा विश्वास है कि भावी अन्तरिक्ष-यात्री ऐसे अच्छे दिशा-निर्देशक यंत्रों तथा साधनों का विकास कर लेंगे जो पृथ्वी पर उनके साथी यात्रियों द्वारा विकसित यन्त्रों और साधनों से किसी भी तरह कम नहीं होंगे।

५. सूरज, तारे और ज्योतिर्विद

तारे क्यों चमकते हैं और वे कितने समय तक जीवित रहते हैं? सूरज की ऊर्जा की क्या प्रकृति है? वह कितने समय तक ज्योतिर्मान रहेगा? ये तमाम प्रश्न, जिन्हें ज्योतिर्विदों से अक्सर पूछा जाता है, कदापि सरल नहीं हैं।

दीर्घकाल तक विज्ञान सूरज और तारों के विकिरण के कारणों के प्रश्न पर कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे सका। अभी हाल के दशकों में आणविक भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में नयी खोजों ने इस प्रश्न का उत्तर दे सकना सम्भव बनाया।

प्रयोगशालाओं में आणविक नाभिक के सूक्ष्म कणों के अध्ययन ने विकिरण के कारणों सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर सम्भव बनाया।

विकिरण का कारण

आणविक नाभिकों में अत्यधिक ऊर्जा सन्निहित रहती है जो आणविक नाभिक में कुछ सम्परिवर्तनों की दशा में निर्मुक्त की जा सकती है। आज भौतिकशास्त्री प्रयोगशालाओं में अणु-नाभिकों का रूप-परिवर्तन कर सकते हैं, एक रासायनिक तत्व को दूसरे में कृत्रिम रूप से बदल सकते हैं और इस प्रकार आणविक ऊर्जा को निर्मुक्त कर सकते हैं।

किन्तु सूरज और तारों के भीतर इससे भिन्न दशायें हैं जिनका हमें भौतिक विज्ञान प्रयोगशालाओं में सामना करना पड़ता है। सूरज और अधिकांश तारों के केन्द्र में तापमान डेढ़ से दो करोड़ अंश तक पहुँचता है, जबकि यहाँ पृथ्वी के धरातल पर वायु के दबाव की अपेक्षा करोड़ों गुना अधिक दाब होता है। यही कारण है कि तारकीय गैस उन तमाम गैसों से भिन्न होती है जिनका हमें ज्ञान है। यह सच है कि तारकीय गैस भी उन्हीं सूक्ष्म कणों से बनी होती है जिनसे पृथ्वी के समस्त पदार्थ निर्मित होते हैं। भौतिक विज्ञान के नियम पृथ्वी पर और हमारे चारों ओर के तारकीय जगत् पर समान रूप से लागू होते हैं। यही कारण है कि प्रयोगशालाओं में पदार्थ के गुणों के अध्ययन के द्वारा हम तारों की गहराइयों में चलने वाली प्रक्रियाओं का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

हाइड्रोजन की हीलियम में परिणति

तारों के केन्द्रीय भागों में अत्यधिक ऊँचे तापमान दिखलाते हैं कि तारकीय गैस के नन्हें से नन्हें कण अत्यधिक तेजी से चलायमान रहते हैं और चूँकि वहाँ पर चाप और, इस प्रकार, गैसों का घनत्व भी अत्यधिक ऊँचा होता है, इसलिए कणों की टक्करें अपरिहार्य होती हैं। जब वे आपस में टकराते हैं तो एक दूसरे के साथ अन्योन्य क्रियारत होते हैं, और आणविक केन्द्रक के पेचीदा रूपान्तरण, तथा-

कथित आणविक प्रक्रियाएँ, जन्म लेती हैं। फलस्वरूप सूरज तथा तारों की अँतड़ियों में मौजूद हाइड्रोजन एक अन्य तत्व—हीलियम में बदल जाती है। इसके फलस्वरूप आणविक ऊर्जा की निर्मुक्ति होती है, जो सितारों के लिए विकिरण का स्रोत बनती है।

भौतिक विज्ञान प्रयोगशालाओं में कृत्रिम रूप से प्राप्त की गयी आणविक प्रक्रियाओं के सूक्ष्म अध्ययन ने इस बात की पुष्टि की है कि सूरज तथा तारों की गहराइयों में आणविक ऊर्जा की निर्मुक्ति काफी पेचीदा ढंग से होती है। सिर्फ इतना ही नहीं होता कि चार हाइड्रोजन आणविक नाभिक मिल जाते हैं और एक हीलियम नाभिक का निर्माण कर देते हैं। यह परिणति कई बीच की प्रक्रियाओं से होकर गुजरती है जिनमें कार्बन तथा नाइट्रोजन के केन्द्रक प्रक्रिया को तीव्र बनाने वाले तत्वों की भूमिका अदा करते हैं।

आणविक रूपान्तरण केवल सूरज तथा तारों के केन्द्रीय भागों में ही नहीं होते। सूरज के धरातल के अध्ययन दिखलाते हैं कि सूरज के बाहरी स्तरों पर अस्थायित्वपूर्ण क्षेत्र प्रकट होते हैं जिनसे ऊर्जा के लघु उत्सर्जन होते रहते हैं—शायद विशेष आणविक प्रक्रियाओं के कारण ये क्षेत्र, नियमतः, सूर्य के धब्बों के चुम्बकीय क्षेत्र से और सूर्य के धरातल पर अन्य सक्रिय क्षेत्रों से सम्बन्धित सिद्ध होते हैं।

आजकल इन तमाम व्यापारों और ब्रह्माण्डीय किरणों की बढ़ती प्रखरता, वर्ण-मण्डलीय कौंधों, तथा सूर्य के पराबैंगनी विकिरण के बीच सम्बन्ध की पड़ताल की ओर विशेष बा रहा ध्यान दिया है। इसके साथ ही साथ, वेधशालाओं में तथा राकेटों और मानव-निर्मित कृत्रिम उपग्रहों की मदद से किये जाने वाले स्थलीय तथा अन्तरिक्षीय पर्यवेक्षणों का उद्देश्य हमें सूर्य के वायुमण्डल के अस्थायित्वपूर्ण क्षेत्रों में आणविक प्रक्रियाओं के कारणों का पता लगाने में मदद करना और साथ ही हमारे ज्योतिपुंज की गहराइयों में घटित होने वाले व्यापार के साथ उनके सम्बन्धों का पता लगाने में मदद करना है। यह बात भी उल्लेखनीय है कि कुछ अन्य सितारों के वायुमण्डलों में भी इसी प्रकार के व्यापारों का पता चला है।

इस प्रकार हमारा सूरज और अधिकांश सितारे एक प्रकार की विशाल 'आणविक प्रयोगशाला' हैं जहाँ हाइड्रोजन की हीलियम में परिणति और भारी परिमाण में आणविक ऊर्जा का उत्सर्जन हर क्षण होता रहता है।

किन्तु यहाँ एक और प्रश्न उठता है। यदि सूर्य के चमकने का कारण उसकी गहराइयों में हाइड्रोजन की हीलियम में परिणति है, तो यह स्वाभाविक है कि एक समय ऐसा अवश्य आयेगा जब सूर्य में हाइड्रोजन का समस्त भण्डार चुक जायगा।

सूरज के पास जो 'ईंधन' है वह कब तक चलेगा? क्या हमारे सामने यह खतरा मौजूद नहीं है कि सूरज—जो पृथ्वी पर जीवन का स्रोत है—अचानक गुल हो सकता है? इन प्रश्नों का उत्तर देना मुश्किल नहीं है। यह ज्ञात हो चुका है कि सूर्य का आधे से अधिक भाग हाइड्रोजन है। जिस दर से सूरज की गहराइयों में हाइड्रोजन हीलियम में परिणत होती है, वह भी ज्ञात है। इसलिए यह हिसाब लगाना आसान है कि अपने हाइड्रोजन भण्डार के बल पर सूरज आग की तरह कब तक चमकता रहेगा। यह भण्डार आगामी अरबों बरस तक चलेगा।

६. पैट्रोकैमिकल्स

'हमारे देश का जन्म अनुसन्धान के परिणामस्वरूप हुआ था, हमारा विकास अनुसन्धान के जरिये हुआ है और अनुसन्धान द्वारा ही हमारा जीवन है। अनुसन्धान के बिना हम निष्प्राण हो जायेंगे।' एक वैज्ञानिक ने एक उद्योग और प्रायः

असीम क्षेत्र वाले एक कारोबार के परिचायक एक शब्द की व्याख्या इसी प्रकार की है।

वह शब्द है पैट्रोकैमिस्ट्री और वह उद्योग है पैट्रो-कैमिकल पदार्थों के उत्पादन का, जो नये-नये पदार्थ और कृत्रिम वस्तुएँ तैयार करने की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है। और जहाँ तक कारोबार के क्षेत्र का सम्बन्ध है, उसमें मनुष्य के जीवन को अधिक सुविधा-जनक और उन्नत बनाने के लिए प्रायः हर प्रकार की आवश्यकता को पूरा करने का यत्न किया जाता है।

पैट्रो-कैमिकल पदार्थों के कारण ही, अमेरिकी लोग धोये जा सकने वाले ऐसे कपड़े पहनते हैं जो सिकुड़ते नहीं, ऐसी वस्तुएँ खाते हैं जिन्हें शायद कभी भूमि पर नहीं उपजाया जा सका और जो अधिक स्वादिष्ट होने के साथ-साथ देर तक खराब भी नहीं होतीं। इन पदार्थों के कारण ही, वे ऐसी मोटरगाड़ियों की सवारी करते हैं जो बिना किसी विघ्न-बाधा के अधिक अच्छा काम देती हैं, ऐसी फ़र्शों पर चलते और ऐसे फर्नीचर का उपयोग करते हैं जिनसे न तो शोर होता है और न जिन पर आग का असर होता है। अमेरिकी लोग इन पदार्थों द्वारा मच्छरों तथा गोबरैलों का विनाश कर सकते हैं, बीमारी का इलाज करने या उसकी रोकथाम के लिए दवा और विटामिन प्राप्त कर सकते हैं और अपने चेहरे को अधिक सुन्दर तथा अपने भोजन एवं कपड़ों को अधिक चमकदार बना सकते हैं।

पैट्रो-कैमिकल वे रासायनिक पदार्थ हैं, जिन्हें पूरी तरह या मुख्य रूप से पैट्रोलियम अथवा प्राकृतिक गैस से तैयार किया जाता है। वैज्ञानिक लोग तेल या गैस के छोटे-छोटे कणों को अलग करके और उन्हें पुनः नया रूप देकर न केवल प्राकृतिक पदार्थों जैसी वस्तुएँ बल्कि ऐसी वस्तुएँ भी तैयार कर सकते हैं जो प्राकृतिक रूप में नहीं पाई जातीं।

कुछ पैट्रो-कैमिकल पदार्थ अन्य स्रोतों से तैयार किये गये रासायनिक पदार्थों जैसे ही हैं। पैट्रोलियम से जो एथिल ऐलकोहल तैयार किया जाता है, वह वैसा ही मद्यसार है जैसा कि मुख्यतः शीरे को सड़ा कर तैयार किया जाता है। पैट्रोलियम से तैयार किया जाने वाला बैंजीन (दाग छुड़ाने का तेल) भी वैसा ही है जैसा कि कोलतार से तैयार किया जाने वाला बैंजीन।

अन्तर यह है कि पैट्रो-कैमिकल के रूप में रासायनिक पदार्थ ऐसी कच्ची सामग्री से तैयार किये जाते हैं जो अपेक्षाकृत सस्ती है और जिसका उपयोग विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था में बड़े पैमाने पर माल तैयार करने के लिए किया जा सकता है। यही कारण है कि आज अमेरिका में जितने मूल्य के रासायनिक पदार्थ तैयार किये जाते हैं उनमें आधे से भी अधिक पैट्रोलियम और प्राकृतिक गैस के हाइड्रोकार्बन से तैयार किये जाते हैं।

इस समय पैट्रोलियम से जिन रासायनिक पदार्थों का निर्माण किया जाता है उनकी संख्या ३००० से अधिक है। इनमें एसेटिलीन, एथिलीन, प्रोपीलीन, ब्यूटीलीन, ब्यूटैडायीन जैसी मूलभूत चीजों से लेकर ऐलकोहल, कृत्रिम रबड़ और प्लास्टिक जैसी चीजें हैं।

पैट्रो-कैमिकल पदार्थों में शायद सबसे अधिक उत्पादन एथिलीन का होता है। प्रतिवर्ष लगभग ६ अरब पौंड एथिलीन का प्रयोग प्लास्टिक पोलिएथिलीन, न जमने वाले बढ़िया किस्म के एथिलीन ग्लाइकोल, एथिल ऐलकोहल तथा अन्य बहुत सी वस्तुओं के निर्माण में किया जाता है।

पैट्रो-कैमिकल पदार्थों में दूसरा नम्बर शायद बैंजीन का है। पहले इस्पात के कारखानों में प्रयुक्त होने वाले ईंधन से बहुत बड़ी मात्रा में बैंजीन उपलब्ध हो जाता था। किन्तु अमेरिका में बैंजीन की माँग इतनी तेजी से बढ़ी कि अब बैंजीन का अधिकांश उत्पादन पैट्रोलियम-उद्योग द्वारा किया

जाता है। बैंजीन का उपयोग अनेक वस्तुओं के उत्पादन में होता है। इनमें एक नाइलोन भी है। दूसरी मुख्य वस्तु डोडेसिल-बैंजीन है, जिसका प्रयोग घरों में कीटमार दवा के रूप में किया जाता है।

दूसरे पैट्रो-कैमिकल पदार्थों में एनहाइड्रस एमोनिया का प्रयोग भी बड़े परिमाण में होता है। इससे किसान मक्का, कपास, चरी तथा गेहूँ की तिगुनी पैदावार कर सकता है।

अमेरिका में पैट्रोलियम और रासायनिक उद्योगों ने पैट्रो-कैमिकल पदार्थों का उत्पादन १६२० के बाद तब शुरू किया था, जब 'सिटीज सर्विस' तथा दो अन्य कम्पनियों ने पैट्रोलियम से पहली बार रासायनिक पदार्थ तैयार किये थे।

'सिटीज़ सर्विस' के अनुसन्धान-कर्ताओं ने पाइपलाइन को नष्ट होने से रोकने का हल ढूंढ़ते हुए एक ऐसी विधि खोज निकाली जिससे न केवल पाइप-लाइनों की रक्षा हो गई, बल्कि बहुत सा उपयोगी अवशिष्ट रासायनिक पदार्थ भी प्राप्त हो गया। इस विधि द्वारा बड़ी मात्रा में कृत्रिम मैथिल ऐलकोहल, एसिटैल्डिहाइड और फोरमल्डिहाइड तैयार करने के लिए टैलाएट (ओक्लाहोमा) में एक कारखाना खड़ा किया गया।

आगे बीस वर्षों में पैट्रो-कैमिकल उद्योग ने जो उन्नति की वह काफी तो थी पर असाधारण नहीं थी। इसके बाद, दूसरे विश्व-युद्ध के प्रभाव के कारण, पैट्रो- कैमिकल कारखानों का निर्माण बड़ी तेजी से हुआ और उनमें अमोनियम नाइट्रेट विस्फोटक द्रव्यों के लिए अमोनिया का, टी-एन-टी के लिए टोलूईन का और नकली रबड़ के लिए ब्यूटैडायीन तथा स्टाइरीन का उत्पादन किया जाने लगा। युद्ध के बाद भी पैट्रो-कैमिकल उद्योग उसी प्रकार उन्नति करता रहा। दूसरे विश्व-युद्ध के उपरान्त यह उद्योग तुरन्त ही बहुत फैल गया।

पिछले कुछ काल में प्रतिवर्ष ५०० नई-नई चीजें निकलती रही हैं। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

हमारे लिए : कपड़े (जूते के तले से ऊपर से लगाकर), शृङ्गार-सामग्री, साबुन, यात्रा-सामग्री, बाल घुंघराले बनाने का द्रव, फिल्म, खेल का सामान, दवाएँ और खिलौने।

हमारी कार के लिए : टायर-ट्यूब, जमाव रोकने का द्रव्य, गद्दियाँ-पर्दे, ब्रेक-फ्लूइड, प्लास्टिक के पुर्जे, रंग-रोगन व वार्निश, पैट्रोल के मिश्रण।

घरों के लिए : मकान बनाने का सामान, रंग-वार्निश, इनेमल, शीत-कारक द्रव्य, कपड़े कीटनाशक पदार्थ, तश्तरियाँ, सुवासक, विद्युत्प्रवाह-अवरोधक, विद्युत्-उपकरण, बर्तन, सजावट की चीजें, बिछावन, मोम, संरक्षक द्रव्य और जमाये हुए खाद्यों का लपेटन।

उद्योगों के लिए : चिकनाइयाँ, प्लास्टिक-आवरण, रँगने का मसाला, चिकने तरल पदार्थ, चिपकन, विलायक, कागज पर चढ़ाने के मसाले, छपाई की स्याही, कृत्रिम रबड़, प्लास्टिक और विस्फोटक पदार्थ।

खेतों और बगीचों के लिए : रासायनिक खाद, मिट्टी की किस्म सुधारने के द्रव्य, कीट-पतंगे और अनावश्यक घास-फूस नाशक द्रव्य।

नई-नई चीजों, नये रासायनिक द्रव्यों, नये प्रयोगों और नई-नई मंडियों को देखकर यह कहना अनुचित न होगा कि पैट्रो-कैमिकल उद्योग भविष्य में और भी अधिक फले-फूलेगा।

७. अन्तरिक्ष-अनुसन्धान और जनस्वास्थ्य

जब भी कोई अमेरिकी अन्तरिक्ष-यान-चालक अन्तरिक्ष में जाता है तो उससे साधारण मनुष्यों को भी स्वास्थ्य की दृष्टि से लाभ होता है।

हालांकि मानव की अन्तरिक्ष-उड़ान के कार्यक्रम को प्रारम्भ हुए अभी कुछ ही वर्ष हुए हैं, पर उससे डाक्टरों के पास चिकित्सा के लिए जाने वाले

सामान्य अमेरिकियों को अधिक अच्छी चिकित्सा का लाभ पहुँचने लगा है।

सबसे पहली बात तो यह है कि अन्तरिक्ष-यान-चालकों की हृदय की गति, श्वासगति और रक्तचाप मापने के लिए जो अत्यन्त लघु विद्युदाणविक यन्त्र बनाये गये थे उनसे अब अस्पतालों में और डाक्टरों के दवाखानों में भी काम लिया जाने लगा है। ये लघु उपकरण इतनी सही और निश्चित जानकारी देते हैं कि हृदय की गति के वास्तविक आँकड़ों को रेडियो या टैलिफोन द्वारा किसी दूसरे महाद्वीप के डाक्टरों के पास विश्लेषण के लिए भेजा जा सकता है। 'टैलस्टार' संचार-उपग्रह ने इलैक्ट्रो कार्डियोग्राफ के चित्र सम्प्रेषित किये हैं।

इसी प्रकार अन्तरिक्ष यात्रियों के लिए एक अत्यन्त लघु माइक्रोमिनियेचर ट्रान्समिटर और रिसीवर तैयार किया गया था। इसका उपयोग डाक्टरों द्वारा अपनी मोटरों या घरों से अस्पतालों, रोगियों या अपने कर्मचारियों को निर्देश भेजने के लिए किया जा सकता है। हाइड्राजीन के एक यौगिक का आविष्कार शुरू में प्रक्षेपणास्त्रों के द्रव-ईंधन के रूप में किया गया था, पर वह कई प्रकार के मानसिक रोगों और क्षय की चिकित्सा में लाभकारी सिद्ध हुआ है।

ब्रह्माण्ड किरणों के अध्ययन के फलस्वरूप कैन्सर की चिकित्सा में प्रगति हुई है।

अन्तरिक्ष-उड्डयन सम्बन्धी चिकित्सा के गवेषणा-कार्यों से नवीनतम डाक्टरी तकनीकी सूचनाओं को जमा रखने और पुनः प्राप्त करने की प्रबन्ध-व्यवस्था में भी बहुत प्रगति हुई है। स्वचालित यन्त्रों से और छिद्र वाले कार्ड बनाने की विशिष्ट प्रणाली से सारी डाक्टरी सूचनाएँ अधिक अच्छी तरह रखी जा सकती हैं और उन्हें ढूँढ़ने में समय की बचत होती है।

अन्तरिक्ष-अनुसन्धान कार्यक्रम के फलस्वरूप फाइबरग्लास यन्त्र का एक नया प्रयोग निकला है। इसे दाँतों के आपरेशन की प्रक्रिया में मुख में रखा जाता है, जिससे आपरेशन को अधिक स्पष्टता से देखा जा सकता है।

अमेरिकी वायुसेना के सर्जन-जनरल मेजर जनरल ओलिवर के० नीस ने अभी हाल में पनामा नहर-क्षेत्र के एक डाक्टरी सम्मेलन में कहा था : हम डाक्टरों ने अन्तरिक्ष-उड्डयन सम्बन्धी चिकित्सा के सम्बन्ध में जो कुछ भी सीखा है उससे हमारे असैनिक रोगियों को भी लाभ होगा और इस अनुसन्धान-कार्य की जानकारी अमेरिकी सरकार खुले तौर पर संसार के लोगों को दे रही है जिससे सभी मनुष्य अधिक सुखी बन सकें।

अब विकिरण-प्रतिरोधक एक ऐसी ओषधि तैयार की जा रही है जिसे एक्स-रे आदि करने से पूर्व रोगियों को खिलाया जा सके।

मानसिक स्वास्थ्य के लाभों पर भी ध्यान दिया जा रहा है। हरेक अन्तरिक्षयान-चालक को अधिक तनाव का सामना करना पड़ता है, इसलिए डाक्टरों को अब यह पता चलता जाता है कि लोग अपने काम-काज और पारिवारिक जीवन में मानसिक परेशानियों और उनके दुष्प्रभावों का किस प्रकार सामना कर सकते हैं।

इस विषय में अमेरिकी वायुसेना के 'स्कूल औव् एयरोस्पेस मैडिसिन' के डा० लारेन्स ई० लैम्ब ने कहा है—

'यह स्पष्ट है कि गति-विधि के काल में व्यक्ति की स्थिति प्रकट करने वाली इस प्रकार की परीक्षाएँ और माप-जोख करने की विधियों का उपयोग औद्योगिक चिकित्सा-क्षेत्रों में भी लिया जायेगा तब और डाक्टर अपने रोगी के हृदय व श्वास की गतियों की मापजोख के आधार पर उन्हें यह बतला सकेंगे कि अमुक रोजगार जारी रखना उसके लिए ठीक होगा या नहीं।'

●●

विज्ञान वार्ता

१. नमक और उग्र रक्तचाप (लिन पूल)

भोजन में हम प्रतिदिन नमक का प्रयोग करते हैं, किन्तु क्या हमने कभी यह सोचा है कि उसका सम्बन्ध उग्र रक्तचाप से क्या है ? सामान्यतः वैज्ञानिक आजकल यह मानते हैं कि किसी न किसी रूप में नमक उग्र रक्तचाप से सम्बद्ध है।

उदाहरण के लिए, वे जानते हैं कि उग्र रक्तचाप से पीड़ित व्यक्तियों के आहार में प्रयुक्त नमक की मात्रा को कम कर देने से, बहुत से रोगियों का रक्तचाप कम हो जाता है।

तो, क्या इसका आशय यह है कि नमक का अत्यधिक प्रयोग उग्र रक्तचाप का कारण है ?

जोन्स हौपकिन्स के तीन चिकित्सा-वैज्ञानिकों ने हाल में नमक के स्वाद के सम्बन्ध में एक अनुसंधान कार्य पूरा किया है। उनका विश्वास है कि उनके अनुसन्धान के निष्कर्ष द्वारा इस धारणा की पुष्टि होती है कि नमक सचमुच उग्र रक्तचाप का एक कारण हो सकता है। स्मरणीय है कि उग्र रक्तचाप से अमेरिका में अनुमानतः १० लाख व्यक्ति पीड़ित हैं, और इन पीड़ितों में भी महिलाओं की संख्या पुरुषों की संख्या से दूनी है।

जोन्स हौपकिन्स चिकित्सा विश्वविद्यालय के इन तीनों अनुसन्धान-कर्ताओं—डा० लुई सी० लेसाग्ना, नोर्मा फालिस और लिओ टेट्रियाल्ट—ने सामान्य रक्तचाप वाले व्यक्तियों की तुलना में, उग्र रक्तचाप से पीड़ित रोगियों की नमक-आस्वादन क्षमता का परीक्षण किया।

इसके लिए, उन्होंने एक मेज पर प्यालों की पंक्तियाँ सजायीं। प्रत्येक पंक्ति में ४ प्याले रखे गये थे। इनमें से तीन प्यालों में डिस्टिल्ड वाटर रखा गया, जब कि चौथे प्याले में नमक या चीनी का घोल था। प्रत्येक व्यक्ति से अनुरोध किया गया कि वह एक प्याले में रखे गये द्रव पदार्थ को चखे, अपने मुँह को कुल्ली करके साफ कर ले और उसके बाद अगले प्याले के द्रव को चखे। जब वह एक पंक्ति के सभी प्यालों के द्रव पदार्थों का स्वाद ले लेता, तो उससे यह बताने के लिए कहा जाता था कि किस प्याले में नमक या चीनी वाला घोल है।

मीठे स्वाद को पहचानने की क्षमता में कोई विशेष अन्तर नहीं पाया गया। किन्तु नमक-आस्वादन सम्बन्धी परीक्षण में यह देखा गया कि उसे पहचानने के लिए अधिकांश सामान्य रक्तचाप वाले व्यक्तियों की अपेक्षा उग्र रक्तचाप वाले रोगियों को अधिक—३ गुने से ३० गुने तक—तेज घोल देना पड़ा। ऐसा करने पर ही उग्र रक्तचाप वाले रोगी उसके स्वाद को पहचानने में समर्थ रहे।

अपने निष्कर्षों के विषय में विचार करते हुए, जोन्स हौपकिन्स के वैज्ञानिकों की इस टोली ने कहा कि यह जानना अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि क्या उग्र रक्तचाप के रोगी अधिक नमक का उपयोग इसलिए करते हैं कि उनके मूत्र के साथ नमक अधिक मात्रा में शरीर से बाहर निकल जाता है, अथवा उनके उग्र रक्तचाप के साथ अत्यधिक मात्रा में नमक के उपयोग का सम्बन्ध केवल आकस्मिक है।

एक कल्पना यह है कि यदि वंश-परम्परा के कारण कोई व्यक्ति उग्र रक्तचाप से पहले ही से पीड़ित है, तो उसका रोग अधिक मात्रा में नमक का उपयोग करने से तीव्रतर हो उठता है। यह कल्पना एक अनुसन्धान के परिणामों पर आधारित है, जिस में यह देखा गया कि आहार में अधिक नमक का प्रयोग करने वाले लोगों में, कम नमक का प्रयोग करने वालों की अपेक्षा उग्र रक्तचाप का विकार अधिक था।

जोन्स होपकिन्स के वैज्ञानिकों का कहना है कि यदि यह धारणा सही है तो उग्र रक्तचाप से पीड़ित व्यक्ति अधिक नमक का उपयोग करेंगे, क्योंकि वे अन्य व्यक्तियों की भाँति नमक का आस्वाद प्राप्त नहीं कर सकते।

उनका कहना है कि ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि जिन रोगियों में नमक आस्वादन की क्षमता कम है, उनके परिवारों की जांच करके यह पता लगाया जाये कि उनके मां-बाप, भाई-बहन, अथवा पुत्र-पुत्रियों में भी इसी प्रकार की अस्वाभाविकता पाई जाती है या नहीं; उसके बाद ऐसे सामान्य रक्तचाप वाले व्यक्तियों की जांच की जानी चाहिए जिनके आस्वाद का स्वरूप उग्र रक्तचाप वाले रोगियों जैसा ही प्रतीत होता है।

२. कैंसरग्रस्त गिल्टियों के उपचार के लिए 'प्रतिद्रव्य'

अमेरिका में अनुसन्धान कार्य कर रहे एक पुर्तगाली वैज्ञानिक ने 'ल्यूकेमिया' तथा अन्य प्रकार के कैंसर रोगों के उपचार की दिशा में दो महत्वपूर्ण प्रगतियों की सूचना दी है।

उन्होंने एक नये प्रकार का 'गामा ग्लोबुलिन' तैयार किया है, जिसमें कैंसरग्रस्त गिल्टियों और 'ल्यूकेमिया' से संघर्ष करने वाले 'प्रतिद्रव्य' (एण्टीबाडीज) बहुतायत से पाये जाते हैं। गामा ग्लोबुलिन को ऐसे घोड़ों के रक्त से निकाला गया, जिन्हें कैंसर के रोगियों के शरीर से निकाले गये कैंसरग्रस्त तन्तुओं से रुग्ण कर दिया गया था। दूसरे, उन्होंने इस तथाकथित 'अत्यन्त-निरुद्ध' गामा ग्लोबुलिन की सुई ऐसे रोगियों में लूकेमिया और कैंसर के बढ़ाव को अस्थायी तौर पर रोक देने के लिए दी, जिनका रोग बहुत गम्भीर अवस्था में पहुँच चुका था।

इस वैज्ञानिक का नाम है डा० सर्जिओ द कारवाल्हो। वह क्लीवलैण्ड के डाक्टर्स हास्पिटल में प्रयोगशालाओं के सहायक निर्देशक और अनुसंधान विभाग के निर्देशक हैं। उन्होंने अपने अनुसन्धान के परिणाम की रिपोर्ट अमेरिकन कैंसर सोसायटी की पत्रिका, 'कैंसर', के सबसे हाल के अंक में प्रकाशित की।

उन्होंने इस अनुसन्धान के सिलसिले में ल्यूकेमिया के १५ रोगियों को नये गामा ग्लोबुलिन की सुई दी। सुई देने के बाद उनमें से १३ रोगियों के रोग की तीव्रता एक महीने से लेकर ३७ महीने तक क्षीण रही या दबी रही।

कैंसरग्रस्त गिल्टी से पीड़ित १५ या १६ रोगियों को भी इसकी सुई देने से लाभ हुआ। उनका रोग दो सप्ताह से लेकर ११ महीने तक दबा रहा। डा० कारवाल्हो ने बताया कि रोग के दबे रहने की अवस्था में, पीड़ा कम हो गयी थी। कैंसर के बढ़ाव के कारण पंगु हुए अंग अंशतः या पूर्णतः काम करने लगे थे। गिल्टियों की पीड़ा अंशतः या पूर्णतः बन्द रही।

इसके पूर्व इन रोगियों का विकिरणोपचार किया गया, उन्हें रासायनिक औषधियों तथा अन्य प्रकार की सहायता दी गयी, किन्तु वे सभी व्यर्थ सिद्ध हुईं। गामा ग्लोबुलिन की सुई देने से पूर्व उनमें से कितनों ही की दशा मरणासन्न थी।

जिन रोगियों पर परीक्षण किया गया, उन सभी का रोग बहुत गम्भीर अवस्था में पहुँच चुका था। परीक्षण के दौरान ल्यूकेमिया के सात रोगियों का

प्राणान्त हो गया। प्रतिद्रव्यों द्वारा कैंसर का निरोध चिकित्सा की एक नयी विधि है।

यह विधि मनुष्य की शारीरिक प्रणाली की इस विशेषता पर आधारित है कि ज्योंही शरीर के भीतर कोई नया रोगाणु या बाहरी तत्व प्रवेश करता है, त्योंही उसके भीतर अपने आप एक प्रक्रिया उत्पन्न होती है, जो उनका प्रतिरोध करने वाले प्रतिद्रव्यों को जन्म देती है।

डा० कारवाल्हो ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि कुछ लोगों में कैंसर-निरोधक प्रतिद्रव्यों को उत्पन्न करने की क्षमता नहीं होती। अतः उन्होंने कैंसर के रोगियों के शरीर से कैंसरग्रस्त तन्तु लेकर उनके द्वारा अन्यत्र घोड़ों में प्रतिद्रव्य उत्पन्न किये। उसके बाद उन्होंने रोगियों के शरीर में इन प्रतिद्रव्यों को प्रविष्ट किया।

डा० कारवाल्हो की आयु ४० वर्ष है। उन्होंने पुर्तगाल के लिस्बन विश्वविद्यालय से १९४७ में एम० डी० की उपाधि और १९५४ में चिकित्सा सम्बन्धी पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। वह १९५४ से डाक्टर्स हास्पिटल में कार्य कर रहे हैं।

३. पृथ्वी के भीतरी भाग का अध्ययन

इस बात की सम्भावना अब बहुत बढ़ गयी है कि अमेरिका के वैज्ञानिक पृथ्वी की पपड़ी का निर्माण करने वाले पदार्थों की खोज आसानी से कर सकेंगे। पपड़ी तक पहुँचने के लिए, बासाल्ट की कड़ी चट्टान में छिद्र करने के बजाय उन्हें अब सम्भवतः सर्पेण्टाइन चट्टान में छिद्र करना पड़ेगा, जो एक हरे रंग की चट्टान होती है। इस बात का पता प्वेर्टोरिको में हाल में हुई खुदाई से चला है। इस समय अमेरिका का राष्ट्रीय विज्ञान प्रतिष्ठान पृथ्वी की इस सबसे निचली परत के स्वरूप का पता लगाने के एक महान कार्य में संलग्न है। इसकी जानकारी महासागर के तल में से होकर पृथ्वी की पपड़ी में सूराख करने से चलेगा।

पिछले पतझड़ में किये गये एक प्रारम्भिक परीक्षण में प्वेर्टोरिको के पश्चिमी तट के निकट एक चट्टान के शिरो भाग में १००० फुट गहराई तक एक ड्रिल द्वारा छिद्र किया गया। ड्रिल में से होकर चट्टान का एक ऐसा टुकड़ा आया जो पूर्णतया सर्पेण्टाइन चट्टान था। इस खोज की सूचना हाल में प्रतिष्ठान द्वारा प्रकाशित एक रिपोर्ट में दी गयी। अन्य प्रमाणों से यह संकेत मिलता है कि प्वेर्टोरिको में मिली चट्टान सम्भवतः उन्हीं तत्वों से बनी है, जिनसे समुद्र का तला बना है।

प्रतिष्ठान ने कहा है कि इस धारणा की सत्यता तब तक प्रमाणित नहीं हो सकती, जब तक समुद्र के तल में ड्रिल द्वारा कोई गहरा छिद्र नहीं खोदा जाता "......यदि खुदाई में सर्पेण्टाइन चट्टान मिलेगी, तो सूराख बासल्ट चट्टान में की जाने वाली खुदाई की अपेक्षा अधिक जल्दी हो सकेगी।" कुछ लोगों का विश्वास है कि पृथ्वी की पपड़ी के बाद उसकी सबसे अन्तिम पर्त का निर्माण कोबाल्ट चट्टान ही करती है।

४. अदृश्य भा-रश्मियों द्वारा गोपनीय वार्ताओं का संचार

अब अदृश्य भा-रश्मियों द्वारा १० मील तक की दूरी वाले स्थानों के बीच दोनों ओर से गोपनीय बातचीत हो सकती है।

अमेरिका की केथिऔन कम्पनी ने हाल में एक ऐसे वहनीय संचारक यंत्र के निर्माण की घोषणा की, जो दूरवर्ती 'प्राइवेट लाइन' का निर्माण करने के लिए पेंसिल जैसी पतली लघु लाल किरण का प्रयोग करती है। आशा है कि यह यंत्र युद्ध, पुलिस की जाँच-पड़ताल तथा कितने ही अन्य प्रकार के कार्यों में बहुत उपयोगी सिद्ध होगा।

नया यन्त्र ११ पौंड वजनी है। यह प्रक्षेपणास्त्र-केन्द्रों, विस्फोट-केन्द्रों, प्रक्षेपण केन्द्रों तथा हवाई

अड्डों की, जहाँ विद्युदाणविक हस्तक्षेपों के कारण गम्भीर कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं, संचार-समस्याओं को सुलझा सकता है। यह पेट्रोलियम कम्पनियों को समुद्र तट से दूरी पर स्थित तेल के कुओं तक निजी संचार-सुविधा प्रदान कर सकता है। जंगल में काम करने वाले वन-विभाग के कर्मचारी, पर्वतशिखरों से सन्देश भेजने में इस का प्रयोग कर सकते हैं।

संचारक यन्त्र का प्रयोग दिन-रात किसी भी समय और किसी भी मौसम में हो सकता है। यह स्वर-लहरियों को लघु लाल रश्मियों में परिणत कर देता है और उन्हें गन्तव्य स्थान तक सम्प्रेषित कर देता है। संवाद ग्रहण करने वाले छोर पर एक दूसरा संचारक यन्त्र होता है, जो भा-रश्मि को मूल-ध्वनि में परिणत कर देता है।

सम्वाद को वहन करने वाली रश्मि-रेखा इतनी पतली होती है कि उसे बीच में ग्रहण करना या प्रतिरुद्ध करना सर्वथा असम्भव है।

५. भस्मीकरण यन्त्र

अमेरिका के आन्तरिक विभाग के अनुसन्धान-कर्ताओं ने एक सस्ते और आसानी से बन सकने वाले भस्मीकरण यन्त्र की डिजाइन तैयार की है, जो न्यूनस्तरीय रेडियोसक्रियता से दूषित ठोस पदार्थों को सुरक्षित ढंग पर जला कर भस्म कर सकता है।

इस यन्त्र में दाहक-कक्ष होता है, जिसमें सिर पर बने छिद्रों से बराबर हवा आती रहती है। भीतर दीवार के चारों ओर तीव्र गति से चक्राकार प्रवाहित हवा तल पर पहुँच जाती है, जहाँ वह जलाये जाने वाले पदार्थ से घुल-मिल जाती है। इस प्रकार दहन क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। कभी-कभी एक गैस-दाहक उपकरण से भी उसमें योग मिलता है।

व्यर्थ पदार्थों के जलते समय उत्पन्न गैसें दहन-कक्ष के सिरे पर लगी एक नलिका से होकर बाहर खींच ली जाती हैं। वहाँ वे एक पानी छिड़कने वाले यन्त्र द्वारा ठण्डी कर दी जाती हैं, उसके बाद उन्हें छनाई करने वाले दो यन्त्रों में से हो कर गुजरना पड़ता है, जिससे रेडियो-सक्रिय कणों के अवशेष भी एकदम छन जाते हैं और गैस पूर्णतया साफ हो जाती है। गैस को बाहर निकाल दिया जाता है और राख को, जहाँ अधिकांश रेडियो-सक्रियता संग्रहीत होती है, धातु के डिब्बों में भर कर कहीं दफनाया जा सकता है।

भस्मीकरण यन्त्र १३ फुट ऊँचा होता है और स्टेनलेस स्टील का बना होता है। यदि उसका प्रयोग करते समय उसमें कुछ रेडियो-सक्रिय कण चिपके रह जायँ, तो उन्हें हटाने के लिए उसे एसिड के घोलों से धोया जा सकता है। भस्मीकरण की क्रिया के दौरान यन्त्र के भीतर हवा के दबाव को बाहर की हवा के सामान्य दबाव से न्यूनतर कर दिया जाता है, ताकि अचानक रेडियो-सक्रिय राख बाहर न निकल सके।

६. वर्षा की बूँदों की गणना

क्या कभी आपने वर्षा की बूँदें गिनने का प्रयत्न किया है?

निस्सन्देह, यह एक कठिन काम है और आप इसे व्यर्थ भी कह सकते हैं। किन्तु न्यूयार्क विश्व-विद्यालय के इंजीनियरिंग कालेज के विचारशील वैज्ञानिकों की एक टोली ने एक ऐसा विद्युदाणविक यन्त्र तैयार किया है, जो ठीक यही कार्य सम्पन्न करेगा।

किन्तु वर्षा की बूँदों की गणना का प्रयोजन क्या है?

उड्डयन-विज्ञान के क्षेत्र में वैज्ञानिकों को जेट इंजिनों, अतिस्वन विमानों और राकेटों पर वर्षा के प्रभाव का निर्धारण करने के लिए वर्षा की बूँदों का आकार और उनकी संख्या जानने की आवश्य-

कता पड़ती है। जितनी ऊँचाई पर ये विमान उड़ते हैं, उतनी ऊँचाई पर अकेले वायु का प्रतिरोध ही अत्यन्त गम्भीर होता है। वर्षा की बूँदें गोली जैसी चोट कर सकती हैं। इसके अतिरिक्त, मौसम की भविष्यवाणी करने वाले वैज्ञानिक राडार द्वारा वायुमंडल में पानी का करने की विधि को परिपक्व करने के लिए वर्षा की बूँदों के आकार और उनकी संख्या की जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं। इसी प्रकार, फसलों वाली भूमि और मिट्टी के क्षरण पर वर्षा के प्रभाव का अध्ययन करने के लिए मिट्टी और कृषि सम्बन्धी अनुसन्धानकर्ताओं को भी इस प्रकार की जानकारी आवश्यक होती है।

न्यूयार्क विश्वविद्यालय में विकसित यन्त्र का नाम "आकार-निर्धारक एवं गणनाकारी यन्त्र' (साइजर एण्ड काउण्टर) है। यह एक इंच के १०० वें अंश के बराबर व्यास वाली बूँदों से लेकर उसके १२ गुने (१।८ इंच) तक के बराबर व्यास वाली बूँदों का माप करता है। यह वर्षा की बूँदों को आकार के अनुसार १४ भिन्न-भिन्न श्रेणियों में विभक्त करता है और घोर वर्षा के समय भी प्रति मिनट १,००० तक की संख्या में उनकी गणना कर सकता है। यह यन्त्र भा-रश्मि का प्रयोग करता है, जिसे यह वर्षा के बीच से होकर प्रक्षिप्त करता है। यह वर्षा की बूँदों के प्रतिबिम्बों को मापता और गिनता है। वस्तुतः इसमें एक दूसरे के नीचे क्रम से १४ झरोखे बने होते हैं। ये झरोखे एक-दूसरे से २।१० मिलीमीटर से लेकर ३।। मिलीमीटर तक की भिन्न-भिन्न दूरियों द्वारा पृथक होते हैं। ये झरोखे वस्तुतः लुसाइट की पट्टियों के किनारे होते हैं। लुसाइट एक प्लास्टिक है, जो आसानी से प्रकाश को सम्प्रेषित कर सकता है। जब कभी वर्षा की कोई बूँद ठीक इतने बड़े आकार की होती है कि वह दो झरोखों के बीच समा सके, तब एक गणना हो जाती है। चूँकि झरोखे एक दूसरे से सुनिर्धारित दूरी द्वारा पृथक होते हैं, अतः बूदों को एक साथ ही गिनना और मापना सम्भव हो जाता है।

गणना और माप के परिणाम एक छिद्रित गणक टेप पर अंकित हो जाते हैं, जिसे बाद में एक गणक यन्त्र पर चढ़ा कर बूँदों की संख्या और आकार का विश्लेषण कर लिया जाता है। यह विश्लेषण अनुसंधानकर्ताओं द्वारा प्रयुक्त होता है।

शेषांश पृष्ठ १०४ का

यह एमीनो-अम्ल नाइट्रोजन-कार्बनिक-यौगिक समूह है। कोशिका में उपस्थित प्रोटीन का निर्माण भी इसी इकाई से होता है। अतः प्रोटीन पर जीनों के अच्छे अथवा बुरे प्रभाव कोशिका नाभिक में उपस्थित न्यूक्लिक अम्ल (जिसे जीव वैज्ञानिक "Courier ribonucleic Acid" कहते है और जीन्स की स्विचबोर्ड है) के द्वारा प्रोटीन उत्पादक राइबोजोम्स को प्रभावित करने से उपस्थित होता है। परन्तु इस क्रिया के विस्तृत अध्ययन और स्पष्टीकरण के लिये वैज्ञानिक कठिन परिस्थितियों का सामना कर रहे हैं।

डा० क्रिक तथा उनके सहायक कार्यकर्ताओं ने जीनों और कोशिका-प्रोटीन के मध्य होने वाले संचार का स्पष्टीकरण किया है, और यह भी बताया कि Courtes R N A में उपस्थित चार प्रकार के क्षारों का ही इस संचार में मुख्य हाथ है। अतः जीनों के "Wiring system" का ठीक-ठीक पता चलने के पश्चात् कैन्सर तथा अन्य भयानक रोगों पर नियंत्रण हो जायेगा क्योंकि यह सभी रोग कोशिकाओं के प्रभावित होने से होते हैं। विश्व भर में वैज्ञानिक इन महत्वपूर्ण खोजों के हेतु रातदिन तन मन से तल्लीन हैं और यह आशा है कि निकट भविष्य में वे पूर्णरूप से सफलता प्राप्त कर लेंगे।
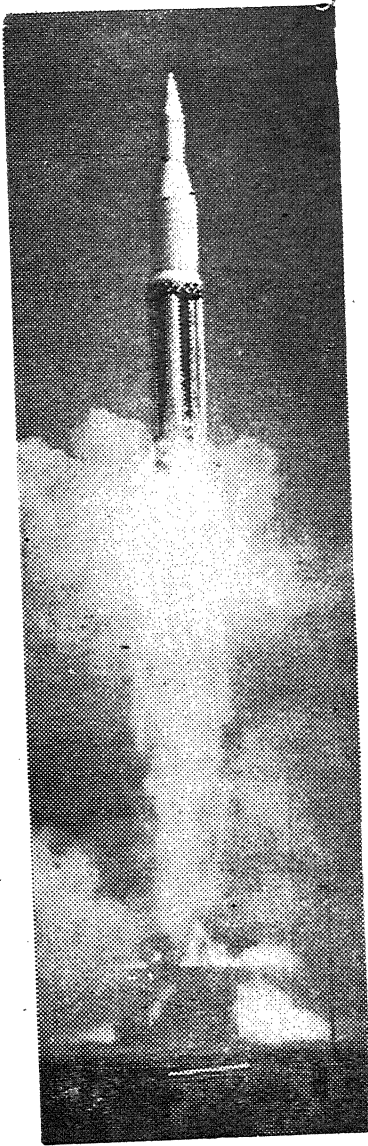
६. चन्द्रलोक की यात्रा की तैयारियाँ

आशा है कि अमेरिका का सबसे शक्तिशाली 'सैटर्न' राकेट ऐसे समय तैयार हो जायगा, जिससे पहली बार मनुष्य को १९७० से पूर्व ही चन्द्रमा पर भेजा जा सके।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक डा० वेर्नर फान ब्रौन ने बतलाया है कि राकेट तैयार करने का काम सन्तोष-जनक ढंग से चल रहा है। डा० ब्रौन 'राष्ट्रीय उड्डयन एवं अन्तरिक्ष प्रशासन' के हन्ट्सविल (ऐलाबामा) स्थित मार्शल अन्तरिक्ष उड़ान-केन्द्र पर सैटर्न संकट कार्यक्रम के अध्यक्ष हैं।

डा० ब्रौन ने कांग्रेस की उपसमिति को सूचित किया है कि 'सैटर्न-१' को उड़ा कर तीन बार देखा जा चुका है और इस वर्ष तीन परीक्षण और किये जायँगे। इस राकेट में ८ इंजन लगे हैं और उससे १५ लाख पौण्ड की प्रहार क्षमता उत्पन्न होती है। अन्तिम परीक्षा के समय उसके साथ एक नकली अपोलो अन्तरिक्षयान को भी भेजा जायगा।

मार्शल अन्तरिक्ष-केन्द्र में इस समय विशाल 'एफ-१' इंजन का निर्माण किया जा रहा है। इसे चन्द्रमा की यात्रा के लिए सैटर्न राकेट में लगाया जागा ये।

'एफ-१' इंजन से १५ लाल पौण्ड की प्रहार-क्षमता उत्पन्न होती है और त्रिखण्डी सैटर्न राकेट के पहले चरण में पाँच 'एफ-१' इंजन लगाये जायेंगे जिससे ३ मनुष्यों वाले अपोलो-अान्तरिक्षयान को १९७० से पूर्व चन्द्रमा पर भेजा जायेगा।
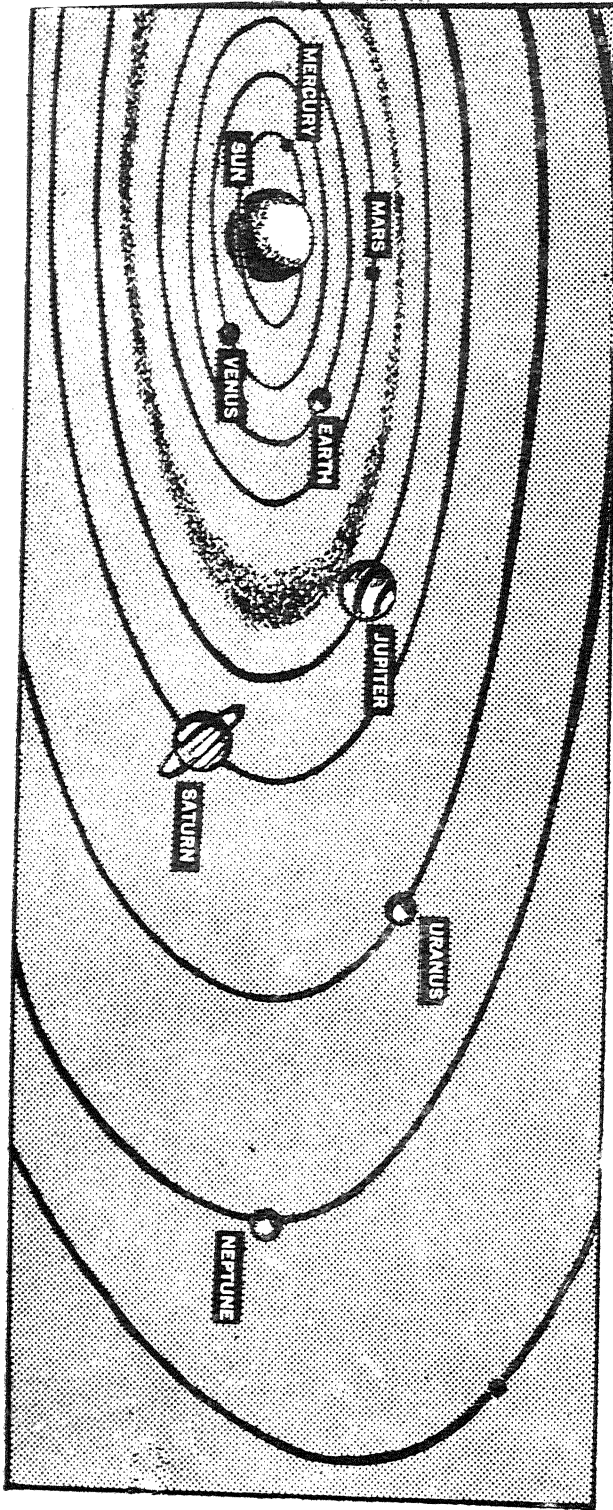
७. सौर मण्डल का अध्ययन

सौर-मण्डल के रहस्यों की जानकारी प्राप्त करना, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की तुलना में, बहुत छोटा कार्य है किन्तु पृथ्वी को दृष्टि में रखते हुए यह भी बहुत विशाल कार्य है। सूर्य के गुरुत्वाकर्षण के कारण सारे ग्रह अपनी कक्षाओं में रहते हैं। पीत ग्रह (प्लूटो) को छोड़ कर शेष सभी ग्रह सूर्य के चारों ओर एक ही दिशा में घूमते हैं और मार्ग भी लगभग वही रहता है। शुक्र का ग्रह-पथ पृथ्वी के ग्रह-पथ के भीतर है। समय-समय पर वह पृथ्वी से २ करोड़ ६० लाख मील दूर होता है और पृथ्वी से यह दूरी अन्य ग्रहों की अपेक्षा कम है। मंगल पृथ्वी की कक्षा के बाहर की ओर है और पृथ्वी से उसकी सबसे कम दूरी ३ करोड़ ४० लाख मील होती है।

सम्पादकीय

१. उपकुलपति सम्मेलन

गत जून मास के अन्तिम सप्ताह में उत्तर प्रदेश के उपकुलपतियों का एक सम्मेलन नैनीताल में हुआ जिसमें अनेक महत्वपूर्ण सिफारिशें की गईं। इन सिफारिशों में से प्रमुख हैं—विश्वविद्यालय के अध्यापक राजनीति में भाग न लें, स्नातकोत्तर कक्षाओं की पढ़ाई वहीं हो जहाँ शोध तथा अध्यापन की समुचित सुविधायें हों और रात्रि पाठशालाओं में केवल आफिस कर्मचारियों को पढ़ने की सुविधा दी जाय। वस्तुतः ये सिफारिशें आज की आवश्यताओं को देखते हुए अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं सामयिक हैं किन्तु क्या यह सच नहीं है कि इस प्रकार सिफारिशें एकाधिक दोहराई जा चुकी हैं। जब तक समस्त उपकुलपति अपने-अपने विश्वविद्यालयों को राजनीतिक दबाव से सर्वथा मुक्त नहीं कर पाते, तब तक उनकी सिफारिशों का अनुमोदन हो पाना कठिन है। शिक्षा-स्तर को उठाने और नवयुवकों को उचित मार्ग पर अग्रसर करने के लिये आवश्यक है कि जितने भी उपकुलपति चुने जायँ वे न केवल अधिकारी विद्वान हों वरन् कुशल नियन्ता एवं सच्चरित्र व्यक्ति हों। विदेशों के स्तर पर अपने देश के विश्वविद्यालयों को लाने के लिये आवश्यक है कि प्राणपण से कार्य किया जाय। यदि सभी उपकुलपति अपने-अपने कार्यकालों की ओर देख देख कर अपने कदम उठावेंगे तो शताब्दियों बाद भी भारत का उद्धार नहीं हो सकेगा। क्या कला और क्या विज्ञान, दोनों ही क्षेत्रों में अधुनातम स्तरों की प्राप्ति के लिए यथा-शक्य प्रयास होने चाहिये।

२. प्रथम अन्तरिक्ष महिला को बधाई

१६ जून १९६३ को भारतीय समय के अनुसार ३ बजे अपराह्न रूस की प्रथम महिला अन्तरिक्ष यात्री वालेन्तीना ब्लादीमिरोव्ना तेरेश्कोवा वोस्तोक–६ नामक अन्तरिक्ष यान में बैठकर अन्तरिक्ष यात्रा के लिये रवाना हुई। वोस्तोक ६ की धरती तल से अल्पतम दूरी १८३ किलोमीटर और अधिकतम दूरी २३३ किलोमीटर थी। यह यान ८८.३ मिनट में पृथ्वी की परिक्रमा कर रहा था। वे निश्चित कार्य-क्रम के अनुसार पृथ्वी पर वापस भी आ गई। मास्को में उनका वीरोचित सम्मान किया गया। उनके साथ वोस्तोक ५ में यात्रा करने वाले वालेरी बाइकोव्स्की का भी सम्मान हुआ।

वालेन्तीना की अन्तरिक्ष यात्रा की सफलता से विश्व के नरनारियों को अपूर्व प्रसन्नता हुई है क्योंकि अब अन्तरिक्ष यात्रा में स्त्री-पुरुष दोनों के लिये समान रूप से द्वार खुल गये हैं। महिलायें किसी भी प्रकार पुरुषों से इस होड़ में पीछे नहीं हैं।

वालेन्तीना का जन्म ६ मार्च १९३७ को रूस के यारोस्लाव प्रदेश के मास्लेन्निकोवो गाँव में हुआ था। १७ वर्ष की आयु में उन्होंने एक टायर फैक्टरी में काम प्रारम्भ किया। २० वें वर्ष में कम्युनिस्ट लीग की सदस्य बनीं। सन् १९५९ में हवाई स्पोर्ट्स क्लब में पैराशूट कुदानों की ओर आकृष्ट होकर बाद में निर्देशन भी करने लगीं। पिछले वर्ष उन्हें जूनियर लेफ्टिनेंट पद प्रदान किया गया था।

३. अप्रिय प्रसंग

प्रयाग विश्वविद्यालय के प्राध्यापक डा० कृष्ण बहादुर ने 'जीवाणु' संश्लेषण के सम्बन्ध में जो महत्वपूर्ण कार्य किया है उसकी चर्चा पिछले एकाध महीनों से विभिन्न समाचार पत्रों में होती रही है। गत १६ जून को 'धर्मयुग' में एक विशिष्ट लेख भी प्रकाशित हुआ था जिससे प्रत्येक सामान्य पाठक को उनके कार्य की झाँकी तो मिल ही जाती है। अब तो नगर के निवासियों ही नहीं, वरन् दूर-दूर के लोगों में यह चर्चा व्याप्त हो चुकी है कि 'जीव' की 'सृष्टि' प्रयोगशाला में सम्भव है। आये दिन इस सम्बन्ध में पूछ-ताछ भी की जाती है। किन्तु गत २३ जून के 'लीडर' में सम्पादक के नाम डा० फाक्स का जो पत्र प्रकाशित हुआ है उससे पूर्वकथित समस्त स्थिति पलट जाती है और ऐसा प्रतीत होता है मानों डा० बहादुर की खोजें सर्वथा निराधार एवं भ्रामक हों। इसके पूर्व नैनीताल से डा० बहादुर के एक सहयोगी ने भी ऐसी ही द्विधामूलक बात समाचारपत्रों द्वारा प्रसारित की थी। यह अत्यन्त दुखद प्रसंग है। भारतीय वैज्ञानिकों द्वारा किसी नई खोज की सनसनी पूर्ण सूचना का प्रकाशन, फिर उस पर आक्षेप एवं कटुता का तुषारापात सर्वथा गर्हित है। हमारा सुझाव है कि अब डा० बहादुर अपने वक्तव्य द्वारा ही नहीं वरन् प्राप्त शोध परिणामों के आधार पर ही वैज्ञानिक जगत को संतुष्ट करने का यत्न करें। सस्ते पत्रों के द्वारा ख्याति अर्जित करने के बजाय उनको हानि होने की सम्भावना अधिक है। शोधों के प्रकाशन के श्रेष्ठ माध्यम अनुसन्धान पत्र होते हैं न कि समाचार पत्र जिनमें नित्य-प्रति विरोधात्मक बातें छपती रहती हैं। साथ ही सामान्य पाठकों से हमारा निम्न निवेदन है कि वे समाचार पत्रों की सूचनाओं से बह न जायँ, वे वैज्ञानिक पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा ही तद्विषयक तुष्टि प्राप्त करें।

ग ६७
या ६
द्रपद
२० वि०
र १९६३

ज्ञान
रिषद्
याग
का
ुख
त्र

ंक ४० न. पै.
ंक ४ रुपये

सम्पादक—डॉ० शिवगोपाल मिश्र

विज्ञान परिषद्, प्रयाग

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुखपत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ०।३।५।

भाग ९७ | भाद्रपद २०२० विक्र०, १८८५ शक सितम्बर १९६३ | संख्या ६

तैलङ्ग पुरस्कार प्रतियोगिता—२

दूर संचार का नया साधन

कुलदीप चड्ढा

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह निकट-दूर रहने वाले अन्य मानवों से, अनेक प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है—स्नेह के, विग्रह के अथवा सुख-दुःख में सम्मिलित होने आदि के। मनुष्य की यह लालसा, उसके द्वारा विज्ञान के क्षेत्र में किये गये आविष्कारों से भी प्रकट होती है। गत दो-तीन शतियों में रेल, डाक-तार, मोटर, वायुयान, रेडियो, टेलीविजन आदि अनेक प्रमुख आविष्कारों का उद्देश्य अथवा परिणाम, दूरस्थ देशों और जातियों की आपसी दूरियों को कम करना रहा है। इन भौतिक दूरियों की कमी के साथ-साथ सांस्कृतिक, औद्योगिक और व्यावसायिक सम्पर्क भी अधिक सरल बन गये हैं।

सामाजिकता के प्रसार के ये साधन, कुछ विशिष्ट माध्यमों द्वारा अपने ध्येय की पूर्ति करते हैं। रेल, वायुयान आदि संवहन के साधन मनुष्यों को अथवा एक दूसरे के हाथ से उपजाई व बनाई वस्तुओं को एक-दूसरे के निकट लाते हैं। पर दूसरे साधन, जैसे डाक-तार, रेडियो, टेलीविजन आदि संचार साधनों के रूप में उसके भावों आदि की दृश्य-श्रव्य अभिव्यक्ति को परस्पर समीप पहुँचाते है।

संचार के इन साधनों का इतिहास मूल-रूप में बहुत पुराना है। अतीत की न जाने किस प्रच्छन्न वेला में इस धरती के निवासियों ने परस्पर दूर रहने की अवस्था में भी आपसी सम्पर्क बनाये रखने की आवश्यकता को अनुभव किया। इसका शायद सबसे पुराना साधन था, जोर से आवाज लगाना। इसके बाद ढोलकों, नगाड़ों, तूतियों आदि से भिन्न प्रकार की आवाजें कर और उनके विशेष अर्थ निश्चित करके उनको संकेतों के रूप में प्रयोग किया जाने लगा। पहाड़ों की चोटियों पर आग जलाकर या मशालों को विशेष

आकारों में घुमाकर भी संकेत भेजे जाने लगे। पैदल धावकों, घुड़सवारों या साँडनी-सवारों की परम्परा शायद अगला कदम था। इसी बीच हम हंस, कपोत और मेघ तक को सुख-दुःख और प्रणय आदि के संदेश-वाहकों के रूप में कार्य करते हुए पाते हैं।

संदेश वहन अथवा डाक का आयोजन मनुष्य की यात्रा सुविधाओं के साथ रूप बदलता हुआ, हवाई-डाक के युग में पहुँच चुका है और रॉकेट द्वारा डाक भेजने की व्यवस्था शायद अधिक दूर भविष्य का विषय नहीं।

इसी बीच, लिखे हुए संदेश की जगह संकेत (कोड) अथवा शब्द के रूप में संदेश भेजने की प्रथा का भी विकास हुआ। तार और टेलीफोन दोनों ही १९वीं शती के उत्तरार्ध की देनें हैं। इनकी उपयोगिता में वृद्धि इसी शती के अन्त में होने वाले रेडियो के आविष्कार द्वारा हुई।

सयोग से संचार साधनों में क्रान्ति लाने वाले रेडियो के आविष्कार का श्रेय भी एक व्यक्ति अथवा राष्ट्र तक सीमित नहीं। जहाँ इस विषय के सिद्धान्त की रूपरेखा आयरलैंड के जेम्स क्लार्क मैक्सवेल ने खींची, इसका प्रथम सफल प्रयोग जर्मनी के हर्ट्ज और भारत के जगदीश बसु ने किया और व्यवहार के प्रयोग में इटली के मारकोनी ने महत्त्वपूर्ण काम किया। श्रेय के इस वितरण के बावजूद, व्यावहारिक रेडियो का आविष्कारक मारकोनी को ही मानना पड़ेगा। आत्म-विश्वास का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करते हुए मार-कोनी ने पहिले तो रेडियो-तरंगों द्वारा इङ्गलिश चैनल को पार किया और फिर उसका ध्यान अन्ध-महासागर को फाँदने की ओर गया।

मारकोनी के इस साहसिक निश्चय को जानकर गणितज्ञों ने अनेक अनुमान लगाये। उस समय तक ज्ञात तथ्यों के आधार पर उन्होंने घोषणा की कि मारकोनी का प्रयोग सफल नहीं हो पायेगा। इसका कारण, उनके अनुसार यह था कि रेडियो तरंगें स्वभाव से प्रकाश की तरङ्गों के समान हैं और उनका प्रचलन भी, स्थूल रूप से एक सीध में होता है। लेकिन संयोग से हमारी दुनिया गोल है और रेडियो तरङ्गें धरती की गोलाई के साथ-साथ प्रसारण की क्षमता नहीं रखतीं। अतएव परिणाम स्पष्ट था—अंधमहासागर के आर-पार रेडियो तरङ्गों का पुल असम्भव है।

पर कई व्यक्ति "असम्भव" शब्द के महत्त्व में निष्ठा नहीं रखते। मारकोनी भी ऐसे व्यक्तियों में थे। अतएव सिद्धान्त शिरोमणियों के परामर्श की चिन्ता किये बिना उन्होंने अपना सारा कार्य-क्रम तय किया। रेडियो का प्रसारण यंत्र उन्होंने इङ्गलैंड में लगाया और संग्रहण व्यवस्था के लिए वे स्वयं अमेरिका जा पहुँचे और निर्धारित समय पर इङ्गलैंड से प्रसारित संकेतों को सुनने की प्रतीक्षा करने लगे। आखिर उन्हें जब अभीष्ट प्रसारण के क्षीण संकेत सुनाई दिये तो उनकी खुशी की सीमा न रही। यह केवल उनके व्यक्तिगत प्रयोग की सफलता मात्र नहीं थी, इसने रेडियो द्वारा दूर-संचार की नई सम्भावनाओं का द्वार खोल दिया था।

उधर इस प्रयोग की सफलता के बाद सिद्धांत-वादी सोचने लगे कि आखिर यह सम्भव हुआ क्यों-कर? काफी उधेड़-बुन के बाद **कैनेली** और **हेवीसाइड** नामक दो वैज्ञानिकों ने स्वतन्त्र रूप से सुझाव रखा कि आकाश में हमारे ठीक ऊपर सौ-दो सौ मील की ऊँचाई पर कोई ऐसा प्रबन्ध है जो रेडियो तरंगों को धरती की ओर वापस कर देता है। इस प्रबन्ध के स्वभाव के बारे में कल्पना की गई कि यह छोटे-छोटे विद्युत्कणों का जमघट है। रेडियो तरङ्गों को **विद्युत्-चुम्बकीय** (इलेक्ट्रोमैगनेटिक) तरंगें भी कहते हैं क्योंकि ये किसी व्यवस्था की बिजली अथवा चुम्बकत्व सम्बन्धी अवस्था में परिवर्तन के कारण पैदा होती हैं। आपने प्रायः ही अपने रेडियो में खड़-खड़ की आवाज सुनी होगी, जब आकाश में बिजली चमकी हो, किसी पास के कमरे का बिजली का स्विच दबाया हो अथवा

पास-पड़ोस में कोई बिजली की मशीनरी चालू हो आदि। इन सभी कारणों से रेडियो की अनियमित-सी तरङ्गें पैदा होती हैं जो आपके रेडियो में प्रवेश पाकर उक्त अनियमित-सी आवाज को जन्म देती हैं।

इस स्वभाव के कारण रेडियो की तरंगें विद्युत् कणों के वितान में प्रचलन करते समय दिशा बदलने पर बाधित होंगी। अन्त में वे वापिस धरती की ओर लौटकर प्रसारण की सीमाओं में वृद्धि करेंगी।

विद्युत्कणों के ये प्रबन्ध हमारी धरती के समान्तर चारों ओर लिहाफ के रूप में व्यवस्थित हैं। आप विदेशों से अथवा अपने देश के दूरस्थ केन्द्रों से—जो रेडियो-प्रोग्राम सुनते हैं, वे इसी प्रबन्ध से परावर्तित (रिफ्लेक्ट) होकर आते हैं। पिछले बीस-तीस वर्षों में वैज्ञानिकों ने इस व्यवस्था की विशद खोज-बीन की है, जिसके परिणामस्वरूप वे इसके स्वभाव की बारीकियों को जान पाये हैं। एक विशेष जानकारी जो ज्ञात हुई, वह थी इस प्रबन्ध में एकाधिक परतों की विद्यमानता। इस सारी जानकारी के आधार पर विशेष प्रसारण के लिए, अर्थात् रेडियो तरङ्गों की किसी विशेष समय पर, किन्हीं दो प्रदेशों के बीच सम्पर्क का आधार बनाने के लिए विशेष लम्बाई (अथवा विशेष "मीटर") की तरङ्गों को आकाश की ओर विशेष कोण पर प्रसारित करने की व्यवस्था करनी पड़ती है।

विद्युत्कणों का यह वितान **आयनोस्फियर** के नाम से प्रसिद्ध है। इसे हिन्दी में आप **याणु मंडल** (आयन मण्डल) कह सकते हैं (ion = आयन)। इसके स्वरूप का अधिकाधिक परिचय पाकर वैज्ञानिक इसका दूर-संचार आदि के लिए अधिकाधिक उपयोग करने की योजनायें बनाते रहते हैं।

पर अपने स्वभाव के कारण इस आयन-मण्डल में एक भारी कमी है। यह अत्यन्त छोटी तरङ्गों को परावर्तित नहीं कर सकता—वे इसे वेध कर, अन्तरिक्ष की दिशा पकड़ लेती हैं।

उधर रेडियो-विज्ञान के विकसित रूप में सूक्ष्म-तरंगें (माइक्रो वेव्ज) कहलाने वाली इन छोटी तरंगों का प्रयोग दिनोंदिन बढ़ रहा है। टेलीविजन तथा "फ्रीक्वेंसी माडूलेशन" नामक विशेष प्रणाली के लिए इन सूक्ष्म तरङ्गों का प्रयोग लगभग अनिवार्य है। लेकिन आयन-मण्डल का असहयोग सूक्ष्म तरङ्गों के प्रयोग-क्षेत्रों को बहुत सीमित कर रहा है।

इस परिस्थिति में कल्पना की गयी—क्या कृत्रिम आयन-मण्डल की स्थापना व्यावहारिक हो सकेगी ?

इस स्थल पर हम अपना एक पूर्वोक्त भाव दोहरायेंगे। अपने स्वभाव के कारण रेडियो तरङ्गें ऐसे स्थलों से परावर्तित होती हैं जिनमें विद्युत्कण मुक्त रूप से विचरते हों। इस सम्बन्ध में आयन-मण्डल से मिलती-जुलती स्थिति है, धातुओं की। विद्युत्कणों के रूप में आयन-मण्डल में इलैक्ट्रान नामक कण ही मुख्यतया क्रियाशील हैं। धातुओं में भी ये कण काफी संख्या में स्वच्छन्द आचरण करते हैं। इस कारण रेडियो तरंगें, धातुओं से भी परावर्तित हो सकती हैं। वास्तव में जहाँ सूक्ष्म तरङ्गों के परावर्तन के लिए आयन-मंडल बेकार हो जाता है, धातुओं का इलेक्ट्रान-पुंज अधिक उपयोगी सिद्ध होता है। रडार-विज्ञान, धातुओं द्वारा रेडियो-तरंगों के परावर्तन के सिद्धान्त पर ही निर्भर करता है। धातु के आवरण वाले राकेट और कृत्रिम उपग्रह भी इसी कारण से रेडियो तरङ्गों के परावर्तन के लिए प्रयुक्त हो सकते हैं। अर्थात् कृत्रिम उपग्रह वैज्ञानिकों के कल्पित कृत्रिम आयन-मण्डल का रूप ले सकते हैं। अन्तर केवल इतना है वे आयन-मंडल की भाँति फैला हुआ रेडियो-दर्पण नहीं हैं। लेकिन जैसा कि बाद में प्रकट होगा, व्यवहार में संचार योजनाएं इस तथ्य को ध्यान में रखकर ही बनाई जा रही हैं।

कृत्रिम-उपग्रहों का कृत्रिम आयन-मंडल के रूप में प्रयोग अमेरिका के एक अनुभव से प्राप्त हुआ। १२ अगस्त १९६० को इस देश के वैज्ञानिकों ने एक प्लास्टिक का गुब्बारा उपग्रह के रूप में छोड़ा। इस पर

एल्यूमिनियम धातु का लेप किया हुआ था। ऊपरी व्योम में फैलकर "ईको" (प्रतिध्वनि) नामक इस उपग्रह का व्यास ३० मीटर अर्थात् लगभग १०० फुट हो गया। पृथ्वी की परिक्रमा करते समय इसकी दूरी १००० मील अथवा १६०० किलोमीटर रही। इस स्थिति में इसने रेडियो तरङ्गों के परावर्तन द्वारा आवाज अथवा श्रव्य कार्य-क्रमों और स्थिति फोटो, टेलीविजन आदि के रूप में दृश्य कार्य-क्रमों के संचार में सफलतापूर्वक सहायता दी। अभी कुछ समय पूर्व तक यह गुब्बारा धरती के चक्कर काटता लक्षित किया गया था और मई १९६२ तक तो इससे टेलीविजन के कार्यक्रम सफलतापूर्वक सम्पन्न होते रहे।

इस प्रकार के उपग्रह जो एक दर्पण की भाँति रेडियो तरङ्गों को केवल परावर्तित करते हैं, वे निष्क्रिय परावर्तक (पेस्सिव रिफ्लेक्टर) कहलाते हैं। लेकिन लाखों-करोड़ों रुपयों के व्यय से कक्षा में स्थापित उपग्रहों के इस सीमित उपयोग से ही संतुष्ट नहीं हुआ जा सकता। अतएव जब "ईको" पृथ्वी की परिक्रमा में रत था, उसी बीच कुछ अधिक जटिल प्रकार के प्रयोग भी सफलता-पूर्वक किये गये। दिसम्बर १९५८ में अनुभवों के आधार पर "स्कोर" नामक एक उपग्रह छोड़ा गया, जो तत्कालिक अमेरिकन राष्ट्रपति आइजनहावर का रिकार्ड किया हुआ बड़े दिन (क्रिसमस) का संदेश, दस दिन तक प्रसारित करता रहा। इस उपग्रह का प्रसारक अथवा संप्रेषक (ट्रांसमिटर) बैटरी की शक्ति से चलता था। पर इसके बाद ४ अक्टूबर १९६० को "कोरियर" नामक एक अन्य उपग्रह छोड़ा गया जो अपने चारों ओर जड़े हुए सिलिकन कोष्ठों (सैलों) से सूर्य की शक्ति एकत्र करता रहा। इसमें ४ रेडियो संप्रेषक, ४ संग्राहक (रिसीवर) और ५ रिकार्डिङ्ग यंत्र थे। किसी स्थल के ऊपर से गुजरते समय यह उपग्रह वहाँ के प्रसारणों को ग्रहण करके उन्हें रिकार्ड कर लेता और किसी दूसरे स्थल पर से गुजरते समय उस ध्वनि को अपने संप्रेषकों से प्रसारित कर देता।

इन दोनों उपग्रहों के सफल परीक्षण के उपरान्त १० जुलाई १९६२ को अमेरिका ने टैल-स्टार (दूर-तारक) नाम का एक और उपग्रह छोड़ा, जिसका एक गज से भी कम परिमाण का व्यास, भाँति-भाँति के वैज्ञानिक यंत्रों से खचाखच भरा था। इन सबका वजन मिलाकर दो मन के करीब था। उपग्रह के धरातल पर सौर शक्ति के लिए ३६०० कोष्ठ जड़े थे। ३५०० से ६००० मील के बीच अवस्थित अपनी कक्षा में स्थापित होने के कुछ समय उपरान्त धरती पर से रेडियो तरंगों द्वारा, इसके यंत्रों को चालू किया गया। उपग्रह के रेडियो संकेतों ने व्यवस्था से ठीक-ठीक काम करने की सूचना दी। उपग्रह के ५वें चक्कर में इस व्यवस्था के संयोजक फ्रैड्रिक कैपेल ने अमेरिकन राष्ट्रपति से इस साधन द्वारा वार्तालाप की। तुरन्त बाद टैलीविजन का कार्यक्रम प्रसारित किया गया जो पहिले फ्रांस और इंगलैंड आदि में भी ग्रहण किया गया। बाद में फ्रांस और इंगलैंड के टेलीविजन के कार्यक्रम भी इसके द्वारा अमेरिका में देखे गए। रंगीन टेलीविजन का भी प्रसारण इस तारक द्वारा संभव हो पाया।

टैलस्टार द्वारा यह संचार सेवा 'ईको' की माँति केवल परावर्तन पर निर्भर नहीं करती। इसका आधारभूत नियम है रिले अथवा पुनर्प्रसारण। इस नियम को खेलों के क्षेत्र से एक उदाहरण द्वारा बखूबी समझा जा सकता है। राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर 'रिले-दौड़ों' की चर्चा आपने पढ़ी अथवा सुनी होगी। इस क्रीड़ा में एक खिलाड़ी मशाल अथवा कोई दूसरा संकेत-पदार्थ लेकर तेजी से दौड़ कर कुछ अन्तर तै करता है और इसके बाद इस पदार्थ को एक दूसरे खिलाड़ी के हाथों सौंप देता है, जो इसे लेकर दौड़ को जारी रखता है। निस्सन्देह दूसरा खिलाड़ी ताजादम है इसलिए अपने थके हुए साथी की तुलना में वह अपने हिस्से की दूरी को अधिक जल्दी तै कर सकता है। दौड़, इसी प्रकार संकेत पदार्थ को आगे पहुँचाते हुए चालू रहती है।

ठीक इसी प्रकार, एक केन्द्र से प्रसारित रेडियो तरंगें, कुछ अन्तर लाँघने के बाद क्षीण हो जाती हैं। अतएव रिले व्यवस्था में मुख्य केन्द्र से प्रसारित क्षीण रेडियो तरंगों को विशेष यंत्रों की सहायता से संग्रहीत करके उनके हाथ से संगीत समाचार आदि कार्यक्रम अलग कर लिया जाता है। इस कार्यक्रम की शब्द तरंगों को रिले-केन्द्र की ताज़ी रेडियो तरंगों पर सवार कर दिया जाता है। इस प्रकार रेडियो का कार्यक्रम बीसियों मील की अधिक दूरी तक, साफ-साफ सुनाई दे सकता है।

दूर-तारक में कुछ-कुछ इसी प्रकार की व्यवस्था के लिए ऐसे यंत्र थे जो क्षीण संकेतों को करोड़ों गुना संवर्धित (एम्पलीफाई) करके दूसरी नई लम्बाई की तरंगों पर प्रसारित कर सकते थे।

इन तरंगों की लम्बाइयाँ अथवा आवृतियाँ (फ्रिक्वैन्सीज़) साधारण प्रसारण के परिमाणों से बहुत भिन्न हैं। जहाँ मध्यम तरंगों (मीडियम वेव्ज़) की आवृतियाँ ५२५ से १६०० किलोसाइकिल (हजार-चक्र) प्रति सैकेण्ड तक होती हैं, और लघु तरंगों (शॉर्ट वेव्ज़) की २५०० से २२००० किलो साइकिल तक, वहाँ दूर तारक धरती से ६३६०,००० कि० सा० के संकेत ग्रहण करके, ४१७०,००० कि० सा० के संकेत प्रसारित करता है।

दूर-तारक से पहिले टेलीविजन के कार्यक्रम कभी-कभी ही अपनी ५०-६० मील की सीमा को फाँद पाते थे, जब कि कुछ प्राकृतिक कारणों से आयनमंडल की बनावट में अकस्मात् अव्यवस्था पैदा हो जाती है। दूर तारक द्वारा यह संभावना अधिक नियमित रूप से उपलब्ध हो सकी है।

लेकिन नियमित रूप का अर्थ स्थायी रूप नहीं। दो स्थलों के बीच, दूर तारक द्वारा रेडियो सम्पर्क विशेष समय संभव है, जब कि दूर तारक घूमते हुए, विशेष स्थिति में पहुँच जावें। ऐसे क्षेत्र की अधिकतम सीमाएँ, तारक की स्थिति से धरती के गोलक तक खींची गई स्पर्श रेखाओं (टैंजैंट्स) द्वारा निर्धारित की जाती हैं। ज्यों-ज्यों तारक आगे बढ़ता जायगा उक्त क्षेत्र की स्थिति भी बदलती जायगी।
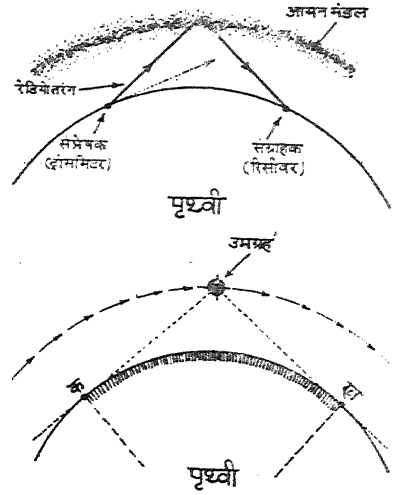
इस प्रकार दूर संचार के स्थायी हल के रूप में इस व्यवस्था की सफलता भी आंशिक है। किसी देश द्वारा दूर तारक को प्रयोग करने से पूर्व उसके समुचित स्थल पर पहुँचने तक की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। आयनमंडल के सार्वकालिक प्रयोग की तरह सुविधा पाने के लिए एकाधिक उपग्रह अपेक्षित हैं। अनुमान लगाया गया है कि १००० मील अर्थात् १६०० किलोमीटर की ऊँचाई पर से परावर्तन प्राप्त करने के लिए कोई ४०० उपग्रह चाहिए। ज्यों-ज्यों उपग्रह की धरती से दूरी बढ़ती जायगी उपग्रहों की वांछित संख्या कम होती जायगी। उदाहरणार्थ ८००० किलोमीटर की दूरी पर केवल ४० उपग्रह काफी होंगे और ३५७०० किलोमीटर पर तो केवल तीन उपग्रहों से काम चल जायगा। पर दूर संचार की व्यवस्था के लिए ३ उपग्रहों की संख्या न्यूनतम है—इससे कम से सार्वकालिक सेवा संभव नहीं।

३५७०० किलोमीटर की दूरी पर घूमने वाला उपग्रह पृथ्वी की परिक्रमा भी पूरे २४ घंटे में पूरी

करेगा। पृथ्वी भी अपने अक्ष के गिर्द एक चक्कर इतनी ही अवधि में पूरा करती है। अतएव उपग्रह पृथ्वी के साथ ही साथ घूमेगा, मानो किसी मजबूत छड़ द्वारा वह धरती से जुड़ा हुआ हो। जब इस प्रकार के ३ उपग्रह परस्पर समान दूरी पर, उक्त अन्तर पर अवस्थित कक्षा में घूमने लगेंगे तो किसी भी समय संसार के किसी भी देश के लिए उनका प्रयोग कर सकना संभव होगा।

लेकिन आयन मंडल से परावर्तन रेडियो तरङ्गों की तरह उपग्रहों से परावर्तित तरंगों का सीधा प्रयोग घरों के रिसीवरों में नहीं हो सकेगा। सम्भवतया प्रत्येक देश को क्षीण तरंगों को संग्रहीत करके संवर्धित करने की विशेष व्यवस्थाएं करनी पड़ेंगी, ताकि वे घरेलू रेडियो सैटों अथवा टेलीविजन के रिसीवरों द्वारा प्रयुक्त हो सकें। तार-टेलीफोन आदि सेवाओं के निमित्त तो पहिले से ही ऐसे केन्द्रों की व्यवस्था की जाती है।

इसमें सन्देह नहीं कि जटिल यंत्रों से लैस उपग्रहों को ठीक कक्षा में स्थापित करने और उनका समुचित उपयोग कर पाने के लिए लाखों रुपये व्यय हो जाते हैं। पर दूर-सञ्चार व्यवस्था अपने वर्तमान रूप में भी बहुत खर्चीली है। अतएव इसमें विस्तार करने पर भी लाखों-करोड़ों रुपयों की राशियाँ व्यय होती हैं। वर्तमान अनुमानों के अनुसार उपग्रह न केवल संचार-साधनों के एक अनूठे माध्यम होंगे प्रत्युत सञ्चार सेवा में विशिष्ट विस्तार के लिए कम व्यय की अपेक्षा रखेंगे।

जिस समय आप इस महान आयोजन का यह संक्षिप्त विवरण पढ़ रहे होंगे, कृत्रिम उपग्रहों के प्रयोग द्वारा दूर-सञ्चार की स्कीमें न जाने कहाँ तक बढ़ चुकी होंगी। शायद आने वाले २-४ वर्षों में आप इस क्षेत्र में कुछेक और रोचक प्रयोगों की सूचना की आशा कर सकते हैं। लेकिन साथ ही आप को यह भी कामना करनी चाहिए कि संसार में शान्ति और सहयोग की भावनाओं का विस्तार हो, ताकि विज्ञान के मानवोपयोगी कार्यक्रम निर्बाध गति से अपने लक्ष्यों की ओर बढ़ सकें।

किन किन देशों के छात्र कहाँ पढ़ते हैं

वे १० देश जिनके छात्र अमेरिका में सब से अधिक हैं :		वे दस विश्वविद्यालय जहां सबसे अधिक विदेशी छात्र हैं	
कनाडा	६,५७१	कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय	२,५३४
भारत	५,६२१	मिशिगन विश्वविद्यालय	१,६४६
चीन (ताइवान)	४,७३५	न्यूयार्क विश्वविद्यालय	१,३३५
ईरान	२,६४३	इलिनौय विश्वविद्यालय	१,१३८
जापान	२,६३५	कोलम्बिया विश्वविद्यालय	१,०७२
कोरिया	२,२३४	विस्कौन्सिन विश्वविद्यालय	१,०४६
फिलीपीन	१,७८०	मिनेसोटा विश्वविद्यालय	१,०३६
हांगकांग	१,५६७	हार्वर्ड विश्वविद्यालय	८८२
ग्रीस	१,२४७	हौवर्ड विश्वविद्यालय	८५८
ब्रिटेन	१,१०६	मैसाचूसेट्स इन्स्टिट्यूट	७७२

देहरादून की सेल्यूलोस व कागज शाखा

बाबूराम वर्मा

जब कोई व्यक्ति पहले-पहल वन अनुसन्धान शाला देखने आता है तो सबसे पहले उसके मन में यही जिज्ञासा उठती है कि यहाँ की सबसे विलक्षण या अनन्य बात या वस्तु कौन सी है, जिसे अवश्य देखना चाहिए। यदि वह वस्तु या बात ऐसी भी हो जिससे उसकी सामान्य जानकारी में भी वृद्धि हो जो अन्य स्थानों में प्राप्त होनी सहज सुलभ न हो, तो कहना ही क्या है। वह तो सोने में सुगन्ध होने वाली बात होती है। वन अनुसन्धान शाला की सेल्यूलोस व कागज शाखा का परिदर्शन ऐसा ही अनुभव हमें प्रदान करता है।

"कागज" – किसी के लिए अपरिचित वस्तु नहीं है। जिस वस्तु पर यह पंक्तियाँ छपी या लिखी गई हैं वही तो कागज है। इसे कागज-मिलों में बनाया जाता है। कहीं-कहीं पर हाथ से की जाने वाली प्रक्रियाओं द्वारा भी कागज तैयार किया जाता है। ऐसा कागज विशेष प्रयोजनों के लिए काम आता है। सामान्य व्यवहार में मिलों में बना कागज ही प्रयुक्त किया जाता है। लिखाई, छपाई, माल-बँधाई इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं जिनके लिए कागज की आवश्यकता सर्वविदित है।

कागज किस चीज से बनता है या बनाया जा सकता है? इस प्रश्न का उत्तर अनुसन्धान द्वारा दिया जा सकता है, जिसे इस सेल्यूलोस व कागज शाखा में किया जाता है। भारत में अनेक कागज मिलें हैं परन्तु सभी के पास विस्तृत प्रयोगशालाएँ नहीं हैं, फलतः इस महत्वपूर्ण विषय में वे इसी शाखा में किए गए कार्य का लाभ उठाती हैं। इस सेवा के प्रतिदान में वे अपने यहाँ निर्मित कागज और गत्ते के परिमाण के आधार पर आगणित करके स्वेच्छा-पूर्वक दो आने प्रति टन की दर से धनराशि भेंट करते हैं, जिसे अनुसन्धान के लिए उपयोग किया जाता है।

तो आइए, आपको यह शाखा दिखा ही दें। आप कहीं यह न कहें कि मैं आपको बातों या उपस्कर (फर्नीचर) प्रदर्शित करने वाले संग्रहालयों में ही उलझाए रहा। तो चलिए, पहले इस शाखा के प्रभारिक (कार्यभारी अफसर) से ही मिलकर देखिए।

"क्या कहा आपने? हम कागज को इतना महत्व क्यों देते हैं?" प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रभारिक जी बोले 'आप तो जानते ही हैं कि आजकल की दुनिया में कागज का कितना महत्त्व है। कागज न हो तो आपका दैनिक अखबार बन्द, आपके बच्चों की कापियाँ खत्म, किताबों का अकाल और क्या-क्या गिनाऊँ, आधुनिक सभ्यता का पता ही न चलेगा कि किधर चली गयी। हमारे यहाँ तो कागज का उपयोग कम ही होता है। इसके उत्पादन क्षेत्र में हमारी गिनती सभ्य राष्ट्रों में सबसे बाद में आती है। अमेरिका का उत्पादन हमारे उत्पादन से १५ गुना है। फिनलेंड, स्वीडन जैसे छोटे-छोटे देश भी हमसे लगभग ७-८ गुना कागज उत्पादन करते हैं। और कागज का उपभोग प्रतिव्यक्ति २ पौंड कागज। संसार में औसत उपभोग है ५० पौंड प्रति व्यक्ति, और कनाडा में २८०, अमेरिका में ४३२ पौंड प्रति व्यक्ति। तो आप ही देखिए सभ्य संसार में हमारी स्थिति किस जगह है। पर हमारा उत्पादन निरन्तर बढ़ रहा है, और साथ ही उपभोग भी बढ़ रहा है। आप

तो जानते ही होंगे कि अब से २०-२५ वर्ष पूर्व प्राथमिक पाठ्शालाओं में नाममात्र को ही कागज का उपयोग होता था, आजकल तो अ, आ लिखना भी कापियों और पेंसिलों द्वारा सिखाया जाता है। विशेष प्रकार का कागज बाहर से मँगाना भी पड़ता है। इसे तो बंद करना ही पड़ेगा, पर अपने देश में बनाए बिना इस आवश्यक वस्तु का आयात किस प्रकार बन्द हो सकता है?

'यह तो आपने ठीक बतलाया हमें—वैसे हमें इसमें किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है। क्या आप यह बताने का कष्ट करेंगे कि कागज बनाने की आधारभूत वस्तु क्या है, और वह कैसे बनता है?'

आधारभूत वस्तु है सेल्यूलोस। यह श्वेत, तन्तुमय कार्बनिक यौगिक होता है। रासायनिक दृष्टि से यह निष्क्रिय होता है तथा जल और कार्बनिक विलेयकों में नहीं घुल पाता, परन्तु इसकी आहनन शक्ति अत्यधिक होती है। अधिकतर पेड़-पौधों का प्रमुख संघटक यही होता और इसका परिमाण सबसे अधिक होता है। सेल्यूलोस वस्तुतः कार्बन-डाइ-आक्साइड का परिवर्तित रूप है और परिमाण में सारे वातावरण का कार्बनडाइ आक्साइड का लगभग आधा है। पादपों में इसी सेल्यूलोस से उनका ढाँचा या कंकाल निर्मित होता है। यह तो आप समझ ही गये होंगे कि रेशेदार या तन्तुमय पदार्थों से कागज तैयार किया जाता है पर कुछ अन्य बातें भी उस रेशेदर पदार्थ में होनी आवश्यक हैं, जैसे उनकी लम्बाई, सेल्यूलोस का अधिक परिमाण, उसका आसानी से पृथक हो जाना, कवक और कीड़े न लगना, ऐसे स्थानों पर मिलना जहाँ से उसको ढोकर लाना सस्ता पड़े और सबसे आखिरी पर सबसे महत्वपूर्ण बात कम लागत पर मिलना। इसके लिए नुकीली पत्तियों वाली या शंकुधर वृक्ष जातियों का उपयोग किया जाता है। वैसे कठोर-काष्ठ, काष्ठ, घास, बाँस, गन्ने का फोक, भूसी, सन, जूट चीथड़ों का भी कागज बनाने के लिए प्रभूत उपयोग किया जाता है। इन पदार्थों से पहले लुगदी या गोंद बनाया जाता है।

गोर्द या लुगदी तैयार करने की दो मुख्य रीतियाँ हैं—पहली यान्त्रिक और दूसरी रासायनिक। इससे पहले यह जान लेना उपादेय होगा कि शंकुधर वृक्षों में सामान्यतः ५०% सेल्यूलोस, ३०% लिग्निन और २०% हेमीसेल्यूलोस पाया जाता है। लिग्निन रेशों को परस्पर बाँधता है, उसे शक्ति देता है और इसमें वह पदार्थ पाये जाते हैं जिनपर रसायनों की क्रिया तुरन्त प्रभाव डालती है। हेमीसेल्यूलोस भी सेल्यूलोस की भाँति जल में नहीं घुलते परन्तु ठंडे जलीय क्षार में घुल जाते हैं।

यान्त्रिक क्रिया से गोर्द बनाने के लिए लकड़ी के लट्ठे को पेपित्र के सामने बढ़ा दिया जाता है जिससे उसका गोर्द खुरचता है। ऊपर से पानी की धारा गिरती रहती है जो उस गोर्द को बहाकर आगे ले जाती है। इस प्रकार बने गोर्द में लिग्निन और हेमीसेल्यूलोस बचे रहते हैं। फलतः इससे बना कागज मजबूत नहीं होता। हाँ, गोर्द की प्राप्ति अवश्य अधिक यहाँ तक कि ९०% से अधिक तक भी होती है। रासायनिक लुगदी की प्राप्ति ४०-४५% तक ही होती है, जिसकी बराबरी में यह लगभग दुगुनी है। जहाँ मजबूत कागज बना अभिप्रेत होता है, वहाँ इस प्रकार से बनाई लुगदी में रासायनिक लुगदी (गोर्द) को भी मिला लिया जाता है।

रासायनिक गोर्द बनाने के लिए उच्च तापमान पर काष्ठ-खण्डों का उपयुक्त रसायनों द्वारा उपचार किया जाता है। जिससे लिग्निन का अधिकांश भाग निकल जाता है बहुत सा हेमीसेल्यूलोज भी निकल जाता है। इस गोर्द को श्वेत करने के लिए श्वेतन पदार्थों का प्रयोग किया जाता है जिससे बचा खुचा लिग्निन भी निकल जाता है और सेल्यूलोस मात्र बचा रहता है जो कागज बनाने की मुख्य वस्तु है। रासायनिक गोर्द सल्फाइट, सोडा, और सल्फेट नामक तीन प्रविधियों द्वारा तैयार किया जाता है जिनमें क्रमशः

कैल्सियम बाइसल्फाइट, कास्टिक सोडा तथा कास्टिक सोडा व सोडियम सल्फाइड मिश्रण का प्रयोग किया जाता है। रासायनिक गोर्द तैयार करने के लिए काष्ठ खण्डों का छोटा होना बहुत जरूरी है। इसीलिए जैसे बाँस से गोर्द बनाना हो तो पहिले उन्हें कोल्हू (या दलित्र) में चलाया जाता है, इससे गांठें टूट जाती हैं। फिर इनकी खंडित्र पर कुट्टी सी काट दी जाती है। इस खण्डित वस्तु को पाचित्र में डाला जाता है जिसमें ऊपर बताए हुए किसी रसायन का प्रयोग भी किया जाता है। उच्च तापमान और दवाव देने पर रसायन विलयनों की सहायता से काष्ठ-खण्ड गोर्द (लुगदी) के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं।

पाचन पूरा हो जाने पर लुगदी (गोर्द) को पौचर में डालकर धोया और आवश्यकता हो तो श्वेतन पदार्थ डालकर श्वेत भी बनाया जाता है।

कागज निर्माण करने की पूरी प्रविधि में सबसे महत्त्वपूर्ण क्रिया **आहनन** (अर्थात् बीटिंग) की है। एक प्रकार से यह परिभाषिक शब्द है जिसके अन्तर्गत गोर्द (या अन्य माल) को पानी में मिलाकर उसका यान्त्रिक उपचार किया जाता है। विशेष गुणों वाला और विशेष गुणों वाला कागज बनाने के लिए उसे आहनक में डाला जाता है। यह मशीन विभाजन युक्त तालाब सी होती है जिसमें एक बेलन लगा होता है जो एक विश्राम पट (Bed Plate) पर घूमता रहता है; इस क्रिया से प्रयुक्त पदार्थ के रेशे (तन्तु) अलग हो जाते हैं।

इसी स्थल पर कुछ अन्य क्रियाओं को भी किया जाता है जैसे चीनी मिट्टी की खनिजीय रंगाओं से कागज का भार बढ़ाना, जिससे कागज के तन्तुओं के बीच का स्थान पूरित हो जाता है, कागज पारान्ध बन जाता है तथा उसका भार बढ़ जाने से वह सस्ता हो जाता है। यहीं पर रोजिन (बिरोजा फिटकरी की सज्जा भी दी जाती है तथा आवश्यकता हो तो कागज को रँग भी दिया जाता है।

आहनित गोर्द जब कागज यन्त्र में पहुँचता है तो उसमें ९९ भाग पानी होता है जहाँ कई क्रमों में उस पानी को दूर किया जाता है। फलस्वरूप तन्तु छिद्र परस्पर मिलकर तन्तुओं की सूखी, सम्बद्ध और ठोस परतें सी बन जाती हैं। यह गोर्द नियन्त्रित गति से जाली पर चढ़ा-चढ़ा आगे बढ़ता है। आगे चलती हुई जाली इधर-उधर हिलती भी रहती है जिससे पानी बहता है और तन्तु छिद्र जुड़ते हैं।

जब यह जाली चूषक बक्सों पर होकर गुजरती है तो उनसे नया पानी ले लेती है। अन्तिम स्थिति में गोर्द (लुगदी) का नम पिंड या वेब बनता है जो काउच रोल द्वारा जाली से ऊपर उठ जाता है और आगे ले जाकर उसे दो जोड़ा बेलनों में दबा देता है। इस क्रिया के उपरान्त वेब में लगभग ६६% जल शेष रहता है जो आगे चलकर उपचार करने वाले भ्रामी धातु रंभों पर निकलता है। कैलेण्डर स्टेक में गुजरने पर कागज मुलायम हो जाता है तथा सूखकर उसका समापन भी हो जाता है। यही कागज है; इसे आप उपयोग करते हैं।

कागज बनने की यह प्रक्रिया तब पूरी तरह आपकी समझ में आ जाएगी, जब आप अपनी आँखों के समक्ष इसे होता हुआ देखेंगे। वहीं पर आपको उन यन्त्रों या साधनों को दिखाया जाएगा, जिनका इसमें उल्लेख किया गया है।

"कागज़ बनाने की प्रक्रिया का जो रोमांचक वर्णन आपने दिया वह निस्सन्देह मनोहारी है। क्या आप यह बताने की कृपा करेंगे कि कागज को एकदम यन्त्र पर बनाकर देखते हैं, या पहले किसी प्रयोगशाला आदि में प्रारम्भिक परीक्षा आदि करते हैं?"

यह बात आपने बड़ी मार्के की पूछी। यदि सभी परीक्षणों को सीधे कागज यन्त्र पर किया जाए तो इससे व्यय बहुत अधिक होगा, क्योंकि इस पर थोड़ा कच्चा माल लेकर कुछ करना सम्भव नहीं है। इसके

लिए सबसे पहिले हम प्रयोगशाला में ही परीक्षण आरम्भ करते हैं। फिर उन्हीं परिणामों की पुष्टि हम प्रदर्शक संयन्त्र पर करके देखते हैं। उस पर भी सफलता मिल जाती है तो उन परिणामों को प्रकाशित किया जाता है।
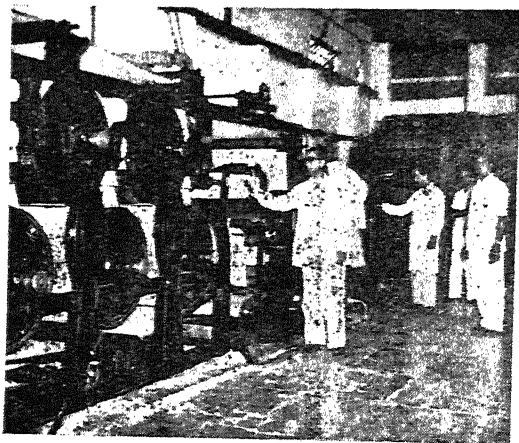
पुराना कागज निर्माण संयन्त्र जिसने पिछली अर्द्ध शताब्दी में अनुसंधान कार्य के लिए माध्यम का काम दिया

कच्चे माल को पकाने की स्वचालित भट्टियाँ, आहनक आदि सभी प्रयोगशाला में हैं। परीक्षण के तौर पर कागज बना लेने के पश्चात् उसकी आहनन शक्ति, कटने-मुड़ने को सहने की शक्ति, फैलने की अवरोध करने की शक्ति को मालूम किया जाता है। रेशेदार कच्चे माल का रासायनिक परीक्षण किया जाता है। इसके लिए तथा अन्य प्रयोजनों के लिए भी यहाँ अनेक उपकरण लगाए हुए हैं।

"आपने इस दिशा में जो उल्लेखनीय सफलताएँ प्राप्त कीं तथा जिन्हें कागज उद्योग ने भी अपनाया उनका परिचय भी क्या आप दे सकेंगे?"

"क्यों नहीं, क्यों नहीं, लिखाई व छपाई के कागज को ही लीजिए। आजकल इसके लिए बाँस और सबाई घास का उपयोग किया जाता है। घास वैसे ही कम मिलती है और बाँस की भी अनेक कार्यों के लिए बड़ी माँग है। इसके लिए हमारे अन्वेषणों के परिणामस्वरूप (देखिए विवरणिका संख्या १५८ व १६३) **सलई** की लकड़ी उपयोग की जाने लगी है। **मुटङ्ग** घास भी उपयुक्त सिद्ध हुई और उत्तर भारत की एक मिल इसकी रोपावनी लगवा रही है: हाथी घास कागज शहतूत, **करगल** की लकड़ी, वाटल काष्ठ, युकेलिप्टस काष्ठ ऐसे अन्य कच्चे माल हैं जिनकी कागज बनाने के लिए उपयोगिता हमारे यहाँ किये गये सम्परीक्षणों से ही मालूम हुई थी और जिन्हें व्यापक परिमाण पर इस प्रयोजन के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा है।

संवेष्टन कागज या कागज जिसकी बनी थैलियों में आप आजकल नमक खरीद कर लाते हैं—बनाने के लिए भी अनेक सफल अन्वेषण किये गये हैं। इसके लिए महत्वपूर्ण बात यह है कि कागज सस्ता मिलना चाहिए। उत्तर प्रदेश में मिलने वाली मुड़ी चीड़ से जिसकी लकड़ी किसी काम नहीं आ पाती, सफलतापूर्वक संवेष्टन (रैपिंग) कागज बनाया गया है। एक कागज मिल व्यावसायिक परिमाण पर इस खोज का उपयोग करेगी।

अखबारी कागज की कमी से आप अवश्य परिचित होंगे क्योंकि पिछले ही दिनों इसके कोटे में १० प्रतिशत की कमी कर दी गई थी। न्यूज प्रिंट काफी परिमाण में बाहर से भी आता है, वैसे भारत में ऐसा कागज तैयार करने की केवल एक मिल है जो बाँस और सलई के श्वेतित मिश्रित गोदें (लुगदी) से अखबारी कागज तैयार करती है। पपीते (**स्टैर-कूलिया कौम्यानुलेटा**) के काष्ठ से उपयुक्त शक्ति, गुणों तथा रंग वाला अखबारी कागज बना। वाटल और युकेलिप्टस से भी उपयुक्त शक्ति गुणों वाला यान्त्रिक गोदें बना परन्तु उसको श्वेतित करना वांछनीय होता है जिससे निर्माण में व्यय बढ़ जाता है।

इसी तरह गता बनाने के लिए धान की भूसी (कामू), गन्ने का फोक, उल्ला घास, पन्नी घास का उपयोग करना सफल रहा। अरंडी का तना और

अलसी की डंठलें भी उपयुक्त कच्चा माल सिद्ध हुई हैं।

"अब आप से थोड़ा सा ऐतिहासिक परिचय और हमें चाहिए जिससे हम जान सकें कि आपकी शाखा कब से इस उपयोगी कार्य में दत्तचित है।"

इसका बीजारोपण १९०६ में समझिए—तब यहाँ के वन अर्थशास्त्रज्ञ श्री सियर्सन ने जाँच करके यह प्रतिवेदन दिया कि बाँस-क्षेत्रों का व्यावसायिक उपयोग कराया जा सकता है। फिर १९१० में श्री डब्लू० रायट की नियुक्ति हुई जिन्हें लुगदी और कागज निर्माण के बारे में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त थी। कागज गोर्द (या लुगदी) अनुभाग का प्रारम्भिक कार्य उन्हीं के हाथों हुआ। उनका मुख्य कार्य बाँसों के सम्बन्ध में था। उनके अन्वेषणों का महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकला कि बाँसों की गाँठों (संधियों) को बिना काटे कागज निर्माण के लिए उपयोग किया जा सकता है। उन्होंने लुगदी (गोर्द) बनाने की सामान्य रीति में भी सुधार किया और (फ्रैक्शनल डायजेस्शन) प्रभाजनिक पाचन की प्रविधि को विकसित किया।
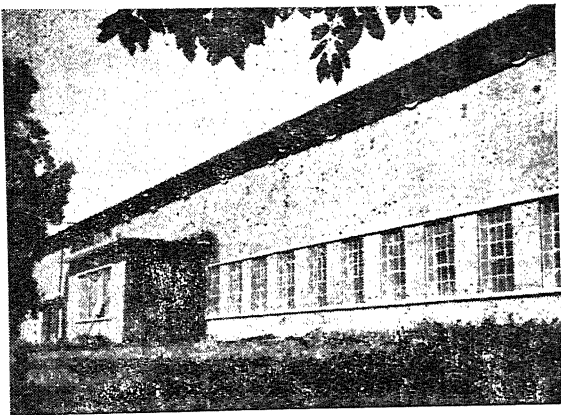
कोशाधु व कागज में आए हुए नये दिग्दर्शक संयन्त्र के लिए बनाया गया नया भवन

१९२० में ३ टन कच्चा माल प्रतिदिन उपयोग कर सकने वाला २ लाख की लागत का कागज निर्माण संयन्त्र मँगाया गया। इस पर किये गये सम्परीक्षणों की उपयोगिता का इस बात से अनुमान हो सकता है कि आजकल प्रयुक्त कच्चे मालों में ७० प्रतिशत बाँस ही है।

रायट के उत्तराधिकारी बने श्री भार्गव। उन्होंने बाँस की लुगदी बनाने के कुछ पक्षों पर कार्य किया, जिनके परिणामस्वरूप क्राफ्ट कागज बनाने की मिल उड़ीसा में चालू हुई। संवेष्टन कागज बनाने, पूरक के लिए चीनी मिट्टी का उपयोग, अखबारी कागज बनाने के लिए भी उनका मूल्यवान योगदान रहा है।

श्री भार्गव की ही योजना के परिणामस्वरूप आधुनिक ढंग पर इस शाखा का विस्तार हुआ, अनुसन्धान और प्रशिक्षण की सुविधाएँ बढ़ीं और १९४९ में साढ़े तेरह लाख रुपये की लागत की नई मशीन अमेरिका से आई जिसकी दैनिक क्षमता ६ टन कागज निर्माण करने की है। इसी योजना के फलस्वरूप नया कार्यालय, नई प्रयोगशाला और कागज निर्माण मशीन के लिए नये भवनों का निर्माण हुआ। कुल मिलाकर इन पर लगभग ५० लाख रुपये का व्यय हुआ है।

भार्गव का स्थान फिर १९२० में श्री भट्ट ने ग्रहण किया और तत्पश्चात् १९६१ में श्री गुहा ने—जो आजकल प्रभारिक हैं। शाखा निम्न प्रकार से का[र्य] करती है :—

(१) वनोत्पादों तथा कृषि निसृष्टों से सेल्यूलोस लुगदी, कागज, बोर्ड (फलक) बनाने के बारे [में] अनुसन्धान।

(२) कागज उद्योग के कर्मचारियों का प्रशिक्षण

(३) प्राविधिक सूचना संग्रह और वितरण।

कुछ विशेष प्रकार की लुगदियाँ भी यहाँ तैया[र] की जाती हैं तथा उनके विषय में अनुसन्धान कि[या] जाता है जैसे विस्कोस रेयन लुगदी (गोर्द), नाइ[ट्रो] सेल्यूलोस लुगदी (गोर्द), ग्रीज-सह कागज के लि[ए] उपयुक्त लुगदी, ब्रेल कागज बनाने की लुगदी। कह[ना] न होगा कि ये विशिष्ट 'प्रकार की लुगदियाँ हैं औ[र]

विशिष्ट प्रकार के कागज आदि इनसे बनते हैं।

प्रशिक्षण तो यहाँ किया ही जाता है क्योंकि देश में एकमात्र यही एक ऐसा केन्द्र है जहाँ संगठित रूप से कागज-फलक आदि से सम्बन्धित अनुसन्धान किया जाता है। इसके अतिरिक्त अगस्त १९५७ से यहाँ कागज और गोंद प्रोद्यौगिकी में एक डिप्लोमा पाठ्य-क्रम भी आरम्भ कर दिया गया है। यहाँ इस प्रकार कागज प्रोद्यौगिकी के ज्ञान का ऐसा निर्झर है जिसमें अनुसन्धान से निरन्तर ज्ञान का शुद्ध जल आता रहता है, जो प्रशिक्षण के लिए आए हुए ज्ञान पिपासुओं की प्यास बुझाता रहता है।

●●

जहाँ पक्षपात तक नहीं होता था वहाँ भी

डा० शिवगोपाल मिश्र

यह सर्वविदित है कि स्वीडिश एकेडमी आफ सांइसेज (स्वीडन की विज्ञान अकादमी) तथा कैरोलिस्का इंस्टीट्यूट—ये दोनों ही संस्थायें मिलकर नोबेल पुरस्कार सम्बन्धी समस्त कार्यवाइयाँ करती हैं। नोबेल पुरस्कार प्रदान करने का कार्य एक पुनीत कार्य है। फिर विज्ञान में इस पुरस्कार का प्रदान किया जाना तो और भी गुरु गम्भीर समस्या होती है। किन्तु पिछले बासठ वर्षों से यह कार्य अत्यन्त सुचारु रूप से चलता रहा है। सामान्यतः कोई ऐसी अनियमितता नहीं दृष्टिगोचर होती, जिसकी ओर सर्वसाधारण भी अँगुली उठा सके।

नोबेल पुरस्कार प्राप्त करना कितना बड़ा सम्मान है, उसके प्राप्त करने के लिए कौन-कौन उत्सुक रहते हैं और अन्तिम निर्णय किसके पक्ष में रहता है, इन सभी चीजों की कल्पना कर पाना भी कठिन है। आजकल नोबेल पुरस्कार का आदर साठ वर्ष पहले से कहीं अधिक है। वैज्ञानिक क्षेत्र ऐसा है जिसमें अनेकानेक वैज्ञानिक शोधों में व्यस्त रहते हैं और उनके विचारों एवं सिद्धान्तों में काफी मतभेद रहता है। ऐसी स्थिति में ईर्ष्या, एवं स्पर्धा का होना स्वाभाव-सा है। फिर इस उच्चतम सम्मान को प्राप्त करने की लालसा का सबों में होना—!! पहले तो नोबेल पुरस्कार के विजेता बनने के लिए बड़ी होड रहती थी, बड़ा प्रचार होता था, बड़े-बड़े वैज्ञानिक परस्पर टकरा जाते थे, क्योंकि उच्चतम सम्मान, लोकप्रियता एवं सर्व-स्वीकृति के साथ ही पुरस्कार के रूप में मिलने वाली अतुल धनराशि से लोगों के मुँह में पानी आ जाता था। इतनी धनराशि शायद ही कोई कठिन कमाई के भी बल पर संग्रह कर पावे—इसी दृष्टि से बड़ा रेलपेल मचा रहता था। किन्तु आश्चर्य ही समझें कि पुरस्कार प्रदान करने का कार्य नियमित रूप से चलता रहा है और जितने भी निर्णय होते रहे हैं वे बिल्कुल ठीक एवं सर्वमान्य रहे हैं। केवल कभी कभी ही ऐसी झूठी खबरें प्रचारित हुई हैं कि प्रस्तावकों में से कुछेक ने अपने ही नाम प्रस्तावित किये थे।

इतने गुरुतम कार्य के वहन करने में कहीं न कहीं त्रुटि हो जाने की सम्भावना बनी रहती है। नोबेल पुरस्कार के प्रदान किये जाने के सम्बन्ध में भी एक ऐसा अपवाद है जिसे हम 'अन्याय' कह सकते हैं। सन् १९२३ का नोबेल पुरस्कार औषधि पर प्रदत्त हुआ। यह पुरस्कार बैंटिंग तथा मकलियोड को इंसुलिन की खोज के लिए मिला था। यद्यपि इस पुरस्कार की आधी

राशि मकलियोड को भी प्रदान हुई थी, किन्तु जिन दिनों पेंसिलिन की खोज की गई थी उन दिनों मकलियोड स्काटलैंड की एक पहाड़ी नदी में मछली का शिकार करने में व्यस्त थे। बैंटिंग और बेस्टन, इन दो वैज्ञानिकों ने कनाडा स्थित मकलियोड की अनुसन्धानशाला में रात-दिन काम किया और कुछ ही सप्ताहों में पेंसिलिन की खोज कर ली थी। जब मकलियोड लौटकर कनाडा आये तो उन्होंने इन दो युवा वैज्ञानिकों की खोज को वृथा की चीज कह कर वर्णित किया। जब नोबेल पुरस्कार प्राप्त हो गया तो जनता में बड़ा क्षोभ फैला। फलस्वरूप मकलियोड ने अपने एक दूसरे सहयोगी को भी हिस्सा दिया किन्तु वह भी उसने स्वयमेव नहीं किया। जब बैंटिंग ने बेस्टन को अपने आधे पुरस्कार में से हिस्सा बाँटा तो उसे देख कर मकलियोड ने वैसा ही किया था।

इसे हम अपवाद ही मान सकते हैं अन्यथा सदैव ही नोबेल पुरस्कार सुपात्रों को ही मिला है और सुपात्र के निर्णय में कभी कोई शिथिलता या त्रुटि नहीं बरती गई। विज्ञान के क्षेत्र में स्वीडन के वैज्ञानिकों द्वारा किया गया निर्णय सर्वोच्च रहा है। किन्तु ये सब बातें विज्ञान सम्बन्धी पुरस्कार में ही लागू होती हैं। साहित्य तथा शान्ति पर प्रदत्त पुरस्कारों के सम्बन्ध में यही बात लागू नहीं कही जा सकती। साहित्यिक प्रभावों के सम्बन्ध में भविष्यवाणी कर पाना अत्यन्त दुष्कर है और फिर जितने भी लोगों को साहित्य में नोबेल पुरस्कार मिला है वे न तो विश्व साहित्य में अपना उच्च स्थान ही स्थिर रख सके हैं और न उनको विश्वख्याति ही मिली है। फलतः ऐसे अनेक साहित्यिकों को यह पुरस्कार प्राप्त हो चुका है जिनके नाम तक लोगों को याद नहीं है जबकि पुरस्कार विजेताओं की सूची में अनेक ऐसे नाम सम्मिलित नहीं हैं जो महान कवि एवं लेखक थे। उदाहरण के लिए हम टालस्टाय, इब्सन, स्ट्रिंडबर्ग या रिल्के के नाम ले सकते हैं।

शान्ति पर नोबेल पुरस्कार प्राप्त करने वालों में अनेक विख्यात व्यक्ति हैं। उदाहरणार्थ रेडक्रास के जन्मदाता डुर्नेट अथवा नोबेल की परममित्र श्रीमती बेर्टा फान सुटनर। शायद ही कोई महान शान्तिदूत इस पुरस्कार से विभूषित न किया गया हो। हाँ भारत में एक ओर जहाँ विज्ञान तथा साहित्य में क्रमशः रमन एवं टैगोर के नाम नोबेल पुरस्कार विजेताओं में चमक रहे हैं, शान्ति के वाहक विश्ववंद्य बापू को शान्ति के पुरस्कार से वंचित रखा गया। क्या नेहरू जी भी इस पुरस्कार के योग्य नहीं हैं ? क्या साहित्य के क्षेत्र में विशेषतः खड़ी बोली हिन्दी के काव्य-क्षेत्र में आजकल नोबेल पुरस्कार प्राप्त करने के योग्य कोई कवि हुआ ही नहीं ? उत्तर स्पष्ट है। अभी भारतीय भाषाओं तथा विश्व की अनेकानेक भाषाओं को वह स्थान नहीं प्राप्त है जो अंग्रेजी, फ्रेंच भाषाओं को है। निर्णायकों को कितने बड़े उदारचेता होने की आवश्यकता है, स्वतः स्पष्ट है।

यदि विज्ञान के क्षेत्र में नोबेल पुरस्कार विजेताओं की सूची का अध्ययन किया जाय और साथ ही विज्ञान के विकास एवं उसकी प्रमुख खोजों पर ध्यान दिया जाय तो देखा जावेगा कि उक्त सूची में से तीन महत्वपूर्ण नाम गायब हैं। ये नाम हैं—डाक्टर वाल्टर मुलर, डा० रुस्का तथा डा० ब्रुके एवं उनके सहयोगी।

आज का युग नाभिकीय युग है। किन्तु क्या कोई बता सकता है कि नाभिकीय एवं विकिरण की शोध के लिए आजकल बहुप्रचलित यंत्र 'गाइगर मुलर' के आविष्कर्ता को नोबेल पुरस्कार क्यों नहीं प्रदान किया गया ? डा० वाल्टर मुलर ही इस महत्वपूर्ण यन्त्र के जन्मदाता थे। वे प्रोफेसर गाइगर के निर्देशन में कार्य कर रहे थे। जब उन्होंने इस यन्त्र की खोज की तो उनकी मासिक छात्रवृत्ति १५० डी-एम ही थी। डा० मुलर की इस खोज से विज्ञान को एक नया बल मिला था और सारे विश्व में इसकी सराहना भी हुई थी।

कहा जाता है कि आस्ट्रेलिया के एडेलेड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर सर कर ग्रांट ने जब यह सम्वाद सुना तो उत्सुकतावश उन्हें रात्रि भर नींद नहीं आई थी। आश्चर्य है कि जर्मनी के इस वैज्ञानिक की सेवाओं को मान्यता नहीं प्रदान की गई और जर्मनी में न रह कर अब वे अमेरिका के एक औद्योगिक केन्द्र में कार्य कर रहे हैं।

यही दयनीय दशा रुस्का एवं बुके की हुई। उन्होंने डा० बुश की विचारधारा के अनुसार कार्य करते हुए इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी (माइक्रोस्कोप) का ईजाद किया। इस नवीन खोज ने वैज्ञानिक क्षेत्र में सूक्ष्मतर वस्तुओं के निरीक्षण करने में क्रांति ला दी। तब तक २०००-४००० गुना तक आवर्धन सम्भव था, किन्तु इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी से यह आवर्धन २००,००० तक संभव हो गया जिसका सबसे बड़ा उपयोग जैव, औषधि तथा रसायन अनुसन्धानों में होने लगा। किन्तु इस यन्त्र के आविष्कर्ताओं को क्या मिला ?

गाइगर मूलर गणक एवं इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी ऐसी दो विशिष्ट खोजें थीं, जो नोबेल पुरस्कार प्रदान होने वाले विषयों की परिभाषा के अन्तर्गत आती हैं। नोबेल पुरस्कार प्रदान होने के लिए आवश्यक है कि अमुक किसी खोज के द्वारा मानवीय ज्ञान में निश्चित रूप से प्रगति हुई हो। क्या स्वीडन के वैज्ञानिक इन दो अपवादों के निराकरण के लिए कुछ कर सकेंगे ? इन आविष्कारों के बिना नोबेल पुरस्कार की सूची सदैव अधूरी रहेगी।

●●

भारत में एल्यूमिनियम उत्पादन

रमेशचन्द्र तिवारी

प्रगति के पथ पर अग्रसर होता हुआ हमारा देश भी निकट भविष्य में ही रूस और अमेरिका जैसे औद्योगिक देशों की श्रेणी में पहुँच जावेगा। तृतीय पंचवर्षीय योजना में धातु उद्योग के विकास पर काफी ध्यान दिया जा रहा है। धातु-उद्योगों में एल्यूमिनियम के व्यावहारिक उत्पादन के विकास हेतु पर्याप्त धन व्यय भी हो रहा है। वर्तमान उद्योगों में एल्यूमिनियम का काफी उपयोग होने के कारण विश्व भर का उत्पादन निरन्तर बढ़ रहा है। हमारे देश में इस समय एल्यूमिनियम का कुल उपयोग लगभग ५४००० टन प्रति वर्ष है जब कि इसका वार्षिक उत्पादन केवल १८००० टन ही है। तृतीय पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ में एल्यूमिनियम का कुल उत्पादन १८१०० टन प्रति वर्ष था। किन्तु आशा है कि इस योजना के अन्त तक उत्पादन में लगभग ७०,००० टन की और वृद्धि हो जायेगी।

एल्यूमिनियम उत्पादन में वृद्धि का एक मुख्य श्रेय दक्षिणी उत्तर-प्रदेश के मिर्जापुर जिले में निर्मित **हिन्दुस्तान-एल्यूमिनियम कारपोरेशन** को है। इस कारखाने में उत्तर-प्रदेश सरकार, घनश्याम दास बिड़ला तथा अमेरिका के एक उद्योगपति कैजर का मुख्य हाथ है। इसकी कुल लागत लगभग ३० करोड़ रुपये है। इस कारखाने से अनुमानित दर से उत्पादन प्राप्त करने के लिये ही अमेरिकी अभियन्ताओं की सहायता की गई है। इस कारखाने का निर्माण केवल १८ माह के अन्दर ही पूरा हो गया था और आशा है इस वर्ष के अन्त तक इसका वार्षिक उत्पादन लगभग २०,००० टन हो जायेगा। अभी तक इसमें अमेरिका से आयात एल्यूमिना चूर्ण से एल्यूमिनियम की ईंटों का निर्माण होता रहा है, परन्तु केन्द्रीय

कसरार की अनुमति से अब इन ईंटों को, चद्दरों के रूप में ढालने की एक अलग शाखा निर्मित की जा रही है। इस शाखा में १९६४ के अन्त तक उत्पादन आरम्भ कर दिया जायेगा। इस प्रकार यह अनुमान लगाया जा रहा है कि अगले विकास कार्य के उपरान्त इस कारखाने का कुल उत्पादन लगभग ५०,००० टन तक पहुँच जावेगा।

देश में एल्यूमिनियम के एक प्रधान कच्चे माल **बाक्सा ट** की अत्यधिक मात्रा में प्राप्ति इस कारखाने को सफल बना रही है। कुछ बाक्साइट का तो निर्यात भी हो रहा है। अतः अनन्त मात्रा में प्राप्त बाक्साइट अयस्क इस उद्योग के द्वारा राष्ट्र की आर्थिक स्थिति में सुधार कर सकेगा। यहाँ से उत्पादित एल्यूमिनियम इतना शुद्ध और मजबूत है कि इससे विद्युत संचारण के अच्छे किस्म के चालक आजकल बाजार में उपलब्ध हैं।

एल्यूमिनियम का अयस्क बाक्साइट

बाक्साइट अयस्क से **एल्यूमिनियम** निर्माण के लिये एल्यूमिना (एल्यूमिनियम आक्साइड) का निस्सारण किया जाता है। एक टन एल्यूमिनियम बनाने के लिये लगभग ४·६ टन बाक्साइट की आवश्यकता होती है। हिन्दुस्तान एल्यूमिनियम कारपोरेशन का बाक्साइट **बिहार-प्रान्त** के **लोहरदागा** क्षेत्र से प्राप्त हो रहा है। बाक्साइट की यह खान लगभग १,२८४ एकड़ क्षेत्रफल में फैली हुई है और यह अनुमान लगाया गया है कि इसमें लगभग ६ लाख टन अयस्क हैं। इसके अतिरिक्त **मध्य-प्रदेश** के **अमर कंटक** क्षेत्र में भी बाक्साइट की एक खान मिली है जो लगभग १,२३६ एकड़ क्षेत्रफल में फैली हुई है, जिसमें लगभग ३ लाख टन बाक्साइट होगा। हमारे देश में बाक्साइट की कुल अनुमानित मात्रा २५० लाख टन है, परन्तु अभी तक केवल २५ लाख टन बाक्साइट एल्यूमिनियम धातु के उत्पादन के योग्य सिद्ध हुआ है। हमारे यहाँ से ४० रुपया प्रति टन की दर से प्रति वर्ष लगभग ५,५०,००० टन बाक्साइट का निर्यात होता है जब कि एल्यूमिनियम का आयात ३००० रुपया प्रति टन की दर से दिया जा रहा है।

बाक्साइट से एल्यूमिनियम की निर्माण विधि

प्रकृति में प्राप्त धातुओं में एल्यूमिनियम का तृतीय महत्त्वपूर्ण स्थान है। एल्यूमिनियम धातु का पृथक्करण सर्वप्रथम **डेनमार्क के रसायन-शास्त्री एच० सी० ओरस्टेड** ने **अनार्द्र एल्यूमिनियम क्लोराइड** को **पौटैसियम संरस** के द्वारा अपचित करके किया। २५ वर्ष पश्चात् जर्मनी के एक विख्यात वैज्ञानिक **फ्रेडरिक वूलर** ने **पोटैसियम** धातु को अनार्द्र एल्यूमिनियम क्लोराइड के अपचयन के लिये प्रयुक्त करके एल्यूमिनियम धातु का निर्माण किया और इसके भौतिक गुणों की परीक्षा भी की। **वूलर** ने इसे हल्का, लोचदार और टिकाऊ धातु घोषित किया।

सन् १८४५ में फ्रान्स के वैज्ञानिक सेन्तक्लेर डेविए ने एक सस्ती विधि से एल्यूमिनियम का निर्माण किया। उन्होंने अनार्द्र शुष्क एल्यूमिनियम क्लोराइड का अपचयन सोडियम से करके इस विधि को सम्पन्न किया। १८५२ में इस धातु का मूल्य २,००० रुपया प्रति पौंड था, १८५६ में १६० रुपया प्रति पौंड तथा १९६० में ८० रुपया प्रति पौंड हो गया। १८८६ ई० में एल्यूमिना के एक विद्युद्विश्लेष्य को **क्रायोलाइट** में घोलकर उसको विद्युत विच्छेदित करके इससे एल्यूमिनियम के छोटे-छोटे कणों का निर्माण किया और आजकल ९०% एल्यूमिनियम इसी विधि से बनाया जा रहा है।

बाक्साइट से एल्यूमिनियम का व्यापारिक विधि द्वारा उत्पादन :—हिन्दुस्तान एल्यूमिनियम कारखाने में बाक्साइट से ९९% प्रतिशत उपलब्ध एल्यूमिना का निस्सारण बेयर की विधि से किया जा रहा है। इस विधि के अन्तर्गत बाक्साइट को एक निश्चित वायु दाब पर कास्टिक सोडा विलयन से क्रिया कराके सोडियम एल्यूमिनेट में परिवर्तित कर दिया जाता है। तलछट के रूप में अविलेय पदार्थ बच रहता है। तत्पश्चात् स्वच्छ **सोडियम एल्यूमिनेट**

विलयन को ठंडा करके उसमें थोड़ा-सा एल्यूमिना हाइड्रेट डाल कर **मणिभीय हाइड्रेट** बना लिया जाता है। इस हाइड्रेट को छानकर इसको कैलसियम के द्वारा शुष्क करके **शुष्क-एल्यूमिना** प्राप्त कर लिया जाता है और तब विद्युत-विच्छेदन के द्वारा इस एल्यूमिना से एल्यूमिनियम धातु बनाई जाती है।

गणना से यह ज्ञात हुआ है कि एक टन एल्यूमिनियम तैयार करने में विभिन्न कच्चे पदार्थों की निम्नलिखित मात्रायें आवश्यक हैं :—

बाक्साइट	५ टन
कास्टिक सोडा	०·१२५ टन
ईंधन, तेल	०·३१५ टन
कोयला	१·५ टन
चूना	०·१२५ टन
सोडा राख	०·०५५ टन
स्टार्च	०·०१ टन

खानों से मँगाये गये बाक्साइट को एक बड़ी चूर्ण करने वाली चक्की द्वारा चूर्ण कर लिया जाता है और इसको त्रिकोण आकार के टैंकों में जमा करके गरम कास्टिक सोडा से भरे बर्तनों से जोड़ दिया जाता है। ये बर्तन अर्ध्वाधर प्रकार के दाब पात्र होते हैं जिनमें से प्रत्येक में टर्बाइन जैसे मिश्रक तथा मिश्रण के समुचित प्रवाह के लिये पत्तियाँ लगी रहती हैं। उच्च दाब पर संतृप्त वाष्प को पाचक यंत्र में प्रवाहित किया जाता है और मिश्रण का ताप ४७०० फा० करके ६० मिनट तक रखा जाता है। उसके बाद मिश्रण फौवारों के नीचे ठंडा कर लिया जाता है।

पाचक यंत्रों के वाष्प में से अविलेय अशुद्धियों को दूर करने के लिये प्रयोग किये जाते है। इसी समय मांड को भी इसी में डाला जाता है, जिससे तलछटीकरण में सहायता मिलती है। लाल मिट्टी यहीं तलछट के रूप में बैठ जाती है और उसको अच्छी तरह धोकर उसमें से मुक्त कास्टिक सोडा विलग कर लिया जाता है। इस लाल मिट्टी को लाल मिट्टी वाले तालाब में पम्प कर दिया जाता है।

स्वच्छ **सोडियम एल्यूमिनेट** विलयन को छनन एकत्रण टंकियों के द्वारा कई बुर्जों से होकर पम्प किया जाता है तथा यह मिश्रण ४७०°फा० से २००° फा० तक ठंडा होकर अवक्षेपण टंकियों में चला जाता है।

अब यह ठंडा मिश्रण ११ अवक्षेपण टंकियों में पम्प किया जाता है। एक टंकी में यह मिश्रण ३५ घंटे तक पड़ा रहता है तथा इसी में सूखा एल्यूमिना चूर्ण डाला जाता है। जिससे एल्यूमिना अवक्षिप्त हो जाता है। तत्पश्चात् अवक्षिप्त हाइड्रेट तथा तरल को दूसरी टंकी में पम्प किया जाता है जहाँ से कुछ भाग तो हाइड्रेट छन्ने में चला जाता है और बचा भाग फिर से अवक्षेपण टंकियों में चला जाता है। यहाँ से बचा तरल, जिसमें कास्टिक सोडा रहता है पुनः पाचक टंकियों को चला जाता है। अवक्षेप को धोकर उससे बचा हुआ कास्टिक सोडा भी विलग कर लिया जाता है।

इस एल्यूमिना अवक्षेप को पेंच के आकार के वाहकों की सहायता से १७५ फुट लम्बी तेल से गरम भट्टियों में पहुँचा कर जल से मुक्त कर दिया जाता है। अब यह शुष्क एल्यूमिना पट्टों द्वारा चालित वाहकों की सहायता से संरक्षण हौजों में पहुँच जाता है। यहाँ से एल्यूमिना का विद्युत्-विच्छेदन करके शुद्ध एल्यूमिनियम निकाला जाता है। भट्टियों में कार्बन धनाग्र और क्रयोलाइट का पिघला हुआ विद्युद्विश्लेष्य रहता है जिसमें यह चूर्ण विलेय हो जाता हैं। इस विलयन को श्रेणीबद्ध बर्तनों (जिसमें १२ कार्बन धनाग्र की दो पंक्तियाँ होती है) में डाल दिया जाता है। इसमें विद्युत प्रवाहित होती रहती है और इस प्रकार एल्यूमिनियम धातु तरल अवस्था में प्राप्त होती हैं। इस तरल को बड़ी-बड़ी घरियों (मूषाओं) में साइफन करके साचों में डाला जाता है जहाँ ईंटों के रूप में एल्यूमिनियम मिलता है।

इस विधि में प्रयुक्त कार्बन धनाग्र कोयला तथा पेट्रोलियम कोक से बनाया जाता है तथा एक बार प्रयुक्त धनाग्र पुनः चूर्ण करके प्रयोग में लाया जाता है। इस प्रकार इस विधि द्वारा हल्के, मजबूत, टिकाऊ, अविषाक्त, अचुम्बकीय, चमकीले और चिकने एल्यूमिनियम धातु का उत्पादन होता है। इसके अतिरिक्त इस धातु की उष्मा तथा विद्युच्चालकता भी अधिक होती है। इसमें विकीर्ण उष्मा तथा प्रकाश को परावर्तित करने की क्षमता भी होती है। इस पर प्रकाश, उष्मा, तथा नमी का कोई प्रभाव नहीं पड़ता तथा इसमें मुर्चा भी नहीं लगता।

बहु-उपयोगी ऐसबस्टॉस

ओंकारनाथ शर्मा

ऐसबस्टॉस ग्रीक भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है—"अग्निजित" अर्थात् जो आग में जले नहीं। यह एक खनिज पदार्थ होते हुए भी विशुद्ध तन्तुमय है। इसके टुकड़ों को हाथ से छूने पर पत्थर नहीं बल्कि रेशम की ग्रन्थियाँ-सी मालूम पड़ती हैं। यदि इसे बहुत तपाया जावे तो २८००° फ० पर द्रवित भी हो जाता है, लेकिन आग नहीं पकड़ता अत इसकी इसी अप्रज्वलनशीलता के गुण के कारण, और साथ ही ऊष्मा तथा विद्युत् के लिए कुचालक होने के कारण आधुनिक उद्योगों में इसकी बहुत खपत होती है। इसके रेशों को बट कर और गूँथ कर पैकिंग के लिए रस्सियाँ, इसकी लुगदी को कागज की तरह बेलकर अथवा कपड़े की तरह बुनकर ऊँची गरमी में रहने वाले यंत्रांगों के जोड़ बनाने के शीट, पुट्ठे बड़ी-बड़ी दफ्तियों के समान बनाये जाते हैं। इंजन के सिलिण्डरों, बायलरों और वाष्प नलों के जोड़ बनाने के लिए तो इससे अच्छी, अथवा इसके मुकाबिले की कोई चीज है ही नहीं। उच्चदाब सहने के लिये इसके रेशों की बुनाई के बीच इस्पात या ताँबे के बारीक तार भी गूँथ दिये जाते हैं। पिस्टन पैकिंग के लिए रस्सों में तारों के अतिरिक्त चरबी और ग्रेफाइट का भी मिश्रण कर दिया जाता है।

पृथ्वी की सतह पर हार्नब्लेण्ड या ऐंफीबोल, औजाइट, अभ्रक, क्राइसोलाइट और सर्पिलधातुक की पुरानी चट्टानों के साथ-साथ ऐसबस्टॉस के संग्रह भी पाये जाते हैं। रासायनिक विश्लेषण द्वारा पता चलता है कि जिस प्रकार की चट्टानों के पड़ौस में यह पाया जाता है उसी प्रकार के पदार्थों का संघटन इसमें भी पाया जाता है। अतः इसमें मुख्यतया सिलिकेट ऑफ मैगनीशिया $Si\,O_3Mg$ होता है और साथ ही में कुछ चूना, एल्यूमिना और लोहे का भी अंश होता है। खान में से निकले पदार्थ का रंग उपर्युक्त मिश्रणों के प्रभाव से कभी पीला, खाकी, हरा अथवा नीला भी पाया जाता है। कहीं कहीं बिलकुल सफेद रंग भी होता है। इसमें कुछ पानी का अंश भी होता है अतः उसकी मात्रा और संयुक्त होने के प्रकारानुसार यह दो वर्गों में बाँटा जा सकता है जिन्हें ऐंफिबोल और क्राइसोलाइट कहते हैं। ऐंफिबोल में लगभग ५% पानी मिश्रित रहता है और क्राइसोलाइट में लगभग १५% पानी रहता है जिसमें से लगभग ३% पानी स्वतंत्र रूप में होता है। इस अधिक पानी के कारण हो जब क्राइसोलाइट ऐसबस्टाँस को १२०० फ० तक गरम किया जाता है तब उसकी सामर्थ्य तथा अन्य गुणों में बड़ा भारी ह्रास हो जाता है, लेकिन जब ऐंफिबोल ऐसबस्टॉस

को गरम किया जाता है तब उसमें कम पानी मिला होने के कारण किसी प्रकार का ह्रास दृष्टिगोचर नहीं होता और कई बार तो वह लगभग २४००° फ० तक के ताप को भी सह लेता है। लेकिन इसमें एक बड़ा भारी दुर्गुण यह भी है कि इसके रेशे अत्यन्त भंगुर होने के कारण उनकी कताई अथवा बुनाई नहीं हो सकती। इसीलिए इस वर्ग का व्यापारिक महत्त्व नहीं रह सका।

क्राइसोलाइट के बहुत विशाल संग्रह दुनिया के अनेक भागों में पाये गये हैं जिसके रेशे काफी चिमड़े, लम्बे तथा रेशम के जैसे मुलायम होते हैं, जिनकी कताई और बुनाई भी बड़ी सरलता से की जा सकती हैं। दक्षिणी अफ्रीका से प्राप्त होने वाले ऐसबस्टॉस को "केप" भी कहते हैं, जिसके रेशे सबसे लम्बे, मुलायम और लचीले होते हैं। उनमें कुछ लोहे का आक्साइड मिला होने के कारण उनका रंग भी हल्का आसमानी प्रकार का बड़ा सुन्दर लगता है, लेकिन बिजली के काम के लिये अधिक उपयोगी नहीं समझा जाता।

ऐसबस्टॉस की खुदाई और तैयारी :—यह पदार्थ चट्टानों के रूप में पाया जाने के कारण खुली हुई खानों में से निकालने के बाद सबसे पहिले उन्हें कुचल कर तथा हथौड़े से उन टुकड़ों की कुटाई कर-कर बारीक बुरादा जो रेत के रूप में होता है छान कर पृथक कर दिया जाता है और बची हुई लच्छियों को उपयोगानुसार तीन वर्गों में बाँट दिया जाता है यथा :—(१) लम्बे रेशे युक्त लच्छियाँ जो कि कताई और बुनाई के लिये उपयोगी होती हैं, (२) छोटे रेशोंयुक्त टुकड़े जिनसे दफ्तियाँ आदि बनाई जा सकती हैं, (३) रेशों के बारीक टुकड़े अथवा चूर्ण, जो कि सीमेण्ट, रंग, नल और बायलरों के आवरण बनाने के काम में आ सकता है।

उपर्युक्त तीनों वर्गों से अनगिनत प्रकार की उपयोगी चीजें बन सकती हैं, यथा नाटक घरों में अग्निजित परदों के लिये दोहरे तख्ते, कारखानों के तथा आवास घरों के लिये विभाजक दीवारें, बायलरों में आग झोंकने वालों तथा बिजली वालों के लिये दस्ताने और कपड़े; लालटेनों की बत्तियाँ, गैस के चूल्हों के लिये अग्निजित अवयव, लकड़ी के ढाँचों को अग्निजित बनाने के लिये पेण्ट आदि बनाने में इसका बहुत उपयोग होता है। इंजन सिलिण्डरों और वाष्प नलों की सन्धियों के बीच में देने के लिये इससे जो दफ्तियाँ बनाई जाती हैं जिन को आवश्यकतानुसार वलय आदि के रूप में भी काट कर बेचते हैं।

उन्हें अधिक मजबूत बनाने के लिये उनकी मोटाई के बीच में बनाते समय ही बारीक तार की जाली अथवा धातु की बहुत ही पतली चादर दे देते हैं। पानी के नलों में लगाने के लिये दफ्ती की बनावट में रबर भी रख देते हैं। रबर के संयोग से इसका लचीलापन और भी बढ़ जाता है। अतः पिस्टन तथा वाल्व दंडों, और टोंटियों के पैकिंग बनाने के लिये भी रबड़ का मिश्रण किया जाता है। आजकल उत्तप्तवाष्प का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। अतः उसके लिये तो रबड़ मिश्रित ऐसबस्टॉस का सामान बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ।

ऊष्मा पृथग्न्यासन के उद्देश्य से यह दो रूपों में काम आता है। एक तो बायलर और वाष्प नलों के ठोस-खंड-आवरणों के रूप में और दूसरा बहुत बड़े तलों को ढकने के लिये मुलायम लुगदी के रूप में जो कि लीपी या पोती जा सके। अतः प्रथम प्रकार के ठोस आवरण खंड बनाने के लिये ऐसबस्टॉस के साथ कार्बोनेट आफ मैगनीशिया मिलाकर अर्धसिलिण्डरों के रूप में यंत्र द्वारा ढाल कर उनके ऊपर से किरमिच चढ़ा दी जाती है, और फिर दो-दो खण्डों को वाष्प नलों के ऊपर बैठाकर इस्पात की मुलायम पट्टियों से कस दिया जाता है। लुगदी बनाने के लिये ऐसबस्टॉस के चूर्ण के साथ इन्फ्यूजोरिया की मिट्टी मिला दी जाती है, यह मिट्टी स्वयं भी ऊष्मा कुचालक है।

इन दोनों के कणों को उलझाये रखने के लिये मिश्रण में फेल्ट के रेशे का कचरा भी मिला दिया जाता है। इसका प्रयोग करने के लिये इसमें पानी मिला कर गाढ़ी लेई बना ली जाती है जो कि ऊष्म पृथग्न्यासन

किये जाने वाले तल पर लीप दी जाती है। बिजली के उपकरणों में भी इसका प्रयोग होता है, क्योंकि यह स्वयं विद्युत् पृथग्न्यासी होने के अतिरिक्त अग्निजित तो है ही।

ऐसबस्टॉस की ईंटें, टाइल, पट्टियाँ, और चादरें आदि दीवारों, छतों, परदियों आदि के बनाने में बहुत काम आती हैं जिससे इमारतें अग्निजित हो सकती हैं। इसकी पट्टियाँ आरी से चीरी जा सकती हैं; उनमें कीलें ठोकी जा सकती हैं और रंग आदि भी किया जा सकता है। आजकल बाजार में यूलाइट (ualite) नाम के पदार्थ की बनी चादरें, पट्टियाँ और टाइल भी बिकते हैं जो कि ऐसबस्टॉस में किसी प्रकार का खनिज गोंद मिला कर और प्रेस में दबा कर बनाई जाती हैं। यह भी कठोर और मुलायम दो प्रकार की होती हैं। कठोर का प्रयोग तो इमारतों के बाहरी भागों में और मुलायम से अग्निजित दरवाजे पृथग्न्यासीकरण, तथा सन्धियाँ बनाने का काम लिया जाता है।

—२१

डा० दौलतसिंह कोठारी

। श्री ओमप्रकाश शर्मा

"परमाणु युग में केवल दो ही विकल्प हमारे सामने हैं—या तो हम विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय में मनुष्य समाज को पूर्ण बनाएँ अथवा विध्वंसकारी विनाश को दावत दें"—निःशस्त्रीकरण सम्मेलन में कहे गए इन दो वाक्यों से ही वैज्ञानिक तथा विचारक डा० दौलतसिंह कोठारी के जीवन दर्शन की झाँकी मिल जाती है। इस गौर वर्ण और कृशकाय शरीर वाले तेजस्वी मनीषी का विज्ञान के प्रति जितना गहरा विश्वास है, आध्यात्मिकता में भी उनकी उतनी ही आस्था है। वह कहते हैं कि विज्ञान का व्यापक रूप से प्रसार और प्राकृतिक रहस्यों को समझ कर उनको नियन्त्रण में लाना वर्तमान युग का प्रमुख लक्षण बन गया है, किन्तु वह यह भी कहते हैं कि विज्ञान की बुनियाद सत्य की खोज, कलात्मक रचना, विश्व बंधुत्व और साहचर्य जैसे आध्यात्मिक तत्वों में निहित है।

राजस्थान के उदयपुर जिले में उनका १९०६ में जन्म हुआ, इलाहाबाद और कैम्ब्रिज (इंगलैण्ड) में उनकी कालेज शिक्षा हुई। डा० मेघनाद साहा जैसे वैज्ञानिक उनके अध्यापक रहे, डा० कृष्णन्, डा० भाभा और डा० खोसला जैसे समकालीन वैज्ञानिकों का उन्हें साहचर्य मिला। ऐसे वातारण में उन्होंने अपना अनुसंधान कार्य शुरू किया और जिसके फलस्वरूप उन्होंने दबाव आयनीकरण (प्रेशर आयोनिजेशन) का सिद्धांत खोज निकाला जिसका प्रतिपादन उन्होंने कुछ विशेष प्रकार के तारों (ह्वाइट डार्फ स्टार्स) की बनावटों को समझाते समय किया था। उनकी इस खोज को

वैज्ञानिकों ने बहुत महत्त्व दिया और इसकी बड़ी प्रशंसा हुई। इस खोज के बारे में इंगलैण्ड के प्रसिद्ध वैज्ञानिक आर० एस० एडींगटन, एफ० आर० एस० ने कहा था कि आयनीकरण, दबाव और ताप, दोनों द्वारा पैदा किया जा सकता है। इस बात का पता सबसे पहले डा० दौलतसिंह कोठारी ने ही लगाया। इस खोज के बारे में इसी प्रकार के उद्गार सर जेम्स, एफ० आर० एस० ने भी प्रकट किए थे।

डा० कोठारी को कार्य के प्रति कितनी लगन है, यह देखकर आश्चर्य होता है। उनकी कार्य तल्लीनता से विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का प्रत्येक जागरूक कर्मचारी परिचित है। घर जाने के लिए आयोग कार्यालय में अपने कमरे से निकलने के बाद भी यदि उन्हें किसी जरूरी पत्र या काम की याद आ जाती है, तो फिर वह कमरे के बाहर की गैलरी में खड़े-खड़े अपने व्यक्तिगत सहायक को पत्र लिखाने लगते हैं। लिफ्ट में जाते हुए भी डिक्टेशन देते रहते हैं और यहाँ तक कि गाड़ी में बैठते हुए भी उनका काम चलता रहता है। इसका कारण यह है कि उनको किसी भी काम में ढिलाई और विलम्ब बिलकुल पसन्द नहीं है। वह प्रत्येक काम में बिजली जैसी द्रुतगति पैदा करना चाहते हैं, क्योंकि उनका कहना है कि ऐसा करने से ही सरकारी कामों में होने वाली ढिलाई को दूर किया जा सकता है।

इस अटूट लगन और कर्मठता के साथ त्याग और तपस्या ने मिलकर डा० कोठारी के व्यक्तित्व में चार चाँद लगा दिए हैं। आजकल डा० कोठारी विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष हैं। इस पद का वेतन ३ हजार रुपए प्रति माह है, पर वह लगभग उतना ही वेतन (१८०० रु०) ले रहे हैं, जितना उनको दिल्ली विश्वविद्यालय में मिलता था। इसका कारण शायद यही है कि उनको केवल उतना ही वेतन मान्य है, जितना एक प्रोफेसर को मिलता है। यही नहीं इस पद पर आने से पहले डा० कोठारी १२ वर्ष तक प्रतिरक्षा मन्त्री के वैज्ञानिक सलाहकार रहे हैं। वहाँ भी वह इसी वेतन पर काम करते रहे, यद्यपि इस पद का वेतन साढ़े तीन हजार रुपये प्रति माह है। उनकी कर्मठता का ही यह फल है कि हमारे देश के प्रतिरक्षा वैज्ञानिक प्रतिष्ठान इतने विकसित हो गए हैं कि हमारा देश इस क्षेत्र में अन्य आधुनिक देशों की पंक्ति में आ गया है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह युद्ध में विश्वास करते हैं। उन्होंने तो "परमाणु विस्फोट और उसके प्रभाव" नाम से एक ऐसी पुस्तक लिखी है, जिसमें परमाणु युद्धों से होने वाले प्रभावों का गहन अध्ययन किया गया है। इसको भारत सरकार ने अंग्रेजी में प्रकाशित किया है और संसार के अनेक वैज्ञानिकों ने इसकी प्रशंसा की है। इसका जर्मन और जापानी भाषाओं में अनुवाद भी हो चुका है तथा अन्य विदेशी भाषाओं में भी इसका अनुवाद हो रहा है।

प्रत्येक प्रश्न और विषय पर राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचार करना जैसे डा० कोठारी का स्वभाव बन गया है। एक बड़े देश के कुछ प्रतिनिधियों ने एक बार डा० कोठारी के सामने यह सुझाव रखा कि माध्यमिक स्कूलों की पाठ्य पुस्तकों की समस्या तुरन्त हल हो सकती है, यदि उस देश द्वारा प्रकाशित पाठ्य पुस्तकों का अनुवाद कर दिया जाए। इसका उत्तर देते हुए डा० कोठारी ने कहा था कि हमारे देश में यदि विज्ञान, इंजीनियरिंग और टैक्नोलोजी की विदेशी पाठ्य पुस्तकें हमारी भाषाओं में विद्यार्थियों को पढ़ाई जाएँगी तो उनके मन में यह भावना बैठ जायेगी कि सम्भवतः विज्ञान और इंजीनियरिंग में हमारा देश इतना पिछड़ा हुआ है कि यहाँ के वैज्ञानिक प्रारम्भिक स्तर की पाठ्य पुस्तकें भी तैयार नहीं कर सकते। इसीलिए उनको ये विषय विदेशी लगेंगे और उनके मौलिक अनुसंधान की प्रवृत्ति कुंठित हो जाएगी। यही नहीं, कदम-कदम पर विद्यार्थियों को इन पुस्तकों में भारतीय वातावरण का अभाव पूरी तरह खटकेगा।

इसी राष्ट्रीयता का यह फल है कि डा० कोठारी

ने हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के माध्यम से वैज्ञानिक साहित्य के प्रचार और विस्तार के बुनियादी काम में अपनी सेवाएँ अर्पित कर दी हैं। वह चाहते हैं कि ऊँचे से ऊँचा वैज्ञानिक साहित्य भारतीय भाषाओं में सुलभ हो सके। हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के बारे मे उनका दृष्टिकोण इतना उदार है कि देश के अनेक विद्वान इस बात में विश्वास करने लगे हैं कि डा० कोठारी ही एक ऐसे व्यक्ति हैं जो भाषा को लेकर उत्तर और दक्षिण के बीच पैदा हुए मतभेदों को दूर करने में सफल हो सकते हैं।

भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य-निर्माण के बारे में वह दिन-रात आतुर रहते हैं। उनका कहना है कि विज्ञान की पाठ्य और लोकप्रिय पुस्तकों के निर्माण में हिन्दी और भारतीय भाषाओं के वरिष्ठ लेखकों का सहयोग जरूरी है। डा० कोठारी के आग्रह पर ही डा० रामधारी सिंह 'दिनकर' और जैनेन्द्र कुमार जैसे उच्च-कोटि के साहित्यिकों ने हिन्दी में लोकप्रिय वैज्ञानिक पुस्तकों का अनुवाद करना मंजूर कर लिया है।

विज्ञान के क्षेत्र में उनकी बहुमुखी प्रतिभा और अन्य विषयों की अच्छी जानकारी के पीछे एक बड़ा कारण यह है कि उनको पुस्तकों से विशेष प्रेम है। इस पुस्तक-प्रेम के कारण, वह दो-दो आयोगों के अध्यक्ष होने के बाद आज भी अक्सर रविवार को सुबह ८ बजते ही विश्वविद्यालय के अपने अध्ययन-कक्ष में अपने को दिन भर के लिए बन्द कर लेते हैं। उनकी एकान्त साधना में कहीं कोई बाधा न पड़ जाये, इसलिए इसी कक्ष में जलपान करते हैं और इसी में दोपहर का भोजन।

आज देश में उनकी गणना कुछ गिने-चुने चोटी के वैज्ञानिकों में की जाती है, तभी तो भारतीय विज्ञान-कांग्रेस ने १९६३ में होने वाले अपने स्वर्ण जयन्ती समारोह का उन्हें प्रधान चुना है। फिर भी वह अपने को मुख्यतः शिक्षक ही मानते हैं और इसीलिए विश्व-विद्यालय अनुदान आयोग का अध्यक्ष बन जाने के बाद भी शोध विद्यार्थियों को समय देने के अतिरिक्त सप्ताह में एक बार वह दिल्ली विश्वविद्यालय में एम० एस०-सी० के विद्यार्थियों को पढ़ाने जाते हैं। आज भी वह इस विश्वविद्यालय में अवैतनिक प्रोफेसर हैं। दिल्ली विश्वविद्यालय में १९३४ में डा० कोठारी जब भौतिक विभाग में शिक्षक के रूप में आए थे, तो उस समय इस विभाग में केवल दो ही शिक्षक थे। तब से लेकर अब तक इन २७ वर्षों में उन्होंने भौतिकी विभाग को अपने हाथों से इतना सींचा है कि आज इस विभाग में चार प्रोफेसर हैं जो कि देश के किसी भी विश्वविद्यालय के विभाग में नहीं हैं, (रीडर और लेक्चरार मिलाकर तो यहाँ ३० शिक्षक हैं)। दिल्ली को संसार के वैज्ञा-निक मानचित्र में स्थान दिलाने का श्रेय डा० कोठारी को ही है। स्वभाव से शिक्षक होने के नाते आज भी वह अपने पौत्र-पौत्रियों को पहाड़े और गणित के प्रश्न बताने के लिए अपने व्यस्ततम जीवन में से भी कुछ न कुछ समय निकाल ही लेते हैं और ऐसे समय वह अपने गम्भीर ज्ञान में सरल विनोद का पुट देना नहीं भूलते। उनका यह विनोद-प्रिय रूप तब और निखर जाता है जब वह अपनी नन्हीं पौत्री ज्योति कोठारी से आग्रह कर प्रातःकाल जलपान के समय नीचे लिखा या अन्य कोई गाना सुनते हैं :—

"पहले बोले : लेणों कई और देणों कई,
लेणों तो भगवान का नाम, देणों तो सुपात्र दान,
दूजे बोले : मारणों कई, राखणों कई,
मारणों तो मन और राखणों तो मान ॥

जीवन के बीते हुए वर्षों में डा० कोठारी ने अनेक मंजिलें तय की हैं और इसके साथ ही उनके प्रति लोगों का स्नेह और विश्वास बराबर बढ़ता गया है। इसका कारण यह है कि जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण आदर्शवादी होकर भी उनका दर्शन जीवन से परे की वस्तु नहीं है, वह तो जीवन में ही निहित है और उसी से रस ग्रहण करता है। उनकी विद्वत्ता और लोकप्रियता का यही रहस्य है।

सार संकलन

१—पौधों और पशुओं की वंशानुगति में परिवर्तन

मानव दीर्घकाल से जीवधारियों के उद्‌भव और विकास का अध्ययन करता आ रहा है। वह इस रहस्य को जानने का लगातार प्रयत्न करता रहा है। काफी धैर्य के साथ अध्ययन और अनुसन्धान के बाद यह देखा गया कि चुने हुए श्रेष्ठतम बीजों से अच्छी फसलें उगायी जा सकती हैं तथा बहुत ही उत्पादनशील पशुओं की नस्लों से अधिक दूध, मक्खन तथा गोश्त मिलता है।

सदियों तक श्रेष्ठ किस्मों के चुनाव के फलस्वरूप उन पौधों का विकास हुआ जिनकी खेती होती है। इसी तरह चयन के फलस्वरूप उपयोगी नस्लों के पशु मिले। परन्तु प्रकृति जीवधारियों में ऐसे परिवर्तन बहुत ही कम करती है जिनकी मानव को जरूरत होती है। क्या यह सम्भव है कि मानव अपने लिए उपयोगी ढंग की वनस्पतियों और पशुओं की किस्में अधिक शीघ्रता के साथ तैयार कर लें ?

मानव इस समस्या को हल करने में लगा हुआ था। सुविख्यात सोवियत वैज्ञानिक आई० मिचुरिन का आदर्श था कि "हम प्रकृति की दया पर निर्भर नहीं कर सकते, हमें उससे सहूलियतें लेनी होंगी।' मिचुरिन ने इस समस्या के समाधान में अपना सारा जीवन लगा दिया। उन्होंने फलों, बेरियों और दूसरी चीजों की ३०० से अधिक उपयोगी किस्में निकालीं। मिचुरिन की खोजें और सफलताएँ व्यावहारिक महत्त्व की थीं। उन्होंने जीव-ज्ञान में मिचुरिन स्कूल की स्थापना की। परन्तु अनेक वैज्ञानिक अब भी वंशानुगति में परिवर्तन की सम्भावना को नहीं मानते। उनका कहना है कि यौन कोषों के बीज-केन्द्रों में एक विशेष पदार्थ रहता है जो वंशानुगति निर्द्धारित करता है, अर्थात् जीवधारी में कतिपय विशेषताओं का अस्तित्व या अभाव निर्धारित करता है। उनके अनुसार बीज केन्द्र के इस पदार्थ में परिवर्तन करना सर्वथा असम्भव सा है तथा इसीलिए शिशु के भावी उपादानों में कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

मिचुरिन के अनुयायियों ने जो अनुसन्धान किये, उनके व्यावहारिक परिणामों से पता चला कि यौन कोषों में ऐसा कोई विशेष पदार्थ नहीं रहता जो वंशानुगति का निर्धारण करे। वंशानुगति का निर्द्धारण पूरा शरीर करता है तथा प्रत्येक जीवित शरीर द्वारा होता है और उस शरीर के उपादानों में वांछित दिशा में परिवर्तन किया जा सकता है।

मिचुरिन की मृत्यु के बाद प्रमुख सोवियत वैज्ञानिक टी० लाइसेंको मिचुरिन-स्कूल के प्रधान हुए। अनेक प्रयोगों के आधार पर उन्होंने क्रमानुसार पौधों के विकास का सिद्धान्त प्रस्तुत किया तथा चेतन उपकरणों की सहायता से जड़ पदार्थों को चेतन में परिवर्तित करने का जीवविज्ञान सम्बन्धी मूलभूत सिद्धान्त प्रस्तुत किया। लाइसेंको का कहना है कि सभी जीवित पदार्थ पौधे, पशु, क्षुद्र जीवाणु अलग-अलग इकाइयों में या जैव-किस्मों में बँटे हैं तथा अपने-अपने वंश के नाम से पुकारे जाते हैं, जैसे गेहूँ, चावल, देवदारु, घोड़ा

आदि। परन्तु प्रत्येक वंश की अनेक किस्में होती हैं। उदाहरण के लिए मानव गेहूँ की जिन दो मुख्य किस्मों की खेती करता है, उन्हें कठोर और नरम के नाम से पुकारा जाता है, परन्तु और भी किस्में हैं जो कृषि जगत् को ज्ञात नहीं। चिर अतीत काल में जड़ जगत् से चेतन जगत् अस्तित्व में आया। वातावरण, पोषण तथा जीवन की अन्य अवस्थाएँ सभी जीवधारियों के विकास के प्रमुख उपकरण हैं। जीवन रक्षा के लिए सभी किस्मों के पौधों और पशुओं को विशेष वातावरण और पोषण की आवश्यकता होती है। इसीसे प्रत्येक किस्म के जीवधारी के विशेष गुणों का निर्द्धारण होता है। कुछ जीव केवल पानी में रहते हैं, कुछ धरती पर। पौधे मिट्टी और हवा से पोषक पदार्थ ग्रहण करते हैं और विशेष प्रकार के तापमान, नमी और प्रकाश में उन्हें आत्मसात् करते हैं।

किसी विशेष किस्म के जीवधारी का जन्म विशेष वातावरण में होता है और उसी प्रकार के जीवधारी को जन्म देने के लिए वैसी ही अवस्थाओं की आवश्यकता होती है। एक जीवधारी का पूरा गठन किसी एक किस्म के जीवधारी का होता है। इसके समस्त अंगों और उपकरणों का उद्देश्य होता है उस किस्म के जीव का प्रजनन और वृद्धि सुनिश्चित बनाना। यह जीवों की किस्मों का अति महत्त्वपूर्ण नियम है।

बहुत ही रूढ़िवादी जीव सर्वथा भिन्न वातावरण में नष्ट हो जाता है। यदि वातावरण में थोड़ा परिवर्तन किया जाय, तो जीव उस परिवर्तित वातावरण तथा थोड़े भिन्न पोषण के अनुरूप अपने को बना लेता है। अब वह कम रूढ़िवादी रह जाता है। उसके गठन और आवश्यकताओं में परिवर्तन आता है। पहले वाले कुछ उपादान अब अभिव्यक्त नहीं होते। इसका अर्थ हुआ कि वंशानुगति में परिवर्तन आ गया है। लेकिन वह खोया हुआ उपादान कुछ समय तक सुप्त पड़ा रहता है और यदि उपयुक्त अवस्थाएँ मिल जाएँ, तो फिर प्रकट होता है।

मिचुरिन ने लिखा कि गठन की असाधारण अवस्थाएँ स्वीकार करने के लिए बाध्य कर तथा वंश परम्परागत उपादानों की रूढ़िगत प्रवृति को तोड़ कर किसी जीवधारी की वंशानुगति को बदला जा सकता है। उन्होंने भिन्न प्रकार की और साथ ही घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध जैव किस्मों का मिलन कराके इस कार्य को सम्पन्न किया।

इस प्रकार की मिलवाँ किस्मों का स्वभाव रूढ़िवादी नहीं रह जाता तथा उनमें अपने माता-पिता से भिन्न अवस्थाओं को ग्रहण करने की क्षमता आ जाती है। वंशानुगति नयी अवस्थाओं के अनुरूप बदलती है। इसे उपयुक्त परिवर्तनशीलता का सिद्धान्त कहते हैं।

पौधे उगाने वाले श्रेष्ठ कोटि के बीजों का चुनाव कर और उन्हें जीवन की अनुकूल अवस्थाएँ तथा पोषण प्रदान कर वांछित दिशा में वंशानुगति बदल सकते हैं। अकादमीशियन पी० लुक्यानेंकों ने इसी विधि से जाड़े के गेहूँ की अधिक उपज देने वाली किस्म **बेजोस्ताय-१** निकाली। अकादमीशियन वी० पुस्तोवोइत ने **सूरजमुखी** की किस्में निकालीं जिनसे बहुत अधिक तेल मिलता है।

लाइसेंको के प्रयोगों के फलस्वरूप सोवियत विज्ञान अकादमी के प्रायोगिक फार्म गोर्कीलेनिन्स्की में जो गायें पाली गयीं, वे बहुत अधिक दूध देती हैं, तथा उनके दूध में औसतन पाँच प्रतिशत मक्खन होता है। इस तरह जीवविदों के बीच दीर्घकाल से जो विवाद चल रहा था, उसका फैसला न सिर्फ सिद्धान्त रूप से बल्कि व्यवहारतः सोवियत सामूहिक फार्मों और राज्य फार्मों के खेतों तथा पशुपालन विभागों में हो गया। अब सारी दुनिया जानती है कि मिचुरिन के अनुयायी पौधे उगाने वाले न सिर्फ गेहूँ, जई, तथा दूसरे अनाजों की ऐसी किस्में उगाते हैं जिनसे अधिक उपज होती है, बल्कि सूरजमुखी की श्रेष्ठ किस्में और अधिक उत्पादनशील पशुओं की किस्में भी तैयार करते हैं।

२—जायरोस्कोप और संचार-व्यवस्थायें

अमेरिकी वैज्ञानिक निरन्तर इस बात की खोज में लगे हुए हैं कि अद्भुत 'लेसर' या प्रकाशक्षेपक से और क्या नये नये उपयोग लिये जा सकते हैं।

"लेसर" का निर्माण पहले-पहल १९६० में अमेरिका में किया गया था। इसके द्वारा प्रकाश की अत्यधिक प्रचण्ड और घनीभूत किरणें उत्पन्न की जाती हैं। विद्युत्धारा अथवा फ्लैश-लैम्प के प्रकाश से विशेष स्फटिक अथवा गैस के इलैक्ट्रोनों को कार्य-प्रवृत्त होने के लिए शक्ति प्राप्त होती है और इस प्रकार उनसे शक्ति का निःसरण होने लगता है। यह शक्ति बिजली के लट्टू से चारों ओर फैलने वाले प्रकाश जैसी न होकर पेन्सिल की तरह प्रकाश-किरण जैसी होती है।

"मैसाचूसेट्स इन्स्टिट्यूट औव् टेकनोलौजी" के अनुसन्धानकर्ताओं ने लेसर किरण-पुंज को २,३८,००० मील दूर चन्द्रमा तक भेजा था। चन्द्रमा के पृष्ठ के जिस स्थान पर इन किरणों को भेजना था उससे व्यास में उनका २ मील का अन्तर रहा। दो औद्योगिक प्रयोगशालाओं में वैज्ञानिकों ने बिलकुल सही तरीके से काम देने वाला लेसर 'जायरोस्कोप' (वलयेक्ष) और एक ऐसा यन्त्र तैयार किया है जो लेसर किरण-पुंज को टेलिविजन-चित्रों तथा रेडियो-संकेतों में परिवर्तित कर देता है।

'संवृत परिपथ' अर्थात् क्लोज्ड सर्किट लेसर का उपयोग अन्तरिक्षयानों, राकेटों, वायुयानों तथा जहाजों में यान्त्रिक विधि द्वारा स्वतः मार्ग-निर्देशन के लिए किया जा सकता है। यह 'जायरोस्कोप' से भी अधिक सही रूप में काम देता है। आशा है कि इससे मार्ग-निर्देशन की ऐसी पद्धतियों का विकास हो सकेगा, जो नौका-नयन की वर्तमान पद्धतियों की अपेक्षा अधिक सरल, अधिक सस्ती, अधिक स्थिर और अधिक संवेदनशील होंगी।

मार्ग निर्देशन की नई विधि अथवा लेसर 'जायरोस्कोप' में एक चौरस मेज पर चतुर्भुज आकार में चार फ्लोरेसेन्ट ट्यूबें लगी होती हैं। दो लेसर प्रकाश-किरणें विरोधी दिशाओं में ट्यूबों में से होकर तेज गति से गुजरती हैं और चार दर्पणों के द्वारा कोनों के आस-पास वे प्रतिक्षिप्त होती हैं। दोनों किरणें "फोटो-डिटेक्टर" नामक उस यन्त्र में जाती हैं जो प्रकाश से प्रभावित होता है।

प्रकाश की गति १,८६,००० मील प्रति सेकेण्ड होती है और 'लेसर' उसकी सतत गति का उपयोग करके मेज की दिशा में किसी मामूली से भी परिवर्तन को माप लेता है।

मेज के जरा सा भी घूमने पर एक प्रकाश-किरण को चतुर्भुज के चारों ओर घूमने वाली किरण की अपेक्षा कुछ अधिक चलना पड़ता है और तभी परिपथ पूरा होता है। फोटो-डिटेक्टर तुरन्त उस मामूली से परिवर्तन का पता लगा लेता है। परिपथ इस परिवर्तन का उपयोग अन्तरिक्ष-यान अथवा परिवहन-साधन को फिर अपने मार्ग की ओर प्रवृत्त करने के लिए कर सकते हैं।

'लेसर' तेज रफ्तार से गलत मार्ग पर जाने वाले यान की गति को १५ हजारवें अंश तक सही-सही माप सकता है।

मार्ग-निर्देशन विधि का विकास न्यूयार्क के 'स्पैरी रैण्ड कार्पोरेशन' ने किया है। यह फर्म अन्तरिक्ष-यानों, वायुयानों तथा अन्य उपयोगों के लिए हजारों जायरोस्कोप तैयार कर चुकी है। 'जायरोस्कोप' के निर्माण में प्रयुक्त होने वाली सामग्री तथा निर्माण-विधियों के सर्वथा दोषहीन न होने के कारण बढ़िया से बढ़िया जायरोस्कोप भी कुछ गलती कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त, सामान्य प्रकार के जायरोस्कोप के भीतर जो चक्र होता है वह गुरुत्वाकर्षण और यान की गति में होने वाले परिवर्तनों से प्रभावित होता है, जिस पर वह लगा होता है। 'लेसर' प्रकाश पर इन दोनों में से किसी का भी प्रभाव नहीं पड़ता।

अमेरिका के दूसरे तट पर कैलिफोर्निया के वैज्ञानिकों ने एक लेसर 'डिमौडूलेटर' का निर्माण किया

है। यह यन्त्र टेलिविजन ट्यूब पर चित्र और रेडियो स्पीकर पर ध्वनि उत्पन्न करने के लिए प्रकाश-तरंगों को विद्युत् तरंगों में परिवर्तित कर देता है।

विशेषज्ञों का अनुमान है कि संसार मे किसी एक समय जितने रेडियो और टेलिविजन कार्यक्रम होते हैं और टेलीफोन पर जितनी वार्ताएँ होती हैं, उनसे भी अधिक कार्यक्रमों और वार्ताओं को एक लेसर प्रकाश-किरण द्वारा एक साथ भेजा जा सकता है।

'मौडूलेटर' यानी आपरिवर्तक की आवश्यकता 'लेसर' प्रकाश-किरण को परिवर्तित करने के लिए होती है ताकि वह रेडियो, टेलीविजन अथवा टेलीफोन के सन्देश को पहुँचा सके।

रेडियो प्रसारण-तरंगों की आवृति (फ्रीक्वेन्सी) प्रति सेकिण्ड लगभग १० लाख है और टेलीविजन-तरंगों की लगभग १० करोड़। प्रत्यक्ष प्रकाश की आकृति टेलीविजन-तरंगों की चक्र संख्या से लगभग ७,५०,००० गुनी है। प्रति सेकण्ड जितनी अधिक तरंगें होंगी, उतने ही अधिक सन्देश प्रसारित किये जा सकेंगे।

सन्देश भेजने के लिए रेडियो-तरंगों की तरह प्रकाश-तरंगों को भी आवृत्ति में परिवर्तित करना आवश्यक है। बाद में इन तरंगों को विद्युत् तरंगों में बदलना पड़ता है, ताकि वे टेलीविजन के चित्र-ट्यूबों पर प्रकाश का और स्पीकरों में ध्वनि का रूप ग्रहण कर सकें। 'डिमाडूलेटर' प्रति सेकिण्ड करोड़ों-अरबों की गति से ये परिवर्तन करता है।

'नेशनल साइन्स इंजिनियरिंग कम्पनी' और 'डगलस एयरक्राफ्ट कम्पनी' लेसर डिमौडूलेटर के निर्माण में आपस में सहयोग करती हैं। ये दोनों कम्पनियाँ कैलिफोर्निया में हैं।

अमेरिका की लगभग ४०० प्रयोगशालाओं में अनुमानतः २००० वैज्ञानिक लेसरों के विकास का कार्य करते हैं। उनके अनुसन्धान का उद्देश्य संचार-प्रणाली, अन्तरिक्ष, औषध, रसायनशास्त्र, अंक-विधायन, उद्योग तथा राष्ट्रीय प्रतिरक्षा के कार्यों में लेसर का उपयोग ज्ञात करना है।

इस बात की सम्भावना है कि 'लेसरों' का उपयोग सौर-मण्डल के दूरवर्ती ग्रहों के निवासियों के साथ सम्पर्क स्थापित करने के लिए संकेतों के रूप में भी किया जा सके। 'लेसर' के बारे में एक सबसे अधिक क्रियात्मक परीक्षण विस्कौन्सिन की 'अमेरिकी वन्य उत्पादन प्रयोगशाला' में किया गया। वैज्ञानिकों ने यह दिखला दिया कि 'लेसर' का उपयोग वृक्षों को प्रचलित विधियों की अपेक्षा अधिक तेजी से काटने के लिए किया जा सकता है।

'लेसर' प्रकाश-किरण की सहायता से सेकण्ड के २०वें भाग में पेड़ के ३० इंच मोटे तने या शाखा को काटा जा सकेगा।

१. यह विचित्र वृक्ष

संसार में कई प्रकार के वृक्ष पाए जाते हैं जिनकी आयु और आकार हमें विस्मय में डाल देते हैं। भारत में नीलगिरि पर्वत के वृक्ष खूब ऊँचे यहाँ तक कि १५० से २०० फुट ऊँचाई तक के होते हैं, किन्तु इनका तना पतला रहता है।

यदि वृक्षों में सबसे भयानक कोई वृक्ष है तो वह अमेरिका का **सिक्वाया सेम्परवाइरन्स**। यह वृक्ष कैलीफोर्निया का निवासी है और साधारण बोलचाल की भाषा में इसे **रेड वुड** (Redwood) कहते हैं। अमेरिका के वैज्ञानिकों को इस पेड़ पर बड़ा गर्व है क्योंकि यह उन्हीं के देश में प्राकृतिक अवस्था में होता है।

इस पेड़ की ऊँचाई ३०० से ४०० फुट और घेरा ३०से ४० फुट तक देखा गया है। सन् १८८३ में इस पेड़ के तने के आर-पार एक सुरंग निकाली गई जिसकी लम्बाई २६ फुट चौड़ाई, ८ फुट और ऊँचाई १० फुट है। इस सुरङ्ग में से एक कार अच्छी तरह निकल सकती है अर्थात् इस **इस के आर-पार एक कार का रास्ता बनाया जा चुका है।**

सिक्वाया के कुछ पेड़ों को तो स्थानीय नाम भी दिये गये हैं। एक पेड़ जिसकी आयु करीब ३००० वर्ष होगी उसका नाम **"जनरल शर्मन"** दिया गया है।
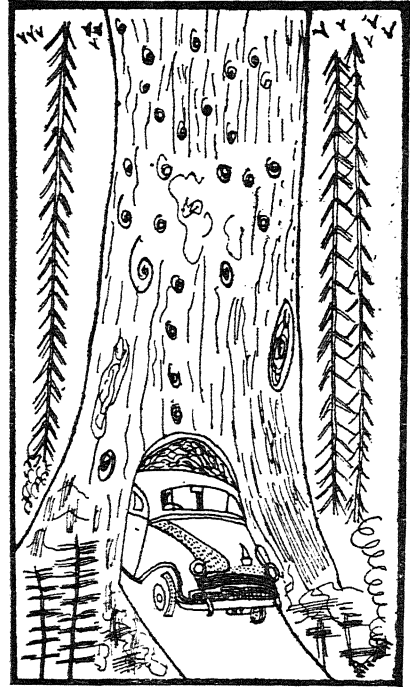
वृक्ष के आर-पार मोटर-मार्ग

सिक्वाया के ये विचित्र आकार वाले वृक्ष वास्तव में ही वहाँ के निवासियों के लिए गर्व के स्तम्भ हैं।

अ० वि० सीरवाणी,

२. २०० शब्द प्रति मिनट टाइप करने वाली मशीन

वैज्ञानिकों ने एक ऐसी विधि का विकास किया है, जिसके द्वारा शार्टहैण्ड लिपि में लिखा गया विवरण एक स्टेनोटाइप विधि से एक मिनट में २०० शब्दों के हिसाब से स्वतः टाइप हो जाता है। न्यायालय के मुकदमों, विधान-मण्डलों तथा वैज्ञानिक सम्मेलनों की कार्यवाहियों को शीघ्रता से उपलब्ध करने के लिए इस विधि का प्रयोग किया जा सकेगा।

बहुत वर्षों से स्टेनोटाइप विधियाँ प्रयोग में ली जा रही हैं। हाथों से चालित टाइपराइटर की कुंजियों के समान, २३ कुंजियों वाला यह यन्त्र तीन-इंच चौड़े कागजी फीते पर स्वर-चिह्न (फोनेटिक सिम्बल्स) छापता है। सामान्यतः एक कुशल स्टेनोटाइप आपरेटर बाद में इस फीते पर अंकित चिह्नों को पढ़ कर मूल को एक विद्युदणु टाइपराइटर द्वारा टाइप करता है। सामान्यतः एक घण्टे में स्टेनोटाइप विधि द्वारा जितना विवरण लिखा जाता है, उसे टाइप करने में लगभग ४ घण्टे लग जाते हैं।

इण्टरनेशनल बिजिनेस मशीन्स (आई० बी० एम०) कार्पोरेशन द्वारा इस नयी विधि का विकास किया गया है। इस विधि के विकास के फलस्वरूप शार्टहैंड में लिखे गये विवरण को टाइप करने के लिए मानव टाइपिस्ट की आवश्यकता नहीं रह गयी है। इसके स्थान पर स्टेनोटाइप विधि द्वारा तैयार किया गया एक कागजी फीता उस विद्युदणु यन्त्र में डाल दिया जाता है, जिसका प्रारम्भ में भाषाओं का स्वतः अनुवाद हो जाने के लिए विकास किया गया था। यह यन्त्र शार्टहैंड में लिए गए विवरणों को प्रकाशित कर देता है और उसमें विराम चिह्न, परिच्छेद आदि सब ठीक-ठीक बना दिये जाते हैं। इण्टरनेशनल बिजनेस मशीन कार्पोरेशन मशीन प्रोसेसिंग के लिए संख्या रहित विवरण का कोड तैयार करने सम्बन्धी शीघ्र विधि के रूप में इस परीक्षणात्मक विधि का प्रयोग करने की सम्भावनाओं की खोज कर रहा है।

अंग्रेजी भाषा के अलावा अन्य भाषाओं में भी यान्त्रिक शार्टहैंड के लिए ऐसी ही विधियों का विकास किया गया है।

स्टेनोटाइप मशीन पर पड़ने वाली प्रत्येक चोट किसी अक्षर अथवा शब्द को प्रकट करती है। प्राविधिक दृष्टि से ८० लाख से अधिक सन्धियाँ सम्भव हैं। इसके फलस्वरूप स्टेनोटाइप कोड के द्वारा किसी भी प्रकार का अंग्रेजी भाषा का वाक्य-खण्ड, वाक्य अथवा परिच्छेद प्रकाशित किया जा सकता है।

चूँकि, स्टेनोटाइप कोड मूलतः ध्वनिपरक है, इसलिए समान ध्वनि वाले विभिन्न शब्दों के लिए इसमें समान चिह्नों का प्रयोग किया जाता है। एक प्रतिलिपि लेखक प्रसंग से कह सकता है कि किस संकेत का प्रयोग किया जाये, इसी प्रकार आई० बी० एम० का यन्त्र अपनी "स्मृति" में अन्तर को पहिचान सकता है।

मशीन का हृदय उसकी "मेमोरी डिस्क" नामक एक ११ इंच व्यास का शीशे अथवा प्लास्टिक का टुकड़ा है। डिस्क पर ५ लाख शब्द अंकित किये जा सकते हैं और उनमें से किसी एक का स्वतः एक सेकेण्ड के तेरहवें भाग में पता लगाया जा सकता है।

'मेमोरी डिस्क' में लगभग ७ करोड़ अत्यन्त सूक्ष्म चतुर्भुज होते हैं। वे पारी-पारी से काले चिह्न तथा पारदर्शी क्षेत्र हैं, जो स्टेनोटाइप चिह्न तथा अंग्रेजी के अनुरूप बनाने के लिए जोड़े गये हैं।

अनेक संज्ञावाचक शब्द 'मेमोरी डिस्क' (हृदय) में जोड़े जा सकते हैं। जब मशीन की किसी शब्द की आवश्यकता पड़ती है, जो मेमोरी में नहीं होता है, तब वह कोई ऐसा स्वर चिह्न छाप देती है, जिसे आसानी से पहिचाना जा सकता है। उदाहरण के तौर

पर, इसने आइजनहौवर के लिए 'आई० जनआवर तथा ख्रश्चेव के लिए 'क्रूशेफ' छाप दिया था।

३. जल पहुँचाने की नई विधि

अमेरिकी कृषि विभाग के वैज्ञानिक बहुत कम वर्षा की सहायता से ऐसी मिट्टी तथा जलवायु में अच्छी फसलें उत्पन्न कर रहे हैं, जहाँ पहले सिंचाई के बिना कृषिकार्य असम्भव था। उन्होंने यह सफलता नार्थ सेण्ट्रल ग्रेट प्लेन्स के एक ऐसे क्षेत्र, साउथ सेण्ट्रल नार्थ डकोटा में प्राप्त की है। यहाँ केवल चरागाह थे तथा सिंचाई द्वारा फसलें उत्पन्न की जाती थीं। ऐसे परीक्षणात्मक खेतों में, जहाँ आम तौर पर आवश्यक मात्रा में आर्द्रता विद्यमान नहीं है, वर्षा से प्राप्त आर्द्रता को पौधों में पहुँचा कर मक्का की अच्छी फसलें उत्पन्न की गयी हैं।

अनुसन्धान विशेषज्ञों ने मक्का की पंक्तियों के मध्य की मेड़ों को प्लास्टिक फिल्म की पट्टियों से ढाँप दिया। इस प्रकार ढाँपने से मेड़ों पर जो ओस गिरी वह मेड़ों से बह कर मक्का की पंक्तियों में चली गयी। ऐसे पौधों पर बहुत सा जल पहुँच जाने से पौधों की अच्छी वृद्धि हो गयी।

इस कार्य में प्रयोग में आने वाली प्लास्टिक फिल्म जैसी वस्तुएँ अभी किसानों के लिए बहुत महँगी हैं। इस लिए अगला कदम ढाँपने के लिए कोई ऐसी सस्ती वस्तु तैयार करना है, जिसकी सहायता से प्लास्टिक फिल्म के समान आर्द्रता पर नियन्त्रण किया जा सके।

परीक्षणों में ५० बुशल प्रति एकड़ के हिसाब से उत्पादन किया गया है। जिस क्षेत्र में परीक्षण किये गये थे, वह बहुत उत्तर में स्थित है।

चूंकि, वहाँ अक्सर वर्षा कम होती है अथवा उस की अधिक आवश्यकता होती है, इसलिए वहाँ सदैव कम उत्पादन होता रहा है। अतः वैज्ञानिकों ने, सीमित वर्षा के जल को सुरक्षित रखने तथा उपलब्ध जल से उस भूमि को सिंचित करने के उपाय ढूंढे, जिसे जल की अत्यधिक आवश्यकता थी।

उन खेतों में इस प्रकार फसलें बोई गयीं। मिट्टी की मेड़ें मक्का की पंक्तियों के समानान्तर तीन-तीन इंच ऊँची बनायीं। ९० प्रतिशत ऊँचा क्षेत्र काली पोलिथिलीन प्लास्टिक फिल्म द्वारा ढाँप दिया गया। प्लास्टिक की पट्टियों से ढकी हुई के मध्य अनाच्छादित १० प्रतिशत क्षेत्र में मक्का बोया गया था। फिल्म की पट्टियाँ ३४ इञ्च चौड़ी थीं तथा पंक्तियों के मध्य ४२ इञ्च का अन्तर रखा गया था।

प्लास्टिक पट्टियों से मेड़ों को आच्छादित कर देने के फलस्वरूप आच्छादित मेड़ों का वर्षा जल तथा ओस का जल उस १० प्रतिशत भूमि में गया, जो आच्छादित नहीं थी। जब चौथाई इञ्च वर्षा हुई, तब अनाच्छादित भूमि पर उगे हुए मक्के की पंक्तियों की २.५ इंच की वर्षा के बराबर जल प्राप्त हुआ।

अनुसन्धानकर्ताओं ने घोषणा की कि हल्की वर्षा के जल का कुशलता-पूर्वक प्रयोग करके, मक्का की पंक्तियों में आर्द्रता का अधिक प्रयोग करके, तथा भूमि के उच्च तापमान के प्रयोग से, जिससे पौधे तेजी से अंकुरित तथा बड़े होते हैं, आच्छादित खेतों में अच्छा उत्पादन हुआ है।

४ नया और बढ़िया उर्वरक: कैल्शियम अमोनियम नाइट्रेट

कैल्शियम अमोनियम नाइट्रेट एक नया और बढ़िया उर्वरक है। यह हमारे देश में ही बनता है और अनेक किस्म की मिट्टी में दिया जा सकता है और सभी राज्यों में सुलभ है।

अमोनियम सल्फेट और यूरिया की तरह कैल्शियम अमोनियम-नाइट्रेट भी नाइट्रोजन वाला उर्वरक है। इसमें भी अमोनियम सल्फेट की तरह २० प्रतिशत नाइट्रोजन होती है। इसे खेत की तैयारी और खड़ी फसल दोनों समय दिया जा सकता है।

कैल्शियम अमोनियम नाइट्रेट में चूना भी होता है। इसलिए अम्लीय मिट्टी के लिए यह अन्य उर्वरकों

की अपेक्षा अधिक उपयुक्त है। जिन खेतों में सल्फाइड के कारण फसल को नुकसान होता हो इसे उनमें भी दिया जा सकता है।

कैल्शियम अमोनियम नाइट्रेट को कब और कितनी मात्रा में डाला जाए यह मिट्टी की किस्म और फसल पर निर्भर करता है। इसके बारे में और अधिक जानकारी आप अपने क्षेत्र के कृषि अधिकारी या ग्राम सेवक से प्राप्त कर सकते हैं।

५. घोड़ों की अफ्रीकी बीमारी

पिछले दो साल से हमारे देश में घोड़ों में एक नया परन्तु भयानक रोग फैल रहा है। इसे घोड़ों की अफ्रीकी बीमारी कहते हैं। यह खच्चरों और गधों को भी हो जाती है।

इस बीमारी के होने पर घोड़े को १०१ से १०६ डिग्री बुखार हो जाता है, सिर और चेहरे पर सूजन हो जाती है और आँखें लाल हो जाती हैं। पशु में बेचैनी और खांसी भी इसके लक्षण हैं। बीमार पशु दो-तीन दिन के भीतर ही मर जाता है। इस खतरनाक बीमारी से बचाव के लिए उत्तर प्रदेश में इज्जतनगर की भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधानशाला में एक टीका तैयार करके बाँटा जा रहा है।

टीका लगाने पर पशु इस रोग से सुरक्षित हो जाते हैं। पशुओं को मार्च से मई तक टीका लगाना सबसे अच्छा रहता है, वैसे टीका साल में कभी भी लगाया जा सकता है। टीका लगाने के तीन महीने बाद पशु इस बीमारी से सुरक्षित हो जाते हैं।

राज्य के पशुपालन विभाग के कर्मचारी यह टीका मुफ्त लगाते हैं।

६. पशुओं को ग्वार के दाने

ग्वार के दानों में एक प्रकार का गोंद होता है जिसकी विदेशों में बड़ी माँग है। अब तक ग्वार पशुओं को खिलाने के काम में आती थी लेकिन अब उससे गोंद निकालने के कारखाने खुल गये हैं। गोंद निकालने के बाद जो खाली बचती है वह भी पशुओं को खिलाने के लिए अच्छी होती है।

ग्वार की खली में प्रोटीन काफी होता है। पशुओं को उसे स्टार्च वाले चारे के साथ मिला कर देना चाहिए। हमारे देश में इस समय लगभग १७,५०० टन ग्वार की खली हर साल तैयार होती है। इससे जितना भी गोंद निकलता है उसे विदेशों को भेजा जाता है।

आज हमारे देश पर चीनियों के हमले से एक खतरनाक मुसीबत आई हुई है। उसके मुकाबले के लिए विदेशी मुद्रा कमाने के लिए हमें हर प्रकार की कोशिश करनी है। किसानों को चाहिए कि वे ग्वार के दाने के बजाय पशुओं को ग्वार की खली खिलायें।

७. गन्ने की खेती—नवीन विधि

कभी-कभी गन्ने का बीज काटने के बाद उसे बोने में एक दो दिन की देरी हो जाती है, जिससे ईख कम जमती है। लेकिन अगर दो-तीन दिन रखे हुए बीज को पानी में भिगो कर बोया जाए, तो वह ताजे बीज से भी अच्छा जमता है।

उत्तर प्रदेश में लखनऊ की भारतीय गन्ना अनुसंधानशाला के विशेषज्ञों ने इस बारे में प्रयोग किये हैं। उनका कहना है कि एक दो दिन रखे हुए गन्ने को यदि दो से चार घंटे तक पानी में भिगोने के बाद बोया जाए, तो गन्ना सबसे अच्छा जमता है।

गन्ना काटने के बाद से उसे खेत में बोने तक जितनी अधिक देर होती है उतना ही गन्ना कम जमता है और धीरे-धीरे जमता है। लेकिन यदि इसे भिगो कर बोया जाए, तो गन्ना ज्यादा और तेजी से जमता है। जो किसान बीज दूर से लाकर बोते हैं उनके लिए यह जानकरी लाभदायक होगी।

८. हल्दी की पत्तियों में धब्बों की बीमारी

हल्दी के पत्तों में धब्बे लगने की बीमारी को बोर्डो मिश्रण या 'डाइथेन' छिड़क कर रोका जा सकता है।

इस सम्बन्ध में मद्रास राज्य में किये गये परीक्षणों से पता चला है कि एक प्रतिशत बोर्डो मिश्रण

दो बार छिड़कने से बीमारी पूरी तरह दूर हो जाती है। इस बीमारी को रोकने के लिए 'डाइथेन' भी प्रभावकारी पाया गया है। एक पौंड 'डाइथेन' को ६० गैलन पानी में घोल कर छिड़कना चाहिये।

यह बीमारी लगने पर हल्दी की पत्तियों में चारों तरफ धब्बे दिखायी देने लगते हैं। पत्तियाँ सूखने लगती हैं और मर जाती हैं। बीमारी लगने पर हल्दी अच्छी तरह नहीं बैठती इसलिए पैदावार कम हो जाती है।

९. धान में उर्वरक कैसे डालें ?

धान की फसल में उर्वरक कब और किस प्रकार देना लाभकर होता है इसके बारे में पंजाब में गुरदासपुर के चावल प्रजनन केन्द्र में परीक्षण किये गये।

इन परीक्षणों में 'झोना' —३४९ किस्म का धान बोया गया। धान के खेतों में अमोनियम सल्फेट विभिन्न समय पर और विभिन्न मात्रा में दिया गया।

जिन खेतों में १०० पौंड अमोनियम सल्फेट गारा बनाते समय और १०० पौंड रोपाई के एक महीने बाद डाला गया उनमें पैदावार सबसे अच्छी हुई। इससे यह निष्कर्ष निकला कि अच्छी पैदावार के लिये धान के खेतों में आधा उर्वरक गारा बनाते समय और शेष आधा रोपाई के एक महीने बाद डालना चाहिये।

१०. गठिया की पहचान और रोकथाम

गठिया की जब चर्चा की जाती है तो अक्सर इसे जोड़ों की बेचैनी, चटकन और दर्द की बीमारी समझा जाता है। मगर वास्तव में गठिया जोड़ों के अलावा, फेफड़ों, प्लूरा, जिगर, गुर्दा, दिमाग और अन्य अङ्गों को भी अपनी लपेट में ले सकता है। मगर दिल पर इसका सबसे बुरा प्रभाव पड़ता है। दुनिया भर के डाक्टर फ्रांसीसी वैज्ञानिक लासेग के इस कथन से बहुत समय से सहमत हैं कि 'गठिया जोड़ों को चाटता और हृदय को काटता है।'

विज्ञान गठिया का सही कारण अभी तक नहीं जानता। मगर इतनी बात निश्चित रूप से सही है कि मनुष्य की रोग-रोधक क्षमता को कम करने वाला कोई भी कारण गठिया की बीमारी को जन्म दे सकता है।

गठिया का एक छलपूर्ण लक्षण यह भी है कि एक बार शुरू होने पर यह बीमारी काफी लम्बे अर्से तक 'शान्त' रहकर फिर उग्र रूप धारण कर सकती है। इसलिए इसके विकास-क्रम की रोकथाम बहुत जरूरी है।

नजला-जुकाम सम्बन्धी बीमारियाँ अनिवार्य रूप से शरीर पर बहुत घातक प्रभाव डालती हैं, गठिया को उग्र बनाती हैं। इसलिए इस बात का ध्यान रखना बहुत जरूरी है कि टाँसिल, नाक की श्वास नली और दाँत सदा बिलकुल ठीक रहें। इन अङ्गों में सूजन और जलन होने से यह बीमारी फिर से सिर उठाती है। यदि कोई हल्के रूप में भी इस बीमारी का शिकार हो चुका है, तो उसको हमेशा अपने पास सोडा सैलीसिलेट या पिरामीदोन रखना चाहिए। दवाइयाँ शरीर में गठिया के विरुद्ध संघर्ष करने की क्षमता पैदा करती हैं और हृदय को हानि पहुँचने से बचाती हैं।

वयस्कों के लिए सोडा सैलीसिलेट की मात्रा ०.५ ग्राम है जिसका सेवन दो से तीन हफ्ते तक हर दिन पाँच या छः बार करना चाहिए। यदि मरीज अपने को स्वस्थ अनुभव करे तब भी दवाई ले। आधे से एक ग्राम तक खाने वाले सोडे के साथ सैलोसिलेट की खुराक लेना श्रेयस्कर होगा। ६ से १० वर्ष के बालकों को ०.५ ग्राम सोडा सैलीसिलेट और ०.२५ – ०.५ ग्राम खाने वाला सोडा दिन में तीन या चार बार और दो या तीन सप्ताह तक दिया जाना चाहिए। पिरामीदोन की मात्रा कम होती है—वयस्कों के लिए ०.३ ग्राम और ६ से १० वर्ष की उम्र के बालकों के लिए ०.१५ ग्राम। यह दवाई दिन में तीन बार और दो-तीन सप्ताह तक लेनी चाहिए। सोडा के साथ इसका सेवन बेहतर रहता है।

निस्सन्देह इन "घरेलू" दवाइयों के अलावा, अधिक प्रभावशाली अन्य कई दवाइयाँ भी हैं। उदाहरणार्थ सोवियतसंघ में आद्रेनोकोर्तीत्रोप हार्मोन, बुतादिअोन, रिओपीरीन और वीसीलीन जैसी अनुभूत दवाइयों का प्रयोग किया जाता है। ये दवाइयाँ केवल डाक्टर की राय के अनुसार ही ली जानी चाहिए। एक बार भी यदि कोई इस बीमारी का शिकार हो चुका है तो उसे निरन्तर डाक्टर से सलाह-लेते रहना चाहिए।

सम्पादकीय

हिन्दी में वैज्ञानिक लेखकों का अभाव

यद्यपि हिन्दी की अधिकांश पत्रिकाओं में विज्ञान के विविध पक्षों को स्पर्श करने वाले अनेकानेक लेख प्रकाशित होते रहते हैं किन्तु यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो यह पता चलेगा कि कुल मिलाकर प्रकाशित मौलिक लेखों की संख्या कुछ ही है। वे ही लेख अन्य पत्रिकाओं में बिना उल्लेख किये हुए आगे पीछे छपते रहते हैं। यदि वे ही लेख नहीं छपते, तो उन्हीं शीर्षकों में कुछ उलट-फेर करके एवं वाक्यों को बदल कर अन्य लेखकों के नाम से प्रकाशित होते रहते हैं। ऐसी प्रवृत्ति से एक ओर जहाँ किसी विशेष विषय की ओर पाठकों को आकृष्ट करना होता है वहीं इससे यह हानि होती है कि पाठकों के समक्ष पठनीय सामग्री का अभाव रहता है।

अक्सर यह भी पाया गया है कि विविध विषयों से सम्बन्धित लेख विशेषज्ञों द्वारा न लिखे होकर ऐसे व्यक्तियों द्वारा लिखे होते हैं जिनकी रुचि अधिक से अधिक लेख लिखकर धन अर्जन करना होता है। यह घातक प्रवृत्ति है। यदि ऐसे व्यक्ति धनार्जन करना ही चाहते हैं तो वे मूल लेखक न बनकर 'अनुवादक' नाम से लेख प्रकाशित करें। अन्यथा कभी-कभी ऐसे व्यक्ति को एक महान वैज्ञानिक माना जा सकता है जिसने न तो कभी प्रयोगशाला का मुँह देखा है और न जिसे वैज्ञानिक विषयों की पूरी तरह जानकारी भी है।

बच्चों के लिए वैज्ञानिक विषयों पर पुस्तकें या लेख लिखते समय और भी सावधानी की जरूरत होती है। यदि ऐसी कोई बात लिख दी गई जो मूलतः गलत है और यदि बच्चे उसे आत्मसात कर गये तो बड़ी भारी क्षति होने की सम्भावना है।

अधिकांश पाठ्य-पुस्तकों में भी इसी कुप्रवृत्ति का पिष्टपेषण किया जाता है। प्रतिवर्ष नवीन पाठ्य-पुस्तकें स्वीकृत होने के कारण प्रकाशकों ने ऐसे सस्ते लेखकों को ढूँढ़ निकाला है जिनका काम हो गया है अच्छी-अच्छी पुस्तकों से सामग्री का चयन। चयन

करते समय वे सम्बद्धता या असम्बद्धता का तनिक भी ध्यान नहीं रखते और न इसका ही ध्यान रखते हैं कि वह सामग्री उपादेय होगी या नहीं। ऐसे लेखकों के पास न तो अध्यापन से प्राप्त किसी प्रकार का अनुभव रहता है और न अपनी विद्वता की कोई लेई-पूंजी ही। ऐसे परोपजीवी लेखकों के कारण विद्यार्थी वर्ग में यथार्थ वैज्ञानिक-ज्ञान के प्रति उदासीनता दिखाई पड़ती हैं। वे किसी प्रकार से परीक्षायें उत्तीर्ण करना चाहते हैं। वे "कुंजी-साहित्य" पर बल देते हैं जिसका परिमाण यह हुआ है कि आगे चलकर उनमें गम्भीर विषयों के प्रति सोचने-विचारने की शक्ति का विकाश नहीं हो पाता।

काश ! कि इस ओर सभी ध्यान देते।

भाग ९८
संख्या १
आश्विन
२०२० वि०
अक्टूबर १९६३

विज्ञान

विज्ञान परिषद् प्रयाग का मुख पत्र

प्रति अंक ४० न. पै.
वार्षिक ४ रुपये

सम्पादक—डॉ० शिवगोपाल मिश्र

विज्ञान परिषद्, प्रयाग

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुखपत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ।३।५।

भाग ९८	आश्विन २०२० विक्र०, १८८५ शक अक्टूबर १९६३	संख्या १

तैलङ्ग पुरस्कार प्रतियोगिता—३

प्लाज्मा—पदार्थ की चौथी अवस्था

महावीर सिंह मुड़िया

पदार्थ तीन अवस्थाओं में पाया जाता है: ठोस, द्रव और गैस। प्लाज्मा पदार्थ की चौथी अवस्था है। इस अवस्था में पदार्थ में अनेक उपयोगी गुण आ जाते हैं। प्लाज्मा को नियंत्रित करने से वैज्ञानिक नये प्रकार के अन्तरिक्ष यान बना सकेंगे, जिनकी गति आधुनिक अन्तरिक्ष यानों की गति से कई गुना अधिक होगी। नाभिकीय संगलन प्रक्रिया (Nuclear fusion reaction) से असीम ऊर्जा (energy) प्राप्त होगी। यही कारण है कि आज विश्व की अनेक अनुसधान शालाओं में प्लाज्मा पर विभिन्न प्रकार के रोमांचकारी परीक्षण किए जा रहे हैं, जो कि मानव के लिये अत्यधिक कल्याणकारी सिद्ध हो सकेंगे। यह सत्य है कि प्लाज्मा पर किये जा रहे परीक्षणों में सफलता मिलने पर मनुष्य की ऊर्जा और ईंधन की समस्यायें सदा के लिये हल हो जायेंगी। बिजली इतनी सस्ती और प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होगी जिसकी कि अभी कल्पना भी नहीं की जा सकती है। केवल दस नये पैसे में २००० मील की यात्रा की जा सकेगी। मनुष्य ग्रह और उपग्रह से भी आगे तारों की भी यात्रा कर सकेगा। ऊर्जा का यह महान स्रोत—जिसने भौतिक विज्ञान में एक विचित्र-सी हलचल पैदा कर दी है, तथा मनुष्य की सुख और समृद्धि के लिये, उसकी महत्वाकांक्षाओं के लिये, एक नये अध्याय का सूत्रपात किया है—वही प्रस्तुत लेख का विषय है।

प्लाज्मा क्या है ?

परमाणु पदार्थ का सूक्ष्म कण है। परमाणु के केन्द्र में एक नाभिक (Nucleus) होता है। यह नाभिक धन आवेश युक्त होता है। ऋण

आवेशयुक्त इलेक्ट्रान कण इस नाभिक के चारों ओर चक्कर लगाते रहते हैं। अत्यधिक ऊँचे ताप (५००० ° सें०) पर परमाणु एक दूसरे से अत्यन्त तीव्र गति से टकराते हैं। इस क्रिया में परमाणु के बाहर की परिधि में चक्कर लगाते हुए इलेक्ट्रान, परमाणु से अलग हो जाते हैं। ऋण आवेश युक्त इलेक्ट्रान कणों के अलग हो जाने से अब परमाणु धन आवेश युक्त आयन के रूप में ही रह जाते हैं। जैसे-जैसे ताप बढ़ता जाता है, इलेक्ट्रान कण परस्पर धन आवेश युक्त आयनों से टकराते हैं। परिणाम स्वरूप प्रकाश के रूप में चमक निकलती है। पदार्थ की इस दोलित अवस्था को प्लाज्मा कहा जाता है। यह धन आवेशयुक्त आयनों एवं ऋण आवेशयुक्त इलेक्ट्रानों का सम-सम्मिश्रण है। चूँकि न तो यह गैस है, न द्रव और न ठोस अवस्था में ही है, अतः इसे पदार्थ की चौथी अवस्था माना गया है। प्लाज्मा अत्यधिक आयनीकृत गैस है।

सर्व प्रथम जनरल इलेक्ट्रिक कम्पनी के इरविंग लेंगमूर ने सन् १९२९ में प्लाज्मा पर अनुसंधान प्रारम्भ किया और अपने परीक्षणों में उन्होंने पाया कि इस प्रकार वे १०,००० सें० ताप तक पहुँचने में सफल हो गए हैं। यह ताप सूर्य की सतह के ताप से दुगुना है। यह वास्तव में एक महत्वपूर्ण परीक्षण था, क्योंकि अभी तक वैज्ञानिक इतना ऊँचा ताप प्रयोगशालाओं में पैदा करने की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। इस ताप पर सभी पदार्थ तुरन्त वाष्प बनकर उड़ जाते हैं। वास्तव में अभी तक विज्ञान ने ऐसा कोई भी पदार्थ मनुष्य के हाथों में नहीं दिया है जो ऐसे ताप को सहन कर सके। स्वाभाविक रूप से फिर यह प्रश्न उठता है किस प्रकार इतने ऊँचे ताप पर प्रयोग किये जायँ? इस प्रश्न का हल भी बड़े अनूठे ढंग से किया गया। प्लाज्मा को यदि ट्यूब की दीवारों के बीच में ही केन्द्रित रखा जाय, ताकि ट्यूब की दीवारों को प्लाज्मा कण छू न पाएँ तो उस उपकरण को जिसमें कि प्लाज्मा पर प्रयोग किए जा रहे हैं, वाष्प बनकर उड़ जाने से बचाया जा सकता है। यह निस्सन्देह एक क्रान्तिकारी कदम था। जब प्लाज्मा को चुम्बकीय क्षेत्र में रखा जाता है तो धन आवेश युक्त आयन वहीं
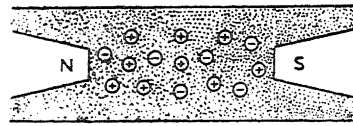
चित्र १—चुम्बकीय क्षेत्र में प्लाज्मा

पर सिकुड़ जाते हैं जैसे किसी क्रिया से बाँध दिये गए हों और ऋण आवेशयुक्त इलेक्ट्रान कण चुम्बकीय रेखाओं में घिर जाते हैं। परिणाम यह होता है कि अब प्लाज्मा कण इधर-उधर भाग कर उपकरण की दीवारों को नहीं छू पाते हैं और वह उपकरण पूर्ण रूप से सुरक्षित रहता है। इस तरह इससे भी अधिक ताप प्रयोगशालाओं में उत्पन्न किये जा चुके हैं। यही कारण है कि ऊँचे ताप उत्पन्न करने के लिये वैज्ञानिक जन प्लाज्मा पर निरन्तर प्रयोग कर रहे हैं।

ऊँचे ताप का महत्व

नाभिकीय संगलन प्रक्रिया से ऊर्जा प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि उपकरण में काफी ऊँचा ताप काफी समय तक स्थिर रहे। दो नाभिक, धन आवेश युक्त होने से, एक दूसरे को प्रत्याकर्षित करते हैं। यदि उन नाभिकों में संगलन प्रक्रिया प्रारम्भ की जाए तो उनमें इतनी ऊर्जा होनी चाहिए कि वे अपने विद्युत विकर्षण को दूर कर, आपस में क्रिया कर सकें। यह तभी सम्भव है जब नाभिकों की औसत ऊर्जा १,००० इलेक्ट्रान वोल्ट हो। इसका अर्थ यह हुआ कि ताप १० करोड़ डिग्री सेण्टीग्रेड हो। सूर्य का केन्द्र जो सबसे गरम है, उसका भी ताप केवल २ करोड़ डिग्री है। निश्चय ही मनुष्य का यह प्रयास सराहनीय है कि अपनी

प्रयोगशाला में वह सूर्य के बराबर ताप उत्पन्न कर चुका है।

प्रत्येक नाभिक आवेशयुक्त होता है और हमने देखा कि दो नाभिक, समान आवेशयुक्त होने के कारण एक दूसरे को प्रत्याकर्षित करते हैं। स्वाभाविक है कि यदि दो नाभिकों को हम मिलाना चाहें तो ऐसे नाभिक लेने होंगे जिनके आवेश सबसे कम हों ताकि वे एक दूसरे को कम से कम प्रत्याकर्षित करें, जिससे कम शक्ति से ही उन्हें आपस में मिलाने का प्रयत्न किया जा सके और संगलन प्रक्रिया प्रारम्भ होकर ऊर्जा प्राप्त की जा सके। इस प्रकार प्रोटान ($_1H^1$), ड्यूट्रान ($_1H^2$) और ट्राइटॉन ($_1H^3$) पर, जिनमें आवेश कम है, प्रयोग प्रारम्भ किये गए। ड्यूट्रान और ट्राइटॉन पानी से प्राप्त किये जाते हैं क्योंकि ये भारी हाइड्रोजन के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं, और भारी हाइड्रोजन पानी से प्राप्त होता है। ट्राइटॉन की मात्रा पानी में बहुत कम है, इसलिए वैज्ञानिकों ने ड्यूट्रान-प्रक्रिया से ऊर्जा प्राप्त करने की ओर प्रयास किये। इस प्रक्रिया में दो ड्यूट्रान नाभिक मिलने पर हीलियम गैस, न्यूट्रान और ऊर्जा प्राप्त होती है।

$$_1H^2 + {}_1H^2 \rightarrow {}_2He^3 + {}_0n^1 + 3{\cdot}3$$

ड्यूट्रान हीलियम + न्यूट्रान मि.इ.वो.
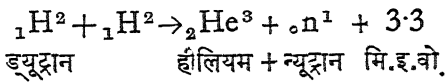
इसी प्रकार ड्यूट्रॉन—ट्राइटान प्रक्रिया से भी ऊर्जा निकलती है।

$$_1H^2 + {}_1H^3 \rightarrow {}_2He^4 + {}_0n^1 + 17.6$$

मिलीइलेक्ट्रान वोल्ट
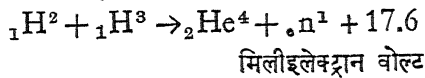
यह एक महत्वपूर्ण क्रिया है। इस क्रिया में जो ऊर्जा निकलती है उससे अरबों वर्षों तक मनुष्य को शक्ति का महान स्रोत प्राप्त हो सकेगा क्योंकि पानी काफी मात्रा में उपलब्ध है और भारी हाइड्रोजन पानी से प्राप्त किया जाता है। एक गैलन पानी में $\frac{1}{8}$ ग्राम ड्यूट्रियम होता है और उसे प्राप्त करने में २० नये पैसे खर्च पड़ता है। लेकिन दो ड्यूट्रियम कणों के मिलने से इतनी शक्ति प्राप्त होती है जितनी ३०० गैलन पेट्रोल से प्राप्त होती है।

प्लाज्मा में संगलन प्रक्रिया

संगलन प्रक्रिया से ऊर्जा प्राप्त करने के लिये प्लाज्मा पर अनेक प्रकार के प्रयोग किये जा रहे हैं। एक संगलन प्रतिकारी (Fusion reactor) से ऊर्जा प्राप्त करने के लिये १० करोड़ डिग्री ताप की आवश्यकता होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह एक कठिन समस्या ही रहेगी। प्रयोगशाला में इतना उच्च ताप उत्पन्न करना केवल कोरी कल्पना ही हो सकती है क्योंकि वह सारा उपकरण ही इतनी ऊष्मा से तहस-नहस हो जायगा। इस संकट से बचने के लिये जो संगलन प्रतिकारी बनाए जा रहे हैं, उनमें चुम्बक प्रयोग में लाये जाते हैं। एक तीव्र चुम्बक प्लाज्मा कणों को नली के बीच में ही केन्द्रित रखेगा, जिससे कि प्लाज्मा कण एक दूसरे के सन्निकट आजायेंगे और इस क्रिया में ताप भी बढ़ता है। उचित ताप पर प्लाज्मा, दूसरे प्लाज्मा से जुड़ जाते हैं और इस संगलन प्रक्रिया में न्यूट्रान और ऊर्जा प्राप्त होती है। न्यूट्रान में किसी प्रकार का आवेश नहीं होता अर्थात् वह उदासीन कण है, और वह चुम्बकीय क्षेत्र से बाहर निकल आता है। न्यूट्रान का बाहर निकलना इस बात का प्रमाण है कि प्लाज्मा के अन्दर संगलन प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई है। एक बड़ी कठिनाई इस प्रक्रिया में यह है कि हाइड्रोजन प्लाज्मा एक दूसरे से पृथक होना प्रारम्भ कर देते हैं। ऊँचा ताप उत्पन्न करने के लिये, जिससे कि संगलन प्रक्रिया शुरू हो, यह आवश्यक है कि हाइड्रोजन प्लाज्मा काफी समय तक जुड़े रहें।

प्लाज्मा में संगलन प्रक्रिया प्रारम्भ करने के लिये निम्न प्रयोग किये जा रहे हैं।

१. पिंच प्रभाव (Pinch effect):—जब एक ट्यूब में जिसमें प्लाज्मा विद्यमान है, तेज विद्युत प्रवाह किया जाता है तो प्लाज्मा कण संकुचित होते हैं।

यह प्रभाव सर्वप्रथम सर विलर्ड बेनेट ने अपने प्रयोगों के आधार पर स्थापित किया था। इसे पिंच
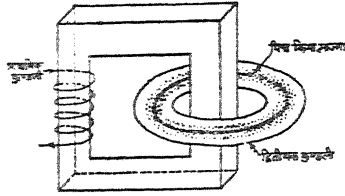
चित्र २—उच्च ताप पर पिंच प्रभाव

प्रभाव कहा जाता है। जब प्लाज्मा कण संकुचित होते हैं तो विद्युत—घनत्व बढ़ जाने से ताप बड़ी तेजी से बढ़ने लगता है। इस कारण प्लाज्मा में संगलन प्रक्रिया के लिये इस विधि का महत्व बढ़ गया है।

इस सिद्धान्त का उपयोग ब्रिटेन की जीटा मशीन (Zeta अथवा Zero Energy Thermonuclera Assembly) में किया गया। तीन मीटर व्यास वाले एल्यूमीनियम के ट्यूब के अन्दर गैस भर कर विद्युत विसर्जन किया गया। २ लाख ऐम्पीयर विद्युत एक सेकण्ड के दस हजारवें समय तक प्रवाहित की गई। विद्युत प्रवाह से चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न होता है और पिंच-प्रभाव के कारण ताप बड़ी तेजी से बढ़ता है। इस प्रकार जब ताप लाखों डिग्री हो जाता है तो ड्यूट्रियम कण बड़ी तेजी से एक दूसरे से टकराते हैं और आपस में मिल जाते हैं। इस क्रिया में, जैसा कि हमने देखा, ऊर्जा निकलती है। जीटा मशीन में इस तरह ५० लाख डिग्री तक ताप उत्पन्न किया जा चुका है। यह ताप किसी भी तारे की सतह के ताप से ऊँचा है।

यद्यपि जीटा में वैज्ञानिकों को काफी सफलता मिली है फिर भी सङ्गलन प्रक्रिया शुरू करने के लिये काफी प्रयास बाकी है। और अधिक ताप उत्पन्न करने के साथ-साथ विद्युत विसर्जन एक सेकण्ड तक चालू रहना चाहिये।

२. दिष्टधारा प्रयोग (The DirectCurrent Experiment (Dcx)—अमेरिका और रूस में इस विधि से भी प्लाज्मा पर प्रयोग किये जा रहे हैं। कक्ष में ऐसे कणों को प्रवेश कराया जाता है जिनकी ऊर्जा सङ्गलन प्रक्रिया शुरू करने की ऊर्जा से अधिक होती है। ओकरिज राष्ट्रीय प्रयोगशाला (अमेरिका) में ड्यूट्रियम के अणुओं को ६०,००० इलेक्ट्रान वोल्ट की ऊर्जा से एक चुम्बकीय क्षेत्र के अन्दर प्रविष्ट किया जाता है। एक कार्बन चाप विसर्जन के द्वारा ये अणु आयन में विभक्त कर दिये
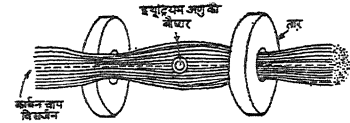
चित्र ३—Dcx प्रयोग

जाते हैं। ड्यूट्रियम आयन, D+, का भार कम होने के कारण अब ये आयन एक छोटे वृत्त में चक्कर लगाते रहते हैं। इस प्रकार कणों को घनीभूत करके सङ्गलन प्रक्रिया प्रारम्भ की जा सकती है। इसमें मुख्य कठिनाई यह है कि बची हुई गैस ड्यूट्रियम कणों से टकरा कर उनकी ऊर्जा को बहुत कम कर देती है। इस प्रकार सङ्गलन-ताप उत्पन्न नहीं हो पाता है। यदि कक्ष में प्रविष्ट कणों को काफी देर तक रहने दिया जाए तो बची गैस तब तक क्रिया करके समाप्त हो जायगी और फिर ड्यूट्रियम प्लाज्मा में सङ्गलन प्रक्रिया प्रारम्भ हो सकती है। ऐसी आशा की जाती है कि बड़ी मशीनों के द्वारा यह कठिनाई दूर की जाकर सङ्गलन-ताप उत्पन्न किया जा सकेगा। रूस में विशाल मशीन **ओगरा** (Ogra) में इसी सिद्धान्त का प्रयोग किया गया है और इस प्रकार २ करोड़ डिग्री ताप उत्पन्न किया जा चुका है।

३. स्टेलरेटर (Stellarator):—प्लाज्मा अनुसन्धान में स्टेलरेटर यन्त्र का एक प्रमुख स्थान है। यह यन्त्र प्रिन्सटन विश्वविद्यालय के **डा० स्पिटजर** का बनाया हुआ है। इसमें विद्युत विसर्जन एक ∞ की आकार की नली में कराया जाता है। विद्युत

धारा तार के द्वारा प्रवाहित की जाती है और तार नली के ऊपर ही बांधे जाते हैं। नली के अन्दर इलेक्ट्रानिक विधि से गैस को अन्दर प्रविष्ट किया जाता है और उन्हें इस प्रकार १० करोड़ डिग्री ताप

चित्र ४—स्टेलरेटर

तक भी गरम किया जा सकता है। इस ताप पर यदि गैस बराबर और ठीक मात्रा में पहुँचाई जावे और गैस में किसी प्रकार की अशुद्धियाँ न रहें तो प्लाज्मा के अन्दर सङ्गलन प्रक्रिया प्रारम्भ की जा सकती है।

यह अंग्रेजी आठ (∞) के आकार की नली विद्युत प्रवाह से चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न करती है जिससे प्लाज्मा इस नली में बराबर चक्कर लगाते रहते हैं। यही नहीं, इस चुम्बक के प्रभाव से प्लाज्मा कण टोरस के बीच में ही केन्द्रित रहते है, क्योंकि यदि प्लाज्मा दीवार को छू लेते हैं तो ताप काफी गिर जाता है और स्वयं यन्त्र भी तहस-नहस हो जाता है। अमेरिका में प्रिन्सटन विश्वविद्यालय में, स्टेलरेटर का निर्माण ढाई लाख पौंड निष्कलंक इस्पात की आधार शिला पर बनाया हुआ है। इस आधार के ऊपर नलिकाएँ, विद्युत विसर्जन के तार और गरम करने के यन्त्र रखे गए हैं। नलिका के ऊपर बांधे गये तार ५५,००० गास का चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न करते हैं। इस विशाल चुम्बक के द्वारा प्लाज्मा को आठ इंच चौड़ी नलिका में केन्द्रित किया जाता है। यह चार इंच व्यास का प्लाज्मा सङ्गलन प्रक्रिया से ऊर्जा उत्पन्न करता है।

प्लाज्मा को इस तरह से केन्द्रित रखने के अतिरिक्त एक बड़ी समस्या इतना उच्च ताप उत्पन्न करने की भी है। उदाहरणार्थ जीटा मशीन में जो ५० लाख डिग्री ताप पैदा किया गया वह मुख्यतः विद्युत् प्रवाहके फलस्वरूप था। लेकिन इससे ऊँचे ताप पर प्लाज्मा का प्रतिरोध कम हो जाता है और फिर इस विधि से गरम करना असम्भव हो जाता है। यह मानते हुए कि निकट भविष्य में ये समस्यायें हल हो सकेंगी यह अनुमान लगाया गया है कि ड्यूट्रान-ट्राइटान प्रक्रिया में १० लाख ऐम्पीयर विद्युत्-प्रवाह की जानी चाहिए। इतनी तीव्रता से विद्युत्-प्रवाह करना प्राविधिक दृष्टि से अत्यन्त दुष्कर कार्य होगा।

आज वैज्ञानिकों के सामने संगलन प्रक्रिया के पूर्ण होने में अनेक जटिल समस्यायें हैं। प्लाज्मा का नियन्त्रण एवं केन्द्रन (Control and Confinement) करना परम आवश्यक है। वास्तविक रूप में वैज्ञानिक अभी तक यह नहीं समझ पाये हैं कि प्लाज्मा को इस तरह से चुम्बक में रखना उसके गुणों के विपरीत तो नहीं होगा। फिर इतना ऊँचा ताप (१० करोड़ डिग्री) उत्पन्न करना और उसे एक सेकण्ड के लिए स्थिर रखना भी परम आवश्यक है। प्लाज्मा कण में जरा सी भी किसी प्रकार की अति सूक्ष्म अशुद्धि नहीं होनी चाहिए, नहीं तो ताप काफी गिर जाता है। इन सब समस्याओं का समाधान ढूँढ़ने में वैज्ञानिक तत्परता से जुटे हैं।

यद्यपि इस समस्या पर प्रचुर मात्रा में धन लगाया जा रहा है और बड़े-बड़े भीमकाय यन्त्र अनुसंधान के हेतु बनाये जा रहे हैं फिर भी निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि वैज्ञानिक पूरी तरह से हल निकाल ही लेंगे। लेकिन यह सत्य ही है कि अभी तक जितने परीक्षण हुए हैं, उनसे सफलता की आशा पूर्ण रूप से की जा सकती है। पूर्ण सफलता मिलने पर मनुष्य की ऊर्जा और ईंधन की आवश्यकताएँ सदा के लिए हल हो जायँगी। अभी तक प्लाज्मा पर परीक्षणों से वैज्ञानिक जानकारी ही प्राप्त हुई है। चुम्बकीय क्षेत्र के अन्दर प्लाज्मा के विभिन्न प्रकार के आकार बनने से, जिन्हें प्लाज्मोइड (Plasmoid) कहते हैं तारों और नीहारिकाओं की बनावटें समझने में सहायता मिलती है। यही

नहीं, इलेक्ट्रान, प्रोटान, मेसान और न्यूट्रिनो आदि कणों की बनावट का भी सही रूप समझने में बड़ी सहायता मिली है।

प्लाज्मा के उपयोग

प्लाज्मा का काफी उपयोग राकेट का अग्रभाग बनाने में हुआ है जिससे वायुमण्डल में प्रविष्ट होते समय अत्यधिक घर्षण प्रभाव से राकेट शंकु (Cone) को जलकर नष्ट होने से बचाया जा सकता है। अत्यन्त ऊँचे ताप को सहन करने वाले पदार्थ भी अब शीघ्र बनते हैं। बिजली की भट्टियाँ अभी तक केवल ५०००° सें० तक ही कार्य कर पाती हैं। प्लाज्मा से ऊष्मा अधिक पैदा कर इससे भी ऊँचे ताप पर प्रयोग किये जाते हैं। प्लाज्मा-रसायन (Plasma Chemistry) एक नया क्षेत्र है जिसमें विभिन्न प्रकार के नये-नये प्रयोग किये जा रहे हैं।

अन्तरिक्ष के अन्दर रेडियो यातायात में भी प्लाज्मा का प्रयोग होने लगा है। प्लाज्मा की सहायता से अनेक यन्त्र जैसे एम्पलीफायर, आसीलेटर, बनाये जाते हैं जो अन्तरिक्ष अनुसंधान में अत्यन्त उपयोगी हैं। अन्तरिक्ष में भी प्लाज्मा कण हैं और इसलिए रेडियो तरंग का परिचालन समझना एक यान्त्रिक (Engineer) के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है जिससे अन्तरिक्ष के अन्दर यातायात की जानकारी प्राप्त हो सकेगी।

प्लाज्मा का प्रयोग मिसाइल्स और अन्तरिक्ष यान में किये जाने की सम्भावना है। विद्युत् प्रवाह से प्लाज्मा को उसी प्रकार से अन्तरिक्ष यान से नीचे की ओर छोड़ा जा सकता है जिस प्रकार गैस, द्रव, ईंधन राकेट से नीचे की ओर छोड़े जाते हैं और परिणामस्वरूप राकेट ऊपर उठता है।

ऐसे राकेट में प्लाज्मा को करीब प्रकाश की गति के वेग से छोड़ा जायगा। प्लाज्मा की नीचे की ओर की बौछार से अन्तरिक्ष यान बड़ी तेजी से ऊपर उठेगा। ऐसे राकेट में करीब ९०% ईंधन ऊर्जा के रूप में परिणत होगी राकेट की गति प्रकाश की गति से कुछ ही कम होगी। (यानी १,७०,००० मील प्रति सेकण्ड)। निश्चय ही मनुष्य को ऐसे राकेट तैयार करने में कई वर्ष लगेंगे लेकिन ऐसा राकेट बनने के बाद निकट तारे (जिसकी दूरी ४ प्रकाश वर्ष है) तक मनुष्य पाँच साल में पहुँच सकेगा। प्लाज्मा ने मनुष्य की जिज्ञासा एवं शोध के लिए अनन्त अन्तरिक्ष के द्वार खोल दिये हैं।

खाद्यों में रसायनों का उपयोग

डा० शिवगोपाल मिश्र

आये दिन ऐसी अनेक दुखद मृत्युयें सुनने को मिलती रहती हैं, जो भोजन में विषैले पदार्थों के मिले रहने के कारण होती हैं। आटे में डी० डी० टी० नामक कीटनाशक की मिलावट से दक्षिण भारत में अनेक दुर्घटनाओं की सूचना सबों को है। कभी-कभी भोजनोपरान्त शरीर में विष फैल जाने (Food poisoning) की भी खबरें सुन पड़ती हैं। नकली दवाइयों के कारण अथवा दवाओं में मिलावट के कारण जो मृत्युयें होती हैं, उनको आप छोड़ दें। पेनिसिलीन इन्जेक्शन की शीशी के भीतर मक्खी या बरफ के बीच में मरी छिपकली मिलने की खबरों से जनता भली-भाँति अवगत है।

हमारा देश ऋषि-मुनियों का देश रहा है। कृषि कर्म में रत कृषक जमीन से अन्न पैदा करना ही जानते थे। उन्होंने आज तक न तो यह ही अनुभव किया है कि उनके द्वारा उगाया गया अन्न आवश्यक तत्वों से हीन है या उनमें धनी है। यही हाल पशुओं का है। उनके चारे में किन तत्वों का अभाव है और कौन से तत्व ऐसे हैं जिनकी उपस्थिति के कारण वे नाना रोगों से पीड़ित हो सकते हैं—इसकी समुचित जानकारी किसी भी गोपालक, ग्वाला या खेतिहर को नहीं है। तो भला देश का कल्याण कैसे हो ? राष्ट्रीय-बल कहाँ से आवे ?

जैसे-जैसे विज्ञान ने उन्नति की, नाना क्षेत्रों में उसकी पैठ हुई। कृषि-क्षेत्र में तो कल्पनातीत प्रगति हुई है और जब उसमें से किसी भी क्षेत्र में हुई प्रगति का पूरा लेखा-जोखा मालूम किया जाता है तो हमारी आँखें खुल जाती हैं। आज हमारे कृषक कृत्रिम उर्वरकों के विरोधी हैं। उनका कथन है कि इनके व्यवहार से खेतों की उर्वराशक्ति नष्ट हो जाती है और जो अन्न उत्पन्न होता है वह कम सुस्वादु एवं निकृष्ट कोटि का होता है। यदि उनकी इन धारणाओं को हम मान्यता दे भी दें तो क्या यह सच नहीं है कि हमारे देश में अभी तक कोई ऐसा वैज्ञानिक संगठन कार्य नहीं कर रहा है जो उनके इस भ्रम की पुष्टि करे या उसका खण्डन करे।

विदेशों में प्रारम्भ से ही इस दिशा में काफी कार्य होता रहा है। वहाँ के किसान तथा कृषि-वैज्ञानिक परस्पर मिलकर समस्याओं के समाधान का प्रयत्न करते रहे हैं। अमेरिका के तथाकथित कार्बनिक कृषक (Organic farmers) बहुत वर्षों से यह शोर मचाते रहे हैं कि कृत्रिम उर्वरकों तथा कीटनाशकों के व्यवहार से फसल तथा जन-स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है। अपने पक्ष के समर्थन में वे फसलों में हानिकारक तत्वों की बढ़ी हुई मात्राओं की दुहाई देते रहे हैं। परन्तु औद्योगिक क्षेत्र में इस हो-हल्ला का कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ा। अमेरिका जैसे औद्योगिक राष्ट्र में भोज्य पदार्थ एवं भोज्य सामग्रियों के उत्पादन करने के लिए अनेकानेक फैक्टरियाँ हैं। इन फैक्टरियों के मालिकों ने आधुनिकतम शोधों का सहारा लेकर अपने मार्ग को प्रशस्त किया है। यही नहीं, उन्होंने अनेकानेक वैज्ञानिकों को प्रश्रय देकर खाद्य-उद्योग को प्रोत्साहित करते रहने का अथक प्रयास भी किया है। ऐसा होने से कुछ नये तथ्य सामने आये हैं जिनसे सर्वसाधारण के भ्रमों का निवारण हो सका है।

फिर भी खाद्य पदार्थों में रासायनिक पदार्थों के उपयोग करने की दिशा में लोगों का भ्रम बना हुआ है। बहुत ही कम लोग यह मानने को तैयार हैं कि खाद्यों में रसायनों का व्यवहार या तो खाद्य पदार्थों के खाद्य-मान बढ़ाने के लिए किया जाता है अथवा खाद्यों की कोटि में सुधार, उनके स्थायित्व में वृद्धि एवं उपभोक्ता की रुचि को ध्यान में रखकर किया जाता है। खेद है कि अनेक राष्ट्रों में रसायनों के इस प्रकार से व्यवहृत किये जाने को 'मिलावट' या अपमिश्रण (Adulteration) की संज्ञा प्रदान की जाती है। आधुनिक युग में रसायनों का व्यवहार खाद्यों के क्रियात्मक मान (Functional Value) अथवा उनके पोषण-मान बढ़ाने के उद्देश्य से ही किया जाता है। प्रस्तुत निबन्ध में इसी दृष्टिकोण की विशद विवेचना की गई है।

यह भलीभाँति ज्ञात है कि खाद्य पदार्थों में मिलावट की क्रिया अत्यन्त प्राचीन काल से होती रही है। अब तो यह सर्वविदित है कि ज्यों-ज्यों खाद्य पदार्थों की तैयारी (Processing) जटिल, एवं महँगी होती जावेगी, खाद्यों में क्रियात्मक अपमिश्रणों का उतना ही बोलबाला रहेगा। इसका कारण यह है कि किसी एक खाद्य पदार्थ से जितनी अधिक वस्तुएँ तैयार की जावेंगी, उत्पादन कार्य उतना ही जटिल होता जायगा। फिर युद्धकालीन स्थिति में जब सभी प्रकार के खाद्य पदार्थ मंडियों से अदृश्य होने लगते हैं तो इन पदार्थों की पूर्ति के हेतु मिलावटी पदार्थ स्वयमेव ही प्रकट होने लगते हैं। यहाँ तक कि सरकारें भी कृत्रिम पदार्थों को मान्यता प्रदान कर देती हैं जैसा कि प्रथम तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के समय हुआ। प्रथम विश्वयुद्ध के समय गेहूँ के स्थान पर उसी का नकली रूप मान्य था, मांस के बने पदार्थों में मक्का मिलाया जा सकता था और दूध, अण्डे तथा काफी के भी अनुकरण मान्य थे। किन्तु जैसे ही युद्ध समाप्त हुआ ये नकली चीजें पुनः अप्रचलित हो गयीं।

इसी प्रतिक्रिया के वशीभूत हो आजकल सभी उपभोक्ता खाद्य पदार्थों में रसायनों के प्रयुक्त किये जाने पर शंका प्रकट करते रहते हैं। किन्तु आज का उत्पादक एक दूसरे ही लक्ष्य के अनुसार आगे बढ़ता है। उसका तो उद्देश्य यह रहता है कि उत्पादन के समय खाद्य पदार्थों में जो कमियाँ आ गई हों उनकी पूर्ति की जाय। इस पूर्ति के लिये वह उनमें विविध प्रकार के रसायन मिलाता है जिससे उत्पादित सामग्री में अच्छा स्वाद, गंध, स्वरूप, टिकाऊपना इत्यादि गुण आ जाते हैं। यह दृष्टिकोण आधुनिक खाद्य प्रविधि (Food Technology) का मूल उद्देश्य है जो अपना यह लक्ष्य रखती है कि जब खाद्य पदार्थ उपभोक्ताओं के पास पहुँचे तो वह सर्वगुण सम्पन्न हो। यह क्रिया उस प्राचीन रोम-प्रणाली या पश्चिमी यूरोपीय पद्धति से सर्वथा भिन्न है जिसके अनुसार खड़े गेहूँ को पीस कर आटे के रूप में बेचना वर्जित था क्योंकि उत्पादक द्वारा आटे में मिलावट करने की ज्यादा सम्भावनायें थीं। वे लोग जो यह सोचते हैं कि विज्ञान की उन्नति ने खाद्यों के अपमिश्रण में योग ही दिया है अथवा उन्हें सस्ता बना दिया है, वास्तव में आधुनिक खाद्य प्रविधि की आत्मा से अपरिचित कहे जावेंगे।

जैसे-जैसे सामाजिक उन्नति हुई, खाद्य पदार्थों का उत्पादन घरों को छोड़कर फैक्टरियों में होने लगा। बस, यहीं से अपमिश्रण की सम्भावनायें बढ़ने लगीं किंतु ज्यों-ज्यों रसायन विज्ञान उन्नति करता गया मिलावट करने वालों के लिये मिलावट करना टेढ़ी खीर हो गई। उदाहरणार्थ, विदेशों में दूध में मिलाये जाने वाले परिरक्षकों (Preservatives) तथा जल की तुरन्त परीक्षा सम्भव हो गई है जिससे अब वहाँ दूध में मिलावट बन्द हो गई है। अंग्रेजों का इतिहास इसका साक्षी है कि सन् १२१५ ई० में ही ऐसी मिलावटों को रोकने के लिए एक कानून बनाया

जा चुका था। अमेरिका में १८४८ ई० में औषधियों से सम्बन्धित कानून बना जो भोज्य पदार्थों में १९०६ ई० में लागू हुआ। वहाँ का खाद्य एवं औषध-नियन्त्रण विभाग स्वास्थ्य विभाग के सहयोग से कार्य करता है।

कभी-कभी तो ऐसा हुआ कि यदि बाजार में कोई ऐसा रसायन प्रयुक्त हुआ और वह लाभदायक होने के साथ ही सस्ता भी हुआ तो सामान्य दूकानदार ऐसे रसायन के विरुद्ध आवाजें उठाने लगे। उदाहरणार्थ अमेरिका में जब सर्वप्रथम फिटकिरी को पाक-चूर्ण (बेकिंग पाउडर) के रूप में प्रयुक्त किया गया तो इसके उत्तम गुणों एवं अल्प मूल्य के कारण उसका विरोध हुआ और यह झूठी सूचना प्रचारित की गई कि वह विषैला होता है। इस भ्रम को हटाने में वर्षों लगे। इसी प्रकार जब कैलसियम सल्फेट तथा पोटैसियम ब्रोमेट का व्यवहार लोई नियामक (Dough Conditioner) के रूप में प्रारम्भ हुआ तो इसके विरोध में यह कहा जाने लगा कि प्लास्टर आफ पेरिस को रोटी बनाने में प्रयुक्त किया जाता है, किन्तु आज यह सर्वस्वीकृत तथ्य है कि रोटी में कैलसियम लवणों का मिलाया जाना कितना उपयोगी होता है। इसी प्रकार से रोटियों के आटे को बहुत दिनों तक सुरक्षित रखने की दृष्टि से $KClO_3$, ClO_2 तथा NCl_3 का उपयोग किया जाता रहा। इनमें से नाइट्रोजन क्लोराइड के सम्बन्ध में यह जानकारी उपलब्ध है कि यदि आटे में इसे मिलाकर दिया जाय तो यह कुत्ता के लिये घातक है, किन्तु आज तक कोई ऐसी सूचना नहीं मिली कि मनुष्यों के लिये भी यह उसी प्रकार हानिकर है। फिर भी इस यौगिक को आटे के आक्सीकारकों की सूची से हटा दिया गया और शेष दो को ही मान्यता मिल सकी।

अतः रोटी उत्पादन पहला व्यवसाय है जिसमें आक्सीकारकों का विशेष महत्व है और इससे उत्पादन में काफी सुगमता हुई है। इसी प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका में ओहियो में कुछ ऐसे अध्ययन किये गये जिनमें खाने के नमक अथवा पीने के जल में आयोडीन की थोड़ी मात्रा मिला दी गई जिससे कण्ठमाला रोग की रोकथाम हो सके। आजकल आयोडीन मिश्रित लवण को मान्यता प्राप्त है।

यही नहीं, संदूषण द्वारा भी खाद्य पदार्थों में अनेक तत्व मिलते रहते हैं। उदाहरणार्थ बैल के यकृत में काफी ताम्र रहता है। चाय की पत्तियों में क्लोरीन तथा आटे में जिंक की काफी मात्रा रह सकती है। यही नहीं, फुहार द्वारा कीटनाशियों का विनाश करते समय अनेक तत्वों की सूक्ष्म मात्रा जुड़ती रहती है।

एमोस नामक अंग्रेज रसायनज्ञ ने खाद्यों में मिलाये जाने वाले रसायनों के लिये कुछ अभिमान्यतायें (Criteria) प्रस्तुत की हैं :—

(क) रसायन के व्यवहार से खाद्य सामग्री का गुणात्मक मानदण्ड बढ़ता है क्योंकि उसका विनाश रुक जाता है अथवा उसका खाद्य-मान सुधर जाता है।

(ख) जो रसायन प्रयुक्त होता है या तो उससे या उससे उत्पन्न अभिक्रियाफलों के कारण खाद्य सामग्री का खाद्य-मान घटता नहीं और जब इसको खाया जाता है तो कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता।

कच्चे माल, उसकी तैयारी, उसकी बंधाई, उपभोक्ताओं द्वारा परीक्षण तथा खाद्यान्न का स्थायित्व- ये विविध समस्यायें टेकनालाजिस्टों को परेशान किये रहती हैं। इतने पर भी उनके द्वारा तैयार किये गये माल को सरकारी मापदण्ड में तुलना चाहिए और डाक्टरों तथा स्वास्थ्य अधिकारियों की दृष्टि में खरा उतरना चाहिए। फलतः उनका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि जिस खाद्य सामग्री को वे इतने यत्न से तैयार करते हैं उसके सम्बन्ध में ग्राहकों को परिचित

करावें, अपनी कठिनाइयाँ बतावें और उनके लिये जो उपयोगी वस्तुयें उसमें मिलती हैं उनसे भी परिचित बनावें। फलतः प्रयोगशालायें अत्यन्त उपयोगी हैं जहाँ सभी प्रकार की परीक्षायें की जा सकती हैं।

नित्य प्रति शहरों के विस्तार के कारण आस-पास की उर्वर भूमियों पर मकान बनते जा रहे हैं अतः खाद्य पदार्थों के उत्पादन में कठिनाई होती जा रही है। यह अनुमान लगाया जाता है कि प्रति वर्ष एक एकड़ गेहूँ की फसल से २·४ मनुष्यों के लिये समुचित ऊर्जा उपलब्ध हो सकती है, ०·३ पुरुषों को कैलसियम, १·८ को लाइसीन मिल सकती है। किन्तु फिर भी विटामिन ए, सी, डी, नहीं मिल पाते। अतः हमें प्रत्येक यत्न द्वारा खाद्यों में प्रोटीन, खनिज तथा विटामिन की मात्रा को बढ़ाना है अन्यथा जिस गति से जनसंख्या बढ़ रही है उसमें तो कुछ ही वर्षों में सुबह के नाश्ते के रूप में हमें कुछ भी नहीं मिल पावेगा। तात्पर्य यह कि सभी प्रकार से खाद्य-उत्पादन में वृद्धि लानी है—यह सब खाद्य-उद्योग के माध्यम से सम्भव है जिसमें कृषि तथा औद्योगिक उत्पादनों में विज्ञान एवं इंजीनियरी को व्यवहृत करना होगा।

बहुत वर्ष पूर्व जितने वैज्ञानिक अध्ययन हुए उनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि तैयार किये गये खाद्य पदार्थ में प्रायः पोषणीय पदार्थों का अभाव रहता है अथवा संदूषण, क्षय, आक्सीकरण ऊष्मा, तथा आयु के कारण वे भोज्य पदार्थ के रूप में प्रयुक्त नहीं किये जा सकते। एक ओर जहाँ पोषणीय पदार्थों की उपेक्षा नहीं की जा सकती वहाँ टेकनॉलाजिस्टों ने डिब्बाबन्दी, निर्जलीकरण, हिमीकरण आदि विधियों द्वारा सरलता से क्षय होने वाले खाद्यों की जीवन-अवधि को बढ़ा दिया है। यही नहीं पूतिगन्ध, आक्सीकरण, क्षय, किण्वन जैसी क्रियाओं को रोक करके खाद्यों को और उपयोगी बना दिया है। न जाने कितने लोग ऐसे भोज्य पदार्थों पर निर्भर रहते हैं। खाद्य-उद्योग सदैव से ही खाद्य की तैयारी एवं उत्पादन के समय स्वच्छता के प्रति जागरूक रहा है। साथ ही अब यह भली-भाँति ज्ञात हो चुका है कि खाद्य की तैयारी में कतिपय पोषक तत्वों का सर्वथा अभाव रहता है—जैसे कि ऐमिनोअम्ल तथा विटामिनों का अभाव। बहुत दिनों तक ऐसा अनुभव किया जाता था कि फैक्टरियों में अनेक प्रक्रमों को पूरा करना कठिन होता था, किन्तु जब से विनष्ट होने योग्य पदार्थों को बचाने के लिये या खाद्य की पोषण-शक्ति बढ़ाने के लिये कतिपय रसायनों का प्रारम्भ हुआ तब से एक नवीन युग का सूत्रपात हुआ। इन रसायनों के उपयोग से अनेक प्रकार की क्षतियों में कमी हुई है और ग्राहकों की रुचि के अनुकूल पदार्थ भी मिलने लगे हैं।

खाद्यों की तैयारी करते समय या उनके भरते समय ज्ञात संघटन के कतिपय रसायन मिला दिये जाते हैं। इन रसायनों को अपमिश्र्य, 'मिलावन' (Additions) कह सकते हैं। जब कोई रसायन किसी पदार्थ को सुरक्षित रखने अथवा उसके गुण-धर्मों को उन्नत बनाने के लिये मिलाया जाता है तो उसे प्रयोजनीय या सार्थक या **"साभिप्राय मिलावन"** कहते हैं। इस प्रकार के रसायनों का पोषकीय तथा अपोषकीय दोनों ही गुण हो सकता है। ऐसे रसायनों की समुचित मात्रा डिब्बाबंदी करने या तैयारी के पूर्व ही मिला दी जाती है। ऐसे पदार्थों में विटामिनों का मिलाना, जीवाणु-नाशक, पायसकारक, खनिज, रंग, कृत्रिम सुगंध तथा मिठाइयाँ साभिप्राय मिलावन हैं। किन्तु इनके साथ ही खाद्य पदार्थों में अन्य प्रकार के रासायनिक मिलावन भी वर्तमान हो सकते हैं। ऐसे रसायन "आकस्मिक अपमिश्र्य या मिलावन" कहलाते हैं। यथा लवण या कीटनाशी की सूक्ष्म मात्रायें अन्नों में वर्तमान रहती हैं।

प्रायः खाद्य-उद्योग में रत कर्मी एवं निरीक्षक इतने ईमानदार होते हैं कि वे न तो त्रुटिपूर्ण रसायनों को व्यवहृत करेंगे और न सस्ते रसायनों को ही प्रयुक्त करना चाहेंगे, किन्तु कभी-कभी ईमान

खोने पर भारी क्षति उठानी पड़ सकती है। रोटी में सुधार या पौष्टिकीकरण तथा मार्गरीन में विटामिन ए का मिश्रण करना ये दो प्रमुख कदम हैं जिनका स्वागत हुआ है। यही नहीं, अब अमेरिका में मक्खन के स्थान पर मार्गरीन का ही अधिकाधिक व्यवहार होने लगा है फलतः उसमें विटामिन डी मिला दिया जाता है जिससे यह मक्खन की भाँति ही लाभप्रद हो।

अनेक अपमिश्र्यों के उपयोगों की एक सूची दी जा रही है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि खाद्यों में रसायन कितने उपयोगी हैं।

(१) फल भूरे न पड़ें इसलिये ऐस्कार्बिक अम्ल का व्यवहार।

(२) अनन्नासों के रंग खराब न होने देने के हेतु सलफर डाइ आक्साइड का व्यवहार।

(३) रोटियों में फफूँदी की वृद्धि रोकने के लिये कैलसियम तथा सोडियम प्रोपियनेट द्वारा उपचार।

(४) रोटियों में फफूंदी की वृद्धि रोकने के लिये ऐसीटिक अम्ल तथा डाइ एसीटेट यौगिकों का व्यवहार।

(५) पीने के जल में क्लोरीन का मिलाया जाना जिससे जीवाणु मर जायँ।

(६) शुष्क दुग्ध बनाते समय थक्का बनने से रोकने के लिये सिट्रेट तथा फासफेट का व्यवहार।

(७) अन्नों से बने पदार्थों के किण्वनीकरण के लिये टार्टरिक तथा फ्यूमैरिक अम्लों एवं पाइरो-फासफेटों का व्यवहार।

(८) संतरों को अधिक दिनों तक रखने के लिये उन पर मोम की परत लगाना।

(९) रक्ताल्पता को दूर करने के लिये अन्नों में लौह मिलाना अथवा कंठमाला रोग से निवृत्ति के लिये खाने के नमक में आयोडीन का मिलाया जाना।

(१०) फार्म के पशुओं के चारे में ऐंटीबायोटिकों का व्यवहार जिससे जल्दी तैयार हो सकें।

(११) मार्गरीन में लेसिथिन का प्रयोग।

(१२) रोगियों के भोजन में मिठास लाने वाले कृत्रिम पदार्थों की मिलावट।

(१३) अन्न-प्रोटीनों में सुधार की दृष्टि से लाइसीन का उपयोग।

(१४) टमाटर की डिब्बाबन्दी के समय कैलसियम लवणों का व्यवहार।

(१५) आटे को गूथ कर अधिक दिन तक रखने के लिये आक्सीकारकों का उपयोग।

(१६) पनीर में फफूंदी रोक के लिये कैलसियम या सोडियम फासफेट का व्यवहार।

(१७) दाँतों के रोग से बचने के लिये पेय जल में फ्लोराइड मिलाना।

(१८) डिब्बे में बन्द मटर को हरा रखने के लिये क्षारों का प्रयोग।

कुछ ऐसे भी रसायनों का व्यवहार खाद्य-पदार्थों में प्रचलित था जिनके प्रभाव मनुष्यों के ऊपर नहीं भी ज्ञात थे। ऐसे रसायनों की परीक्षा करके, यदि वे हानिकारक पाये गये तो वर्जित कर दिये गये। उदाहरणार्थ बोरिक अम्ल, मोनो क्लोरैसिटिक अम्ल वर्जित हैं।

कभी-कभी खराब फसल होने पर कीटनाशी रसायनों का व्यवहार होता है। इन रसायनों के अवशेष अन्नों में प्राप्त होते हैं अतः खाद्यों में से इन अवशेषों को पृथक कर देने की गम्भीर समस्या टेकनालाजिस्ट के समक्ष रहती है। इसके लिये काफी अनुसन्धानों की आवश्यकता है।

किसी खाद्य पदार्थ के स्थान पर नवीन पदार्थ का उत्पादन अत्यन्त कठिन होता है। उदाहरणार्थ द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् आवश्यकता प्रतीत हुई कि कृत्रिम मीठे पदार्थ, अंडे के स्थानापन्न तैयार किये जायँ। किन्तु क्या यह सरल काम था? यह अनुमान लगाया गया है कि इसके पूर्व कि कोई

नया खाद्य पदार्थ बाजार में बिके, उस पर शोधादि में जो व्यय होता है वह २००-४०० हजार डालर तक पहुँचता है। अनेकानेक प्रयोगों द्वारा ही किसी नवीन रसायन की विषाक्तुता का पता लगाया जाता है। इन प्रयोगों में प्रायः पशु काम में लाये जाते हैं, किन्तु अन्ततः मनुष्यों पर भी उनके प्रभावों का पूरा-पूरा ब्यौरा ज्ञात होना चाहिए। जल्दबाजी में कोई भी रसायन खाद्य पदार्थों में किसी भी रूप में मिलाकर बेचा नहीं जा सकता। इसके लिये कड़े नियमों के बनाये जाने की नितान्त आवश्यकता है। यदि किसी खाद्य में कोई रसायन मिलाया गया है तो उसकी मात्रा; उसके कारण खाद्य में आने वाली विशिष्टता आदि का वर्णन होना आवश्यक है।

मेसर तथा लेसर

शमीम अहमद

संसार के अधिकांश लोग आइन्सटाइन को केवल उसके सापेक्षवाद के सिद्धान्त के कारण जानते हैं परन्तु यदि किसी भौतिकज्ञ से पूछा जाय तो उसका उत्तर होगा—कि आइन्सटाइन ने अपने मस्तिष्क की सहायता से कुछ ऐसे सिद्धान्त प्रदान किये हैं जिनकी सहायता से आज के भौतिकविद् अनेक प्रकार की जटिल समस्याओं का समाधान कर रहे हैं और नवीन अनुसन्धानों में आगे बढ़ रहे हैं। उदाहरण के लिए आगे देखिये :—

उस समय जब कि लोग क्वाण्टम-सिद्धान्त की सहायता से विकिरण का अध्ययन कर रहे थे आइन्सटाइन ने एक मत प्रस्तुत किया जिसमें उसने बताया कि जब किसी परमाणु को जो सामान्य धरातल में होता है, ऊर्जा दी जाती है तो अधिक ऊर्जा वाला तल उत्तेजित हो जाता है। इसके उपरांत स्वयं ही वह (परमाणु) पुनः अपनी पुरानी अवस्था को लौट आता है क्योंकि प्रत्येक संस्थान की प्रकृति यही होती है कि उनकी अवस्था उतनी ही स्थायी होगी, जितनी उनकी ऊर्जा कम होगी। परन्तु इसके अतिरिक्त यदि उत्तेजित परमाणु के ऊपर पुनः एक उचित मात्रा का विकिरण डाला जाय तो वह अपनी पुरानी अवस्था को लौट आता है। इस नवीन घटना का उल्लेख आइन्सटाइन ने किया था और बताया कि इस उपर्युक्त घटना की सम्भावना उत्तेजित अवस्था की ऊर्जा के समानुपाती होती है तथा उस सम्भावना के ठीक बराबर होती है, जो उस विकिरण द्वारा, परमाणु उत्तेजना के लिए पाई जाती है। जब परमाणु स्वयं अपनी पुरानी अवस्था को लौट आता है तो उस घटना में ऊर्जा विकिरित होती है और उस ऊर्जा प्रस्फुरण को समक्षणिक उत्सर्जन (Spontaneous Emission) कहते हैं और जब परमाणु ऊर्जा क्वाण्टम का अवशोषण करके पुनः पुरानी अवस्था को लौटता है तो उस घटना को उत्तेजित उत्सर्जन (Stimulated Emission) कहते हैं। द्वितीय घटना का महत्त्व आज बहुत है और प्रमुख ध्येय हमारा इसी की विवेचना करना है।

ऊर्जा तथा परमाणुओं की व्यवस्था :— पदार्थ की इकाई मोटे तौर पर परमाणु है जिसकी

रचना नाभिक तथा इलेक्ट्रान से होती है। नाभिक में न्यूट्रान तथा प्रोटान होते हैं और नाभिक के चारों ओर निश्चित कक्षाओं में इलेक्ट्रान चक्कर लगाते रहते हैं। इलेक्ट्रान कक्षायें क्वाण्टमित होती हैं और प्रत्येक कक्षा के इलेक्ट्रानों की एक निश्चित ऊर्जा होती है। जब परमाणु के ऊपर ऊर्जा पड़ती है, तो यदि यह ऊर्जा बाहरी इलेक्ट्रान को अपने कक्षा से आगे की दूसरी कक्षा तक हटाने को पर्याप्त है, तो इलेक्ट्रान अगली कक्षा पर चक्कर लगाने लगता है। यदि E_0 ऊर्जा पहली कक्षा में रही हो और E_1 बाद के कक्षा में तो $E_1 - E_0 = hv$ जहाँ पर h = प्लैंक नियतांक

v = विकिरण का कम्पनांक ।

और जब पुनः इलेक्ट्रान अपनी पहली कक्षा को लौटेगा तो इतनी ही ऊर्जा की मात्रा तथा इसी कम्पनांक की ऊर्जा निष्कासित होगी।

इसी प्रकार परमाणुओं के झुण्ड पर ऊर्जा डाली जाय तो कुछ तो परमाणु ऊर्जा-अवशोषण करके उत्तेजित हो जायेंगे और कुछ उत्तेजित परमाणु ऊर्जा-निष्कासन करके पूर्ववत् अवस्था प्राप्त करेंगे. एक अवस्था ऐसी आयेगी जब कि उपर्युक्त उत्तेजना तथा पूर्ववत् स्थितियों में एक साम्य उपस्थित हो जायगा। परन्तु परमाणुओं की अधिकाधिक संख्या ऐसी अवस्था में रहेगी जब कि ऊर्जा का मान न्यूनतम होगा।

मान लिया कि एक झुण्ड में परमाणुओं की दो अवस्थाएँ हैं—कुछ कम ऊर्जा E_0 में है और कुछ E_1 में है। यदि $E_1 - E_0$ का मान अधिक होगा तो लगभग समस्त परमाणु E_0 वाली अवस्था में होंगे तथा यदि $E_1 - E_0$ का मान बहुत कम होगा तो लगभग बराबर संख्या में परमाणु दोनों अवस्थाओं में रहेंगे क्योंकि सांख्यिकीय नियमों की सहायता से यह पाया गया है कि दोनों प्रकार के परमाणुओं की संख्याओं का निम्न सम्बन्ध होता है।

$$\frac{N_1}{N_0} = e^{-(E_1 - E_0)/kT}$$

जहाँ पर N_1 = उन परमाणुओं की संख्या जो E_1 अवस्था में हैं।

N_0 = उन परमाणुओं की संख्या जो E_0 अवस्था में हैं।

e = २·२७ तथा k = बोल्जमान नियतांक एवं T = निरपेक्ष ताप।

उपर्युक्त नियम से स्पष्ट है कि जब $E_1 - E_0$ का मान kT से अधिक होगा तो N_0 का मान N_1 से अधिक होगा। परन्तु जब $E_1 - E_0$ का मान लगभग शून्य के होगा तो N_1 का मान लगभग N_0 के बराबर होगा।

अब यदि हम पुनः पुराने नियम का उपयोग करें तो कह सकते हैं कि

$$E_1 - E_0 = hv$$

$$\text{इसलिए } \frac{N_1}{N_0} = e^{-\left(\frac{hv}{kT}\right)}$$

इसे हम एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करेंगे :—

यदि हम साधारण प्रकाश के हरे अंश को लें तो hv का मान २ इ० वो० आता है और कमरे के ताप पर (T = ३००°k) kT का मान $\frac{1}{40}$ इ० वो० आता है इसलिए hv/kT का मान ८० के बराबर आता है जो यह बताता है कि समस्त परमाणु E_0 अवस्था में रहेंगे।

परन्तु यदि माइक्रोवेव विकिरण को लिया जाय तो hv का मान १० सें० मी० तरङ्गदैर्घ्य वाली तरङ्ग के लिए १०$^{-५}$ इ० वो० आता है जिसके कारण hv/kT का मान ३००° k पर ४ × १०$^{-४}$ के बराबर आता है जो यह बतलाता है कि $N_1 = N_0$ अर्थात् दोनों अवस्थाओं के परमाणु लगभग बराबर संख्या में होंगे जैसा कि हम आइन्सटाइन के नियम में देख आये हैं कि उत्तेजित उत्सर्जन की सम्भाविता उस विकिरण की उत्तेजना सम्भाविता (Excitation Probability) के

बराबर होता है। इसलिए इस आधार पर हम कह सकते हैं कि साधारण प्रकाश का उपयोग करके उत्तेजित उत्सर्जन की संभावना शून्य है तथा माइक्रो वेव का उपयोग करके उत्तेजित उत्सर्जन की अधिक संभावना हो जाती है।

परमाणुओं की साम्य-स्थिति में क्वाण्टम-सिद्धान्त की गणनाओं के आधार पर समत्वाणिक उत्सर्जन तथा उत्तेजित उत्सर्जन की संभावनाओं का अनुपात $= (e^{h\nu/kT} - 1)$ के बराबर आता है जो यह प्रदर्शित करता है कि यदि $h\nu/kT$ का मान एक से काफी अधिक हो तो उस समय समत्वाणिक उत्सर्जन के महत्त्व के आगे उत्तेजित उत्सर्जन दिखाई नहीं देता है। यही कारण है कि परमाणुओं की उत्तेजित अवस्था से गामा विकिरण तथा प्रकाश आदि विकिरणों का निकलना हम एक उच्छृंखल घटना ही मानते हैं। परन्तु जब $h\nu << kT$ तो उस समय जैसे माइक्रोवेव विकिरण की दशा में उपर्युक्त सम्भावनाओं का अनुपात $h\nu/kT$ के बराबर आता है और १ से बहुत कम होता है तथा उसी समय उत्तेजित उत्सर्जन का महत्त्व समत्वाणिक उत्सर्जन के ऊपर बढ़ जाता है।

अब पुनः यदि यह माना जाय कि N_1, N_0 दो प्रकार की दशाओं के परमाणुओं की संख्यायें हैं जिनकी ऊर्जाएँ क्रमशः E_1, और E_0 हैं। यदि $E_1 - E_0$ का मान बहुत ही कम होगा तो उस समय N_1 तथा N_0 दोनों संख्यायें बराबर होंगी। अर्थात् उस समय यदि ऊर्जा का उपयोग किया जाय तो जितने परमाणु उत्तेजित होंगे उतने ही पुनः पुरानी अवस्था को लौटेंगे। इसलिए ऊर्जा का आदान-प्रदान बिल्कुल नहीं होगा। केवल $N_0 - N_1$ परमाणुओं के द्वारा ऊर्जा अवशोषित होगी जबकि N_1 का मान ठीक N_0 के बराबर नहीं होगा। इस प्रकार उत्तेजित परमाणुओं की संख्या N_0 के समानुपाती तथा ऊर्जा देने वाले परमाणुओं की संख्या N_1 के समानुपाती होगी। इसलिए उत्तेजित परमाणुओं की संख्या $(N_0 - N_1)$ के समानुपाती होगी। परन्तु ऊर्जा का अवशोषण कम ताप पर अधिक होता है। इसलिए यह सिद्ध हो गया कि कम ताप पर दोनों संख्याओं में अधिक अन्तर होता है।

यदि E_1 तथा E_0 दो ऊर्जाओं के परमाणुओं पर माइक्रोवेव के प्रचण्ड सिगनल डाले जायँ तो N_1 का मान बढ़ने लगेगा और N_0 का मान घटने लगेगा। और यदि और कोई घटना न घटित हो तो एक ऐसी स्थिति आवेगी जबकि दोनों संख्यायें बराबर हो जायँगी और अवशोषण बन्द हो जायगा परन्तु ऐसा नहीं होता है क्योंकि मणिभीय रचना के कारण परमाणु कुछ ऊर्जा संजाल को दे देते हैं। और इस प्रकार एक समय के पश्चात् परमाणु साम्य-अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं। इसलिये यदि साम्य-अवस्था लाने वाला समय अधिक हो तो उचित प्रचण्डता के माइक्रोवेव सिगनल की सहायता से N_1 तथा N_0 मान बराबर बनाया जा सकता है। उस विश्रान्ति काल (Relaxation time) को अधिक बनाने के लिए साधारणतया पैरामैगनेटिक आयन को, मैगनेटिक क्षेत्र में, डायमैगनेटिक मणिभों में विस्तीर्ण कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ Cr^{3+} आयनों को ऐल्युमिना में विलम्बित रखा जाता है।

मेसर—Maser का विस्तृत रूप Micro wave amplification through stimulated Emission of Radiation है। अब हम मेसर प्रक्रियाओं को समझने का प्रयत्न करेंगे।

जैसा कि हम पहले देख आये हैं कि उचित प्रकार के आयनों को उचित दशा में रख कर यदि उचित मात्रा का माइक्रोवेव विकिरण डालें तो हम एक अवस्था ऐसी प्राप्त करेंगे जबकि $N_0 = N_1$ होगा जबकि तापीय संतुलन की अवस्था में N_0 का

मान N_1 से अधिक था तो N_0 का मान N_1 से कम किया जा सकता है ? यदि ऐसा हो जाय तो उस समय उत्तेजित होने वाले परमाणुओं की संख्या सामान्य धरातल (Ground state) को लौटने वाले परमाणुओं की संख्या से कम होगी तथा उस समय वास्तविक परिवर्द्धन होगा। क्योंकि जितनी ऊर्जा उत्तेजित करने के लिए दी जा रही है उससे अधिक ऊर्जा तंत्र से प्राप्त होगी। परन्तु यहाँ पर यह भी प्रश्न उठता है कि क्या समक्षणिक उत्सर्जन भी प्रवर्धन नहीं देगा ? उत्तर इसका यह होगा कि देगा क्यों नहीं परन्तु समक्षणिक उत्सर्जन द्वारा प्राप्त ऊर्जा तरंग का दी गई ऊर्जा तरंग के साथ कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं होगा तथा कला (Phase) के मान विभिन्न होंगे जबकि उत्तेजित उत्सर्जन से प्राप्त तरंग ठीक दी गई ऊर्जा तरंगों के समान होगी और उनके बीच में कोई कला का अन्तर नहीं होगा। यही दोनों प्रकार के उत्सर्जन में अन्तर है। इसके पश्चात् हम कह सकते हैं कि समक्षणिक उत्सर्जन के फलस्वरूप यादृच्छिक शोर ही उत्पन्न होगी। अब हम यह देखेंगे कि किस प्रकार हमारे वैज्ञानिकों ने सन् १९५५ ई० में N_0 का मान N_1 से कम किया था ? उपर्युक्त सिद्धान्त पर बनाए गए दोलक तथा प्रवर्धक को मेसर कहते हैं। आजकल मेसरों की धूम है और अनेकानेक नवीन उपलब्धियाँ इस क्षेत्र में पाई जा रही हैं। वास्तव में यह सब केवल मानव के अदम्य साहस तथा अद्भुत परख की ही देन है।

विभिन्न प्रकार के मेसरों का सिद्धान्त :— विभिन्न प्रकार के मेसरों की उत्पत्ति की विधियों में सर्वप्रथम सी० एच० टाउन्स की विधि आती है जिसकी सहायता से इन्होंने कोलम्बिया यूनिवर्सिटी में मेसरों की उत्पत्ति की थी। इस विधि का सिद्धान्त है—कि यदि किसी दो ऊर्जा तल वाले परमाणुओं अथवा अणुओं की रश्मियाँ किसी ऐसे माध्यम से गुजारी जायँ जो कि केवल एक प्रकार के ऊर्जातल वाले परमाणुओं को जाने दें तो वास्तव में हम उत्तेजित तल वाले परमाणुओं की अधिक संख्या, निम्न तल वाले परमाणुओं की संख्या की अपेक्षा, प्राप्त कर सकते हैं और तब उस समय यह परमाणु समूह मेसर का कार्य करेगा। और उस समय यदि अनुनादी- गुहा (रेजोनेटिंग कैविटी) में उस रश्मि को प्रवाहित किया जाय जहाँ पर वह विकिरण से प्रक्रिया कर सके तो, मेसर घटना फलित होगी।

वास्तव में उपर्युक्त सिद्धान्त को ध्यान में रख कर टाउन्स ने सफलतापूर्वक मेसर का प्रदर्शन किया। उन्होंने अमोनिया के अणुओं को लिया जिनकी दो ऐसी ऊर्जा स्थितियाँ होती हैं कि उनका अन्तर केवल ३ सेण्टीमीटर तरंगदैर्घ्य की ऊर्जा के बराबर होता है। दोनों प्रकार के अणुओं के "इन्ड्यूस्ड इलेक्ट्रिक डाइपोल मोमेण्ट" भिन्न-भिन्न होते हैं इसलिए इनकी उपस्थिति का पता लगाया जा सकता है। ये दोनों प्रकार के अणु असमावयवी वैद्युतीय क्षेत्र की सहायता से अलग किए जाते हैं। इस प्रकार के मेसर को पृथक्करण मेसर कहते हैं। इसके बाद यदि उस किरण पुंज को जो कि अलग किया गया है "कैविटी रेजोनेटर" में प्रवाहित किया जाय तो परिवर्द्धित सिगनल प्राप्त होते हैं। परन्तु इस प्रकार के मेसर की बैण्ड चौड़ाई बहुत कम होती है जिसके कारण इनका उपयोग उतनी सरलता से नहीं किया जा सकता है। परन्तु इसके अतिरिक्त यदि कैविटी क्षति आदि की पूर्ति कर दी जाय तो हमें अमोनिया मेसर से दोलक प्राप्त हो जाता है जो कि उचित अवस्था में अत्यन्त स्थायी कम्पनांक देता है। यही कारण है कि आज अमोनिया मेसरों को समय के स्थायी मानदण्ड के स्थान पर उपयोग में ला रहे हैं। इस समय सूचक की सहायता से समय की बहुत ही कम मात्रा की

गणना कर सकते हैं। इसको परमाण्विक घड़ी भी भी कहते हैं।

प्रतिलोमी मेसर—जैसा कि हम देख चुके हैं। कि पृथक्करण मेसर में परिवर्द्धक की बैण्ड चौड़ाई बहुत कम होती है इसलिए उनके स्थान पर अन्य प्रकार के मेसरों का निर्माण किया गया जो कि ज्यादा बैण्ड चौड़ाई वाले थे। उनमें से एक प्रकार प्रतिलोमी मेसर का भी है। इसके लिए पैरामैगनेटिक आयनों को मणिभीय ठोस के रूप में प्रयुक्त करते हैं। वास्तविक प्रयोग में उपर्युक्त आयनों को अन्य मणिभ के साथ अवलम्बित करके काम में लाते हैं। इस विधि का सिद्धान्त इस प्रकार है—यदि हम आयन में अकेले इलेक्ट्रान का निरीक्षण करें तो H मात्रा की चुम्बकीय तीव्रता के क्षेत्र की उपस्थिति में आयन दो प्रकार के ऊर्जा तल में विभक्त हो जायगा—

$$E_1 = E_0 + uH.$$
$$E_2 = E_0 - uH.$$

जहाँ पर u इलेक्ट्रान का चुम्बकीय घूर्ण है। तथा E_0 पहला ऊर्जा तल है।

इस प्रकार यदि H का उचित मान रखा जाय तो $\frac{E_2 - E_1}{h}$ का मान माइक्रोवेव क्षेत्र में आ जायगा। यदि H = १०४ आयरस्टेड तो v का मान २८,००० मेगा साइकिल प्रति सेकण्ड आता है। अर्थात् यदि इस मणिभ को कम ताप पर मैगनेटिक क्षेत्र में रखें तो E_2 ऊर्जा तल वाले परमाणुओं (आयनों) की संख्या N_2, E_1 ऊर्जा तल वाले आयनों की संख्या N_1 से अधिक होगी। परन्तु इसी समय यदि H की दिशा तुरन्त बदल दी जाय तो E_1 ऊर्जा वाले आयतों की संख्या N_2 हो जायगी और उस E_2 ऊर्जा तल वाले आयनों की संख्या N_1 हो जायगी और उस अवस्था में प्राप्ति हो सकती है। परन्तु इतनी सरलता से इस सिद्धान्त को प्रयोग में नहीं लाया जा सकता क्योंकि H की दिशा बदलने में इतना समय लगता है कि उसके अन्तर्गत एक साम्य अवस्था उत्पन्न हो जाती है। इसके लिए पुनः यह सुझाव दिया गया कि—यदि अति तीव्र माइक्रोवेव सिगनल, जिसकी आवृत्ति अवशोषण-रेखा लाइन की आवृत्ति से कुछ कम हो, का उपयोग किया जाय और उसके उपरान्त धीरे-धीरे आवृत्ति बढ़ा कर उस रेखा की आवृत्ति से अधिक कर दिया जाय तो मेसर अवस्था की प्राप्ति होती है। परन्तु यह अवस्था केवल कुछ ही मिली-सेकंडों तक स्थायी होती है और उसके बाद पुनः साम्य उपस्थित हो जाता है। इसलिए केवल स्पंदों (पल्सेज) का ही परिवर्द्धन किया जा सकता है।

त्रितलीय मेसर:—यदि किसी आयन में एक से अधिक इलेक्ट्रान अकेले हों तो उस समय कई ऊर्जा तल थोड़े-थोड़े अन्तर पर प्राप्त किए जा सकते हैं। उदाहरणार्थ Cr^{3+} आयन चार ऊर्जा तलों को प्रदान करता है जिनमें से किन्हीं तीन तलों का उपयोग कर सकते हैं। (Cr^{3+} को Al_2O_3) की उपस्थिति में इस्तेमाल करते हैं। यदि लिए गए तीन ऊर्जा तल E_1, E_2, E_3 हों और उनमें $E_1 < E_2 < E_3$ यह सम्बन्ध हो तो उस समय उनकी संख्याओं (N_1, N_2, N_3) में भी $N_1 > N_2 > N_3$ सम्बन्ध होगा। यदि तीव्र माइक्रोवेव सिगनल की सहायता से ऐसा कर दिया जाय कि N_1 तथा N_3 लगभग बराबर हो जायँ तो उस समय $N_3 < N_2$ या $N_1 < N_2$ क्योंकि $N_3 = N_1$। इस प्रकार E_1 तथा E_2 तलों वाले आयनों के बीच मेसर की घटना घटित हो सकती है। और इस समय यदि V_1 आवृत्ति का सिगनल भेजा जाय तो परिवर्द्धन उत्पन्न होगा। $N_1 = N_3$ करने के लिए उपयोग की गई V_{31} आवृत्ति को पम्प आवृत्ति तथा v_{21} को सिगनल आवृत्ति कहते हैं। इस प्रकार यदि रुबी मणिभ को "कैविटी रेजोनेटर" में रखा जाय तो उचित व्यवस्था से कम्पन भी प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु इस

प्रकार के मेसरों का उपयोग केवल परिवर्द्धक के रूप में ही किया जाता है। क्योंकि इनकी बैण्ड चौड़ाई अधिक होती है। तथा इनका शोर-स्तर बहुत कम होता है।

प्रवर्द्धक-धारा परिवर्तन (Amplifier Noise) तथा उनकी मात्रा—जब हम रेडियो रिसीवर का "वाल्यूम" बढ़ाते जाते हैं तो एक खर-खराहट की सी आवाज आने लगती है अथवा इसी प्रकार टेलीविजन रिसीवर के पर्दे पर धब्बे दिखाई देने लगते हैं। वास्तव में यह आवाज अथवा धब्बे रिसीवर की क्षमता की सीमा बताते हैं क्योंकि उस परिवर्द्धन पर और प्रकार की धाराएँ जिन्हें हम शोर (Noise) कहते हैं, वे इतनी प्रवर्द्धित हो जाती हैं कि ग्राह्य सूचना में मिल कर उसको नष्ट कर देती है। इसलिए जब तक शोर (Noise) का प्रवर्द्धन ग्रहण सीमा से नीचे होता है तभी तक ग्राहक से शुद्ध सूचना प्राप्त हो सकती है। ये शोर कई प्रकार की होती हैं—जैसे अवरोधकों की शोर जिसे जानसन का शोर भी कहते, शाट शोर (Shot Noise), फ्लिकर शोर (Flicker Noise) तथा पार्टिशन शोर (Partition Noise)। बाद की शोर मुख्यतया इलेक्ट्रान-ट्यूबों में उत्पन्न होती हैं। साधारणतया शोर की मात्रा को प्रति इकाई बैण्ड-चौड़ाई के लिए सम-तुल्य ताप से प्रदर्शित करते हैं। जिसका समतुल्य ताप जितना ही अधिक होगा, शोर सामर्थ्य उसकी उतनी ही अधिक होगी।

जैसा कि साधारण माइक्रोवेव प्रवर्द्धकों में देखा गया है कि उनका समतुल्य ताप (Noise Temperature) लगभग २१००° केल्विन तक होता है जिसमें १८००° तो ग्राहक के कारण और ३००° केल्विन आने वाले भार से उत्पन्न होता है। परन्तु मेसरों का शोर-ताप केवल ३° केल्विन होता है जिसके मानी यह है कि लगभग पूर्णतः परिवर्द्धक शोर मुक्त होते हैं। यही कारण है कि आज इनका प्रभाव इतना [illegible] रही है।

परन्तु मेसर रिसीवरों का उपयोग तारागण अथवा उपग्रहों आदि से आने वाली सूचना को ग्रहण करने के लिए किया जा सकता है क्योंकि आर० डब्ल्यू० डी ग्रासे ने जब मेसर रिसीवर का उपयोग उपग्रह से आने वाली सूचना ग्रहण करने के लिए किया तो उन्हें कुल शोर-ताप १८·५° के० मिला जिसका तात्पर्य यह होता है कि एक शोर रहित ग्राहक का १८·५° के० के सूचना प्रसारक का संयोग था। मेसर प्रवर्द्धक का सामर्थ्य प्ररिवर्द्धन ३००० होता है जबकि ५·३ से० मी० की तरंग काम में लाई जाती है। ग्राहक का शोर ताप १०·५° के०, पोषक तंत्र का ५·५° केल्विन तथा उपग्रह का समतुल्य ताप २५° केल्विन था जबकि साधारण माइक्रोवेब प्रवर्द्धक का समतुल्यताप ६००° केल्विन होता है। परन्तु मेसर प्रवर्द्धक का उपयोग जब पृथ्वी के सूचना प्रसारक द्वारा प्रसारित सूचना को ग्रहण करने में किया गया तो शोर ताप लगभग ३००° केल्विन आया। इस प्रकार उपयोगिता नष्ट हो जाती है।

प्रकाश प्रवर्द्धन-लेसर—जैसा कि हमने अब तक देखा है कि प्रकाशीय-सीमा में समक्षणिक उत्स-र्जन का प्रभाव इतना अधिक होता है कि उत्तेजित उत्सर्जन की लगभग सम्भावना शून्य के बराबर हो जाती है। परन्तु यदि मेसर में काम आने वाली रीतियों से $N_1 > N_2$ किया जाय (जहाँ पर N_1 उत्तेजित ऊर्जा तल वाले परमाणुओं की संख्या हो और N_2 कम ऊर्जा तल वाले परमाणुओं की संख्या हो तो उस समय उत्तेजित उत्सर्जन की कुछ संभावना प्राप्त होती है, परन्तु यह संभावना $h\nu/kT$ के कम मान के कारण बहुत कम होगी। उदाहरण के लिए विद्युत विसर्जन के प्रकाश का अध्ययन किया जाय तो पता चलेगा

कि विभिन्न परमाणुओं से विभिन्न दिशाओं में उत्तेजना (वैद्युतीय प्रभाव के कारण) के उपरान्त समक्षणिक उत्सर्जन के फलस्वरूप प्रकाश उत्पन्न होता है। इस प्रकाश की तुलना हम यादृच्छिक शोर से कर सकते हैं। यहाँ पर यदि जनसंख्या की प्रतिलोम (Population reversion) $(N_1 > N_2)$ किया जाय तो उत्तेजित उत्सर्जन की अत्यधिक कम संभावना प्राप्त होती है क्योंकि hv/kT का मान बहुत कम होता है। परन्तु यदि उत्तेजित उत्सर्जन का कला-मिलाप कर दिया जाय तो कम मात्रा की दशा में भी चण्डता बढ़ जायगी क्योंकि चण्डता सख्या के वर्ग के समानुपाती होती है। इस प्रकार उपर्युक्त दशा प्राप्त करने के लिए हमें दो शर्तों को पूरा करना होगा—

(१) प्रथम तो उत्तेजित उत्सर्जन की अवस्था लानी होगी।

(२) दूसरा यह है कि अधिक से अधिक परमाणुओं के उत्सर्जन की कलाओं को एक करना होगा जिसके फलस्वरूप चण्डता में वृद्धि होगी।

द्वितीय शर्त को पूरा करने के लिए साधारणतया दो तीव्र परावर्तक प्लेटें ली जाती हैं जैसी फेब्री-पेरोज इण्टरफेरोमीटर आदि में काम आती हैं। जब प्रकाश इन दोनों प्लेटों के बीच एक विशेष माध्यम से होकर जाता है तो कला-मिलाप की घटना घटती है और एक प्लेट, जो थोड़ी पारदर्शक भी होती है, के अन्दर से उपयुक्त तीव्रता का प्रकाश प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार की योजना ए० ल० शैलो तथा सी० एच० टाउन्स ने बताया था। उन्होंने प्लेटों के बीच Na या K की वाष्प का उपयोग करने का समर्थन किया था।

पल्स्ड रुबी लेसर :—टी० एच० मेमान ने सर्वप्रथम प्रकाश के उत्तेजित उत्सर्जन की प्राप्ति की थी। उन्होंने वास्तव में एक ४ सें० मी० लम्बी तथा ०·५ सें० मी० व्यास की एक रूबी की छड़ ली तथा एक सिरे को अत्यधिक और दूसरे सिरे को कम चाँदी की पालिश कर दिया जिससे सिरे इण्टरफेरोमीटर की दो प्लेटें बन गयीं और उसके (छड़) के ऊपर "फ्लैश ट्यूब" लपेट दिया तथा "फ्लैश ट्यूब" का सम्बन्ध कण्डेंसरों से कर दिया। यहाँ पर रूबी मणिभ के Cr^{3+} आयनों पर जब फ्लैश ट्यूब से पड़ने वाला विकिरण प्रभाव डालता है तो ये आयन उत्तेजित हो जाते हैं और मित स्थायी दशा से लौट कर जब सामान्य दशा को पहुँचते हैं तो लाल रङ्ग की प्रदीप्ति उत्पन्न होती है। यदि पड़ने वाली विकिरण-चंडता अधिक होगी तो सामान्य दशा के आयनों की संख्या कम हो जायगी और इस प्रकार उत्तेजित उत्सर्जन की घटना घटित होती है। इसके अतिरिक्त कला-मिलाप (Phase coherence) दोनों पालिश किये हुए सिरों से प्राप्त होता है और अन्त में कम पालिश किये गए सिरे से प्रवर्द्धित प्रकाश मिलता है। परन्तु फ्लैश ट्यूब में प्रकाश बहुत कम समय के लिए उत्पन्न होता है और इसीलिए प्रदीप्ति केवल लगभग एक सेकेण्ड के हजारवें भाग तक स्थिर रहती है। यही कारण है कि इसको पल्स्ड रूबी लेसर कहते हैं।

उपर्युक्त विधि पर हम ध्यान दें तो हमें मालूम होगा कि जब हम ५००० जूल ऊर्जा देते हैं तो हमें केवल ०·२ जूल ऊर्जा प्राप्त होती है। इसलिए यह विधि उपयोगी नहीं होगी, ऐसा कहा जा सकता है। यदि कला-मिलाप रूबी मणिभ की पूरी लम्बाई में हो जाय तो प्राप्त प्रदीप्ति को लगभग एक तरङ्ग-दैर्घ्य में केन्द्रित किया जा सकता है। परन्तु मणिभ की अटपटी रचना के कारण केवल थोड़ा ही भाग ऐसा होता है जहाँ पर कला-मिलाप होता है। प्राप्त प्रदीप्ति का पुंज केवल ०·१ मिलीमीटर के धब्बे के रूप में केन्द्रित किया जा सकता है। यदि शक्ति फ्लक्स देखा जाय तो उपर्युक्त दशा में ४×१०^{६} वाट/सें० मी०^{२} आता है जबकि सूर्य के प्रकाश को f/1 लेंस द्वारा केन्द्रित करने पर शक्ति फ्लक्स

केवल ५०० वाट/से० मी०^{2} मिलता है। जिसके अर्थ यह हुए कि लेसर का केन्द्रित धब्बा सूर्य के केन्द्रित धब्बे से १०००० गुना चमकदार होता है।

इस विधि के प्रयोग से अनेक उपलब्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं जैसे--चन्द्रमा आदि से सूचना प्राप्त करना तथा अनेक न पिघलने वाली धातुओं को पिघलाना आदि।

ठंडे लेसर—चूँकि रूबी लेसर में ऊर्जा खर्च होती है इसलिए उसके स्थान पर दूसरे प्रकार के लेसर का निर्माण किया गया। यदि Sm^{2+} आयन को CaF_2 में लिया जाय तो ०·०४५ ev सामान्य दशा से ऊपर एक उत्तेजित अवस्था मिलती है और यह अवस्था स्पेक्ट्रम के भाग में पड़ती है। द्रव हीलियम के ताप पर $\triangle E/kT$ का मान १३० के बराबर होता है। इस दशा में जनसंख्या प्रतिलोम आसानी से किया जा सकता है। वास्तव में सोरोकिन तथा स्टीवेन्सन ने इस विधि का उपयोग करके लेसर बनाया था।

गैस लेसर—ठोस लेसरों के बाद गैस लेसर का निर्माण किया गया। इसके लिए एक ८० से० मी० लम्बी तथा १·५ से० मी० व्यास की क्वार्ट्ज की नली ली गई। इसके दोनों सिरों पर दो फबरी-पेरोट प्लेटें तथा दो खिड़कियाँ लगा दी गई थीं। फबरी-पेरोट प्लेटें सिलिका की विशेष सावधानी से अत्यन्त परावर्त्तक बनाई थीं। इनकी मोटाई तरंग दैर्ध्य के सौंवे भाग के बराबर थी। ये प्लेटें ९८·९% भाग परावर्तित कर देती थी और ०·३% भाग आवर्तित कर देती थीं। ट्यूब के ऊपर इलेक्ट्रोडों से वैद्युतीय डिस्चार्ज उत्पन्न किया गया। २८ मेगासाइकिल्स प्रति सेकण्ड की धारा भेजने पर केवल ५० वाट शक्ति खर्च होती है। ट्यूब के बीच में नियान गैस ०·१ मि० मी० पारद दबाव पर तथा हीलियम गैस १ मि० मी० पारद दबाव पर रखी गई थी। नियान गैस सक्रिय पदार्थ का काम देती थी और हीलियम गैस विसर्ग से प्राप्त शक्ति को प्रसारित करने में काम आई। इस प्रकार गैस लेसर का निर्माण किया गया।

इस प्रकार पहले मेसर आया, उसके बाद लेसर तथा अब 'इरेसर' आ गया है। इरेसर का अर्थ इन्फ्रारेड रीजन में प्रवर्द्धन का होता है। इनकी सहायता से परिवर्द्धन का कार्य इन्फ्रारेड रीजन में सम्भव हो सकेगा। अब देखिये इसके बाद क्या आता है?

उपयोग—अभी हाल में ही अमेरिकन फिजिकल सोसायटी ऑफ नार्थ वेस्टर्न यूनिवर्सिटी के सदस्यों ने यह घोषणा की है कि अब सूचना प्रसारण के हेतु माइक्रोवेव अथवा रेडियो तरंगों के स्थान पर प्रकाश तरंगों को काम में लाया जा सकता है। ये प्रकाश तरंगें ही लेसर कहलाती हैं। लेसर तरंगों की आवृत्ति बहुत अधिक होती है तथा शुद्ध एक आवृत्ति की तरंग होती है इसलिए यह बताया जाता है कि इन तरंगों की सहायता से माइक्रोवेव तथा रेडियोवेव की अपेक्षा अधिक सूचनाएँ भेजी सकती हैं। यही नहीं बल्कि कुहरा, बादल अथवा अन्य मौसम की खराबियों का इनके प्रसारण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। इसके अतिरिक्त ये तरंगे इतनी शक्तिशाली होंगी कि इनका उपयोग अन्य दूसरे सौर मण्डल के निवासियों तक सूचना प्रसारण के लिए किया जाना सम्भव है। परन्तु अभी कोई संयन्त्र बन कर तैयार नहीं हुआ है। अभी तो अम्लीफायर तथा आसीलेटर इत्यादि ही बन सके हैं इसलिए अभी सारा अध्ययन सैद्धान्तिक है।

इससे पहले लेसर ज्योति का उपयोग रेटिना की जुड़ाई के लिए बड़ी सफलता के साथ किया जा चुका है। इन किरणों का उपयोग उत्प्रेरक के रूप में तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म औजारों के रूप में किया जाता है। अमेरिका के सुरक्षा विभाग ने अब तो

लेसर से सुसज्जित एण्टी-मिसाइल बनाने का काम शुरू करवा दिया है। ये एण्टी-मिसाइल अपनी लेसर ऊर्जा द्वारा आने वाले शत्रु मिसाइल का नाश करने में सफल होंगे।

परन्तु अभी और कितने उपयोग निकाले जाएँगे कहा नहीं जा सकता। यह तो अच्छी तरह आने वाला भविष्य बता सकता है।

●●

—२४

सुप्रसिद्ध भूमि रसायनज्ञ डा० राधा रमण अग्रवाल

राम कृपाल द्विवेदी

आज से २६ वर्ष पूर्व आगरा कालेज, आगरा के रसायन शास्त्र के अंग्रेज प्रोफेसर श्री एन० क्रॉल ने कहा था—"अध्यापक जीवन भर अध्यापक ही रह सकता है लेकिन कृषि विभाग में एक दिन तुम कृषि-निदेशक हो सकते हो।" डा० राधारमण अग्रवाल के विषय में उक्त अंग्रेज प्रोफेसर की यह की गई भविष्यवाणी सन् १९६२ में सत्य प्रमाणित हुई जब डा० अग्रवाल ने उत्तर प्रदेश के कृषि विभाग के निदेशक-पद का कार्यभार ग्रहण किया।

डा० अग्रवाल का जन्म उत्तर प्रदेश के झाँसी नगर के एक प्रतिष्ठित वैश्य कुल में १ जुलाई सन् १९११ को हुआ। इनके परिवार में व्यापार ही पुश्तैनी धन्धा था और इसके कारण इनका परिवार प्रतिष्ठित एवं सम्पन्न था डा० अग्रवाल अपने बाल्यकाल में ही पिता के स्नेह से वंचित हो गए क्योंकि इनके पिता श्री फूलचन्द का स्वर्गवास हो गया अतः इनके पालन-पोषण तथा शिक्षा इनके पूज्य पितामह, झाँसी के सुप्रसिद्ध नागरिक, सेठ प्यारे लाल के संरक्षण में ही हुई।

बचपन में जहाँ एक ओर डा० अग्रवाल को पिता के स्नेह से वंचित हो जाने के कारण अत्यन्त दुःख का अनुभव हुआ वहीं उन्हें इस असामयिक

कष्ट से जीवन में प्रगति पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा भी प्राप्त हुई और उनके जीवन में आत्म निर्भरता का प्रादुर्भाव हुआ। उनकी स्नेहमयी माता ने बालक राधारमण को सदैव आगे बढ़ने की सतत प्रेरणा प्रदान की। इस प्रकार पिता का अभाव पितामह के सरल स्नेहमय व्यहार तथा माता की ममता में खो-सा गया और वे जीवन के भावी पथ की ओर निष्ठा एवं विश्वास के साथ बढ़ चले।

डा० अग्रवाल की प्रारंभिक शिक्षा झाँसी में हुई। विद्यार्थी जीवन के प्रारम्भ से ही विद्या-ध्ययन की ओर अभी विशेष रुचि रही और प्रखर बुद्धि एवं अध्यावसाय के फलस्वरूप वे हाई स्कूल परीक्षा में समस्त बुन्देलखण्ड डिवीज़न में सर्व प्रथम रहे। इनके पितामह सेठ प्यारेलाल इन्हें परिवार के पुश्तैनी धन्धे अर्थात् व्यापार में ही लगाना चाहते थे किन्तु विद्याध्ययन में विशेष अभिरुचि तथा हाई स्कूल परीक्षा में इनकी इस सफलता से वे अत्यधिक प्रभावित हुए और अपने विचार बदलकर डा० अग्र-वाल को उच्च शिक्षा के लिए झाँसी से आगरा भेज दिया और डा० अग्रवाल के बड़े भाई को व्यापार का कार्यभार सौंप दिया।

डा० अग्रवाल ने आगरा कालेज, आगरा से सन् १९३१ में बी० एस-सी० की परीक्षा सम्मान पूर्वक उत्तीर्ण की। रसायन शास्त्र में डा० अग्रवाल की विशेष रुचि थी अतः सन् १९३३ में इन्होंने इस विषय में एम० एस सी० की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की और सारे विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम रहे।

डा० अग्रवाल का विद्यार्थी जीवन उनकी प्रखर प्रतिभा तथा सतत अध्ययन एवं अध्यवसाय का प्रत्यक्ष प्रमाण है। एम० एस-सी० में प्रथम श्रेणी एवं सर्वप्रथम स्थान प्राप्त करने से इनकी ख्याति बढ़ गई। इनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर प्रयाग विश्वविद्यालय के रसायन शास्त्र के प्रोफेसर डा० नील रत्न धर ने इनसे प्रयाग विश्वविद्यालय में आने का अनुरोध किया। डा० अग्रवाल ने सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डा० धर के इस आग्रह को अपने भावी जीवन के लिए विशेष महत्वपूर्ण समझा और उसे शिरोधार्य कर प्रयाग विश्वविद्यालय आ गए।

प्रयाग विश्वविद्यालय में इन्हें 'कामता प्रसाद रिसर्च स्कालरशिप' मिल गई और इन्होंने वहाँ ४ वर्ष तक अनुसन्धान कार्य करके सन् १९३७ में 'प्लांट कैमिस्ट्री' पर डी० फिल० की उपाधि प्राप्त की।

प्रयाग विश्वविद्यालय में अनुसन्धान काल के अन्तर्गत डा० अग्रवाल डा० धर के भूमि सम्बन्धी अनुसन्धानों से विशेष प्रभावित रहे जिसके फल-स्वरूप इनका तद्विषयक अध्ययन उच्चकोटि का हो गया था और इनके सहपाठी गण डा० अग्रवाल के भूमि अनुसन्धान सम्बन्धी विचारों का विशेषतया सम्मान करते थे।

सन् १९३७ का वर्ष डा० अग्रवाल के जीवन में विशेष महत्वपूर्ण रहा इसी वर्ष इन्हें डी० फिल्० की उपाधि प्राप्त हुई—इसी वर्ष इन्हें विलायत जाकर आगे उच्च अध्ययन करने के लिए कई विश्वविद्या-लयों से आमंत्रण आये और इसी वर्ष ये सेण्ट जान्स कालेज, आगरा में रसायनशास्त्र के लेक्च-रर पद पर नियुक्त हुए। सन् १९३७ में विलायत जाकर उच्च अध्ययन करने की डा० अग्रवाल की अभिलाषा थी और इसके लिए विदेश यात्रा की तैयारियाँ भी की गयीं किन्तु वृद्ध पितामह के आग्रह पर - जो कि पुराने विचारों के थे और जिनका डा० अग्रवाल के जीवन एवं चिन्तन पर गहरा प्रभाव था—यह यात्रा स्थगित कर देनी पड़ी।

डा० अग्रवाल सेण्ट जान्स कालेज आगरा में २ वर्ष तक रसायन शास्त्र में लेक्चरर के पद पर रहे। इस अवधि में इनके पुराने प्राध्यापक गण इनकी विशेष कुशलता से अत्यन्त प्रभावित हुए। वहाँ ये एम० एस-सी० के विद्यार्थियों की थीसिस का भी निर्देशन करते रहे। यह ऐसा समय था जब कि नौकरियों का विशेष अभाव था अतः डा०

अग्रवाल अपने प्रिय विषय कृषि रसायन (एग्रीकल्चरल कैमिस्ट्री) सम्बन्धी नौकरी न पा सके।

इसी बीच भरारी, झांसी में पशु-पोषण अनुसन्धान केन्द्र (Animal Nutrition Research Station) नामक एक नये अनुसन्धान केन्द्र की स्थापना हुई और कृषि-विभाग द्वारा उक्त अनुसन्धान केन्द्र के लिए एक पद का विज्ञापन प्रकाशित हुआ। इस पद के लिए डा० अग्रवाल ने प्रार्थना-पत्र भेजा और अन्ततः चुन लिए गए। इस समय डा० अग्रवाल के मन में यह द्विधा हुई कि अध्यापन कार्य में ही रहें जिस पर दो वर्ष में उन्हें विशेष सफलता मिली थी अथवा अनुसन्धान कार्य में प्रविष्ट हों। इन्होंने इस विषय पर अपने अंग्रेज प्रोफेसर एच० क्रॉल की सलाह माँगी। प्रोफेसर क्रॉल ने कहा "You mind your own nutrition, animal nutrition will take care of itself." अर्थात् आप अपने पोषण की चिन्ता करें, पशु-पोषण अपनी चिन्ता स्वयं करेगा। इस कथन के फलस्वरूप डा० अग्रवाल ने निश्चय किया कि उन्हें अनुसन्धान कार्य में ही जाना चाहिए जिसमें कि उनकी विशेष रुचि थी। इसी सम्बन्ध में प्रोफेसर क्रॉल ने यह भी कहा 'अध्यापक जीवन भर अध्यापक ही रह सकता है किन्तु कृषि-विभाग में तुम कृषि-निदेशक भी हो सकते हो।' सन् १९३७-३८ में अध्यापन कार्य का यह भविष्य था। प्रोफेसर क्रॉल की उक्त भविष्य वाणी सत्य सिद्ध हुई जब डा० अग्रवाल उत्तर प्रदेश के कृषि-निदेशक नियुक्त हुए।

दो वर्षों तक पशु पोषण केन्द्र में रह कर डा० अग्रवाल को प्रायोगिक कृषि का विशेष अनुभव हो गया क्योंकि इन्हें दिन-रात एक राजकीय कृषि फार्म पर रहना पड़ता था।

सन् १९४० में डा० अग्रवाल की नियुक्ति कानपुर में सहायक कृषि रसायनज्ञ के पद पर हुई और सन् १९४४ से कृषि रसायनज्ञ यू० पी० सरकार के पद पर अस्थायी रूप में कार्य करते रहे। सन् १९४९ में इस पद पर ये स्थायी हो गए और इस पद पर १९६१ तक कार्य किया। एक वर्ष के लिए संयुक्त कृषि-निदेशक के पद पर रहे और १९६२ से कृषि-निदेशक के स्थायी पद पर कार्य कर रहे हैं।

सन् १९४० से १९६० तक का बीस वर्ष की अवधि में डा० अग्रवाल ने 'भूमि विज्ञान' पर विशेष कार्य किया और इसी के कारण उनका नाम भारतीय भूमि वैज्ञानिकों की प्रथम श्रेणी में है। इस क्षेत्र में भूमि वर्गीकरण (Soil Classification), भूमि जनन (Soil Genesis), फसलों के लिए खाद देना (manuring of crops) और उर्वरक प्रयोग (fertilzer use) पर डा० अग्रवाल द्वारा किये गये वैज्ञानिक शोध सम्बन्धी कार्य विशेष महत्वपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश की जलोढ़ मृदा (Alluvial soil), बुन्देलखण्ड मृदा (Bundelkhand Soils.) तथा क्षारीय लवणीय मृदा (Saline alkaline soils) पर इनका विशेष गहन अध्ययन है और इनपर ये अधिकारी (authority) माने जाते हैं। इन विषयों पर इनके जो प्राविधिक लेख विविध देशों तथा विदेशी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुये हैं वे इनके गहन अध्ययन एवं गूढ़ ज्ञान के परिचायक हैं। अब तक डा० अग्रवाल के शोध सम्बन्धी लगभग ५६ लेख प्रकाशित हो चुके हैं। आप की 'ग्रीन मैन्योरिंग प्रैक्टिसेज इन इण्डिया' शीर्षक पुस्तक सम्पूर्ण देश में प्रशंसित हुई।

डा० अग्रवाल लिखित "भारतीय मिट्टियाँ" (Soils of India) शीर्षक पुस्तक शीघ्र ही भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद्, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित होने वाली है। इस पुस्तक को डा० अग्रवाल ने भारत के अन्य विशेषज्ञों के सहयोग से लिखा है। डा० अग्रवाल लिखित एक अन्य पुस्तक

"भारतीय लवणीय-क्षारीय मिट्टियाँ" (Saline Alkaline Soils of India) शार्षक से भा० कृ० अ० प० द्वारा प्रकाशित होने वाली है।

डा० अग्रवाल की महत्वपूर्ण वैज्ञानिक सफलताओं से एवं अपूर्व ख्याति से प्रभावित होकर भारतीय मृत्तिका विज्ञान परिषद् (Indian Society of Soil Sciences) ने इन्हें दो वर्ष के लिए अध्यक्ष पद पर मनोनीति किया है।

डा० अग्रवाल विदेश यात्रा पर भी जा चुके हैं। अभी हाल में इन्हें भारत सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय मृत्तिका विज्ञान परिषद् (International Society of Soil Sciences) की ७ वीं बैठक में भाग लेने के लिए प्रतिनिधि मण्डल के सदस्य के रूप में अमेरिका भेजा था। इस यात्रा में डा० अग्रवाल ने संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के ७ विश्वविद्यालयों का भ्रमण किया और वहाँ के प्रमुख भूमि वैज्ञानिकों से विविध समस्याओं पर विचार-विमर्श किया।

भारत की खाद्य समस्या के समाधान के सम्बन्ध में डा० अग्रवाल का मत है कि हमारे देश की धरती की उर्वरा शक्ति अत्यन्त क्षीण हो चुकी है। इस उर्वरा शक्ति की वृद्धि के लिए यद्यपि गोबर अथवा हरी खाद जैसी जैविक खादों के प्रयोग द्वारा प्रयत्न हो रहे हैं किन्तु जब तक रासायनिक खादों के प्रयोग का प्रचार एवं प्रसार नहीं होगा तब तक खाद्य समस्या का समाधान असम्भव सा ही है। इसी मान्यता के आधार पर डा० अग्रवाल की प्रेरणा पर उत्तर प्रदेश में रासायनिक खादों के प्रचार का एक अभियान तीव्रता से चलाया जा रहा है जिसके अन्तर्गत रासायनिक खादों के प्रयोग को गत वर्ष की अपेक्षा ४-५ गुना करने का लक्ष्य है।

डा० राधारमण अग्रवाल अत्यन्त प्रतिभाशाली वैज्ञानिक होने के साथ-साथ सहृदय मानव एवं कुशल प्रशासक भी हैं। वास्तव में उनमें मस्तिष्क एवं हृदयगत गुणों का अद्भुत सम्मिश्रण है। एक वैष्णव परिवार में पालन-पोषण तथा बाल्यकाल में ही पिता के स्नेह से वंचित हो जाने के कारण ही सम्भवतः डा० अग्रवाल का हृदय अत्यन्त सम्वेदनशील है और दूसरों के दुःख से वे अत्यन्त द्रवित हो उठते हैं। उनके विशाल नेत्र उनकी प्रखर प्रतिभा के परिचायक एवं उनके आकर्षण व्यक्तित्व के केन्द्र बिन्दु हैं। डा० अग्रवाल अपने अब तक के सम्पूर्ण कार्य-काल में धरती माता के विनम्र सेवक रहे और आगामी अनेक वर्षों तक कृषि-क्षेत्र में वे अपनी अमूल्य सेवाओं से देश को गौरवान्वित करते रहेंगे।

❀❀❀

१—आणविक विकिरण से सुरक्षित किए गए खाद्य-पदार्थ

खाद्य-पदार्थों को देर तक सुरक्षित रखने की एक नई विधि से आगे चल कर संसार के विकासोन्मुख क्षेत्रों को बड़ा लाभ पहुँचेगा। इस विधि के अनुसार आणविक विकिरण द्वारा जीवाणुओं को मार कर खाद्य-पदार्थों को काफी समय तक सुरक्षित रखा जा सकता है।

अमेरिकी वैज्ञानिकों द्वारा १० वर्ष से भी अधिक समय तक किए गए अनुसन्धानों के परिणामस्वरूप अमेरिका में सरकार ने जनता के उपयोगार्थ सुअर का ऐसा मांस बेचे जाने की स्वीकृति दे दी है, जिसे आणविक विकीरणद्वारा जीवाणु रहित कर के कच्चा ही सुरक्षित रखा गया हो। आशा है कि यू० एस० फूड एण्ड ड्रग एडमिनिस्ट्रेशन' १९६३ तथा १९६४ में आणविक विकिरण द्वारा जीवाणुरहित किये गये चूजों, गेहूँ के आटे, ताजे संतरे, सुअर का मांस तथा आलुओं को बेचने की अनुमति दिये जाने पर विचार करेगा। कनाडा तथा रूस ने, अमेरिका में किये गये अनुसन्धान के आधार पर पहले ही ऐसे आलुओं का प्रयोग करने की स्वीकृत दे दी थी, जिन्हें अंकुरित होने से बचाने के के लिये विकिरण की बहुत ही कम यात्रा दी गई हो।

सुअर के कच्चे मांस के टुकड़ों से भरे हुये बड़े-बड़े कनस्तरों को बन्द करके उन्हें रेडियोधर्मी कोबाल्ट-६० से निकलने वाली गामा किरणों की ऊंची मात्रा द्वारा जीवाणु रहित कर दिया जाता है। इस विधि से वे जीवाणु मर जाते हैं जो खाद्य पदार्थों को नष्ट कर देते हैं। यह निश्चय करने के लिये प्रत्येक कनस्तर की सावधानी के साथ जांच की जातीहै कि उसमें रेडियो सक्रियता का कुछ भी प्रभाव नहीं रहा है। तत्पश्चात्, कनस्तरों में बन्द सुअर का मांस शीतकारी यन्त्रों में रखे बिना ही कम से कम दो वर्ष तक, १०० अंश फार्नहाइट तक के तापमानों में खाने के योग्य बना रहता है। जब विकिरण द्वारा जीवाणुरहित किया गया सुअर का मांस कनस्तर से बाहर निकाला जाता है, तब उसमें तथा ताजे मांस में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता है और उसे तत्काल पकाया जा सकता है। जो डिब्बाबन्द खाद्य वस्तुएं पकाई जाती हैं उनका स्वाद कुछ बदल सा जाता है, किन्तु इसके विपरीत आणविक विकिरण द्वारा जीवाणु रहित की गई वस्तुओं का स्वाद तथा आकृति ताजी वस्तुओं से बिलकुल मिलती-जुलती है।

अणुशक्ति कमीशन ने सेना विभाग के लिए बोस्टन (मेसाचूसेट्स) के समीप एक विकिरण सम्बन्धी प्रयोगशाला निर्मित की है। यह ऐसी प्रथम प्रयोगशाला समझी जाती है, जो विकिरण द्वारा खाद्य-पदार्थों को जीवाणुरहित बनाने के विषय में अनुसन्धान करने के लिए स्थापित की गई है। यह एक मात्र ऐसी प्रयोगशाला है, जहाँ एक छत के नीचे आणविक विकिरण द्वारा खाद्य-पदार्थों को

जीवाणुरहित करने विषयक अनुसन्धान करने तथा खाद्य-पदार्थ तैयार करने की व्यवस्था है। इसमें विकिरण के दो स्रोत हैं।

इस प्रयोगशाला में संसार का सबसे प्रसिद्ध कोबाल्ट-६० विकिरण-स्रोत मौजूद है, जिसमें १० लाख ग्राम रेडियम से अधिक रेडियो सक्रियता उत्पन्न करने की क्षमता है। वहाँ एक २ करोड़ ४० लाख इलैक्ट्रान वाल्ट का एक्सिलिरेटर भी है, जो विकिरण द्वारा खाद्य-पदार्थों को जीवाणु विहीन करने की एक वैकल्पिक विधि उपलब्ध करता है।

डिब्बों में बन्द करके खाद्य-पदार्थों को देर तक सुरक्षित रखने की विधि के अतिरिक्त, विकिरण इतिहास के प्रारम्भ से लेकर अब तक खाद्य-पदार्थों को सुरक्षित रखने के विषय में विकसित होने वाली प्रथम नई विधि है। सुखा कर, भून कर, जमाकर तथा अन्य तरीकों से खाद्य-वस्तुओं को देर तक सुरक्षित रखने की विधियाँ उतनी ही पुरानी हैं, जितनी पुरानी हमारी सभ्यता। विकिरण द्वारा कई महीने पूर्व जीवाणुरहित किया गया मांस १९६३ में उत्तरी ध्रुवक्षेत्र, अयनवृत्त क्षेत्रों तथा अन्य क्षेत्रों में रहने वाले अमेरिकी सैनिकों द्वारा खाया जा रहा है। पिछले दिनों गैरसैनिक तथा सैनिक स्वयसेवकों ने विकिरण द्वारा जीवाणुरहित की गई अनेक प्रकार की वस्तुएँ खाई हैं और उनका उन पर किसी भी प्रकार का दुष्प्रभाव नहीं पड़ा है।

विकिरण द्वारा जीवाणुविहीन किये जाने तथा व्यापक रूप में खाये जाने के लिये जिन अन्य ताजी खाद्य-वस्तुओं की जाँच की जा रही है उनमें आलू, गाजर, गोभी, कोडफिश, शिरिम्प तथा टूना मछली सम्मिलित हैं। अणुशक्ति कमीशन मछलियाँ पकड़ने के बन्दरगाह, ग्लौसेस्टर (मेसाचूसेट्स) नामक स्थान पर मेरिन प्रोडक्ट्स डेवलपमेण्ट इरेडियेटर की स्थापना कर रहा है। वहाँ हेडोक, वलेम्स तथा शिरिम्प नामक मछलियों जैसे जन्तुओं को थोड़े से विकिरण द्वारा जीवाणुविहीन किया जायगा। इस विधि से ९५ प्रतिशत जीवाणु मर जाते हैं और इस प्रकार सामान्य शीतकारी यन्त्रों में मछलियों को ४ सप्ताह से अधिक समय तक रखा जा सकता है।

१९६४ में अणुशक्ति कमीशन का इरेडियेटर बन कर तैयार हो जायेगा। इस में ३,००,००० ग्राम रेडियम के बराबर विकिरण उत्पन्न करने वाले कोबाल्ट-६० साधन से प्रति घण्टा १ टन मछलियाँ जीवाणुविहीन की जा सकेंगी।

अमेरिका में १९४९ से पूर्व, सैद्धान्तिक तथा परीक्षणात्मक आधार पर यह सिद्ध किया जा चुका था कि विकिरण, स्टरलाईजेशन तथा पेस्चुराइजेशन, द्वारा खाद्य-पदार्थों को जीवाणुविहीन कर के अधिक समय तक सुरक्षित रखा जा सकता है।

संयोगवश, १९५० के प्रारम्भ में अणुशक्ति कमीशन ने कोबाल्ट-६० तथा अणुशक्ति उत्पन्न करते समय प्राप्त होने वाली उन अन्य वस्तुओं को प्रयोग में लाने के उपाय ढूँढ़ने प्रारम्भ किये जो अणु प्रतिक्रिया वाहकों के संचालन में एकत्र होनी प्रारम्भ हो गयी थीं। वैज्ञानिकों ने यह अनुभव किया कि खाद्य वस्तुओं को देर तक सुरक्षित रखने के लिए उनका प्रयोग किया जा सकता है।

२—भारत में दोगली नस्ल के मक्का का उत्पादन

भारत के विभिन्न भागों में निवास करने वाले किसानों ने अनुभव द्वारा यह पाया है कि ऐसे खेत में तीन मन मक्का उत्पन्न किया जा सकता है, जिसमें पहले केवल एक मन मक्का उत्पन्न होता था। मक्का के उत्पादन में इस उल्लेखनीय वृद्धि की कुंजी मक्का के "दोगली नस्ल" के बीजों में निहित है। आज भारत में दोगली नस्ल का मक्का ठीक उसी प्रकार एक कृषि-क्रांति का सूत्रपात कर रहा है, जिस प्रकार ३० वर्ष पूर्व अमेरिका में उसने एक कृषि-क्रांति का प्रादुर्भाव किया था।

मक्का अमेरिका में अनाज की एक प्रमुख

फसल मानी जाती है। अमेरिका निवासी हर वर्ष लगभग १० करोड़ टन मक्का उत्पन्न करते हैं। यह मक्का मानव आहार और पशु-चारे के रूप में प्रयुक्त होने के अलावा लगभग अन्य ५०० विभिन्न औद्योगिक वस्तुओं के निर्माण में भी इस्तेमाल किया जाता है। इन औद्योगिक वस्तुओं में स्टार्च, सीरम, अम्ल, मद्यसार ग्लूकोज, कागज, रेयन, प्लास्टिक, चिपकने वाली वस्तुएँ, रंग-रोगन, कृत्रिम रबड़, कृत्रिम चमड़ा और बूट-पालिश इत्यादि शामिल हैं। उस पानी का उपयोग, जिसमें मक्का ग्लूकोज निर्माण की क्रिया में भिगोया जाता है, पेनीसलीन की फफूँदी का उत्पादन करने के लिए किया जाता है। इस प्रकार अमेरिकी अर्थ-व्यवस्था के आर्थिक एवं कृषि-क्षेत्रों में मक्का महत्वपूर्ण भूमिका निर्वाह करता है।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि मक्का की मूल जन्म भूमि मध्य-अमेरिका है। कोलम्बस द्वारा अमेरिका की खोज किये जाने के उपरान्त मक्का का प्रसार संसार के सभी देशों में हुआ। भारत में मक्का सबसे पहले ४०० वर्ष पूर्व उगाया गया था। आजकल यह अनाज भारत के कई भागों में लगभग १ करोड़ १० लाख एकड़ भूमि में उत्पन्न किया किया जाता है। यह एक एकड़ पीछे १० मन से भी कम है। अमेरिका में मक्का का औसत प्रति एकड़ उत्पादन का केवल एक-चौथाई है। लेकिन अब 'दोगली नस्ल के मक्का के बीजों तथा अमेरिका तथा अन्य पश्चिमी देशों द्वारा विकसित उन्नत कृषि विधियों का उपयोग करके बहुत से भारतीय किसान मक्का के उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि करने में सफल हो रहे हैं।

मक्का एक भारी अनाज है और इसके लिए बहुत अधिक परिमाण में खाद की आवश्यकता होती है। अमेरिकी रेड इण्डियन इसमें मछली की खाद का उपयोग करते थे। एक एकड़ में वे लगभग १ हजार बड़ी मछलियाँ डालते थे। खेत में मछलियाँ डालने के उपरान्त वे उस समय तक अपने कुत्तों को जन्जीर से बाँध रखते थे, जब तक मछलियाँ गल कर खेत की मिट्टी में मिल नहीं जाती थीं। भारत में किसान कई प्रकार की खादों का इस्तेमाल करते रहे हैं। इधर वे रासायनिक खाद के प्रयोग की ओर अधिकाधिक ध्यान दे रहें हैं। मक्का की खेती करने वाले किसान काफी समय से यह अनुभव करते रहे हैं कि यद्यपि उत्तम खाद का उपयोग करके उत्पादन में वृद्धि तो की जा सकती है परन्तु इसमें भी एक ऐसी सीमा आ जाती है जब कि पुरानी नस्लों के बीजों का उपयोग करते हुए उत्पादन में इतनी वृद्धि करना सम्भव नहीं रह जाता जो आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद हो।

अच्छे किसान अपनी उपज के सबसे उत्तम भुट्टों को बीज के लिए सुरक्षित कर लेते थे। १९ वीं सदी में कई दशकों तक अमेरिकी किसान मक्का के सबसे बड़े भुट्टों को बीज के लिए चुनते रहे। अन्य फसलों के उत्पादन में वृद्धि करने की दृष्टि से उनका यह उपाय उल्लेखनीय रूप से सफल रहा, परन्तु मक्का-उत्पादन में वृद्धि की दृष्टि से यह विशेष सफल सिद्ध नहीं हुई। बाद में यह पता चला कि जिस समय मक्का के पौधे में भुट्टे फूटते हैं, भुट्टों में फूटने वाले सैकड़ों दाने खेत में उगे कई प्रकार के अन्य पौधों के फूलों से निकलने वाले पराग (एक प्रकार की रज) से दूषित अथवा प्रभावित हो जाते हैं। इसीलिए एक ही भुट्टे से प्राप्त मक्के नस्ल की दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न होते हैं और पहले जैसे उत्पादन परिणाम नहीं देते।

एक ही खेत में खड़े मक्के के पौधे गुण की दृष्टि से कई प्रकार के होते हैं। किसी पौधे के भुट्टे से प्राप्त दाना बड़ा हो सकता है, परन्तु सम्भव है कि उसकी जड़ें कमजोर हों और रोग-विरोध की क्षमता भी उसमें कम हो। दूसरे प्रकार के पौधे की

जड़ें मजबूत हो सकती हैं, रोग का प्रतिरोध करने की क्षमता भी उसमें अधिक हो सकती है, परन्तु सम्भव है कि उत्पादन-क्षमता की दृष्टि से वह हीन हो। यदि पहली कोटि के पौधे से निःसृत पराग (गर्भाधान कराने की क्षमता रखने वाले रज कण) का संसर्ग दूसरी कोटि वाले पौधे के डिम्बों (पौधे का वह भाग जो रजकण के संसर्ग से गर्भ धारण करने की क्षमता रखता है) से करा दिया जाए, तो इस प्रकार के संसर्ग से उत्पन्न बीज से संभवतः ऐसे पौधे उगाए जा सकते हैं, जो अधिक उत्पादनशील होने के साथ-साथ मजबूत जड़ों वाले हों और रोग प्रतिरोध की क्षमता भी रखते हों। इस प्रकार के उत्कृष्ट कोटि के बीजों के उत्पादन की दिशा में सबसे पहला कदम पौधों की विशेषताओं को उनके बीजों में स्थिर करना होता है। यह 'इनब्रीडिंग' क्रिया द्वारा सम्पन्न किया जाता है। मक्का के भुट्टे और उसके ऊपरी सिरे में निकले बालों के झब्बे को एक ही थैले से ढँक दिया जाता है ताकि पौधे के डिम्बों की गर्भाधान क्रिया उसी से निःसृत रज-कणों द्वारा सम्पन्न हो। यह क्रिया कम से कम पीढ़ियों तक दुहराई जाती है ताकि दोनों नस्लों के पौधों के बिल्कुल शुद्ध बीज प्राप्त हो जाएँ। इसके उपरान्त दोनों नस्लों को मिला कर दोगली नस्ल तैयार की जाती है। इस प्रकार तैयार की गई दोगली नस्ल के बीज उत्पादन-क्षमता में उल्लेखनीय वृद्धि करने में सहायक सिद्ध हुए हैं। दोगली नस्ल के ये पौधे पहली दोनों नस्लों की विशेषताओं से युक्त तो होते ही परन्तु इसके साथ ही उसमें एक विशेष प्रकार की क्षमता भी आ जाती है, जिसे 'दोगली नस्ल की ताकत' (हाइब्रिड विगर) कहते हैं। उनका विकास तेजी से होता है, भुट्टे अपेक्षाकृत अधिक बड़े होते हैं तथा भुट्टों में लगने वाले दाने एक ही आकार के होते हैं।

इस प्रकार की दोगली नस्लों के बीजों का विकास अमेरिकी कृषि वैज्ञानिकों के कई दशकों के अनवरत अनुसन्धान प्रयासों के फलस्वरूप सम्भव हो सकता है। थोड़े ही समय में उन अमेरिकी किसानों ने पूरी तरह दोगली नस्ल वाले बीजों का उपयोग करना प्रारम्भ कर दिया, जिन्होंने यह पाया कि भारी परिमाण में रासायनिक खाद का उपयोग करने पर दोगली नस्ल के बीज बहुत अच्छे उत्पादन परिणाम देते हैं। उदाहरणार्थ, एक किसान एक एकड़ भूमि में २०० पौंड नाइट्रोजन खाद का इस्तेमाल करके भी अपनी मक्का की फसल से अच्छा लाभ कमा सकता है।

१९५५ में पंजाब सरकार द्वारा टैक्निकल सहयोग मिशन से, जिसका स्थान अमेरिका की अन्तर्राष्ट्रीय विकास एजेन्सी ने ले लिया है, दोगले मक्का की खेती प्रारम्भ करने के कार्य में सहायता देने का अनुरोध किया था। इस सम्बन्ध में पंजाब में तथा उत्तर प्रदेश में तराई के सरकारी फार्म पर कई अमेरिकी दोगली किस्मों की जाँच की गई थी। उनमें से कुछ किस्मों की उपज स्थानीय किस्मों से ४०० प्रतिशत तक अधिक रही, किन्तु अमेरिकी किस्में भारत की अत्यधिक गर्मी तथा कड़ी सर्दी का मुकाबला नहीं कर सकीं। यही नहीं, वे आहार के रूप में किसानों को स्वीकार्य नहीं थीं।

इस दौरान भारत सरकार ने दोगली किस्म के मक्का का विकास करने तथा अनुसन्धान कार्य में सहायता करने के लिए राकफैलर प्रतिष्ठान से प्रार्थना की थी। प्रतिष्ठान की ओर से विविध प्रकार के बीज उपलब्ध किये गये। कृषि अनुसन्धान सम्बन्धी भारतीय परिषद् के अधीन भारत में मक्का उत्पादन करने तथा उसके विषय में अनुसन्धान करने के समूचे कार्य का मक्का उत्पादन एवं अनुसन्धान योजना के रूप में सङ्गठन किया गया। इस योजना के अन्तर्गत कम से कम समय में तथा भारत के सभी भागों में मक्का उत्पन्न करने के लिए ५,००० किस्मों को बोया गया तथा उनकी जाँच की

गयी। इस समूचे कार्य के परिणामस्वरूप १९६१ में उत्पादन के लिए तीन प्रकार की दोगली किस्में मक्का की खेती करने के लिए किसानों को दे दी गयीं। ये दोगली किस्म विशिष्ट रूप से भारतीय जलवायु के अनुकूल हैं और भारत, अमेरिका, मध्यवर्ती तथा दक्षिणी अमेरिका और क्यूबा की मक्का की किस्मों से तैयार की गयी हैं।

१९६१ से अमेरिका की अन्तर्राष्ट्रीय विकास सम्बन्धी एजेन्सी भारत के सभी भागों में दोगली किस्म के मक्का प्रदर्शन कार्यक्रम को कार्यान्वित करने में सहायता कर रही है। इस कार्यक्रम ने भारत के सभी भागों के किसानों को यह दिखा दिया है कि उन कृषि विधियों की सहायता से दोगली किस्म के मक्का के बीज बोकर उत्पादन में आश्चर्यजनक वृद्धि की जा सकती है। १९६३ में अमेरिका की अन्तर्राष्ट्रीय विकास एजेन्सी भारत में मक्का का उत्पादन करने वाले १२ राज्यों में २०५ प्रदर्शन कार्यक्रम प्रस्तुत कर रही है।

दोगली किस्म का मक्का बोना प्रारम्भ करने से किसानों के समक्ष नये बीजों के प्रयोग सम्बन्धी समस्या प्रस्तुत हो जाती है। इसका कारण यह है कि किसी किसान को दोगले मक्का की अपनी फसल से बीज लेकर नहीं बोने चाहिए। ऐसा करने से, उत्पादन बहुत घट जायेगा। ऐसा न करके, उसे मक्का बोने की प्रत्येक ऋतु में नये दोगले बीज प्राप्त करने चाहिए। अतः, यह आवश्यक है कि कुशल विशेषज्ञों की देख-रेख में बीज उत्पन्न करने वाले फार्मों में दोगली किस्म के बीज उत्पन्न करने की व्यवस्थाएँ की जायें। दोगली किस्म के बीज उत्पन्न करने वाले इन फार्मों में प्रत्येक वर्ष विशुद्ध किस्मों से दोगली किस्म के नये बीज उत्पन्न किये जाते हैं।

मक्का के नये दोगले बीज उत्पन्न करने के लिए भारत सरकार ने नेशनल सीड कार्पोरेशन की स्थापना की है। भारत के विभिन्न भागों में प्रगतिशील किसान कड़ी टैक्निकल देख रेख के अन्तर्गत सामान्य किसानों में वितरण के लिए दोगले बीज उत्पन्न करते हैं। ये बीज मोहरबन्द थैलों में बेचे जाते हैं। बीजों की विशुद्धता तथा उत्तमता के प्रमाण के रूप में उन थैलों पर कृषि अनुसन्धान सम्बन्धी भारतीय परिषद् द्वारा जारी किये गये टैग लगे रहते हैं। इस प्रकार, भारत में पहली बार, किसानों को प्रमाणित विशुद्ध बीज उपलब्ध हैं। यह भारतीय कृषि क्षेत्र में एक उल्लेखनीय कार्य की द्योतक है।

दोगले मक्का के प्रयोग से उत्तम परिणाम हासिल करने के लिए, किसान लोग खेतों में खाद डालने, नालियाँ बनाने, गहराई में हल चलाने, अनावश्यक घास-फूस तथा हानिकारक कीटाणुओं पर नियन्त्रण करने, ठीक अन्तर पर बीज बोने तथा सिंचाई आदि पर विशेष ध्यान देते हैं। अमेरिका तथा अन्य पश्चिमी देशों में आने वाली खेती-बाड़ी सम्बन्धी अनेक विधियाँ भारत में बड़ी महत्वपूर्ण प्रतीत हुई हैं।

दोगली किस्म के मक्के की फसल उठाने के पश्चात् खेतों में गेहूँ बोना बड़ा लाभदायक सिद्ध हुआ है। क्योंकि ऐसा करने से गेहूँ के पौधे बची हुई उस रासायनिक खाद का प्रयोग कर लेते हैं, जो मक्का द्वारा प्रयोग में नहीं लायी जाती है। अदल-बदल की इस विधि से जहाँ खेतों में पर्याप्त खाद डाल कर गेहूँ उत्पन्न किया जाता है वहाँ गेहूँ का वार्षिक उत्पादन बहुत बढ़ जाता है।

३. अन्तरिक्षयात्री की दृष्टि में पृथ्वी

प्रथम अन्तरिक्ष उड़ान से बहुत पहले अनेक कलाकारों ने यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि धरती बाह्य अन्तरिक्ष देखने पर कैसी लगेगी। यह आश्चर्य की बात है कि उन्होंने अपने मन में जो चित्र खींचा, वह यथार्थ के अति निकट सिद्ध हुआ। बाह्य अन्तरिक्ष से पृथ्वी को देखने पर सूर्य की स्थिति

के अनुसार उसका रंग-रूप बदलता है। यदि सूर्य पर्यवेक्षक के पीछे हो, तो पृथ्वी नीले धुँधले प्रभा-मण्डल से युक्त जान पड़ती है। पृथ्वी के गोले का किनारा ऐसा लगता है जैसे उस पर हलके रंग का गोटा चढ़ा हो जो वायुमण्डल की निचली परतों के हलके नीले रंग से अन्तरिक्ष के काले रंग में रूपान्तरित होता है। वायुमण्डल के नीलाभ धुंधल से होकर पीत-स्वर्णिम बादल पृथ्वी को इधर-उधर ढँकते हुए दिखायी पड़ते हैं।

बादल इधर-उधर यों ही बिखरे नहीं रहते। अन्तरिक्ष से विषुवत् रेखा को आसानी से जाना जा सकता है। उत्तर और दक्षिण से व्यापारिक हवाओं से लाये पुंज के पुंज बादल विषुवत् रेखा पर जुटते दिखाई पड़ते हैं। साइक्लोनों के बीच में तूफानी बादलों के बवण्डर नजर आते हैं। बादलों के बीच से होकर महासागरों की तरंगों पर सूर्य-प्रकाश के छोटे-छोटे टुकड़े चमकते नजर आते हैं। उत्तर और दक्षिण में बर्फ-से सफेद धब्बे दिखायी पड़ते हैं। बारीकी से देखने पर हिमालय तथा दूसरी तुषाराच्छादित पर्वतमालाएँ दिखायी पड़ सकती हैं। यह भी सम्भव है कि बड़ी-बड़ी निर्मितियाँ जैसे जल-भाण्डार, नगर, सड़कें, नहरें आदि भी दिखायी पड़ें।

जब विमान पृथ्वी की छाया में प्रवेश करता है, तब रात में काले बादलों के बीच बड़े-बड़े शहरों का प्रकाश नजर आता है।

परन्तु सबसे सुन्दर दृश्य सूर्योदय या सूर्यास्त का होता है। सूर्योदय के समय गहरे लाल रंग की सूर्य-किरणें वायुमण्डल को भेदती हुई चलती हैं। सूर्योदय के आरम्भ में गुलाबी वितान नजर आता है। धीरे-धीरे वितान धुँधला होने लगता है और उज्ज्वल, लाल, पीत तथा अन्त में पीत-हरित वर्ण में बदल जाता है।

अन्तरिक्षयात्री पृथ्वी से जितनी दूर होता है, प्रभात का प्रकाशमान वितान उतना ही चौड़ा दिखायी पड़ता है। पृथ्वी से चन्द्रमा की दूरी से कुछ अधिक दूरी पर सूर्य और पृथ्वी की धुरी के विस्तार से पर्यवेक्षण करने वाले को दिखायी पड़ेगा कि ज्वालामय गुलाबी प्रभामण्डल पृथ्वी के कृष्ण मण्डल का जिस पर चन्द्रमा का धुँधला प्रकाश है, आलिंगन कर रहा है। यदि पर्यवेक्षक पृथ्वी से और दूर चला जाय, तो ज्वालामय प्रभामण्डल लाल, नारंगी, पीला नजर आयेगा और अन्त में पृथ्वी के इर्द-गिर्द चकाचौंध करने वाले पतले वलय के रूप में जान पड़ेगा। इसमें सन्देह नहीं कि अन्तरिक्ष से लिया पृथ्वी का चित्र भविष्य में अनेक कलाकारों को प्रेरणा प्रदान करेगा।

परन्तु इसके सौन्दर्यपरक महत्व से इसका ज्योतिर्विज्ञान सम्बन्धी महत्व कम नहीं। प्रकाशमान शक्ति के वर्ण और प्रतिफलन का सम्यक् अध्ययन निकट भविष्य में अन्तरिक्ष जलवायु विज्ञान की एक बड़ी समस्या हो जायगी। अन्तरिक्ष पर्यवेक्षणों से जलवायु विज्ञान तथा मौसम सम्बन्धी सेवाओं को मूल्यवान सामग्री प्राप्त होगी। अन्तरिक्ष से लिया पृथ्वी का चित्र प्रकृति की मूल्यवान पुस्तक है जिससे यह पता चलता है कि पूरे के पूरे महाद्वीपों और महासागरों की जलवायु किस प्रकार की है। स्वयंचालित अन्तरिक्षयंत्र और अन्तरिक्ष-यात्री पृथ्वी और उसके वायुमण्डल के जो पर्यवेक्षण करेंगे, उनसे मौसम के बारे में, रेडियो संचार की खास विशेषताओं तथा रेडियो-नेवीगेशन के बारे में अधिक गम्भीर जानकारी प्राप्त होगी तथा इन सबके बारे में अधिक ठीक-ठीक भविष्यवाणी की जा सकेगी।

●●

१. कागज में नमी रोकने की क्षमता

अमेरिकी वैज्ञानिकों ने एक ऐसी विधि विकसित की है जिसके द्वारा कागज को नमी के कारण सिकुड़ने या फैलने से रोका जा सकता है। यह विशेषता उन कागजों के लिए विशेष रूप से महत्वपूर्ण है जो रंगीन छपाई, मानचित्र निर्माण तथा तीव्र गति वाले गणक यन्त्रों के लिए पंचकार्ड बनाने में प्रयुक्त होते हैं। कागज के आकार में मामूली परिवर्तन होने से भी रंगीन छपाई खराब हो सकती है, मानचित्र की दूरियाँ परिवर्तित हो सकती हैं तथा भवनों के नक्शे गलत सिद्ध हो सकते हैं। अमेरिका की वन-उत्पाद प्रयोगशाला के निदेशक, डा० एडवर्ड सी० लौक ने मैडिसन में कहा कि इस विधि के अन्तर्गत जिस समय कागज मशीन पर निर्मित होता है, उसी समय उसे फैला दिया जाता है।

२. बिना गारे के ईंट और पत्थर के भवनों की कल्पना

अमेरिका के एक वैज्ञानिक का कहना है कि प्रकाश की एक किरण का प्रयोग कर के बगैर चूने-गारे के ही ईंट और पत्थर के मकान खड़े किये जा सकते हैं। 'लेसर' की एक किरण द्वारा ईंट या पत्थर को एक ठोस दीवार में जोड़ा जा सकता है। प्रकाश के अन्य स्रोतों और लेसर में अन्तर यह है कि लेसर अपने प्रकाश को कई दिशाओं में फैलने नहीं देता। इससे विपरीत वह एक पतली किरण में केन्द्रित कर देता है जो सूर्य से कई हजार गुनी तप्त हो सकती है। इससे ऐसे पदार्थों को भी एक में जोड़ा जा सकता है जिन्हें अन्यथा जोड़ना सम्भव होता है। सिनसिनाटा विश्वविद्यालय के भौतिक वैज्ञानिक और सिरामिक्स विशेषज्ञ डा० ईसे बालिनकिन का कहना है कि यह विधि जल्दी में बनने वाले मकानों के निर्माण में उपयोगी सिद्ध हो सकती है। गारा देर में कड़ा होता है, जब कि लेसर से कुछ सेकण्डों में ही जुड़ाई की जा सकती है।

३. वर्षा लाने की सम्भाव्य विधि

उष्ण कटिबन्ध के जल-विहीन द्वीपों पर पानी बरसाने की एक विचित्र विधि का सुझाव अमेरिका की एक महिला वैज्ञानिक द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के आधार पर दिया गया है। लोसएंजेलस के कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय में ऋतु विज्ञान की प्रोफेसर डा० जोन एस० माल्कस अमेरिका के दो अन्य वैज्ञानिकों—एस्सो रिचर्स एण्ड इंजीनियरिंग कम्पनी के डा० जेम्स एफ० ब्लैक और डा० बैरी टार्मी—को यह विचार व्यक्त करने के लिए प्रेरित किया कि भूमि के विशाल क्षेत्र पर एस्फाल्ट (अलकतरा और चूने के मिश्रण से तैयार मसाला) बिछा कर पानी बरसाया जा सकता है। इस तरह की सतह अपने ऊपर की हवा को तप्त कर देती है जो तप्त होकर परोक्ष रूप में पानी बरसा सकता है।

डा० माल्कस ने आशा प्रकट की कि लगभग तीन वर्ष में इस योजना का गम्भीर परीक्षण किया जा सकेगा। उस समय लगभग २० वर्ग मील

क्षेत्र पर एस्फाल्ट बिछा कर इस सिद्धान्त की आज-माइश की जायेगी। यह सतह अपने ऊपर की हवा के तापमान को कई अंश तक बढ़ा देगी। गर्म हवा एक थर्मल (पर्वत) का निर्माण करेगी, जो वास्तविक पहाड़ की तरह अपने ऊपर की हवा को ऊपर उठा देगा, बादलों का निर्माण करेगा और उनसे पानी बरसायेगा।

डा० माल्कस फ्लोरिडा राज्य विश्वविद्यालय; मैसाचूसेट्स, वुड्स होल के ओशनोग्रैफिक इन्स्टीट्यूट के सहयोग में यह अनुसन्धान कर रही हैं जिसका उद्देश्य समुद्र के नमकीन पानी को पीने योग्य बनाने की अपेक्षा कम लागत पर मीठा पानी तैयार करना है।

४. तूफान के सम्बन्ध में नया सिद्धान्त

ऋतु-विज्ञान एवं वायुमण्डलीय भौतिक विज्ञान सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय एसोसियेशन की बर्कली, कैलि-फोर्निया में हुई बैठक में, उसके सदस्यों को एक नये सिद्धान्त की जानकारी प्राप्त हुई, जो बिजली के गर्जन के साथ आने वाले तूफान के कारणों पर प्रकाश डालती है। इस सिद्धान्त के विकास में योग देने का श्रेय एक भारतीय वैज्ञानिक अनुसन्धान-कर्त्ता को है।

विद्युत् युक्त मेघ से फूट कर पृथ्वी की ओर आने वाले तूफान के सम्बन्ध में इस नये सिद्धान्त पर एसोसियेशन के अध्यक्ष, डा० होरेश आर० बायर्स ने प्रकाश डाला। डा० बायर्स शिकागो विश्वविद्या-लय में भू-भौतिक विज्ञान के प्रोफेसर और उसकी मेघ-भौतिक विज्ञान प्रयोगशाला के निदेशक हैं।

डा० बायर्स ने गणक यन्त्रों की सहायता से अपने सिद्धान्त का परीक्षण किया है। उन्हें इस कार्य में भारत से डाक्टर की उपाधि के लिए आये एक अनुसंधान-कर्त्ता छात्र, फणीन्द्र मोहन दास, से सहायता मिली है। श्री दास खड़कपुर के इन्स्टिट्यूट औव् टैक्नोलोजी में ऋतु विज्ञान के प्रोफेसर रह चुके हैं। डा० बायर्स और श्री दास विश्वविद्यालय के आई० बी० एम०—७०९४ में गणितीय नमूने के रूप में विद्युन्मेघ 'भरते' हैं। नमूने में पानी की वह मात्रा, जो बादल बन जाती है, पवन की मात्रा और बादल का गर्जन सम्मिलित होता है। माडेल के अन्तर्गत बादल उसी अवस्था में होता है, जिस अवस्था में वह वर्षा या तूफान प्रारम्भ होने से पूर्व होता है। उसके बाद गणक यन्त्र में सूचना भर दी जाती है और उसे यह निर्देश दिया जाता है कि बादल पुनः छितरा गया है, उस में पानी की बूँदें बन गयीं हैं, तथा ये बूँदें विशेष आकार की हैं।

डा० बायर्स ने बताया कि इस प्रक्रिया के फल-स्वरूप मेघ के निचले आधे भाग में जल संचित हो जाता है। पानी तीव्र गति से नीचे की ओर बढ़ता है और बादल के पेंदे के निकट उसका प्रवाह तीव्र-तम हो जाता है। बादल के निचले भाग में नका-रात्मक उत्फुल्लता आ जाती है जो वायु से अधिक वजनी होती है। अतः वहाँ पर अधोमुखी प्रवाह अतिशीघ्र विकसित हो जाता है। साथ ही बादल के नीचे पानी का क्षैतिज प्रसारण होता है।

जिन नमूने (माडेल) पर डा० बायर्स और श्री दास ने प्रयोग किया, वह सरल होते हुए भी, घन-घोर जलवर्षण और तूफान के स्वरूप को प्रस्तुत करने में समर्थ है। डा० बायर्स ने कहा कि इस सिद्धान्त पर आधारित यान्त्रिक गणनाएँ, तापमान, आर्द्रता, वर्षा की दर और तूफान की अधोमुखी गति के ऐसे मान प्रदान करती हैं, जो पर्यवेक्षण से प्राप्त आँकड़ों के अनुरूप होते हैं और इस प्रकार सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं। डा० बायर्स ने कहा कि यह अधोमुखी तीव्र प्रवाह तूफानों के उच्छृङ्खल परिणामों के लिये उत्तरदायी होता है।

●●

विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा आयोजित गोष्ठी

७ अक्टूबर १९६३ को अन्य वर्षों की भाँति इस वर्ष भी इण्डियन साइंस कांग्रेस के ५० वें अधिवेशन के अवसर पर दिल्ली विश्वविद्यालय के प्राणि-शास्त्र भवन'में विज्ञान परिषद्, प्रयाग की एक गोष्ठी हुई, जिसका उद्घाटन दिल्ली विश्वविद्यालय के वाइसचान्सलर डा० सी० डी० देशमुख ने किया। उनके उद्घाटन-भाषण से पूर्व विज्ञान परिषद् के अध्यक्ष प्रो० डा० सत्य प्रकाश ने परिषद् का इतिहास और इसके कार्यकलापों का विवरण दिया।

डा० देशमुख ने अपने उद्घाटन भाषण में आश्चर्य प्रकट किया कि विज्ञान परिषद् को इतना महत्वपूर्ण उपयोगी कार्य करते हुए ५० वर्ष हो गये, किन्तु जनता अभी तक इसके कार्य से अनभिज्ञ क्यों रही ! डा० देशमुख ने इस बात को नितान्त आवश्यक समझा कि देश की भाषा हिन्दी में ऊँचे से ऊँचा वैज्ञानिक साहित्य प्रकाशित हो। जिस प्रकार की विशुद्ध भाषा में विश्वविद्यालय के आर्ट्स आदि विषयों में व्याख्यान दिए जाने लगे, उसी प्रकार की भाषा से शुद्ध उच्चस्तर के वैज्ञानिक विषयों का शिक्षण भी होना चाहिए। डा० देशमुख ने इच्छा प्रकट की कि विश्वविद्यालय के स्तर के पाठ्य ग्रन्थ हिन्दी में शीघ्र प्रकाशित होने चाहिए। डा० देशमुख ने पारिभाषिक शब्दों को दो वर्गों में विभाजित किया—एक वर्ग में तो वे शब्द हों जो तत्वों, यौगिकों, वनस्पतियों या प्राणियों या खनिजों के नाम हैं–ये शब्द यूरोपीय भाषाओं से अपना लिए जायँ। शेष गुणात्मक या भावात्मक शब्द संस्कृत-निष्ठ अपनी भाषा के होने चाहिए। विज्ञान के उच्चस्तरीय विद्यार्थियों को एक या अधिक विदेशी भाषाओं से परिचित होना भी उन्होंने आवश्यक बताया।

डा० देशमुख ने परिषद् के कार्यों की सराहना की और इसकी उन्नति के लिए आशीर्वाद दिया।

डा० देशमुख के भाषण के अनन्तर पद्मभूषण डा० बद्रीनाथ प्रसाद का अध्यक्षीय भाषण हुआ, जिसमें गणित और गणित सम्बन्धी अनुसंधानों का विकास चित्रित किया गया। डा० प्रसाद ने अनुसंधान पत्रिका के उच्चस्तर की ओर ध्यान आकर्षित किया, और ऐसे सुझाव रक्खे जिनसे इस पत्रिका की प्रतिष्ठा विदेशों में बढ़ सके।

भाग ९८
संख्या २
कार्तिक
सं० २०२० वि०
नवम्बर १९६३

प्रति अंक ४० न. पै.
वार्षिक ४ रुपये

सम्पादक—डॉ० शिवगोपाल मिश्र

विज्ञान परिषद्, प्रयाग

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुखपत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ।३।५।

भाग ९८ | कार्तिक २०२० विक्र०, १८८५ शक नवम्बर १९६३ | संख्या २

वर्तमान सङ्कट और वैज्ञानिक अनुसन्धान

डॉ० सत्य प्रकाश

हमारा इतिहास इस बात का साक्षी है कि यह देश संकटों के प्रति न तो उदासीन रहा है और न संकटों के नाम से घबराया ही है। देश का यह निश्चय है कि संकट कितने ही विकट क्यों न हों, और उनका परिहार करने के लिए कितना ही त्याग क्यों न करना पड़े, देश उसके लिए सदा उद्यत रहेगा। इतिहास के पिछले युगों में जो संकट आये, उनकी अपेक्षा आज के संकट कुछ विचित्र हैं। आज हमें उन देशों से सामना करना पड़ रहा है जिन्होंने आक्रमण से पूर्व अपनी आयोजनाओं को पूरी तरह निर्धारित कर लिया होगा। यह युग विज्ञान की देन है। विज्ञान की शक्ति का आश्रय पाकर शान्ति और युद्ध दोनों ही प्रबल हो गए हैं। विज्ञान की शक्ति से सम्पन्न होने का प्रभाव यह पड़ा है कि हिमालय ऐसा दुर्जेय पर्वत आज हमारी सुरक्षा करने में असमर्थ हो रहा है।

चीन देश ने जब से भारत की सीमाओं पर आक्रमण करने की धृष्टता की है, तब से युद्ध संबंधी ऐसी नयी समस्यायें उत्पन्न हो गयी हैं, जिनकी ओर पहले कभी ध्यान भी न जाता। शत्रुओं के आक्रमण से बचने के लिए हमें आज १०,००० से १५,००० फुट की ऊँचाई के बर्फ से ढके शीत प्रधान प्रदेशों में अपने सैनिक भेजने हैं। ऐसी जगह पर युद्ध की सामग्री भेजनी है जहाँ ठंडी वायु के झोंके शरीर के रक्त को चूसने के लिए सदा तैयार रहते हैं। पर्वतों के शिखरों पर भारी सामान ढोना भी सरल नहीं है। जहाँ दो-दो कदम ऊपर चढ़ने में हँफाई आती हो और दम फूलने लगता हो, वहाँ समान लाद कर चढ़ना आसान नहीं है। इसलिए हिमालय प्रदेशी युद्ध उन सब युद्धों से भिन्न है जिनका अनुभव हमारी सेनाओं को गत महायुद्धों में यूरोप में हुआ। युद्ध संबंधी अनुसन्धानों में निरत वैज्ञानिक प्रयोगशालायें

इन सब प्रश्नों पर विचार कर रही हैं, और उनका बराबर प्रयत्न यह है कि इस नवीन संकट का अच्छी तरह सफलतापूर्वक सामना किया जाय।

जो सैनिक वीर योद्धा पर्वत के इन शिखरों पर युद्ध के लिए भेजे जाते हैं, वे वहाँ की जलवायु के अभ्यस्त नहीं हैं। मैदानों में जिन युवकों ने जीवन बिताया है उनके लिए पर्वत-प्रदेश सर्वथा नये हैं। वहाँ की प्रतिकूल परिस्थितियों में काम करने से उन्हें तरह-तरह की व्याधियाँ सताने लगती हैं। श्वास का विचित्र रोग हो सकता है, उनके फेफड़ों में कष्ट, उनके रुधिर-चाप में अन्तर, तरह-तरह के ज्वर, और फिर हिम प्रदेशी कीट-पतंगों से उत्पन्न नयी व्यथायें। चिकित्सा के क्षेत्र में कार्य करने वालों के सामने नयी समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं, जिनका समाधान वैज्ञानिक अनुसन्धानशालाओं को ही करना है। सार्वजनिक स्वास्थ्य के नये नियमों का पता लगाना और आपदाओं से बचाना इन अनुसन्धानों का उद्देश्य है।

हिमालय के शिखरों पर युद्ध सामग्री ठीक से पहुँचाने के लिए यातायात के साधन प्रचुर मात्रा में होने चाहिए। सड़कों का तैयार करना और दुर्गम स्थानों में मोटर बसों का ले जाना आसान काम नहीं है। इन मोटरों के कल-पुर्जों में एवं मोटर में ईंधन की तरह काम आने वाले तेलों में अन्य कल-पुर्जों और तेलों की अपेक्षा कुछ विशेषता होती है। हमारी अनुसन्धान-शालाओं के सामने ये यंत्र संबंधी प्रश्न भी हैं, जिन्हें हमें अपने ढंग पर अपनी आवश्यकताओं को दृष्टि में रख कर सुलझाना है। हवाई जहाजों के निर्माण का कार्य देश में जोरों से आरम्भ हो गया है। न केवल हमें इनकी रूप-रेखा और रचना के संबंध में अनुभव प्राप्त करने है, हमें यह भी देखना है कि इनके लिए प्रचुर मात्रा में पट्रोल कहाँ से प्राप्त होगा। यह हर्ष और सन्तोष की बात है कि हमारे देश में कई स्थलों पर मिट्टी के तेल-खानों का पता चला है और पेट्रोलियम-अनुसंधान का कार्य देश में आरम्भ हो गया है।

चीन के आक्रमण से पूर्व हमारी राष्ट्रीय आयोजनायें इस अभीष्ट की दृष्टि से थीं कि देश में भोजन, वस्त्र और अन्य दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति की जाय। इसी उद्देश्य से बिजली तैयार करने के कारखाने और अन्य उद्योग-धन्धे प्रारम्भ किए गए। युद्ध छिड़ते ही इन कारखानों ने सैनिकों के उपयोग की सामग्री भी तैयार करना आरंभ कर दिया है। सैनिकों के लिए ऐसे ऊन की आवश्यकता है, जो गरम काफी हो, पर भारी न हो। उनके लिए ऐसी खाद्य सामग्री आवश्यक है, जो पुष्टकारक हो, पर जो टिकाऊ और कम स्थान घेरने वाली हो। अनुसंधान-शालायें इस प्रकार का कार्य कर रही हैं।

पुराने ढंग के हथियारों और पुरानी तरह के गोला-बारूद से अब काम नहीं चल सकता। युद्धास्त्रों में अब बहुत उन्नति हो गयी है। अब हमारे सैनिक युद्ध में तभी सफलता पा सकते हैं, जब उनके पास नवीनतम बन्दूकें और तोपें हों। हवाई जहाज से आक्रमण करने की सामग्री भी उनके पास हो। अन्तरिक्ष मार्ग से सैनिक उतारने के साधन भी हमारे पास होने चाहिए। इन सब कामों की सामग्री हमको अपने देश में ही तैयार करनी है, और उन चीजों से जो हमारे देश में प्राप्त होती हैं। तरह-तरह की इस्पात और धातुयें, तरह-तरह के विस्फोटक पदार्थ और अन्य सामान हमें अपने देश में तैयार करने हैं।

संकटों पर विजय प्राप्त करने की युगों-युगों में विभिन्न पद्धतियाँ रही हैं। धन, सैनिक और खाद्य सामग्री यदि ये तीन चीजें प्रचुर मात्रा में इकट्ठा कर ली जायँ, तो समझा जाता था कि सभी संकटों से मुक्त हुआ जा सकता है। पर आजकल जब युद्ध छिड़ते हैं, तो ये युद्ध लड़ाई के मैदान में तो बाद को लड़े जाते हैं, वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं के अनुभवों की

सफलता पर इनकी सफलता निर्भर है। यूरोप और अमरीका में जितने सफल अनुसन्धान युद्ध के दिनों में जितनी तेजी से हुए हैं, उतना पहले कभी नहीं। देश को सदा तैयार इस बात के लिए रहना चाहिए कि तब क्या करना चाहिए जब कि युद्ध सामग्री और खाद्य-सामग्री संकटकाल में बाहर से आना बन्द हो जाय। युद्ध की सफलता देश के स्वावलम्बन पर निर्भर है। यह ठीक है कि मित्र-राष्ट्रों से सहायता मिल सकती है, पर संकट के समय इस सहायता के प्राप्त करने में कल्पनातीत बाधायें भी उत्पन्न हो सकती है। अतः वैज्ञानिक अनुसन्धान-शालाओं का यह कर्तव्य हो जाता है कि देश में जो जो प्राकृतिक सम्पत्तियाँ प्राप्त हैं, उनसे ही सभी आवश्यकताओं की पूर्ति की जाय। देश के वन हमारी अमूल्य निधि हैं। देश के खनिज पदार्थों पर हमें गर्व होना चाहिए और देश की उर्वरा भूमि हमारी उपयोगी सम्पत्ति है। देश की नदियों का पानी अथवा वर्षा के दिनों में आवश्यकता से अधिक बरसा हुआ जल हमारी शक्ति है। इनका ठीक से नियन्त्रण होना चाहिए। कारखानों के कूड़ा-करकट में भी बहुधा उपयोगी सामग्री रहती है, जिससे तरह-तरह की चीजें तैयार की जा सकती हैं। प्रकृति की कोई भी चीज व्यर्थ नहीं है। अपने देश में किए गए अनुसन्धानों के आधार पर उनका सदुपयोग करना चाहिए।

हमारे देश में इस समय तीन दर्जन के लगभग सम्पन्न वैज्ञानिक अनुसन्धान-शालायें हैं। इनके कार्यों में समन्वय और सामञ्जस्य स्थापित हो जाना चाहिए। तरुण वैज्ञानिकों को नये कार्यों के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। वैज्ञानिक अनुसंधानों के प्रति अभी आत्मविश्वास का अभाव है। यह दीन भावना अब दूर हो जानी चाहिए। हमें विश्वास है कि देश पर चाहे कितना बड़ा संकट क्यों न आवे, हम अवश्य विजयी होंगे। हमारे अनुसन्धानकर्ता विपदा के समय हमें अवश्य मार्ग का प्रदर्शन करेंगे। वर्तमान वैज्ञानिक अनुसन्धान की प्रवृत्ति ही संकटों पर हमें विजय दिला सकती है।

[आकाशवाणी के सौजन्य से]

●●

कुरण्ड और सान-चक्र

पं० ओंकार नाथ शर्मा

कुरण्ड भारत के लगभग सभी पहाड़ी प्रदेशों में पाया जाने वाला एक खनिज पदार्थ है, जिसका उपयोग प्राचीन आयुर्वेदिक चिकित्सा-ग्रन्थों में भी पाया जाता है और इसी के सजातीय नीलम, लाल, पुखराज, गोमेद आदि मणियाँ भी हैं। आजकल यंत्र-निर्माण के उद्योग में इसका तथा इसी प्रकार के कृत्रिम पदार्थों का अप-घर्षण (Grinding) प्रक्रियाओं में बहुत उपयोग किया जाता है अतः इंजीनियरी उद्योगों में इसका बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान समझा जाता है। घर्षण प्रक्रियायें आजकल इतनी कलात्मक ढंग तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म सीमाओं के भीतर की जाती हैं कि आधुनिकतम यंत्रों के पुर्जे एक मिलीमीटर के एक हजारवें भाग तक बड़ी सूक्ष्मता से अपघर्षण द्वारा काटे और छीले जा सकते हैं। यही कारण है कि रॉकेटों तथा कृत्रिम उपग्रहों में लगाये हुए इंजन तथा अन्य यंत्र इतने सही-सही

बन पाते हैं कि गणित द्वारा उनकी चाल आदि का जो भी अनुमान लगाया जाता है वह लगभग सही उतरता है। पुराने इंजीनियरों की कहावत है कि "सिद्धान्त और प्रयोग में भिन्नता है" (Theory and practice differ) अब धीरे धीरे लुप्त होती जा रही है।

कुरण्ड, जिसे अंगरेजी में एमरी (Emery) कहते हैं, वास्तव में कोरण्डम (कुरुविन्द), ऐल्यूमिना और मैगनेटाइट का मिश्रण है। कोरण्डम अपने शुद्ध प्राकृतिक रूप में नीले कांच के समान पारदर्शक होता है जिसे "नीलम" अथवा "शनिप्रिय" मणि कहते हैं। इसी का अपभ्रंश नाम अंगरेजी में शेफायर है जो कि आभूषणों में जड़ा जाता है और बड़ा मूल्यवान है। उद्योगों में तथा दवाइयों में काम आने वाला कोरण्डम कुछ कालापन लिये होता है तथा बहुत स्वच्छ पारदर्शक नहीं होता। जो अधिक मैगनेटाइट के मेल के कारण बहुत काला तथा बिलकुल अपारदर्शक होता है, वही एमरी अर्थात् कुरण्ड कहलाता है।

एमरी का पत्थर भी इतना अधिक कठोर होता है कि उससे लोहा आसानी से खरोंचा जा सकता है, अतः इस कठोरता के गुण के कारण ही अपघर्षण और पॉलिश आदि की प्रक्रियायें करते समय इसका चूर्ण रूप में, एमरी कागज (रेग माल), एमरी कपड़े, ठोस सानों, अथवा छड़ों या सिल्लियों के रूप में प्रयोग किया जाता है। सान-चक्र, सिल्लियाँ अथवा छड़ें बनाने के लिये एमरी पत्थर को बहुत बारीक चूर्ण कर एक विशेष प्रकार का गोंद मिला दिया जाता है जिससे कि बारीक पिसे हुए वे एमरी के कण आयल में मजबूती से चिपक जावें। एक मानक प्रकार की एमरी के सान-चक्र को बनाने वाले कारखाने में ७५ भाग उपयुक्त प्रकार के गोंद को हलके गरम पानी में डुबा कर धीरे-धीरे हल्की ऊष्मा से पिघला लिया जाता है। गोंद का घोल तैयार हो जाने पर उसमें मीथिल ऐलकोहल में घुले हुए टेनिन के २५ भाग मिला दिये जाते हैं। इन दोनों घोलों का मिश्रण भली-भाँति तैयार हो जाने पर उसी में एमरी के बहुत बारीक चूर्ण के ६०० भाग मिलाकर उसकी बहुत गाढ़ी लुगदी बनाकर, इस्पात के बने साँचों में जो कि पहिले से ही १०४ सें० तक गरम किये हुए होते हैं, दबा दिया जाता है और फिर उसे साँचे में ही १२४ से० के ताप पर कुछ समय तक गरम रखा जाता है। इस प्रकार से बने हुए सान-चक्र लगभग पिछली एक शताब्दि से प्रयोग में आ रहे हैं, लेकिन व्यवहार में यह देखा गया है कि एमरी और कोरण्डम दोनों ही प्राकृतिक पदार्थ सब जगह और सदैव एक ही समान कठोरता तथा गुण-धर्मयुक्त नहीं पाये जाते अतः उनसे बने सान-चक्रों द्वारा किया गया काम एक समान संतोषजनक तथा मानक प्रकार का नहीं होने पाता फलतः इनको प्रतिस्थापित करने के लिये कृत्रिम प्रकार के पदार्थों की खोज करने और बनाने की चेष्टाएँ की गयीं।

कृत्रिम कुरण्डों का प्रचार आजकल बहुत बढ़ गया है क्योंकि इनके बनाते समय ही उनके गुण-धर्मों पर पूर्ण नियंत्रण रखा जा सकता है। इसमें से कार्बोरण्डम (Carborundum) और एलेण्डम (Alundum) मुख्य हैं। कार्बोरण्डम में सिलिकन कार्बाइड (SiC) प्रधान पदार्थ है जिसमें सिलिकन ६८% और कार्बन ३०% रहता है और शेष चूना, ऐल्यूमिना, और लोह-आक्साइड रहता है। इस पदार्थ को बनाने के लिये बिजली की एक भट्टी में बजरी, कोक, लकड़ी का बुरादा और नमक के मिश्रण को लगभग २२०० सें० ताप तक गरम कर-कर गला लिया जाता है। डालते समय उक्त मिश्रण में रासायनिक परिवर्तन निम्न सूत्र के अनुसार $SiO_2+3C=SiC+2CO$, भट्टी के दोनों एलेक्ट्रोडों के बीच में रहकर होता है। इस प्रकार

से भट्टी के दोनों एलेक्ट्रोडों के बीच एक पोली नली-सी बन जाती, जिसके मध्य में ग्रेफाइट की परत से ढँकी हुई तो कार्बन की गुल्ली सी रहती है और उसके उसके बहिर की तरफ मणिभीय कार्बोरेण्डम (कार्बाइड आफ सिलिकन) जम जाता है। इसके शेष वाह्य भाग में भी कार्बाइड आफ सिलिकन का मिश्रण ही रहता है, लेकिन यह मणिभीय न होने के कारण बेकार समझा जाता है।

अमेरिका की नोर्टन कम्पनी ने इस पदार्थ का नाम क्रिस्टॉलॉन रखा और जर्मनी में इसी पदार्थ को कार्बोसिलाइट और इलेक्ट्रोरुबिन नाम से पुकारते है। क्रिस्टॉलॉन के मणिभ अत्यत ही कठोर लेकिन भंगुर प्रकार के होते हैं और उनसे बने सान-चक्रों द्वारा ढले लोहे, पीतल, कांसा, संगमरमर पत्थर, ग्रेनाइट पत्थर तथा मोती आदि ऐसे पदार्थों को अपघर्षित तथा पॉलिश किया जा सकता है जिनमें तनाव-क्षमता बहुत कम होती है।

एलेण्डम नामक अपघर्षी पदार्थ बाक्साइट से तैयार किया जाता है जो कि ऐल्यूमिना (Al_2O_3) के रूप में होता है। यह पदार्थ अपने शुद्ध प्राकृतिक रूप में जहाँ भी प्राप्त होता है लाल मणि (Ruby) कहलाता है, जो कि हीरे के बाद सबसे कठिन पदार्थ है। अतः एलेण्डम के चूर्ण से बने सान चक्र सब प्रकार के इस्पात आदि उच्च तनाव क्षमता युक्त पदार्थों का अपघर्षण करने के लिये उपयोगी समझे जाते हैं।

एलाक्साइट (Aloxite) नामक अपघर्षी पदार्थ भी ऐल्यूमिनियम आक्साइड का ही एक रूप है जिसे प्रसिद्ध कार्बोरेण्डम कम्पनी ने बनाया है। यह भी एलेण्डम के समान ही बड़ा कठोर कण युक्त होता है, अतः जिन इंजीनियरी के कारखानों में अत्यंत परिशुद्धता पूर्वक, यंत्रों के पुर्जों और औजारों को अपघर्षण प्रक्रिया द्वारा तैयार करना अभीष्ट होता है वहाँ एलेण्डम अथवा एलॉक्साइट द्वारा बने सान चक्रों का प्रयोग किया जाता है। निम्न सारणी में हम कुछ प्रसिद्ध प्रकार के अपघर्षी पदार्थों की कठोरता का विवरण हीरे की कठोरता के क्रम से दे रहे हैं।

पदार्थों के नाम	प्राप्ति का प्रकार	आपेक्षिक घनत्व	कठोरता का दरजा	विशेष विवरण
हीरा	प्राकृतिक	३·५	१० (महत्तम)	
कार्बाइड आफ सिलिकन, कार्बोरण्डम	कृत्रिम	३·१२	९·५	इनसे कांच काटा जा सकता है
एलेण्डम, एलाक्साइट, इलेक्ट्राइट, डायामैन्टाइन	कृत्रिम	३·९ से ४·३	९·२५	

कोरण्डम नीलमणि लालमणि	प्राकृतिक	३·६ से ४·३	९·००	इनसे कांच को केवल खरोंचा ही जा सकता है।
पुखराज मणि मरकतमणि (पन्ना)	प्राकृतिक	२·८ से ३·५	८·००	
ऐमरी	प्राकृतिक	३·६ से ४·३	७·५ से ८·००	
स्फटिक मणि चकमक गोमेद	प्राकृतिक	२·६०	७·००	
रेती का इस्पात	कृत्रिम	७·८६	६·५०	
साधारण कांच	कृत्रिम	७·८६	५·५०	

सान चक्रों की विशेषतायें

अपघर्षण द्वारा किये जाने वाले प्रत्येक कार्य के सम्बन्ध में सबसे पहिले यह सोचना आवश्यक होता है कि उक्त कार्य को किस प्रकार के तथा किस नाम और आकृति के सान-चक्र से किया जावे। चक्र की नाप और आकृत तो निर्मेय वस्तु की आकृति और यंत्रोपकरण की जाति पर निर्भर करती है और चक्र का प्रकार निर्मेय वस्तु की धातु तथा उस पर किये जाने वाले अपघर्षणोपचार की सूक्ष्मता की सीमा पर निर्भर करता है जिस पर हमें यहाँ विचार करना है। इस सम्बन्ध में दो बातों पर विचार करना आवश्यक होता है। प्रथम तो अपघर्षक पदार्थ (कोरण्डम आदि) जिसके कणों से सान चक्र बनाया जाता है।

उसके कणों की सूक्ष्मता (Fineness) और दूसरी उन कणों की कठोरता (Hardness) इन दोनों बातों पर विचार करने से ही सान चक्र की उपयुक्तता का निश्चय किया जा सकता है।

कणों की सूक्ष्मता नापने के लिये उन्हें तारों से बनी जालियों की चलनियों से छान कर देखा जाता है कि वे प्रति इंच अथवा प्रति सेन्टीमीटर कितने तारों की जाली में से छन सकते हैं अतः इस प्रकार से लिये गये कणों की नाप को उनका **कंकरी** (grit) अथवा कण (Grain) की नाप कहते हैं जिनसे कि कोई सान चक्र बना है। अतः इस वर्गीकरण द्वारा व्यक्त की गई नाप को "सान चक्र की कंकरी" नाप (grit or grain of the wheel) कहते है। उदाहरणतः यदि कोई चूर्ण ४० संख्या का कहलाता है तो इससे हमें समझना चाहिये कि वह प्रति इंच ४० तारों द्वारा बनी जाली से पूरा का पूरा छन सकता

है, लेकिन यदि उसी चूर्ण को हम प्रति इंच ५० तारों की जाली से छानने लगें तो वह बिलकुल नहीं छनेगा।

निम्न सारणी में हमने घर्षक चूर्णों के वर्गीकरण के निमित्त चलनियों की जालियों की मानक संख्यायें दी हैं, जिसमें सबसे मोटी जाली ६ नम्बर की और सबसे बारीक २४० नम्बर की है। इन्हीं का मोटे तौर से शाब्दिक वर्गीकरण भी बताया है। २४० नम्बर से अधिक बारीक चूर्ण को कंकरी संज्ञान देकर आटे या चून की संज्ञा देकर व्यक्त किया गया है।

सान-चक्रों के कणों का मानक परिमाण

बहुत मोटे	मोटे	मध्यम	बारीक	बहुत बारीक	आटा या चून
६	१२	३०	७०	१५०	२८०
८	१४	३६	८०	१८०	३२०
१०	१६	४०	६०	२२०	४००
—	२०	५०	१०	२४०	५००
—	२४	६०	१२०	१F. २F, ३F	६००
—	—	—	—	—	—

वैसे तो साधारणतया उपयुक्त मानक परिमाणों के अनुसार बनी चलनियों में से छने कणों द्वारा ही मानक सान-चक्र बनाते जाते हैं लेकिन कई बार विशेष प्रयोजनों के अनुसार काम करने के लिये उपर्युक्त मानक कणों के कई वर्गों का मिश्रण करके भी सान-चक्र बनाने पड़ते हैं जिन्हें तीन अंकों की संख्याओं द्वारा व्यक्त किया जाता है। जिसमें प्रथम दो अंक तो मूलभूत 'कंकरी नाप' व्यक्त करते हैं और तीसरा अंक 'चून संज्ञक' बहुत बारीक नाप की प्रतिशत मात्रा को व्यक्त करता है। इस प्रकार के मिश्रित चक्र बेलनीय अपघर्षण (Cylindrical grinding) प्रक्रियाओं में ही अधिक काम में लाये जाते हैं। उदाहरण के लिये १४१, ३०१, ३६१, ४०१, २४६ और ३६६ जिनके प्रथम दो अंक १४, ३०, ३६ आदि तो जाली द्वारा नापे कणों का नाप प्रदर्शित करते हैं और १ तथा ६ आदि चून की प्रतिशत मात्रा को व्यक्त करते हैं।

किसी भी काम के लिये सान-चक्र का कंकरी नाप निश्चित करने के लिये दो बातों पर मुख्यतः विचार करना आवश्यक होता है। प्रथम तो यह देखना होता है कि अपघर्षण क्रिया द्वारा जो भी सतह बनाई जावे वह कितनी चिकनी (Smooth) होगी और दूसरी बात यह कि एक दिये हुए निश्चित समय में कितनी धातु अपघर्षित कर काटना अभीष्ट है। किसी भी सतह को अपघर्षण द्वारा काट कर चिकना बनाने में उसके चिकनेपन के दरजे की, रेती द्वारा घिस कर प्राप्त किये चिकनेपन से तुलना निम्न प्रकार से कर सकते हैं।

कंकरी नाप के सान चक्र द्वारा प्राप्त चिकनापन	रेती द्वारा प्राप्त चिकनापन
८ से १०	लकड़ी छीलने का रैल्प रेती (फाइल)
१६ से २०	रफ रेती
२४ से ३०	मिडिल (मध्यम) रेती
६३ से ४०	बास्टर्ड रेती
५० से ६०	सेकिण्ड कट रेती
७० से ८०	साफी (स्मूद) रेती
६० से १००	बहुत साफी (सुपर फाइन) रेती
१२०	अत्यधिक साफी (डेड मूद) रेती

कणों की कठोरता :—कठोरता से यहाँ हमारा आशय किसी पदार्थ का अपघर्षण करते समय कणों के न टूटने के गुणों से है। सान-चक्रों को बनाते समय इस प्रकार के कणों का प्रयोग किया जाता है जिनमें जहाँ तहाँ तेज धार युक्त नोंकें निकली हुई हों, और वे किसी प्रकार के गोंदीले पदार्थ से आपस में मजबूती से पकड़े रह कर चक्के के समस्त शरीर में लगे रहें। इस गोंदीले पदार्थ को हम बंधक (Bond) कहते हैं। प्रयोग में जबकि एक सान-चक्र से कुछ समय तक अपघर्षण की प्रक्रिया होती रहती है, उसके नोकीले कणों की धारें फूट कर वे भोंदे हो जाते हैं जिस कारण अपघर्षण द्वारा कटाई की रफ्तार मंद पड़ जाती है, यदि भोंडे होने पर भी उसी चक्र से काम लिया जावे तो यंत्र में अधिक शक्ति खर्च होने लगती है अतः समय-समय पर चक्र की उस सतह को जो कि कटाई का काम करती है हीरे की बनी रुखानी से खराद कर, उन भोंडे कणों को निकाल फेंकना होता है जिससे कि भीतर की ताजी सतहें जो कि तेज कणों युक्त हों, कार्य के लिये प्रस्तुत हो जावे, अपघर्षक पदार्थ के कणों पर बंधक (Bond) की जो पकड़ रखने की शक्ति होती है, उसी से चक्र के अंग की कठोरता का अनुमान लगाया जाता है, इसी को उस चक्र का काठिन्य (grade) कहते हैं। अर्थात् चक्र का बंधक जितना ही अधिक कठोर होगा, उतनी ही अधिक शक्ति लगने पर अपघर्षक पदार्थों के कण टूटकर अलग हो सकेंगे। अतः विशेष प्रकार का काम करने के लिये बने सान-चक्रों के बन्धकों का काठिन्य भी भिन्न-भिन्न दरजे का होना आवश्यक है जो कि विभिन्न प्रकार के पदार्थों को मिला कर प्राप्त किया जाता है। सान-चक्र बनाने की जो विभिन्न विधियाँ प्रचलित हैं उनका वर्गीकरण, उनमें प्रयुक्त होनेवाले बंधक पदार्थों के अनुसार ही होता है।

बन्धक पदार्थ (Bonding material) में एक यह विशेष गुण अवश्य होना चाहिये कि जैसे-जैसे उसमें लगे अपघर्षक पदार्थ के कण घिसकर खतम होते जावें, उन्हीं के साथ-साथ ही वह भी घिसकर समाप्त होता जावे। ऐसा नहीं होना चाहिये कि अपघर्षक पदार्थ के कण तो घिसकर खतम हो जावे और वह बना रहे और व्यर्थ ही निर्मेय पदार्थ से रगड़ खाता रहे और दूसरे ऐसा भी नहीं होना चाहिये कि वह अपघर्षित किये जाने वाले पदार्थ के बुरादे के कणों से घुलमिल कर उस पर फिसलन पैदा करता रहे। तीसरा आवश्यक गुण यह होना चाहिये कि वह पानी से भी भीग कर मुलायम न हो जैसा कि हम ईंटों में देखते हैं और चौथे अपघर्षण की प्रक्रिया के समय जो गरमी पैदा होती है उसका भी उस पर कोई असर नहीं होना चाहिये।

पाँचवा गुण यह होना चाहिये कि वह इतना चिमड़ा तथा मजबूत होवे कि सान-चक्र के बड़ी तेजी से घूमते समय जो अपकेन्द्रिय बल पैदा होते हैं उनको सह ले तथा उनके कारण टूटे नहीं। इन गुणों से युक्त जो-जो बन्धक पदार्थ अनुभव द्वारा अब तक उपयुक्त पाये गये हैं वे निम्नलिखित हैं:--(१) टैनिन के मिश्रण द्वारा कठोर किया हुआ वानस्पतिक गोंद (२) वल्केनाइट अथवा कठोरीकृत रबड़, (३) ऐसफाल्ट (४) सेल्यूलाइड, (५) चमडी (६) सिलीकेट (सिलिकेट आफ सोडा और क्लोराइड आफ कैल्शियम का मिश्रण) (७) संश्लिष्ट बैरोजा (रेजिन) (८) भाण्डमृत्तिका (Ceramics)

उपर्युक्त प्रथम चार प्रकार के संघटित बन्धकों द्वारा बनाये गये सान-चक्रों में यह दोष रह जाता है कि अपघर्षक पदार्थों की कंकड़ियाँ (रवे) झड़ जाने अथवा घिस जाने के बाद बन्धक पदार्थ का जो भाग शेष रह जाता है वह गोंदीला होने के कारण केवल फिसलन नहीं पैदा करता है और अपघर्षण की प्रक्रिया में स्वयं कुछ भी उपयोगी भाग न लेकर स्वयं चिकना होकर चमकने लग जाता है। अतः सबसे अच्छा बन्धक पदार्थ तो वही समझा जाता है जो कि चक्रनिर्माण के समय स्वयं पिघल और जलकर इतना कठोर हो जावे कि वह स्वयं भी थोड़ा बहुत अपघर्षण करने लगे। अतः इस प्रकार के बन्धक पदार्थों से बने सान चक्रों को कांचीय (Vitrified) चक्र कहते हैं, अर्थात् उनमें प्रयुक्त बन्धक पदार्थ काँच के समान कठोर और खरोंच डालने वाला पदार्थ बन जाता है। यह पदार्थ पिघल और जलकर कोयले के जांगड़ के समान छिद्रल हो जाता है जिसमें पानी आसानी से प्रविष्ट तो हो जाता है लेकिन वह पदार्थ जलाभेद्य होने के कारण कमजोर नहीं हो पाता। बन्धक पदार्थों में इस गुण का होना भी अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि जितनी भी अपघर्षण की प्रक्रियायें की जाती हैं उनमें गरमी को शान्त करने के लिये विपुल मात्रा में पानी की धार से सिंचन करना अत्यन्त आवश्यक होता है। इस विषय में दूसरी बात जो जानने योग्य है वह यह कि शीतित लोह (Chilled iron) अथवा कठोरीकृत इस्पात (Hardened steel) के बने सामान पर अपघर्षण क्रिया करते समय अथवा बहुत ही उच्चकोटि की सूक्ष्म परिसज्जा (Fine finish) अथवा अत्युक्त कोटि की चमकदार सतह पर अपघर्षण क्रिया करते समय जो भी सान चक्र काम में लाया जावे वह बहुत कुछ प्रत्यास्थीय (elastic) गुण युक्त भी होना चाहिये। अतः इस प्रकार के चक्र बनाने के लिये बन्धक के रूप में चपडी (Shellac) का प्रयोग किया जाता है जिन्हें लचीली सान भी कहते हैं।

कार्बोरेण्डम तथा उसी के समान अपघर्षक पदार्थों से बनाये जाने वाले सान चक्रों का बन्धक कांचीय, सिलिकेट युक्त चपड़ी युक्त लचीले प्रकार का अथवा संश्लिष्ट राल युक्त पदार्थ के रूप में होता है। अनुभव द्वारा मालूम हुआ है कि कांचीय प्रकार के बंधक युक्त सान चक्र अन्य प्रकार के सानचक्रों की अपेक्षा अधिक उत्तम परिणामदायक होते हैं अतः अपघर्षण को प्रक्रियाओं के लिये अब अधिकतर इसी प्रकार के चक्र बनाये जाते हैं। संक्षेप में इस प्रकार के चक्र बनाने की विधि यह है कि अपघर्षक पदार्थ की कंकड़ियों (रवों) को उचित प्रकार की भाण्डमृत्तिका (ceramic clay) के बारीक चूर्ण में एक निश्चित अनुपात के अनुसार पानी के साथ मिला और मींड कर धातु के सांचों में भर कर एक निश्चित दाब से दबाकर सुखा दिया जाता है। जब उस सांचे में चक्र का अंग इतना काफी सूख जाता है कि उसे निकालने तथा हस्तन क्रिया में वह टूटे या मुड़े नहीं तब उन्हें विशेष प्रकार से बने भट्टों (kilns) में रखकर, एक इतने ऊँचे ताप पर लगभग एक से तीन सप्ताह तक लगातार तपाया जाता है जिससे कि उनका बन्धक पदार्थ पिघल और जल कर कांचीय

हो जावे। छोटे अथवा बड़े चक्रों के परिमाण के अनुसार ही एक से तीन सप्ताह तक का समय आवश्यकतानुसार निश्चित किया जाता है। सिलिकेट युक्त बन्धक वाले सान-चक्रों को सांचे में ढालने के बाद इतने ऊँचे ताप तक अधिक तपाने की आवश्यकता नहीं पड़ती जैसी कि कांचीय बंधक वाले चक्रों के लिये ऊपर बताई गई है। बहुत बड़े नाप के सान-चक्र अकसर सिलिकेट युक्त बन्धक द्वारा ही बनाये जाते हैं जिन पर कि बहुत भारी-भारी रुखानियाँ और धातु काटने के औजारों से धार लगाई जाती है। लचीले प्रकार के सान-चक्रों का वहीं प्रयोग किया जाता है जहाँ बहुत ही ऊँचे दरजे की पालिश करना अथवा जहाँ बहुत सकरे और अधिक गहराई के खांचे काटना अभीष्ट हो। अधिक चौड़ी किनारे वाले संश्लिष्ट राल युक्त बन्धक द्वारा बने सान-चक्रों से ढले हुए इस्पात के अददों की कठोर गांठे साफ की जा सकती हैं और पतली किनारे वाले चक्रों से इस्पात आदि धातु की छड़ों को टुकड़ों में काटा जा सकता है। इसी बन्धक के द्वारा बने विशेष आकृति के सान-चक्रों से यंत्रों में लगने वाले केमों और बेलनादि को सही-सही आकृति में, अत्यन्त ऊँचे दरजे की परिशुद्धतापूर्वक अपघर्षित किया जाता है।

बन्धक पदार्थों की कठोरता अथवा मुलायमी के अनुसार ही सान-चक्रों को क्रमशः मुलायमी और कठोरता के विभिन्न वर्गों में विभाजित किया जाता है। जिस सान-चक्र के अपघर्षक रवे बन्धक पदार्थ की पकड़ से जितनी ही आसानी से छूट कर गिर जावें वह चक्र उतना ही मुलायम समझा जाता है। सान-चक्र निर्माता अपने बनाये सान-चक्रों की मुलायमी तथा कठोरता के दरजे को A से Z अँग्रेजी के अक्षरों में और संख्याओं में भी व्यक्त किया करते हैं। साधारण कारखानों में प्रचलित एक सारणी, उदाहरण के लिये हम नीचे दे रहे हैं,जिसमें अपघर्षक पदार्थों तथा चक्रों की कठोरता का दरजा भी बताया है।

कठोरता का दरजा	एमरी और कोरण्डम सब प्रकार के बन्धकों के साथ	ऐलण्डम और क्रिस्टोलोन सब प्रकार के बन्धकों के साथ	कर्बोरण्डम और एलॉक्साइट			
			कांचीय और सिलिकेट बन्धकों के साथ	रबर युक्त बन्धक	चपड़ी युक्त बन्धक	संश्लिष्ट राल अथवा बैरोजा युक्त बन्धक
अत्यंत मुलायम	A, B	–	–	–	–	–
बहुत मुलायम	–	E,F,G	U,V,W,	–	१०	१७
मुलायम	C,D E,F, G	H,I,J,K	N,O,P, R,S,T.	–	६,७,८,९	११,१२,१३ १४,१५,१६
साधारण मुलायम	H,I,J,K	–	–	–	–	–
मध्यम	L,M,N,	L,M,N.O	I,J, K,L, M	E F	३,४,५	६,७,८,९,१०
मध्यम कठोर	O,P,Q,R,S	–	–	–	–	–
कठोर	T,U,V,W,	P,Q.R,S	F,G,H	B,C,D	१,२	३,४,५
बहुत कठोर	–	T,U,WZ	D,E	–	–	–
अत्यंत कठोर	X,Y,Z	–	–	–	–	–

इस सारणी के विषय में यह स्पष्ट बता देना आवश्यक है प्रत्येक सान चक्रनिर्माता अपने-अपने विचार से अलग-अलग प्रकार से कठोरता का दरजा व्यक्त करते हैं। इस सारणी में A सबसे मुलायम है और Z सबसे कठोर है। कई निर्माता सबसे मुलायम दर्जे को Z अक्षर द्वारा व्यक्त करते हैं और सबसे कठोर दर्जे को A अक्षर द्वारा। कई निर्माता अक्षरों के बदले अंकों का प्रयोग करते हैं अतः इस सम्बन्ध में कोई मानक नियम अभी तक नहीं बना। इसलिये उपयोगकर्त्ताओं को चाहिये कि अपघर्षण सम्बन्धी वे जो भी काम करना चाहें उसका पूरा विवरण दे कर सानचक्र निर्माताओं से सलाह लेवें कि उनका बनाया कौन से वर्ग का चक्र उस काम के लिये सर्वथा उपयुक्त होगा अथवा उनके विवरण पत्रों और पुस्तिकाओं का अध्ययन कर निश्चय करना चाहिये। लेकिन उच्च कोटि का काम करने वालों के लिये इतना ही काफी नहीं है। उन्हें उपयुक्त प्रकार के अपघर्षक पदार्थों के कंकरीनाप और चक्र की कठोरता का दरजा अपनी आवश्यकतानुसार स्वयं प्रयोग कर भी मालूम करना चाहिये।

कंकरीनाप और कठोरता के दर्जे का निर्णयः

इस सम्बन्ध में हमें पहिली यह बात जानना चाहिये कि सान चक्र जितना ही अधिक कठोर प्रकार का होगा उतनी ही अधिक धीरे-धीरे माल को काटेगा और उतनी ही जल्दी उक्त माल के कटे हुए कण चक्र के अपघर्षक कणों के चारों तरफ जमकर उसे चिकना कर देंगे जिससे कटाई की रफ्तार कम हो जावेगी। इसके विपरीत मुलायम प्रकार का सान चक्र जल्दी-जल्दी माल को काटेगा, क्योंकि चक्र के बंधक की मुलायमी के कारण अपघर्षण के समय उसके अपघर्षक पदार्थ के रवे झड़ने लगेंगे और उनकी पीछे की तरफ रहने वाले ताजा और तेज धार युक्त रवे सामने आते रहेंगे। अतः इस प्रकार कटाई का कार्य तो जल्दी होगा लेकिन सान चक्र भी घिस-घिस कर जल्दी ही समाप्त हो जावेगा। दूसरी महत्वपूर्ण बात हमें यह ध्यान में रखनी चाहिये कि सान चक्र को हम जितनी ही अधिक तेजी से चलावेंगे, वह उतना ही जल्दी चिकना हो जावेगा और जिस वस्तु को हम अपघर्षित करेंगे वह भी उतनी ही जल्दी गरम हो जावेगी। हम सान चक्र को जितना अधिक धीरे चलावेंगे वह उतना ही अधिक जल्दी घिस जावेगा और काम उतना ही अधिक कम होगा। व्यवहार में, प्रक्रिया की आवश्यकतानुसार, सान चक्रों की पारिधिक रफ्तार में हेर-फेर एक बहुत बड़ी सीमा के भीतर हुआ करता है। साधारणतया यह सीमा ४००० से ७००० फुट प्रति मिनट होती है लेकिन कई विशेष प्रकार के कामों के लिये नीची सीमा २००० और ऊँची सीमा ९००० फुट प्रति मिनट तक पहुँच जाया करती है। अतः जब हम किसी सुप्रसिद्ध तथा सुप्रतिष्ठित सानचक्र निर्माता से सलाह लेते हैं तो वह हमारे निर्दिष्ट किये काम के लिये स्वनिर्मित सान-चक्रों में से उपयुक्त प्रकार के अपघर्षक पदार्थ द्वारा बने, उपयुक्त कंकरी नाप युक्त तथा उपयुक्त बंधक युक्त सान-चक्र का प्रयोग करने की सलाह देगा और यह भी बतावेगा कि उसे किस पारिधिक रफ्तार की किस सीमा के भीतर चलाना चाहिये। यदि हम किसी भी उत्तम तथा उपयुक्त प्रकार के सान चक्र को गलत रफ्तार पर चलावें, और उससे यदि संतोष-प्रद नतीजे न निकलें तो इसके लिये निर्माता को दोष नहीं दिया जा सकता। हमें भी अपनी सूझ-बूझ से काम लेना चाहिये।

चमड़ा कमाने में उपयोगी पौधे

विजयकृष्ण

चमड़े से हम सब भलीभाँति परिचित हैं। चमड़ा एक ऐसी उपयोगी वस्तु है जिससे बने हुए नाना प्रकार के सामान व्यवहार में लाये जाते हैं। जूतों की आवश्यकता तो अधिकतर लोगों को होती ही है। इसके अतिरिक्त किसी को पट्टी की और किसी को विशेष ठंडक से बचने के लिये ब्लेजर की तथा किसी को कपड़े रखने के लिये पेटी की भी आवश्यकता होती है।

इतना ही नहीं, चमड़ा, बैग सैनिकों के जूते, हाथ में पहनने के लिये दस्ताने आदि में भी व्यवहृत होता है। नल के जल को नियंत्रित रूप से गिराने के लिये उसके अन्दर चमड़े का एक छोटा-सा वासर प्रयुक्त करना पड़ता। उत्तर प्रदेश, पंजाब और राजपूताना इत्यादि जगहों में सिंचाई के लिये चमड़े के बने हुए बड़े-बड़े मोट (पुर) द्वारा कुँओं से जल निकाला जाता है।

यह चमड़ा जानवरों की खाल से बनता है। चमड़े को साधारणतः हम लोग जिस रूप में देखते हैं वह पहले जैसा नहीं होता। चमड़े को उपयोगी बनाने के लिये उसे कमाना (टैन करना) नितान्त आवश्यक है। अगर टैनन किया जाय तो चमड़ा शीघ्र ही सड़ जाय और दुर्गन्ध देने लगे।

इस लेख में ऐसे कुछ पौधों का उल्लेख किया गया है जिनके फलों तथा छालों में टैनिन पाये जाते हैं और जो चमड़ा-उद्योग में व्यवहृत होते हैं। यों तो तीन सौ से भी अधिक पौधे ऐसे हैं जिनमें टैनिन पाये जाते हैं, किन्तु इनमें टैनिन की मात्रा कम है और अभी विशेष रूप से इन पौधों पर अनुसंधान नहीं किया गया है। वन अनुसंधान केन्द्र, देहरादून में उन पौधों पर अनुसंधान किया जा रहा है। कुछ मुख्य-मुख्य पौधों के नाम तथा उन पौधों के भाग जो चर्मकारी-उद्योग में काम आते हैं, नीचे दिये जा रहे हैं :—

(१) बबूल —छाल — Acacia nilotica (अकैसिया नीलोटिका)
(२) तरवर —छाल — Cassia auriculata (कैसिया ऑरिकुलाटा)
(३) सीसम —फल — Dalbergia Sissoo (डल्बर्जिया सिस्सो)
(४) बड़ — — Ficus benghalensis (फाइकस बैंगालेन्सिस)
(५) गूलर —छाल — Ficus glomerata (फाइकस ग्लोमेराटा)
(६) पीपल —छाल — Ficus religiosa (फाइकस रिलीजिओसा)
(७) आम —छाल — Mangifera indica (मैंगजीफेरा इन्डिका)
(८) मौलसिरी—छाल — Mimusops elengi (मायमूसौप्स इलंगी)
(९) अमरूद —छाल — Psidium guayava (साइडियम ग्वावा)
(१०) अनार —जड़ — Punica granatum (पुनिका ग्रेनेटम)
(११) ओक —छाल — Quercus incana (क्वेरकस इनकाना)
(१२) अशोक —छाल — Saraca indica (सराका इन्डिका)
(१३) इमली —छाल — Tamarindus indica (टैमेरिन्डस इन्डिका)
(१४) हर्रा —नट — Terminali achebula (टरमीनेलिया चेबुला)
(१५) बेर —छाल — Zizyphus mauritiana (जिजीफस मौरीशियाना)

इनमें से केवल तीन मुख्य पौधों का वर्णन नीचे दिया गया है।

(१) अकैसिया नीलोटिका—Acacia nilotica
अन्य नाम—पुराना नाम (A. arabica)
बबूल—हिन्दी
कीकर—पंजाबी
बाबार—सिंधी
कारू भेलम—तामिल

बबूल जिसका लैटिन नाम Acacia nilotica है भारतवर्ष के प्रायः उन सभी स्थानों में पाया जाता है जहाँ वर्षा अधिक नहीं होती। वैज्ञानिकों का मत है कि यह पौधा पहले सिंध, दक्षिण भारत, अफ्रीका और अरब में पाया जाता था और उन्हीं स्थानों से यह चारों ओर फैल गया है। अब तो यह बहुतायत से पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, गुजरात और बम्बई इत्यादि प्रांतों में पाया जाता है। यह पौधा उत्तरी बर्मा के कुछ सूखे स्थानों में भी लगाया गया है और इसमें सफलता भी मिली है।

साधारणतः बबूल छोटे आकार का एक पौधा होता है। इसमें काँटे होते हैं। इसकी पत्तियाँ छोटी-छोटी होती हैं, तना भी छोटा ही होता है। कुछ स्थानों में यह पौधा काफी बड़ा होता है और इसकी ऊँचाई ५०-६० फुट तक तथा तने की मोटाई ५-१० फुट तक हो जाती है। पंजाब में १२ वर्ष पुराने पौधे के तने की मोटाई ढाई फीट तथा हैदराबाद में १५ वर्ष पुराने पौधे के तने की मोटाई १½ फीट तक देखी गई है।

वर्षा काल में ही इनके पौधों में फूल लगते हैं। जून से लेकर अक्टूबर महीने तक बहुतायत से पौधों में फूल देखे जाते हैं। फूल पीले रंग का तथा सुगन्धित होता है। फलों के पकने का समय अप्रैल से लेकर जून महीने तक होता है। पौधा ५ या ७ वर्ष के उपरान्त ही फूलने तथा फलने लगता है। भारतवर्ष में तीन प्रकार के बबूल के पौधे पाये जाते हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं।

(१) गोदी व तेलिया बबूल
(२) भेदी व कौरिमा बबूल
(३) रामकान्त व रामकाठी बबूल

बबूल की लकड़ियाँ कुछ लोग जलावन के काम में नहीं लाते। लोगों का विश्वास है कि इसकी लकड़ियाँ शुद्ध होती हैं इसलिए हवन इत्यादि प्रयोजनों में लाया जाता है। चर्मकारी में इसकी छाल तथा फल दोनों ही उपयोग में आने वाले होते हैं।

अगर एक अच्छे पौधे की छाल ली जाय तो टैनिन की मात्रा अधिक होती है। कुछ लोगों का कहना है कि यदि ५ वर्ष से १० वर्ष तक की उम्र के पौधे की छाल चर्मकारी में काम में लायी जाय तो ज्यादा लाभदायक होती है। छालों में टैनिन की मात्रा २०% तथा फलों में १२-१९% तक पायी जाती है।

पौधों को छोटे-छोटे भागों में काट लिया जाता है और जंगलों इत्यादि से एक साफ स्थान में लाकर वहाँ पर उनकी छाल निकाल ली जाती है। फिर छालों को सुखाया जाता है और तब इसका व्यहार चर्मकारी उद्योग में किया जाता है।

(२) कैसिया औरिकुलाटा—cassia auriculata
अन्य नाम—तरवर—हिन्दी
अभारम—तामिल
अभाल—बम्बई
अनवाल—मारवाड़

तरवर (अभारम) जिसका लैटिन नाम cassia auriculata है एक साधारण-सा छोटा पौधा है जिसकी ऊँचाई प्रायः ४-५ फुट तक होती है। यह मध्य प्रदेश, मध्य भारत, हैदराबाद, मैसूर, मद्रास

इत्यादि प्रान्तों में पाया जाता है। वाणिज्य क्षेत्र में यह अभारम (Avaram) के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी पत्तियाँ छोटी-छोटी होती हैं। इसका फूल बड़े आकार का पीले रंग का होता है। फूलने के समय पौधा देखने में बहुत ही सुहावना लगता है। यह पौधा भारतवर्ष के अन्य भागों में भी लगाया गया है।

अभारम की छाल दक्षिण भारत के चमड़ा-उद्योग में एक विशेष स्थान रखती है। ज्यों-ज्यों पौधा बड़ा होता है त्यों-त्यों छाल में टैनिन की मात्रा अधिक पाई जाती है किन्तु ३ वर्ष के पश्चात् उसमें कोई विशेष वृद्धि नहीं दीख पड़ती। आयु के अतिरिक्त यह भी देखना अनिवार्य है कि छाल किस तने से ली जा रही है। जो तना पेंसिल के लेड से अधिक मोटा होता है उस छाल में टैनिन की मात्रा अधिक पायी जाती है, जो इससे कम मोटा है उसमें टैनिन कम पाया जाता है। तना अधिक मोटा होने पर यह आवश्यक नहीं है कि उसमें टैनिन अधिक मात्रा में पाई जावे। कारण कि बड़े पौधे की छाल का रंग लाल हो जाता है और यह चमड़ा कमाने के काम में नहीं आती। इस कारण ध्यान रखना आवश्यक है कि तना विशेष बड़ा अथवा अधिक मोटा होने के पूर्व ही चर्मकारी उद्योग में प्रयुक्त कर लिया जावे। अगर छाल तने के निचले भाग से ली जावे तो उसमें टैनिन की मात्रा अधिक पाई जाती है।

वैज्ञानिक अनुसंधानों के पश्चात् यह सिद्ध किया गया है कि जहाँ की मिट्टी में चूना अधिक होता है वहाँ पौधों की छालों में टैनिन की मात्रा अधिक पाई जाती है। अभारम के पौधे जंगलों में पाये जाते हैं और छाल के लिये चौड़ा मोटा तना ही काटा जाता है। अभारम साधारणतः वर्ष में एक ही बार काटा जाता है और अगर दो तीन बार पौधा काटा जाय तो छाल की उत्पत्ति क्रमशः कम होती जाती है। छाल तने से निकाल कर सुखायी जाती है और निश्चित स्थान को चर्मकारी में व्यवहार के लिये भेजी जाती है। चर्मकारी उद्योगों में केवल इसकी छाल उपयोगी है और इसके तने तथा पत्तियाँ से खाद बनायी जाती है।

चर्मकारी उद्योग में काम आने वाले जितने भी पौधे हैं उनमें अभारम सबसे श्रेष्ठ है। इसके द्वारा कमाये गये चमड़े अच्छे समझे जाते हैं और उनकी विदेशों में भी माँग है। वहाँ इस प्रकार के चमड़े का अधिक मूल्य होता है।

(३) टरमीनेलिया चेबुला—Terminalia chebula

अन्य नाम—

हर्रा—हिन्दी
हिरदा—मराठी
अनेल—कनारीज
कराका—तेलगू

हर्रा जिसका लैटिन नाम Terminalia chebula है भारतवर्ष के प्रायः सभी स्थानों विशेषकर बंगाल-बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, मद्रास और बम्बई में पाया जाता है। भारतवर्ष के अतिरिक्त यह बर्मा, पाकिस्तान तथा अन्यान्य देशों में भी पाया जाता है। भारतवर्ष में यह पौधा ५,००० फुट से लेकर ६,००० फुट की ऊँचाई तक पाया जाता है। यह विशेष बड़ा तो नहीं होता, किन्तु इसकी ऊँचाई १५-२० फुट तक अवश्य ही होती है। गर्मी के दिनों में इसकी सब पत्तियाँ झड़ जाती हैं और वर्षाकाल में यह फिर हराभरा हो जाता है। पत्तियों की लम्बाई २½ इंच से ६ इञ्च तक और चौड़ाई २½ इञ्च से ३ इञ्च तक होती है। इसकी छाल भूरे रंग की होती है और इसका काठ बहुत ही उपयोगी होता है। इसके काठ से मकान बनाने के सामान, खेती के सामान तथा अन्य सामान बनाये जाते हैं।

स्थान के अनुसार फल पकने का समय नवम्बर से मार्च तक होता है। इसका फल पकने के बाद ही

गिर पड़ता है। यह फल १-२ इञ्च तक लम्बा और अंडाकार होता है तथा इसका रंग पीला होता है।

चर्म-उद्योग में इसका फल प्रयुक्त होता है, जिसको वाणिज्य क्षेत्र में मायरोबिलन्स (Myrobilan) कहते हैं। साधारणतः देखा गया है कि मयरोबिलन्स में ३०-४० प्रतिशत तक टैनिन पाया जाता है। इससे भी अधिक टैनिन की मात्रा कुछ विशेष फलों में पाई जाती है।

छालों में भी टैनिन काफी परिमाण में पाया जाता है, किन्तु छालों का व्यवहार नहीं किया जाता, कारण कि उससे पौधा अथवा वृक्ष को क्षति पहुँचने की सम्भावना होती है।

तुरन्त पके हुए फलों में टैनिन की मात्रा अधिक पाई जाती है और कच्चे अथवा ज्यादा पके फलों में टैनिन की मात्रा क्रमशः कम पाई जाती है। इस कारण फलों को उसी समय तोड़ लेना चाहिए जब ठीक से पक जावें। यह कार्य जनवरी से मार्च महीने के अन्दर होना चाहिए। फलों को एकत्रित कर एक साफ स्थान में रखा जाता है और उसे धूप में सुखाया जाता है। सूखने के समय उसे उलटते रहना आवश्यक है जिससे वह अच्छी तरह से सूख जावे। इसी अवस्था में उसे करीब २० दिनों तक छोड़ दिया जाता है और यदि भूमि पथरीली हो तो इससे भी कम समय लगता है। फल सूखने पर करीब आधा हो जाता है। सूखने पर फल का ऊपरी भाग इतना कड़ा हो जाता है कि कभी-कभी चाकू से काटना भी कठिन हो जाता है। ऐसा भी देखा गया है कि फल सूखने के समय में कभी-कभी अपने ही आप फट जाता है और उसके अन्दर से काले चूर्ण के समान कोई वस्तु निकलने लगती है। इस चूर्ण से रोशनाई बनाई जाती है।

फलों के सूखने के पश्चात् ही ग्राहक आते हैं और चर्मकारी उद्योग में व्यवहार करने के लिये ले जाते हैं। यह केवल हमारे देश में ही काम में नहीं लाया जाता वरन् अनेक अन्य देशों को भी भेजा जाता है और भारत सरकार को इससे विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है। अप्रैल १९६२ से मार्च १९६३ तक बाहर भेजे गये मायरोबिलन्स की मात्रा तथा मूल्य निम्न प्रकार हैं :—

जिस देश को भेजा गया	मात्रा किलोग्राम में		मूल्य रुपये में	
(क) अदन	२५० "	"	३५०	रुपया
(ख) आस्ट्रेलिया	२१५९८१	"	१७०३०६	"
(ग) बर्मा	४८६४	"	४५००	"
(घ) जापान	१४२२८	"	१२९००	"
(ङ) न्यूजीलैण्ड	१२८२७०		१००७२०	"
(च) इंगलैण्ड	२४३६२		१७५५०	"

इन पौधों के अतिरिक्त अन्य अनेक पौधे हैं, जिनमें अम्ल (टैनिन) पाये जाते हैं किन्तु अभी उन पौधों के विषय में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं हुई और वन अनुसंधान केन्द्र देहरादून तथा दक्षिण भारत में इनके विषय में जाँच-पड़ताल की जा रही है।

२५

प्रो. बीरबल साहनी

अ० बि० सीरवाणी

केवल भारत में ही नहीं, सारे विश्व में वनस्पति-शास्त्र का शायद ही कोई ऐसा विद्यार्थी हो जिसने प्रो० बीरबल साहनी का नाम न सुना हो। जैसा उनका नाम था वैसे वे विद्वान भी थे। वनस्पति के इस रत्न का जन्म १४ नवम्बर सन् १८९१ में शाहपुर जिले के भेड़ा नामक गाँव में हुआ था। आपके पिता श्री रुचिराम साहनी लाहौर में रसायन-शास्त्र के प्राध्यापक थे।

श्री बीरबल साहनी की शिक्षा स्नातक स्तर तक लाहौर में हुई। यहाँ आपने शैक्षणिक कार्यों में सराहनीय प्रशंसा प्राप्त की और २१ वर्ष की आयु में, सन् १९११ में, इनमुएल कालेज, कैम्ब्रिज में अध्ययन के लिए चुन लिये गये। वहाँ आप श्री नेहरू के सहपाठी रहे। १९१४ई० में स्नातकोत्तर की डिग्री प्राप्त कर वहीं पर आप प्रो० ए० सी० सेवर्ड की देख-रेख में अन्वेषण कार्य में लग गए। एक्मोपाइले नामक फॉसिल पौधे पर पाँच वर्ष की सतत गवेषणा के बाद आपको सन् १९१९ में लंदन विश्वविद्यालय की डी० एस-सी० की उपाधि प्राप्त हुई।

लन्दन से डी० एस-सी० से विभूषित होकर आप भारत लौटे और यहाँ आकर आप पुरादि्भदी (पेलिओबाटनी) की उन्नति में लग गए। राजमहल पहाड़ियों के फॉसिल पौधों पर आपने कई शोधपूर्ण लेख प्रकाशित किए और सन् १९२९ में आपको कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय की डी० एस-सी० की उपाधि प्राप्त हुई। इस उपाधि ने आपको भारत का सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक सिद्ध किया। अपने गुरु सीवर्ड के सम्मान में १९३२ में आपने एक फासिल पौधे का नाम विलियमसोनिएला सीवर्डिआना रखा।

आपका विवाह सन् १९२० में सुश्री सावित्री साहनी से हुआ जो देश-विदेश में आपके साथ रहीं।

सन् १९३६ में आप रायल सोसायटी ऑफ

लन्दन के सदस्य (एफ० आर० एस०) चुने गए। आपने भारतीय साइंस कांग्रेस के अध्यक्ष पद पर १९३० से १९३५ तक कार्य किया और सन् १९४० में आप नेशनल एकेडेमी आफ साइंसेज के भी सभापति रहे।

सन् १९४८ में आपने राजमहल पहाड़ियों से ही एक विचित्र फॉसिल समूह की खोज की जिसका नाम 'पेएटोजाइली' रखा। आपका कहना था कि यह समूह संसार में अन्य कहीं पाया नहीं जाता और भविष्य में भी कहीं नहीं मिलेगा। आपकी यह भविष्यवाणी आज भी सत्य है। इसी वर्ष (१९४८) में आप 'अमेरिकन अकादमी आफ आर्ट्स एवं साइन्सेज' के अवैतनिक सदस्य चुने गये।

सन् १९५० आपकी नियुक्ति 'अन्तर्राष्ट्रीय बोटैनीकल कांग्रेस'स्टाकहोम के अवैतनिक अध्यक्ष पद पर हुई। आप प्रथम भारतीय थे जिन्हें यह विश्वव्यापी सम्मान प्राप्त हुआ। किन्तु सम्मेलन के कुछ माह पूर्व ही आप इस संसार से विदा ले चुके थे अतः विश्व भर के वैज्ञानिक आपके विचारों से वंचित रह गए।

भारत में लखनऊ में आपने पूरे २० वर्ष तक अध्यापन तथा अन्वेषण कार्य किया। आपकी देख-रेख में कई विद्यार्थियों ने पी० एच-डी० की उपाधि प्राप्त की। आपके पढ़ाने का ढंग अनूठा था। आप दोनों हाथ से लिखना तथा चित्र बनाना जानते थे, जिससे विद्यार्थियों पर आपके अध्यापन की अटूट छाप जम जाती थी।

प्रो० साहनी की भारत को सबसे बड़ी देन है लखनऊ में पेलिओबोटैनिकल इन्स्टिट्यूट की स्थापना, जो आज भी वहाँ विद्यमान है। इस इन्स्टिट्यूट का उद्घाटन पं० जवाहरलाल नेहरू द्वारा ३ अप्रैल १९४९ को हुआ। इस शुभ अवसर को एक सप्ताह भी न बीता था कि ९ अप्रैल की अर्धरात्रि में वे लखनऊ के इस विद्यामन्दिर में कई मित्रों और विद्यार्थियों को अकेला छोड़कर चल बसे। लखनऊ के पेलिओबोटैनिकल इन्स्टिट्यूट में आज भी कई विद्यार्थी फासिल पौधों पर अन्वेषण कार्य में रत हैं। इस समय प्रो० साहनी की पत्नी श्रीमती साहनी इसका निर्देशन कर रही हैं।

फासिल पौधों में रुचि रखने वाले प्रो० साहनी केवल वैज्ञानिक ही नहीं, किन्तु चित्रकला और संगीत के भी प्रेमी थे। कहते हैं विज्ञान का सम्बन्ध सत्य से है और कला का सौन्दर्य से। प्रो० साहनी के जीवन में इन दोनों का समन्वय था जो उनके महान व्यक्तित्व का साक्षी है। भारतीय साइन्स कांग्रेस ने आपके सम्मान में 'बीरबल साहनी पदक' की स्थापना की है जो भारत के सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक को प्रदान किया जाता है। इस वर्ष यह पदक मद्रास के प्रो० टी० एम० सदाशिवन को प्रदान किया गया है। विद्यार्थियों ने अपनी अटूट श्रद्धा प्रकट करने के लिए कई पौधों को प्रो० साहनी के नाम से सुशोभित किया है। ऐसे कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं:—

(क) सिग्मोफिल्लम साहनाई
(ख) विलियमसोनिया साहनाई
(ग) बक्लैन्डिया साहनाई
(घ) साहनीपुष्पम्
(ङ) पेएटोजाइलान साहनाई
(च) साहनिआ निपैनीऐन्सिस इ०

ये सब आज भी उस महान वैज्ञानिक का स्मरण दिलाते हैं और भविष्य में भी पीढ़ियों तक वनस्पतिशास्त्र में प्रो० साहनी का नाम अमर बनाए रखेंगे।

उनकी ७२वीं पुण्य जन्मतिथि पर हम श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

●

१. दीर्घजीवन और साइबर्नेटिक विज्ञान

मानव की बहुत ही जटिल प्रणाली है जो अपने ही निश्चित कार्यक्रम के अनुसार चलती है। गर्भाशय में मानव का विकास जिस प्रकार होता है, उसीसे पता चल जाता है कि एक विशेष अवधि तक उसका कार्यक्रम क्या होगा। मानव का पूर्ण विकास गर्भाशय में ही निर्धारित हो जाता है। प्रत्येक परिवर्तन अत्यन्त सूक्ष्मता से निर्धारित रहता है। इस कार्यक्रम के अनुसार मानव नौ महीने बाद बाहर आता है। इसके बाद दूसरा कार्यक्रम चलता है और इसी तरह बुढ़ापे तक चलता रहता है।

पूछा जा सकता है कि ऐसे कितने कार्यक्रम होते हैं?

वे अनेक होते हैं, लेकिन निर्धारित कार्यक्रम में संशोधन सीमित होते हैं।

मानव कार्यक्रमों को दो बड़ी प्रणालियों में बाँटा जा सकता है। एक में वे आते हैं जिन्हें पाश्र्व कार्यक्रम कहा जा सकता है जैसे आत्म-रक्षा की भावना। मानव जिन बातों में पशुओं से भिन्न है, उन्हें सामाजिक कार्यक्रम कहते हैं।

वास्तव में मानव-जीवन बहुत बड़ा कार्यक्रम है जिसमें अनेक पाशव और सामाजिक कार्यक्रम रहते हैं। साइबर्नेटिक विज्ञान का कहना है कि प्रत्येक शारीरिक क्रिया को एक कार्यक्रम के रूप में देखना चाहिए, किसी खतरे के प्रति क्या प्रतिक्रिया होती है, उसको मात्रा के रूप में बताया जा सकता है, क्योंकि व्यक्ति अनन्त नहीं है। अद्भुत होते हुए भी मानव व्यवहार अंकों के नियमों का पालन करते हैं और उन्हें अलग-अलग वर्गों में रखा ज सकता है।

जब कोई मानव स्वस्थ रहता है, तब उसका विकास कार्यक्रम से अलग नहीं होता। जब वह बीमार पड़ता है, तब उसका कार्यक्रम कुछ कारणों से गड़बड़ हो जाता है। वे कारण जैव हो सकते हैं, जैसे कीटाणु आदि, भौतिक हो सकते हैं जैसे सर्दी या गर्मी, मनौवैज्ञानिक हो सकते हैं, आदि।

कार्यक्रम बनाने वाली प्रकृति पहले से ही जानती है कि मूलभूत कार्यक्रम में गड़बड़ी हो सकती है, इसलिए उसने मानव को अस्थायी कार्यक्रम दे रखे हैं जो मूल कार्यक्रमों में व्यतिक्रम होने पर काम करने लगते हैं, जैसे किसी की अँगुली कट जाने पर कुछ खून घाव के आसपास जम जाता है और इस तरह अधिक खून नहीं निकलने पाता।

लेकिन अगर अस्थायी कार्यक्रमों का उद्देश्य मानव को कष्ट से उबारना है, तो लोग बीमार होकर मरते क्यों हैं? बात यह है कि अस्थायी कार्यक्रमों के बावजूद किसी भी बीमारी में कुछ अज्ञात कारण भी रहते हैं। थोड़े में इसे यों कहा जायगा—स्वाभाविक क्रिया में गड़बड़ के कारण शरीर हानिकर पदार्थ एकत्र करता है।

प्रसंगवश, इंजीनियरिंग में हमें यह देखने को मिलता है कि कोई स्वयंचालित प्रणाली कितनी ही पूर्ण क्यों न हो, उसमें छोटी-छोटी विच्युतियाँ एकत्र होती रहती हैं। किसी अन्य प्रणाली की भाँति मानव

शरीर भी नियंत्रण सम्बन्धी त्रुटियाँ एकत्र करता रहता है और स्वाभाविक क्रिया में गड़बड़ हो जाती है।

पहले बताया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति "बूढ़ा होने तक" अपने कार्यक्रमों के अनुसार विकसित होता है। यह अक्षरशः सत्य है, क्योंकि बुढ़ापा मानव शरीर के कार्यक्रम के अन्तर्गत नहीं है। अगर यह कहा जाय कि शरीर को सदा तरुण रखने और उसे अमर रखने का कार्यक्रम बना है, तो यह सत्य के निकट होगा।

फिर भी बुढ़ापा आता है। यह मानव के अत्यावश्यक क्रियाकलाप का उपजात पदार्थ है। बात यह है कि कोई भी प्रणाली चालू होने के बाद "खराब" होने लगती है। मानव पैदा होने के पहले ही पुराना होने लगता है। यह सच है कि अधिकांशतः वे छोटी-छोटी त्रुटियाँ होती हैं, परन्तु वे संचित होती रहती हैं और जिस यथातथ्यता के साथ कार्यक्रम को चलना चाहिए था, उसमें कमी आने लगती है, इसी को बूढ़ा होना कहते हैं।

यद्यपि बुढ़ापा कार्यक्रम के अन्तर्गत नहीं है, फिर भी यह अनिवार्य है, क्योंकि दुर्भाग्यवश हमारे लिए ऐसी प्रणाली बनाना असम्भव है जो त्रुटिरहित हो। परन्तु एक अन्य युक्ति है। मानव की आयु को काफी बढ़ाया जा सकता है। इसके लिए हमें यह जानना होगा कि बुढ़ापा किस तरह आता है। बुढ़ापे का एक पहलू रासायनिक क्रिया है।

एक बार हम यह जान जायँ कि बुढ़ापा किस तरह आता है, तो सम्बद्ध रासायनिक पहलू को ठीक करने का उपाय कर सकते हैं। उस हालत में हम शरीर में कृत्रिम प्रणालियाँ लगा सकते हैं जो प्राकृतिक नियंत्रण प्रणाली की भूलें कम कर देंगी। रासायनिक समानता के आधार पर हम ऐसी प्रणाली बना सकते हैं जो धमनी काठिन्य की अवस्था में शरीर से कोलेस्टेरोल को निकाल ले। सिर्फ इतने से ही मानव जीवन में कई वर्ष की वृद्धि हो जायगी। धीरे-धीरे और जटिल प्रकार की प्रणालियाँ निकल आयेंगी और उनकी संख्या बढ़ जायगी। कुछ कृत्रिम अंग, जैसे हृदय, फेफड़े और गुर्दे बनाये गये हैं और असाधारण अवस्था में (जैसे किसी आपरेशन आदि के समय) वे कारगर साबित हुए हैं। यह असम्भव नहीं जान पड़ता कि भविष्य में जरूरत पड़ने पर कृत्रिम अंग प्राकृतिक अंगों का स्थान लेंगे और केवल असाधारण अवस्था में ही नहीं, बल्कि सदा काम करेंगे।

जीवित अंगों के स्थान पर दूसरे अंग लगाने की सम्भावना का भविष्य उज्ज्वल है, परन्तु बड़ी कठिनाई केन्द्रीय स्नायु प्रणाली के क्षेत्र में है। मानव को स्नायु-कोष केवल एक बार मिलते हैं। दूसरे जीवित कोषों से उनमें अन्तर यह होता है कि वे अपनी वृद्धि नहीं करते। बल्कि वे क्षीण होते रहते और पुराने पड़ जाते हैं। जब वे जीर्णशीर्ण हो जाते हैं, तब मानसिक कमजोरी या बुढ़ापा आ जाता है। इसीलिए मानव की आयु को कुछ निश्चित सीमाओं के भीतर बढ़ाना ही युक्तियुक्त होगा।

कृत्रिम मस्तिष्क के बारे में क्या कहा जा सकता है?

आशा की क्षीण रेखा साइबर्नेटिक के विशेषज्ञों द्वारा बनाये कृत्रिम मस्तिष्क में देखी जा सकती है। लेकिन साइबर्नेटिक विज्ञान जिस रास्ते पर चल रहा है, उसमें कृत्रिम मस्तिष्क बनाना बहुत ही दूर की धुंधली मंजिल है। लेकिन हम एक ऐसे कृत्रिम मस्तिष्क की कल्पना कर सकते हैं जो अब भी स्वस्थ मानव मस्तिष्क के साथ-साथ काम करता है। कुछ दिन तक दोनों साथ-साथ काम करेंगे, अतिथि अपने मेजबान के स्वभावों और रुचियों को ग्रहण करेगा। इसके बाद पुराने मानव मस्तिष्क को अलग कर दिया जायगा तथा मानव कृत्रिम मस्तिष्क के सहारे काम चलायेगा। तब तक यह कृत्रिम मस्तिष्क प्राकृतिक मस्तिष्क की स्मरण-शक्ति, ज्ञान, रुचि और प्रवृत्तियाँ ग्रहण कर चुकेगा।

इस कल्पना के साथ यह भी जोड़ लीजिए कि

शरीर में मानवकृत कुछ और अंग लग चुके होंगे और आपके सामने एक ऐसा मानव होगा जो वास्तव में मर चुका होगा, लेकिन फिर भी जो जीवित है, क्योंकि उसका मस्तिष्क और अनेक अंग कृत्रिम हैं और वे काम कर रहे हैं।

संक्षेप में इतना कहना कि बुढ़ापा आने और बुढ़ापे को रोकने के लिए 'विशुद्ध' औषधि विज्ञान जो तरीके अपनाता रहा है, उनका जमाना बीत रहा है। अधिक दिन जीने के लिए मानव को भौतिक विज्ञान, रसायन और साइबर्नेटिक विज्ञान की प्रगति पर भरोसा करना चाहिए जो नये औषधि-विज्ञान—कल के औषधि विज्ञान में निर्णयात्मक योगदान करेंगे।

२. शरीर के विकासग्रस्त अंगों का प्रत्यारोपण

वर्तमान शताब्दी में, चिकित्सा और शल्यक्रिया के क्षेत्र में जो आश्चर्यजनक प्रगतियाँ हुई हैं, उनमें 'अंग-आरोपण', अर्थात् किसी अंग को एक स्थान से काट कर दूसरे स्थान पर लगाना, सम्बन्धी नव-विकसित प्रविधियाँ सबसे अधिक चमत्कारपूर्ण हैं। इन प्रविधियों द्वारा मनुष्य के शरीर के रुग्ण या क्षतिग्रस्त भागों को निकाल कर उनके स्थान पर जीवित या मृत दाताओं के शरीर से काटकर निकाले गये स्वस्थ अंग आरोपित कर दिये जाते हैं। अमेरिका के वैज्ञानिक पुराने हृदय के स्थान पर नया हृदय, रुग्ण फेफड़ों के स्थान पर स्वस्थ फेफड़े, जर्जर कलेजे के स्थान पर सक्रिय कलेजे स्थापित करने की सम्भावना का पता लगाने के लिए अनुसन्धान कर रहे हैं। वस्तुतः, वे शरीर के किसी भी रुग्ण अंग को स्वस्थ अंग से प्रतिस्थापित करने की दिशा में सम्भावनाओं का पता लगा रहे हैं। अततोगत्वा, आशा है कि इस प्रकार के अंगारोपण उतनी ही आसानी से होने लगेंगे, जितनी आसानी से आजकल नये कृत्रिम दांत लगा दिये जाते हैं।

किन्तु ऐसा समय लाने से पूर्व वैज्ञानिकों को अनेक कठिन समस्याएँ हल करनी पड़ेंगी। शरीर के मुख्य अंगों के प्रत्यारोपण की प्रविधि अभी भी प्रयोगात्मक अवस्था में है। मिसिसिपी विश्वविद्यालय में शल्य-चिकित्सा के प्राध्यापक, डा० जेम्स डी० हार्डी, ने अप्रैल १९६३ में, 'फेडरेशन ऑव अमेरिकन सोसायटीज औव् एक्सपेरिमेण्टल बायोलोजी' की एक बैठक में यह भविष्यवाणी की कि एक वर्ष के भीतर ही पहली बार मनुष्य के फेफड़े के प्रत्यारोपण का प्रयत्न किया जा सकेगा। उन्होंने कहा कि पशुओं पर किये गये प्रयोगों में शल्य-प्रविधियाँ स्थापित की जा चुकी हैं।

अप्रैल में ही, न्यूयार्क विश्वविद्यालय के नाड़ी-शल्य-चिकित्सकों (न्यूरो सर्जन्स) की एक टोली ने अपनी रिपोर्ट में बताया कि मनुष्य की नाड़ियों के प्रत्यारोपण में सफलता मिल चुकी है। अनुसन्धानकर्ताओं ने बताया कि जिन रोगियों के शरीर में नई नाड़ियाँ लगायी गयी थीं, उनमें से ८ अपनी बाहों और अपने पैरों को, जिनमें पहले लकवा मार गया था, हिलाने-डुलाने में समर्थ हो गये थे।

इस टोली के प्रवक्ता की हैसियत से बोलते हुए, डा० जेम्स बी० कैम्पबेल ने, जो स्नायविक शल्य-चिकित्सा के सहायक प्रोफेसर हैं, कहा कि नई नाड़ियों की सहायता से रोगियों की मांसपेशियों में स्पर्शानुभूति उत्पन्न हो गयी और वे उनका प्रयोग करने में समर्थ हो गये। उन्होंने बताया कि एक मृत व्यक्ति के शरीर से निकाल कर ५·३ इंच लम्बी नाड़ी एक ऐसे रोगी के पैर में लगायी गयी, जिसकी नाड़ियाँ कैंसर सम्बन्धी शल्योपचार के अन्तर्गत निकाल दी गयी थीं। अप्रैल में ही अमेरिकन सर्जिकल एसोसिएशन की एक बैठक में वर्जिनिया के मेडिकल कालेज के डा० डेविड एम० ह्यूम ने बताया कि अब इस बात के प्रमाण मिलने लगे हैं कि विकृत गुर्दों के स्थान पर स्वस्थ गुर्दे लगा देने की विधि परिपक्व हो चुकी है। इस सिलसिले में

उन्होंने बताया कि अनेक अस्पतालों में इस प्रकार के शल्योपचार में बराबर सफलता मिल रही है।

उन्होंने कहा कि उन्होंने ६ रोगियों का शल्योपचार किया था, जिनमें से ४ गुर्दे के प्रत्यारोपण के ६ महीने बाद भी जीवित रहे। इनमें से प्रत्येक रोगी गुर्दे की रुग्णता से मृतप्राय हो चुका था। उनके शरीर में जो गुर्दे लगाये गये, उनमें से कुछ जीवित व्यक्तियों के शरीर से प्राप्त हुए थे, जबकि कुछ मृत-दाताओं के शरीर से लिए गये थे।

इस बीच, १९६३ के वसन्त में, मिन्नेसोटा विश्वविद्यालय के चार शल्यचिकित्सकों की टोली ने एक अन्य क्षेत्र में सफलता मिलने की सूचना दी। उन्होंने बताया कि उन्होंने पशुओं के शरीर से गुर्दे निकाले, उन्हें दो सप्ताह तक संग्रह कर रखा, और इस बीच इन पशुओं के कृत्रिम गुर्दे लगा कर उन्हें जीवित रखा। उसके बाद उन्हीं पशुओं में उनके असली गुर्दे पुनः स्थापित कर दिये गये। इस प्रकार के सफल प्रयोग प्लीहा और पेड़ू के सम्बन्ध में भी किये गये हैं।

इन अंगों को सजीव रूप में संग्रह करने के लिए अनुसन्धानकर्ताओं ने उन्हें विशेष प्रकार के संरक्षात्मक घोलों से ढक दिया और उनके तापमान को घटा कर—११२ अंश फारेनहाइट तक कर दिया।

इन प्रयोगों का महत्व यह है कि वे इस बात की व्यवहारिकता को प्रमाणित करते हैं कि अन्त में चल कर 'गुर्दा बैंक' और बाद में सम्भवतः 'हृदय बैंक' और 'फेफड़ा बैंक' स्थापित हो सकेंगे, जिनमें मृत-दाताओं से प्राप्त इन अंगों को सुरक्षित रखा जायगा और आवश्यकता पड़ने पर वहाँ से निकाल कर रुग्ण व्यक्तियों के शरीर में लगाया जा सकेगा।

सम्भवतः ये बैंक रक्त, हड्डी, धमनी और नेत्र बैंकों जैसे ही होंगे, जो आजकल प्रायः सभी आधुनिक अस्पतालों में उपलब्ध हैं। आजकल तो रक्त, हड्डी, धमनी या नेत्र की पुतलियों का प्रत्यारोपण एक साधारण-सी बात हो गया है। किन्तु, हृदय, फेफड़ा या शरीर के अन्य मुख्य अंगों को इतनी ही आसानी से प्रत्यारोपित करने के मार्ग में एक कठिन बाधा स्वयं रोगी के शरीर के कारण उत्पन्न होती है।

जब किसी सामान्य शरीर में कोई बाहरी अंग जोड़ा जाता है, तो उस अंग के सम्बन्ध में उसकी प्रतिक्रिया वैसी ही होती है जैसी किसी रोगाणु के सम्बन्ध में होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि शरीर ऐसे 'प्रति-अंग' (एण्टीबाडी) उत्पन्न करता है, जो नवारोपित अंग पर आक्रमण करके उसे विनष्ट कर देते हैं। अतः यह प्रक्रिया अंगों के प्रत्यारोपण के सम्बन्ध में एक प्रमुख बाधा बन जाती है।

किन्तु, समान जुड़वे लोगों के अंगों के पारस्परिक प्रत्यारोपण में यह कठिनाई उत्पन्न नहीं होती। इस प्रकार के एक जुड़वे व्यक्ति का शरीर दूसरे जुड़वे व्यक्ति के शरीर से लिए गये अंग के आरोपण के विरुद्ध 'प्रति-अंग' उत्पन्न नहीं करता। फलस्वरूप, इस प्रकार का पहला सफल शल्योपचार १९५४ में बोस्टन के पीडर बेण्ट ब्रिघम अस्पताल में में सम्पन्न हुआ। उस शल्योपचार के सिलसिले में शल्य-चिकित्सकों ने एक युवक के रुग्ण गुर्दे को निकाल कर उसके स्थान पर जुड़वे भाई का स्वस्थ गुर्दा लगा दिया। उस समय से ही अनुसंधानकर्ता 'प्रति-अंग' सम्बन्धी बाधा पर विजय प्राप्त करने के उपाय ढूँढ़ने में सलग्न हैं। इसका एक उपाय यह है कि रोगी की हड्डी की मज्जा को विनष्ट कर दिया जाय, क्योंकि उसी से अधिकांश 'प्रति-अंग' उत्पन्न होते हैं। यह कार्य एक्सरे अथवा कुछ औषधियों द्वारा सम्पन्न हो सकता है। किन्तु यह विधि खतरनाक है क्योंकि प्रति-अंगों के न होने पर रोगी छूत के रोगों से अपनी रक्षा नहीं कर सकता। कुछ रोगियों को, जिनके अंग प्रत्यारोपित थे, पृथक कर ऐसे वातावरणों में रखा गया, जिनमें किसी प्रकार के रोगाणु नहीं थे। ऐसा तब तक किया गया जब तक कि नये अंग ने जड़ नहीं पकड़ लिया और हड्डी की मज्जा को प्रतिस्थापित नहीं कर लिया गया।

अप्रैल में घोषित नाड़ी-प्रत्यारोपण के मामले में एक नयी विधि द्वारा सफलता प्राप्त की गयी। इसके अन्तर्गत प्रत्यारोपित करने से पूर्व नाड़ी वाले भागों पर तीव्र विकिरण छोड़ा गया, ताकि वे प्रति-अंगों द्वारा विनष्ट न हो सकें। इसके अतिरिक्त, नवारोपित अंगों को पतले छिद्रमय प्लास्टिक के आवरण से ढक दिया गया, ताकि बाधक जीवकोषों के कारण कठिनाई उत्पन्न न हो सके। शल्य-चिकित्सकों ने इस उद्देश्य से गुर्दे के प्रत्यारोपण में औषधियों और विकिरण का भी प्रयोग किया है।

कुछ अनुसन्धानकर्ताओं ने यह सुझाव दिया है कि शरीर में प्रत्यारोपित होने वाले अंगों को उसी प्रकार श्रेणी-बद्ध कर दिया जाय, जिस प्रकार रक्त को श्रेणीबद्ध किया जाता है। इस प्रकार रोगियों की देखभाल कर यह पता लगाया जा सकता है कि प्रति-अंगों की दृष्टि से उनके लिए कौन-सा संग्रहीत अंग उपयुक्त होगा। निस्सन्देह, जब यह कठिनाई दूर हो जायगी, तो अंग-आरोपण की कला को शल्योपचार के इतिहास की सबसे प्रमुख प्रगतियों की कोटि में स्थान प्राप्त हो जायगा।

प्राय: सारा शरीर स्वस्थ रहने पर भी किसी एक अंग के विकृत हो जाने से आजकल भी हजारों लोग मृत्यु की गोद में समा जाते हैं। आशा है कि इस प्रकार के रोगियों पर, अंग-प्रत्यारोपण सम्बन्धी नव-विकसित प्रविधियों का प्रयोग करने से उन्हें पुनः स्वास्थ्य प्राप्त हो जायगा और वे दीर्घकाल तक सुखी और उपयोगी जीवन व्यतीत करने में समर्थ हो जायेंगे।

३. चन्द्रमा से भी आगे

हम अतीत का सम्मान करते हैं। हम बीते हुए काल को आदर की दृष्टि से देखते हैं। भूतकालिक शिक्षाओं द्वारा हमारा मार्ग-दर्शन होता है। किन्तु ऐसी सरकार को सदैव भविष्य का ध्यान रखना चाहिए जो शासित लोगों की अनुमति से अपने उचित अधिकार प्राप्त करती है। ऐसी सरकार को सावधानीपूर्वक भविष्य के विषय में सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए।

आज अमेरिका की सरकार को भविष्य के सम्बन्ध में एक असाधारण चुनौती का सामना करना पड़ रहा है। क्योंकि लगभग एक पीढ़ी से, एक अपरिवर्तित एवं अपरिवर्तनीय रंगमंच पर विश्व मामलों के सम्बन्ध में एक नाटक चल रहा है। इस नाटक में होने वाले मूल अभिनय एवं दृश्यों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है।

अमेरिका की मान्यताएँ, सिद्धान्त तथा उद्देश्य भी वही हैं जो पहले थे। भविष्य में इनमें कोई परिवर्तन नहीं होगा जिस प्रकार इसके वासी उस राष्ट्रीय सिद्धान्तों पर निरन्तर अमल करते रहे हैं, जिनकी १८७ वर्ष पूर्व फिलाडेल्फिया में घोषणा की गई थी।

अब से ५० वर्ष पश्चात्—२०१३ ई० में हम किस प्रकार का संसार देखने की आशा करते हैं? हम उस समय मानवी इतिहास में किस प्रकार का संसार देखना चाहते हैं?

हम अबसे ५० वर्ष पश्चात् एक ऐसा संसार देखने की कामना करते हैं, जिसके सभी भागों में सर्वत्र शान्ति हो, जिसमें सभी देशों के लोग स्वतन्त्र हों और सभी लोगों के साथ न्याय हो। हम ऐसे संसार की आशा नहीं करते, जिसमें लोगों में सैद्धान्तिक मतभेद न हों। मतभेद प्रकट करने का अधिकार तथा विशेष अधिकार स्वयं स्वतन्त्रता का सार है। ऐसा संसार देखने की आशा नहीं करते—तथा ऐसा संसार देखने की आशा नहीं करेंगे—जिसमें सभी देशों के लोग एक-दूसरे के पीछे चलें, सभी देशों के लोग एक समान सोचें, एक समान कार्य करें, एक समान शासित हों। किन्तु हम यह आशा कर सकते हैं और यह आशा करते हैं कि संसार के सभी राष्ट्रों में व्यक्ति की

प्रतिष्ठा तथा स्वतन्त्रता का एक समान मान-दण्ड स्वीकार कर लिया जायेगा।

हम यह कामना करते हैं कि २०१३ ई० का संसार एक ऐसा संसार हो जिसमें राष्ट्रों अथवा राष्ट्रों के संघटनों के मध्य सम्बन्ध बनाये रखने के लिये सैनिक शक्ति का प्रयोग मुख्य साधन न रहे। हम वस्तुतः यह आशा नहीं कर सकते कि विनाश-कारी यन्त्रों का आविष्कार करने की मनुष्य की योग्यता का अन्त हो गया है। फिर भी, हम उत्तर-दायित्व के साथ आशा कर सकते हैं कि मनुष्य इन आगामी ५० वर्षों में अपने विनाशकारी आविष्कारों को नियन्त्रित करने और उनके प्रयोग को रोकने सम्बन्धी अपनी क्षमताओं को बढ़ा लेगा।

हम अबसे ५० वर्ष पश्चात् एक ऐसे विश्व की कामना करते हैं जिसमें स्वाधीनता सम्बन्धी क्रान्ति का कार्य पूर्ण हो जायेगा ताकि सब लोग परस्पराश्रितता सम्बन्धी उत्तरदायित्वों की पूर्ति के लिये संयुक्त रूप से प्रयत्न कर सकें।

जब तक संसार में पराधीन देश रहेंगे तब तक उन लोगों की ओर से स्वाधीनता की माँग बराबर जारी रहेगी, जिन्हें अपने मामलों का स्वयं प्रबन्ध करने का अधिकार नहीं दिया जाता है। अमे-रिकावासी इस अत्यन्त बुनियादी अधिकार के लिये अपना समर्थन देना कभी बन्द नहीं करेंगे—और इस उद्देश्य की समस्त विश्व में पूर्ति हो जाने की आशा भी है।

किन्तु जैसे गत ५० वर्षों में बहुत से नये राष्ट्रों का जन्म हुआ है, वैसे हो यह आशा करें कि आगामी ५० वर्षों में बहुत से ऐसे नये संघों तथा फैडरेशनों की स्थापना हो जायेगी जो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा आर्थिक बहुतायत को अधिक सशक्त, स्थिर तथा सफल होने में सहायक हो सकें।

आज से ५० वर्ष पश्चात् हम एक ऐसे विश्व की कामना करते हैं, जिसमें प्रत्येक महाद्वीप के सभी राष्ट्रों के जीवन-स्तर में वास्तविक सुधार किया जा सकेगा।

१० वर्ष के अन्दर ही हमने उन साधनों के वास्तविक मूल्य को देखना प्रारम्भ कर दिया है जो हमने तथा अन्य देशों ने विकास-कार्य प्रारम्भ करने के लिये विकासोन्मुख राष्ट्रों की अर्थ-व्यवस्थाओं में सहायता देने के लिए लगाये हैं। निरन्तर मिलने वाली ऐसी सहायता ने ग्रीक इज़रायल तथा स्वतन्त्र चीन जैसे कुछ नवोदित राष्ट्रों की आर्थिक स्थिति में इतना सुधार कर दिया है कि वे देश अब स्वयं अपना विकास-कार्य जारी रख सकते हैं। २०१३ के वर्ष तक अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग का वास्त-विक लाभ अधिक पूर्ण स्पष्ट रूप में प्रकट हो जाना चाहिए।

यदि यह प्रयत्न विफल रहा, तो २०१३ का वर्ष वैसा प्रसन्नतादायक नहीं होगा जैसा वर्ष होने की हम आशा करते हैं। क्योंकि यदि विकासोन्मुख राष्ट्रों का विकास कार्य शक्तिशाली ढंग से एवं सफलतापूर्वक आगे नहीं बढ़ाया गया तो उस समय तक विकसित तथा अविकसित समाजों के मध्य बहुत ही अधिक अन्तर हो जायेगा।

हम यह कामना करते हैं कि २०१३ का संसार एक ऐसा संसार होगा, जिसमें सभी राष्ट्र में संस-दीय संस्थाएँ तथा उत्तरदायी सरकार द्वारा शासन का संचालन किया जायेगा। अमेरिका ने यह मालूम कर लिया है—जैसा कि अन्य देशों के लोग आगामी वर्षों में जान जायेंगे—कि वास्तविक चुनौती स्वतन्त्रता प्राप्त करना नहीं, बल्कि उसे बनाये रखना है। आगामी ५० वर्षों में इस बात की परख की जायेगी कि क्या नव स्वाधीनता प्राप्त राष्ट्रों में अपनी स्वाधीनता की रक्षा करने तथा व्यक्ति की स्वाधीनता, प्रतिष्ठा और समानता में सदैव निष्ठा रखने वाली परिपक्व, व्यावहारिक, स्थायी सरकार का विकास करके उसे सार्थक बनाने की योग्यता है। हम विशेष रूप से आशा करते हैं कि

व संस्थाएँ, जो बहुसंख्यकों की आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करने के लिए समस्त संसार में स्थापित की गयी हैं, अल्प-संख्यकों के अधिकारों की रक्षा करने में वैसे ही सफल होंगी।

हम आशा कर सकते हैं - हम विश्वास के, साथ आशा कर सकते हैं—कि अब से ५० वर्ष पश्चात् मनुष्य की सीमाएँ चन्द्रमा से भी आगे हमारी अपने नक्षत्र-मण्डल, सम्भवतः अन्तरिक्ष में स्थित आकाश-गंगा से भी आगे बढ़ जायेंगी। हम अन्तरिक्ष सम्बन्धी साहसिक कार्य के विषय में जानकारी प्राप्त करने की कामना कर रहे हैं और हम इस कार्य में सफलता प्राप्त कर लेंगे। किन्तु अन्तरिक्ष सम्बन्धी खोजबीन करने विषयक हमारी आकांक्षाओं का स्थान उन आकांक्षाओं की तुलना में सदैव गौण रहेगा, जो हम पृथ्वी पर जाति, धर्म, अथवा देश की परवाह न करके व्यक्ति के लिए अवसर के विस्तृत क्षेत्र खोलने के लिए कर रहे हैं। निकट भविष्य हमारे लिए कितना ही आशाप्रद क्यों न हो, दूर भविष्य हमारे लिए कुछ भी प्रस्तुत क्यों न करे—हम स्वयं सिद्ध सच्चाइयों के प्रति निष्ठावान् रहेंगे : कि सब मनुष्य समान उत्पन्न हुए हैं, कि उनके विधाता ने उन्हें कुछ अनपहरणीय अधिकार प्रदान किये हैं और इन अधिकारों में जीवन, स्वतन्त्रता तथा प्रसन्नता की खोज सम्मिलित हैं।

●●

विज्ञान वार्ता

१. संकेत ग्रहण करने वाला एण्टेना

कन्कार्ड, मैसाचूसेट्स, में वैज्ञानिक एक ऐसे राडार-रेडियो दूरवीक्षण एण्टेना (संग्राहक-सम्प्रेषक उपकरण) निर्माण का आयोजन कर रहे हैं, जो चन्द्र-यात्रा करने वाले अपोलो योजना के अंतरिक्ष-यात्रियों द्वारा संचालित नन्हे रेडियो से सम्प्रेषित संकेत ग्रहण करने में समर्थ होगा। अमेरिकी वायु सेना की ओर से उसके स्ट्रावेरी हिल केन्द्र से कुछ और भी छोटे एण्टेना उपकरणों के सम्बन्ध में अनुसन्धान हो रहा है, जिनके द्वारा भू-उपग्रहों और अन्य अंतरिक्ष-यानों की टोह ली जायगी।

एण्टेना सम्बन्धी योजना डा० एलेन सी० स्वेल नामक एक नागरिक वैज्ञानिक की अध्यक्षता में संचालित है। उन्हें इस कार्य में मैसाचूसेट्स इन्स्टिट्यूट औव् टैक्नोलौजी के डा० एल० जे० चू और अन्य विशेषज्ञों से सहायता मिल रही है। उनका नवीनतम उपकरण एक रेडियो-राडार एण्टेना है, जो एक लम्बवत खड़े नलों से सम्बद्ध प्लेटिनम के २२० वर्गाकार प्लेटों से निर्मित है।

प्लेटों को ७० फुट चौड़े और १२० फुट लम्बे अण्डाकार ढाँचे के रूप में क्रम से जोड़ा गया है। जहां परम्परागत एण्टेना एकाकी उपकरण के रूप में संचालित होता है, वहां इस यंत्र के अंतर्गत ५ फुट लम्बे प्रत्येक प्लेट को लम्बाकार से लेकर ४५ अंश तक इच्छानुसार किसी भी दिशा में स्थापित किया जा सकता है।

इस समय सबसे बड़ा तश्तरीनुमा रेडियो दूरवीक्षण यंत्र वेस्ट वर्जिनिया की नेशनल रेडियो आव्जर्वेटरी में लगा है। उसका व्यास ३०० फुट है। इसी प्रकार संसार का सबसे बड़ा तश्तरीनुमा स्थिर एण्टेना एरेसिवो, प्वेर्टोरिको, में अमेरिकी

वायुसेना और न्यूयार्क के कोर्नेल विश्वविद्यालय द्वारा निर्मित हो रहा है। यह १००० फुट व्यास का कोठरीनुमा एण्टेना है, जिसे भूमि पर स्थापित किया गया है और जिसके सिरे पर एक सचल भा-प्रेषक यंत्र लगा है। किन्तु अनुमानतः ये दोनों एण्टेना भी सौर प्रणाली की खोज करने वाले दूरस्थ अंतरिक्ष-यानों की सही-सही टोह लेने में असमर्थ होंगे। यह भी निश्चित है कि भूमि पर इस प्रकार के इनसे बड़े एण्टेना का निर्माण अव्यावहारिक होगा। अतः अंतरिक्ष की गहराइयों में अधिक दूरी तक खोज करने के लिए नये विद्युदणु-यंत्रों का निर्माण करना आवश्यक है।

यदि यह एण्टेना सफल रहा, तो अमेरिकी अंतरिक्ष यात्रियों को अपने अपोलो अंतरिक्ष-यान पर, जो अनुमानतः १९७० तक चन्द्र तल पर उतरेगा भारी और बड़े आकार वाले सम्प्रेषक-यंत्र नहीं ले जाने पड़ेंगे। इसके बजाय, वे अपने साथ वहनीय संचार-उपकरण ले जायेंगे, जो उनके परिधान में लगा होगा।

२. पकी गोभी की पहचान

कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के डेविस कैम्पस के कृषि-इंजीनियरों ने एक ऐसे यंत्र का निर्माण किया है, जो चुकन्दर और गोभी के फूलों के आकार और उनकी कठोरता को पहचान कर यह 'अनुभव' कर सकेगा कि उनमें से कौन कौन से पक गये हैं। इस प्रकार, पकी गोभियों के फूलों की पहचान करके वह उन्हें अपने आप तोड़ लेगा और फिर बाजार में विक्रय के लिए भेज देगा। प्रयोग के लिए नमूने के तौर पर निर्मित पहले यंत्र का परीक्षण पहली बार सॉलीनास, कैलिफोर्निया, में चुकन्दर के एक बड़े खेत में किया गया। उसने पके और कड़े चुकन्दरों को पहचान लिया और उन्हें फसल की पंक्ति में से काट कर अलग कर दिया।

यह प्राथमिक यंत्र यांत्रिक और विद्युदाणविक विधियों का संयुक्त रूप से प्रयोग करता है। यह एक बार में केवल एक-पंक्ति की ही कटाई करता है, किन्तु इसका आविष्कार करने वाले इंजीनियर एक ऐसा नमूना बना रहे हैं, जो एक साथ ४ या अधिक पंक्तियों की कटाई कर सकेगा। इस यंत्र के मूल भाग ३ हैं। वे हैं–(१) पहचान करने वाला भाग, जो चुकंदर के सिरों पर से होकर गुजरता है और उन्हें दबा कर यह पता लगाता है कि वे पक गये हैं या नहीं। यदि चुकन्दर का सिरा कड़ा होता है, तो वह कटाई के लिये तैयार होता है (२) सूचक भाग, जो संकेत लेकर अगले क्षण काटने वाले भाग को संचालित कर देता है (३) कटाई करने वाला भाग, जो पंक्ति में आगे बढ़ कर पके चुकन्दर या गोभी के सिरे को काट लेता है और ऊपर एक डलिया में उसे पहुँचा देता है।

३. मानवीय चयापचय में मैगनेशियम

मानवीय चयापचय प्रणाली के अंतर्गत मैगनेशियम धातु के महत्व के विषय में हाल में जो जानकारियाँ प्राप्त हुई हैं, उनसे प्रेरित होकर अमेरिकी कृषि विभाग के पोषक तत्व-विशेषज्ञों ने एक विशेष अनुसन्धान किया है।

उनके अनुसन्धान से यह पता चलता है कि मैगनेशियम की प्रमुख जैविक भूमिका यह है कि यह अनेक महत्वपूर्ण 'एन्जाइमों' को सक्रिय बना देता है। इन एन्जाइमों का सम्बन्ध पेशियों की क्रिया, स्नायविक संचार, ग्लूकोज के उपयोग और प्रोटीन, चर्बी, कार्बोहाइड्रेट और न्यूक्लिइक एसिड के के समन्वय से होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य जितना प्रोटीन भोजन के साथ प्राप्त करता है, उसका सम्बन्ध उसकी मैगनेशियम सम्बन्धी आवश्यकता से होता है, क्योंकि जैसे-जैसे भोजन में प्रोटीन की मात्रा बढ़ती जाती है, वैसे-ही-वैसे मैगनेशियम की आवश्यकता भी बढ़ती जाती है। इस सम्बन्ध के आधार पर अनुसन्धानकर्ताओं ने मनुष्य के लिए मैगनेशियम की दैनिक आवश्यकता (अमेरिका में ग्रहण किये गये औसत प्रोटीन की मात्रा के

आधार पर) इस प्रकार निर्धारित की है–१० वर्ष की आयु तक के बच्चों के लिए, १५० मिलीग्राम; कुमारावस्था के लिए, २५०--३०० मिलीग्राम; प्रौढ़ महिलाओं के लिए, ३०० मिलीग्राम; युवा पुरुषों के लिए, ४०० मिलीग्राम ।

४. रसायनिक उर्वरकों का एक और कारखाना:—

संयुक्त राज्य अमेरिका के राजदूत श्री चेस्टर बाउल्स ने गत २५ सितम्बर को कलकत्ता में यह घोषणा की है कि विजगापट्टम में एक उर्वरक कारखाने के निर्माण हेतु अमेरिकी सरकार २१.२ करोड़ रुपये का कर्ज दे रही है। यह कर्ज **कोरोमन्डेल फर्टीलाइज़र लिमिटेड** को दिया जायगा। यह नई कम्पनी केन्द्रीय सरकार की अनुमति से एक अमेरिकी कंस्टोरियम द्वारा स्थापित की जायेगी। कारखाने से प्रतिवर्ष ३६५,००० टन **अमोनियम फास्फेट** तथा १६,५०० टन **यूरिया खाद** का उत्पादन किया जायगा।

५. नहर-तल को पक्का करने की नई विधि:—

जलाभाव वाले जिन क्षेत्रों को अपने अधिकांश उत्पादन के लिए सिंचाई पर निर्भर रहना पड़ता है, वे सिंचाई की नहरों में जल के रिसने से होने वाली जल सम्बन्धी क्षति को रोकने के लिए तेल पर अधिकाधिक निर्भर कर सकते हैं। रिचमण्ड (कैलिफोर्निया) स्थित कैलिफोर्निया रिसर्च कार्पोरेशन ने एक ऐसी विधि का विकास किया है, जिसके अन्तर्गत ऐसा धरातल बनाने के लिए पतले पैट्रौलियम द्रवों का प्रयोग किया जाता है, जिसमें से जल रिस न सके। इस प्रकार जल रिसने की समस्या को बहुत कुछ हल किया जा सकता है।

अमेरिका की विस्तृत सिंचाई-व्यवस्था के अन्तर्गत प्रतिवर्ष पर्वतीय घाटियों में १० करोड़ एकड़ फुट जल संचित करके बांधों द्वारा निर्मित विशाल जलागारों में सुरक्षित कर दिया जाता है। इस प्रकार एकत्र किए गए जल को १,५०,००० मील लम्बी नहरों आदि के द्वारा किसानों में वितरित करने पर प्रतिवर्ष २० करोड़ डालर तक खर्च बैठता है। ३ करोड़ ५० लाख एकड़ कृषि भूमि में ३ अरब डालर के मूल्य की कृषि वस्तुएं उत्पन्न करने के लिए यह जल प्रयोग में लाया जाता है।

बड़े-बड़े बांधों तथा जलागारों में संचित अधिकांश जल दूरवर्ती क्षेत्रों में पहुँचाये जाने पर कभी भी उस कार्य की पूर्ति नहीं करता है जिसकी कि उससे आशा की जाती है। २० से ४० प्रतिशत तक जल मार्ग में ही नष्ट हो जाता है। इसका अधिकांश भाग नहरों में रिस-रिस कर नष्ट हो जाता है। इन क्षतियों के फलस्वरूप सिंचाई के कार्य पर बहुत व्यय होता है। नई विधि द्वारा जल के रिसने से होने वाली क्षति को रोक कर पहले से बहुत अधिक कृषि भूमि की सिंचाई की जा सकती है और इस प्रकार अधिक मात्रा में खाद्य सामग्री तथा अन्य वस्तुएँ उत्पन्न की जा सकती हैं।

अमेरिका में तथा कुछ अन्य देशों में सिंचाई की कुछ बड़ी-बड़ी नहरों के तल प्रदेश को कंकरीट, एस्फाल्ट-कंकरीट, आदि से पक्का कर दिया गया है, अथवा उनके तल में प्लास्टिक की चादरें बिछा दी जाती हैं। किन्तु, ये पदार्थ इतने मंहगे होते हैं कि लागत की दृष्टि से नहर-प्रणाली के १० प्रतिशत से अधिक भाग में उनका उपयोग आर्थिक दृष्टि से उचित अथवा लाभजनक नहीं हो सकता। फिर भी, जैसे-जैसे संसार में जल का मूल्य अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है, वैसे-वैसे नहरों के तल को सस्ती लागत पर पक्का करना और भी आवश्यक होता जा रहा है।

६. चीड़-पाइन वृक्ष से रेजिन उत्पादन

उत्तर प्रदेश के उत्तरी पहाड़ी क्षेत्रों में चीड़, साल, कांजु और खैर के सघन बन सभी का ध्यान आकर्षित कर लेते हैं। देहरादून से ऋषिकेश जाने वाली सड़क के दोनों ओर चीड़ के ऊँचे-ऊँचे सीधे और मोटे पौधे बहुत ही सुन्दर लगते हैं। इन्हीं पौधों से ही रेजिन का उत्पादन किया जा रहा है। हमारे देश में चीड़ के पौधे समुद्रतल से ३,००० से ६,००० फीट की ऊँचाई पर सफलता से पनप सकते हैं। भारतीय चीड़ वृक्ष, विश्व से अन्य क्षेत्रों में पाये जाने वाले चीड़-वृक्षों से भिन्न होते हैं। ग्रीक, फ्रांस, अमेरिका जैसे देशों में तो यह वृक्ष समतल भूमि पर ही सुगमता से उगता है।

ज्योंही ताप गिरता है ये वन पनपने लगते हैं और इन्हीं वृक्षों से रेजिन को गाढ़े चिपकदार दूध के रूप में निकालकर टीन के बड़े-बड़े बर्तनों में एकत्रित कर लिया जाता है। हरद्वार, ऋषिकेश, काठगोदाम, गढ़वाल आदि जिलों के विभिन्न क्षेत्रों से एकत्रित इस पदार्थ को टरपेनटाइन एण्ड रीजिन कं० लि० बरेली को भेज दिया जाता है। प्रति वर्ष लगभग ३,००,००० मन रेजिन इस कम्पनी द्वारा खरीदा जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ रेजिन कोआपरेटिव कम्पनियाँ भी खरीदती हैं। बरेली कम्पनी इसे ३४ रुपया मन की दर के खरीदती है।

इस रेजिन को तमाम भौतिको-रसायनिक क्रियाओं के पश्चात् बहुमूल्य टरपेनटाइन (तारपीन) रेजिन के रूप में परिवर्तित कर लिया जाता है जिससे अच्छे किस्म के कागज, पेन्ट तथा वार्निश का उत्पादन किया जाता है। अभी हाल ही में बरेली के कलत्तरबकगंज में रेजिन से कैम्फर (कपूर) के उत्पादन के लिए एक कारखाने का कार्य आरम्भ किया गया है। टरपेनटाइन कम्पनी से रेजिन (कच्चा माल) पृथ्वी के अन्दर से नालियों द्वारा यहाँ तक पहुँचाया जायेगा और यही रोजिन कैम्फर उत्पादन में प्रयुक्त होगी। कैम्फर (कपूर) की प्राप्ति के उपरान्त बचे अवशेषों का पुनः उपयोग करने के लिए एक अमेरिकी रसायनशास्त्री की संरक्षता में शोध कार्य किया जा रहा है।

वनों पर आश्रित इस उद्योग से देश में कुल उत्पादित रेजिन का ५५% भाग उत्तर प्रदेश के इसी रोजिन कारखाने द्वारा निर्मित किया जा रहा है। अन्य प्रान्तों (काश्मीर, हिमाचल प्रदेश, और पंजाब) की अपेक्षा उत्तर प्रदेश में कलत्तरबकगंज कारखाना सबसे बड़ा है। यह कारखाना १६१६ में प्रारम्भ किया गया था और १६५० ई० में उत्तर प्रदेश सरकार की ओर से इसे अनुमति तथा आर्थिक सहायता प्रदान की गई थी। आजकल कारखाने का उत्पादन अधिकतम उत्पादन क्षमता पर है और उत्पादन में पुनः वृद्धि के लिए निरन्तर प्रयत्न किये जा रहे हैं।

७. नया रेडियो प्रसारण यन्त्र

अभी हाल ही में अमेरिकी वायुसेना विभाग से यह घोषणा हुई है कि उसके वैज्ञानिकों ने एक रेडियो प्रसारण यंत्र की खोज की है जिसकी लम्बाई सिगरेट के आधे भाग के बराबर है। इस यंत्र को निगल लेने पर मानव शरीर के अंगों के कार्य-कलापों की सूचनायें मिलेंगी।

इस यंत्र की लम्बाई ३½ सेंटीमीटर है। इसमें एक ट्रांजिस्टर, एक छोटा कण्डेंसर तथा एक बैटरी है। इस रेडियो के द्वारा मानवीय अंगों के कार्य-कलापों का ज्ञान सुगमता से हो सकेगा और चिकित्सा के क्षेत्र में अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध होगा।

८. नए एण्टीमैटर कण की खोज

अमेरिकी वैज्ञानिकों ने अणु न्यष्टि से एक और नया कण पृथक कर लिया है। एण्टीमैटर एक ऐसा क्षणभंगुर विद्युत प्रभावरहित पदार्थ है

जिसका अस्तित्व १ सैकिण्ड के १० वें अरब हिस्से के बराबर रहता है। यह 'एण्टी-११-जीरो' के नाम से पुकारा जाता है।

यह कण इतना दुर्लभ है कि वैज्ञानिकों को इसका पता अनायास नहीं लगा है। क्योंकि, सिद्धान्त द्वारा इसके अस्तित्व का अनुमान लगा लिया गया था, इसलिए वैज्ञानिकों ने इसको पृथक् करने के लिए संसार के अत्यन्त शक्ति-शाली अणु-भंजक यंत्र की सहायता से अनेक व्यापक परीक्षण किये।

येल विश्वविद्यालय तथा ब्रुकहैवन (न्यूयार्क) नेशनल लेबोरेटरी के वैज्ञानिकों के एक दल द्वारा इसकी खोज की गयी। उन्होंने "फिजिकल रिव्यू लैटर्स" के १५ अगस्त के अंक में अपने अनुसन्धान-कार्य की सूचना दी। 'एण्टीमैटर' का निर्माण सामान्य पदार्थ के प्रतिरूप से हुआ है। उदाहरण के तौर पर, 'प्रोटॉनों' के बजाय एण्टी प्रोटॉन। विज्ञान के एक मूलभूत सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक ज्ञात मूल कण के लिए एक 'एण्टी-कण' अवश्य होना चाहिए।

परीक्षण के लिए, वैज्ञानिकों ने एण्टी-प्रोटॉन कणों के एक समूह को तीव्र गति से ब्रुक हैवन प्रयोगशाला स्थित अणु भंजक यन्त्र के वृहत् अण्डाकार पथ में घुमाया और फिर उनको एक 'बबुल चैम्बर' में प्रविष्ट कर दिया। यहाँ सामान्य प्रोटॉनों के साथ उनकी टक्कर हुई, और इसके फलस्वरूप उस में उनका मार्ग अंकित हो गया। ३ 'एण्टी-११-जीरो' कणों के उत्पादन को देखने के लिए वैज्ञानिकों को इन 'टक्करों' के ३,००,००० चित्र लेने पड़े थे। क्योंकि, यह नया पदार्थ विद्युत प्रभाव से रहित है, इस लिए यह न तो 'चैम्बर' में कोई मार्ग-रेखा और न कोई कण छोड़ता है। फिर भी क्षय के परिणामस्वरूप वह कुछ मार्ग-चिह्न छोड़ जाता है।

इस श्रृंखलाबद्ध प्रक्रिया से 'एण्टी-११-जीरो' के अस्तित्व का पता चल गया था।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद वैज्ञानिकों ने शक्ति-शाली 'एक्सिलिरेटर यन्त्रों' द्वारा जिन नए अणु तत्वों की खोज की है, उनमें यह 'नया कण' ३५ वां तत्व है। अमेरिका में आने वाले यूरोपीय वैज्ञानिकों की सहायता से अधिकांश कार्य अमेरिका में सम्पन्न किया गया है।

९. ब्लूबेरी की फसल में वृद्धि

पहले ब्लूबेरी की झाड़ियों में बहुत ही कम फल लगते थे। किन्तु अब न्यू ब्रन्सविक, न्यूजर्सी, के रटगर्स विश्वविद्यालय के दो वैज्ञानिकों द्वारा किये गये अनुसन्धान के फलस्वरूप वे प्रचुर मात्रा में फल उत्पन्न करने लगी हैं।

विश्वविद्यालय के कृषि कालेज के मधुमक्खी विशेषज्ञ, राबर्ट एस० फिल्मर और फिलिप ई० मारुस्सी, ने कठिन पर्यवेक्षण के बाद यह खोज की है कि मक्खियाँ वस्तुतः उन झाड़ियों की ओर ध्यान नहीं देतीं जिनका पराग-उत्पादन बहुत कम होता है। वैज्ञानिकों ने कम पराग उत्पन्न करने वाली झाड़ियों के ऊपर जालीदार पिंजड़े लगा दिये और इस प्रकार मधुमक्खियों को पकड़ कर उन्हें ब्लूबेरी की कलियों पर पराग छिड़कने के लिए बाध्य किया। फलस्वरूप ब्लूबेरी की फसल बहुत बढ़ गयी।

वैज्ञानिकों ने कहा कि उनकी विधि प्रतिदिन के नियमित प्रयोग की दृष्टि से अव्यवहार्य है। किन्तु उन्होंने सलाह दी कि पौध-उत्पादक अधिकाधिक संख्या में होने पर मधुमक्खियाँ पालें, ताकि उनके लिए उपलब्ध पुष्प रस कम पड़ जाये। ऐसा होने पर उनमें पराग के लिए होड़ लग जायेगी और वे उन झाड़ियों पर भी बैठने लगेंगी, जो पहले उनके द्वारा उपेक्षित थीं। बहुत से फल-उत्पादक भ्रमवश यह समझ

बैठे थे कि ब्लूबेरी की फसल पाला, मिट्टी की खराबी आदि के कारण कम होती है।

१०. तैराकी के जलाशयों की सफाई के लिए आयोडीन

कैलिफोर्निया के स्टैनफोर्ड विश्वविद्यालय में हाल में किये गये एक अध्ययन से यह पता चला है कि जब क्लोरीन के बजाय आयोडिन से जलाशय के पानी को शुद्ध किया जाता है, तो उसमें तैरने वाले तैराकों की आँखों में कम जलन होती है। बाहर के तीन तैराकी-जलाशयों में किये गये परीक्षणों से भी पता चला है कि आयोडीन एक सुरक्षित और प्रभावकारी रोग-निरोधक है।

परीक्षणों के दौरान पानी में कीटाणुओं की संख्या स्वीकार-सीमा के भीतर ही थी। ३० तैराकों के रक्त और मूत्र की जाँच करने से पता चला कि उनमें निहित आयोडीन की मात्रा में कोई विशेष परिवर्तन नहीं था। यह भी देखा गया कि तैराकों के शरीर के भीतर श्वास के साथ, पानी की घूंट के साथ अथवा शरीर के रन्ध्रों द्वारा इतना आयोडीन नहीं गया जो हानिकारक हो।

कुछ तैराकों की आँखों में क्लोरीन से जलन उत्पन्न हो जाती थी, किन्तु आयोडीन सम्बन्धी परीक्षण में उन्हें इस तरह की शिकायत नहीं रही।

इस अनुसन्धान का निर्देशन स्वास्थ्य-शिक्षा विभाग के अध्यक्ष, डा० ओलिवर ई० बायर्ड ने, तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य एवं सुरक्षा के निदेशक, डब्ल्यू० विल्सन ने किया।

सम्पादकीय

वैज्ञानिक प्रगति और गत्यवरोध

यह आम धारणा है कि विगत १६ वर्षों में भारत में सन्तोषजनक वैज्ञानिक प्रगति नहीं हो पाई। यह धारणा तब और पुष्ट होती दीखती है जब हम अपने देश की वैज्ञानिक प्रगति की तुलना अन्य राष्ट्रों से करते हैं। आज सामान्य से सामान्य नागरिक की यही विचारधारा है कि हमारे देश में वैज्ञानिक क्षेत्र में भी, अन्य क्षेत्रों की भाँति गत्यवरोध है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक क्षेत्र में राजनीतिक दबाव कार्यशील है अतः राजनीति के जितने अवगुण हैं वे एक-एक कर वैज्ञानिक प्रगति में बाधक बन रहे हैं। स्पष्टीकरण के लिए हम राष्ट्रीय अनुसंधानशालाओं का उदाहरण ले सकते हैं। इससे अधिक लज्जा की बात और क्या हो सकती है कि गत साइंस कांग्रेस अधिवेशन के समय हमारे प्रधान मन्त्री ने प्रशंसा करने के बजाय यह खेद प्रकट किया कि वैज्ञानिक जन भी राजनीतिज्ञों से प्रभावित हो रहे हैं। उनके ऐसा कहने का उद्देश्य यही था कि जहाँ विज्ञान के क्षेत्र को सच्ची मान्यताओं पर आधारित होना चाहिए था, वहाँ नीति (छल, कपट) का आश्रय लिया जा रहा है।

वैज्ञानिक प्रगति से हमारा तात्पर्य है देश में विज्ञान के विविध क्षेत्रों में उन्नति का होना। यह उन्नति देश में ही वैज्ञानिकों को जन्म देकर उनकी प्रतिभाओं को उपयोगी दिशा में लगाने में निहित है किन्तु हम यह देखते हैं कि आये दिन हमारे देश के योग्य वैज्ञानिक विदेशों को प्रस्थान करते रहते हैं और उनमें से कम ही लौटकर स्वदेश में कार्य करते हैं। जो लोग लौटकर कार्य भी करना चाहते हैं उनके मार्ग में रोड़े अटकाये जाते हैं। वस्तुतः यही गत्यवरोध है। इस गत्यवरोध के लिए पूर्णतः नहीं तो अधिकांशतः हमारी राष्ट्रीय सरकार उत्तरदायी है। वयस्क प्रतिभाशाली वैज्ञानिकों को प्रायः प्रोत्साहन मिलने के बजाय राजनीति का शिकार बनकर अपने महदुद्देश्यों की बलि कर देनी पड़ती है। अन्यथा यदि हमारे देश के लोग यह समझें कि राष्ट्र कल्याण सर्वोपरि है जिसमें व्यक्तिगत स्वार्थ को कोई स्थान नहीं, तो देश में वैज्ञानिक प्रगति दिन-दूनी रात चौगुनी हो जाय।

हमारे देश के वैज्ञानिक भी इस बात के लिए प्रयत्नशील हैं कि देश आगे बढ़े। वे अधिक से अधिक त्याग भी करना चाहते हैं किन्तु कब ? तब जब कि वे अपनी इच्छानुसार आगे बढ़ने पावें। उनके मार्ग में कोई व्यवधान न उत्पन्न किया जाय।

चारों ओर के वातावरण को देखते हुए आवश्यकता है कि वर्तमान गत्यवरोध को दूर करने के लिए जो भी उपाय करने पड़ें, वे किये जायँ और वैज्ञानिक भी जैसे भी सम्भव हो वैज्ञानिक क्षेत्र में अन्य राष्ट्रों की समता प्राप्त करें। इसके लिए उन्हें जितना भी श्रम, त्याग या बलिदान करना पड़े, उसके लिए वे कटिबद्ध रहें।

यदि राष्ट्र को जीवित रहना है तो विज्ञान एवं वैज्ञानिकों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उनके बिना सभी प्रकार की योजनाएँ निष्फल एवं निष्प्राण रहेंगी।

एक और कड़ी :: मिर्ज़ापुर का चोपन पुल

यह अपने प्रकार का एशिया का सबसे बड़ा और पहला पुल है।

मिर्जापुर के पिछड़े हुए दक्षिणी क्षेत्र को उत्तर प्रदेश का औद्योगिक भन्डार बनाने का श्रेय इसी पुल को है।

यह पुल ३,३०० फुट लम्बा है। इसके निर्माण में ४७ लाख रु० व्यय हुए हैं। इसके निर्माण हेतु ५०० मजदूरों व इंजीनियरों ने २ वर्ष तक लगातार काम किया है।
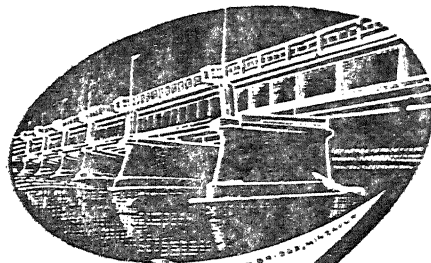
छोटी से छोटी रकम का स्वागत है!

योजना की सफलता के लिए धन और साधन जुटाइए।
राष्ट्रीय बचत में अपना धन लगाइए।

उत्पादन बढ़ाइए और बचाइए • बचत का धन निर्माण में लगाइए!

१९६३ स्वामी हरिशरणानन्द विज्ञान पुरस्कार

विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद, १९६३ स्वामी हरिशरणानन्द विज्ञान पुरस्कार के हेतु हिन्दी भाषा में निम्न विषयों पर प्रकाशित पुस्तकें आमंत्रित करता है :—

१—उच्चतर विज्ञान साहित्य	दो सहस्र रुपये
२—जनोपयोगी विज्ञान साहित्य	एक सहस्र रुपये
३—बालोपयोगी विज्ञान साहित्य	पांच सौ रुपया

पुस्तकें **१५ नवम्बर, १९६३** तक परिषद् के कार्यालय में पहुँच जाना चाहिये।

१ जनवरी, १९६१ के पश्चात् की प्रकाशित पुस्तकों पर ही विचार होगा।

पुरस्कार नियमावली आदि के लिए, मन्त्री, विज्ञान परिषद्, थार्नहिल रोड, इलाहाबाद–२ को लिखें।

भाग ९८
संख्या ३
अग्रहायण
२०२० वि०
दिसम्बर १९६३

विज्ञान परिषद् प्रयाग का मुख पत्र

सम्पादक—डॉ० शिवगोपाल मिश्र

प्रति अंक ४० न. पै.
वार्षिक ४ रुपये
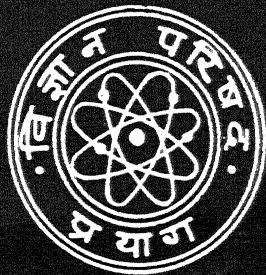
विज्ञान परिषद, प्रयाग

विज्ञान परिषद् अनुसन्धान-पत्रिका

वैज्ञानिक अनुसन्धान से सम्बन्धित हिन्दी की प्रथम शोध पत्रिका

(त्रैमासिक)

जिसमें गणित, भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र, प्राणि शास्त्र, वनस्पति शास्त्र तथा भूगोल शास्त्र पर मौलिक एवं शोधपूर्ण निबन्ध प्रकाशित होते हैं। भारतवर्ष की विविध प्रयोगशालाओं के उत्कृष्ट निबन्धों को इसमें स्थान दिया जाता है।

विश्व की सभी प्रमुख वैज्ञानिक संस्थाओं, पुस्तकालयों तथा विश्वविद्यालयों द्वारा यह पत्रिका समादृत है।

सामान्य सदस्यों के लिए वार्षिक शुल्क ८ रु०। 'विज्ञान' के सभ्य ४ रु० अतिरिक्त वार्षिक शुल्क देकर अनुसन्धान पत्रिका प्राप्त कर सकते हैं। यह पत्रिका अभी त्रैमासिक है किन्तु भविष्य में द्वैमासिक होने की सम्भावना है।

प्रधान सम्पादक— डा० सत्य प्रकाश

प्रबन्ध सम्पादक—डा० शिवगोपाल मिश्र

भेजने का पता

विज्ञान परिषद् अनुसन्धा नपत्रिका,

विज्ञान परिषद्,

थार्नहिल रोड,

इलाहाबाद—२

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुखपत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ।३।५।

भाग ९८ | अग्रहायण २०२० विक्र०, १८८५ शक दिसम्बर १९६३ | संख्या ३

कीटाणु-जगत्

डा० सत्यप्रकाश

हमारी इस पृथ्वी पर मनुष्यों की जनसंख्या दो अरब के लगभग है, और यह जनसंख्या प्रतिवर्ष २-४ प्रतिशत बढ़ती ही जा रही है। हम घबरा उठे हैं कि यदि इसी गति से वृद्धि होती रही तो २०० वर्षों में ही इतने मनुष्य हो जायँगे जिनके खाने के लिए धरती पर भोजन कहाँ से आवेगा। पर इस धरती पर इतने नन्हें-नन्हें से प्राणी भी हैं, जिन्हें हम आँखों से देख नहीं सकते। धरती पर आप पैर रखते हैं, एक पैर के नीचे ही जितने जीवाणु या कीटाणु हैं, उनकी संख्या धरती की जनसंख्या से कहीं अधिक है।

कीटाणुओं की अपनी नयी दुनिया है। एक दुनिया ही नहीं, इसी धरती और आकाश में इनकी अनेक दुनिया हैं। कीटाणुओं से हमारा अभिप्राय उन सभी छोटे-छोटे जीवों से है, जिनमें से कम ही आँखों से देखे जा सकते हैं, और जिनके देखने के लिए वैज्ञानिकों ने सूक्ष्मदर्शक यंत्रों का सहारा लिया है। कीटाणुओं की अपेक्षा स्थूल जीव कृमि हैं। जब तक हमारे पास सूक्ष्मदर्शी न थे, हम इन कृमियों का ही परिचय प्राप्त करते रहे। हमारा पहला परिचय उन रोगोत्पादक सूक्ष्म कृमियों से हुआ जो आँखों से दृश्यमान थे, ये नन्हें-नन्हें साँप के समान रेंगने वाले जीव थे, इसीलिए इन्हें भी सर्प कहा गया। ये पृथ्वी पर भी थे और अन्तरिक्ष में भी। इन्हीं कृमियों को संबोधन करते हुए यजुर्वेद में कहा गया—'नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु। ये अन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यः नमः।' अथर्ववेद में इन कृमियों को नाश करने वाली औषधियों का उल्लेख आया—ये कृमि रक्त और मांस को दूषित करने वाले थे। ये सिर में, आन्त्र में, पीठ में सभी जगह उत्पन्न होकर पीड़ा पहुँचाया करते थे। अथर्ववेद में कहा है कि ये कृमि नाना मार्गों में पहुँचने वाले हैं। पर्वतादि में जो कृमि हैं वे हमारे शरीर में व्रण-मुख से या अन्न-पान आदि द्वारा प्रविष्ट हो जाते हैं। अथर्ववेद

में इस बात का भी उल्लेख है कि सूर्य अपनी किरणों से इन कृमियों को मारा करता है। कृमि मनुष्यों के शरीर में ही नहीं, पशुओं—विशेषतया गायों—के शरीर में प्रविष्ट हो जाया करते हैं। उनके मारने का भी उल्लेख अथर्ववेद में है।

वैदिक काल के कवियों ने इन कृमियों की आकृतियों का भी अध्ययन किया। इनके परिवर्तित होने वाले नाना-रूपों का भी उन्होंने परिचय प्राप्त किया। इनके छोटे-छोटे पैर और मुखों को भी इन्होंने पहिचाना। इनके मुखों से जो शोर होता है (जैसे मच्छरों की ध्वनि) उसके कारण इन्हें गर्दभनादी कहा। औषधियों की गन्ध से इन्हें नष्ट करने का प्रयास किया। होम आदि कृत्यों में सुगन्ध द्रव्यों के प्रयोग की प्रथा इसी अभिप्राय से चली।

वैदिक काल के बाद आगे आने वाले युगों में रोग निदान और उपचार की परम्परा वात-कफ़-पित्त नामक त्रिदोष के आधार पर आगे बढ़ी, जिसने कृमियों के अध्ययन के महत्त्व को कम कर दिया। भारतवर्ष से बाहर भी कृमिविज्ञान की ओर लोगों का ध्यान कम गया। सन् १६८० में उच्च वैज्ञानिक लोवेन हौक (Lowenhoek) ने सूक्ष्मदर्शी यंत्र या खुर्दबीन के लेन्स बनाने में ख्याति प्राप्त की और उसने अपने अच्छे लेन्सों द्वारा लार-ग्रन्थि से निकली लार में अनेक नन्हें-नन्हें जीवों को इतिहास में पहली बार देखा। लोवेनहौक के इस अनुभव के प्रति १६वीं सदी से पूर्व किसी का ध्यान भी न गया। लोग उसके प्रयोग को भूल ही गये। सन् १८३५ में श्वान Schwann) और श्लाइडेन (Schleiden) ने यह प्रदर्शित किया कि समस्त प्राणि जीवन छोटी-छोटी कोशाओं से मिल कर बना है। कोशाओं वाले सिद्धान्त ने कीटाणुओं के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त कर रक्खा था। इसी समय जगत् विख्यात रसायनज्ञ पास्ट्यूर (Pasteur) ने जीवरसायन सम्बन्धी अपने प्रयोग आरम्भ किए जिसने जगत् में एक नयी क्रान्ति उत्पन्न कर दी। उस समय मनोरंजक विवाद इस विषय पर प्रारम्भ हुआ कि क्या जड़ पदार्थों से चेतन कृमियों या कीटाणुओं की उत्पत्ति हो सकती है। पास्ट्यूर ने यह दिखा दिया कि ऐसा नहीं हो सकता। अपने प्रयोगों द्वारा उसने यह दिखाया कि ये चेतन जीवाणु पानी और हवा दोनों में बिखरे हुए हैं। अगर पानी को अच्छी तरह उबाल लिया जाय और उसके कीटाणु उबाल कर नष्ट कर दिए जायँ और फिर इस पानी को बाहर की हवा से अलग रक्खा जाय तो फिर कितनी भी खाद्य सामग्री क्यों न हो, उसमें जीवित पिंड उत्पन्न नहीं हो सकते। पास्ट्यूर को इन प्रयोगों से यह बात भी सूझी कि अगर बाहर हवा के कीटाणुओं से रक्षा की जाय, तो घाव भी विकृत होने से बचे रह सकते हैं। पास्ट्यूर ने बोतल में पानी उबाला और बोतल के भीतर की हवा के भी कीटाणु पानी की गरम भाप द्वारा मार दिए। बोतल के मुँह को रुई से बन्द कर दिया। पास्ट्यूर ने देखा कि अब बोतल के पानी में चेतन पिंड उत्पन्न नहीं हो रहे हैं, पर जैसे ही बोतल के बाहर की साधारण हवा थोड़ी सी भी उस बोतल में प्रविष्ट करायी, बोतल के पानी में चेतन पिंड विकसित होने लगे। पास्ट्यूर ने स्पष्ट प्रदर्शित कर दिया कि हमारे चारों ओर की हवा में काफी छोटे-छोटे कीटाणु हैं जो उचित खाद्यसामग्री की विद्यमानता में चेतन पिंडों की वृद्धि कर सकते हैं। पास्ट्यूर ने शक्कर के विलयनों में यीस्ट या खमीर के कीटाणुओं को बढ़ते हुए देखा। पौधे से निकले यीस्ट की ओर सबसे पहले १८३६ ई० में कैगनियार्ड लाटूर (Cagniard Latour) ने ध्यान आकर्षित कराया था। पास्ट्यूर ने स्पष्ट दिखा दिया कि शक्कर से जो शराब या ऐलकोहल बनता है वह कीटाणुओं के कारण ही है। ये कीटाणु कभी कभी तो हवा में ही विद्यमान रहते हैं। आपके लिए यह आज कल्पना करना भी कठिन है कि हवा में कितने अधिक, असंख्य छोटे-छोटे कीटाणु विद्यमान हैं, और इनका हमारे शरीर पर निरन्तर आक्रमण होता रहता है।

पास्ट्यूर ने सबसे पहले प्रयोग दूषित व्रणों में से निकले पीवों पर किया। घाव में जो सफेद-सा पीव पड़ जाता है, उसकी जांच पास्ट्यूर ने अपने लेन्सों से की। उसने देखा कि पीव में लाखों छोटे-छोटे कीटाणु हैं, जो चेतनतापूर्वक गतिमान हैं, तार की नोक से उठाकर यदि इन कीटाणुओं में कुछ को साफ घाव पर रख दिया जाय, तो उस घाव में पीव पड़ने लगता है, और धीरे-धीरे इन कीटाणुओं की संख्या बहुत बढ़ जाती है। १८५० ई० में डेवेन (Davaine) ने सबसे पहले पशुओं की एक बीमारी की परीक्षा की जिसे ऐन्थरेक्स कहा जाता है। ऐन्थरेक्स से पीड़ित पशु के मर जाने पर उसकी ठठरी में से अर्थात् अस्थि कंकाल में से पास्ट्यूर ने ऐन्थरेक्स-बेसिलस अर्थात् वह कीटाणु जिसके कारण यह बीमारी होती है, पृथक् करने में सफलता प्राप्त की। डेवेन ने यह कीटाणु दूसरे स्वस्थ पशुओं में भी सुई द्वारा प्रविष्ट कराया, और उसने यह देखा कि इन पशुओं को भी ऐन्थरेक्स की बीमारी हो गयी। अतः स्पष्ट होने लगा कि अनेक रोग ऐसे भी हैं, जो इन कीटाणुओं के कारण ही होते हैं।

पास्ट्यूर के प्रयोगों से प्रोत्साहित होकर लार्ड लिस्टर (Lister) ने अद्भुत प्रयोग करने आरंभ किए। लिस्टर स्काटलैण्ड के नगर एडिनबरा में शल्यचिकित्सक था, बाद को ग्लासगो में भी उसने काम किया। उसने कीटाणु-सिद्धान्त का प्रयोग अनेक रोगों में आरम्भ किया। उसने बताया कि यदि घावों को हवा के संक्रामक प्रभाव से अलग रक्खा जाय, तो घाव जल्दी अच्छे होते हैं, और खराब होने से बचे रहते हैं। कीटाणुओं से रक्षा कुछ रासायनिक द्रव्यों की सहायता से भी की जा सकती है। उसने देखा कि कार्बोलिक अम्ल में यह क्षमता है कि इन रोगोत्पादक जीवाणुओं को मार डाले।

कीटाणु-विज्ञान की प्रगति अब जोरों से बढ़ने लगी, लोगों ने कीटाणुओं की विस्तृत परीक्षा आरम्भ की और उन्हें अनेक वर्गों में वर्गीकृत किया। जो कीटाणु गोल प्राकृति के थे, उन्हें कोकस (Coccus) कहा। कुछ दण्डिकाओं के आकार के थे जिन्हें बेसिलस (Bacillas) कहा, और कुछ टेढ़े-मेढ़े सर्पिलाकार के थे जिन्हें स्पाइरिला (Spirilla) कहा। कीटाणु-विज्ञान में तब तक वस्तुतः विकास न हो सका, जब तक उन्हें रँगने की पद्धति ज्ञात न हुई। कार्ल वाइगर्ट (Weigert) नामक एक जर्मन वैज्ञानिक ने देखा कि ये कीटाणु एनिलिन रंगों द्वारा रंगीन बनाये जा सकते हैं। रँग जाने पर इन्हें सूक्ष्मदर्शी यन्त्रों द्वारा देखने में बड़ी सुविधा हो गयी।

रँगने की पद्धति का विकास होने पर कॉख (Koch) नाम वैज्ञानिक ने एक जाति के कीटाणुओं को दूसरी जाति के कीटाणुओं से पृथक् करने की पद्धति निकाली। उसने जिलेटिन के ठोस माध्यम पर कीटाणु वर्द्धन प्रारम्भ किया। तार की नोक से थोड़ा सा कीटाणु पहले बोया, जो पुञ्ज इस प्रकार पैदा हुआ, उसका कणमात्र अंश लेकर फिर आगे बोया, और इस क्रम को कई पुश्त चलाने पर शुद्ध कलचर उसने तैयार किया। कॉख का यह कार्य बड़े महत्व का था, और उसके बाद जीवाणु-विज्ञान की तेजी से वृद्धि होने लगी। कॉख ने बीमारियों से सम्बन्ध रखने वाले अनेक शुद्ध बैक्टीरियों को प्राप्त किया। सन् १८८२ में उसने यक्ष्मा या ट्यूबरकुलोसिस से सम्बन्ध रखने वाले कीटाणु को पृथक् किया। उसने स्पष्ट प्रदर्शित किया कि यक्ष्मा नामक अति प्राचीन रोग का मूल कारण यह ट्यूबरकिल बेसिलस ही है। एक वर्ष बाद कॉख ने हैजा से सम्बन्ध रखने वाले कीटाणु की खोज की, और फिर एक वर्ष बाद उसने टाइफायड, डिप-थीरिया और टिटेनस नामक भयंकर रोगों से सम्बन्ध रखने वाले कीटाणु खोज निकाले। बाद को मलेरिया आदि रोगों के कीटाणु भी पता चले।

कुछ कीटाणु तो वनस्पति परिवार के हैं, जिनका उल्लेख अभी हमने किया। इनसे भिन्न कुछ कीटाणु जन्तु परिवार के हैं। मलेरिया ज्वर के कीटाणु या प्रोटो-जोअन इसी जन्तु परिवार के हैं। ये कीटाणु रक्त की

लाल कणिकाओं पर आक्रमण आरम्भ करते हैं। पेचिश से सम्बन्ध रखने वाले कीटाणु भी जन्तु परिवार के हैं। सिफलिस और पीले ज्वर से सम्बन्ध रखने वाले कीटाणु वनस्पति और जन्तु दोनों परिवारों के बीच के हैं।

यह नहीं समझना चाहिए कि कीटाणुओं द्वारा पशुओं और मनुष्यों में ही रोग फैलते हैं। वनस्पतियों में भी इनके द्वारा बीमारियाँ होती हैं। कीटाणुओं का प्रवेश जब शरीर में हो जाता है, तो शरीर इनको स्वतः मारने का प्रयत्न करता है। इस काम के लिए शरीर में अपने आप एक प्रकार का प्रतिविष बनने लगता है, जिससे जीवाणुओं की वृद्धि रुक जाती है। आधुनिक युग में सर आल्मरॉथराइट (Almroth wright) ने इन प्रतिविषों पर अच्छा काम किया है, जिसके कारण अनेक रोगों को अच्छा करने में सफलता प्राप्त हुई है। कीटाणुओं का अध्ययन गत सौ वर्षों की महान् देन है, और मानवजाति का इससे बड़ा कल्याण हुआ है।

[आकाश वाणी के सौजन्य से]

मानव की अन्तरिक्ष पर विजय

विजयेन्द्र रामकृष्ण शास्त्री

"अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा,
नक्तं ददश्रे कुह चिद्दिवेयुः।
अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि
विचाकशच्चंद्रमा नक्तमेति ।।१,५,२४,१०।।

यह ऋग्वेद की एक ऋचा है, जिसका अर्थ है "ये तारे (सप्तर्षि मंडल), गगन मंडल में बहुत ऊँचे हैं, रात्रि में तो दीखते थे, दिन में कहाँ लुप्त हो गये? चन्द्रमा भी रात्रि में ही प्रकाशित होता है। वास्तव में वरुण देव के नियम भी अटल हैं।"

विश्व के प्राचीनतम ज्ञानग्रन्थ का उपर्युक्त उद्धरण स्पष्टतः दिग्दर्शित करता है कि सभ्यता एवं ज्ञान के शैशवकाल से ही मानव को अन्तरिक्ष एवं उसकी अद्भुत वस्तुओं एवं विचित्र घटनाओं के प्रति प्रबल जिज्ञासा रही है। ऐसे ही उद्धरण अन्य पुरातन संस्कृतियों के प्राचीन ग्रंथों में भी पाये जा सकते हैं। इन सबके अवलोकन से एवं प्रत्येक प्राचीन सभ्यता के विज्ञान के इतिहास के अध्ययन से एक समान तथ्य यह प्रगट होता है कि प्रायः प्रत्येक देश में विज्ञान की दो शाखाओं, ज्योतिष एवं चिकित्सा-शास्त्र का ही सर्व-प्रथम प्रचलन हुआ। विज्ञान की अन्य शाखायें तो बाद में उपर्युक्त शास्त्रों की सहायतार्थ उपशाखाओं के रूप में विकसित हुईं। यह विकास-क्रम स्वाभाविक भी प्रतीत होता है, क्योंकि हम सरलतापूर्वक कल्पना कर सकते हैं कि जब न तो घर थे, न समाज था, न संगठित परिवार था, न ही मनोरंजन के साधन थे, मानव पर, सर्वाधिक प्रभाव उसकी निकटतम सहचरी प्रकृति की विभिन्न अन्तरिक्षीय लोलाओं का ही, जैसे बिजली कड़कना, उल्कापात होना, झंझावात आना आदि का ही पड़ता होगा। गुफा-मानव जब रात्रि के निविड़ अन्धकार में गगन मण्डल में सहस्रों तारक

दीप टिमटिमाते देखता होगा, उनके मध्य चन्द्रमा के देदीप्यमान बिम्ब को तेजी से परिभ्रमण करते देखता होगा जो कि कभी तो उसको घटता दीखता होगा और कभी बढ़ता हुआ, कभी-कभी पूर्णचन्द्र का अचानक कुछ देर के लिए ग्रहण हो जाया करता होगा और जब ये सब दिन में सूर्य के तेजोमय पिण्ड के प्रखर प्रकाश में अदृश्य हो जाया करते होंगे तो उसके मन व मस्तिष्क आश्चर्य, आनन्द एवं जिज्ञासा से परिपूरित हो जाया करते होंगे। जब पक्षी स्वच्छन्द रूप से आकाश में चहचहाते उड़ते होंगे तो उसके मन में भी प्रतिस्पर्द्धा जाग्रत होती होगी कि वह भी उड़े, पर्वतों के शिखरों पर बैठे, अन्तरिक्ष में स्वच्छन्द विचरण करे एवं बादलों के पार चन्द्रमा तक पहुँच कर उसके अप्सरा लोक में मुक्त विहार करे। इन्हीं कल्पनाओं, विस्मयों एवं जिज्ञासाओं ने अन्तरिक्ष-विज्ञान को जन्म दिया है।

ऐसी कल्पनाएँ एवं विस्मयादि करने वाले सहस्रों मनुष्यों में कुछेक तीक्ष्ण प्रतिभा वाले, किसी बात को तर्क की कसौटी पर कसे बिना न मानने वाले तथा वैज्ञानिक पद्धति से ऊहापोह करने वाले व्यक्ति भी होते हैं। इन मनीषियों ने अवश्य ही अन्तरिक्ष सम्बन्धी घटनाओं का सावधानी पूर्वक निरीक्षण करना; अपने अवलोकनों का वर्गीकरण कर उनका स्पष्टीकरण ढूँढ़ना तथा निरीक्षणों में सहायता हो इस हेतु यांत्रिक उपादानों का आविष्कार एवं उपयोग करना प्रारम्भ किया होगा। वस्तुतः इसी तरह ज्योतिष की नींव पड़ी एवं उसका शनैः-शनैः विकास हुआ। अत्यन्त प्राचीन काल से ही प्रवहमान विकास की इस धारा की गत दो शताब्दियों और विशेष कर गत दशाब्दि में तो अत्यन्त ही आश्चर्यजनक द्रुतगति रही है और आज तो स्थिति यह है कि चन्द्रमा के धरातल पर हमारे यांत्रिक उपादान उतर चुके हैं, शुक्र एवं सूर्य की हमारे कृत्रिम उपग्रह प्रदक्षिणा कर रहे हैं, तथा स्वयं मानव ने अन्तरिक्ष में बहुत ऊँचे कई बार, कई उड़ानें भर ली हैं। अन्तरिक्ष सम्बन्धी समस्त रहस्य एक-एक कर उद्घाटित होते चले जा रहे हैं, समस्त कल्पनाएँ एवं स्वप्न एक-एक कर साकार होते जा रहे हैं, तथा अन्तरिक्ष पर अपनी यात्रा के दौरान प्रतिवर्ष मानव अधिकाधिक सीमोल्लंघन करता चला जा रहा है। किन्तु इन सब उपलब्धियों की पृष्ठभूमि में सहस्रों मनीषियों, वैज्ञानिकों एवं आचार्यों की सहस्रों वर्षों की अनवरत साधना निहित है।

सुविधा की दृष्टि से अन्तरिक्ष-विज्ञान के इतिहास को हम चार प्रमुख युगों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम युग वह था जब पृथ्वी पर रह कर अत्यन्त सीमित यान्त्रिक साधनों से ही, मानव ने प्रबल एकाग्रता एवं तीक्ष्ण प्रतिभा द्वारा सात ग्रहों को पहचाना एवं उनकी चाल के नियमों का ज्ञान प्राप्त किया। इन यान्त्रिक उपादानों के सम्बन्ध में अनुमान उज्जैन, जयपुर एवं देहली स्थित प्राचीन वेधशालाओं के यंत्रों को देखकर लगाया जा सकता है। मानव ने अश्विनी, भरणी आदि सत्ताइस नक्षत्रों को मेष, वृषभ आदि बारह राशियों को तथा सप्तर्षि, ईश आदि प्रमुख तारा मण्डलों को पहचाना। गगनमण्डल में उनके स्थान निर्धारित किये। ग्रहणों के कारणों की उसने खोज की तथा उनके सम्बन्ध में शुद्ध भविष्यवाणियाँ करने में भी सफलता प्राप्त की। भारतीय ज्योतिषियों ने वैदिककाल में ही सौर एवं चांद्र वर्षों का अन्तर पहचान कर अधिक मास तथा क्षयमास आदि की व्यवस्था द्वारा दोनों तरह से तथा ऋतुओं में सामंजस्य बैठाने में अपूर्व सफलता प्राप्त की। यह एक अवलोकनीय तथ्य है कि पृथ्वी को स्थिर एवं सौर मण्डल का केन्द्र मानकर जो गणनायें की गयीं वे आज भी आधुनिक गणनाओं से काफी अंशों तक मेल खाती हैं। तिथि, वार, योग, नक्षत्र, करणादि युक्त पंचांग रचना की वैज्ञानिक पद्धति भी आविष्कृत हुई। पृथ्वी का शुद्ध अर्द्धव्यास भी निकाल लिया गया। इस युग में, वेदांग ज्योतिष से लेकर गैलेलियो तक का समय, जिसमें ब्रह्मगुप्त, आर्यभट्ट, भास्कराचार्य, टॉलमी, हिपार्कस एवं कापरनिकस आदि जैसे अद्वितीय विद्वानों का योगदान रहा

है, आ जाता है। दो प्रवृत्तियाँ इस युग में स्पष्टतः प्रचलित दिखाई देती हैं। जबकि विज्ञ वर्ग विशुद्ध वेदांग ज्योतिष का ज्ञाता था, सामान्य जनता के बीच पौराणिक गाथाओं, गल्प कथाओं और विकृत कल्पनाओं के फलस्वरूप कई अंधविश्वास फैले हुए थे, जैसे चंद्रमा को राहु ग्रसित कर लेता है; पृथ्वी शेषनाग पर या हाथियों पर या हरक्यूलस के कंधों पर टिकी हुई है आदि। वर्तमान युग में तो साधारण जनता भी तथ्यों से सुपरिचित है। अन्धविश्वासों का शनैः-शनै उन्मूलन होता जा रहा है।

अन्तरिक्ष की खोज के दूसरे युग में मानव तब पहुँचा जब कि गैलेलियो के दूरबीन के अविष्कार से, कोरी आँखों से जो तथ्य दीखने असंभव थे, वे अब मानव को ज्ञात होने आरम्भ हुए। अपनी पृथ्वी की वेध शालाओं से ही उसने शनि ग्रह को चारों ओर से फेरने वाली नीली-नीली मनोहारी मुद्रिका देखी। गुरु ग्रह की प्रदक्षिणा करने वाले ग्यारह उपग्रहों का उसने अवलोकन किया। चन्द्रमा के धरातल पर उसने बड़े बड़े पर्वतों एवं गहरी खाइयों का पता चलाया। उसने तीन बिलकुल नूतन ग्रह हर्षल, नेपच्यून एवं प्लूटो, या यम वरुण एव वारुणी का आविष्कार कर डाला। सूर्य ग्रहण के समय उसके धरातल से उठने वाली लाखों मील ऊँची, लाल-लाल ज्वालाओं का उसने दर्शन किया तथा यह भी पता चलाया कि पूर्णतः श्वेत दीखने वाले सूर्य में भी हजारों मील लम्बे चौड़े काले धब्बे होते हैं। और जब दूरदर्शकों की सहायतार्थ, फोटोग्राफी, वर्णपटविज्ञान, रडार आदि जैसे उपकरणों का उपयोग होना प्रारम्भ हुआ तब तो और अधिक तेजी से विकास होने लगा कई विस्मयजनक और रोचक तथ्य इस सबके फलस्वरूप उद्घाटित हुए। उनमें से कुछ निम्न प्रकार हैं :—

सूर्य पृथ्वी से नौ करोड़ सत्तर लाख मील दूर है। इसी दूरी का अनुमान इस तरह लगाया जा सकता है। यदि हम एक काल्पनिक रेलगाड़ी द्वारा सूर्य तक बिना रुके, ६० मील प्रति घण्टा की चाल से पहुँचना चाहें तो हमें १७५ वर्ष से भी अधिक समय लगेगा और तृतीय श्रेणी के वर्तमान किराये के हिसाब से लगभग ६० लाख रुपया किराया देना होगा। यदि सूर्य को एक बड़े भारी गोले के रूप में कल्पना करें तो उसमें पृथ्वी रूपी तेरह लाख टेबलटेनिस की गेंदे समा सकती हैं। सूर्य में प्रतिक्षण मानों लाखों एटम बमों का विस्फोट सा होता रहता है जिससे कल्पनातीत शक्ति प्रति सेकंड समस्त अंतरिक्ष में प्रकाश एवं ताप के रूप में वितरित होती रहती है और इसी के फलस्वरूप प्रतिवर्ष सूर्य का बारह करोड़ टन भार कम होता चला जा रहा है। लेकिन भय की कोई बात नहीं है। इसके उपरांत भी सूर्य अभी लाखों वर्ष तक हमें प्रकाश एवं गर्मी देता रहेगा। इतना अधिक प्रकाश सूर्य में भरा पड़ा है।

प्रकाश एक सेकंड में लगभग एक लाख ८६ हजार मील या एक वर्ष में लगभग ७० खरब मील चल लेता है। कोई तारा हमसे एक प्रकाश वर्ष दूर है, इसका अर्थ यह है कि वह हमसे सत्तर खरब मील दूर है। इस हिसाब से हमारा निकटतम तारा हमसे ३०० खरब मील या ४$\frac{१}{३}$ प्रकाश वर्ष दूर है। इस दूरी का अनुमान इस तरह भी लगाया जा सकता है। यदि एक कागज पर सूर्य से पृथ्वी की दूरी को एक इंच के अंतर पर दो बिन्दुओं द्वारा प्रदर्शित करें तो निकटतम तारे को ५ मील दूर बिन्दु के रूप में रखना होगा। इन मापों के हिसाब से अधिकांश तारे तो सैकड़ों प्रकाश वर्षों या मीलों की दूरी पर हैं।

हमारा सौर-परिवार जिस आकाश गंगा का एक सदस्य है उसकी विशालता का अन्दाज इस तरह लगाया जा सकता है। यदि आकाश गंगा को हिमालय के बराबर मान लिया जाय तो हमारा सौर परिवार उसके सामने एक राई के दाने के बराबर ठहरेगा। और इस विचित्र ब्रह्माण्ड में हमारी आकाश गंगा से भी बड़ी कई आकाश गंगाएँ हैं जिनमें लाखों तो सौर परिवार हैं एवं हजारों नीहारिकाएँ हैं। नीहारिकाएँ अर्थात् तारों के बादल। जिस तरह पानी के बादल

में सहस्रों जल कण होते हैं उसी तरह एक एक नीहारिका में सहस्रों तारक कण होते हैं और ये तारक कण भी कैसे, हमारी पृथ्वी से लाखों-करोड़ों गुना बड़े। नीहारिकाओं एवं उपर्युक्त तथ्यों के संबन्ध में हैली, मार्शल, मैसिये, ड्रापर, ड्रेपर आदि की खोजें विशेषतः उल्लेखनीय हैं। रिची एवं शैपली आदि ने हारवर्ड बेधशाला, ग्रीनविच वेधशाला आदि में नीहारिकाओं की फोटोग्राफी के संबन्ध में विशेष कार्य किया है। सर्पिल, चक्राकार आदि नीहारिकाओं पर काफी अनुसंधान हुए हैं।

इस द्वितीय युग में ब्रह्माण्ड की रचना एवं उत्पत्ति, तारों के अन्तस्तल एवं धरातल की रचना के अध्ययन, उनके ताप एवं प्रकाश के विकीरण तथा उनके कारणों आदि पर भी महत्वपूर्ण कार्य हुए हैं। प्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक मेघनाद साहा की तापोद्भव अणुभंजन विधि से कई तारों के अंतस्तल एवं धरातल का तापमान निकालना संभव हो गया है। उनकी आयु के भी अनुमान लगाये गये हैं। वर्णपट विज्ञान की सहायता से, तारकपिण्डों के रचयिता तत्वों एवं यौगिकों के तथा उनको आवेष्ठित करने वाले वायु-मंडलों के संगठन के अध्ययन में अत्यंत सुविधा हो गई है। सूर्य आदि के सम्बन्ध में बहुत कुछ ज्ञानराशि इन्हीं खोजों के बाद संचित हुई।

ब्रह्माण्ड की रचना के संबन्ध में जीन्स, न्यूटन लाप्लास आदि विद्वानों ने अपने-अपने सिद्धान्त रखे। न्यूटन का मत था कि प्रारंभ में पदार्थ अनन्त दूरी तक अनवरत रूप से फैला हुआ था। गुरुत्वाकर्षण वश वह सिमटा एवं तारकपिण्डों में बदल गया। सिमटने के दौरान घर्षण के फलस्वरूप ताप उत्पन्न हुआ। वही तारों के ताप एवं प्रकाश का कारण है। लाप्लास के सिद्धांत के अनुसार प्रारंभ में अपनी ही धुरी पर तीव्र वेग से घूमने वाली एक अति विशाल एवं अति तप्त नीहारिका थी जो विकीरण वश शनैः-शनैः ठंडी हुई, फलस्वरूप और भी द्रुतगति से घूमने लगी, घूमने के कारण चपटी होती चली फिर इसके कुछ टुकड़े टूटकर छिटकने लगे जो सौर-परिवारों, ग्रहों, उपग्रहों आदि की रचना के कारण बने। किसी बहुत बड़े तारे के आकर्षण वश सूर्य में से कुछ द्रव्य के छिटक पड़ने के कारण वर्तमान सौर-परिवार की उत्पत्ति का सिद्धांत तो सर्वविदित है ही। शैपली के मतानुसार, ब्रह्माण्ड प्रतिक्षण फैलता ही जा रहा है तथा ब्रह्माण्ड का व्यास आगामी सवा अरब वर्षों में वर्तमान व्यास से दुगुना हो जायेगा।

ऐसे ही और भी कई विस्मयजनक तथ्य एवं सिद्धांत हैं, किन्तु इनको छोड़कर, आइये अब हम अंतरिक्ष विज्ञान के तीसरे युग की ओर बढ़ें। अभी तक की वर्णित सभी बातें मानव ने पृथ्वी पर रहकर ही सीखीं। परंतु उसे इनसे संतोष नहीं हुआ। उसने स्वयं अंतरिक्ष में जाकर खोज करने की ठानी। काफी समय तक उसकी उड़ानें वायुमंडल तक ही सीमित रहीं जिसके कारणों का निम्नलिखित पंक्तियों में उल्लेख है। वैज्ञानिक दृष्टि से उड़ानों के संबन्ध में सर्व प्रथम प्रयत्न संभवतः ग्लेशर ने सन् १७६२ में किया था। अपने एक सहयोगी के साथ वे एक गुब्बारे में जो कि वैज्ञानिक उपकरणों से सज्जित था ७½ मील से भी अधिक की ऊँचाई तक पहुँच गये। उन्हें कई रोमांचकारी अनुभव हुए और उन्होंने इस क्षेत्र में प्रगति का नया मार्ग प्रशस्त कर दिया। वायुयानों, गुब्बारों एवं अन्य साधनों की सहायता से वायु-मंडल के संबन्ध में कई महत्वपूर्ण तथ्य उद्घाटित हुए हैं। यह ज्ञात हुआ है कि वायुमंडल की ऊँचाई पृथ्वी से केवल २०० मील तक ही सीमित है। वायुमंडल के ऊपरी हिस्सों में प्रतिक्षण सहस्रों ब्रह्माण्ड एवं पार-लोत्तर आदि रश्मियों का तथा विभिन्न ग्रह-नक्षत्रों से आई चुम्बकीय लहरों का आघात होता रहता है। पृथ्वी तक पहुँचने के पूर्व ही वायुमंडल के विभिन्न घटक इनके हानिकारक प्रभावों का शोषण कर लेते हैं वायुमंडल के ऊपरी हिस्सों में प्रतिक्षण सैकड़ों टनों की कई उल्काओं का पतन होता रहता है। यदि वायु-मंडल न हो जिसकी कि रगड़ से ये मार्ग में ही भस्म

हों जाती हैं, तो कुछ ही क्षणों में पृथ्वी पर सैकड़ों मील लम्बे-चौड़े एवं गहरे गड्ढे बन जायँ तथा सम्पूर्ण प्राणि जगत नष्ट हो जाय। इन्हीं उल्काओं की तथा अन्य ग्रह-नक्षत्रों की हजारों मन ब्रह्माण्ड धूलि प्रति वर्ष पृथ्वी पर गिरती रहती है। जैसे-जैसे मनुष्य ऊपर उठता है प्राणवायु की कमी होती जाती है जो कि जीवन रक्षा के लिए अत्यंत आवश्यक है। इसकी न्यूनता से श्वासोच्छ्वास लेना अत्यन्त कठिन होता जाता है। हवा का दबाव भी कम होता जाता है जिससे कि रक्त-शिरायें फट जाती हैं और खून बह निकलता है। ज्यों-ज्यों पृथ्वी से दूर होते जाते हैं, उसका आकर्षण कम पड़ता जाता है, और विचित्र-सी भार-हीनता प्रतीत होती है। लेकिन फिर भी पृथ्वी का आकर्षण इतना प्रबल होता है कि वायुमंडल के परे उड़ कर जाना अत्यन्त कठिन होता है। ऐसे ही अन्य कई कारणों से मानव के प्रयत्न काफी समय तक वायुमंडल के भीतर उड़ने तक ही सीमित रहे। लेकिन इन सब कठिनाइयों पर भी विजय पाई गई।

४ अक्टूबर १९५७ को अन्ततोगत्वा मानव, विकास की चौथी सीढ़ी पर पहुँच ही गया, जबकि सोवियत संघ के वैज्ञानिकों ने अपना प्रथम 'स्पुतनिक' अंतरिक्ष में पहुँचा दिया जिसने कि पृथ्वी की कई प्रदक्षिणाएँ कीं एवं कई संदेश भेजे। तब से अब तक विकास के इस चौथे युग में जब कि मानव स्वयं ही, वायुमंडल से भी बहुत ऊपर पहुँच चुका है, कई स्पुतनिक आदि अमेरिका एवं रूस के वैज्ञानिक छोड़ चुके हैं, जिनका विवरण प्राय: सभी जानते हैं।

स्पुतनिकों को आप छोटी-सी सुसज्जित वैज्ञानिक प्रयोगशाला ही समझिये जिसमें कई स्वयंचालित यंत्र लगे होते हैं एवं जिनका नियंत्रण पृथ्वी पर स्थित प्रयोगशालाओं से ही रेडियो संकेतों द्वारा किया जा सकता है। इन्हें विशेष ईंधन एवं प्रक्षेपणास्त्रों की सहायता से अत्यन्त तीव्र गति से उड़ाकर पृथ्वी के आकर्षण से परे, निरापद प्रदक्षिणा-पथ पर गतिशील कर दिया जाता है। इन्हें निर्धारित समय पर, निर्धारित स्थान पर उतरने की भी व्यवस्था रहती है उतारते समय वायुमंडल की रगड़ से ये भस्म न हो जायें अत: पीछे की ओर गति प्रदान करने वाले स्तंभकों का प्रयोग किया जाता है। अंतरिक्षयान के संचालक को विशेष प्रकार का प्रशिक्षण दिया जाता है। उसका खान-पान, पोशाकें आदि होती हैं।

इन संचालकों का चुनाव भी हजारों दृढ़ शरीर एवं आत्मबल वाले सुरिक्षित व्यक्तियों में से किया जाता है। उनकी कड़ी परीक्षाएँ ली जाती हैं। जैसे एक चक्राकार कक्ष में बैठा कर अत्यन्त तीव्र गति से उसे घुमाना, अचानक विस्फोट करके देखना कि परीक्षार्थी ने मानसिक संतुलन तो नहीं खो दिया है; अत्यन्त उष्ण एवं शीत वातावरण में उसे रखना, कठोर श्रम करवाना आदि। स्पुतनिकों में ऐसे चुने हुए पूर्ण प्रशिक्षित व्यक्ति के अतिरिक्त कई यंत्र होते हैं, जो स्वयं कई व्यक्तियों के बराबर अकेले ही काम कर लेते हैं। उदाहरणार्थ, ब्रह्माण्ड-रश्मियों का अध्ययन करने वाले, ग्रह-नक्षत्रों एवं पृथ्वी के अनवरत चित्र लेते रहने वाले, मौसम सम्बन्धी तथ्यों का मापन करने वाले यंत्र होते हैं जो अपने आप ही अवलोकन लिखते भी रहते तथा पृथ्वी पर भी खबरें भेजते रहते हैं। एक-एक स्पुतनिक से लाखों चित्रों एवं अवलोकनों का संग्रह हुआ है जिनके अध्ययन से कई महत्वपूर्ण रहस्य उद्-घाटित हुए हैं और होंगे। और इन सब प्रगति के आधार पर अब हम विश्वास से कह सकते हैं कि निकट भविष्य में ही मानव चन्द्रमा एवं मंगल के धरातलों पर अपने प्रथम चरण रख देगा तथा वहाँ अपने विजय-ध्वज आरोपित कर देगा।

किन्तु हमारे ये प्रयत्न और उपलब्धियाँ तथा अभी तक का अर्जित ज्ञान-भंडार, सभी नगण्य हैं, क्योंकि जितना अद्भुत एवं कल्पनातीत विशाल यह अंतरिक्ष है उतना ही उससे सम्बन्धित ज्ञान का एवं सम्भावित उपलब्धियों का भंडार भी। अत: जितना भी इस ब्रह्माण्ड के विषय में किया जाय, थोड़ा ही है।

ईंधन

डा० गुरु प्रसाद

प्राय: ईंधन शब्द का अर्थ लकड़ी, कोयला आदि वस्तुओं से लिया जाता है। परन्तु यहाँ पर हम ईंधन का विस्तृत अध्ययन करेंगे। सम्पूर्ण औद्योगिक और वैज्ञानिक उन्नति ईंधन के प्रयोग पर ही निर्भर करती है। किसी भी क्षेत्र में बिना ईंधन के प्रयोग के किसी भी प्रकार वस्तुओं का निर्माण असम्भव है। भोजन पकाने से लेकर बड़ी बड़ी मशीनों तक का निर्माण ईंधन के द्वारा ही सम्भव हुआ है। वर्तमान संकट कालीन अवस्था में ईंधन का महत्व और भी बढ़ गया है। इस समय देश में अस्त्र-शस्त्र, एवं मशीनों इत्यादि का अधिक मात्रा में होना आवश्यक है जिसमे उत्पादन बढ़े, और युद्ध की सामग्रियों में कोई कमी न हों। इस लिए यह आवश्यक है कि ईंधन के विषय का विस्तृत अध्ययन हो और उससे अधिक से अधिक लाभ प्राप्त किया जाय।

ईंधन वह वस्तु है जो जलने पर ताप और शक्ति देती है। जलने से तात्पर्य है ईंधन का आक्सिजन से योग और जिसका परिणाम ताप और प्रकाश होता है। ईंधन का हम निम्न प्रकार से वर्गीकरण करते हैं :—

ईंधन का वर्गीकरण

भौतिक अवस्था	प्राकृतिक	परिवर्तित
ठोस	लकड़ी, पीट, लिग्नाइट, कोयला	चारकोल, कोक
द्रव	अपक्व पोट्रोलियम, प्राकृतिक गैसोलिन	पेट्रोलियम से उत्पन्न पदार्थ, टार, पावर अलकोहल, कोलायडल ईंधन, बेंजाल
गैस	प्राकृतिक गैस	प्रोड्यूसर गैस, वाटर गैस, कोल गैस, ब्लास्ट भट्टी गैस, कोक भट्टी गैस

प्राकृतिक ठोस ईंधन :—

(१) **लकड़ी** :—प्राचीनकाल में लकड़ी के रूप में ही ईंधन प्राप्त था। इसमें सेल्यूलोस, रेजिन, प्रोटीन होते हैं। जिन लकड़ियों में रेजिन की मात्रा अधिक होती है उनकी तापोत्पादक शक्ति भी अधिक होती है।

(२) **पीट** —यह कोयला बनने की क्रिया की प्राथमिक अवस्था है। यह वनस्पति पदार्थ के विभाजन से बनता है। इसकी तापोत्पादक शक्ति कम होती है और राख की मात्रा अधिक होती है।

(३) **लिगनाइट** :—यह कोयला बनने की क्रिया की माध्यमिक अवस्था है। नये लिगनाइट में पानी का विशेष अंश छिपा होता है। इसकी तापोत्पादक शक्ति पीट तथा कोयले के बीच की होती है।

(४) **कोयला** :—प्राय: कोयले का वर्गीकरण ऐन्थ्रासाइट और बिट्यूमिनस कोयले में करते हैं। स्थाई कार्बन की मात्रा बिट्यूमिनस कोयले में ऐन्थ्रासाइट की अपेक्षा कम होती है, परन्तु आक्सिजन तथा उड़ने वाला पदार्थ अधिक होता है। बिट्यूमिनस कोयला लम्बी ज्वाला के साथ जलता है और विशेषकर औद्योगिक क्षेत्र में काम आता है। इसकी तापोत्पादक शक्ति ऐन्थ्रासाइट से अधिक होती है। ऐन्थ्रासाइट कोयला छोटी ज्वाला से जलता है और घरेलू कार्यों में प्रयोग किया जाता है।

कोयले की उत्पत्ति :—पेड़ों की लकड़ी की रचना एक ऐसे यौगिक से होती है जिसे सेल्यूलोस कहते हैं। यह यौगिक पेड़ों में स्वत: बनता है। पेड़ों में ऐसी शक्ति होती है कि वे कार्बन-डाइ-आक्साइड और पानी को मिलाकर सेल्यूलोस में बदल देते हैं। लाखों वर्षों की उथल-पुथल में बहुत से जंगल के जंगल जमीन में धँस गये और उन पर चट्टानों ने भी अत्यधिक दबाव डाला। इन जंगली पौदों के साथ छोटे कीटाणु भी दबे पड़े रहे, जो सेल्यूलोस अणु से धीरे-धीरे आक्सिजन हटाते रहे। इन क्रियाओं का अन्तिम फल वनस्पति पदार्थ का विभाजन हुआ, जिसका परिणाम कोयले की उत्पत्ति है।

भारत में कोयले की खानें :—भारत में कोयले की खानें निम्न भागों में बाँटी जाती हैं :—

(१) गोंडवाना की खानें—बंगाल, बिहार, मध्य-प्रदेश, उड़ीसा।

(२) टरशियरी की खानें—आसाम, काश्मीर, राजस्थान।

(३) क्रटेशियस की खानें—आसाम।

(४) जुरासिक की खानें—कच्छ, नर्मदा की तराई।

कोयले की खदान :—कोयले की खदान प्राय: तीन विधियों से बनायी जाती है जिनके नाम Room and pillar, longwal[1] और Hydranlic हैं। Room and pillar विधि में कोयले की चट्टानों को काट कर खोह बनायी जाती है और बीच-बीच में कोयले के खम्भे सुरक्षा के लिए छोड़ दिए जाते हैं। Longwall विधि में कई खोहे ऐसी खोदी जाती है कि उनके बीच में कोयले के ढेर शेष रहें। फिर इन ढेरों को तोड़ कर निकाल लिया जाता है जिसके फलस्वरूप छतें फट जाती हैं और बोझ के कारण कोयले के टुकड़े टूट जाते हैं। पानी द्वारा टूटे टुकड़ों को दूसरे स्थान पर पहुँचा दिया जाता है।

पृथ्वी के गर्भ में हजारों मीटर नीचे कोयले का पता कई विधियों से किया जा सकता है। सबसे सरल विधि यह है कि पृथ्वी में गहरा छेद किया जाय और निकली हुई वस्तु की परीक्षा की जाय। दूसरी विधि में परमाणु शक्ति का प्रयोग किया जाता है। खोदे हुए छेद में लगभग ३ सें० मी० व्यास वाले उपकरण को लटकाया जाता है। उपकरण में गामा किरण फेंकने वाला पदार्थ होता है और लौट कर आने वाली किरणों की संख्या के माप का भी उचित प्रबन्ध रक्खा जाता है। कोयला और पत्थर गामा किरणों को भिन्न-भिन्न मात्राओं में शोषण कर लेते हैं और इस प्रकार कोयले की पृथ्वी तल से गहराई जान ली जाती है। दूसरे उपकरण ताप शोषण की दर, विद्युत्धारा के

प्रवाह का रुकाव तथा आघातिक धारा के पृथ्वी तल पर लौटने के समय का माप करते हैं। समुद्र के भीतर कोयले की उपस्थिति जानने के लिए आघातिक धारा के सिद्धान्त को काम में लाया जाता है। समुद्र के भीतर खान खोदना एक विशेष कला है।

आधुनिक प्रकार की खानों (नव क्षितिज) के विशेष स्वरूप ये हैं कि सड़कें सीधी बनायी जाती हैं और कोयले की चट्टानों की दिशा का कोई ध्यान नहीं रक्खा जाता है। चट्टानों को तोड़ने के लिए कई मशीनें जैसे Meco-Moor, Anderton Shearer और Dosco प्रयोग में लायी जाती हैं। दबी हवा डाइनामाइट के स्थान पर चट्टान तोड़ने के काम में लायी जाती है। जलगति प्रधान खम्भे छत को गिरने से रोकते हैं। एक विद्युत् मस्तिष्क की रचना की गयी है जिसमें लगभग २५६ जलगति प्रधान खम्भे लगे होते हैं। एक व्यक्ति कमरे में बैठ कर पूरी क्रिया का संचालन किया करता है और टेलिविजन द्वारा खुदाई का कार्य देखता रहता है। जब कार्य में कोई कठिनाई आ जाती है तो उस व्यक्ति को इसका ज्ञान, लाल बल्ब जलने पर हो जाता है।

कोयले की सफाई व छटाई :—खान से निकला हुआ कोयला भिन्न-भिन्न आकार का होता है जिसमें बाहरी वस्तुयें भी मिली रहती हैं। ८'५ सें० मी० से बड़े टुकड़े छान कर अलग कर लिए जाते हैं और मिले हुए दूसरे पदार्थ हाथ से छाँट कर निकाल लिए जाते हैं। इस आकार के टुकड़े घरेलू कार्य में आते हैं और इनसे छोटे टुकड़े कारखानों के काम में आते हैं। छोटे टुकड़ों को सूखे अथवा गीले ढंगों से साफ किया जाता है। दोनों विधियाँ कोयले तथा धूल के आपेक्षिक घनत्व के अन्तर का उपयोग करती हैं। सूखी विधि में कोयले के नमूने में वायु की धारा ऊपर की ओर प्रवाहित की जाती है और कोयला व धूल अलग-अलग एकत्रित हो जाते हैं। गीले ढंग में वायु के स्थान पर पानी की धारा का प्रयोग होता है।

भंडार न की व्यवस्था:—खान से निकला कोयला वायु-मण्डल से शीघ्र ही आक्सिजन ले लेता है और ताप उत्पन्न हो जाता है। यदि उत्पन्न हुए ताप के बहिष्कार का समुचित प्रबन्ध न हो तो ताप ५०-८० डिग्री सेंटीग्रेड से अधिक बढ़ जाता है और एकाएक भंडार में आग लग जाती है अतः भंडार में कोयले को ऐसे वातावरण में रखाना चाहिए जहाँ आक्सिजन न हो। फ्लू गैस (Flue-gas) या पानी में कोयले को रखते हैं। भंडार में ताप के बहिष्कार का ठीक प्रबन्ध होना अनिवार्य है।

⊙⊙

—२६

संसार के वनस्पतिज्ञ परिवार

रमेशदत्त शर्मा
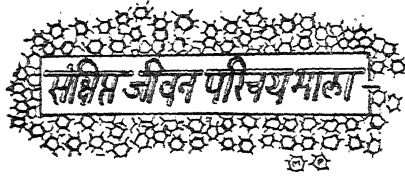
यों तो वैज्ञानिक जहाँ भी कार्य करते हैं, वहीं उनका परिवार होता है। सर्पों पर अनुसंधान करने वाले जीवविज्ञानी साँपों को उसी तरह पालते है जैसे वे उनके परिवार के ही सदस्य हों। प्रयोगशाला में साथ-साथ काम करने वाले शोधकर्ता एक दूसरे से जैसे आत्मीय संबन्ध बना लेते हैं, वैसे प्राय: परिवारों में भी नहीं बन पाते। और अब तो वैज्ञानिक क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की आवश्यकता को बड़ी तीव्रता से अनुभव किया जाने लगा है। अत: उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवों पर अनुसंधान करने वाले वैज्ञानिकों में समस्त संसार के प्रतिनिधि हैं, जो बिल्कुल परिवारों की ही भांति रहते है। देश, धर्म, विचार किसी की भी प्रतिद्वन्द्विता उनके कार्य में बाधा नहीं डालती।

परिवार के इस व्यापक स्तर पर न जाकर उसी छोटे दायरे में सिमट आएँ तो हम देखेंगे कि अनेक परिवार वैज्ञानिकों को ही जन्म देते रहे हैं। बाबा से लेकर नाती-पंती तक सभी एक से एक बढ़कर वैज्ञानिक निकले हों, ऐसे विज्ञान-प्रवण परिवारों के असंख्य उदाहरण दिए जा सकते हैं। **यहाँ हम विश्व के कुछ वनस्पतिज्ञ परिवारों के विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं।**

(१) **जोन बाहिन** :—पौधों के वर्गीकरण के इतिहास में **जोन बाहिन** (१५४१-१६१३) का एक विशेष स्थान है। उसने पौधों को वर्गीकृत करने की एक महत्वपूर्ण योजना शुरू की थी; लेकिन कार्य पूरा होने से पहले ही वह चल बसा। इस अधूरे काम को पूरा किया उसके दामाद **जे० एच० चर्लेर** ने, और इस प्रकार 'हिस्टोरिया प्लान्टेरम यूनिवर्सेलिस' नामक ग्रंथ का प्रणयन हुआ। अपने बड़े भाई जोनबाँहिन से प्रेरणा पाकर, गेस्पार्ड (१५६०-१६२४) ने भी पौधों पर इसी भांति का एक महान कार्य प्रारम्भ किया। उसकी पुस्तक 'पिनेक्स थिएट्री बॉटेनिकी' (१६२३) में हम देखते हैं कि पौधों के नामकरण और वर्गीकरण की पद्धति १८वीं सदी से पहले भी कितनी उन्नत हो चुकी थी। इन बॉहिन भाइयों की स्मृति को वनस्पति वैज्ञानिकों ने सिसलपिनाइडी कुल के एक वंश (जीनस) का नाम 'बॉहिनिया' रखकर अमर कर दिया। 'कचनार' इसी वंश का एक विशिष्ट पौधा है।

(२) **लिनियस और उसका पुत्र** और लिनियस (१७०७-१७७८ का नाम किसने नहीं सुना। कैरोलस लिनियस ही तो थे पौधों के नाम रखने की द्विनाम पद्धति के आविष्कर्ता। वनस्पति विज्ञान के क्षेत्र में उनकी महान देन के उपहार स्वरूप उन्हें 'प्रिंसेप्स बॉटनिकोरम' की उपाधि दी गई। उनके असंख्य ग्रन्थों में से 'स्पेशीज प्लान्टेरम' का नाम विशेष उल्लेखनीय है। यह पुस्तक १७५३ में छपी थी। आधुनिक वनस्पति-विज्ञान का श्रीगणेश भी इसी वर्ष

में माना जाता है। लिनियस के देहावसान के बाद उनके सुपुत्र काल (१७४०-१७८३) ने ही उप्साला में वनस्पति विभागाध्यक्ष का पद-भार ग्रहण किया। पिता के स्थान को पुत्र ने रिक्त नहीं रहने दिया।

(३) **डी जूसू परिवार:**—१७वीं और अठारहवीं सदी में फ्रांस में डी जूसू का एक यशस्वी परिवार हो चुका है। परिवार के पिता डी जूसू औषधि विक्रेता थे और उनके तीनों पुत्र वनस्पतिविज्ञानी बने। सबसे बड़े पुत्र का नाम था एन्टोइने, दूसरे थे बर्नार्ड और तीसरे सबसे छोटे जासेफ थे। सबसे ज्यादा नाम कमाया बर्नार्ड ने। उसने पेरिस के 'जार्डिन डैस प्लान्टैस' में कार्य किया और उसके बाद वर्सेलेस के ट्राइएनॉन नामक स्थान में रहा। बर्नार्ड, लिनियस की ही भाँति पौधों के नामकरण की प्राकृतिक पद्धति में विश्वास करता था। लेकिन वह लिनियस का अंध भक्त नहीं था और काफी कुछ सुधार करता रहा। उसने कुछ भी प्रकाशित नहीं किया, बल्कि अपने भतीजे और सहायक एन्टोइने लॉरेन्ट डी जुसू (१७४८ १८३६) को इस योग्य बना दिया कि वह संसार को 'जैनेरा प्लान्टेरम सेकन्डम आर्डाइनेस नेचुरेलेस डिस्पोसिटा' (१७७४) जैसी महान कृति दे सका।

(४) **डी कैंडौले परिवार:**—पारिवारिक परम्परा को पीढ़ी दर पीढ़ी चलाए रखने का एक और रोचक उदाहरण है डी कैंडौले का परिवार। वर्गीकरण वनस्पति विज्ञान (सिस्टमैटिक बाटनी) के क्षेत्र में आगस्टाइन पाइरामे डी कैंडौले (१७७८-१८४१) की पुस्तक 'थेयोरिई ऐलेमेन्टेयर' (१८१३) का बड़ा सम्मान है। लेकिन सबसे ज्यादा ख्याति उसकी पुस्तक 'प्रोड्रोमस सिस्टमेटिस नेचुरेलिस रेग्नी वेजीटेबिलिस' को मिली। इस विशाल कार्य को आगे बढ़ाया उनके पुत्र आलफोन्से (१८०६-१८९३) ने। उसने 'थेयोरिई ऐलेमेन्टेयर' का नया संस्करण प्रकाशित किया जिसमें पादप-कुलों की संख्या २१३ तक पहुँच गई। डी कैन्डोले का नाती एन्ने कैसिमिर पाइरामे (१८३६-१९१८) भी वनस्पतिज्ञ बना।

(५) **हुकर और हुकर**—"क्यू" का वनस्पति-उद्यान आज विश्व का सर्वोत्तम वैज्ञानिक-उद्यान है। उसकी आधारशिला रखी थी सर विलियम जैक्सन हुकर (सन् १७८५-१८६५) ने। उनके पुत्र जॉसैफ डाल्टन हुकर (सन् १८१७-१९११) अपने समय में यूरोप के प्रतिभावान वनस्पतिज्ञों में अग्रगण्य माने जाते थे। सन् १८६५ में वे अपने पिता के स्थान पर "क्यू गार्डेन्स" के डाइरेक्टर नियुक्त हुए। जी० बेन्थम के साथ उन्होंने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "जैनेरा प्लाण्टैरम" लिखा जो आज भी वर्गीकरण के लिए विश्व का सबसे अधिक प्रामाणिक ग्रन्थ है। इस दुष्कर कार्य को सम्पन्न करने के दौरान उन्होंने अपना डाइरेक्टर पद छोड़ दिया; जिसे ग्रहण किया उनके दामाद विलियम थिसेल्टन डायर (१८४३-१९३८) ने।

(६) **तुलेने बन्धु**—वनस्पतिज्ञ-बन्धुओं की बिरादरी में सबसे ऊपर उभर कर जो भाई आते हैं वे हैं लुई तुलेने और चार्ल्स तुलेने। लुई तुलेने शुरू-शुरू में कानून की पढ़ाई की तरफ झुके, मगर १८४२ में सुना गया कि वे जार्डिन डेस प्लाण्टैस, पेरिस में असिस्टेंट नेचुरलिस्ट होकर आ गए हैं। चार्ल्स तुलेने भी वहीं पेरिस में ही चिकित्सक का कार्य करने लगे। उन्होंने अपने बड़े भाई के वैज्ञानिक शोध-प्रबन्धों के चित्र बनाने में मदद की। अपने व्यक्तिगत जीवन की भाँति इस कार्य में भी वे इतने घुल-मिल गए थे कि ज्यादातर लोग यही समझते थे कि तुलेने किसी एक ही व्यक्ति का नाम है जो चित्र भी बनाता है और लिखता भी है। कवकों (फन्जाई) के ये चित्र इतने सुन्दर बने पड़े हैं कि बाद में लिखे गए कवक-साहित्य में इनकी ही नकल होती रही। फिर तो वे शोध-कार्य में भी इतने निकट आ गए जैसे उनका पृथक अस्तित्व ही न हो। लाल और काले किट्ट (रस्ट) को एक ही किट्ट की दो अवस्था सिद्ध करके उन्होंने कवक-विज्ञान के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण खोज की।

प्रसिद्ध नवाशिन फिक्सेटिव (पौधे के विभिन्न भागों

को स्थायी करने के काम आनेवाला रासायनिक पदार्थ) के रूप में आज भी वनस्पति प्रयोगशालाओं में रूसी वनस्पतिज्ञ एस० जी० नवाशिन की स्मृति सुरक्षित है। और यह तो उसकी वनस्पति-विज्ञान सम्बन्धी असंख्य खोजों में से एक मामूली सी मिसाल थी। १८९८ में जब उसने "द्वि-निषेचन" (डबल फर्टिलाइजेशन) की खोज की तो भ्रूण-विज्ञान गगन में उसका नाम चमकने लगा। पिता के ही पदचिह्नों पर चले उनके सुपुत्र एम० एस० नवाशिन, जो स्वयं एक प्रतिभाशाली भ्रूण-विज्ञानी तथा कोशिका-विज्ञ तो हैं ही, साथ ही उनकी पत्नी हेलेन जैरासिमोवा-नवाशिन" भी वनस्पतिज्ञ हैं। आवृतबीजियों (ऐन्जिओस्पर्म्स) में निषेचन तथा उससे सम्बन्धित अन्य घटनाओं पर हेलेन ने अत्यन्त महत्वपूर्ण शोधकार्य किया है।

(७) **पिता-पुत्र-कॉल्टर**—स्वर्गीय जान एम० कॉल्टर का नाम वनस्पति-विज्ञान के सभी विद्यार्थी सुन चुके होंगे। वे अनेक पाठ्यपुस्तकों के लेखक थे। सी० जे० चैम्बरलेन के सहयोग से लिखी गई उनकी दो पुस्तकों "मौर्फोलौजी ऑफ जिम्नो-स्पर्म्स" और "मौर्फोलौजी ऑफ ऐन्जिओ-स्पर्म्स" को अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता मिल चुकी है। उनके पुत्र मर्ले सी० कॉल्टर ने भी वनस्पति-विज्ञान को ही अपना क्षेत्र चुना। पिता-पुत्र दोनों ने मिलकर पौधों की अनुवंशिकी (जैनेटिक्स) पर एक पुस्तक लिखी जो बाद में परिवर्द्धित होकर केवल पुत्र के ही नाम से छपी है। मर्ले सी० कॉल्टर आजकल "यूनिवर्सिटी ऑफ चिकागौ" में डीन हैं।

इस सदी का एक अद्वितीय वनस्पतिज्ञ था एफ० एफ० ब्लैकमेन। सन् १९४७ में उसके देहावसान से पादप-क्रियाविज्ञान (प्लाण्ट-फिजिओलॉजी) का एक वरिष्ठ नेता उठ गया। उसके छोटे भाई बी० एच० ब्लैकमैन भी पादप-क्रियाविज्ञानी तथा कवक-विज्ञानी (माइकोलॉजिस्ट) हैं।

(८) **पुत्र-पिता से एक कदम आगे**—वनस्पतिज्ञ पिता-पुत्र का एक और उल्लेखनीय जोड़ा था वेन्ट और फ्रिट्स का। एफ० ए० एफ० सी० वेण्ट नाम से बीसवीं सदी के शुरू में एक विख्यात आकारिकीविज्ञ (मौर्फोलॉजिस्ट) हो चुके हैं। पौधों के "पोडोस्टेमेसी" कुल पर लिखे गए उनके शोध-प्रबन्ध खास तौर से मशहूर हैं। ऑक्सिन-अनुसन्धान के आरम्भिक दिनों में वनस्पतिक वातावरण में पले उनके सुपुत्र फ्रिट्स ने बड़े महत्त्व का कार्य किया था।

उसके पिता की यूट्रैक्ट स्थित प्रयोगशाला में जिस समस्या पर बहस चल रही थी, उसमें फ्रिट्स की भी रुचि जागृत हो गई। फ्रिट्स ने एवेना के भ्रूण चोल (Coleoptile) पर जो शोधकार्य शुरू किया, उसका उद्देश्य इस विवाद को शांत करना भी था। उसने अपने प्रयोग की चर्चा करते हुए लिखा है—और तब १६ अप्रैल, १९२६ की रात को पहले पहल भ्रूणचोल जिलेटिन में एकत्र हुए (किसलयों के अग्रभाग से प्राप्त) रस की ओर झुके। रात के तीन बजे तक ऑक्सिन से अनुप्रेरित प्रतिकूल वक्रण (Curvatures) साफ नजर आ रहे थे।" स्वाभाविक ही है कि इतनी रात गए, उसके पिताजी तो सो रहे होंगे, जैसा कि आगे खुद फ्रिट्स ने लिखा है —'मुझे उस वक्त यह बहुत अखर रहा था कि यह महत्वपूर्ण प्रयोग अब आधी रात गए मेरे पिता को किसी तरह जगा पाने में असमर्थ था, काश कि वे जाग पड़ते और मेरे साथ प्रयोगशाला चलते।' इस प्रकार फ्रिट्स ने पौधों के अग्र भाग में स्थित उत्प्रेरण की रासायनिक प्रकृति के बारे में जितनी भी शंकाएँ थीं, सबका निराकरण कर दिया।

(९) **बौनर-बंधु** :—और बौनर-बंधुओं ने तो वैज्ञानिक-विश्व में पारिवारिक योगदान के सभी रिकार्ड तोड़ दिए हैं। वे छः भाई थे। उनके माता-पिता भी जीवरसायनज्ञ (बायोकेमिस्ट) थे। बौनर भाइयों में से तीन तो वनस्पति विज्ञान के क्षेत्र में आए और बाकी तीन भौतिक विज्ञान के मैदान में उतरे। इस वैज्ञानिक परिवार के पिता वाल्टर डी बौनर ने यूनिवर्सिटी आफ टौरंटो से पी. एच-डी. की उपाधि प्राप्त की

और उनकी पत्नी अर्थात् परिवार की माँ को यूनिवर्सिटी ऑफ ऊटा से डिग्री मिली। उनकी सात संतानों में से एक लड़की थी, जिसका विवाह एक जैवरसायनज्ञ के साथ ही किया गया। उनके सबसे बड़े पुत्र जेम्स बौनर, कैलीफोर्निया इन्स्टीट्यूट आफ टेक्नोलौजी में जीवविज्ञान के प्रोफेसर हैं। उन्होंने 'प्लाण्ट बायोकेमिस्ट्री' शीर्षक से एक पुस्तक लिखी है। लेकिन ए. एच. गाल्स्टन के सहयोग से लिखी गई "प्लाण्ट फिजिओलोजी" (पादप-क्रिया-विज्ञान) पुस्तक को विशेष ख्याति मिली है। तीसरे भाई डेविड एम. बौनर येल यूनिवर्सिटी में माइक्रोबायोलोजी (सूक्ष्माणुविज्ञान) के प्रोफेसर हैं और पाँचवें भाई वाल्टर डी० बौनर कार्नेल यूनिवर्सिटी में वनस्पति-विज्ञान के प्रोफेसर हैं।

(१०) टूकी-भाई—टूकी भाइयों में सबसे बड़े भाई के नाम के प्रथमाक्षर एच. वी. हैं। वे मिचिगेन स्टेट यूनिवर्सिटी के उद्यान विज्ञान विभाग (हॉर्टीकल्चर डिपार्टमेंट) के अध्यक्ष थे। अब वे अवकाश प्राप्त कर चुके हैं। उन्होंने एक पुस्तक लिखी है "प्लाण्ट रेगूलेटर्स इन एग्रीकल्चर" जो सर्वविदित है। इनके दो छोटे भाई हैं, दोनों की उम्र तीस-चालीस के बीच में है। इन दोनों की भी प्रमुख रुचि बागवानी में ही है। एल. डी. टूकी पेनसिल्वानिया स्टेट यूनिवर्सिटी में हैं, और आर. बी. टूकी पर्डू यूनिवर्सिटी में।

अब तक जितने वनस्पतिज्ञ गिनाए हैं, बस उतने ही नहीं हैं। 'क्लासीफिकेशन आफ फ्लोवरिंग प्लान्टस' नामक पुस्तक के माध्यम से वनस्पति विज्ञान के सभी विद्यार्थी ए. बी. रेण्डल के नाम से परिचित होंगे। उनके पुत्र बी. जे. रेण्डल ने भी काष्ठ-शारीरज्ञ (वुड एनाटोमिस्ट) के रूप में पर्याप्त प्रसिद्धि अर्जित की है।

और स्वर्गीय ए० सी० सीवार्ड का नाम किसने नहीं सुना होगा। वे कैम्ब्रिज के विख्यात 'पौलियो-बॉटनिस्ट थे। उनके शिष्य और बाद में दामाद, जॉन वाल्टन (फॉसिल प्लाण्टस नामक पुस्तक के लेखक) वनस्पतिज्ञ परिवार का एक उल्लेखनीय उदाहरण है। स्वर्गीय ई० ए० एन० आर्बर भी पैलिओबॉटनिस्ट थे। उनकी पत्नी एजनस आर्बर विख्यात आकारिकी-विज्ञ (मौर्फोलोजिस्ट) हैं। पौधों के 'टैरीडोफाइटा' वर्ग के विशेषज्ञ, फिलीकैलीज गण (आर्डर के वर्गीकरण के कारण ई० बी० कॉपलैण्ड को अवश्य जानते होंगे। उनके सुपुत्र एच० एफ० कॉपलैण्ड वर्गीकरण विशेषज्ञ होने के साथ-साथ आकारिकीविज्ञ (मोर्फोलॉजिस्ट) भी हैं।

(११) **पंचानन का पंच-वनस्पतिज्ञ परिवार :—** अब अपने देश में आवें। शायद दिल्ली विश्वविद्यालय संसार की नम्बर एक संस्था है, जिसके वनस्पति-विभाग में इतने वनस्पतिज्ञ-परिवार एकत्रित हैं। शुरुआत विभागाध्यक्ष प्रोफेसर पंचानन महेश्वरी से ही करें, जो वनस्पति-जगत में पी० महेश्वरी के नाम से विख्यात हैं। पादप-भ्रूण विज्ञान (प्लाण्ट एम्ब्रिओलोजी) के क्षेत्र में आज सम्पूर्ण विश्व में अकेले वे ही हैं जिन्होंने भारत का मस्तक ऊँचा उठा रखा है। वनस्पति विज्ञान की शायद ही कोई महत्वपूर्ण-अन्तर्राष्ट्रीय संस्था हो, जो उनको सम्मानित करके गौरवान्वित न हुई हो। उनके तीन पुत्र हैं और तीन पुत्री। सभी पुत्र वैज्ञानिक हैं। ज्येष्ठ महेश्वरी-सतीश ने १९५८ में ऐम्ब्रियोलोजी आफ लेम्नेसी पर पी० एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। लेकिन उनकी रुचि पादप क्रिया विज्ञान (प्लाण्ट फिजियोलोजी) में अधिक है। अतः वे एक वर्ष येल यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर ए० डबल्यू० गॉल्स्टन के निर्देशन में पादप-जैवरसायन (प्लाण्ट बायोकैमिस्ट्री) में अनुसंधान करते रहे। उसके बाद एक वर्ष तक डॉ० जेम्स बौनर से दीक्षा ली और विश्वविख्यात विज्ञान संस्था कैलीफोर्निया इन्स्टीट्यूट आफ टैक्नौलोजी में रहे। १९६१ में वे इस अमरीकी-यात्रा से वापिस लौटे और आजकल दिल्ली यूनिवर्सिटी में रीडर हैं, तथा पौधों में प्रोटीन-संश्लेषण

पर अनुसंधान कर रहे हैं।

डॉ सतीश की सहधर्मिणी निर्मला महेश्वरी भी वनस्पतिज्ञ हैं। उन्होंने १६५६ में डॉक्टरेट ली। उसी वर्ष वे भी अपने वैज्ञानिक पति के साथ अमरीका गईं और येल तथा कैलीफोर्निया में उच्च अध्ययन में संलग्न रहीं। सम्प्रति इन दिनों भारतीय कृषि अनुसंधानशाला, नई दिल्ली के वनस्पतिविज्ञान विभाग में हैं।

प्रो० महेश्वरी के दूसरे पुत्र रमेश महेश्वरी वनस्पतिविज्ञान में एम० एस-सी० करने के बाद विसकॉंसिन यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर हिल्डर ब्रेण्ट के निर्देशन में अनुसंधान कर रहे हैं। उनकी विशेष रुचि पादप रोग विज्ञान (प्लाण्ट पैथोलोजी) में है।

महेश्वरी परिवार में पाँचवीं वनस्पतिज्ञ हैं उनकी सबसे बड़ी पुत्री कमला, जिन्होंने वनस्पति विज्ञान में एम० एस-सी० करने के बाद दो वर्ष तक भ्रूण विज्ञान में शोध-कार्य किया।

इसी वनस्पति-विभाग में हैं डॉ० शिरीष गुप्ता जो आगरा विश्वविद्यालय के वरिष्ठ वनस्पति प्रोफेसर बी० एल० गुप्ता के सुपुत्र हैं। डॉ० रवीन्द्र नाथ कपिल की धर्म-पत्नी भी वनस्पति विज्ञान में ही डॉक्टरेट प्राप्त हैं। श्री गणेश शंकर पालीवाल हैं जो भारत के उदीयमान वनस्पतिज्ञ हैं, और डॉ० आर० एस० पालीवाल के सम्बन्धी हैं। डॉ० आर० एस० पालीवाल 'पूसा इंस्टीट्यूट' में 'मक्का-प्रजनन विशेषज्ञ' (प्लाण्ट-ब्रीडिंग स्पेशलिस्ट) हैं।

खोजने पर ज्ञान के विज्ञान विभिन्न क्षेत्रों में यह पारस्परिक सम्बन्ध मिल सकता है। जब एक परिवार के सदस्य शक्ल-सूरत में एक दूसरे से मिल सकते हैं, तो गुणों में मिलें तो क्या आश्चर्य!

१. बहु उपयोगी बाँस

श्रीगुरुचरन माथुर

बाँस अंधे का मार्ग-दर्शक, वृद्ध का सहारा, गरीब का हथियार और सर्दी, धूप और बरसात से उनकी रक्षा करने वाली तथा बिना मूल्य अथवा बहुत ही स्वल्प मूल्य पर प्राप्त होने वाली सर्वसुलभ वनस्पति है। जंगलों में यह प्राकृतिक तौर पर उगती है तथा अब तो कहीं-कहीं इसकी खेती भी की जाती है। भवन-निर्माण कार्य के लिए भी यह बड़ा उपयोगी है। गाँवों में तो इसी से मकानों की दीवारें, छतें और खिड़की-दरवाजे आदि बनाये जाते हैं और शहरों में इससे बड़ी आकर्षक प्रकार की मेजें, कुर्सियाँ, डालियाँ, पर्दे आदि सजावट की चीजें बनाई जाती हैं। आजकल तो लाखों टन बाँस काग़ज बनाने के काम में भी प्रयुक्त होता है, जिससे नये ढंग से बाँस की खेती करके इसकी उपज बढ़ाने की चेष्टा की जाती है।

बाँस में सबसे बड़ा गुण तो यह है कि इसे मामूली औजारों से काट और चीर कर खोला जा सकता है। जोड़ों पर यह बड़ा कठोर होने के कारण इसे चीरने पर भी इसमें बल नहीं पड़ता, इसके रेशे चिमड़े होने के कारण आसानी से नहीं टूटते। इसकी लम्बाई और मोटाई भी सुविधाजनक होती है अतः साधारण कारीगर भी कुशलता पूर्वक इससे अनेक उपयोगी चीजें बना सकते हैं। इसमें सबसे बड़ा दुर्गुण यही है कि यह बहुत जल्दी सड़ने और गलने लगते हैं, दीमक और घुन इन्हें खा जाती हैं, इस प्रकार इनसे बनी वस्तुओं या मकानों की आयु दो-तीन वर्ष से अधिक नहीं होती, लेकिन अब प्रयोगों द्वारा मालूम हुआ है कि यदि इनका रासायनिक विधि से उचित उपचार कर दिया जावे तो इनकी आयु १५ से २० वर्ष तक हो सकती है।

उपचार विधि

रसायनिक क्रिया के लिए निम्न दो रासायनिक घोल उपयुक्त पाए गए हैं :—

(१) नीला थोथा-सुर्खकाही-कच्चा संखिया, (कॉपर-क्रीम-आरसैनिक मिश्रण) का पानी में घोल।

२० गैलन पानी में एक के बाद दूसरे क्रम से १ सेर कच्चा संखिया, (आरसैनिक पैंटा आक्साइड), ३ सेर नीला थोथा (कापरसल्फेट) के रवे, और ४ सेर सुर्खकाही (पोटाशियम डाईक्रोमेट) अच्छी तरह से मिलाकर घोल तैयार किया जाता है। अथवा

(२) नीलाथोथा-सुर्खकाही-तेजाब सिरका (कॉपर-क्रोम-ऐसीटिक एसिड) के मिश्रण का पानी में घोल।

२० गैलन पानी में एक के बाद दूसरे क्रम से ४ सेर नीला थोथा (कॉपर सल्फेट) के रवे, ४ सेर सुर्खकाही (सोडियम डाईक्रोमेट) और ३ छटाँक तेजाब सिरका (ऐसीटिक एसिड) अच्छी तरह मिला कर घोल तैयार किया जाता है।

(१) प्रथम उपचार विधि—(डुबोकर उपचार करना)

ताज़ा कटे हुए बाँसों को पत्तों और डालियों सहित रसायनिक घोल में इस प्रकार डुबोया जाता है कि पत्ते

आदि हवा में रहें और इनकी हवा से नमी सूखने से घोल बाँस में सोखा जाता है। इस क्रिया में लगभग दो दिन लग जाते हैं जो कि बाँस की लम्बाई, किस्म तथा मौसम पर निर्भर करता है। पत्तों के रंग को देखकर यह अनुमान किया जाता है कि उपचार क्रिया पूर्ण हुई या नहीं। कुछ अनुभव से भी इसका पता आसानी से लग जाता है।

(२) बोशरों विधि—

इस विधि में ताज़ा कटे बाँसों को पत्तों और डालियों समेत काम में लिया जाता है। बाँस को एक सिरे से उन डोलों से जिनमें रासायनिक घोल भरा होता है, रबड़ की नालियों से जोड़ दिया जाता है जिससे बाँस में धीरे-धीरे बह सके। इसके लिए बाँस के एक सिरे को ऊँचा रखा जाता है और निचले सिरे पर एक बर्तन रख दिया जाता है, जिसमें बाँस से बह निकल कर घोल जमा हो जाए। पहिले बाँस के अन्दर जो अपना द्रव्य होता है, जिसे "सैप" कहते हैं, वह बाँस में से निकलता है, इसे बेकार जाने दिया जाता है। कुछ समय बाद रसायनिक घोल बहकर निकलने लगता है, जिसे इकट्ठा कर लेते हैं। जब बाँस में से उसी रंग का घोल निकलने लगे जैसा कि घोल का असली रंग है तो समझना चाहिए कि उपचार क्रिया पूरी हो गई। बर्तन में इकट्ठा किए गए घोल में आवश्यक मात्रा में रासायनिक पदार्थ मिलाकर फिर से काम लिया जा सकता है।

हवा पम्प के प्रयोग से सुधार

जिन डोलों में घोल भरा हो उनमें हवा पम्प द्वारा कुछ दवाव पैदा करने से बाँस में से घोल बहाने की क्रिया को बहुत शीघ्रता से पूरा किया जा सकता है। प्रायः साइकिल अथवा मोटर के हवा पम्प का उपयोग-किया जा सकता है।

(३) खोखले बाँस का उपचार

इस्पात के एक औजार से खोखले बाँस को अन्दर मे कुरेदा जाता है जिससे बाँस रासायनिक घोल अच्छी तरह अन्दर सोखले। बाँस के एक सिरे के पोरवे को घोल से भर कर बाँस को पेड़ से सीधा लटका दिया जाता है, जिससे कि घोल बाँस के निचले सिरे से बह निकलता है। जब इसका रंग वैसा ही हो जैसा कि शुरू में घोल का हो, तो समझना चाहिए कि उपचार क्रिया पूरी हो गई है। बाँस से बह निकले हुए द्रव में, आवश्यक मात्रा में रासायनिक पदार्थ मिलाकर फिर से काम लिया जा सकता है।

(४) दबाव विधि

दबाव विधि से उपचार क्रिया बहुत अच्छी तरह और अति शीघ्र की जा सकती है लेकिन इसके लिये उन चीजों की जरूरत होती है जो हमारे देहातों में उपलब्ध नहीं हो सकती अतः इस विधि का उल्लेख नहीं किया गया।

२. आमवात पर विजय

ग्रीक वासियों का मत था कि आमवात एक "प्रवहमान रोग" है जो मनुष्य के किसी भी अंग में हो सकता है और जिसके हो जाने पर शरीर के जोड़ों या आस-पास के भागों में असह्य वेदना उठती है। यह पीड़ा कहाँ पर होती है इसका ठीक-ठीक पता न तो रोगी को चल पाता है और न ही डाक्टर को। शायद ही कोई दूसरा रोग मौसम पर इतना निर्भर करता हो। जिन लोगों को आमवात हो जाता है उनके लिए गीले (आर्द्र) एवं ठंडे एवं धूपरहित दिन बड़े संकटमय सिद्ध होते हैं।

किन्तु हाथों और पावों में उठने वाली यह असह्य पीड़ा रोग नहीं है, भले ही इसके लक्षण वैसे होते हों। जो लोग कहते हैं कि आमवात रोग संधियों (गाँठों) का रोग है, वे भूल करते हैं। पिछली शताब्दी में एक फ्रांसीसी चिकित्सक का यह कथन था कि आमवात रोग संधियों पर बहुत हल्का प्रभाव डालता है किन्तु, हृदय पर गहरा आघात करता है। यह अत्यन्त नौजवान पुरुषों पर आक्रमण कर बैठता है। ३० वर्ष पूर्व केवल १६ से १८ वर्ष तक के लोग इस रोग के

शिकार होते थे, किन्तु अब तो ७-८ वर्ष के बालकों पर भी इसका आक्रमण होने लगा है। सामान्यतः संधियों का दर्द दूर होते ही कुछ रोगी अच्छे हो जाते हैं, किन्तु कुछ के हृदयों में सूजन आ जाती है। यही नहीं एण्डो-कार्डियम, यहाँ तक कि कभी-कभी मायोकार्डियम तथा पेरीकार्डियम तक में सूजन आ जाती है। किन्तु हर हालत में रक्त-संचार प्रणाली में कुछ न कुछ दोष रह ही जाता है। किन्तु ऐसा भी होता है कि हृदय पर कोई प्रभाव ही न पड़े अथवा पड़े तो लेशमात्र ही। ऐसी दशाओं में संधियों के इस आमवात में एक बड़ा दुर्गुण होता है और वह यह है कि यह दीर्घकालिक होता है और एक निश्चित अवधि के बाद विभिन्न प्रखरता के साथ पुनः हो सकता है। इस रोग के होने के समय अथवा उसके कारणों के विषय में काय चिकित्सकों के विचार बिल्कुल स्पष्ट हैं, किन्तु वास्तव में क्या होता है यह ठीक से ज्ञात नहीं हो पाया।

यह सम्पूर्ण व्याधि कुछ जीवाणुओं के संदूषण से फैलती है। इन जीवाणुओं में स्ट्रैप्टोकोकाई प्रमुख हैं। इन जीवाणुओं के कुछ प्रभेद शरीर पर आक्रमण करके प्रतिविष अथवा प्रतिपिण्ड उत्पन्न करते हैं जो आक्रामकों को पराजित कर देते हैं किन्तु विष, प्रतिविष, जीवाणु तथा प्रतिपिण्ड—ये सभी मिलकर एक नवीन पदार्थ बनाते हैं जिसका प्रभाव विषैला होता है। इससे आमवात रोग की शृङ्खला मुक्त हो जाती है, किन्तु हृदय पर सीधा प्रभाव पड़ता है।

एक बार इस व्याधि के उत्पन्न हो जाने पर काय-चिकित्सकों के लिए इसका उपचार कर पाना अत्यन्त दुष्कर हो जाता है। फिर भी सम्पूर्ण योरप के चिकित्सा-विशारद एक मत हैं कि किसी भी घातक जीवाणु के संदूषण को दूर करना कठिन नहीं है। स्ट्रे-प्टोकोकाई जो वातरोग के विष को वृहत् मात्रा में उत्पन्न करते हैं ऐंटीबायटिकों द्वारा, विशेषतः पेनिसि-लीन द्वारा नष्ट किए जा सकते हैं। अतः इसी उपचार को वर्षों तक करना उचित होगा।

आमवात का एक दूसरा भी प्रकार है जो चालीस वर्ष से अधिक आयु वाली स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा तिगुना अधिक होता है और जिसे काय-चिकित्सक पुराना संधिरोग (पालीआर्थिटिज) कहते हैं। इस रोग का उपचार और भी कठिन है। यह रेंगने वाली व्याधि है। पहले तो यह हाथों या पाँवों के जोड़ों से प्रारम्भ होता है, किन्तु अन्त में सम्पूर्ण शरीर के बड़े-बड़े जोड़ों पर छा जाता है। यद्यपि रोगी के जोड़ों के रक्त की जाँच करके इस रोग का पता लगाया जा सकता है, किन्तु यह क्यों होता है, कुछ के हृदयों पर क्यों आक्र-मण करता है तथा जोड़ों पर ही इतनी तीव्रता से क्यों प्रभाव दिखलाता है - ये बातें अभी अस्पष्ट नहीं हो पायीं। अतः न तो इसके उत्पन्न होने के कारणों का पता है और न इसकी प्रक्रिया का ही। बस एक चीज जो ज्ञात हो पाई है वह यह है कि यह रोग दीर्घकालीन है और कभी-कभी १५-२० वर्षों तक चल सकता है। काय-चिकित्सक केवल इतना ही कर सकते हैं कि धीरे-धीरे इस रोग को समाप्त करें। उनके पास इसकी कोई रोक नहीं हैं।

इस रोग के उपचार की दो ही विधियाँ ज्ञात हैं। एक तो आमवात उपचार सम्बन्धी स्नान; जिसमें रोगी को पीट, गंधक अथवा प्राकृतिक खनिज झरनों में नह-लाया जाता है, जिससे सूजन कुछ कम हो जाती है। दूसरी है रसायन चिकित्सा, जिसमें रोगी के जोड़ों को कार्यशील रखा जाता है। इससे तो यही सिद्ध होता है कि पुरानी कहावत "रखे-रखे मुर्चा लग जायगा" शरीर पर पूर्णतः लागू होती है। अतः उसे कार्यशील रखना चाहिए।

आमवात से पीड़ितों को चलने-फिरने में सन्धि-पीड़ा का अनुभव होता है, अतः सहज उपचार है इस पीड़ा को दूर कर देना। इसे तो दवाओं के द्वारा सहज ही दूर किया जा सकता है। साथ ही साथ, काय-चि-कित्सक स्वर्ण लवणों के द्वारा स्थिति को काबू में कर सकते हैं, क्योंकि ये लवण आमवात रोग के उभाड़ने वाले हैं जिनसे आमवात की आगे की प्रक्रिया को शरीर के अन्दर की सुरक्षा विधियाँ मन्द कर सकती हैं। इस

प्रकार से रोग की अवधि भर बिना दवा के रोगी का काम नहीं चल सकता। किन्तु काय-चिकित्सक और कर ही क्या सकता है। उसके पास ऐसी कोई दवा नहीं जो रोगी को तुरन्त ठीक कर दे। बस एक मात्र उपाय यही है कि जितने भी रोगी हैं वे अपने चिकित्सकों के सुझाव पर चलें और अपने अंगों को चलाते रहें। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ काल बाद उन्हें लाभ होगा। साथ ही रोगियों को हताश नहीं होना चाहिए। बस इन्हीं दो बातों से काफी लाभ पहुँचेगा।

जनवादी जर्मन गणराज्य में इस समय डेढ़ करोड़ व्यक्ति आमवात से पीड़ित हैं, जिसके कारण प्रतिवर्ष ३० हजार व्यक्तियों को अपनी नौकरी छोड़नी पड़ती है। आमवात आजकल के समस्त रोगों में सबसे अधिक खर्चीला है। समस्त योरप के काय-चिकित्सक इस रोग के रहस्यों को सुलझाने में संलग्न हैं। आशा है कि हमारा देश भी अपने आमवात रोगियों के प्रति जागरूक होकर उपर्युक्त अनुभवों से लाभ उठावेगा।

३. दूषित वायु के कुप्रभाव की रोक-थाम

अमेरिका में दूषित वायु के हानिकारक प्रभावों को नियन्त्रित करने के लिए हाल में किये गये अनुसन्धानों के परिणामों से इस बात के निश्चित प्रमाण प्राप्त हो चुके हैं कि उद्योग-प्रधान शहरी केन्द्रों के निवासियों के स्वास्थ्य पर दूषित वायु का बहुत ही हानिकारक प्रभाव पड़ रहा है। इस संकट का सामना करने में अमेरिका सरकार और स्थानीय सरकारें, उद्योग और विश्वविद्यालय आपस में सहयोग कर रहे हैं।

उग्रतम स्थितियों में दूषित वायु घातक सिद्ध हो सकती है। इससे श्वास सम्बन्धी गम्भीर विकार, जैसे दमा, ब्रोन्काइटिस या एम्फीसेमा, उत्पन्न हो सकते हैं अथवा उग्र रूप धारण कर सकते हैं। इसके कारण लोगों को रुलाई, छींक या खाँसी आ सकती है। इससे कैंसर भी उत्पन्न हो सकता है—किन्तु अभी तक इनके प्रमाण पशुओं के सम्बन्ध में मनुष्यों की अपेक्षा अधिक निश्चित रूप से पाये गये हैं।

अमेरिका के कोयला, इस्पात, पेट्रोलियम और रसायन उद्योगों ने धुआँ अथवा वायु को दूषित करने वाले अन्य तत्वों की मात्रा को नियन्त्रित करने के लिए उपयुक्त यन्त्र विकसित और स्थापित करने पर कई करोड़ डालर व्यय किया है। उदाहरण के लिए, नेशनल कोल एसोसियेशन अपने उद्योग के संयन्त्रों की जाँच-पड़ताल करने के लिए निरन्तर एक कार्यक्रम चला रहा है। यह एसोसियेशन जलाये जाने वाले ईंधनों की किस्में परिवर्तित करने अथवा धुएँ की चिमनियाँ बदलने के लिए सुझाव देता है।

मनुष्य के स्वास्थ्य पर दूषित हवा का दुष्प्रभाव दो रूपों में प्रकट होता है: एक तो यह किसी उग्र दुर्घटना के रूप में प्रकट होता है, जैसा कि हाल में लन्दन में हुआ, जहाँ इसके कारण कई हजार व्यक्ति मौत के मुँह में समा गये। इससे भी गम्भीर दुर्घटना वहाँ १९५२ में घटित हुई, जब १० दिन के भीतर 'सामान्य' रूप से मरने वालों की संख्या ४ हजार से ५ हजार तक पहुँच गयी थी।

दूसरा इससे कम उग्र, किन्तु इतना ही महत्वपूर्ण दीर्घकालीन प्रभाव है, जो थोड़ी-थोड़ी मात्रा में लम्बी अवधि तक श्वास द्वारा दूषित वायु खींचने से उत्पन्न होता है। अंत में, चिकित्सकों और अन्य व्यक्तियों ने हाल के वर्षों में एक मनोवैज्ञानिक समस्या के अस्तित्व को स्वीकार किया है, जो निरन्तर धुएँ और कुहरे ('स्मोग') के वातावरण में रहने से उत्पन्न होती है। यह बात कैलिफोर्निया की लोस-एँजेलस काउण्टी के विषय में विशेष रूप से सत्य है, जहाँ चिकित्सकों ने अनेक रोगियों को सलाह दी है कि वे धुआँ-कुहरा से बचने के लिए वहाँ से अन्यत्र चले जायँ।

वायु को दूषित करने वाला एक प्रमुख साधन मोटर गाड़ी है। यह स्थिति कैलिफोर्निया में विशेष रूप से गम्भीर है, जहाँ हाल के वर्षों में मोटर-गाड़ियों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई है। विश्वविद्यालयों और अनुसन्धान-संस्थाओं के सहयोग में

काम करते हुए, मोटर उद्योग इंजिनों के आस-पास लगाने के लिए नियन्त्रण-यन्त्र विकसित कर रहा है, ताकि वायु को दूषित करने वाले तत्व वायुमण्डल में कम मात्रा में प्रविष्ट हों। वे इंजिन की ऐसी नई डिजाइनें तैयार करने के लिए भी प्रयत्नशील हैं, जिनके अन्तर्गत गैस उत्पन्न करने वाली सामग्री इंजिन में ही पुनः संचारित हो जाय और मोटरगाड़ी से बाहर निकलने से पूर्व अच्छी तरह भस्म हो जाय।

अमेरिकावासियों के लिए, दूषित वायु सम्बन्धी सबसे गम्भीर दुर्घटना १९४८ में, पिट्सबर्ग, पैन्सिल्वैनिया, के दक्षिण में स्थित डोनोरा नामक नगर में हुई थी।

वहाँ पर घना कुहरा छा गया था, जो तथा कथित तापमान—अन्तर्गमन द्वारा, जिसके अन्तर्गत अपेक्षाकृत ठण्डी हवा के सिरे पर गर्म हवा की परत छा गयी थी, उत्पन्न हुआ था, कुहरे में धूम्र तथा वायु को दूषित करने वाले अन्य तत्त्व असहनीय मात्रा में घुल-मिल गए थे। नगर के ऊपर छाया यह कुहरा छठे दिन साफ हुआ। उस बीच इस दुर्घटना से २० व्यक्ति मरे और हजारों निवासी बीमार पड़े। मृतकों में अधिकांश संख्या बड़े-बूढ़ों की थी, जो श्वास सम्बन्धी बीमारियों से पहले से ही पीड़ित थे। बहुत से युवक और स्वस्थ व्यक्ति अकस्मात गम्भीर रूप में बीमार पड़ गए।

इस प्रकार की दुर्घटनाओं से बचने के लिए नियन्त्रणकारी उपाय ढूँढ़ने के सम्बन्ध में जो प्रयत्न किए गए, उनमें सरकारी एजेंसियों और उद्योग के बीच अत्यधिक सहयोग की झलक मिलती है। पिट्सबर्ग का नगर इस सहयोग का ज्वलन्त उदाहरण है। यह नगर, जो किसी समय गन्दा और धुएँ से भरा रहता था, सहयोग कार्यक्रम के फलस्वरूप बहुत ही स्वच्छ हो गया है, और वहाँ वायु-दूषण की तीव्रता बहुत कम हो गयी है।

अब अमेरिका में हो रहे अनुसन्धानात्मक प्रयासों का लक्ष्य दूषित वायु को कम मात्रा में दीर्घकाल तक श्वास द्वारा शरीर के भीतर ले जाने के दीर्घकालीन कुप्रभावों को दूर करना है। इस दिशा में प्राप्त प्रमाणों से स्पष्ट पता चलता है कि नगरों में होने वाली मृत्यु और असाध्य बीमारियों का एक कारण वायु का दूषित होना भी है।

अमेरिकी स्वास्थ्य सेवा इस निष्कर्ष पर पहुँची है कि :—

"संग्रहीत प्रमाणों से यह पर्याप्त रूप में स्पष्ट है कि वायु के तीव्र रूप दूषित होने के कारण बूढ़ों और कमजोरों की मृत्यु हो जाती है और सामान्य निवासियों में गम्भीर रोग फैल जाते हैं। यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि ब्रिटेन में वायु का दूषित होना कम से कम एक विशेष रोग का प्रमुख कारण तो अवश्य ही है और वह रोग है असाध्य ब्रोंकाइटिस।

"सम्भव है कि वायु में पाए जाने वाले उत्तेजक तत्त्व श्वास-नलिका के तंतुओं में परिवर्तन और श्वास लेने में बाधा उत्पन्न करते हों। संग्रहीत प्रमाणों से इस सिद्धान्त की भी, जो अभी तक अप्रमाणित है, पुष्टि होती है कि आज के समाज की अनेक "शहरी" बीमारियों के कारण होने वाली मृत्यु-दर में दूषित वायु के प्रभाव उल्लेखनीय योग प्रदान करते हैं। इन रोगों के अन्तर्गत, धमनियों में रक्त के चकत्ते जम जाने से उत्पन्न रोग तथा हृदय की अन्य बीमारियाँ और फेफड़े, कण्ठ-नलिका, पेट आदि के कैंसर सम्मिलित हैं।"

न्यू ओर्लियन्स, लुइजियाना में हाल में, यह देखा गया कि उन क्षेत्रों में, जहाँ गन्दगी को खुले गड्ढों में जलाया गया था, दमा और श्वास सम्बन्धी अन्य रोगों के उपचार के लिए बने अस्पतालों में भर्ती होने वाले रोगियों की संख्या अचानक ही बहुत बढ़ गयी। अमेरिकी स्वास्थ्य सेवा और वैण्डरबिल विश्वविद्यालय द्वारा नैशविल, टैनैसी, में संयुक्त रूप से कार्यान्वित एक अनुसन्धान में यह देखा गया कि लगभग ८४ प्रतिशत रोगियों में दमा के दौरे बस्ती के वायुमण्डल में व्याप्त गन्धक की मात्रा के अनुपात से ही बढ़ रहे थे। दमा के प्रौढ़ रोगियों के सम्बन्ध में, कम दूषित वायुमण्डल

वाले क्षेत्रों के निवासियों की तुलना में अधिक दूषित वायुमण्डल वाले क्षेत्रों के निवासियों के दौरों की दर तीन गुनी अधिक थी ।

सैकड़ों स्थानीय जन-समुदायों ने वायु-दूषण के स्तरों को सीमित करने के लिए कानून लागू किए हैं। एक समस्या यह है कि वायु दूषित करने वाले तत्त्व पवन प्रवाहों के साथ एक राज्य की सीमा लाँघ कर दूसरे राज्य में पहुँच जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय वायु-दूषण की समस्या सुलझाने के लिए कई राज्य क्षेत्रीय योजनाएँ तैयार कर रहे हैं। अमेरिकी कांग्रेस के समक्ष भी एक विधेयक प्रस्तुत है, जिसका उद्देश्य दूषित वायु की रोक-थाम के लिए एक राष्ट्रीय संस्था की स्थापना करना है। हाल में, वाशिंगटन में वायु-दूषण सम्बन्धी एक राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ जिसमें इस समस्या पर तथा कुछ प्रस्तावित उपायों पर विचार-विमर्श किया गया। मैरीलैण्ड विश्वविद्यालय के बाल्टीमौर स्थित स्कूल औव् मैडिसिन के अनुसन्धानकर्ता, डा० विलियम स्पाइस जूनियर ने कहा कि वायु को दूषित करने वाले किसी विशेष तत्त्व और किसी विशेष रोग के बीच कारण कार्य का कोई सरल सम्बन्ध नहीं। इसके विपरीत, ऐसा प्रतीत होता है कि यह एक जटिल समस्या है, जिसमें वायुमण्डलीय परिवर्तनों से सम्बद्ध सूक्ष्म परिवर्तन उत्पन्न करने वाले अनेक तत्त्व संयुक्त रूप से योग प्रदान कर रहे हैं।

४. बाल पक्षाघात का सफाया

मानव-समाज चिर अतीत में ही पोलियोमाइलेटिस नामक भयानक रोग का सामना कर चुका था, जो अक्सर शिशु-पक्षाघात कहलाता है। फिर भी संक्रामक पोलियोमाइलेटिस पिछले दस वर्षों में विशेष रूप से व्यापक रहा है। उदाहरणतः संयुक्त राज्य अमरीका में सन् ६५२ में पोलियो के ५७००० रोगी थे। सोवियत संघ में अभी हाल तक पोलियो के रोगी विरले हुए हैं। लेकिन कुछ साल पहले कुछ प्रदेशों में यह रोग संक्रामक रूप से फैला था। सोवियत संघ में पोलियोमाइलेटिस का सफाया करने का कठिन काम सोवियत सरकार ने वैज्ञानिकों और डाक्टरी कार्यकर्ताओं को सौंपा।

बात यह है कि न केवल इस बीमारी का इलाज करना मुश्किल है, बल्कि साथ ही साथ समय पर इसका निदान करना भी उतना ही मुश्किल है। पोलियोमाइलेटिस इन्फ्लुएंजा का नकाब लगाकर चोरी-छिपे, हौले-हौले आता है। जब उसका वाइरस रीढ़ की मज्जा के स्नायुकोशों पर "हमला" करता है तभी उसका असली "चेहरा" देखने में आता है .. जिस व्यक्ति पर ऐसा हमला होता है उसकी दुर्गति हो जाती है, क्योंकि विकृत हाथ, पाँव, लँगड़ी चाल जैसे जीवन भर के चिह्नों के बिना शायद ही कोई इस भयानक रोग के चंगुल से बच निकल पाता है।

पोलियोमाइलेटिस को परास्त करने का एक ही रास्ता है और वह है उसे आने से रोकना, आठ साल पहले यह खुशखबरी दुनिया भर में जंगली आग की तरह फैली कि पोलियोमाइलेटिस की रोकथाम करने वाली विश्वसनीय दवा ईजाद की जा चुकी है। अमरीकी वैज्ञानिक साल्क ने मृत वाइरस से प्राप्त वैक्सीन को सफलता से इस्तेमाल किया। इस वैक्सीन की बदौलत पोलियो के मरीजों की संख्या एकदम घटी और इस रोग से मरने वालों की तादाद कम हुई। फिर भी साल्क के वैक्सीन ने समस्या का पूरा हल नहीं किया।

साल्क के देशवासी डा० आलबर्ट साबिन ने पोलियोमाइलेटिस की रोक के लिए एक नयी, अद्भुत दवा तैयार की। उसने जीवित वाइरस से वैक्सीन बनाया। अमरीका के राष्ट्रपति फ्रैंक्लिन डिलानो रूजवेल्ट इस रोग से ग्रस्त हुए थे। उनतालीस साल की उम्र में वह बीमार हुए थे और शेष जीवन भर पहिएदार कुर्सी पर ही इधर-उधर जा पाते थे।

साबिन का प्राणरक्षक-वैक्सीन सबसे पहले संयुक्त राज्य अमरीका में तैयार किया गया। लेकिन उसका दूसरा जन्मस्थान था रूस। डा० साबिन के साथ

रूस का सहयोग इधर कई वर्षों से जारी है। डा० साबिन के अनुभव को आगे बढ़ाते हुए रूस में तरह-तरह के परीक्षण किए गए और उसके वैक्सीन को बार-बार जाँचा गया जिससे पता चला कि यह एकदम निरापद है। जिन्दा वाइरस वाले वैक्सीन के गुण तो अपने आप व्यक्त थे। वह रोग से सशक्त उन्मुक्ति प्रदान करता है, शरीर में वह आसानी से और बिना दर्द के पहुँचाया जाता है, जिसमें स्वादिष्ट द्रव की दो बूँदें निगलना काफी होता है। यह बात विशेष महत्त्व रखती है, क्योंकि इसका "उपयोग" करने वालों में ज्यादातर बच्चे हैं।

सोवियत संघ के स्वास्थ्यरक्षा मंत्रालय और चिकित्सा विज्ञान अकादमी ने यह वैक्सीन व्यापक रूप से लगाने का कार्यक्रम स्वीकार किया है। इस वैक्सीन को मिठाइयों में दिया जाता है। मास्को स्थित मरात नामक मिठाई-फैक्टरी अब ये मिठाइयाँ बना रही है। दवा का ६५ प्रतिशत मिठाई वाले वैक्सीन के रूप में दिया गया और बहुत ही नन्हें बच्चों को वैक्सीन की बूँदें दी गयीं।

देश की जनता में, पोलियोमाइलेटिस के लिए सबसे संवेदनशील उम्र के लोगों को तीन-तीन बार वैक्सीन लगाना बहुत ही भारी काम है, फलतः रूस में अध्यापकों, किंडरगार्टनों व शिशु-सदनों के प्रतिपालकों, रेडक्रास और रेडक्रेसेंट संस्थाओं के सक्रिय सदस्यों आदि को इस सेवा में जुटाया गया। चार साल के दौरान में ६ करोड़ १० लाख से ज्यादा लोगों को वाक्सिनेट किया गया। दो महीने से लेकर पन्द्रह साल तक की उम्र के सभी बच्चे पूर्ण रूप से इस संख्या में आ जाते हैं। सोवियत संघ के कुछ प्रदेशों में पचपन साल तक की उम्र के सभी स्त्री-पुरुषों को वाक्सिनेट किया गया है।

डाक्टर ने पोलियोमाइलेटिस का पता लगा लिया है। बच्चे को फौरन अस्पताल में दाखिल किया जाता है। बीमारी के इस दौर में शरीर की सभी रक्षक शक्तियों को, विशेषकर एँटी-बाडी कहलाने वाले तत्त्वों को संगठित करने की डाक्टर हर तरह से कोशिश करता है। पक्षाघात को रोकने के लिए विशेष उपाय काम में लाए जाते हैं। प्रायः मरीज अस्पताल में तीस दिन ठहरता है। इतने में बीमारी का कठोर दौर खत्म हो जाता है और तब बच्चा विशेष आरोग्यसदन में भेजा जाता है, जहाँ वह कम-से-कम दो महीने ठहरता है। शारीरिक चिकित्सा, चिकित्सात्मक व्यायाम, मालिश, स्नान आदि हर जरूरी मदद यहाँ पर उसे दी जाती है। तीसरा दौर मिट्टी से चिकित्सा करने वाले विशेष स्वास्थ्य स्थलों में बच्चे तीन महीने, या जरूरत होने पर ज्यादा देर रहते हैं। इस प्रकार मरीजों का इलाज बहुत लम्बे अर्से तक होता है।

यह समझा जाता है कि पोलियोमाइलेटिस के खिलाफ संघर्ष में खर्च बहुत होता है। लेकिन सोवियत बच्चों के माता-पिता एक कोपेक भी नहीं देते, सारा खर्च राज्य अपने ऊपर लेता है।

विज्ञान वार्ता

१. वाटरप्रूफ वस्त्रों का निर्माण

अमेरिका में आजकल ऐसे वाटरप्रूफ रेन-कोटों और 'काम के कपड़ों' का उपयोग हो रहा है, जिनमें लाखों की संख्या में इतने सूक्ष्म छिद्र हैं कि उनसे पानी तो नहीं रिस सकता, परन्तु हवा गुजर सकती है। इस प्रकार के कपड़े से निर्मित वस्त्र धारण करने वाला व्यक्ति भारी से भारी वर्षा में भीगने से बचा रह सकता है। साथ ही शरीर की गर्मी वस्त्र के अन्दर ही एकत्र होने के फलस्वरूप, जो पसीना आता है, उससे भी वह बचा रहता है। इस वाटरप्रूफ कपड़े के निर्माण के लिए नाइलोन के सूत से निर्मित एक नये प्रकार के कपड़े का उपयोग किया जा रहा है, जिस पर विनिल नामक रासायनिक पदार्थ का लेप रहता है। इस प्रकार के नाइलोन-सूत से निर्मित कपड़े में लाखों की संख्या में सूक्ष्म छिद्र होते हैं। इस प्रकार के छिद्र का आकार लगभग ५ 'माइक्रोन' रहता है। एक 'माइक्रोन' एक मिलीमीटर के एक हजारवें हिस्से के बराबर होता है। जल इन छिद्रों के अन्दर प्रवेश नहीं कर सकता।

इस कपड़े से निर्मित सूट—इसमें एक जैकेट, हुड और पैण्ट रहता है—का भार १.५ पौण्ड (एक किलो ग्राम का दो तिहाई) से कुछ अधिक रहता है। यह वस्त्र उन लोगों के लिए विशेष रूप से बनाया गया है, जिन्हें सभी प्रकार के मौसमों में बाहर कार्य करना पड़ता है; जैसे सेवाओं से सम्बन्धित कर्मचारी, पुलिस-मैन और कारखानों में रंग छिड़कने वाली मशीन पर और नमीपूर्ण वातावरण में कार्य करने वाले श्रमिक। यह पदार्थ काफी मजबूत भी है और किसी एक जगह पर छेद हो जाने पर यह और अधिक नहीं फटेगा। इस पदार्थ का निर्माण न्यूयार्क नगर के रीब्स ब्रदर्स, नामक फर्म कर रही है। इससे वस्त्र तैयार करने का कार्य फिलाडेलफिया (पेन्सिल्वेनिया) स्थित इण्डस्ट्रियल प्रोडक्ट्स कम्पनी द्वारा किया जा रहा है।

२. बिजली की दीर्घजीवी बैटरी

अमेरिका में बिजली की एक ऐसी दीर्घजीवी बैटरी विकसित हुई है, जो निरापद कीटाणुओं से बिजली उत्पन्न करती है। इस प्रकार इसके द्वारा बिजली उत्पन्न करने पर जो व्यय पड़ता है, वह बहुत ही नगण्य होता है। इसका नाम 'बायोलाजिकल' (जैविक) फुएल सेल' है और सैद्धान्तिक रूप से आशा की जाती है कि यह ५० वर्ष से अधिक समय तक चालू रहेगी। इस अवधि में यह लगातार बिजली उत्पन्न करती रहेगी। इस सेल के भीतर हजारों कीटाणु भरे रहते हैं, जिनकी शक्ति को यह बिजली में परिणत कर देती है।

इस सेल का एक अग्रिम नमूना—जो ट्रांजिस्टर रेडियो, रोशनी के लट्टू या एक छोटी मोटर को चालू करने के लिए पर्याप्त बिजली उत्पन्न करता है, स्कूलों में शैक्षणिक या प्रदर्शन सम्बन्धी कार्यों के लिए तैयार किया गया है। छात्र और दिलचस्पी रखने वाले लोग अपने घरों पर भी प्रयोग के लिए इसे प्रयुक्त कर सकते हैं। इस नमूने को सैण्ट एण्टोनियो, टैक्सास की इलेक्ट्रान मौलिकुल रिसर्च कम्पनी ने तैयार किया है और अब टैकोमा, वाशिंगटन के बल्क डिस्ट्रिब्यूटिंग कार्पोरेशन द्वारा १६·९५ डालर में बेचा जा रहा है।

इसे विकसित करने वाले वैज्ञानिक इस समय इसका एक ऐसा नमूना विकसित करने में संलग्न हैं, जो ठोस हो, एक स्थान से दूसरे स्थान पर आसानी से ले जाया जा सकता हो, किन्तु इतनी अधिक बिजली उत्पन्न कर सकता हो कि इसका प्रयोग उन अल्प-विकसित देशों में हो सके, जिन्हें बिजली के सस्ते और दीर्घजीवी स्रोतों की आवश्यकता है। इसके कुछ अन्य नमूने भी तैयार हो रहे हैं, जिन्हें घरों, हवाई-अड्डों, रेल-पथों के सिगनलों और बाड़ों में बिजली के निजी स्रोत के रूप में प्रयुक्त किया जा सके। इनके अतिरिक्त, दूरस्थ और निर्जन स्थानों पर उद्योगों और व्यवसायों के सुरक्षित विद्युत् स्रोत में प्रयोग करने के लिए भी इसके नमूने तैयार हो रहे हैं।

इसका निर्माण प्लास्टिक के १२ डिब्बों द्वारा होता है, जिनका आकार दवा की गोलियाँ रखने वाली बोतलों या स्याही की छोटी बोतलों के बराबर होता है। इन डिब्बों में चावल की भूसी को पीसकर भर दिया जाता है। निर्माता के यहाँ से जब इसे मँगाया जाता है, तो इसके साथ एक थैली भी आती है, जिसमें कीटाणु भरे होते हैं। ये कीटाणु एक दृष्टि से अत्यन्त सूक्ष्म जीव होते हैं। ये बहुत कुछ रोटी पर लगने वाली फफूँदी जैसे होते हैं। इन कीटाणुओं को पानी और चावल की भूसी के साथ एक में मिश्रित कर दिया जाता है। जब भूसी सड़ने लगती है, तो कीटाणु उसे खाने लगते हैं। इस प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न बिजली को ताँबे और ऐल्यूमिनियम की दो पट्टियों द्वारा ग्रहण कर लिया जाता है। ताँबे की पट्टी बिजली की धारा के लिए 'एनोड' या 'धनाग्र सम्पर्क का कार्य करती है, जब कि ऐल्यूमिनियम की पट्टी 'कैथोड' या 'नकारात्मक का कार्य करती है। धातु के बने ये सम्बन्ध-सूत्र प्लास्टिक के प्रत्येक डिब्बे से बाहर निकले होते हैं और उन्हें तार द्वारा जोड़ कर उस रेडियो, बिजली के लट्टू या मोटर से सम्बद्ध कर दिया जाता है, जिसमें बिजली की आवश्यकता होती है।

इसके निर्माताओं के लिए भी यह बात बड़े आश्चर्य की है कि यह नयी विधि किस प्रकार क्रियाशील होती है। वैज्ञानिकों का विश्वास है कि विद्युत्-शक्ति या तो सजीव पदार्थ की सड़ांध से उत्पन्न होती है, अथवा सजीव पदार्थ पर कीटाणुओं की क्रियाशीलता से उत्पन्न किसी उपोत्पाद से उत्पन्न होती है।

नमूने की इकाइयों में बिजली को चलाने या बन्द करने के लिए कोई स्विच नहीं होती, क्योंकि बिजली की करेण्ट तो उस समय भी उत्पन्न होती रहेगी, जब स्विच बन्द रहेगी। इसके अतिरिक्त, इसके निरन्तर चालू रहने से सेल के चालू रहने की अवधि या क्षमता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह इकाई अपने-आप में सम्पूर्ण होती है और इसमें किसी बाहरी सम्पर्क की आवश्यकता नहीं होती। साथ ही, इसमें से ऐसी दुर्गन्ध भी नहीं निकलती, जिसका पता चल सके। किन्तु सेल के प्रत्येक डिब्बे में एक ऐसा छिद्र बनाने की आवश्यकता होती है, जिससे हवा बाहर-भीतर आ-जा सके।

एक बार सभी पुर्जों को जोड़ कर तैयार कर देने पर, इसकी ओर बराबर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं रह जाती। केवल कभी-कभी हजारों कीटाणुओं के भोजन के लिए चावल की भूसी और पानी को बदल कर पुनः भर देना पड़ता है। इसे खाकर वे कीटाणु बराबर अपने जैसे अगणित कीटाणुओं को जन्म देते रहते हैं, और इस प्रकार विद्युत् तैयार करने की क्रिया अबाध रूप से सतत् जारी रहती है।

३. तत्काल वर्षा की मात्रा प्रदर्शित करने वाला मानचित्र

अमेरिकी वैज्ञानिकों ने दीवार पर टाँगा जाने वाला एक ऐसा मानचित्र तैयार किया है, जो तत्काल यह प्रदर्शित करता है कि मानचित्र में निर्दिष्ट प्रदेश

के किसी भाग में वर्षा हुई है या नहीं। यह मानचित्र एक ही दृष्टि में यह भी प्रदर्शित कर देता है कि इस क्षण कितनी वर्षा हो रही है। इसके आविष्कर्ता रोनाल्ड टी० एच० कौलिस हैं, जो मेनलो पार्क, कैलिफोर्निया, के स्टैनफोर्ड रिसर्च इन्स्टिट्यूट में राडार एरोफिजिक्स ग्रुप के अध्यक्ष हैं। उनका विश्वास है कि अन्ततोगत्वा इस प्रकार के मानचित्र तैयार करना सम्भव हो जायेगा, जो तत्काल यह प्रदर्शित कर सकेंगे कि उस विशेष क्षण पर अमेरिका या विश्व के किसी भाग में मौसम का स्वरूप कैसा है। उन्होंने कहा है कि ये मानचित्र चालकों या यात्रियों के लाभार्थ हवाई अड्डों पर या ऐसे अन्य स्थानों पर लगाए जा सकते हैं, जहाँ सीधे-सादे लोग, जिन्हें किसी प्रकार की प्राविधिक जानकारी नहीं है, चालू मौसम की स्थितियों के विषय में जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं।

४. रबड़-पैडों का नया उपयोग

अमेरिका में एक राज मार्ग बनाया जा रहा है, जिसमें कृत्रिम रबड़ से निर्मित १४,७०० लचीले पैडों का उपयोग किया जा रहा है। ये पैड आकार में डेस्क पर रखी जाने वाली डिक्शनरियों जैसे दिखते हैं और इनका उपयोग राज मार्ग को सहारा देने वाले कंक्रीट खम्भों के सिरे पर लगाने के लिए हो रहा है। यह राज मार्ग वर्जिनिया स्थित चीजपीक खाड़ी में खड़े किए गए कंक्रीट के खम्भों पर से होकर गुजरेगा। खम्भों के सिरे पर लगे इन रबड़-पैडों पर ही राजमार्ग के ६० टन के टुकड़े बिछाए जाएँगे। सड़क पर मोटर आसानी से आ-जा सकेंगी।

इन पैडों के लिए चटाई शब्द का उपयोग किया गया है। स्टील प्लेटों के चारों ओर नियोप्रेने नामक कृत्रिम रबड़ का लेप करके इन पैडों को तैयार किया गया है। ये रबड़-पैड सड़क और खम्भों को आपस में रगड़ खाने से बचाते हैं। इनका उपयोग करने से कंक्रीट की उस क्षति और टूट-फूट से रक्षा हो जाती है, जो रगड़ अथवा तापमान परिवर्तन के फलस्वरूप होने वाली सिकुड़न अथवा फैलाव से होती है।

इस प्रकार के रबड़ पैडों से युक्त खम्भों पर १७·३ मील लम्बी सड़क बिछाई गई है। अब तक समुद्र के ऊपर बिछाई गई यह सबसे लम्बी सड़क है। इसकी गणना इंजीनियरिङ्ग विज्ञान के चमत्कारों में की जा रही है। सन् १९६४ के प्रारम्भ में ही यह राजमार्ग आवागमन के लिए खुल जायगा।

५. जीवित शरीर से विद्युत् शक्ति

अमेरिका में एक ऐसे यन्त्र का परीक्षण हो रहा है, जो मनुष्यों और पशुओं के शरीर से विद्युत शक्ति खींच सकता है। इस सम्बन्ध में किए जा रहे एक प्रारम्भिक प्रयोग के अन्तर्गत, एक चूहे की चमड़ी और पेड़ू के नीचे लगाये जाने वाले क्षरण-क्षरण प्रतिरोधक इलेक्ट्रोडों का प्रयोग किया जाता है। इन इलेक्ट्रोडों में लगे हुए पतले और इन्सुलेटेड तार चमड़ी से बाहर निकले होते हैं। इन तारों से होकर चूहे के शरीर में प्राकृतिक ढंग मे उत्पन्न १५५—माइक्रोवाट की विद्युत्-धारा प्रवाहित होती है। यह विद्युत्धारा ५०० किलो साइकिल क्षमता वाले छोटे ट्रांसमिटर को संचालित करने के लिए पर्याप्त होती है।

ईसके आगे के परीक्षण के रूप में, जनरल इले-क्ट्रिक कम्पनी की वेली फोर्ज, पैन्सिल्वेनिया, स्थित प्रयोगशाला (जहाँ इस गन्त्र को विकसित किया गया है) के वैज्ञानिक, खरगोशों और कुत्तों के शरीर के भीतर ट्रांसमिटर सहित समुचे यन्त्र को स्थापित करने वाले हैं, ताकि कोई तार बाहर न निकला हो। यदि ट्रांसमिटर पशुओं के शरीर के भीतर ठीक ढंग पर सम्बद्ध हों, तो वे उनके हृदय की धड़कन, रक्तचाप, मस्तिष्क के स्पन्दनों तथा अन्य शरीरिक क्रियाओं के विषय में बराबर संकेत प्रसारित करते रहेंगे।

यदि ये प्रयोग सफल रहे, तो इस प्रकार के यन्त्र उन मनुष्यों के शरीर में भी लगाए जा सकेंगे, जिनकी शारीरिक क्रियाओं की बराबर जाँच-पड़ताल करना आवश्यक होती है चूंकि इस यन्त्र में कोई बैटरी नहीं

होती, अतः यह प्रयोग करने वाले व्यक्ति के जीवन भर चालू रह सकती है। इससे प्रयोगकर्त्ता को कोई पीड़ा नहीं होती और चलने-फिरने में भी बहुत ही कम परेशानी होती है। जो रोगी अपने हृदय विकार के सिलसिले में 'पेस मेकर' नामक यन्त्र धारण करते हैं, वे उस 'पेस मेकर' यन्त्र को चलाने के लिए आवश्यक बिजली स्वयं अपने शरीर से इस यन्त्र द्वारा बराबर प्राप्त कर सकते हैं। उन्हें बैटरी लगाने के लिए फिर शल्योपचार का सहारा नहीं लेना पड़ेगा।

❀❀❀

शेषांश पृष्ठ ९२ का

घटना है। इस प्रयोग के साथ ही भारत ने पहली बार राकेट-युग में प्रवेश किया है। इस घटना का महत्व इसलिए नहीं है कि उसने राकेट का निर्माण किया है वरन् इसमें है कि उसने वैज्ञानिक प्रगति के साथ कदम मिलाये रखने का सत् प्रयास किया है।

यह राकेट आकाश में ऊँचाई पर होने वाली घटनाओं का पता लगाने के लिए छोड़ा गया था। अमरीकी सहयोग से ही यह प्रयोग सफल हो सका है। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक भाभा तथा अन्य वैज्ञानिकों ने इस प्रयास के प्रति अपनी आस्था प्रकट की है।

सचमुच ही हमारे देश में राकेट सम्बन्धी प्रयोगों की शृङ्खला का यह सूत्रपात है। चूँकि यह प्रयोग सफलतापूर्वक सम्पन्न हो सका है, अतः हमें विश्वास है कि हमारे देश के वैज्ञानिक इस शृङ्खला को आगे बढ़ाने का प्रयास करते रहेंगे।

४. अमरीकी राष्ट्रपति कैनेडी की हत्या

अमरीका के ४६ वर्षीय राष्ट्रपति कैनेडी की हत्या जिस ढंग से इस युग में की गई है, वह विश्व भर की नैतिकता के लिए चुनौती है। संसार भर के नर-नारी इस अद्वितीय प्रतिभा के छिन जाने से दुखी हुए हैं। उनकी हत्या से न केवल एक महान राजनीतिज्ञ की क्षति हुई है वरन् विश्व के एक ऐसे विज्ञान के संरक्षक का अन्त हुआ है जिसका मिलना दुष्कर है। राकेट-युग की समस्त सुखद कल्पनाओं का जैसा चित्र उनके मन में रहा होगा, वह शायद ही अब पूरा हो। ईश्वर उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करे।

१. विश्वविद्यार्थियों में शिक्षा का स्तर

बीरबल साहनी पेलियोबाटनी इंस्टीच्यूट के एक समारोह में भाषण करते हुए भारत के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डा० कोठारी ने भारतीय विश्वविद्यालयों के शिक्षा-स्तर एवं पाठ्यक्रमों की भर्त्सना करते हुए यह विश्वास प्रकट किया है कि जब तक उनमें पुराने ढर्रे से चली आने वाली पढ़ाई का अन्त नहीं किया जाता तब तक हमें विशेष प्रगति की आशा नहीं करनी चाहिए। उन्होंने बल पूर्वक अपना अभिमत प्रकट किया कि विश्वविद्यालयों में नवीन पाठ्यक्रमों को चालू करना चाहिए और देश की आवश्यकताओं को देखते हुए अध्यापन का कार्य सम्पन्न किया जाना चाहिए। उन्होंने यह भी कहा कि विश्वविद्यालयों को अनुसन्धान के केन्द्रों के रूप में विकास करना चाहिए।

ये विचार सचमुच ही यथार्थ हैं। विश्व में होने वाली वैज्ञानिक प्रगति को दृष्टिगत रखते हुए यह आवश्यक है कि विश्वविद्यालयों के घिसे-पिटे पाठ्यक्रमों में सुधार लाकर उन्हें आधुनिकतम बनाया जाय। तभी हमारे छात्र अन्य राष्ट्रों के आधुनिक छात्रों से होड़ कर सकते हैं।

२. विचित्र कदम

अलीगढ़ विश्वविद्यालय ने यह निश्चय किया है कि परीक्षाओं का हिन्दी के बजाय सर्वथा अंग्रेजी भाषा हो जाय। इसके लिए यह घोषणा जारी की गई है कि अभी विद्यार्थियों को एक चौथाई पर्चे हिन्दी में लिखने की अनुमति है, किन्तु कालान्तर में इतनी रियायत भी नहीं रह जावेगी। ऐसी घोषणा का मूल उद्देश्य यह बताया गया है कि छात्रों का अंग्रेजी-स्तर दिनो-दिन गिर रहा है। अतः इस दृष्टि से उसको ऊपर लाने के लिए छात्रों को अंग्रेजी अनिवार्य रूप से पढ़नी होगी और उसी में ही प्रश्नोत्तर दिया करेंगे।

हमारी समझ में नहीं आता कि हिन्दी के राष्ट्र-भाषा घोषित हो जाने के बाद विश्वविद्यालयों को उस भाषा के सीखने या उसमें शिक्षा देने में कौन सी अड़चन हो रही है। जो विद्यार्थी प्रारम्भ से राष्ट्रभाषा में अध्ययन करते चले आ रहे हैं, उनके लिए यह घोषणा वज्रपात का काम करेगी। क्या इसे हम विश्वविद्यालयों की दासता-प्रियता नहीं कह सकते? केवल अंग्रेजी को ही शिक्षा का माध्यम स्वीकार करने, शिक्षा-स्तर को उठाये रखने की बात हमारी समझ में नहीं आती। रूस और चीन का काम अंग्रेजी के बिना ही चल रहा है। यूरोप के कई राष्ट्र बिना अंग्रेजी के ही काफी बढ़े-चढ़े हैं। तो फिर क्या भारत वही पुरानी दासता चाहता है? यदि नहीं तो शिक्षा की महान संस्थाओं—विश्वविद्यालयों को चाहिए कि राष्ट्रभाषा को मान्य करके उसकी श्री वृद्धि करें। इसी में राष्ट्र एवं राष्ट्र-वासियों का कल्याण निहित है।

३. भारत में राकेट युग का सूत्रपात

२१ नवम्बर को दक्षिणी भारत में त्रिवेन्द्रम के पास स्थित थुम्बा नामक केन्द्र से अन्तरिक्ष में जो राकेट छोड़ा गया है, वह भारतीय इतिहास की महान

शेषांश पृष्ठ ६१ पर

उत्तर प्रदेश, बम्बई, मध्यप्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा आँध्रप्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कालिजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

प्रकाशक—डा० आर० सी० कपूर, प्रधान मन्त्री, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद ।
मुद्रक—रामशरण अग्रवाल, प्रगति प्रेस, इलाहाबाद